हिन्दी साहित्य

तृतीय खण्ड

(सन् १८५० ई० के बाद)

सम्पादक-मण्डल

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

डॉ० नगेन्द्र, डॉ० व्रजेश्वर वर्मा

डॉ० रघुवंश

भारतीय हिन्दी परिषद्

हिन्दी साहित्य : खण्ड ३ के लेखक

१. श्री अजित कुमार	हिन्दी विभाग, किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली
२. डॉ० गोपीनाथ तिवारी	प्रोफ़ेसर और अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्याजय, गोरखपुर
३. डॉ० जगदीश गुप्त	हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
४. डॉ० नगेन्द्र	आचार्य और अध्यक्ष हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली
५. श्री नेमिचन्द्र जैन	नेशनल स्कूल आफ ड्रामा, दिल्ली
६. डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव	हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
७. डॉ० बच्चन सिंह	रीडर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
८. श्री बालकृष्ण राव	अमरावती, टैगोर नगर, इलाहाबाद
९. डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, आगरा कालेज, आगरा
१०. डॉ० भगीरथ मिश्र	प्रोफ़ेसर और अध्यक्ष हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय सागर
११. डॉ० योगेन्द्र सिंह	हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
१२. डॉ० राजेन्द्र कुमार	हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
१३. डॉ० रामकुमार वर्मा	भूतपूर्व प्रोफ़ेसर और अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
१४. डॉ० रामचन्द्र तिवारी	हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
१५. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
१६. श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा	सरयू कुटीर, मधवापुर, इलाहाबाद
१७. डॉ० वासुदेवनन्दन प्रसाद	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गया कालेज, गया, मगध विश्वविद्यालय
१८. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक	रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
१९. डॉ० विश्वनाथ मिश्र	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सनातन धर्म कालेज, मुजफ्फरनगर
२०. डॉ० शम्भुनाथ सिंह	हिन्दी विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
२१. डॉ० सावित्री सिन्हा	प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
२२. डॉ० हर्ष नारायण	सी० ४२।५९ रामरतन वाजपेयी मार्ग, नई नरही, लखनऊ

विषय-सूची

[अंक पृष्ठसंख्या के द्योतक हैं]

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास की परम्परा का महत्त्वपूर्ण अंग उसका आधुनिक काल है, जिसने भाषा, साहित्य और उसके सामाजिक सन्दर्भ को निश्चित तथा आवश्यक क्रम में संगठित किया। भारतेन्दु युग से लेकर आज तक का सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य निश्चित क्रम में विकसित हुआ है। भारतेन्दु को यदि केन्द्र के रूप में स्वीकार कर लिया जाए, और जैसा कि स्वीकार किया जा चुका है, उनके चतुर्दिक काव्य, नाटक, निबन्ध, कथा साहित्य आदि का एक ऐसा वृत्त बनता है, जो समसामयिकता की चेतना से ओतप्रोत है। साथ ही, नवीन जीवनगत सामाजिक मूल्यों को रचना-प्रक्रिया के स्तर पर स्वीकार कर, अनुभूति के स्तर पर भोगकर, व्यापक, उदार मानवीय दृष्टि की संगति में परखकर साहित्य से सम्बद्ध करने की सर्वथा नई प्रयास-दृष्टि इस काल में निहित है। इस प्रकार 'हिन्दी साहित्य' के इस काल खण्ड को विवेचित और व्याख्यायित करने का दायित्व अपने में अपेक्षया व्यापक एवं गम्भीर है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की इस धारा को समझने के लिए इतिहास की परम्परा से किंचित् हटकर आधुनिकता के परिवेश में उसके विकास के स्रोतों को देखना आवश्यक है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के दो अध्याय इसी प्रयत्न के परिणाम हैं। पृष्ठभूमि १ और २ के लेखकों ने परम्परा से हटकर तटस्थ ढंग से उन सम्पूर्ण स्रोतों एवं प्रेरकाशक्तियों, उनकी सीमाओं तथा सामर्थ्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है, जिनके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य का वर्तमान स्वरूप आज निर्मित हो सका है। इसी समस्या से पर्याप्त अंशों से जुड़ा हुआ अध्याय २, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का नवीन दृष्टिकोण सिद्धान्त, आदर्श और उनका विकास' है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों के प्रेरक तत्त्व किस प्रकार सुदृढ़ हुए, साथ ही, व्यापक परम्परा को बना सकने की सामर्थ्य उनमें किस तरह उत्पन्न हुई, इसका विश्लेषण प्रस्तुत अध्याय में मिलता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ, अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम 'व्यवस्थित गद्य' से सम्बद्ध हो जाने के कारण, आज नितान्त व्यवस्थित रूप में दिखाई पड़ती हैं। इस कारण सम्पूर्ण इतिहास में काव्य और गद्य दोनों का समान महत्त्व और सामंजस्य इस युग में दिखाई पड़ता हैं। गद्य के माध्यम रूपों के कारण न केवल साहित्यगत रूप-भिन्नता की दृष्टि से आधुनिक काल महत्त्वपूर्ण हुआ, अपितु, चिन्तन, अभिव्यक्ति एवं लेखन-प्रक्रियाओं भी पर इसका गहरा असर पड़ा है। परिणाम स्वरूप आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकसित होने में गद्य का पर्याप्त योगदान रहा हैं। इसीलिए हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में गद्य-रूपों का अत्यधिक विस्तार मिलता है। इस इतिहास के अन्तर्गत, प्रत्येक काल खण्ड को क्रमशः खण्डित करके विवेचन करने की दृष्टि नहीं मिलती है। प्रत्येक साहित्य-धारा के विकास का अपना क्रम है, और वह क्रम अपनी निश्चित उपलब्धियों के साथ सतत् वर्द्धमान है,

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास की परम्परा का महत्त्वपूर्ण अंग उसका आधुनिक काल है, जिसने भाषा, साहित्य और उसके सामाजिक सन्दर्भ को निश्चित तथा आवश्यक क्रम में संगठित किया। भारतेन्दु युग से लेकर आज तक का सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य निश्चित क्रम में विकसित हुआ है। भारतेन्दु को यदि केन्द्र के रूप में स्वीकार कर लिया जाए, और जैसा कि स्वीकार किया जा चुका है, उनके चतुर्दिक काव्य, नाटक, निबन्ध, कथा साहित्य आदि का एक ऐसा वृत्त बनता है, जो समसामयिकता की चेतना से ओतप्रोत है। साथ ही, नवीन जीवनगत सामाजिक मूल्यों को रचना-प्रक्रिया के स्तर पर स्वीकार कर, अनुभूति के स्तर पर भोगकर, व्यापक, उदार मानवीय दृष्टि की संगति में परखकर साहित्य से सम्बद्ध करने की सर्वथा नई प्रयास-दृष्टि इस काल में निहित है। इस प्रकार 'हिन्दी साहित्य' के इस काल खण्ड को विवेचित और व्याख्यायित करने का दायित्व अपने में अपेक्षया व्यापक एवं गम्भीर है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की इस धारा को समझने के लिए इतिहास की परम्परा से किंचित् हटकर आधुनिकता के परिवेश में उसके विकास के स्रोतों को देखना आवश्यक है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के दो अध्याय इसी प्रयत्न के परिणाम हैं। पृष्ठभूमि १ और २ के लेखकों ने परम्परा से हटकर तटस्थ ढंग से उन सम्पूर्ण स्रोतों एवं प्रेरकाशक्तियों, उनकी सीमाओं तथा सामर्थ्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है, जिनके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य का वर्तमान स्वरूप आज निर्मित हो सका है। इसी समस्या से पर्याप्त अंशों से जुड़ा हुआ अध्याय २, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का नवीन दृष्टिकोण सिद्धान्त, आदर्श और उनका विकास' है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों के प्रेरक तत्त्व किस प्रकार सुदृढ़ हुए, साथ ही, व्यापक परम्परा को बना सकने की सामर्थ्य उनमें किस तरह उत्पन्न हुई, इसका विश्लेषण प्रस्तुत अध्याय में मिलता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ, अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम 'व्यवस्थित गद्य' से सम्बद्ध हो जाने के कारण, आज नितान्त व्यवस्थित रूप में दिखाई पड़ती हैं। इस कारण सम्पूर्ण इतिहास में काव्य और गद्य दोनों का समान महत्त्व और सामंजस्य इस युग में दिखाई पड़ता है। गद्य के माध्यम रूपों के कारण न केवल साहित्यगत रूप-भिन्नता की दृष्टि से आधुनिक काल महत्त्वपूर्ण हुआ, अपितु, चिन्तन, अभिव्यक्ति एवं लेखन-प्रक्रियाओं भी पर इसका गहरा असर पड़ा है। परिणाम स्वरूप आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकसित होने में गद्य का पर्याप्त योगदान रहा है। इसीलिए हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में गद्य-रूपों का अत्यधिक विस्तार मिलता है। इस इतिहास के अन्तर्गत, प्रत्येक काल खण्ड को क्रमशः खण्डित करके विवेचन करने की दृष्टि नहीं मिलती है। प्रत्येक साहित्य-धारा के विकास का अपना क्रम है, और वह क्रम अपनी निश्चित उपलब्धियों के साथ सतत् वर्द्धमान है,

इस दृष्टि से इसके आधुनिक काव्य और उसके इतिहास की परम्परा भारतेन्दु से प्रारम्भ होकर छायावादोत्तर काल तक, कथा साहित्य प्रेमचन्द पूर्व से आज तक, नाटक साहित्य भारतेन्दु पूर्व से आज तक निश्चित विकास क्रम में देखा जा सकता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का चतुर्दिक त्वरित विकास इसकी आवश्यकता रखता है कि उसके अंग-प्रत्यंगों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का संघटन किया जाए। जहाँ तक गद्य का प्रश्न है, निबन्ध एक स्वतन्त्र विधा के रूप में अत्यन्त सबल दिखाई पड़ता है दूसरी ओर, समालोचना का भी अपना निजी महत्त्व है। इन सबको उनके यथावत् व्यक्तित्व एवं विशिष्टताओं के साथ निरूपित करना, इसलिए नितान्त महत्त्वपूर्ण है। पृष्ठभूमि के पश्चात् इतिहास विवेचन के क्रम में विद्वान् लेखकों ने इन संगतियों को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है।

आधुनिक हिन्दी काव्य किस तरह भारतेन्दु युग की नवीन चेतना से ओतप्रोत जीवन्त मूल्यों को स्वीकार करता हुआ आगे छायावाद, प्रयोगवाद एवं नई कविता के क्रम में विकसित हुआ, इसका सुव्यवस्थित एवं अखण्ड इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न ३, ४, ५ अध्यायों में क्रमशः भारतेन्दु युग : काव्य, द्विवेदी युग : काव्य, छायावाद युग : काव्य एवं छायावादोत्तर कविता में हुआ है। इन साहित्यिक धाराओं के अधिकारी विद्वानों ने इनके ऐतिहासिक पार्श्वों एवं चेतना तत्त्वों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन विभिन्न काव्य युगों को नितान्त अन्तरंग से देखते हुए विद्वान् लेखकों ने बड़ी ही स्पष्टतापूर्वक उनकी काव्य प्रकृति की आन्तरिक संगतियों का विवेचन किया है।

हिन्दी का कथा साहित्य अल्प कालखण्ड में ही सशक्त रचना विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, साथ ही, रचना-प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण माध्यम गद्य के साथ जुड़ा होने के कारण नितान्त त्वरा से नवीन मूल्यबोध की दिशा में गतिशील हुआ। उपन्यास और कहानी इस दृष्टि से ५० वर्षों के लघु अन्तराल में विश्व की समसामयिक रचना दृष्टि एवं मूल्य रचनाओं को आत्मसात् करती हुई कितनी अधिक विकसित हुई, यह एक स्पष्ट तथ्य है और इन अध्यायों—में प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास, उपन्यास, प्रेमचन्द्र युग : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास एवं कहानी : उद्भव और विकास के लेखकों की दृष्टि प्रवृत्ति के क्रमबद्ध निरूपण के प्रति ही सचेष्ट नहीं रही है अपितु उन सूक्ष्म विकास-तन्तुओं के ऐतिहासिक विश्लेषण (कला और रचना दृष्टि) के प्रति सजग रही है, जिनसे इनको साहित्य के अन्तर्गत अस्तित्व मिल सका है। इन अध्यायों के विद्वान लेखकों ने ऐतिहासिक विवेक को केन्द्र में रखते हुए चिन्तन के गहरे स्तरों पर कथा-प्रवृत्तियों की संगति, उनकी सामाजिक अभिव्यंजना, रचना शिल्प की एकान्विति आदि मूलभूत समस्याओं का विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इन अध्यायों से न केवल हिन्दी कथा साहित्य के विविध सोपानों तथा प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त होता है, अपितु उनकी विकसनशील गत्यात्मकता का भी स्पष्ट संकेत मिलता है।

आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य की स्थिति भी कथा साहित्य की ही भाँति रही है। भारतेन्दु युग में अंकुरित वर्तमान साहित्य की यह विधा विकास के महत्त्वपूर्ण विन्दु तक पहुँच चुकी है। नाट्य अभिनय सापेक्ष्य है और विशेषकर रंगमंच की दृष्टि से हिन्दी नाटकों का अभी तक पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है फिर भी इस दिशा में निश्चित प्रयत्न जारी हैं। इस

प्रकार नाट्य साहित्य के विवेचन के क्रम में रंगमंच को छोड़ सकना सम्भव नहीं है। नाट्य और उसकी रंगमंचीय स्थिति इन दोनों के विवेचन के पश्चात् ही इस विषय में अधिक प्रामाणिक निष्कर्ष निकाला जा सकता है। नाट्य साहित्य पूर्वक्रम की ही भाँति भारतेन्दु युग से प्रारम्भ होता है। प्रसाद युग हिन्दी नाटकों के विकासों का एक निश्चित केन्द्रविन्दु है। इस युग में हिन्दी नाट्य साहित्य ने विकास की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को प्रथम बार व्यापक धरातल पर प्रस्तुत कर रचनाकारों को अपनी ओर आकृष्ट किया। प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य तो इस दिशा में अपना एक पृथक् मानदण्ड ही स्थिर कर चुका है कि रचनाभिव्यक्ति के सशक्ततम साधनों में इसकी अनिवार्य स्थिति है। इन अध्यायों, नाटक : भारतेन्दु से प्रसाद युग पूर्व तक, प्रसाद युग एवं प्रासादोत्तर, एकांकी तथा रंगमंच के अन्तर्गत विद्वान लेखकों ने गम्भीरतापूर्वक सम्पूर्ण ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग करते हुए न केवल इन प्रवृत्तियों का विश्लेषण ही किया है, अपितु प्रयोग तथा सम्भावनाओं पर पर्याप्त प्रकाश भी डाला है। इनका यह विश्लेषण निश्चित ही नवीन तथ्यों से परिपूर्ण एवं पूर्वाग्रहों से पर्याप्त दूर है। रंगमंच और नाट्य विधा की अनिवार्यता को ध्यान रखते हुए रंगमंच के लेखक ने न केवल समसामयिक नाटक रचना के सन्दर्भ में रंगमंचीय स्थिति का विवेचन किया है, अपितु हिन्दी रंगमंच के इस इतिहास को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया है, जो हिन्दी साहित्य का अपना निजी है और इस विकास-शृंखला को स्पष्ट करते हुए उसने सम्पूर्ण निष्कर्ष को वर्तमान नाट्य विधा की परिस्थिति की सापेक्षता में विश्लेषित किया है।

निबन्ध गद्य की एक सशक्त विधा रही है और इस अध्याय के विद्वान् लेखक ने उसके उद्‌भव विकास, शक्ति, सीमा, सामर्थ्य, दृष्टि का बोधगम्य एवं सम्पूर्ण विवेचना प्रस्तुत किया है। निबन्ध, लेखक की धारणा के अनुसार, साहित्यिक दृष्टि की परिपक्वता का सूचक हैं, और इस रूप में आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रथम सोपान से ही अंकुरित यह साहित्य रूप आज यथेष्ठतः विकसित हो चुका है। इस प्रकार लेखक ने इसकी ऐतिहासिक संगति का विवेचन प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है।

अब तक के इतिहास लेखन के अन्तर्गत उपयोगी साथ-ही-साथ रचनात्मक साहित्य को उपेक्षित ही समझा गया है। विशेषकर, यात्रा, संस्मरण, जीवनी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज़ आदि का स्पष्ट क्रम इतिहास के फुटकर खाते में भी नहीं मिलता, जबकि इन विधाओं में साहित्यिक दृष्टि अधिक प्रीतिकर एवं रुचिकर क्रम में व्यक्त हुई है। 'अन्य गद्यरूप' अध्याय के अन्तर्गत प्रथम बार इस साहित्यिक वृत्ति को इतिहास के अनिवार्य अंश के साथ सम्बन्ध करने की चेष्टा की गई है जिसका रोचक तथा गम्भीर परिचय इस अध्याय के लेखक ने प्रस्तुत किया है।

हिन्दी आलोचना का व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक रूप इधर तीन वर्षों से पर्याप्त मात्रा में विकसित हुआ है। मात्र परम्परागत भारतीय और पश्चिमी काव्यशास्त्र से नहीं, समसामयिक रचना प्रक्रिया के समानान्तर ही मूल्यबोध के स्तर पर सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचना रूपों का इन तीन दशकों से सन्तोषजनक विवेचन-क्रम दिखाई पड़ता है। हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा का द्वन्द्व बहुत ही स्पष्ट है। इसके विकास का विवेचन इस प्रक्रिया के माध्यम से करना नितान्त संगत है, और इस अध्याय के लेखक ने उसी को आधार रूप में

स्वीकार किया है। व्यावहारिक समालोचना से सम्बद्ध अध्याय के अन्तर्गत विद्वान लेखक ने परम्परावादी आग्रह से पृथक् स्वस्थ एवं तटस्थ दृष्टि से मानदण्डों, नियमों, सिद्धान्त रूपों विकास स्थितियों, सम्भावनाओं, प्रयोग रूपों तथा चिन्तन एवं विवेचन-विश्लेषण की प्रक्रिया में उसकी स्वतन्त्र विकसनशीलता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उसका समग्र विवेचन अपनी ऐतिहासिक अपेक्षा में पूर्णतः उपयुक्त बन पड़ा है।

प्रस्तुत इतिहास का अन्तिम अध्याय स्वतः 'साहित्य के इतिहास' से सम्बद्ध है। हिन्दी में इतिहास लेखन का इतिहास स्वंय में बड़ा रोचक रहा है। इतिहास लेखन की दिशा से पृथक्, इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण कड़ियों को स्पष्ट करने का प्रयत्न उपाधि सापेक्ष्य शोधों में रहा है और इस रूप में हिन्दी साहित्य के इतिहास का जो भी व्यापक आयाम निर्मित हुआ है, उसका तटस्थ विवेचन इस अध्याय के विद्वान् लेखक ने किया है। प्रथम बार इतिहास लेखकों की संगति में स्वतः उनके इतिहास के उपयोग पर इस अध्याय के माध्यम से प्रकाश पड़ता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

यद्यपि मूल योजना के अनुसार हिन्दी अनुसन्धान, कोश, पत्र-पत्रिका, हिन्दी प्रदेश के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न लोक-साहित्यों एवं उपयोगी साहित्य का इतिहास इसी खण्ड में प्रस्तुत किया जाना था, किन्तु इस इतिहास के कलेवर को देखते हुए परिषद् ने इस शेष सामग्री को 'चतुर्थ खण्ड' में देने का निश्चय किया है। हम अपने निश्चय के अनुसार साहित्य के इतिहास की अवशिष्ट सामग्री शीघ्र ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सन्तोष का अनुभव करेंगे।

अन्त में, हिन्दी साहित्य के पिछले खण्ड के समान इस तीसरे खण्ड के बारे में भी यह बता देना जरूरी है कि विभिन्न लेखकों के द्वारा लिखे गये अलग-अलग अध्यायों के माध्यम से इस काल में निहित साहित्य की किसी इतिहास-दृष्टि को प्रतिपादित या अन्तर्हित कर पाना सम्भव नहीं था। इसीलिए सम्पादकों ने इस प्रयास को इतिहास की संज्ञा से अभिहित नहीं किया है। यह अवश्य निश्चित हुआ था कि सम्पादक मण्डल के सदस्य डॉ० नगेन्द्र इन समस्त अध्यायों को दृष्टि में रख इसके 'उपसंहार' में इस काल के साहित्य की मूलभूत प्रकृति और संवेदना का संकेत देकर इस पूरे ग्रन्थ को एक अन्विति देंगे। यद्यपि प्रकाशन की कठिनाई के कारण हम सम्पूर्ण छपी हुई सामग्री को उनके पास अन्त तक नहीं भेज सके, पर उन्होंने गहरी अर्न्तदृष्टि के साथ आधुनिकता के सन्दर्भ में साहित्यिक चेतना के विकास क्रम में आज के साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों का सूक्ष्म संकेत देकर हिन्दी साहित्य की लम्बी परम्परा और भारतीय साहित्य के व्यापक परिवेश में इस युग की उपलब्धियों पर प्रकाश डाला है और यह संक्षिप्त होकर भी प्रस्तुत ग्रन्थ का सार्थक 'उपसंहार' कहा जा सकता है।

हिन्दी साहित्य के इस खण्ड की अनुक्रमणिका हमारे सहयोगी डॉ० राजेन्द्र कुमार ने तैय्यार की है। प्रूफ़ संशोधन तथा प्रेस कापी तैयार करने में डॉ० योगेन्द्र सिंह ने हमारा बहुत हाथ बटाया। इस ग्रन्थ का मुद्रण सुपरफाइन प्रिंटर्स, इलाहाबाद में हुआ है, उसके संचालक श्री कामेश्वर नाथ भार्गव के प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं।

—सम्पादक

हिंदी साहित्य

तृतीय खण्ड

पृष्ठभूमि : १

यह निर्विवाद मान्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय साहित्य के निर्माण की दिशा में एक नए युग की सूचना देने वाली थी। जिन परिस्थितियों ने जन मानस को आन्दोलित किया, वे जितनी अप्रत्याशित थीं, उतनी ही कुतूहलपूर्ण भी और इसलिए जो साहित्य लिखा गया, वह परम्परा का उतना अनुगामी नहीं रहा, जितना प्रयोग का। युगबोध का प्रत्यक्षीकरण उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य में पद-पद पर होता है और साहित्य किसी वेगवती नदी का ऐसा तट बन जाता है जिससे विषय परिस्थितियों की तरंगें क्षण-क्षण में आकर बड़े वेग से टकराती हैं।

हिन्दी साहित्य में विविध युगों के परिवर्तन बड़े ही स्पष्ट रूप से घटित हुए हैं। समस्त देश में जो सांस्कृतिक विचारधारा प्रसारित होती रही वही कुछ अन्तर के साथ विविध परिवेशों और आयामों में व्यक्त होती रही। मौलिक अन्तर तो दृष्टिगत नहीं हुआ; युग के प्रयोग इन्द्रधनुषी रेखा में अवश्य चित्रित हुए। मुस्लिम, वैदिक अथवा बौद्ध संस्कृति से भिन्न अवश्य रही किन्तु पिछली शताब्दियों के साहित्य में जब उसने प्रवेश किया जो वह वेदान्त के समकक्ष सूफ़ी संस्कृति के रूप में ही व्यक्त हो सकी। भक्ति-युग में तुलसी और सूर के समकक्ष ही सूफ़ी मत से प्रभावित कबीर और जायसी की काव्यधारा प्रवाहित होती रही। रीतियुग में रसखान और आलम तो कृष्णभक्ति के रससिद्ध कवि ही मान लिए गए। युगबोध जब व्यक्त हुआ तो वह संशोधित होकर सांस्कृतिक भावधारा के समानान्तर प्रवाहित होता रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य से टकराने वाली एक नई संस्कृति उभर कर आई, वह है ब्रिटिश जाति की पाश्चात्य संस्कृति। यह संस्कृति उतनी कट्टर तो नहीं थी जितनी मुस्लिम संस्कृति किन्तु अपने प्रसार और प्रचार में इसने ऐसी नीति का आश्रय लिया जो प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष में अधिक प्रभावशालिनी थी। प्रत्येक नवीन जाति अपने साथ नवीन संस्कृति लाती है। आक्रमण की आक्रोशपूर्ण परिस्थितियों के समाप्त होने के बाद जब पारस्परिक सम्पर्क के सूत्र अधिक बढ़ने लगते हैं तो नवीन जाति अपनी संस्कृति के समन्वयात्मक तत्त्व और कोमल पार्श्व उद्‌घाटित करने लगती है जो कालान्तर में विजितों की संस्कृति को पीछे ढकेल कर स्वयं को प्रतिष्ठित कर देती है। १९वीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने राजनीतिक प्रभाव से हमारे साहित्य की धारा को किस प्रकार मोड़ने का प्रयत्न किया और अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हमारे साहित्य की पृष्ठभूमि में किस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं, इस पर यहाँ विचार करना आवश्यक है। दो संस्कृतियों के सम्पर्क और संघर्ष की साहित्यिक अभिव्यक्ति में जो प्रतिक्रियाएँ हुईं, उनका उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा।

राजनीतिक

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक अंग्रेज़ी साम्राज्य समस्त भारत में व्यापक एवं सुदृढ़ हो गया था। राजस्थान की रियासतें, अवध, हैदराबाद, मैसूर तथा अन्य छोटे-बड़े राज्य अंग्रेज़ी साम्राज्य के अंग-से बन गए थे, पंजाब और सिंध भी शलभ की भाँति उस साम्राज्यवाद की अग्निशिखा में कूदने जा रहे थे। यह साम्राज्यवाद किसी कैक्टस की भाँति भीतर और बाहर दोनों दिशाओं में बह रहा था। ब्रिटेन की राजनीति अपने घर में भी नए-नए परिवेशों की खोज कर रही थी। पुराना सामन्तवर्ग शिथिल होकर पतनोन्मुखी हो रहा था और उसके स्थान पर नए पूँजीवादी वर्ग की प्रतिष्ठा हो रही थी। विप्लवकारिणी औद्योगिक क्रान्ति एक धनिक मध्य वर्ग का निर्माण कर चुकी थी जो अपने व्यापार के प्रसार के लिए संघर्ष लेने के लिए कटिबद्ध था। इस वर्ग ने अपने विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार का विरोध करना प्रारम्भ किया। फल यह हुआ कि सन् १८१३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी का एकाधिकार हटा दिया गया और दूसरी संस्थाओं को भी व्यापार करने की स्वतंत्रता प्राप्त हुई। सन् १८३३ में कम्पनी से व्यापार के समस्त अधिकार ले लिए गए और अब वह ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत का शासन करने वाली एक संस्था मात्र रह गई। ब्रिटिश सरकार का अधिकार भारत के शासन में क्रमशः बढ़ता गया और सन् १८५७ की जनक्रान्ति के दमन के उपरान्त समस्त भारत पर ब्रिटिश के शासन का आतंक जन-जन के मानस पर स्थापित हो गया।

इस विदेशी शासन के इतिहास में शासनव्यवस्था में भी अनेक परिवर्तन देखे जा सकते हैं। क्लाइव के समय में भारतीय व्यापार में कम्पनी और उसके कर्मचारी उचित-अनुचित सभी प्रकार से धन लूट कर मालामाल हो गए थे। उन्हें शासन की चिन्ता नहीं थी। हेस्टिंग्स के समय में न्याय और शासन सम्बन्धी नियमों द्वारा एक शासनिक प्रणाली का सूत्रपात हुआ, किन्तु उसका भी उद्देश्य यही था कि कम्पनी को अधिक-से-अधिक लाभ हो और साथ-ही-साथ ब्रिटेन का अधिक-से-अधिक हित हो। भारत के हित और कल्याण की कोई बात ही नहीं थी। कम्पनी के शासन का यही दृष्टिकोण उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बना रहा। सर्वत्र भ्रष्टाचार और अनीति की प्रमुखता थी। इस पर परदा डालने के लिए लार्ड वेलेज़ली ने **'सैबसिडियरी एलाइंस'** से शासन विषयक अनेक सुधार किए किन्तु इन सुधारों ने भारत को ब्रिटेन के शासनपाश में अधिक कस कर जकड़ दिया। जैसे कोई मकड़ी अपने मुख से अनेकानेक तार निकाल कर मक्खी को रेशमी धागा प्रदान करने की घोषणा करे लेकिन उन तारों से मक्खी के पाश में और भी जकड़ जाय वैसी ही यह विदेशी शासन की चमकदार नीति थी। परिणाम यह हुआ कि जो "भारत में ब्रिटिश साम्राज्य" था, अब वह "भारत का ब्रिटिश साम्राज्य"[1] हो गया।

इस बीच में ब्रिटेन में उपनिवेशीकरण की विचारधारा का विकास हुआ। ब्रिटेन में

---

१. A short History of the British Commonwealth—Ram Say Muir, vol II, 1956, page 201.

इस दृष्टिकोण को बल मिला कि ब्रिटेन के अन्य उपनिवेशों के साथ-साथ भारत का भी विधिवत् उपनिवेशीकरण किया जाय और वहाँ के पिछड़े हुए निवासियों को अपने 'सरक्षण' में लिया जाय। यही कारण है कि शासन सम्बन्धी अनेक सुधारों के साथ-साथ शिक्षा सम्बन्धी सुधारों का भी सूत्रपात हुआ जिससे कालान्तर में साहित्य और राष्ट्रीय दृष्टिकोण अधिकाधिक प्रशस्त हुआ। लार्ड विलियम बेंटिंग ने निर्भीकता से शासन सम्बन्धी सुधार किए। ठगी और सती प्रथा को समाप्त किया और लार्ड मैकाले की नीति पर चलकर पाश्चात्य शिक्षा के कूटनीतिक इन्द्र-जाल के आकर्षण को अधिक अपरिहार्य बना दिया।[१]

लार्ड डलहौज़ी के शासनसुधारों में जो बहुत महत्वपूर्ण योजना थी, वह शिक्षा विषयक थी। प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयीन शिक्षा तक की रूपरेखा निश्चित हुई। विश्व-विद्यालयों के साथ-साथ प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा विभाग बना। शिक्षा विभाग और विश्वविद्यालय भारत के उपनिवेशीकरण के लिए जनता को उपयुक्त कर्मचारी और अनुवर्ती बनाने की दृष्टि से ही स्थापित किए गए थे।[२] डलहौज़ी की 'विलीनीकरण' की नीति से ही शासन पद्धति के अंगों को मज़बूत बनाने का यथेष्ठ संकेत मिल जाता है। अंग्रेज़ों की शासन पद्धति जहाँ एक ओर आर्थिक शोषण कर रही थी, वहीं दूसरी ओर ईसाई धर्म प्रचारकों को प्रोत्साहित भी कर रही थी। इससे जनता में अशान्ति फैलनी स्वाभाविक थी। यह स्पष्ट होने लगा था कि विदेशी विजेता अब सर्वशक्तिमान बन जाने पर अन्ततः अपने वास्तविक रूप प्रकट कर रहे हैं और भारत की समस्त परंपराओं को छिन्नमूल करना चाहते हैं। विदेशी वेश-भूषा तथा पाश्चात्य

---

१. Macaulay's famous Minute on advantages possessed by Western over Eastirn learning has remained the guiding Principle of Educational Policy from his time to our own.—A class book of Indian History, Smith, p. 229.

२. हे अंगरेज ! हम तुमको प्रणाम करते हैं।
हे वरद् ! हमको वर दो, हम सिर पर शमला बाँध के तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ेंगे, तुम हमको चाकरी दो, हम तुमको प्रणाम करते हैं।
हे अंतर्यामिन् ! तुम परोपकारी कहो, इस हेतु हम परोपकार करते हैं, तुम विद्वान् कहो, इस हेतु विद्या पढ़ते हैं, अतएव हे अंग्रेज ! तुम हम पर प्रसन्न हो ! हम तुमको नमस्कार करते हैं।
हे मिष्टभाषिण ! हम मातृभाषा त्याग करके तुम्हारी भाषा बोलेंगे, पैतृक धर्म छोड़ के ब्राह्म धर्मावलंब करेंगे, बाबू नाम छोड़ कर मिस्टर नाम लिखवायेंगे, तुम हम पर प्रसन्न हो, हम तुमको प्रणाम करते हैं।

अंग्रेज-स्तोत्र (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)
भारतेन्दु ग्रंथावली—तीसरा भाग, पृष्ठ ८५५-८५६
(काशी नागरी प्रचारिणी सभा—प्रथम संस्करण, सं० २०१०)

विचारों का अनुकरण करने की प्रेरणा ही तत्कालीन वातावरण का संकेत था।[१] नैतिक आस्था का मूलोच्छेद, धन का अपहरण, निरंकुश शासन तथा जनता की सुविधाओं के प्रति निर्मम व्यवहार ऐसे ही कार्य थे जिनसे जनता के मन में हीन भावना के अंकुर उगाये जा रहे थे। यदि आर्थिक शोषण और ईसाई धर्म प्रचार को दृष्टि में रखा जाय तो भारतीय जनता के जीवन में जो अशान्ति और बेचैनी की भावना स्थान पा रही थी, उसकी वास्तविकता समझी जा सकती है। सन् १८५६ में लार्ड डलहौज़ी के जाने के बाद लार्ड कैनिंग ने जो शासन का सूत्र सम्हाला वह पहले की अपेक्षा अधिक निरंकुश हो गया। अवध के विलीनीकरण में जिस निर्मम और उद्धत नीति का व्यवहार किया गया उससे जनता में भारी असंतोष फैल गया।[२] परिणाम हुआ, सन् १८५७ की भयंकर जनक्रांति के ज्वालामुखी का विस्फोट जिसमें हृदय की विगलित भावनाएँ तरल अग्नि की धारा की भाँति मेरठ से दिल्ली की ओर प्रवाहित हुईं। नाना साहब, तांतिया टोपे और रानी लक्ष्मीबाई ने अपने अप्रतिभ शौर्य से इस जनक्रान्ति को भारत के इतिहास में एक चिरस्मरणीय पर्व बना दिया। यह बाजीराव पेशवा की विराट् राजनीतिक कल्पना और नाना फड़नवीस की हिन्दूपद पादशाही को साकार करने का अन्तिम महाप्रयास था। क्रान्तिकारी वीरों ने कम्पनी के शासन की नींव हिला दी और यह परिस्थितियों का ही षड़यंत्र कहा जा सकता है जिससे यह क्रान्ति विदेशी शासन को भस्मसात् किये बिना ही बलपूर्वक समाप्त कर दी गई।

---

१. **सोहै न तोके पतलून सांवर गोरवा।**
कोट-बूट जाकट कमीज क्यों पहिनि बने बैबून। सां० गो०
काली सूरत पै काला कपड़ा, देत किए रंग दून। सां० गो०
अंग्रेजी कपड़ा छोड़ह कितौ, त्याय लगाव, मुहें चून। सां० गो०
दाढ़ी रखिकै बार कटावत, और बढ़ाये नाखून। सां० गो०
चलत चाल बिगड़ैल घोड़ सम, बोलत जैसे मजनून। सां० गो०
चन्दन तजि मुँह ऊपर साबुन, काहें मलह दूआ जून। सां० गो०
चूसह चुरुट लाख, पर लगत पान बिना मुँह सून। सां० गो०
अच्छर चारि पढ़ेह अंगरेजी, बनि गयः अफ़लातून। सां० गो०
मिलहि मेम तोहें कैसे जेकर, फ़ेयर फ़ेस लाइक मून। सां० गो०
बिसकुट केक कहा तू पैव्य, (चाय) चना भलें भून। सां० गो०
डियर प्रेमघन, हियर दया कर, गीत न गावो लैम्पून। सां० गो०
बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन (प्रेमघन सर्वस्व, पहला भाग, पृष्ठ ५४२ ? ५४३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० १९९६)

२. The officials of the court circle were harshly treated, Stipends which had been granted by the King were no duly paid and members of the royal family did not receive the promised pension with any promptitude, the result was a widespread and increasing discontent.

—A book of Indian History, V. A. Smtrh, P. 243.

इस जनक्रान्ति की समाप्ति पर विदेशी नीति में घोर परिवर्तन हुआ। इसे ब्रिटिश शासन पद्धति का नव-निर्माण कहा जा सकता है। कम्पनी की सत्ता समाप्त कर दी गई और भारत का शासन ब्रिटिश सरकार द्वारा ग्रहण किया गया। अब लार्ड कैनिंग प्रथम वाइसराय और गवर्नर जनरल नियुक्त किए गए। पूर्वकाल में कम्पनी की नीति प्रमुख रूप से आर्थिक थी, साम्राज्यावादी नीति उस आर्थिक नीति की पूरक मात्र थी, उत्तर काल में साम्राज्यवाद ही प्रमुख लक्ष्य हो गया, आर्थिक शोषण उस साम्राज्यवाद का एक अंग बन गया। इस साम्राज्यवाद ने क्रान्ति का बदला भारतीय जनता से भरपूर मात्रा में लिया। कितने शहर उजाड़े गए, कितने घर लूटे गए, कितने ही निरपराधों को फाँसी दी गई तथा कितने ही व्यक्ति तोप से उड़ा दिए गए, इसका विवरण अत्यन्त करुण है। इससे अंग्रेज़ शासकों ने जनता के हृदय में ऐसा आतंक और भय उत्पन्न कर दिया कि वे फिर किसी प्रकार भी क्रान्ति करने का साहस न कर सकें। इसके लिए उन्होंने सैनिक व्यवस्था तो ठीक की ही, साथ-ही-साथ साम्राज्यवाद की सफल परिणति के लिए उन्होंने भारत को प्रबलवेग से आधुनिक बनाना प्रारम्भ किया। रेल, तार तथा यातायात के साधनों में उन्होंने विशेष गतिशीलता और प्रबन्धकुशलता लाने का प्रयत्न तो किया ही, जनता को शासन के प्रति उत्तरदायी बनने का मनोभाव भी जागृत किया। सारे भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार और प्रसार किया गया। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग वकील, अधिकारी, सरकारी नौकर, पत्रकार और अध्यापक बनने लगे। इस वर्ग ने आगे बढ़ कर भारतीय जनचेतनाका सूत्र अपने हाथों में लिया। और यही ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य भी था। उसने सुरक्षा का आश्वासन देकर वशवर्ती भारतीय नरेशों को अपना अनुगामी बना लिया था। उधर बंगाल में अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त वर्ग का विकास हुआ जो अंग्रेज़ों का आलोचक तो था परन्तु उनका और उनकी सभ्यता का प्रशंसक और अनुगामी भी था। उग्र विरोधी तो बिलकुल ही नहीं था। वहाँ पत्र-पत्रिकाओं द्वारा आलोचना करके, सभाओं में प्रस्ताव पारित करके, आवेदन पत्र और स्मरण-पत्र भेज सरकारी नीति में संशोधन या सुधार कराने की परम्परा[1] विकसित हो रही थी। यही सरकार की दृष्टि भी थी। शिक्षा प्रसार द्वारा वह इसी मनोवृत्ति का विकास करना चाहती थी—जिससे भविष्य में क्रान्ति की सम्भावनाओं तथा उग्रवादिता को प्रश्रय न मिले। जनता केवल सरकारी नीति में संशोधन के लिए प्रार्थनाएँ कर सके, आवेदन पत्र भेज सके। इस परिस्थिति को कार्यान्वित करने के साथ ही साथ ब्रिटिश सरकार ने कुछ और भी सुरक्षात्मक उपाय किए। धीरे-धीरे सरकारी नौकरों पर प्रतिबन्ध लगाए गए और उन्हें राजनीति से पृथक् कर दिया गया। यही नीति बड़े-बड़े रईसों, सेठों, साहूकारों और ज़मीन्दारों पर भी लागू की

---

१. **"देखो, हमारा बंगाल में इसका अनेक उपाय शाधन होते हैं। ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन लीग इत्यादि अनेक शभा भी होते हैं। कोई थोड़ा भी बात होता हम लोग मिल के बड़ा गोल करते। गवर्नमेन्ट तो केवल गोलमाल से भय खाता और कोई तरह नहीं शोनता। ओ हुआँ का अखबार वाला सब एक बार ऐसा शोर करता कि गवर्नमेंट को अलबत्त सुनने होता। किन्तु हेयां, हम देखते हैं, कोई कुछ नहीं बोलता।**

—भारत दुर्दशा—भारतेन्दु ग्रंथावली, पृष्ठ ४०४-०५

गई जिसे अधिकार, पद और धन-हानि के भय से उन लोगों ने शिरोधार्य की। साहित्यकार और पत्रकार भी इस नीति से अनुशासित हो रहे।[1]

ब्रिटिश राजनीति में भेदनीति का विशेष स्थान है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय से शासनाधिकार प्राप्त करने में अंग्रेज़ों ने सदैव दो दलों में भेद डालकर उन्हें लड़ा कर अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया है। इस देश में हिन्दू और मुसलमानों में भेद डालने की नीति शासनाधिकारियों की दृष्टि में पहले से ही रही है, किन्तु वह नीति सन् १८५७ तक अधिक सफल नहीं हो सकी क्योंकि भारतीय क्रान्ति का नेतृत्व करने के लिए अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह 'जफर' अग्रसर हुए थे। किन्तु क्रान्ति के अनन्तर इस ब्रिटिश नीति ने अपनी भेद नीति में पूर्ण सफलता प्राप्त की।

हिन्दुओं के अनुपात को शासन में कम करने के लिए मुसलमानों को शिक्षित करने के साधन निकाले गए। मुस्लिम शिक्षित वर्ग को विशेष आग्रह से शासन में स्थान दिया जाने लगा। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे यह मुस्लिम शिक्षत वर्ग राष्ट्रीय प्रयत्नों से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करने लगा और राष्ट्रीयता के क्षेत्र में एक विरोधी तत्त्व की सृष्टि हो गई।

इतना होते हुए भी राष्ट्रीयता का आग्रह जनता में प्रच्छन्न रूप से वर्तमान था। आधुनिक शिक्षा-प्राप्त वर्ग के अतिरिक्त एक शिक्षित वर्ग और भी था जिसमें भारतीयता के संस्कार थे और जो आधुनिक प्रगति से अभिज्ञ भी था। अन्य विश्वासों की शृंखलाओं को तोड़ कर शिक्षा और ज्ञान के नवीन प्रयोगों में विश्वास रख कर भी वह सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि में

---

१. (डिसलायलटी का प्रवेश)

सभापति—(आगे से ले आकर कड़े शिष्टाचार से) आप क्यों यहाँ तशरीफ लाई हैं ? कुछ हम लोग सरकार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नहीं एकत्र हुए हैं। हम लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हैं।

डिसलायलटी—नहीं, नहीं तुम सब सरकार के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुमको पकड़ेंगे।

बंगाली—(आगे बढ़कर क्रोध से) काहे को पकड़ेगा, कानून कोई वस्तु नहीं है ? सरकार के विरुद्ध कौन बात हम लोग बोला ? व्यर्थ का विभीषिका।

डिसलायलटी—हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कवि वचन सुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी। फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गए ? हम लाचार हैं ?

दू० देशी—(टेबुल के नीचे से रोकर) हम नहीं, हम नहीं, हम तमाशा देखने आए थे।

महाराष्ट्र—हाय-हाय ! यहाँ के लोग बड़े भीरु और कापुरुष है। इसमें भय की कौन बात है ? कानूनी है।

सभापति—तो पकड़ने का आपको किस कानून से अधिकार है ?

डिसलायलटी—इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफ़ा से।

—भारत दुर्दशा, पृष्ठ ४०८-४०६,
(भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग—१)

निर्भीक था। इस वर्ग में राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा बंकिम चन्द्र आदि थे। विदेशी सत्ता की दमननीति के काले बादलों में राष्ट्रीय गौरव की विद्युत उत्पन्न करने की शक्ति ऐसे ही राष्ट्र निष्ठ व्यक्तियों में थी जहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने धर्म के परिष्कार से जागरण का मंत्र फूँका वहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के माध्यम से प्राचीन गौरव और आधुनिक दुरवस्था की ओर जानता का ध्यान आकृष्ट किया। महादेव गोविन्द रानाडे, दादा भाई नौरोजी और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से राजनीति में नए परिप्रेक्ष्य रक्खे। राष्ट्रीय प्रयत्नों के ये रूपाकार विदेशी ढंग पर अवश्य थे परन्तु उनके भीतर आत्मा भारतीय ही थी।

सन् १८५५ में तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन के शासन काल में इंडियन नेशनल कांग्रेस का संगठन बम्बई में हुआ। इसका उद्देश्य शिक्षित समाज की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति और उसका परिचय शासन के अधिकारियों को कराना था। एक दृष्टि यह भी थी कि इसके द्वारा पाश्चात्य वैधानिक तंत्र की शिक्षा भारतीयों को दी जा सके। इस संस्था में भारतीय राजनीतिक व्यक्तियों का सहयोग भी प्राप्त किया गया किन्तु धीरे-धीरे इसमें राष्ट्रीयता की विचारधारा भी प्रवेश करने लगी। परिणामस्वरूप इसके सदस्यों में पश्चिमीकरण करनेवाली राजनीतिक और सामाजिक विचारधाराओं के साथ-ही-साथ एक पश्चिम विरोधिनी धारा भी अन्तःप्रवाहिनी सरस्वती की भांति प्रवाहित होने लगी। क्रमशः राष्ट्रीय विचारों और उक्तियों में इतनी प्रखरता आई कि शासन को उससे विरक्ति होने लगी। यहाँ तक कि शासनिक अधिकारियों को उसमें भाग लेने तक का निषेध किया गया। सर सैयद अहमद यद्यपि मुस्लिम लीग को लेकर अलग हो गए थे, तथापि देश के अनेक राष्ट्रचेता मुसलमान लोकमान्य तिलक और लाला लाजपत राय के साथ भारत की राष्ट्रीय एकता के प्रतीक बन गए थे।

विदेशी राजनीतिक अभिसंधियों में यद्यपि हिन्दी भाषा की दुर्दशा हो रही थी तथापि उसने सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी राजनीति और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभावों से भारत के सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा की। यह सत्य है कि शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेज़ी राजनीति ने उर्दू और फ़ारसी को ही अधिक प्रश्रय देते हुए हिंदी की उपेक्षा की किन्तु हिंदी राष्ट्रीयता की भावना के समानान्तर पंजाब, राजस्थान, बुन्देलखण्ड, रीवां, काशी आदि स्थानों पर विकसित होती रही। उत्तरकाल में उसने अपने को युगानुरूप ढाला और एक नवीन स्फूर्ति के साथ अपनी विभिन्न शैलियों में राष्ट्रीयता के भावों का विकास एवं प्रसार किया। इस दिशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने दृढ़ता के साथ कार्य किया। भारतेन्दु ने लिखा—

> निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
> बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल॥

'ट' पर निबन्ध लिखते हुए प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा

'हमें अति उचित है कि इसी घटिका से अपनी टूटी-फूटी दशा सुधारने में जुट जायँ। विराट् भगवान के सच्चे भक्त बने, जैसे संसार का सब कुछ उनके पेट में है, वैसे ही हमें भी

चाहिए कि जहाँ से जिस प्रकार जितनी अच्छी बातें मिलें सब अपने पेट के पिटारे में भर लें, और देश भर को उनसे पाट दें, भारतवासी मात्र को एक बाप के बेटे की तरह प्यार करें, अपने-अपने नगर में नेशनल कांग्रेस की सहायक कमेटी कायम करें, ऐंटी कांग्रेसवालों की टांय-टांय पर ध्यान न दें और हम सब बातों में टंच हो जायेंगे ।[१]

बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनन्द बधाई' में लिखा—

हरिगीतिका

गुनि यह न विलम लगाय हिय हरखाय सब कोऊ अहो ।
निज जननि भाषा जननि हित हित चेति चित साहस गहो ।।
करि जथारथ उद्योग पूरन फल अमल जस जग लहो ।
लहि कै कृपा जगदीस जय जय नागरी नागर कहो ।।[२]

उन्नीसवीं शताब्दी हिन्दी की स्थिति उसी प्रकार दृढ़ हो गई जिस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता की । हिन्दी और राष्ट्रीयता दोनों का व्यक्तित्व इस काल में 'गिरा' और 'अर्थ' की भाँति अभिन्न रहा और विदेशी राजनीति से उपेक्षित होते हुए भी ये दोनों विकास के पथ पर अग्रसर रहीं ।

धार्मिक

उन्नीसवीं शताब्दी का साहित्य धर्म के क्षेत्र में नूतन क्रान्तियाँ करने में समर्थ हुआ है । अनेक छोटे-छोटे राज्यों की भाँति धर्म भी अनेक सम्प्रदायों में विभाजित होता रहा है और अपने विशिष्ट कर्मकाण्डों और संस्कारों को लेकर पारस्परिक मतभेद की बड़ी गहरी खाइयाँ खोदी जाती रही हैं । उपास्य देवताओं की विशिष्ट शक्तिसम्पन्नता, सिद्धान्तों की तर्कमयी शाखा, उपासना पद्धति की विविधता, गुरु अथवा प्रवर्त्तकों की आध्यात्मिक गरिमा और कहीं-कहीं अहं भाव की परितुष्टि धर्म की समष्टिगत एकता में बाधक रही है । नगरों और ग्रामों के स्थानीय देवी-देवताओं में भूत, प्रेत और ब्रह्म राक्षसों तक को आराधना का केन्द्र बना दिया है । हिन्दू धर्म के मान्य देवी-देवताओं की संख्या पहले से ही अधिक रही है फिर कालान्तर में बढ़ने वाले सिद्धों और साधकों ने उपासना के अनेक सिद्ध पीठ स्थापित कर दिए । इनके पूजने वाले पुरोहित और महंतों ने बाहरी आचार पक्ष को अनुचित महत्व देकर अन्य श्रद्धा और स्वार्थ को अधिक बल प्रदान किया । इनके साथ न जाने कितने अन्धविश्वास जुड़ गए । इन सबकी अधिकता और साधना मार्गों की विभिन्नता ने धर्म की तात्विक दृष्टि को विभ्रमित कर दिया । परिणामस्वरूप सामान्य जन की धारणा में धर्म का जो रूप बद्धमूल था, वह सिद्धान्त के क्षेत्र में तत्त्व से वंचित रहा और आचार क्षेत्र में नैतिकता से हीन । उसकी आड़ में अनैतिकता को प्रश्रय मिला । मन्दिर और मठ प्रवंचना और अनैतिकता के केन्द्र बन गए । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'भारत दुर्दशा' नाटयरासक में सत्यानाश फौजदार से कहलाया है—

१. **निबन्ध नवनीत, पृष्ठ ४०-४१, अभ्युदय प्रेस, प्रयाग, सन् १९१९**
२. **प्रेमघन सर्वस्व, पृष्ठ ३२५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सं० १९९६**

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन मांहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए॥
× × ×
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सो सब विमुख किए हिन्दू घबराई॥[१]

प्रेमजोगिनी नाटिका में बनितादास कहते हैं—

कुछ कहें की बात नाहीं है। भाई, मन्दिर में रहै से स्वर्ग में रहै। खाए के अच्छा, पहिरै के परसादी, से महाराज कब्बौ गाढ़ा तो पहिरबै न।

करियै, मलमल नागपुरी ढांकै पहिरियैं, अतरै फुलेल केसर परसादी बीड़ा चाभो, सबकी सेवकी ल्यौ, ऊपर से ऊ बात का सुख अलगै है।"[२]

धर्म की इस परिस्थिति में विषम समस्याएँ उठ खड़ी हुई, जब इस्लाम और ईसाई धर्म ने राजशक्ति का आश्रय पाकर जनता में अपना प्रचार किया। इस्लाम धर्म की संकीर्णता और ईसाई धर्म की सहजव्याप्ति ने जैसे हिंदू धर्म की विरलता के लिए कुएँ और खाईं का कार्य किया। परिणाम स्वरूप दोनों धर्मों के अनुयायियों की संख्या क्रमशः बढ़ी। औरंगजेब की कट्टर नीति ने एक शताब्दी बीतते-बीतते अलग वर्ग संगठन करना आरम्भ कर लिया था, उसी प्रकार ब्रिटिश सत्ता के बढ़ने के साथ-ही-साथ ईसाई धर्म का प्रचार अधिक व्यापक और प्रभावशाली होने लगा। इस वर्ग ने धर्म प्रचार हेतु सबसे पहले शिक्षालय और प्रेस का उपयोग किया। धर्म प्रचार के लिए उसने भारतीय भाषाओं का उपयोग किया और बाइबिल के तथा अनेक ईसाई ग्रन्थों के अनुवाद किए। जान बनियन के 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' का अनुवाद बंगला में हुआ तदुपरान्त उससे अंग्रेज़ी का साद्य मिला कर हिन्दी में अनुवाद हुआ जो 'यात्रा-स्वप्नोदय' के रूप में बनारस से सन् १८६७ में प्रकाशित हुआ। इसके 'आभाष' में अनुवादक कहता है—

"यात्रा स्वप्नोदय नाम जो यह कथा है सो किसी विशेष मनुष्य का वृत्तांत नहीं परन्तु दृष्टान्त की रीति पर पारमार्थिक विषयों का वर्णन है। इस दृष्टान्त का अर्थ बहुत ठौर तो स्पष्ट है। परन्तु किसी-किसी ठौर में गूढ़ है। इस पुस्तक से अन्य-अन्य देशों के अनेक लोगों का उपकार हुआ है और परमेश्वर के अनुग्रह की आशा रखते हैं कि उसके आशीर्वाद से इस देश के लोगों को भी हितदायक ठहरे। इति।"[३]

ईसाई धर्म की पुस्तकों के अनुवादों ने हिंदी भाषा को बल प्रदान किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। ईसा की अठारहवीं शताब्दी से ही हिंदी में बाइबिल तथा अन्य ईसाई ग्रन्थों का अनुवाद और प्रणयन होने लगा था और धर्म के साथ-साथ हिंदी का प्रचार भी होने लगा

---

१. भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ३९०-९१, रामनरायनलाल, इलाहाबाद, सं० २००८

२. भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग, पृष्ठ १२२

३. यात्रा स्वप्नोदय - आभाष, पृष्ठ ४, ई० जे० लाजारस, बनारस, १८६७

था। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक था। हैदराबाद से लेकर नेपाल तक और पंजाब से लेकर बंगाल तक ईसाई धर्म की पुस्तकों का प्रचार और प्रसार राज्य शक्ति के आश्रय से होना आरम्भ हो गया था।

ब्रिटिश राजनीति ने यह समझ लिया था कि भारत की धर्म प्रवण जनता पर तब तक शासन नहीं किया जा सकता जब तक उनकी धार्मिक भावना और विश्वास को निर्बल न बनाया जाय। इस नीति का प्रयोग दो प्रकार से हुआ। पहला आन्तरिक और दूसरा वाह्य। आन्तरिक प्रयोग में पश्चिमी शिक्षा और नौकरी के प्रलोभन से व्यक्तिगत धर्म के प्रति अनास्था उत्पन्न करना था और वाह्य प्रयोग इस्लाम के प्रति सद्भाव और ईसाई धर्म का प्रचार था।

विदेशियों में इस्लाम की महत्ता पर बल देकर हिंदू और मुसलमानों में वैमनस्य का बीज डाला और भेदनीति से भारतीय राष्ट्र की एकता को छिन्न-भिन्न किया। सर सैयद को अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी की स्थापना में योग दिया और मुसलमानों को शासन में कम उचित और अधिक अनुचित अधिकार देकर हिंदू और मुसलमानों में संघर्ष और निग्रह कराए। ये विग्रह अधिकतर धर्म को ही आधार बना कर कराए गए। धीरे-धीरे इस्लाम की विशिष्ट धार्मिकता ने भारतीयता की भावना नष्ट कर दी। मुसलमान अपने को उस इस्लामी बेड़े के मुसाफिर समझने लगे जो भारत में आकर गंगा के दहाने में डूब गया। 'हाली' जैसे राष्ट्रीय चेतना का स्वर भी विकृत हो गया।

ईसाइयों ने अपने धर्म प्रचार का साधन अधिक व्यापक बनाया। यह ईसाई धर्म राज-धर्म के रूप में सामने आया। यह कहा जा चुका है कि ईसाई धर्म शिक्षालयों और प्रेसों के माध्यम से द्रुतगति से बढ़ा। ईसाइयों ने जो स्कूल और कालेज स्थापित किए उनमें बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। उसने धर्म प्रचार के आवेश में वे हिंदू देवी-देवताओं और मूर्तियों की निन्दा करते और खिल्ली उड़ाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अकालों में वे क्षुधित परि-परिवारों के बच्चों को पालपोस कर अपने धर्म में दीक्षित कर लेते थे। इसका उल्लेख स्वयं सर-सैयद अहमद ने किया है। बाद में शासन की ओर से ऐसे कानून भी बनाए गए जिससे धर्म-परिवर्तन के फलस्वरूप उत्तराधिकार की हानि न हो। श्रीरामपुर, दीनापुर, बनारस, चुनार, आगरा आदि अनेक स्थानों पर ईसाई-धर्म-प्रचार के केन्द्र स्थापित हुए। पाठ्यपुस्तकों में उप-देशात्मक कहानियाँ और कविताओं से ईसाई धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध की जाती थी।

भजन

धन्य-धन्य ते पुरुष दयालु, मम हित लज्जा पाई।
झुकि-झुकि मैं निज पीठहि लाद्यौ, अघ बोझा दुखदाई।
काहु न मेरो बोझ उतार्यौ, कष्टी जीव छुड़ाई॥
आयो भागि यहाँ लगि में जब, अगिनित सुख तब पाई।
क्रूशहिं देखि भार निज खोयौ, या सुखदायक ठाई॥

टूटे बन्ध गिर्यो अघ मेरौ, कबरहिं गयो समाई।
क्रूश कबर दोउ धन्य कशत हौं, धन्य यीशु अधिकाई ॥[1]

इससे यही सिद्ध किया गया कि ईसाई बन जाने से सभी कष्टों से मुक्ति मिल जाती है तथा चरित्र में बड़ा सुधार हो जाता है। मुक्ति मार्ग सिद्धान्त (१८६०) में तो यह भी प्रभाव दिखलाया गया है कि ईसाई बन जाने पर आदमी का कोढ़ भी अच्छा हो जाता है।

इस्लाम की अपेक्षा ईसाई धर्म को यह लाभ भी हुआ कि पाश्चात्य विचारधारा, बुद्धिवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव उसके पक्ष में था। बंगाल में ईसाई धर्म इतनी तीव्रता से फैलने लगा था कि उसके रोकने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशाब्द में ब्रह्म समाज की स्थापना की गई। उसकी स्थापना में एक ओर हिंदू धर्म के सुधार के लिए प्रयत्न था और दूसरी ओर नव शिक्षितों को ईसाई बनने से रोकने का भी दृष्टिकोण था।

उन्नीसवीं शताब्दी को अपनी पूर्व शताब्दियों से जिस प्रकार धार्मिक समस्याएँ उत्तराधिकार से मिली थीं उसी प्रकार से सुधार की प्रवृत्तियाँ भी प्राप्त हुई थीं। पूर्व की शताब्दियों में जहाँ अधिकाधिक धार्मिक विग्रह थे, वहाँ सुधार और संगठन के रूप में निर्गुण और सगुण समन्वय भी किया गया था। जहाँ बहुदेववाद, बाह्याचारों और पाखण्डों की भरपूर निन्दा थी, वहाँ हिंदू-मुस्लिम धर्मों के समन्वय की परम्परा भी थी जिसके लिए युवराज दाराशिकोह और स्वामी प्राणनाथ ने अथक प्रयत्न किये थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में धार्मिक सुधार के मनोभाव दो दिशाओं से अग्रसर हुए। पहली दिशा तो परम्परा से आनेवाली परिष्कार और समन्वय की भावना थी और दूसरी दिशा नवीन धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना की थी जिससे धर्म को एक व्यापक रूप से देखने की दृष्टि थी। परम्परा से आनेवाली परिष्कार और समन्वय की भावना को प्रखर करने में सहजानन्द, तुलसीसाहब, पलटूदास और गाजीदास ने विशेष योग दिया। सहजानन्द ने अहिंसा के समर्थन से मांसाहार, निन्दा आदि दोषों का घोर विरोध किया और मूर्तिपूजा को व्यर्थ माना, तुलसी साहब ने अपने को गोस्वामी तुलसीदास का अवतार मान कर निर्गुण ईश्वर की व्याख्या शास्त्रीय ढंग से की, पलटूदास ने हिन्दू और मुसलमानों के भेद को मिटाने में बड़ा प्रयत्न किया और गाजीदास ने एकेश्वरवाद की स्थापना की। इन्हीं सन्तों के बौद्धिक और गम्भीर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से प्रेरणा पाकर अनेक स्वस्थ सम्प्रदाय विकसित हुए जिनमें राधास्वामी सम्प्रदाय विशेष प्रसिद्ध हुआ। नवीन युक्तियाँ, नई व्याख्याएँ बुद्धिवादी होने के कारण अन्धविश्वास को दूर करने में समर्थ हुईं। धर्म का सम्बन्ध नैतिकता और जीवन की स्वस्थ संवेदनाओं से अधिक हो सका। किन्तु अन्य धार्मिक सम्प्रदाय अपनी परम्परा में ही पुष्ट थे। वे अपनी भक्तिभावना तथा उपासना पद्धति में ही केन्द्रीभूत थे और उसमें किसी प्रकार के संशोधन के पक्ष में नहीं थे।

रामभक्ति रसिक सम्प्रदाय में परिणत होकर श्रृंगार भाव से राम की उपासना में लीन थी। राम और सीता की सेवा और टहल में ही इन भक्त कवियों की साधना अर्पित थी। यह

१. तेजस्वी पुरुषों का आशिर्वाद (यात्रा स्वप्नोदय), पृष्ठ ४०

अवश्य कहा जा सकता है कि 'दिव्य साकेत की विहार लीला के चित्रण में मग्न रहते हुए भी रसिक भक्तों ने अपनी समकालीन परिस्थितियों की अवहेलना नहीं की है।[1] ऐसी परिस्थितियों में 'क्रिस्तानी प्रचार, साधु समाज और सन् सत्तावन की क्रान्ति' उल्लिखित हुई है—

(क) क्रिस्तानी प्रचार

पहले हिन्दू बीच मुसल्ला पीछे भयो फिरंगी।
ईसा ईसा के गोहरावें पालै भक्ति यकंगी॥ (बनादास)

(ख) साधु समाज

दुनियाँ अन्न बिना मर जावें धनी भये मठधारी।
खाँय पेट भरि करैं न कष्टा सोवें टांग पसारी॥ (बनादास)

(ग) सन् सत्तावन की क्रान्ति

संवत् उनइस-सै चौदह की आदि, जग बड़ उतपात परै
सवा पाँच लाख मनुष्य की हानी, प्रभु बिन को धीरज धरे॥ (पतितदास)

रामकाव्य के समानान्तर कृष्ण काव्य भी विकसित होता रहा किन्तु वह अपने परम्परागत सम्प्रदायों में ही विभक्त रहा। प्रमुख रूप से ऐसे पांच संप्रदाय थे—निम्बार्क सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, राधा वल्लभ सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय। इनमें अधिकतर अनूदित काव्य, सिद्धान्त काव्य, भक्त चरित और टीका काव्य की ही प्रधानता थी। इनमें 'पौराणिक कृष्णलीलाओं का रूप गौड़ पड़ता गया तथा उसके स्थान पर लोकरंजक तत्त्वों उत्तरोत्तर प्रखरता होती गई।[2]

आधुनिक दृष्टि से प्रेरित होकर धर्म में मौलिक सुधार करने के लिए भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। वे प्राचीन परम्परा में पोषित हुए थे किन्तु अपने युग की बुद्धिवादी विचारधारा से पूर्ण प्रभावित थे। उन्होंने हिन्दू-धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम का तुलनात्मक अध्ययन किया था। अपने युग के शिक्षित वर्ग की मनोवृत्ति से परिचित थे। यह वर्ग भारतीयता का तिरस्कार करने वाला और पाश्चात्य सभ्यता एवं विचारधारा का मुक्तकंठ से प्रशंसक था। दूसरे शब्दों में वह ईसाइयत के सिंह द्वार पर खड़ा था और पौराणिक धर्म का तत्कालीन कर्मकाण्ड भरा रूप ग्रहण करने में असमर्थ था। राजा राममोहन राय ने इस बुद्धिवादी मनोविज्ञान को परखा उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना में

---

१. —रामभक्ति में रसिक संप्रदाय—डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, पृष्ठ ३६६

१. हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य (१७००-१९०० ई०) अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, अध्याय १, २, और ३, डॉ० राजेन्द्र कुमार।

उपासना का ढंग तो ईसाई धर्म के आधार पर रक्खा किन्तु सिद्धान्तों का मूलाधार उपनिषदों से ग्रहण किया। संस्कृति की धारा को भगीरथ की भाँति अग्रसर करने वाले राजा राममोहन राय का यह 'ब्रह्म समाज' अंग्रेजियत और ईसाइयत के प्रभावों को द्रुम-दण्डों की भाँति बहा ले जाने में समर्थ हुआ। एक ओर पश्चिमी सभ्यता से आक्रान्त समाज के पार्श्व में और दूसरी ओर सनातनी परम्पराके बीच जन्म लेने वाला यह ब्रह्म समाज जहाँ राजा राममोहन राय के असीम साहस का परिचय देता है, वहाँ उनकी सन्तुलित दृष्टि का द्योतन करता है जो पाश्चात्य विचारों के प्रथम सम्पर्क में आने पर भी अभिभूत नहीं हो सकी।

ब्रह्म समाज की स्थापना के ४० वर्ष उपरान्त एक दूसरा समाज अवतरित हुआ। स्वामी विरजानन्द ने पौराणिक साहित्य की अपेक्षा वैदिक साहित्य में आर्य धर्म का विराट् रूप देखा। स्वामी श्रद्धानन्द उन्हीं के शिष्य थे। जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना में धर्म के क्षेत्र को अत्यन्त बुद्धिपरक बनाया। आर्य समाजी सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी सशक्त हुआ। स्वामी दयानन्द ने वैदिक साहित्य का आश्रय लेकर भारतीय परम्परा के भीतर रह कर ही एक सर्वथा क्रान्तिकारी धार्मिक और सामाजिक विचारधारा का प्रवर्त्तन किया और हजारों वर्षों की बद्धमूल पौराणिक परम्परा की सारहीनता प्रतिपादित की। स्वामी दयानन्द ने अपने प्रचार कार्य में शास्त्रार्थ के साथ-साथ पत्र, विज्ञापन और ग्रंथों का माध्यम भी अपनाया। स्थान-स्थान पर आर्य समाज के केन्द्र स्थापित हुए। विद्यालय, अनाथालय और गोशालाओं तक की योजना बनी और कार्यान्वित हुई। विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों का अध्ययन करके बुद्धि और तर्क के आश्रय से उन्होंने इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, जैन और पौराणिक धर्मों की ऐसी युक्तिपूर्ण आलोचना की कि जनता ने बहुत बड़ी संख्या में उनका अनुसरण किया। उन्होंने हिन्दू धर्म में साहस और निर्भीकता का वातावरण उत्पन्न किया। धर्म का उन्होंने केवल आध्यात्मिक तथ्य निरूपण और ब्रह्मानुभूति तक ही सीमित नहीं रक्खा, वरन् उसे एक पूर्ण जीवन दर्शन और व्यवस्था के रूप में ग्रहण किया और कराया।

धार्मिक सुधार और आधुनिकीकरण की इन दो विशिष्ट धाराओं के प्रवाहित और उससे प्रभावित होने पर भी अधिकांश भारतीयों का धार्मिक जीवन पूर्ववत् ही बना रहा। इन आन्दोलनों से शिक्षित, अर्धशिक्षित वर्ग प्रभावित अवश्य हुए किन्तु अशिक्षितों के समानान्तर उनके प्राचीन संस्कार अब भी न्यूनाधिक मात्रा में परम्परागत ही रहे। स्त्री वर्ग तो बहुत कम प्रभावित हुआ था। परम्परागत धर्म में ही सामान्य भारतीय का जीवन सांस लेता था। मूर्ति-मन्दिर, तीर्थ-पर्व, स्वर्ग-नर्क, अवतार-पुनर्जन्म के साथ-ही-साथ हल-बैल, गो-ग्राम पीपल-नीम, कुलदेवता और सती समाधि में उसकी अपरिमित श्रद्धा थी। उसके लिए प्रत्येक संस्कार और त्यौहार एक धार्मिक पर्व था। इसे ठेठ पाराणिक या सनातन धर्म भी नहीं कह सकते। उसे स्थूल रूप से भारतीय धर्म की सज्ञा दी जा सकती है यद्यपि परम्परा से वह सनातन धर्म से सम्बद्ध है। इस भारतीय धर्म से सच्ची धार्मिकता का परिष्कृत रूप निकालने में स्वामी राम-कृष्ण परमहंस की अद्भुत अन्तर्दृष्टि थी। उन्होंने बहुसंख्यक भारतीयों के इस धर्म के वास्तविक रूप को पहिचाना और उसे उपयुक्त उपासना से सम्बद्ध किया। साधकों की क्षमता के अनुसार उन्होंने धार्मिक साधना के विभिन्न स्तर और प्रकार स्वीकार किए। उन्होंने इस सत्य का प्रति-

पादन किया कि विश्व के कण-कण में विश्वात्मा की अनुभूति ही चरम साध्य है और पवित्र भाव से जड़ चेतन की सेवा और पूजा ही सर्वोच्च उपासना है। यह समन्वयवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। लोक जीवन और लोक कल्याण का इससे सीधा और गहरा सम्बन्ध है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने जीवन के विभिन्न पार्श्वों में एकरसता और एकरूपता स्थापित कर भारतीय धर्म को एक नवीन ज्योति से उद्भासित किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सन् १८७७ में बलिया में दिए गए व्याख्यान "भारतवर्ष की-उन्नति कैसे हो सकती है" के संदर्भ में कहा था—

भाइयो! वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरण-कमल का भजन है। ये सब तो समाज धर्म हैं जो देश काल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं। दूसरी खराबी यह हुई कि उन्हीं महात्मा बुद्धिमान ऋषियों के वंश के लोगों ने अपने बाप-दादों का मतलब न समझ कर बहुत से नए-नए धर्म बना कर शास्त्र में धर दिए। बस सभी तिथि व्रत और सभी स्थान तीर्थ हो गए। सो इन बातों को अब एक बेर आँख खोल कर देख और समझ लीजिए।[१]

सामाजिक

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज अपनी परम्परा का अनुसरण ही करता रहा और अपने गुण-दोषों में अधिक संशोधन करने में समर्थ नहीं हुआ। इस्लाम के संपर्क से भारतीय समाज के सांस्कृतिक जीवन में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए किन्तु उसका आर्थिक और सामाजिक ढाँचा बना रहा।[२] भारतीय समाज अपनी वर्ण व्यवस्था में कुछ ऐसा बन गया था कि बड़ी से बड़ी राजनीतिक उथल-पुथल हो जाती थी किन्तु उसके दैनिक क्रिया-कलाप में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं आता था। वर्ण व्यवस्था से कार्य के विभाजन में भले ही कुछ सुविधा हुई हो, किन्तु उससे जो आपस का अलगाव और विभेद उत्पन्न हो गया था, उससे समाज में एक स्थिरता और जड़ता की अवस्था ही आ गई थी।

वर्ण व्यवस्था का आरम्भ तो वैदिक काल से ही हो गया था, परन्तु कालान्तर में जातीय, स्थानीय, आर्थिक और राजनीतिक प्रभावों से इस व्यवस्था में अनेक उपजातियों का प्रभाव पड़ा और उनमें भी जातियों और उपजातियों का विकास हुआ। परम्परागत कार्य अथवा पैतृक व्यवसाय को अपनाने की परम्परा चल पड़ी। हिन्दुओं में न्याय और धर्म की व्यवस्था पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। इस व्यवस्था में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१—परम्परा का आग्रह
२—सामाजिक विभाजन की प्रवृत्ति
३—अत्यधिक धार्मिकता और परलोक परायणता

इन बातों का परिणाम भी क्रमशः तीन प्रकार से सम्मुख आया—

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली (तीसरा भाग) ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ९००-९०१ (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी)

२. हिस्ट्री अव फ्रीडम मूवमेण्ट इन इंडिया—डॉ० ताराचन्द्र, पृष्ठ ८७

१—अविद्या और स्वस्थ चिन्तन का अभाव

२—संकीर्णता और भेद-भाव की वृद्धि

३—नारी जीवन और सांसारिक जीवन के प्रति उदासीनता

यह उदासीनता दार्शनिक पृष्ठभूमि लिए हुए थी किन्तु जब मुसलमानों का आगमन इस देश में हुआ तो भोगवादी दृष्टिकोण अधिक प्रखर हुआ। दार्शनिक उदासीनता धीरे-धीरे वस्तु-वादी आकर्षणों में लीन होकर समाप्त हो गई और उसके स्थान पर विलासमयी तन्द्रा उभर आई।

उन्नीसवीं शताब्दी में जो सामाजिक परिस्थिति थी, उसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने भारत-दुर्दशा नाटक में विस्तार से उपस्थित किया है—

जाति अनेकन करी, नीच अरु ऊँच बनायो।
खान-पान सम्बन्ध, सबन को बराज छुड़ायो॥
जन्म-पत्र विधि मिले व्याह, नहिं होन देत अब।
बालकपन में व्याहि प्रीति, बल नास कियो सब॥
करि कुलीन के बहुत व्याह, बल बीरज मार्‌यो।
विधवा व्याह निषेध कियो, विभिचार प्रचार्‌यो॥
रोकि विलायत गमन, कूप मण्डूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाय, प्रचार घटायो॥
× × ×
अपराध सोलह छूत रचि, भोजन प्रीति छुड़ाय।
किए तीन तेरह सबै चौका चौका लाय॥[1]

भारतेन्दु ने जिस मनोरंजक और व्यंगात्मक शैली में अपने समय के समाज का चित्रण किया है, वह उनके नाट्य साहित्य में क्रान्तिकारिणी विचार पद्धति का सशक्त उदाहरण है। समाज व्यवस्था से जिन परिणामों का उल्लेख ऊपर हुआ है, उन पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है—

१—अविद्या और स्वस्थ चिन्तन का अभाव

रूढ़ि, परम्परा और अन्धविश्वास ही ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ रही हैं जिन्होंने ज्ञानार्जन की प्रेरणा और स्फूर्ति का द्वार बन्द कर दिया था। देश के आर्थिक स्तर के साथ उसका नैतिक स्तर भी घिरा हुआ था। उद्योगों का ह्रास हो गया था, केवल खेती ही आजीविका का साधन बनी हुई थी। उस पर भी जमींदारों और बढ़ाए हुए सरकारी करों का बोझ लदा हुआ था। बढ़ी हुई जनसंख्या और उखड़े हुए कारीगरों की असहायावस्था को खेती नहीं संभाल सकती थी। कुछ निम्नकोटि की सरकारी नौकरियाँ अवश्य थीं जहाँ लोग अपमान मिश्रित रूखी रोटियाँ

१. भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ३६०-३६१

खा सकते थे। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र के समय में अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवकों की संख्या तो बढ़ रही थी किन्तु उन्हें नौकरी नहीं मिल रही थी। भारतेन्दु की एक प्रकरी है—

तीन बुलाये तेरह आवें,
अपनी अपनी बिपत सुनावें।
भूखे मरें, भरे नहिं पेट,
ए सखि साजन, नहिं ग्रेजूएट ॥

इस भाँति बहुत से युवक बेकार थे। सन् १८५० से १९०० के बीच में २४ अकाल पड़े थे, १८ तो १८७५ से १९०० के बीच ही के थे। ऐसी स्थिति में देश की अधिकांश जनता किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रही थी। विद्या का कोई लाभ नहीं था और विषम परिस्थितियों में स्वस्थ चिन्तन के लिए कोई सन्तुलन नहीं था।

२—संकीर्णता और भेदभाव की वृद्धि

समाज अनेक छोटे भागों में विभक्त हो गया था। वर्ण व्यवस्था कहने भर के लिए थी। उसका तत्त्व समाप्त हो गया था। लोग नाम के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कहलाते थे। उनमें न अपने कर्त्तव्य का ज्ञान था, न उसकी योग्यता। गार्हस्थ्य, अन्धविश्वास और नैतिक हीनता से आक्रान्त था। विपन्नता और कुरीतियाँ बुरी तरह समाज को जकड़े हुए थीं। झूठे सन्तोष और भाग्यवाद की विवशता ने समस्त क्रियाशीलता को कुंठित कर दिया था। जो क्रियाशीलता थी भी तो वह अनैतिकता की अँधेरी गलियों में चक्कर काट रही थी। उसमें धन का अपव्यय था। मद्यपान और वेश्यागमन की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। भारतेन्दु ने प्रेमजोगिनी नाटिका (संवत १९३२) में काशी की दशा का वर्णन दूसरे गर्भांक में इस तरह किया है—

देखी तुमरी कासी, लोगों, देखी तुमरी कासी।
× × ×
लोग निकम्मे भंगी गंजड़, लुच्चे बेबिसवासी।
महा आलसी झूठे शुहदे, बेफिकरे बदमासी ॥
आप काम कुछ कभी करैं नहिं, कोरे रहैं उपासी।
और करे तो हँस बनावें, उसकी सत्यानासी ॥
× × ×
घर की जोरू-लड़के भूके, बने दास औ दासी।
दाल की मंडी रंडी पूजैं मानो इसकी मासी ॥

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक हीनता उन्नति के सभी भागों का अवरोध कर रही थी। जाति-पाँति के भेद-भाव के साथ छुआछूत भी परस्पर अविश्वास और उपेक्षा की

१. भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग, पृष्ठ १२६-१२७

वृद्धि कर रही थी। ब्राह्मण और शूद्र में भेदभाव तो था ही, हिंदू और मुसलमान भी एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते थे। औरंगजेब के समय से ही संकीर्णता का भाव मुसलमानों के एक बड़े वर्ग में आ गया था। सन् १८५७ के विद्रोह के पहले यह भाव समाप्त होने जा रहा था किन्तु विद्रोह के बाद सर सैयद अहमद के निर्देशन में अंगरेजों की भेदनीति फूलने-फलने लगी और हिंदू और मुसलमान फिर एक दूसरे से दूर हो गए।

इस भाँति उन्नीसवीं शताब्दी का समाज एक जीर्ण वस्त्र की भाँति स्थान-स्थान से जर्जरित हो रहा था।

३—नारी जीवन और सांसारिक जीवन के प्रति उदासीनता

मुस्लिम शासन-काल में नारियों का जीवन क्रमशः अवनति के गर्त में गिरता गया। मुस्लिम शासकों की विलासी वृत्ति ने नारियों को आतंकित कर दिया था। सामाजिक दृष्टि से उनका सम्मान भी घट गया था। वे समाज के कार्य कलाप में आत्म-सम्मान के साथ भाग नहीं ले सकती थीं। वृद्ध विवाह और बाल विवाह ने उन्हें ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया था कि वे उच्छिष्ट अन्न की तरह कुपात्रों के हाथ में पड़ रही थीं। शिक्षा के अधिकार से वंचित होकर वे पर्दे के पीछे रह कर अनेक प्रकार की यातनाएँ सहन कर रही थीं।

राजा राममोहन राय ने इस दयनीय परिस्थिति का अनुभव किया। उन्होंने नारी जाति के उत्थान के लिए नारियों की शिक्षा की व्यवस्था तथा पर्दे की प्रथा को तोड़ने का भरसक प्रयत्न किया। साथ ही, विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन तथा बाल विवाह का विरोध कर उन्होंने नारी-जीवन को बहुत कुछ व्यवस्थित करने की चेष्टा की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी संवत् १९३८ में नीलदेवी नामक एक गीति रूपक लिखा। उसकी प्रस्तावना में उन्होंने 'मातृ-भगिनी-सखी तुल्या आर्य ललना गण' को सम्बोधित करते हुए लिखा—

"...जब मुझे अंग्रेजी रमणी लोग भेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतल जूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्णवसन से भूषित, क्षीण कटि देश कसे, निज-निज पतिगण के साथ प्रसन्न वदन इधर से उधर फर-फल कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलायी पड़ती हैं तब इस देश की सीधी सीधी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुल लक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपनी पति के साथ घूमें किन्तु और बातों में जिस भाँति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं....उसी भाँति हमारी गृहदेवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोध हम लोगों की वर्तमान कुल परंपरा-मात्र है और कुछ नहीं है।"[1]

इस प्रकार अनेक समाज-सुधारकों एवं साहित्य के उदार-चेता मनीषियों ने नारियों के जागरण का शंखनाद किया।

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ४२१-४२२

भाग्यवाद के प्रति अत्यधिक आस्था होने के कारण सामान्य जनता के हृदय में जीवन की क्रियाशीलता बहुत बड़ी मात्रा में कुंठित हो चुकी थी, इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। परिणाम यह हुआ कि जनता में संसार की समस्त परिस्थितियों के प्रति एक निगूढ़ उदासीनता स्थान पा चुकी थी। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने इसका उल्लेख 'पितर प्रलाप' में किया है—

कहा करें ये निबल कछु, करिबे लायक नाहिं।
लिख्यो बिधाता नाहिं सुख, इनके भालन माहिं॥
नहीं वीरता प्रथम जब, तब दूजी क्या बात।
कला कुशलता बुद्धि वा, विद्या धन न लखात॥
फिर कैसे कारज सरै, जब ये सब सों हीन।
गिनै कौन इनको भला, हौ तेरह की तीन॥
× × ×
बुद्धि बिना धनहीन ह्वै, मान प्रतापहिं खोय।
रोय-रोय के हाय ये, रहे और मुँह जोय॥
त्रस्त भये ए तबहिं के, थर-थर काँपत जाँय।
अब लौं डाढ़ ये दूध के, छाछ छुवत सकुचायँ॥[1]

जनता को इस परिस्थिति से मुक्त करने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्यकारों ने भरपूर यत्न किया। परम्पराओं का खोखलापन, भाग्यवाद की विवशता तथा अन्धविश्वास की जड़ता को दूर करने के लिए अनेक विधाओं में साहित्य की रचना की गई। समाचार पत्रों के अग्रलेख, नाटकों के परिहासपूर्ण संवाद, कहानियों के कौतुकपूर्ण प्रसंग तथा कविताओं के भावना-संवलित उद्बोधन जनता में स्फूर्ति और प्रेरणा भरने के साधन बने। उन्नीसवीं शताब्दी का साहित्य पच्चीस प्रतिशत तो हीन दशा का वर्णन करने में लिखा गया है और पचहत्तर प्रतिशत जनता को समाज और राष्ट्र के प्रति जागरूक करने की दृष्टि से निर्मित किया गया है। जिस प्रकार पंद्रहवीं शताब्दी के संत साहित्य में चेतावनी का अंग अधिक है, उसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास में उद्बोधन और जागरण गीत का अंश अधिक है। इस युग में समाचार पत्रों के विपुल साहित्य ने सूचना, समीक्षा और शिक्षा का संदेश द्वार-द्वार पहुँचाने की चेष्टा की। साथ ही, जितने भी धर्म के नवीन संस्थान बने वे समाज का परिष्कार करने में ही नवीन दृष्टि के उन्मेष की संभावना समझते थे। कहीं-कहीं तो ये सुधार औचित्य की सीमा का भी उल्लंघन करने लगे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'प्रहसन पंचक' के अन्तर्गत 'सबै जाति गोपाल की' लिख कर इसका संकेत किया है।

(एक पंडित जी और एक क्षत्री आते हैं!)

क्षत्री—महाराज देखिए, बड़ा अन्धेर हो गया है कि ब्राह्मणों ने व्यवस्था दे दी कि कायस्थ भी क्षत्री हैं। कहिए, अब कैसे-कैसे काम चलेगा?

पंडित—क्यों, इसमें दोष क्या हुआ? 'सबै जाति गोपाल की' और फिर यह तो हिन्दुओं का

१. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृष्ठ १५६

शास्त्र पंसारी की दुकान है और अक्षर कल्पवृक्ष हैं, इनमें तो सब जात की उत्तमता निकल सकती है पर दक्षिणा आपको बाएँ हाथ से रख देनी पड़ेगी। फिर क्या है फिर तो 'सबै जात गोपाल की'

क्षत्री—भला महाराज जो चमार कुछ बनना चाहें तो उसको भी आप बना दीजिएगा ?

पंडित—क्या बनना चाहै ?

क्षत्रिय—कहिए ब्राह्मण

पंडित—हाँ, चमार तो ब्राह्मण हुई हैं, इसमें क्या सन्देह है ? ईश्वर के चर्म से इनकी उत्पत्ति है, इनको यम-दण्ड नहीं होता। चर्म का अर्थ ढाल है इससे ये दंड रोक लेते हैं। चमार में तीन अक्षर हैं 'च' चारों वेद, 'म' महाभारत, 'र' रामायण, जो इन तीनों को पढ़ावै वह चमार।····अब कर्म भ्रष्ट होने से अन्त्यज हो गए हैं, नहीं तो हैं असिल में ब्राह्मण देखो रैदास इनमें कैसे भक्त हुए हैं। लाओ, दक्षिणा लाओ, सबै जाति गोपाल की।[1]

भारतेन्दु ने इस प्रहसन में सुधारवादियों का भी परिहास किया है। भारतेन्दु जी मध्यम मार्ग के समर्थक थे। जहाँ वे अन्धविश्वास, भाग्यवाद, अशिक्षा और दासता के घोर विरोधी थे, वहाँ वे धर्म के स्वस्थ रूप, शिक्षा, राष्ट्रीयता और समाज सुधार के मर्यादित सीमा के समर्थक थे। भारतेन्दु युग के प्रायः सभी साहित्यकारों ने समाज सुधार को अन्य सुधारों की पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकार किया है और अपने लेखों और कविता द्वारा समाज को नवजागरण की चेतना प्रदान की है।

उन्नीसवीं शताब्दी का साहित्य वस्तुतः आधुनिक साहित्य के निर्माण का बीजांकुर है। शताब्दियों से जो अन्य मान्यताएँ और रूढ़ियाँ चली आ रही थीं उनका मूलोच्छेद करने में उन्नीसवीं शताब्दी के समाज सुधारकों और साहित्यकारों ने अपूर्व साहस और शक्ति का परिचय दिया। राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों के समस्त वृत्तियों और अन्तवृत्तियों के परीक्षण की आवश्यकता थी और इसका वास्तविक रूप समझ कर उनके परिष्कार की आवश्यकता थी। १९वीं शताब्दी के साहित्य की यह पृष्ठभूमि वास्तव में साहित्यिक प्रतिभा की अग्नि-परीक्षा थी।

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—तीसरा भाग (नागरी प्रचारिणी सभा), पृष्ठ ८१९-२०

पृष्ठभूमि : २

बीसवीं शताब्दी भारतीय जीवन और हिंदी साहित्य में क्रान्ति, नवोत्थान और आधुनिकता के उत्तरोत्तर विकसित होते हुए प्रभाव की शताब्दी है। इस शताब्दी के प्रारम्भिक अनेक वर्ष यद्यपि राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक दृष्टियों से उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के ही पूरक कहे जा सकते हैं लेकिन समग्र रूप में इस शताब्दी का अपना वैशिष्ट्य है। इसके प्रारम्भ में ही सर्वतोमुखी पुनरुत्थान की प्रवृत्ति, जिसका अंकुरण उन्नीसवीं शताब्दी में हो चुका था, अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक और संवर्धित स्तर पर विकसित हुई। विश्व के विभिन्न देशों और विचारधाराओं के सम्पर्क के प्रभावस्वरूप भारतीय जीवन और हिंदी साहित्य के विविध क्षेत्रों में नवोन्मेष की अपूर्व दिशाएँ उद्घाटित हुईं। बीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य देशव्यापी आन्दोलनों तथा परिवर्तनों से प्रेरित और प्रभावित हुआ है। इस अवधि में उसके अन्तर्गत जितनी शीघ्रता के साथ परिवर्तन तथा नाना चिंताधाराओ के प्रभाव घटित हुए, उतने कदाचित इससे पूर्व कभी भी नहीं सम्भव हो सके। जीवन की गतिशीलता साहित्य में भी अनेक रूपों में प्रतिविम्बित हुई है। अस्तु, बीसवीं शताब्दी की उन प्रेरक शक्तियों और परिस्थितियों का विवेचन आवश्यक हो जाता है, जिनसे हिन्दी साहित्य प्रभावित हुआ है।

राजनीतिक

राष्ट्रीयता की चेतना का प्रसार—समस्त देश के राजनीतिक जीवन में राष्ट्रीयता की चेतना का संचार बीसवीं शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। भारत के स्वतंत्रता-आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य यद्यपि राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति ही रहा, तथापि अब वह अपने व्यापक रूप में केवल राजनीतिक ही नहीं रह गया था। अब वह एक देशव्यापी पुनरुत्थान का भी आन्दोलन बन चुका था। उसका नैतिक आधार उत्तरोत्तर प्रबल होता गया। राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ ही देश के आर्थिक सुधारों के प्रति भी स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं की दृष्टि निरन्तर सचेष्ट रही। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत का औद्योगीकरण प्रारम्भ हो गया था, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन और व्यापार के क्षेत्रों में एक अभूतपूर्व क्रान्ति परिलक्षित हुई। सारे देश में औद्योगिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति विकसित होने लगी। हमारा सम्बन्ध विश्व के विभिन्न देशों से स्थापित हुआ। इसका प्रभाव यह पड़ा कि भारत में कुटीर उद्योग धन्धों और कृषि का पतन प्रारम्भ हो गया। देश का कृषकवर्ग शोषित और प्रताड़ित होता जा रहा था। इस आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप स्वतंत्रता आन्दोलन की प्रमुख संस्था काँग्रेस की नीति में भी परिवर्तन लक्षित हुआ। तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन की अत्याचारपूर्ण नीति के कारण राष्ट्रीयता और पुनरुत्थान की चेतनाएँ समस्त देश में अत्यन्त तीव्रता के साथ परिव्याप्त हो गईं। उसने

अपनी व्यापकता, गंभीरता और दृढ़ता के कारण सन् १९०५ तथा उसके परवर्ती वर्षों को विगत वर्षों से सर्वथा भिन्न कर दिया। १९०४ ई० के रूस और जापान के युद्ध का भी प्रभाव हमारी नवोदित राष्ट्रीय चेतना पर पड़ा। उसने भारतवासियों में अतिरिक्त आत्मविश्वास का भाव भरा तथा उनके अंग्रेजों को भारत से निष्कासित करने के अभियान को पर्याप्त प्रेरणा प्रदान की। उन्नीसवीं शताब्दी की काँग्रेस की उदार एवं सुधारवादी नीति उग्र राष्ट्रीयता में परिवर्तित होने लगी। इसी समय फ्रांस, इटली, रूस आदि यूरोपीय देशों द्वारा पल्लवित स्वतंत्रता और समानता के आदर्शों का भी प्रभाव भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर पड़ा। अब काँग्रेस ने अँग्रेज़ों के प्रति विध्वंसात्मक और प्रतिक्रियावादी नीति का अनुसरण प्रारम्भ कर दिया, जिससे भारत और भारतीयता से सम्बन्धित एक अपूर्व विश्वास का समस्त देश में संचार हुआ।

राष्ट्रीयता-आन्दोलन का उत्कर्ष—विश्व की गतिविधि से तो भारतवासियों को पुनरुत्थान और स्वातंत्र्य के प्रबोधन मिले ही, देश के अन्दर अंग्रेजों की नीति के परिणामस्वरूप घटित होने वाली घटनाएँ भी राष्ट्रीयता के तीव्रोन्मेष के लिए कम उत्तरदायी नहीं हैं। सन् १९०५ के पूर्व के कतिपय वर्ष लार्ड कर्जन के दमन पूर्ण शासन के वर्ष थे। उन्होंने कलकत्ता कारपोरेशन के अधिकारों में कटौती कर दी, विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता हस्तगत कर ली और पूर्वी देशों के व्यक्तियों के चरित्र को नीचा बताया। इसी समय तिब्बत का भी आक्रमण हुआ। लेकिन लार्ड कर्जन के द्वारा किया गया बंग भंग सबसे अधिक विषम और अनुचित सिद्ध हुआ। कर्जन के इस कार्यों की सारे देश में तीव्र आलोचना हुई। वर्ग विभाजन की सीधी प्रतिक्रिया यह हुई कि धार्मिक आधार पर बंगाल को दो खंडों में बाँट कर हिन्दू-मुस्लिम एकता और राष्ट्रीयता को आघात् पहुँचाया गया। विरोध करने पर सरकार ने दमन नीति ग्रहण की। विद्यार्थी समाज को राजनीति में भाग न लेने की चेतावनी दी गई। इसकी प्रतिक्रिया विपरीत रूप में लक्षित हुई और देश का विद्यार्थी वर्ग भी राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हो गया। देश के नेताओं ने बंगाल के विभाजन के विरोध में भारत मंत्री और वाइसराय के पास अनेक विरोध पत्र भेजे लेकिन सरकार की नीति पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। सन् १९०५ ई० में बंगाल के विभाजन की घोषणा औपचारिक रूप से कर दी गई। इसी वर्ष कांग्रेस के सभापति गोपाल कृष्ण गोखले ने ब्रिटिश सरकार की भारत विरोधी नीति की तीव्र आलोचना की। उन्होंने बंगाल का विभाजन समस्त देशवासियों का अपमान बताया। कांग्रेस के १९०५ ई० के बनारस के अधिवेशन में मालवीय जी और लाला लाजपत राय ने बंगाल के विभाजन की प्रतिक्रिया में स्वदेशी आन्दोलन का प्रस्ताव रक्खा। गोपालकृष्ण गोखले ने इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की उद्घोषणा की। गोखले की यह उद्घोषणा स्वदेशी आन्दोलन की मंत्र सिद्ध हुई। स्वदेशी आन्दोलन स्वदेश प्रेम और भारतीयता के पुनरुत्थान का उपकारक सिद्ध हुआ। इससे पूर्व राष्ट्रीयता और स्वदेश प्रेम की भावनाएँ केवल वर्ग विशेष तक ही सीमित थीं, स्वदेशी आन्दोलन के प्रभावस्वरूप वे जन सामान्य में प्रवेश पाने लगीं। स्वदेश प्रेम की भावना के संचार तथा आत्म के प्रति प्रबल आग्रह ने भारतीय भाषाओं के प्रचार और प्रसार में भी पर्याप्त योग दिया। १९०६ ई० में कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी ने स्वराज्य के हमारे जन्मसिद्ध अधिकार के होने की उद्घोषणा की। इसी अवसर पर कांग्रेस के

नेता श्री विपिनचंद्र पाल और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने 'स्वराज्य' की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत भी हो गया। अब कांग्रेस का लक्ष्य स्वराज्य हो गया तथा उसकी उदारपंथी और सुधारवादी नीति उत्तरोत्तर परिवर्तित होने लगी। लेकिन यह सहज रूप में घटित नहीं हो गया। यहीं से कांग्रेस के उदार और उग्रपंथी दलों में संघर्ष विकसित होने लगा। फिर भी अभी कांग्रेस में उदार पंथियों का प्रभुत्व बना रहा। १९०७ ई० के कांग्रेस के सूरत के अधिवेशन में उदारपंथियों की विजय हुई तथा गोपालकृष्ण गोखले के नेतृत्व में कांग्रेस के केवल औपनिवेशिक स्वराज्य को ही अपना लक्ष्य स्वीकार किया।

राजनीतिक गतिविधि में कुछ नए सन्दर्भ—कांग्रेस में पारस्परिक मतभेद के उभर आने से अंग्रेज़ों को पर्याप्त लाभ हुआ। उसने उदार पंथियों को संतुष्ट करने तथा उग्र पंथियों के दमन की नीति अपनाई। मार्ले-मिण्टों सुधार के द्वारा भारतीयों को सीमिति स्वायत्तता प्रदान की गई तथा सूरत के कांग्रेस अधिवेशन के उपरान्त मुजफ्फरपुर के उपद्रव का माध्यम लेकर बालगंगाधर तिलक, विपिनचंद्र पाल, अरविंद घोष आदि नेताओं को कैद कर लिया गया। कांग्रेस के अन्य अनेक उग्र पंथी नेताओं को भी कारावास दंड दिया गया। सरकार की इस नीति से संघर्ष का वातावरण और भी पनपा। मिन्टो-मार्ले सुधार के द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों को जिला बोर्डों से लेकर कौंसिलों तक में चुनाव के द्वारा अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि भारत में साम्प्रदायिकता की अग्नि धधक उठी। सर सैयद अहमद खाँ ने मुस्लिम लीग की स्थापना की। लीग का उद्देश्य मुसलमानों के हितों की रक्षा था और वह कांग्रेस के समानान्तर सरकार के समक्ष अपनी माँग रखने लगी। कांग्रेस ने धार्मिक आधार पर हिन्दू-मुस्लिम प्रतिनिधित्व का घोर विरोध किया। लेकिन कांग्रेस के विरोध का कोई उपयोगी परिणाम नहीं निकला। सरकार ने इस विरोध को दबाने के लिए १९१० ई० में लार्ड हार्डिज के वाइसराय नियुक्त होने पर कांग्रेस के नरम दल के लोगों को अनुकूल बनाने के लिए पूर्वी और पश्चिमी बंगाल के कर्ज़न के द्वारा किए गए विभाजन को समाप्त कर देने की घोषणा की।

बंगाल के एकीकरण के अतिरिक्त इसी समय कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनसे भारत की राजनीतिक गतिविधि में कुछ महत्त्वपूर्ण-परिवर्तन लक्षित हुए। यद्यपि बंगाल का एकीकरण कर दिया गया, फिर भी हिन्दुओं और मुसलमानों के पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व की नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया। अंग्रेजों ने अफ्रीका में भारतीयों की माँग का समर्थन किया। इसी बीच १९११ ई० में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच समझौते का यत्न हुआ तथा भारतीय राजनीति में विरोधी तत्वों के समन्वय की एक अपूर्व चेष्टा दिखाई पड़ी। लेकिन यह चेष्टा आगे चलकर फलीभूत न हो सकी। सन् १९१३ ई० में कांग्रेस में श्रीमती एनीबीसेन्ट सम्मिलित हो गईं। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक कारावास से मुक्ति पा गए। १९१४ ई० में कांग्रेस के उदार दल के गोपालकृष्ण गोखले और फिरोज़शाह मेहता का स्वर्गवास हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस में उग्र पंथी नेताओं का प्रभुत्व बढ़ने लगा। श्रीमती एनीबीसेंट ने कांग्रेस में सम्मिलित होने के उपरान्त होम रूल लीग का प्रवर्तन किया तथा उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारतव्यापी आन्दोलन चलाया। इसके अतिरिक्त उन्होंने काँग्रेस के पारस्परिक मतभेद को

समाप्त करने की पूरी चेष्टा की तथा अपने इस अभियान में उन्हें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई। इन सभी घटनाओं ने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में स्वतंत्रता आन्दोलन की आगामी गतिविधि में योग प्रदान किया।

अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि—भारतीय राजनीति के समानांतर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी इसी समय अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन लक्षित हुये। सन् १९१४ में महायुद्ध प्रारम्भ हो गया जो समस्त विश्व के राजनीतिक और बौद्धिक जीवन को आन्दोलित करने में पर्याप्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। ऐसे समय में अंग्रेज भारतीयों को संतुष्ट करने के लिए सहानुभूतिपूर्ण नीति चला रहे थे। इससे भारतीयों की कुछ विरोधी भावनाएँ शान्त हुईं। कांग्रेस के उदारदल के नेताओं ने सरकार की सहिष्णुतावादी नीति का अभिनंदन किया। भारतीय उद्योगपतियों की शिकायतें दूर हुईं और आर्थिक क्षेत्र में भी एक सहानुभूतिपूर्ण वातावरण उत्पन्न हुआ। अन्तरर्षट्रीय क्षेत्र में अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु अंग्रेजों में भारतीय उद्योग धन्धों को सहारा दिया। प्रथम महायुद्ध में लार्ड हार्डिङ्ग ने भारत की सेना बाहर लड़ने के लिए भेज दी। भारतीय सेना ने मित्रराष्ट्रों की पूर्ण शौर्य के साथ रक्षा की।

प्रथम महायुद्ध का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि भारतवर्ष में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना पल्लवित हुई। भारतवासियों को विश्व के संदर्भ में अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ तथा भारत का सम्पर्क विदेशों तथा वहाँ के साहित्यों से हुआ। अब भारतीयों की रुचि केवल अंग्रेजी भाषा और साहित्य तब ही सीमित न रही, उनमें फ्रेंच, जर्मन, रूसी आदि भाषाओं के साहित्य के भी अध्ययन की प्रवृत्ति विकसित हुई। इसी के समानान्तर यूरोपीय विद्वानों ने भी भारतीय संस्कृति और साहित्य का व्यापक स्तर पर अध्ययन प्रारम्भ किया। इस बौद्धिक आदान-प्रदान से भारतीय राष्ट्रीयता को व्यापक आधारभूमि प्राप्त हुई।

प्रथम महायुद्ध के अनन्तर समस्त देश में पुनरुत्थान की भावना प्रसारित और पल्लवित हुई। इसका बहुत कुछ दायित्व कांग्रेस के उदार दल की नीति पर भी है। वह भारत की समग्र जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा था और देश के केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित था। आत्म गौरव और राष्ट्रीयता का जितना गंभीर और व्यापक संचार सामान्य जनता में हो रहा था उतना उसका प्रतिनिधित्व करने वाले उदार दल के नेताओं में नहीं। यही कारण है कि इस समय देश में आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन जैसे पुनरुत्थान तथा सुधारवादी आन्दोलनों का समस्त देश में अत्यंत तीव्रता के साथ प्रचार हुआ। उनके माध्यम से लोक चेतना के जागरण और उग्र राष्ट्रीयता के प्रसार में अपूर्व योग प्राप्त हुआ। इन आन्दोलनों के प्रभाव स्वरूप भारतीय जनता की राष्ट्रीयता की भावना को संस्कृतिक और धार्मिक आधार प्राप्त हुआ।

गांधी जी का प्रसार तथा नवोन्मेष की वेला—सन् १९१८ ई० में कांग्रेस में गाँधी जी के प्रवेश से कांग्रेस में निम्न मध्य वर्ग का प्रभुत्व बढ़ गया। जिससे उदार पंथियों को गहरा आघात पहुँचा। गाँधी जी के प्रवेश के अनन्तर भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन जन चेतना का व्यापक स्तर पर समर्थन प्राप्त करके अग्रसर हुआ। साथ ही, इससे सारे देश में जनवादी प्रवृत्तियों को अपूर्व प्रश्रय मिला। आगे चलकर उग्र पंथी कांग्रेसियों में भी दो दल हो गए, हिंसावादी और अहिंसावादी। लेकिन इन दोनों ही दलों का उद्देश्य भारतीय जीवन तथा तत्का-

लीन व्यवस्था में क्रान्ति उत्पन्न करना था। हिंसावादी क्रान्तिकारियों में बंगाली अधिक थे, जिनमें विपिनचन्द्र पाल, रासबिहारी घोष और अरविंद घोष प्रमुख थे। इन नेताओं की हिंसा-वादी विचारधारा पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस द्वारा प्रवर्तित काली की उपासना का प्रभाव पड़ा था। वे हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा काली रूपी माँ भारती को विदेशियों और विधर्मियों के बंधन से मुक्ति दिलाना चाहते थे। राष्ट्रीयता को धर्म का आधार प्राप्त हो जाने के कारण बंगवासी जनता का रक्तोद्वेलन स्वाभाविक था। भारत के पूर्वांचल से 'बंदेमातरम्' का जयघोष उठा और समस्त देश को निनादित करने लगा। इसी समय महर्षि अरविंद ने राष्ट्रीयता का आध्यात्मीकरण कर उसे प्रत्येक भारतवासी के जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में प्रतिपादित किया। अरविंद की मान्यता थी कि जिस प्रकार हम समस्त लौकिक आसक्तियों से मुक्त होकर परम तत्त्व की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार देश को विदेशी शासन से मुक्ति तथा उसके सर्वतो-मुखी विकास के लिए हमें राजनीतिक सन्यास को स्वीकार करना चाहिए। अरविंद के राजनीति-दर्शन ने भारतीय राष्ट्रीयता को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया। अरविंद का यह जीवन दर्शन भारतीय भाषाओं के सम सामायिक साहित्य में भी अभिव्यक्त हुआ और उसने विभिन्न प्रान्तों के लोकमानस का राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित करने में विलक्षण योग दिया। बंगाल के समान महाराष्ट्र और पंजाब में भी धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता की प्रवृत्तियों ने राष्ट्रीयता को संचालित किया। महाराष्ट्र में श्री बालगंगाधर तिलक ने गणपति उत्सव, शिवाजी जयन्ती, गोरक्षिणी सभा आदि के प्रचार द्वारा राष्ट्रीयता को हिंदुत्त्व का आधार प्रदान किया। उन्होंने संकट की अवस्था में समस्त राष्ट्र को गीता के निष्काम कर्म मार्ग को अपनाकर राष्ट्रोत्थान का उपदेश दिया। तिलक के इस अभियान का देश के सभी वर्गों पर व्यापक और गंभीर प्रभाव पड़ा। पंजाब के लाला लाजपत राय आदि आर्य समाजियों ने राष्ट्रीयता के प्रसार के साथ हिंदू धर्म और विचारधारा के उत्थान एवं प्रचार का व्रत धारण किया। इस प्रकार आर्य समाज ने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक सुदृढ़ और व्यापक आधार प्रदान किया। इसी समय स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त दर्शन के पुनरुत्थान के द्वारा भारतीय अध्यात्म और दर्शन का प्रचार किया तथा मद्रास में श्रीमती ऐनीबीसेंट ने थियोसोफिकल सोसाइटी के माध्यम से हिंदुत्व के पुनरुत्थान और प्रसार के लिए अनेक उपक्रम किए जिनका देशव्यापी महत्व है।

इस प्रकार जब धर्म और अध्यात्म के आदर्शों का अवलम्ब लेकर चलने वाले नेताओं ने कांग्रेस में प्रवेश किया तो राष्ट्रीयता को अपूर्व बौद्धिक और भावात्मक धरातल प्राप्त हुआ। इससे उग्र पंथी विचारधारा को और भी बल प्राप्त मिला। लेकिन यह लक्ष्य करने योग्य है कि उग्र पंथी राष्ट्रवादियों का क्षेत्र हिंदुत्त्व तक ही सीमित था तथा उसने हिंदुत्व के ही संदर्भ में राष्ट्रीयता की व्याख्या की थी। राजनीतिक क्षेत्र की इस गतिविधि ने समस्त देश में पुनरुत्थान की भावना को पल्लवित किया। विविध भाषाओं के साहित्यों में धर्म और अध्यात्म संयुक्त पुनरुत्थान की प्रवृत्तियों का विकास हुआ। अस्तु, विगत कतिपय वर्षों की हिंदुत्त्व और अध्या-त्मिक तत्त्वों से अनुप्राणित राजनीतिक क्षेत्र की सम्पूर्ण गतिविधि राष्ट्रीय और सांस्कृतिक अभ्युत्थान की महत्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है।

नवोन्मेष की प्रतिक्रिया—कांग्रेस की राष्ट्रीयता जब हिन्दुत्व के आवरण में प्रसारित हुई तो अंग्रेजों ने मुसलमानों को उभारने का कार्य प्रारम्भ किया। इस समय बंगाल के विभाजन और मुस्लिम लीग की स्थापना के इससे पूर्व किए गए कार्य अंग्रेज़ों की धार्मिक विच्छेद की नीति की भूमिका सिद्ध हुए। उनकी इस नीति का विस्तार मिन्टो-मार्ले सुधार द्वारा मुसलमानों को दिए गए पृथक् मतदान के सिद्धान्त में परिलक्षित हुआ। धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप सर सैय्यद अहमद खाँ ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना की। इससे धार्मिक भेद-भाव की प्रवृत्ति को और भी बल मिला। सर सैय्यद ने मुसलमानों को अपने स्वतंत्र अस्तित्व का मंत्र दिया। वस्तुतः इस समय जो धार्मिक भेद-भाव की प्रवृत्ति विकसित हुई वह बहुत कुछ हिंदुत्व की प्रतिक्रिया थी। उन्नीसवीं शताब्दी में देश में जिन सांस्कृतिक आन्दोलनों का जन्म हुआ उनके मूल में हिन्दू संस्कृति के पुनरुत्थान के ही रूप में राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्भुक्त थी। अतएव उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मुसलमानों में भी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना का विकसित होना पूर्ण स्वाभाविक था। इस धार्मिक वैमनस्य का भारतीय समाज पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा तथा भारत की राष्ट्रीयता में एक प्रबल गतिरोध उत्पन्न हो गया। सांस्कृतिक चेतना के सभी आयाम धर्मकेन्द्रित हो गए। धार्मिक विद्वेष का विष सारे देश में परिव्याप्त होकर राष्ट्रीयता की भावना को काटता रहा। इस समय भारतीय भाषाओं विशेषकर हिंदी और उर्दू में जो साहित्य रचा गया उसमें हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के पुनरुत्थान की भावनाओं के पल्लवित होने का यही रहस्य है।

प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त—प्रथम विश्व भारत के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाला सिद्ध हुआ। मध्ययुगीन सामन्तवाद और यूरोपीय साम्राज्यवाद को प्रतिक्रिया देश की मध्यम एवं निम्नवर्गीय जनता में विद्रोह रूप प्रस्फुटित हुई। विद्रोही चेतना का प्रभाव भारतीय भाषाओं के साहित्यों पर भी पड़ा। लेकिन जिन प्रान्तों में औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव पहले पड़ा उन प्रान्तों में यह चेतना अपेक्षाकृत पहले प्रसारित हुई। अंग्रेज़ों ने अपने स्वार्थ और भारत से शोषण के उद्देश्य से भारत का औद्योगीकरण किया था। लेकिन युद्धकाल में स्वदेश प्रेम की बढ़ती हुई भावना के प्रभावस्वरूप उन्होंने भारतीय उद्योगधन्धों को भी प्रोत्साहित किया तथा एक सीमा तक उनकी इस नीति से भारतीय उद्योग धन्धों को कुछ प्रोत्साहन भी मिला। आगे चलकर, सरकार की नीति में परिवर्तन आने पर औद्योगीकरण के प्रभाव स्वरूप १९२३ ई० में भारत में स्वराज्य दल का जन्म हुआ। उसने विधान सभाओं में प्रवेश कर असहयोग की बात कही। लेकिन भारत का जो भी औद्योगिक विकास हुआ वह संसार के अन्य देशों के औद्योगिक विकास की तुलना में कम था। इधर भारत की अपनी आर्थिक व्यवस्था नष्ट होती जा रही थी। भारत का कृषक वर्ग भी उत्तरोत्तर निर्धन होता जा रहा था और साम्राज्यवादी पूंजीवाद को प्रोत्साहन मिल रहा था। इन परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप समस्त देश में साम्राज्यवादी पूंजीवाद के विरुद्ध जनता का संघर्ष तीव्र हुआ जिसमें हमारे देश के पूँजीपति वर्ग मध्यबर्ग, निम्न मध्यवर्ग आदि सभी ने योग दिया। प्रथम महायुद्ध के कुछ वर्षों के बाद तक भारतीय पूँजीपति अंग्रेजों को सहायता देते रहे लेकिन कुछ समय के बाद वे भी अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति के विरुद्ध हो गए। सभी वर्गों के विद्रोह के

परिणामस्वरूप देश में साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध विद्रोह की भावना तीव्र हुई। लेकिन निरंतर दमन और शोषण तथा निश्चित भविष्य के अभाव में देशव्यापी नैराश्य भी समानांतर रूप से संचरित हुआ। देश की राजनीतिक और सामाजिक गतिविधि भारतीय लोक-मानस में विद्रोह और नैराश्य की युगपत्-भावनाएँ जन्म देनेवाली सिद्ध हुईं।

महायुद्ध की परवर्ती देश की आर्थिक गतिविधि का हमारी राष्ट्रीय चेतना पर सीधा प्रभाव पड़ा। भारतीय भाषाओं के साहित्य भी उससे अछूते न बचे, उनके माध्यम से समस्त देश में पुनरुत्थान की भावना और उद्वेग से पल्लवित हुई। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में देश ने राष्ट्रीय अभ्युत्थान का व्रत धारण किया। भारतीयों को आशा थी कि युद्ध से निवृत्त होने पर अंग्रेज़ भारत को स्वराज्य प्रदान करेंगे। अंग्रेज़ों की कूटनीति से भारतीयों की यह आशा थोड़ी बलवती भी हुई। सन् १९१७ में श्री मान्टेग्यू ने इंग्लैंड की पार्लियामेंट में इसकी घोषणा भी की तथा भारत की स्थिति के अध्ययन के लिए वे यहाँ स्वयं आए। लेकिन उनकी इस घोषणा का कोई अनुकूल परिणाम नहीं निकला और १९१८ ई० के मान्टेग्यू चेम्सफ़ोर्ड सुधार के प्रति सारे देश में विद्रोह हुआ। कांग्रेस के उदार दल के नेता सरकार द्वारा प्रदत्त आश्वासनों को मान लेने के लिए तैयार थे तथा इसी मतभेद के कारण वे कांग्रेस से पृथक् भी हो गए। उन्होंने अपनी 'लिबरल फेडरेशन' नामक संस्था बनाई। इधर गाँधी जी ने राजनीति में असहयोग और भूख हड़ताल के अस्त्रों का प्रयोग किया।

असहयोग आन्दोलन की भूमिका—सन् १९१४ में इंग्लैंड की पार्लियामेंट ने शासन-सुधार का विधेयक बनाया लेकिन उससे जनता को केवल धारासभा में अपने निर्वाचित प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त हुआ। एक ओर तो अंग्रेज़ों ने इस प्रकार अपनी झूठी प्रजातंत्रवादी नीति का परिचय दिया तथा दूसरी ओर रौलट ऐक्ट के द्वारा भारतीय जनता के स्वतंत्रता के अधिकारी पर नियंत्रण लगा दिया। प्रथम महायुद्ध में भाग लेने पर भारतीय योद्धाओं ने स्वदेश लौट कर समस्त देश को राष्ट्रोत्थान एवं स्वाभिमान के उद्‌बोधन दिये थे, जिनकी भूमिका में अंग्रेजो की यह नीति उन्हें अत्यंत अप्रिय एवं अपमानकारक लगी। इधर भारत के मुसलमान भी कुछ अंग्रेजों के विरुद्ध हो रहे थे। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में समस्त भारतवासियों ने रौलट एक्ट का विरोध किया। रौलट एक्ट का विद्रोह चल ही रहा था कि पंजाब में जलियान वाले बाग की प्रसिद्ध नृशंस दुर्घटना घटी। यह अंग्रेज़ों की दमन एवं अत्याचारपूर्ण नीति का तात्कालिक ज्वलंत प्रभाव था। जलियान वाले बाग दुर्घटना से जनता के विद्रोह को और भी बल मिला। धर्म और नीति का भेद त्याग कर सभी भारतवासी एक हुए और उन्होंने अंग्रेज़ों की दमन नीति का विरोध किया। सन् १९३० के कलकत्ते के अधिवेशन में कांग्रेस ने देश की स्वतंत्रता के लिए सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया। जिसने देश की सामान्य जनता की चेतना को और भी प्रखरता प्रदान की। गाँधी जी के व्यापक प्रभुत्व ने भारतवासियों में आत्मिक और नैतिक शक्तियों का संचार किया तथा वे इसी के माध्यम से अंग्रेजों की सत्ता उच्छेदन में संलग्न हो गए। राजनीति को अध्यात्म का धरातल प्रदान कर गाँधी जी ने एक अभूतपर्व कार्य किया तथा देश की अधिकांश जनता उनके साथ हो गई। इससे साम्राज्यवाद के विरोध में भार-

तीय राजनीति और साहित्य में विद्रोही चेतना विकसित हुई तथा वैचारिक संघर्ष को उभरने का अवसर प्राप्त हुआ।

असहयोग आन्दोलन के संदर्भ में नागपुर कांग्रेस का संदर्भ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसमें देश के सरकार की खाद्य पदार्थों की नीति के निर्यात की निंदा की गई और सभी भारतीय नरेशों से यह प्रार्थना की गई कि वे अपने क्षेत्रों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना करें। इसकी प्रतिक्रिया अत्यन्त सफल रूप में सामने आई। कौंसिलों का वहिष्कार किया गया। सारे देश में स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। इन विद्यालयों में विद्यार्थियों को हिंदुस्तानी भाषा तथा चर्खा कातना सिखाने की योजना कार्यान्वित हुई। ग्रामों में पंचायतों का संगठन हुआ। और मद्यनिषेध आन्दोलन चलाया गया। ५ नवम्बर १६२० ई० को काँग्रेस महा समिति के निर्णयानुसार काँग्रेस के छोटे-बड़े सभी संगठनों को अपने दायित्व पर सत्याग्रह प्रारंभ करने का अधिकार दे दिया गया। प्रत्येक सत्याग्रही के लिए चर्खा चलाना, विदेशी वस्त्र त्याग, खादी धारण, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य में विश्वास तथा अहिंसा में आस्था रखना आवश्यक माना गया। इन सभी विषयों की चर्चा समसामयिक साहित्य में प्रचुरता के साथ मिलती है। साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में स्वदेश प्रेम तथा स्वराज्य में अपनी पूर्ण निष्ठा व्यक्त की है।

कांग्रेस के उदारपंथी नेताओं के विरोध करने पर भी महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन को सारे देश में लोकप्रियता प्राप्त हुई। गाँधी जी ने सारे देश के विविध भागों का भ्रमण कर असहयोग आन्दोलन के प्रयोजन का स्पष्टीकरण किया उनके खादी तथा अछूतोद्धार आदि के क्रान्तिकारी विचारों का देश की जनता ने अत्यन्त निष्ठा और सक्रियता के साथ स्वागत किया। विदेशी वस्त्रों और दैनिक प्रयोग की विदेशी वस्तुओं का पूर्ण वहिष्कार हुआ। असहयोग आन्दोलन में योग देने के उद्देश्य से काँग्रेस के छोटे-बड़े अनेक संगठन समस्त देश में स्थापित हुए। गाँधी के असहयोग आन्दोलन की प्रतिक्रिया यह हुई कि सरकार ने आन्दोलन कर्त्ताओं का भरपूर दमन किया और सारे देश में उन्हें बड़ी संख्या में कैद किया जाने लगा। लेकिन इतनी बड़ी आहुति देने पर भी गाँधी जी के अनुयायी कौंसिलों के साम्प्रदायिक आधार पर हुये चुनावों में बहुमत नहीं प्राप्त कर सके। इसके उपरांत गाँधी जी ने बारदोली में सत्याग्रह करने की योजना बनाई लेकिन वह व्यवहार रूप में परिणित नहीं हो सकी। जनता का आक्रोश उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था चौरी चौरा नामक स्थान पर जनता ने पुलिस के थाने में आग लगा दी और बहुत से पुलिस वालों को मौत के घाट उतार दिया। ऐसी स्थिति में गाँधी जी ने अपना आन्दोलन स्थगित कर देना ही उचित समझा। फिर भी ३ मार्च, १६२२ ई० को सरकार ने ६ महीने के लिए उन्हें बंदी बना लिया। वे प्रायः दो वर्षों तक जेल में रहे तथा फरवरी १६२४ में अस्वस्थ हो जाने के कारण मुक्त हो सके।

पूर्ण स्वराज्य की ओर—गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन के उपरांत १६२३ ई० में स्वराज्य दल की स्थापना एक महत्वपूर्ण घटना है। इसके संस्थापकों में श्री मोतीलाल नेहरू, मालवीय जी और चितरंजनदास प्रमुख थे। सन् १६२३ के कौंसिल के चुनाव में इस दल का बहुमत रहा। स्वराज्य दल के समर्थकों ने केन्द्रीय विचार सभा में पहुँच कर सरकार का विरोध प्रारम्भ किया। इसी समय इंग्लैड में अनुदार दल की विजय हुई और उसकी सत्ता स्थापित हो

ारिणाम यह हुआ कि भारत में अंग्रेजों ने दमन नीति को और बढ़ावा दिया।
दोलन की असफलता पर गाँधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रम अपना लक्ष्य स्वीकार
सरकार भारतीय उद्योगधन्धों का संरक्षण कम करती आ रही थी। सन्
ाज्य दल का भी सरकार से मतभेद हो गया तथा उसने भी असहयोग प्रारम्भ कर
ामय एक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक अपूर्व घटना घटी। अरब देशों को स्वतंत्रता
का प्रभाव भारतीय मुसलमानों की विचारधारा पर पड़ा तथा भारत में साम्प्रदायिक
ाभ हो गए। भारत सरकार ने निर्वाचनों में इस साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का शोषण
ही, उसने भारतीय नरेशों की राजनीतिक स्थिति की दृढ़ता हेतु उनका संरक्षण
र की इन सभी नीतियों का प्रयोजन देश व्यापी राष्ट्रीयता की भावना के संचार
ा। लेकिन सन् १९२३ ई० में केनिया में अंग्रेजी सरकार की वर्णभेदी नीति तथा
बढ़ा देने के कारण सारे देश में विद्रोह को और बल प्राप्त हुआ। इधर भारत में
टेत हो ही रही थीं कि इंग्लैंड में मजदूर दल की प्रधानता हो गई जिससे भारत-
के प्रति थोड़े आशान्वित हुए। स्वराज्य दल के प्रभाव के कारण भी सरकार को
ई जिसका एक मात्र उपचार उसके द्वारा दमननीति का अनुसरण था।
में सत्ता परिवर्तन का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। भारत में लार्ड इरविन वाइस-
ए। वे उदार नीति के अनुगामी थे। इसी बीच विधानसभा का निर्वाचन हुआ
दल को बहुमत नहीं प्राप्त हो सका क्योंकि मालवीय जी और लाला लाजपत
ृ हो गए थे तथा हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता की भावना पनप रही थी। ब्रिटिश
२७ ई० में भारतीय शासन में सुधार के प्रयोजन से साइमन आयोग भेजा जिसमें
ाय सदस्य नहीं था। इससे भारतीय जनता उत्तेजित हुई तथा उसने साइमन
त्र विरोध किया। इसके साथ ही, श्री मोतीलाल नेहरू, श्री तेजबहादुर सप्रू
की एक समिति शासन सुधार की रूपरेखा बनाने के निमित्त बनवा दी
ति की संस्तुतियों को मुस्लिम लीग के अतिरिक्त देश के सभी राजनैतिक
र किया। इसी समय श्री जवाहरलाल नेहरू, श्री निवास आयंगर, सुभाषचन्द्र
ांग्रेस में यूथलीग की स्थापना की, जिसने भारत के पूर्ण स्वराज्य को अपना
स्वराज्य के इस उद्घोष ने सन् १९२९ में श्री जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व
ग्रेस अधिवेशन में प्रस्ताव रूप में स्वीकृति प्राप्त कर ली।
उपरांत कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य को लक्ष्य में रखकर अपना कार्य क्रम आगे
९३० का कांग्रेस का इतिहास उग्र संघर्ष का इतिहास है जिसे पूर्ण स्वराज्य की
हा जा सकता है। साइमन कमीशन का विवरण प्रकाशित होने के उपरांत ही
गोलमेज सम्मेलन की घोषणा की। इधर गांधी जी ने सरकार को स्पष्ट रूप
क भारतीयों के स्वराज्य के लक्ष्य को अब दबाया नहीं जा सकता। परंतु गाँधी
क क्रान्ति का आश्वासन दिया। गाँधी जी ने सन् १९३० में सत्याग्रह आन्दोलन
ासमें उन्होंने नमक कानून तोड़ा। विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार किया तथा
न देने के आन्दोलन प्रारम्भ किए। सरकार ने सत्याग्रह आन्दोलन पर नियंत्रण

पाने के लिए दमन नीति चलाई। इस आन्दोलन में गाँधी जी को कैद कर लिया गया, लेकिन इसका सत्याग्रह आन्दोलन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सरकार ने भारतीय समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लगा दिए, जिसकी प्रतिक्रिया में देश के विभिन्न स्थानों पर साइमन कमीशन की रिपोर्ट की होली जलाई गई। इसी समय सरकार ने गोलमेज सम्मेलन की योजना चलाई जिसकी प्रथम बैठक का कांग्रेस के प्रतिनिधियों ने वहिष्कार किया। इस पर गाँधी जी कारामुक्त कर दिये गए और वे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने गए। गाँधी जी का इग्लैंड गमन प्रयोजनहीन सिद्ध हुआ तथा भारत वापिस आने पर वे पुनः कैदी बना लिए गए।

सन् १९३१ में लार्ड विलिंगडन के वाइसराय होकर आने पर अंग्रेजों की दमन नीति और भी पनपी। इसी वर्ष भगतसिंह को फाँसी का दंड दिया गया जिसका देश की जनता पर और भी गहरा प्रभाव पड़ा। समस्त देश में व्यापक आन्दोलन फैला तथा समाज के प्रत्येक वर्ग ने भाग लिया। सरकार को दमननीति में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और आन्दोलन शक्तिहीन सिद्ध हुआ। सन् १९३३ में इग्लैंड में तृतीय गोलमेज सम्मेलन हुआ जिसमें कांग्रेस के किसी भी प्रतिनिधि ने भाग नहीं लिया। अंत में, सन् १९३५ ई० में ब्रिटिश सरकार ने भारत के लिए एवं संविधान बनाया जिसके अनुसार सन् १९३७ में समस्त देश में निर्वाचन सम्पन्न हुए। इन निर्वाचनों में कांग्रेस का बहुमत रहा तथा कांग्रेस ने अपने मंत्रि-मण्डल बनाए। लेकिन सरकारी नीति से विरोध होने के कारण ये मंत्रि-मण्डल बहुत समय तक कार्य नहीं कर पाए और सन् १९३९ में इन मंत्रि-मंडलों ने त्याग पत्र दे दिया।

द्वितीय विश्व युद्ध—इसी समय यूरोप में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। विगत कतिपय वर्षों का, भारत का राजनीतिक जीवन क्रान्ति से संचालित रहा। साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय लोक मानस में स्वराज्य और स्वदेश प्रेम की भावनाएँ पल्लवित हुईं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम कुछ वर्षों में राजनीति का आधार मर्यादावादिता और आध्यात्मिकता था, परंतु तदनंतर बौद्धिक और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ पल्लवित हुईं। समाजवादी व्यवस्था के प्रति समस्त देश में अपूर्व आग्रह परिलक्षित हुआ। लेकिन साम्राज्यवाद से मुक्ति का प्रश्न अभी शेष था।

एक सितम्बर १९३९ को द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया, जिसमें अंग्रेजों ने भारत की ओर से भारतीय नेताओं के मत की उपेक्षा कर भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी। इससे यहाँ की जनता में एक व्यापक असन्तोष और आक्रोश का संचार हुआ। भारत में बने हुए काँग्रेस मंत्रिमण्डल भी सरकार की इस नीति से असंतुष्ट हुए तथा उन्होंने त्याग पत्र दे दिए। अन्त में, विवश होकर तथा अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर विचारकर भारत ने युद्ध में भाग लिया। यह युद्ध फासीवाद के विरुद्ध रूस का उद्घोष था। भारतीय जनता में फासीवाद की तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा भारतीय साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा जन मानस को पर्याप्त प्रेरणा प्रदान की। काँग्रेस में बहुमत ऐसे लोगों का था जो युद्ध में ब्रिटिश सरकार की सहायता नहीं करना चाहते थे। देश व्यापी संगठन की दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं था। अतः गाँधी जी नैतिक दृष्टि से ब्रिटिश सरकार की सहायता करने के पक्ष में थे। इस प्रकार काँग्रेस के नेताओं में परस्पर मतभेद बढ़ता गया और इसी द्वन्द्व के कारण काँग्रेस तथा ब्रिटिश सरकार इस प्रश्न पर एकमत

नहीं हो सके। उधर समस्त विश्व युद्ध से आक्रान्त होता जा रहा था। यह एक विचित्र संयोग था कि देशव्यापी स्तर तो भारत पर अंग्रेजों के विरुद्ध था तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वह उन्हें सहयोग प्रदान कर रहा था। भारत को अपने राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा कर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में उतरना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध में भारत ने भाग लेकर कुछ समय के लिए जहाँ अपनी पनपती हुई राष्ट्रीय चेतना और संघर्ष की शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय हितों से निबद्ध कर दिया, वहीं रूस जैसे राष्ट्र की संगठन शक्ति तथा वीरता ने भारतीय लोकमानस को पर्याप्त प्रभावित किया। सभी वर्गों की चेतना जागरुक होकर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का पर्यवेक्षण कर स्फूर्ति और प्रेरणा का संचय कर रही थी। वस्तुतः राष्ट्रीय संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय स्रोत से आगे के लिए शक्ति संचित कर रहा था।

द्वितीय महायुद्ध चल ही रहा था कि १९४० ई० में भारतीय राजनीति में उभरती हुई साम्प्रदायिकता ने अंगड़ाई ली। इसी वर्ष मुस्लिम लीग ने लाहौर में एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें उसने पाकिस्तान की माँग की। मुस्लिम लीग की यह माँग देश के विभाजन की एक बौद्धिक भूमिका थी जो राजनीति में अवतरित होकर अपना मूर्त रूप खोज रही थी। समस्त देश के हित को देखते हुए लीग की इस माँग का विरोध हुआ, लेकिन अंततः १९४७ ई० में वह अपने अभियान में सफल हुई। राष्ट्रीय आन्दोलन में साम्प्रदायिकता के इस उभार के बावजूद काँग्रेस ने अपनी गति में कोई परिवर्तन नहीं आने दिया और वह स्वतंत्रता के पथ पर अग्रसर होती रही।

भारत छोड़ो आन्दोलन और बंगाल का दुर्भिक्ष—सन् १९४२ में इंग्लैंड के समाजवादी नेता स्टेफर्ड क्रिप्स पुनरुत्थान की कूटनीतिक योजना के साथ भारत भेजे गए। क्रिप्स महोदय के सभी प्रस्ताव अत्यंत अस्पष्ट और भारतीयों के हित के प्रतिकूल थे। उन्होंने भारतीय नेताओं से भी बातचीत की लेकिन उन्हें अपने अभियान में कोई सफलता नहीं मिल सकी और वे इंग्लैंड वापिस चले गए। भारतीय नेता ब्रिटिश सरकार की नीति से उत्तरोत्तर असंतुष्ट होते जा रहे थे क्योंकि उनके यत्नों का कोई निश्चित हल नहीं निकल सका था। अतएव उन्होंने सामूहिक रूप में अगस्त १९४२ ई० में 'भारत छोड़ो' आंदोलन का निश्चय किया। यह भारत की स्वतंत्रता का उन्मुक्त उद्घोष था। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो' आंदोलन उत्तरोत्तर प्रखर होता गया। गाँधी जी की आन्दोलन की घोषणा के उपरांत कांग्रेस के शीर्षस्थ नेता बन्दी बना लिए गए। नेताओं की गिरफ्तारी के बाद भी भारतीय जनता ने आंदोलन की अग्नि को प्रज्ज्वलित रक्खा है और समस्त देश राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए पूर्ण शक्ति से क्रियाशील हो गया। अगस्त १९४२ ई० का आन्दोलन भारत की स्वतंत्रता की पराकाष्ठा कहा जा सकता है। ऐसे अवसर पर सरकार ने अपनी चिरपरिचित दमन नीति का आश्रय लिया। स्वतंत्रता संग्राम में अगणित सैनिकों को अपने जीवन की बलि देनी पड़ी। तथा बहुतों को बन्दी बना लिया गया। इस आन्दोलन में दमन नीति का जो नृशंस रूप देख पड़ा वह भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अपूर्व था। आन्दोलन के कर्णधार महात्मा गाँधी पूना जेल में बंदी बनाए गए। उन्होंने १० फरवरी १९४३ ई० को अनशन प्रारम्भ किया जो २१ दिनों के पश्चात् समाप्त हुआ। अक्टूबर १९४३ ई० में लार्ड वेवल भारत वाइसराय होकर आए। ६ मई १२४४ ई० को गाँधी

जी को कारा से मुक्ति मिल गई। इस आन्दोलन के समानान्तर मुस्लिम लीग और काँग्रेस का मतभेद बढ़ता रहा तथा दोनों दल किसी संयुक्त निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके।

सन् १९४३ में समस्त देश में जब राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की लहर तीव्रता से फैल रही थी उसी समय बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। समस्त देश ने सामूहिक रूप में दुर्भिक्ष पीड़ितों की सहायता की, फिर भी संकट का निवारण न हो सका। यह अकाल प्राकृतिक प्रकोप से अधिक व्यावसायिक प्रकोप के कारण उत्पन्न हुआ था। इस अकाल में लगभग चालीस लाख व्यक्तियों की जीवन लीला समाप्त हो गई। जिस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधि से समस्त देश उत्तेजित से रहा था उसी प्रकार बंगाल के दुर्भिक्ष की भारतीय लोक मानस पर अवसादपूर्ण प्रतिक्रिया देखने में आई। साहित्यकारों का भावलोक दुर्भिक्ष से आन्दोलित हुआ तथा उसके यथार्थ के आधार पर अनेक उपन्यास, नाटक, कहानी, कविता आदि की रचना हुई। बंगाल का दुर्भिक्ष अभी समाप्त भी नहीं होने पाया था कि महामारी के प्रकोप से हजारों की संख्या में देशवासी मरने लगे। सन् १९४२ के आन्दोलन का सारा उद्वेग इतनी अधिक जनहानि के कारण नैराश्य में बदलने लगा। इन प्राकृतिक प्रकोपों ने जैसे भारत के शोषित व्यक्ति मानस को झकझोर दिया हो। उसे अपने यथार्थ का ज्ञान हुआ तथा निर्धनता से उसकी समस्त चेतना आक्रान्त होती हुई परिलक्षित हुई।

स्वतंत्रता की ओर—इसी समय इग्लैंड में चुनाव हुए जिसमें मज़दूर दल की सरकार विजयी हुई। श्री एटली इग्लैंड के नव निर्वाचित प्रधान मंत्री नियुक्त हुए। इससे भारतीय नेताओं को काफी आशा बँधी। इधर राजनैतिक दबावों तथा प्रकोपों के होते हुए भी भारत की स्वाधीनता की अग्नि प्रज्ज्वलित रही और देश की जनता अनेक माध्यमों से अपनी स्वाधीनता की महत्वाकांक्षा का प्रदर्शन करती रही। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण संदर्भ आजाद हिंद-सेना का है। सरकार ने उसके कर्नल शाहनवाज़, कप्तान सहगल और लेफ्टीनेंट ढिल्लन पर अभियोग चलाए तथा उन्हें आजन्म कारावास दंड दिया गया। इसकी प्रतिक्रिया समस्त देश में अत्यंत उग्र रूप में घटित हुई। उनकी मुक्ति के लिए देश व्यापी आन्दोलन हुए तथा अंत में, तीनों सेनानी मुक्त हो गए। उनकी मुक्ति पर सारे देश में आनन्द और उल्लास की भावनाओं का संचार हुआ तथा सारा देश 'जयहिंद' के नारों से निनादित हो गया। इस समय आजाद हिंद सेना के सेनापति श्री सुभाषचन्द्र बोस का राष्ट्रीयता के उद्बोधन का कार्य अभूतपूर्व सिद्ध हुआ।

द्वितीय महायुद्ध का सारा व्यय भारतवासियों के शोषण से निकला था। अतः उसका प्रभाव भारत की जनता पर अत्यंत गंभीर रूप में दिखाई पड़ा। आर्थिक दृष्टि से सारा देश जर्जर हो गया और उस पर एक गंभीर आर्थिक संकट छा गया। लेकिन ये भी आहुतियाँ भारत को स्वतंत्रता की मंजिल की ओर लिये जा रही थीं और जन भावना का उसके साथ पूर्ण सहयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। भारतीय स्वतंत्रता के स्वर्णिम विहान के पूर्व नौ सेना का विद्रोह तथा नोआखाली और विहार के साम्प्रदायिक दंगे स्वतंत्रता आन्दोलन के इतिहास में उल्लेखनीय हैं। नाविक विद्रोह ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़े हिला दीं। नोआखाली और विहार के साम्प्रदायिक दंगे ठीक इसके विपरीत अत्यंत भीषण सिद्ध हुए। नोआखाली में हिंदुओं का तथा विहार में उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मुसलमानों का भीषण संहार हुआ। गाँधी जी ने यद्यपि इन

दंगों को बंद करवा दिया लेकिन हिन्दू-मुस्लिम विरोध की भावना अत्यंत गंभीर हो गई तथा देश के विभाजन के लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगे।

पराधीनता से मुक्ति—पराधीनता से मुक्ति की वेला निकट आई। फरवरी १९४७ में एटली ने घोषणा की कि इंग्लैंड जून १९४८ तक भारत को स्वतंत्र कर देगा। यह प्राय: एक शताब्दी से उमड़ते हुए भारतीय जनवाद का परिणाम था। २० फरवरी, १९४७ ई० को लार्ड वेवल के स्थान पर लार्ड माउन्ट बेटेन भारत के वाइसराय नियुक्त हुए। उन्होंने भारत के भविष्य के सम्बन्ध में अपना एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें मुस्लिमलीग को पाकिस्तान देने का निश्चय स्वीकार कर लिया गया था। इससे देश में एक अपूर्व विषादपूर्ण वातावरण छा गया। लेकिन अन्ततः देश का विभाजन हुआ। इस विभाजन के साथ ही स्वतंत्र भारत का युग प्रारम्भ होता है। भारत की इस स्वतंत्रता का मूल्यांकन अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही दृष्टियों से किया गया। अभी स्वतंत्रता की स्वर्णिम बेला आने भी न पाई थी कि भारत और पाकिस्तान के उद्घोषित क्षेत्रों की जनता का परिवर्तन प्रारम्भ हो गया जिसमें भीषण नरसंहार देखने में आया। बहुत बड़ी संख्या में पाकिस्तान से निष्कासित हिंदू भारत आए जिसके परिणामस्वरूप नवोदित भारत के समक्ष अनेक संभीर समस्याएँ उपस्थिति हो गई।

१५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतंत्र होने के उपरांत भारत ने अपने संविधान का निर्माण किया। स्वतंत्रता प्राप्त होते ही मध्ययुगीन सामन्तवाद वा उच्छेदन भारत सरकार का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था। सारी रियासतें देश में सम्मिलित कर ली गईं लेकिन काश्मीर का प्रश्न नहीं सुलझ सका। इसे लेकर भारत और पाकिस्तान में संघर्ष प्रारम्भ हुआ जिसकी विभीषिका यदा कदा संघर्ष रूप में अब तक देखने में आती रहती है। भारत को स्वतंत्र हुए अभी पूरा एक वर्ष भी न होने पाया था कि नाथूराम गोडसे ने महात्मा गाँधी की हत्या कर डाली। महात्मा गाँधी युग पुरुष थे। उन्होंने बीसवीं शताब्दी की भारतीय राजनीति का कुशलतापूर्वक नेतृत्व किया था। अतः उनकी मृत्यु से देश में एक व्यापक विषाद छा गया। उनकी मृत्यु स्वतंत्र भारत की सबसे मूल्यवान आहुति सिद्ध हुई। उन्होंने समस्त देश को एक व्यापक राष्ट्रीय चेतना प्रदान कर उसे नवजीवनोन्मुख किया।

सामाजिक

बीसवीं शताब्दी का समाज विरोधी तत्त्वों का सम्मिश्रण है। एक ओर उसमें जहाँ पुरातन प्रवृत्तियाँ सुरक्षित रहीं हैं, वहीं दूसरी ओर आधुनिकता और पुनरुत्थान की प्रवृत्तियाँ भी विविध रूपों में विकसित हुई हैं। बीसवीं शताब्दी का भारतीय समाज जहाँ विगत परम्पराओं, मान्यताओं और रूढ़ियों का अनुगामी रहा है वहीं वह समसामयिक सुधार आन्दोलनों से भी निरंतर प्रभावित हुआ है। लेकिन व्यापक रूप में धर्म और अर्थ दो ऐसे तत्त्व हैं जिन्होंने बीसवीं शताब्दी के हिंदीप्रदेश के सामाजिक जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया है।

सुधारवाद का उन्मेष—परम्परा से भारत में जो भी समाज सुधार के आन्दोलन हुए उसको मूल चेतना धर्म भावना रही है। धार्मिक आन्दोलनों ने समाज व्यवस्था की व्याख्या कर समय-समय पर सुधार कार्य में योग दिया है। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक युग तक यह प्रवृत्ति

स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ वास्तव में विभिन्न सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों के ही माध्यम से हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक सुधार के आन्दोलनों के समय मानसिक जड़ता एवं बौद्धिक निष्क्रियता के कारण भारतीय समाज विभिन्न सामाजिक कुरीतियों तथा अंधविश्वासों में पंकिल होकर अपने वास्तविक लक्ष्य से विमुख हो रहा था। समाज में अभी तक वह ग्रहणशीलता नहीं आ पाई थी, जिसकी उसे आवश्यकता थी। वस्तुतः शताब्दियों से जर्जर एवं विश्रृंखल होते हुए हिन्दू समाज को सुधार की आवश्यकता थी। इसी समय उसे राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, बालगंगाधर तिलक जैसे अनेक महापुरुषों का आश्रय मिल गया तथा उनके निर्देशन में समाज नवदिशोन्मुख हुआ। उनके द्वारा चलाए गए विविध आन्दोलन मुख्य रूप से भारतीय और राष्ट्रीय थे परंतु उनके कार्यक्रम कार्यक्षेत्र और उद्देश्य अत्यंत सीमित थे। उन्नीसवीं शताब्दी की ब्रह्म-समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज आदि संस्थाएँ प्रगतिशील होती हुई भी अन्ततः राष्ट्रीय संस्थाओं के रूप में प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकीं। आर्य समाज का भी उद्देश्य मुख्य रूप से हिन्दुत्व का पुनरुत्थान था। अतएव एक सीमा तक वह भी रूढ़िवादी सिद्ध हुआ। फिर भी बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि सामाजिक सुधारों के कारण आर्य समाज का आधुनिक भारत के समाज सुधार आन्दोलनों में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। ये सभी आन्दोलन किसी न किसी रूप में बीसवीं शताब्दी में भी क्रियाशील रहे। लेकिन इन आन्दोलनों के अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी की प्रथम दो दशाब्दियों में सामाजिक सुधार के अन्य अनेक महत्वपूर्ण यत्न भी लक्षित होते हैं। महाराष्ट्र के श्री कर्वे के यत्नों से १९०६ से १९१२ ई० के मध्य सारे देश में अनेक विधवाश्रम स्थापित हो चुके थे। सन् १९०८ में बम्बई में श्रीमती रमाबाई राना डे के निर्देशन में विधवाओं के एक सेवा सदन की स्थापना हुई। सन् १९०६ में बम्बई की सरकार ने देवदासी प्रथा का उन्मूलन कर दिया। उसका अनुकरण मैसूर सरकार ने किया तथा वहाँ भी मंदिरों में नृत्य आदि की प्रथाएँ समाप्त कर दी गईं। सन् १९१६ में श्री कर्वे के यत्नों से स्त्री विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी में समाज सुधार के जो आन्दोलन प्रारम्भ हुए थे, बीसवीं शताब्दी में भी उनकी परम्परा को उत्तरोत्तर विकास प्राप्त हुआ।

कुछ सामाजिक समस्याएँ—बीसवीं शताब्दी की इस सुधारवादी चेतना के विकसित होने पर भी साम्प्रदायिकता, जातीयता, अस्पृश्यता, आदि की समस्याएँ किसी न किसी रूप में समाज में निरंतर बनी रहीं। इनके समाधान के यत्न भी राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रमुख संस्था काँग्रेस तथा अन्य संस्थाएँ निरंतर खोजती रहीं, फिर भी उनका पूर्ण उन्मूलन नहीं हो सका।

साम्प्रदायिकता—इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतीय राजनीति और समाज में साम्प्रदायिकता का अत्यंत प्राबल्य रहा। ब्रिटिश शासकों ने समाज में साम्प्रदायिक भावना के प्रसार में अत्यंत सक्रिय रूप से योग दिया। काँग्रेस के समानांतर मुस्लिम लीग का उदय और विकास तथा भारत का विभाजन इसी साम्प्रदायिकता की ही नीति के परिणाम बनकर सामने आये और धर्मगत साम्प्रदायिकता के ही कारण समय-समय पर साम्प्रदायिक संघर्ष होते रहे हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास-क्रम में हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि साम्प्रदायिक संस्थाओं ने साम्प्रदायिकता के उभार में अत्यंत सक्रिय रूप से भाग लिया है। यद्यपि कांग्रेस ने

राजनीतिक मंच पर से समाज सुधार की आवाज उठाई तथापि जहाँ तक साम्प्रदायिकता का प्रश्न है, परोक्ष रूप से उसके संवर्धन का दायित्व भी इसी संस्था पर है। अपने देशव्यापी संगठन और प्रचार के साथ कांग्रेस की नीति मुसलमानों को संतुष्ट कर लोक मत संग्रह में पर्याप्त क्रियाशील रही है। अतएव उसमें भी हिन्दू और मुसलमानों का एक विचित्र अर्न्तविरोध उत्पन्न हो गया, जो अब तक समाप्त नहीं हो सका है।

जातीयता—साम्प्रदायिकता के साथ जातीयता की भावना का संकुचित रूप भी इस शताब्दी के भारतीय समाज में कम मात्रा में विकसित नहीं हुआ। जाति व्यवस्था के विरोध में भारतीय समाज सुधारकों की दृष्टि उन्नीसवीं शताब्दी में पर्याप्त पहले ही सचेष्ट हो चुकी थी, लेकिन जातीयता की भावना थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ इस शताब्दी के समाज में भी निरंतर कार्य करती रही है। जातीयता के उन्मूलन में बीसवीं शताब्दी में जो भी यत्न दिखाई पड़ते हैं उनके व्यावहारिक रूप को एक सीमा तक ही सफल कहा जा सकता है। लेकिन यह लक्ष्य करने योग्य है कि बीसवीं शताब्दी में जाति व्यवस्था का उच्छेदन समाज की आर्थिक विषमता के प्रभावस्वरूप निरंतर होता रहा है। औद्योगीकरण से उत्पन्न आर्थिक वर्ग वैषम्य ने परम्परागत वर्ण व्यवस्था के विघटन में पर्याप्त योग दिया है। देश की राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों से समाज की सभी जातियों के सभी वर्ग समान रूप से प्रभावित हुए हैं। अतः जाति व्यवस्था का विघटन औद्योगीकरण के प्रभाव की स्वाभाविक प्रक्रिया कहा जा सकता है। उसी के प्रभाव से नवीन नागरिक जीवन का विकास हुआ तथा विभिन्न प्रगतिशील, और बौद्धिक संस्थाओं का संगठन हुआ। शिक्षा के प्रचार से भी जाति व्यवस्था की जड़ें निरंतर कमजोर पड़ती गई हैं। लेकिन यह एक ऐसी व्यवस्था है जो आज भी किसी न किसी रूप में सारे समाज को विषाक्त किए हुए है। जाति व्यवस्था के रूढ़िवादी रूप के विरोध में समाज के शिक्षित नवयुवक वर्ग ने भी पर्याप्त योग दिया है।

अस्पृश्यता—भारतीय समाज में रूढ़िगत जाति व्यवस्था का एक दुष्परिणाम अस्पृश्यता की भावना बहुत पहले से कार्य करती रही है। अस्पृश्यता की भावना पर समाज के विघटन का पर्याप्त दायित्व है तथा इसने समाज को सतत् ह्रासोन्मुखी बनाया है। महात्मा गाँधी के राजनीति में प्रवेश के साथ अस्पृश्यता की प्रवृत्ति को तीव्र आघात पहुँचा। राष्ट्रीय आन्दोलन के समानांतर उन्होंने अस्पृश्यता निवारण के आन्दोलन में पर्याप्त योग दिया है। गाँधी जी ने अस्पृश्यता के प्रश्न को एक सांस्कृतिक स्तर पर उठाया जिसके परिणामस्वरूप यह भावना अब समाज से धीरे-धीरे निकलती जा रही है। महात्मा गाँधी के उपरांत आचार्य विनोवा ने अस्पृश्यता निवारण का अभियान आगे बढ़ाया। स्वतंत्रत भारत की समाजवादी व्यवस्था में अस्पृश्यता की समस्या का वैधानिक स्तर पर भी समाधान हुआ है जिसके प्रभावस्वरूप अस्पृश्यता की प्रवृत्ति समाज से दूर होती जा रही है।

नारी समस्या—बीसवीं शताब्दी के समाज में नारी समस्या भी एक अत्ययंत महत्व-पूर्ण समस्या रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने यद्यपि नारी समस्या के समाधान के यत्न किए तथापि वह बीसवीं शताब्दी में भी निरन्तर बनी रही है। शताब्दियों से भारतीय नारी अभिशप्त और उपेक्षित जीवन व्यतीत करती रही है। नारी

समाज की बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, बहु-विवाह, दहेज-प्रथा, सती, विधवा आदि से सम्बन्धित समस्याएँ बीसवीं शताब्दी में भी बराबर बनी रही तथा इनसे नारी समाज के विकास का मार्ग अवरुद्ध रहा है। इससे पूर्व उसका अभिशप्त गृहिणी के अतिरिक्त और कोई व्यक्तित्व ही नहीं था। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ नारी की मध्ययुगीन अभिशप्त स्थिति में सुधार हुआ। स्वतंत्रता संग्राम में नारी समाज ने भी अत्यंत महत्वपूर्ण भाग लिया। यह नवीन शिक्षा तथा बौद्धिक जागृति का परिणाम था। समाज के अन्य वर्गों के समान नारी वर्ग को भी प्रबोधन मिला। देश के १९३७ ई० में सम्पन्न होने वाले निर्वाचनों में नारी समाज ने भी भाग लिया। इसके उपरान्त उन्होंने महत्वपूर्ण पदों पर भी कार्य किया। इस शताब्दी में नारी जागरण अत्यंत व्यापक रूप में हुआ तथा समाज के उच्च, मध्य और निम्न वर्गों की नारियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में समान रूप से सक्रिय योग दिया। महात्मा गाँधी के यत्नों से राष्ट्रीय चेतना के प्रसार और पुनरुत्थान के संदर्भ में नारी समस्या को एक सांस्कृतिक आधार प्राप्त हुआ, जिसके परिणामस्वरूप समय-समय पर नारी समाज को वैधानिक अधिकार प्राप्त हुए हैं। उससे सम्बन्धित विधवा-विवाह, वेश्यावृत्ति, अशिक्षा, परदा-प्रथा, दहेज-प्रथा आदि समस्याओं के अनेक प्रगतिशील समाधान खोजे गए हैं। लेकिन उपर्युक्त समस्याओं के निवारण के साथ नारी समाज जहाँ प्रगतिशील हुआ है, वहीं पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के अंधानुकरण से नारी समाज नवीन समस्याओं से आक्रान्त होता जा रहा है। स्वतंत्र भारत में नारी समाज का और भी अभ्युत्थान हुआ तथा राजनीति, समाज, साहित्य, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में नारी प्रतिभाओं का सक्रिय योग लक्षित होता है।

समाज का आर्थिक आधार—यह संकेत किया जा चुका है कि औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप उत्पन्न आर्थिक विषमता ने बीसवीं शताब्दी के समाज को प्रचुर मात्रा में प्रभावित किया। पराधीनता और शोषण के पाशों में आबद्ध भारतीय समाज में नवीन वर्गों का उदय हुआ। लेकिन एक सीमा तक समाज की परम्परागत वर्ग भावना पर भी नवीन सामाजिक वर्गों के निर्माण का दायित्व रहा है। समाज के ये नवीन वर्ग उच्च, मध्य और निम्न नामों को अभिहित किए जाते हैं। बीसवीं शताब्दी के सामाजिक संगठन में इन तीन वर्गों का अपना वैशिष्ट है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में इन तीनों वर्गों ने वर्गीय और देशव्यापी हितों को दृष्टि में रखते हुए अपना योग प्रदान किया है। परन्तु भारतीय आदर्शों के संरक्षण तथा सीमित हितों के त्याग में जो सक्रियता मध्य और निम्न वर्गों में लक्षित होती है, वह सम्भवतः उच्च वर्ग में विकसित नहीं हो सकी। उच्च वर्ग के सामन्तों और पूँजीपतियों ने अपने स्वार्थों को दृष्टि में रख कर ही राष्ट्रोत्थान में योग दिया है। औद्योगीकरण के विकास के साथ मध्यवर्ग और निम्न वर्ग सर्वाधिक समस्याग्रस्त होते गए हैं। इन्होंने अपनी शक्ति और निष्ठा के साथ स्वतंत्रता आन्दोलन में निरंतर योग देकर विभिन्न क्षेत्रों में देश का प्रतिनिधित्व किया है। अपनी इस साधना में उन्हें अनेक यातनाएँ भी सहनी पड़ी हैं। आर्थिक विषमता के विकास के समानान्तर इन वर्गों की अनेक दुर्बलताएँ भी प्रकाश में आई हैं। समाज के मध्य और निम्न वर्ग रूढ़ियों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सके। इसके साथ ही वे समस्याओं के कारण इतने अधिक आत्म-केन्द्रित भी हो गए कि उनमें एक पारस्परिक अन्तर्विरोध पनपता गया। समाज का आर्थिक वर्ग वैषम्य स्वतंत्र भारत की वर्तमान

समाजवादी व्यवस्था में यथावत् बना हुआ है।

निम्न वर्ग—बीसवीं शताब्दी में समाज का निम्न वर्ग आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पीड़ित रहा है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शोषण नीति के कारण भारत का कृषक वर्ग दिन प्रतिदिन समस्याग्रस्त होता गया। साम्राज्यवादी आर्थिक व्यवस्था में करों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती रही है। आर्थिक विषमता के कारण भारतीय कृषक मजदूर तथा निम्न मध्य वर्ग के सभी स्तरों के सभी लोग ऋण ग्रस्तता के शिकार बने हुए हैं। कृषक वर्ग, खेती में विशेष लाभ न देखकर नगरों की ओर उन्मुख हुआ। औद्योगिक नगरों में जीविका के प्रचुर साधनों की आशा में कृषकों ने मशीनों की शरण ली। इस प्रकार देश के औद्योगीकरण के साथ कृषक समाज का विघटन होता गया और मजदूर वर्ग का विकास होता गया। लेकिन ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत कृषि का परित्याग कर मशीनों की शरण में जाने पर भी भारतीय कृषक का शोषण समाप्त नहीं हुआ। पहले वह सामन्तों द्वारा शोषित हुआ था अब वह पूँजीपतियों के शोषण का लक्ष्य बना। पूँजी-पतियों ने अपनी पूँजी के विकास और हितों की रक्षा के लिए मजदूर वर्ग का निरंतर शोषण किया है। नगरों में भी वह युग की विभीषिका से मुक्त नहीं हो सका। नागरिक जीवन की नाना विषमताओं ने उसे घेरा और नगरों में वह महाजनों का ऋणी बना। सत्य तो यह है कि देश के औद्योगीकरण के साथ कृषक वर्ग की स्थिति उत्तरोत्तर गिरती गई और उसके जीवन में कोई विशेष अंतर नहीं आ सका। स्वतंत्र भारत में अवश्य इस वर्ग के उत्थान और विकास के यत्न सम्पन्न हो रहे हैं।

मध्य वर्ग—इस शताब्दी के समाज में मध्य वर्ग के विकास के लिए भी औद्योगीकरण ही उत्तरदायी है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप सरकारी कार्यालयों की संख्या बढ़ी है तथा समय-समय पर अनेक निजी व्यावसायिक संस्थाओं की स्थापना हुई है। इन सब कार्यों को करने के लिए समाज का जो सामान्य शिक्षित वर्ग संलग्न हुआ उसे ही स्थूल रूप से मध्य वर्ग कहा जाता है। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भी यह वर्ग पर्याप्त अर्थ पीड़ित रहा है। दोनों महायुद्धों के अनंतर भारत में इस वर्ग का विकास अत्यंत तीव्रता से हुआ है तथा अपनी सीमित बुद्धिवादिता और रूढ़िवादिता के कारण यह सबसे अधिक समस्याग्रस्त भी रहा है। निर्धनता और बेकारी की समस्याएँ इसकी अत्यंत विषम समस्याएँ रही हैं। लेकिन आर्थिक हितों की दृष्टि से मध्यवर्ग समाज के निम्न वर्ग से सम्बद्ध होते हुए भी जीवन के आदर्शों के लिए सदैव उच्च वर्ग का अनुगामी तथा मुखापेक्षी रहा है। साथ ही सामाजिक विषमता, रूढ़िवादिता, व्यक्तिवादिता और कृत्रिमता के कारण मध्यवर्ग मानसिक रूप से निरंतर रुग्ण रहा है। स्वतंत्र होने के उपरांत भी मध्यवर्ग की स्थिति में कोई अंतर नहीं आने पाया है तथा उसका निरंतर विकास होता जा रहा है।

पूँजीपति वर्ग—राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में यह संकेत किया जा चुका है कि ब्रिटिश सरकार की औद्योगिक नीति के परिणामस्वरूप समस्त देश में पूँजीपतियों के नवीन वर्ग की सृष्टि हुई। इस वर्ग ने धीरे-धीरे देश के अधिकांश उत्पादन स्रोतों और उद्योग धन्धों पर अपना नियंत्रण कर लिया। सभी उद्योग-धन्धों को अपने अधिकार में करने के प्रयोजन से सामूहिक पूँजीवाद का विकास हुआ। इस प्रकार समाज के समस्त उत्पादन स्रोत पूँजीपतियों के अधिकार में आ गए। समाज का यह वर्ग पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के प्रसार के साथ

शिक्षित भी होता गया, जिसके परिणाम स्वरूप इसने विश्व के पूँजीवादी देशों से सम्पर्क स्थापित किया। यह वर्ग उनकी अर्थनीति का अध्ययन कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए निरंतर यत्नशील रहा है। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत यह वर्ग अपनी शक्ति निरन्तर विकसित करता रहा है। स्वतंत्र भारत में प्रजातन्त्रवादी व्यवस्था स्थापित हो जाने के उपरांत पूँजीपतियों ने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूपों में देश के राजनीतिक दलों से अपना सम्बन्ध स्थापित किया है तथा अपने हितों के संरक्षण के लिए यह वर्ग अब भी सचेष्ट है।

वर्ग संघर्ष—बीसवीं शताब्दी के हिन्दी प्रदेश के समाज में औद्योगीकरण से उत्पन्न आर्थिक विभाजन के कारण एक विचित्र वर्ग वैषम्य को प्रश्रय प्राप्त हुआ। समाज की यह आर्थिक विषमता नाना प्रकार की समस्याओं को जन्म देती रही है। पूँजीपतियों के संगठन तथा मजदूर वर्ग के विकास के समानांतर वर्ग संघर्ष भी पनपता गया है। फिर भी पूँजीपतियों की पूँजी का निरंतर विकास हुआ है तथा शोषित मध्य और श्रमिक वर्ग उसके साथ-साथ निर्धन, समस्याग्रस्त और जर्जर होते गए हैं। इसीलिए पूँजीवाद का अधिनायकत्व समाज के अन्य वर्गों के लिए स्पर्धा का हेतु बना हुआ है। समाज में समाजवादी तथा साम्यवादी विचारधाराओं को अंकुरित और विकसित होने का अवसर पूँजीपतियों के आर्थिक अधिनायकत्व की प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ। उनके द्वारा एक सामाजिक क्रान्ति और नवीन अर्थ व्यवस्था का अभियान चलाया जा रहा है। स्वतंत्रता के उपरांत समाजवादी व्यवस्था के बावजूद आर्थिक विभाजन पर आश्रित वर्ग संघर्ष समाप्त नहीं हो सका है और निकट भविष्य में उसके समाप्त होने की सम्भावनाएँ भी नहीं दिखाई पड़तीं।

सांस्कृतिक

पुनरुत्थान और सांस्कृतिक संक्रमण—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में समस्त देश में यद्यपि पुनरुत्थान की प्रवृत्ति का विकास हुआ तथापि कुल मिलाकर यह शताब्दी उस सांस्कृतिक संक्रमण के विकास की शताब्दी है, जिसका सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी में हो चुका था। बीसवीं शताब्दी में भारतीय जीवन पर उत्तरोत्तर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव बढ़ता गया तथा उसमें आधुनिकता की प्रतिष्ठा होती गई। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य सम्पर्क से जिस आधुनिकता और नवीनता का विकास हुआ उसमें अस्वाभाविकता एवं अनुकरणशीलता अधिक थी। यह अनुकरणशीलता अपने व्यापक रूप में भारत के अभ्युत्थान का हेतु न सिद्ध हो सकी तथा उसकी हानियों से परिचित होने पर उसके त्याग तथा पुरातन और आत्म के ग्रहण की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। पुरातन का आग्रह आदर्शवादी प्रवृत्तियों को जन्म देने में सहायक हुआ तथा भारतवासियों में आत्मोद्धार की प्रवृत्ति का अत्यन्त तीव्रता के साथ विकास हुआ।

पाश्चात्य सम्पर्क की प्रतिक्रिया समय-समय पर चाहे जिस रूप में हुई हो लेकिन इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उससे प्राप्त ज्ञान-विज्ञान का हमारे अभ्युत्थान में पर्याप्त योग रहा है। अंग्रेज़ों ने भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व का अध्ययन और अनुसन्धान किया जिससे भारतवासियों में अपने गौरवपूर्ण अतीत के प्रति अनुराग का संचार हुआ। कर्नल कनिंघम के अध्यवसाय से सन् १८५७ ई० में पुरातत्त्व विभाग की स्थापना हो गई थी जिसके अनुसन्धान

से राजगृह, नालन्दा, तक्षशिला, वाराणसी, पहाड़पुर, हड़प्पा, मोहन जोदड़ो आदि की खुदाई से भारत के गौरवपूर्ण अतीत का ज्ञान प्राप्त हुआ, जो प्रकारान्तर से नवोत्थान का एक महत्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व सिद्ध हुआ। भारतीय साहित्यों का अध्ययन तो उन्नीसवीं शताब्दी के पहले ही प्रारम्भ हो गया था। सन् १७७४ ई० में सर विलियम जोन्स के द्वारा स्थापित बंगाल की रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी के संरक्षण में प्राचीन भारतीय साहित्य की खोज, अनुवाद और प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सन् १७९८ ई० में सर मौनियर विलियम्स ने कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद किया, जिसकी यूरोप में अत्यंत प्रशंसा हुई। इसके उपरान्त मैक्समूलर, शॉपेनहार, श्लीगेल आदि जर्मन विद्वानों के द्वारा संस्कृत के वैदिक और लौकिक साहित्य का प्रचुर मात्रा में अध्ययन सम्पन्न हुआ। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी अनेक नवीन तथ्य प्रकाश में आए जिनसे भारतीय आर्यभाषाओं तथा यूरोपीय भाषाओं की तात्त्विक एकता प्रतिपादित हुई। पाश्चात्य सम्पर्क की इन उपलब्धियों का प्रभाव यह पड़ा कि भारतीयों में अतीत के प्रति गौरव और आत्म सम्मान की भावनाएँ संबंधित हुई। देश का शिक्षित वर्ग प्राचीन भारतीय साहित्य, संस्कृति आदि के अध्ययन में सक्रिय रूप से तत्पर हुआ। प्राचीन के प्रति आग्रह और अनुराग की यह प्रेरणा भारतवासियों में आत्मगौरव का संचार करने में सहायक सिद्ध हुईं।

पुरातत्त्व और साहित्य के समान साहित्येतर ललित कलाओं के क्षेत्र में भी भारतीयता के प्रति जनरुचि आकृष्ट हुई। संगीत के क्षेत्र में श्री विष्णु दिगम्बर ने भारत के शास्त्रीय संगीत की परम्परा की संरक्षा के उद्देश्य से उसका वैज्ञानिक और व्यापक अध्ययन किया। प्राचीन और मध्य युगों में भारतीय संगीत में जो महत्त्वपूर्ण तत्त्व विकसित हुए थे उनका उन्होंने अपनी संगीत साधना में सफलतापूर्वक समावेश किया। इस सम्बन्ध में भातखंडे का भी प्रशंसनीय योग रहा। आधुनिक युग के इन दो संगीत शास्त्रियों ने भारतीय संगीत के पुनरुद्धार का जो अभियान चलाया; वह भारतीय संगीत के इतिहास में अभूतपूर्व है। बीसवीं शताब्दी के भारतीय संगीत शास्त्रियों ने विष्णु दिगम्बर और भातखंडे की समन्वयवादी परम्परा को आगे बढ़ाया। संगीत के समानांतर रवि वर्मा ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिमचरण में चित्रकला के क्षेत्र में भी नव जागरण के तत्त्वों को समाविष्ट किया परंतु उनकी चित्रकला का आदर्श पूर्ण रूप से भारतीय नहीं सिद्ध हो सका। आगे चलकर भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा चित्रकला का भारतीय संस्कार हुआ। भारतीयकरण की यह प्रवृत्ति वास्तु और स्थापत्य कलाओं के क्षेत्र में भी परिलक्षित हुई। ललित कलाओं का यह सर्वतोन्मुखी विकास तथा उनके भारतीयकरण का प्रभाव देश व्यापी पुनरुत्थान की भावना के उद्दीपन में सहायक सिद्ध हुआ।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे पुनरुत्थान की जो प्रवृत्ति विकसित हुई, उसका मूलाधार हिन्दुत्व था। अतः उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मुसलमानों में भी मुस्लिम संस्कृति के पुनरुत्थान तथा उसके भारतीय संस्कृति से पृथकीकरण की भावना का विकास हुआ। समग्र भारतीय संस्कृति के स्थान पर हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों में भेद दृष्टि के विकास में अंग्रेज़ों ने भी पर्याप्त योग दिया। हिन्दू और मुसलमानों की यह भेद दृष्टि राजनीति, समाज, शिक्षा आदि सभी क्षेत्रों में पनपने लगी। इससे मध्ययुग से निरंतर विकासमान हिन्दू-और मुस्लिम संस्कृतियों की समन्वया-

त्मक चेतना को बहुत बड़ा आघात पहुँचा। जब हिन्दू और मुसलमानों के पार्थक्य की प्रवृत्ति को तीव्रता के साथ मूर्त रूप मिलने लगा तो साम्प्रदायिक संघर्ष को और भी व्यापक धरातल प्राप्त हुआ। लेकिन यह संघर्ष हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों में से किसी के लिए सहज सांस्कृतिक विकास का हेतु नहीं सिद्ध हो सका। अंग्रेज़ों की राजनीतिक और भौतिक शक्ति के प्रभाव से भारत में पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण की प्रवृत्ति को अपूर्व और प्रबल प्रश्रय प्राप्त होता रहा। पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण जब सभी क्षेत्रों में अवनति का कारण बनकर प्रत्यक्ष हुआ तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप विगत के पुनरावर्तन की प्रवृत्ति विकसित हुई। लेकिन पुनरावर्तन के अपेक्षित रूप में उपयोगी न सिद्ध होने पर पाश्चात्य और भारतीय के समन्वय की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। दो संस्कृतियों के समन्वय की इस प्रवृत्ति का भी अंकुरण उन्नीसवीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गया था लेकिन उसके परिणाम बीसवीं शताब्दो में अत्यंत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगे। हम विज्ञान, शिक्षा, कला, साहित्य आदि ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षत्र में समन्वय के लिए उत्तरोत्तर यत्नशील होने लगे। अस्तु, प्राचीन के संरक्षण और आधुनिक के ग्रहण की विचारधाराएँ समानांतर रूप से वीसवीं शताब्दी की सांस्कृतिक चेतना के निर्माण में सहायक सिद्ध हुई हैं।

पुनरुत्थान की नवीन भूमिका—बीसवीं शताब्दी की प्रथम दो दशाब्दियों में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की मूल चेतना धर्मावलम्बी थी। परन्तु इसके उपरांत महात्मा गाँधी के भारतीय राजनीति और समाज पर व्यापक प्रभाव के कारण वह मानवतावाद और समाजवाद के धरातलों पर संचरण करती हुई दिखाई पड़ती है। महात्मा गाँधी ने भारतीय संस्कृति के निर्माण में अनेक क्रान्तिकारी विचारों के पल्लवित होने का अवसर दिया। समस्त भारतवासियों के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता, समानता, धार्मिक एकता और अहिंसा का अवलम्ब देकर उन्होंने एक नवीन सांस्कृतिक समन्वय का अभियान चलाया तथा इसमें उन्हें पर्याप्त सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई। उनका व्यक्तित्व राजनीतिक क्षेत्र के समानांतर सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी पर्याप्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वों के सम्मिश्रण की अभूतपूर्व चेष्टा की। गाँधी जी की समन्वयात्मक चेतना के समानांतर विश्वकवि रवीन्द्र की विचारधारा में भी समाजवादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिला। उन्होंने विश्व संस्कृति, अन्तर्राष्ट्रीयता आध्यात्मिकता, प्राचीन और नवीन शिक्षा पद्धतियों के समन्वय के माध्यम से नवोत्थान की दिशा का संधान किया। बीसवीं शताब्दी के भारत के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में महात्मा गाँधी और रवीन्द्र का अत्यंत महत्त्व है। गाँधी दर्शन की सामाजिक और आर्थिक तथा रवीन्द्र दर्शन बौद्धिक समन्वय की उपलब्धिओं से आधुनिक भारत की सांस्कृतिक चेतना प्रचुर मात्रा में प्रभावित हुई है। अछूतोद्धार तथा अछूतों की हरिजन रूप में प्रतिष्ठा गाँधी के सामाजिक समन्वय की अभूतपूर्व उपलब्धियाँ हैं। उनकी यह भावना पतनोन्मुखी धार्मिक रूढ़िवादिता और संकीर्णता के उच्छेदन में पर्याप्त सीमा तक सफल सिद्ध हुई। गाँधी जी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए गम्भीर साधना की तथा वे उसके व्यावहारिक निदर्शन के प्रति भी सदैव जागरूक रहे। रवीन्द्र का बौद्धिक समन्वय साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर विकसित हुआ। उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण का विविध भारतीय भाषाओं के साहित्य में प्रतिफलन उसकी लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण

है। अस्तु, गाँधी और रवीन्द्र बीसवीं शताब्दी की दो महायुद्धों की मध्यवर्ती भारतीय सांस्कृतिक चेतना के सबसे प्रबल नियामक व्यक्तित्व कहे जा सकते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से द्वितीय महायुद्ध के उपरांत का युग भारतीय और पाश्चात्य विचार-धाराओं के संघर्ष का युग है। इस संघर्ष से हमारा जीवन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक आदि सभी क्षेत्रों में प्रभावित हुआ है। इस युग में स्वतंत्रता की प्राप्ति एक अपूर्व घटना है जिसे प्रायः एक शताब्दी के प्राचीन राष्ट्रीय संघर्ष की उपलब्धि कही जा सकता है। स्वतंत्रता के अनंतर समस्त देश में जनवादी प्रवृत्तियों को विकास का धरातल प्राप्त हुआ है। स्वतंत्र भारत की नवीन व्यवस्था में गाँधीवाद और समाजवाद का संघर्ष भारतीय और पाश्चात्य के संघर्ष के रूप में निरन्तर विकासमान रहा है। इस युग में महात्मा गाँधी के रामराज्य और सर्वोदय समाज के आदर्शों के अनुरूप राजनीति, धर्म, समाज और अर्थ व्यवस्था की व्याख्या को भारतीय दृष्टिकोण का प्रतिफलन कहा जा सकता है। गाँधी के उपरांत इन आदर्शों का वहन आचार्य विनोवा ने किया है। इसी के साथ भौतिक दृष्टि से प्रेरित वर्ग संघर्ष समाजवादी और साम्य-वादी प्रवृत्तियों को विकसित करता रहा है, जो अपने मूल में पाश्चात्य हैं। अतएव गाँधीवाद और समाजवाद के संघर्ष को प्रकारान्तर से भारत की आध्यात्मिक तथा पश्चिम की भौतिकवादी संस्कृतियों का संघर्ष कहा जा सकता है। द्वितीय महायुद्ध के अनन्तर भारत में दोनों विचार-धाराओं का तीव्रता के साथ विकास हुआ है तथा दोनों ने ही भारत की विविध समस्याओं के अपने-अपने समाधान प्रस्तुत किए हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत की गतिविधि गाँधीवाद और समाजवाद के संघर्ष से अनुप्राणित है तथा वर्तमान समय में भी वह समाप्त नहीं हो सका है। यह संघर्ष हमें सभी क्षेत्रों में प्रभावित कर रहा है। लेकिन कुल मिलाकर आज हमारे जीवन में समाजवादी संस्कार उत्तरोत्तर प्रबल होते जा रहे हैं। गाँधीवाद और समाजवाद के संघर्ष के समानान्तर दोनों विचारधाराओं के समन्वय की प्रवृत्ति भी विकसित हुई है लेकिन इस समन्वय में भी समाजवादी तत्त्व ही मुखर रहे हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारत के सांस्कृतिक जीवन में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों का भी पर्याप्त महत्त्व है। भारत तथा विश्व के अन्य देशों के वैचारिक आदान प्रदान से हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक सम्बन्धों का विकास हुआ है। इस सांस्कृतिक आदान प्रदान से अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व बंधुत्त्व की भावनाएँ राष्ट्रीयता के समानांतर पल्लवित हो रही हैं। अब हम जो कुछ आत्मसात कर रहे हैं वह केवल पाश्चात्य और नवीन से आकर्षित होकर नहीं वरन् अधिकांशतः विश्व के संदर्भों में बौद्धिक धरातल पर उपयोगितावादी दृष्टि को अपना कर आत्मसात कर रहे हैं।

धार्मिक चेतना—उन्नीसवीं शताब्दी की धार्मिक सुधारवादी चेतना बीसवीं शताब्दी में भी विकासमान रही तथा विविध सुधारों के माध्यम से धर्म की नवीन व्याख्याएँ की गईं। लेकिन इनके बावजूद अधिकांश भारतीयों की धार्मिक चेतना में आदर्शवाद और परम्परा का आग्रह किसी-न-किसी रूप में बना रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि सुधारवादी आन्दोलनों से देश की शिक्षित और अर्धशिक्षित जनता ही एक सीमा तक प्रभावित हो सकी थी तथा शेष जनता में धार्मिक संस्कार किसी-न-किसी रूप में अविशिष्ट थे। यह लक्ष्य करने योग्य है कि सुधार की प्रवृत्तियाँ हिंदू धर्म के ही अन्त-

र्गत विकसित हुई क्योंकि वह अपने वाह्य कर्मकांडी रूप और वर्गवादिता के कारण उत्तरोत्तर कमज़ोर होता जा रहा था तथा ईसाई मिशनरियाँ धर्म परिवर्तन के अभियान में दिन-प्रतिदिन सक्रियता के परिणामस्वरूप सफल होती जा रही थीं। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में इस्लाम में परिवर्तन का कोई आग्रह नहीं दिखाई पड़ता और न उसके सुधार आन्दोलन ही प्रकाश में आए। वस्तुतः इस्लाम कई शताब्दियों तक राज्य धर्म के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था और अब भी उसकी जड़ें काफी गहरी थीं। यों भी, इस्लाम अपनी मान्यताओं में हिन्दू धर्म की अपेक्षा कट्टर था, जिससे ईसाई धर्म का आघात उसे इस सीमा तक प्रभावित नहीं कर सका, कि उसमें सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया जाता।

बीसवीं शताब्दी में भी ईसाई धर्म राज्याश्रय के कारण किसी-न-किसी रूप में अपना प्रसार करता रहा। समाज में निम्न वर्ग के लोगों तथा अर्थ पीड़ितों के धर्म परिवर्तन की गति में थोड़ा अंतर अवश्य आया लेकिन वह सर्वथा समाप्त नहीं हो सका। अतएव उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी आन्दोलन बीसवीं शताब्दी में भी सक्रिय रहे हैं। इन आन्दोलनों के प्रभाव तथा अपने भिन्न सांस्कृतिक आधार के कारण ईसाई धर्म हिन्दुत्व में घुल-मिल नहीं सका। इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि हिन्दू धर्म का वाह्यरूप तो विकृत होता ही रहा है लेकिन उसका तात्त्विक रूप कभी भी समाप्त नहीं हो सका है। ईसाई धर्म भी तात्त्विक रूप में हिन्दुत्व को प्रभावित नहीं कर सका और अधिकांशतः समाज का निम्न वर्ग ही उसकी ओर आकृष्ट होता रहा है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण की पुनरुत्थानवादी दृष्टि के प्रभावस्वरूप धार्मिक क्षेत्र में सुधारवादी प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला। परिणामतः हिन्दुत्व सशक्त और युगानुकूल रूप में निखर आया। वह कर्मकाण्डों से मुक्त होकर नैतिकता प्रधान होने लगा। समाज में धर्म के नाम पर समन्वय वृत्ति भी विकसित हुई तथा युगानुरूप धर्म की नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं। इस प्रकार हिन्दुत्व का पुनर्मूल्यांकन हुआ और हिन्दू समाज ने आत्म गौरव का अनुभव किया। पुनरुत्थान और आत्मोद्धार की इस प्रक्रिया में स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद आदि की विचारधाराओं ने पर्याप्त योग दिया। नवोत्थानवादी धर्म भावना ने राष्ट्र-भक्ति के प्रसार में सहायता दी, जिससे राष्ट्रीयता को एक नैतिक और भावात्मक धरातल प्राप्त हुआ। अस्तु, बीसवीं शताब्दी में हिन्दुत्व ने अपनी आत्मा पहिचान कर धर्म के व्यापक रूप को ग्रहण किया।

धार्मिक सुधार आन्दोलनों की सुधारवादी चेतना का एक प्रभाव यह पड़ा कि उनकी प्रेरणा से भारतीयों में नैतिक मूल्यों का विकास हुआ। जिन्हें उन्होंने जीवन के आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया। मध्य युग के पूर्वार्द्ध में इसका हेतु देशव्यापी भक्ति आन्दोलन था तथा आधुनिक युग में इस कार्य को नैतिक एवं आत्मिक उत्थान के आन्दोलनों ने पूरा किया। इनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि कुछ तो उन्नीसवीं शताब्दी में ही जन्म ले चुके थे और कुछ आन्दोलन बीसवीं शताब्दी में आविर्भूत हुए। इनके प्रभावस्वरूप समाज में सहिष्णुता, त्याग, अहिंसा आदि श्रेष्ठ मानवीय वृत्तियों के प्रसार में सहायता मिली। लेकिन बीसवीं शताब्दी में नैतिक और आत्मिक उत्थान की सबसे व्यापक चेतना महात्मा गाँधी के आदर्शों द्वारा प्रसारित हुई। गाँधी जी ने स्वराज्य की केवल राजनीतिक और आर्थिक व्याख्या ही नहीं की प्रत्युत उसका

विशुद्ध नैतिक और आत्मिक रूप भी उनके द्वारा प्रतिपादित हुआ। गाँधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन अपने नैतिक और आत्मिक मूल्यों के ही कारण इतना लोकप्रिय हो सका। कुल मिलाकर बीसवीं शताब्दी के भारतीय समाज में पवित्रता और शुद्धता का जितना व्यापक प्रसार आर्य समाज और गाँधीवाद के द्वारा हुआ उतना कदाचित् अन्य किसी आन्दोलन के द्वारा नहीं हो सका। इनके प्रभाव से समाज में जो नैतिक मूल्य विकसित हुए उन्होंने एक स्वस्थ समाज दर्शन को जन्म दिया।

शिक्षा पद्धति और नवीन दृष्टि—इस सम्बन्ध में बीसवीं शताब्दी की शिक्षा पद्धति का भी उल्लेख आवश्यक है क्योंकि उसका प्रभाव समाज के बौद्धिक विकास पर पड़ा है। अँग्रेज़ों की राजनीतिक सत्ता के परिणामस्वरूप इस शताब्दी में भारतीय शिक्षा का रूप पाश्चात्य आदर्शों से प्रचुर मात्रा में प्रभावित हुआ है। लेकिन पाश्चात्य शिक्षा पद्धति भौतिक, सांस्कृतिक और नैतिक दृष्टियों से अधिक लाभप्रद नहीं सिद्ध हो सकी। शिक्षा केवल सेवाओं की प्राप्ति का ही माध्यम बनकर रह गई। इससे भारत और भारतीयता के प्रति हमारी निष्ठा कम होने लगी। वस्तुतः अँग्रेज़ों का उद्देश्य भी यही था। इस नीति का प्रभाव भारतीय भाषाओं पर भी पड़ा और वे अँग्रेज़ी शासन काल में उपेक्षित बनी रहीं। हिन्दी भी राजनीतिक स्तर पर उपेक्षा की भागी हुई। लेकिन देशव्यापी पुनरुत्थान के क्रम में अँग्रेज़ी शिक्षा पद्धति के प्रसार के बावजूद समय समय पर उसकी तीव्र प्रतिक्रिया भी होती रही है। आर्य समाज ने अँग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली को अपनाकर भी उसे भारतीयता और हिन्दू धर्म का आधार प्रदान किया। आर्य समाज ने भारतीय शिक्षा प्रणाली के पुनरुत्थान के लिए गुरुकुल प्रणाली की पुनर्योजना की। इसी प्रकार महात्मा गाँधी के यत्नों के फलस्वरूप बुनियादी शिक्षा पद्धति का प्रचलन हुआ और देश में विभिन्न स्थानों पर विद्यापीठों की स्थापना हुई। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रसार के साथ यह स्वीकार किया जाने लगा कि राष्ट्र के सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए संस्कृत और हिन्दी की उपादेयता असंदिग्ध है। इस प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण के प्रभाव स्वरूप बौद्धिक स्तर पर भारतीयता की रक्षा में पर्याप्त योग प्राप्त हुआ। लेकिन अँग्रेज़ी शिक्षा पद्धति की अनेक उपलब्धियाँ भी हैं। वह नवीन दृष्टि और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों को उद्घाटित करने में सहायक हुई। अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास पाश्चात्य चिंतन के सम्पर्क से ही सम्भव हुआ। भारतीय प्रतिभा नवीन ज्ञान-विज्ञान, सम्पादन, वर्गीकरण, विश्लेषण और अनुसन्धान की ओर अग्रसर हुई, जिससे भारतीय भाषाओं के साहित्यों के अध्ययन में एक नवीन दृष्टि का प्रवेश हुआ और उसकी अनेक नवीन उपलब्धियाँ प्रकाश में आईं।

साहित्यिक

उन्नीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य और आधुनिकता—हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का उदय पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव की अवतारणा के साथ माना जाता है। हिन्दी-प्रदेश में अँग्रेज़ी राज्य की स्थापना के समय हिन्दी साहित्य में भक्ति और रीतितत्त्वों से संपोषित होती हुई ब्रजभाषा काव्य धारा की प्रधानता थी जिसमें रीति और शृंगारी तत्त्व मुखर थे। राधाकृष्ण की विविध शृंगारी लीलाओं की रूढ़ि एवं परम्पराविहित लौकिक अभिव्यक्ति काव्य की हेतु-सी बनी हुई थी। उनकी अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा काव्यधारा में अत्यन्त प्रबल

उपकरण भी संचित थे। पाश्चात्य प्रभाव के परिणामस्वरूप हमारा सम्पर्क जब आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और नवीन शासन पद्धति से हुआ तो परम्परागत काव्यधारा और उसकी भाषा नवीन उपलब्धियों की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सकीं। अतः परम्परागत काव्यधारा की लोकप्रियता के साथ युग की नवीन परिस्थितियों, आवश्यकताओं और मान्यताओं की अभिव्यक्ति के लिए गद्य की उपयोगिता का अनुभव हुआ। इससे पूर्व हिन्दी में राजस्थानी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली गद्य की परम्पराएँ मिलती अवश्य हैं, लेकिन वे अत्यन्त क्षीण एवं स्फुट रूपों में ही दिखाई पड़ती हैं। वे सभी काव्य भाषा की तुलना में विकसित नहीं हो पाई थीं। पाश्चात्य सम्पर्क से उपलब्ध प्रेस आदि वैज्ञानिक साधनों के प्रभाव से अँग्रेज़ी शासन के साथ-साथ खड़ी बोली गद्य की धारा भी उत्तरोत्तर प्रबल और प्रमुख होती गई। वह युग जीवन की आवश्यकताओं, मान्यताओं और उपलब्धियों को अभिव्यक्ति देने में सक्षम सिद्ध हुई। पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभावस्वरूप आधुनिकता के जो उपकरण भारतीय जीवन में विकसित हुए उन्हें खड़ी बोली ही सर्वाधिक सफलता के साथ अभिव्यक्त कर सकी। अतएव हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के बीजारोपण और संवर्धन का माध्यम खड़ी बोली गद्य को ही कहा जायगा। इसके उपरांत पाश्चात्य प्रभाव तथा उसके सम्पर्क से प्राप्त नवीन मूल्यों का प्रवेश कविता के क्षेत्र में भी हुआ और परम्परा की तुलना में प्रयोगशीलता की प्रवृत्तियों को अपूर्व एवं व्यापक स्तर पर प्रश्रय प्राप्त हुआ। अस्तु, आधुनिक हिन्दी साहित्य गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में नवदिशोन्मुख हुआ।

आधुनिक काल का हिन्दी साहित्य उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों की विगत विवेचित राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित तथा विविध शक्तियों और प्रेरणाओं से अनुप्राणित है। ब्रिटिश शासन में पाश्चात्य सम्पर्क से नवीन शिक्षा, वैज्ञानिक आविष्कारों, औद्योगीकरण आदि के प्रभावस्वरूप देशव्यापी जो राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिवर्तन घटित हुए, उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक सुधार और अभ्युत्थान सम्बंधी आन्दोलनों का जन्म हुआ तथा समस्त देश में पुनरुत्थान की चेतना का प्रसार हुआ। पुनरुत्थान के समानांतर समन्वय वृत्ति भी विकसित हुई। पाश्चात्य ज्ञानविज्ञान के साथ भारतवासियों ने अपनी परम्परागत आध्यात्मिकता की रक्षा की। प्राचीन की नवीन और युगानुरूप व्याख्याएँ करके उसे उपयोगी बनाया गया। यह सब प्रकारान्तर से आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी प्रतिफलित हुआ है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की विकास यात्रा के दो मुख्य सोपान निर्धारित किए जा सकते हैं, उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी। जैसा कि संकेत किया जा चुका है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा काव्य की प्रधानता थी, लेकिन गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली गद्य की प्रतिष्ठा हुई। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध की साहित्यिक उपलब्धियों में लल्लूलाल, सदल मिश्र, सदासुखलाल और इंशा अल्लाह खाँ की गद्य रचनाएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें हिंदी गद्य के उद्भवकालीन रूप का दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त ईसाई-धर्म प्रचारकों के धार्मिक ग्रंथों, समाचार पत्रों तथा ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विविध विषयों से सम्बन्धित ग्रंथों के के माध्यम से हिन्दी गद्य का विकास हुआ। इसी समय हिन्दी भाषा पर पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ना प्रारम्भ हो गया था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में खड़ी बोली में ललित साहित्य की

रचना की परम्परा का सूत्रपात नहीं हो सका तथा वह केवल धार्मिक और उपयोगी विषयों तक ही सीमित रही। इस दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ललित साहित्य के अन्तर्गत गद्य के निबंध, उपन्यास, नाटक, समालोचना, जीवनी, पत्रकारिता आदि रूपों का उद्भव और प्रारम्भिक विकास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हुआ तथा हिन्दी साहित्य में आधुनिकता की प्रतिष्ठा इन्हीं साहित्य रूपों के माध्यम से सम्भव हो सकी। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में यद्यपि ब्रजभाषा काव्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही तथापि खड़ी बोली भी धीरे-धीरे अपना स्थान बना रही थी। आगे चलकर बीसवीं शताव्दी में काव्य क्षेत्र में उसको पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश की नवोदित परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप जिन अनेक आन्दोलनों का उद्भव हुआ था, उनमें तत्कालीन जीवन और समाज में सुधार की अत्यन्त सशक्त एवं क्रान्तिदर्शी भावना सन्निहित थी। इंडियन नेशनल कांग्रेस ने इस समय देश को नवोत्थान का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रबोधन दिया। इन सुधार आन्दोलनों का प्रभाव हमें गद्य और पद्य साहित्यों पर समान रूप से परिलक्षित होता है। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में युग जीवन से साहित्य का निकट सम्पर्क स्थापित हुआ।

बीसवीं शताब्दी—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही सन् १९०३ ई० में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का सम्पादन कार्य सँभाला। 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने नवीन साहित्यिक आदर्शों की प्रतिष्ठा द्वारा हिन्दी साहित्य को विकासोन्मुख किया। उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय जैसे कवियों का साहित्यिक निर्देशन भी किया, जिसके कारण वे अपने युग के आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उनकी प्रेरणा से हिन्दी साहित्य के विविध रूपों के अन्तर्गत नवीन शैलियों का सूत्रपात हुआ तथा उन्नीसवीं शताब्दी के नवोदिन साहित्य रूपों को सम्पन्नता और प्रौढ़ता प्राप्त हुई। अपने युग पर द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की अत्यंत गहरी छाप है। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे स्वयं एक सफल गद्यकार, आलोचक, निबंधकार और कवि थे। सरस्वती के सम्पादक के रूप में उन्होंने बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक बीस-पचीस वर्षों के हिन्दी साहित्य का दिशा निर्देशन ही नहीं किया, प्रत्युक्त सभी क्षेत्रों में उसकी गतिविधि का नियमन भी किया। साहित्य के गद्य और काव्य दोनों क्षेत्रों में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा द्विवेदी युग की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। हिन्दी में कहानी का उद्भव भी इसी युग में हुआ।

आधुनिककाल में द्विवेदी युग के उपरांत का सन् १९३६ ई० तक का युग छायावाद युग कहलाता है। छायावाद युग का वैशिष्ट्य मुख्य रूप से काव्य के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। इस समय खड़ी बोली में नवीन आदर्शों एवं मान्यताओं पर आधारित एक काव्यान्दोलन ने जन्म लिया। इस समय के गद्य और काव्य साहित्यों पर वैज्ञानिक और औद्योगिक युग की मान्यताओं का संस्कार है। इन दोनों युगों में भारतीय जीवन के समानांतर राष्ट्रीयता, पुनरुत्थान, विद्रोह और समन्वय की प्रवृत्तियाँ साहित्य में भी प्रतिफलित हुईं। साहित्यकारों ने साहित्य रचना के द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधि एवं मान्यताओं को अपनी कृतियों में अभिव्यक्ति दी। युग प्रवाह के अनुरूप सामाजिक जीवन को भी साहित्य का धरातल प्राप्त हुआ। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि विविध साहित्य-रूपों में जीवन की विविध समस्याओं, उनके समाधानों, आदर्शों और उपक्रमों को वाणी मिली। इसी समय एकांकी नाटक का उद्भव हुआ जो उत्तरोत्तर

लोकप्रिय होता गया। सन् १९३६ के लगभग श्री सुमित्रानंदन पंत की 'युगान्त' नामक रचना के साथ छायावाद युग की समाप्ति होती है।

तदन्तर हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित सामाजिक और बौद्धिक तत्त्व मुखर होते हैं। सामाजिकता के आग्रह से हिन्दी साहित्य में जिस प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ वह प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध है सामाजिकता के मूल्यों ने इस युग में हिन्दी काव्य तथा गद्य साहित्य के प्रायः सभी रूपों को प्रभावित किया है। प्रगतिवाद के उपरान्त द्वितीय महायुद्ध के मध्यवर्ती वर्षों में प्रयोगवादी प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ। इस समय नवयुग के विविध सामाजिक और साहित्यिक आदर्श और यथार्थवादी दृष्टिकोण भी साहित्यकारों को प्रभावित करते रहे हैं। अस्तु, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में भारतीय जीवन के समानांतर साहित्य भी पाश्चात्य आदर्शों और विचारधाराओं से प्रभावित होता रहा है तथा दोनों में परम्परागत मान्यताओं के प्रति परिवर्तन के दृष्टिकोण भी पल्लवित हुए हैं, अतः इन दोनों शताब्दियों में विविध साहित्य रूपों के विकास का सिंहावलोकन समग्र आधुनिक हिन्दी साहित्य की गतिविधियों से परिचित होने के लिए आवश्यक हो जाता है।

काव्य—आधुनिक हिन्दी काव्य समाज के मध्यवर्ग की जीवन दृष्टि के उन विकासशील उपकरणों की अभिव्यक्ति के रूप में आविर्भूत हुआ, जो उत्तर मध्ययुगीन संस्कारों को समाप्त कर नवविकास की सम्भावनाओं से प्रेरित हो रहे थे। मध्यवर्ग का आविर्भाव अँग्रेजों की औद्योगीकरण की नीति के परिणामस्वरूप हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मध्ययुगीन और आधुनिक संस्कारों का संघर्ष चलता रहा। अतः इस युग का काव्य भी इसी संक्रान्तिकालीन युग प्रवाह की अभिव्यक्ति है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साहित्य जगत में भारतेन्दु की प्रतिष्ठा युग पुरुष के रूप में लक्षित होती है। उनका व्यक्तित्व प्राचीन और नवीन की समन्वित चेतना से सम्पन्न है! भारतेन्दु के कवि व्यक्तिवाद का एक पक्ष जहाँ भक्ति और रीतियुगीन काव्य संस्कारों से प्रभावित है वहीं दूसरा पक्ष नवोदित युगीन चेतना की क्रान्तिदर्शी भावना से अनुप्राणित है। भारतेन्दु युग के प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि अधिकांश कवियों के व्यक्तित्व में भी प्राचीन और नवीन की इसी समन्वित चेतना के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु युग के कवियों के काव्य का वैशिष्ट्य समाज की गंभीर और व्यापक चेतना तथा नाना समस्याओं की अभिव्यक्ति के कारण है। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध की हिन्दी कविता में देश भक्ति समाज-सुधार, जातीय उत्थान, मातृभाषा उद्धार आदि विषयों का समावेश मिलता है। इस समय के काव्य में नवीनता का उन्मेष अवश्य है, लेकिन परम्परा का संस्कार और आग्रह भी कम नहीं हैं। अस्तु उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हिन्दी काव्य की दो धाराएँ लक्षित होती हैं, प्राचीन और नवीन। प्राचीन में परम्परा का आग्रह हैं तथा नवीन में आधुनिकता का उन्मेष।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी काव्य की परम्परागत सम्पत्ति ब्रजभाषा काव्यधारा थी। इस समय यद्यपि साहित्य में नवोन्मेष की अपूर्व दिशाएँ उद्घाटित हुई तथापि कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा और परम्परागत काव्य शैलियों की ही प्रधानता रही। इस शताब्दी के द्विजदेव, सरदार, द्विज, रघुराजसिंह, ललित किशोरी, भारतेन्दु आदि कवियों की कविता श्रृंगार

अलंकार, पिंगल, नायक-नायिका भेद, वैष्णव भक्ति, वीरता आदि विषयों से अनुप्राणित है। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रजभाषा काव्यधारा की एक विशेषता अनूदित काव्य भी है। ये अनुवाद अधिकतर प्राचीन संस्कृत काव्यों के हैं, जिनका प्रयोजन प्रकारान्तर से प्राचीन का आग्रह और उसकी संरक्षा कहा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अनुवादों में रघुराजसिंह कृत भागवत का आनंदाम्बुनिधि, भारतेंदु कृत गीत गोविंद का गीत गोविंदानंद, राजा लक्ष्मण सिंह कृत मेघदूत का मेघदूत पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, लाला सीताराम कृत मेघदूत, कुमार सम्भव और रघुवंश के अनुवाद, तोताराम वर्मा कृत वाल्मीकीय रामायण का राम रामायण, जगमोहन सिंह कृत ऋतु संहार, कुमार सम्भव, मेघदूत, और हंसदूत आदि के ब्रजभाषा काव्यानुवाद उल्लेखनीय हैं। लेकिन इन सभी अनुवादों में विषयवस्तु और शैली दोनों ही क्षेत्रों में परम्परा का आग्रह दिखाई पड़ता है। उन्नीसवीं शताब्दी की ब्रजभाषा काव्य की धारा, जो नवीनता से अनुप्राणित है, मूलतः यथार्थोन्मुखी है, उसमें राष्ट्रीयता का स्वर प्रबल है। उसमें राजभक्ति, देश भक्ति, धार्मिकता, सुधारवादिता, हिन्दी-प्रेम, स्वदेश-प्रेम आदि अनेक विषयों को प्रश्रय मिला है। उन्नीसवीं शताब्दी के इस काव्य में राजनीतिक चेतना की भूमि पर आधुनिकता का आग्रह है। नवीन काव्य धारा में भी हमें अनुवादों की परम्परा मिलती है। उसमें प्राप्त अनुवाद अधिकतर अंग्रेज़ी के हैं जिनमें श्रीधर पाठक कृत गोल्ड स्मिथ के डिज़र्टेड विलेज का ऊजाड़ ग्राम, हरमिट का एकांतवासी योगी, ट्रैवेलर का श्रांत पथिक, जगमोहन सिंह कृत बाइरन के **प्रिज़नर ऑफ शिलन का** अनुवाद रत्नाकर कृत पोप के एसे आन क्रिटिसिज़्म का समालोचनादर्श आदि उल्लेखनीय हैं। इन अनुवादों ने **ब्रजभाषा में नवीन विषयों** को समाविष्ट किया तथा अगामी काव्य के लिए एक भूमिका प्रस्तुत की। इस प्रकार मौलिक और अनूदित दोनों ही रूपों में उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में क्रमशः प्राचीन और नवोन का समानान्तर अभिव्यक्ति मिलती है। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्ध की साहित्यिक गतिविधि के नियामक युगपुरुष भारतेंदु के **ब्रजभाषा** काव्य में प्राचीन और नवीन का उपर्युक्त रूपों में समावेश देखा जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में परम्परागत काव्य शैलियों के साथ नवीन काव्य शैलियों का भी आविर्भाव हुआ। हिन्दी काव्य में लोक शैलियों का प्रयोग इसी समय प्रारम्भ हुआ, जो कवियों की लोक दृष्टि का प्रतीक है। इस युग में जहाँ वीर, भक्ति और रीति युगों की विविध शैलियों की आवृत्ति हुई, वहीं कजली, होली, लावनी, बिरहा, चैती आदि लोक शैलियों का भी प्रचुरता के साथ प्रचलन हुआ। काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा का ही अधिक प्रचलन रहा। प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के विषयों की अभिव्यक्ति का भार वहन करने के कारण ब्रजभाषा का रूप अपेक्षाकृत सरल, स्वस्थ एवं लोक चेतना से अनुप्राणित हुआ। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली काव्य का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था तथापि भारतेंदु की अभिरुचि के कारण ब्रजभाषा की तुलना में उसे प्रधानता नहीं मिल सकी। गद्य के क्षेत्र में तो खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हो ही चुकी थी। भारतेन्दु के उपरांत काव्य क्षेत्र में भी उसका शीघ्रता के साथ प्रवेश होने लगा।

बीसवीं शताब्दी के उन्मेष में हिन्दी काव्यधारा के अन्तर्गत तीव्र परिवर्तन घटित हुए। ये परिवर्तन युग की सर्वतोन्मुखी गतिविधि के ही प्रतिफलन थे। नव जागरण और आधुनिकता

की जिन प्रवृत्तियों का उद्‌भव उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के जीवन और साहित्य में हुआ था, बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में उनकी प्रतिष्ठा सुधारवाद के रूप में हुई। स्वामी दयानंद, विवेकानंद, रामकृष्ण आदि द्वारा प्रवर्तित धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों के प्रभाव से लोक-जीवन में आत्मिक उत्थान तथा नैतिकता के मूल्यों का प्रसार हुआ। इन आन्दोलनों की सुधार-वादी चेतना को जीवन में ही नहीं साहित्य में भी प्रवेश मिला। परिणामतः काव्य में नवीन विषयों का समावेश हुआ और प्राचीन विषयों की आधुनिक के संदर्भ में नवीन व्याख्या की गई। इसी के साथ काव्य भाषा और काव्यादर्शों में भी परिवर्तन हुए। काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हुई। काव्य शैली में शास्त्रीयता की तुलना में प्रयोगशीलता को अधिक प्रश्रय मिला तथा काव्य में सामाजिक तत्त्व उत्तरोत्तर प्रखर होते गए। सन् १९०० ई० में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ तथा उन्होंने इस युग का साहित्यिक नेतृत्व किया।

इसी समय राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव स्वरूप समस्त देश में राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार अत्यंत तीव्रता के साथ हो रहा था। स्वदेशी आन्दोलन और गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन ने समस्त देश में राष्ट्रीयता और जागृति की भावनाओं का संचार किया। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन से बौद्धिक जागृति का भी समान तीव्रता के साथ प्रसार हो रहा था। प्राचीन रूढ़िवादी मान्यताओं को इससे गम्भीर आघात पहुँचा। प्राचीन की नवीन एवं युगानुरूप व्याख्या हुई। विविध सुधार आन्दोलनों और गाँधी जी की विचारधारा के प्रभाव स्वरूप नारी स्वातंत्र्य, अस्पृश्यता निवारण, खादी प्रचार, स्वावलम्बन आदि अनेक विषयों को काव्य में प्रवेश मिला। कुल मिलाकर सामाजिक जीवन की राजनीतिक और सामाजिक चेतना ने काव्य के विषय पक्ष को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया। इस युग के प्रमुख कवियों, अयोध्या सिंह, उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, लोचन प्रसाद पांडेय, राय-देवीप्रसाद पूर्ण, गया प्रसाद शुक्ल सनेही, नाथूराम शंकर शर्मा, सत्यनारायण कविरत्न, रामनरेश-त्रिपाठी आदि ने उपर्युक्त विषयों को अपनी काव्य रचनाओं में स्थान दिया। इन सभी कवियों ने खड़ी बोली में काव्य रचना की और उसे सम्पन्न बनाने में भरपूर योग दिया। लेकिन नाथूराम शंकर शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल सनेही, सत्यनारायण 'कविरत्न' आदि कुछ कवि खड़ी बोली को अपनाते हुए भी ब्रजभाषा का सर्वथा परित्याग नहीं कर सके। उनका ब्रजभाषा के लालित्य और माधुर्य के प्रति आकर्षण बना रहा। इन कवियों ने जिस ब्रजभाषा काव्य की सृष्टि की उस पर भी युग जीवन की विविध गतिविधियों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस-पचीस वर्षों में खड़ी बोली काव्यधारा में विषयों की अनेक-रूपता तो पल्लवित हुई, लेकिन समग्र रूप में इस युग का काव्य स्थूल की ही व्यंजना में सफल हो सका। उसमें मर्मस्पर्शिता का प्रायः अभाव मिलता है। वस्तुतः इस समय के कवियों का अभिव्यक्तिगत प्रमुख प्रयोजन खड़ी बोली को काव्योचित गौरव प्रदान करना था। इसलिए उनकी प्रतिभा का बहुत कुछ प्रयोग काव्य भाषा के परिष्कार और संस्कार में हुआ। द्विवेदी जी का मर्यादावादी स्वर काव्य में भी मुखरित हुआ। पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों के कारण प्राचीन की नवीन व्याख्या की प्रक्रिया में कविता उत्तरोत्तर इतिवृत्तात्मक होती गई। इस समय के अधिकांश

कवियों की कविताएँ इतिवृत्तात्मक तत्त्वों की प्रखरता के कारण तुकबन्दी-सी प्रतीत होती हैं। कुल मिलाकर, इस युग के काव्य को कलात्मक मूल्यों की अपेक्षा सामाजिक और नैतिक मूल्यों को प्रमुखता देने वाला काव्य कहा जा सकता है। इस काव्य के यथार्थवादी, राष्ट्रीय और नैतिक व्यक्तित्व ने काव्य-चेतना की स्वच्छंदता को पर्याप्त आघात पहुँचाया। इस युग के श्रीधर-पाठक, जगमोहन सिंह, मैथिलीशरण गुप्त आदि कुछ ही कवियों के काव्य के एक सीमित अंश में अनुभूति और कल्पना की समृद्धि देखी जा सकती है।

राजनीतिक भूमिका के संदर्भ में संकेत किया जा चुका है कि प्रथम महायुद्ध के अनंतर भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन पूर्ण विकसित रूप ग्रहण कर चुका था। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में अब उसके राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक लक्ष्यों की दिशा एक प्रकार से निश्चित सी हो चुकी थी। लेकिन अंग्रेजों की दमन नीति के कारण जीवन के किसी भी क्षेत्र में आन्तरिक क्रान्ति नहीं घटित हो सकी थी। अभी तक देश के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में जो भी यत्न हुए थे, वे हमारी शक्ति और दृष्टि की पराकाष्ठा थे। अतएव राष्ट्रीय आन्दोलन तथा देश के सार्वदेशिक अभ्युत्थान के निमित्त आदर्शों की अपेक्षा का अनुभव किया गया। जीवन की यह अपेक्षित आदर्शवादिता सामयिक काव्य में भी मुखरित हुई तथा इस समय की हिन्दी कविता में महाकाव्यों और खंडकाव्यों के नायकों के माध्यम से युग के लिए अपेक्षित आदर्शों की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति का विकास हुआ। इन आदर्शों में 'शील' का आदर्श सबसे प्रबल सिद्ध हुआ तथा उसकी अवतारणा के यत्न प्रबंध काव्यों के पुरुष और स्त्री पात्रों में समान रूप से स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। युग की सुधारवादी और आदर्शवादी चेतनाएँ काव्य के माध्यम से जनजीवन तक पहुँचीं। इसके लिए अधिकतर पुराण और इतिहास के प्रख्यात कथानकों को चुना गया तथा उनके पात्रों, विशेषकर नायक-नायिकाओं के माध्यम से आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई। काव्य में अंकुरित इतिवृत्तात्मक तत्त्वों को इससे और भी प्रोत्साहन मिला। लेकिन इस युग की तथ्याश्रित इतिवृत्तात्मक काव्य प्रवृत्ति बहुत समय तक विकसित नहीं हो सकी क्योंकि उसमें काव्य की मूल चेतना और संवेदना का रूप निरंतर ह्रासोन्मुख होता जा रहा था। सामूहिक रूप में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की दो दशाब्दियों तथा उनके अंतिम वर्षों की हिन्दी कविता पुनरुत्थानवादी है। उसमें पूँजीवादी आदर्शों की छाप है। उसका स्वर जहाँ नैतिक है वहीं उसमें व्यक्तिवाद और मानवतावाद की प्रतिष्ठा की भूमिका भी विकसित हुई है।

तथ्याश्रित इतिवृत्तात्मक कविता में हृदय के मूल भावों, सरसता, स्निग्धता और हृदय-हारिता का अभाव था। अतएव उसकी प्रतिक्रिया एक प्रकार से स्वाभाविक हो गई। इतिवृत्तात्मक काव्य की प्रतिक्रिया आगे चलकर छायावादी कहे जानी वाली काव्यधारा के तत्त्वों के विकास की हेतु सिद्ध हुई। इस काव्य की सुधारवादी एवं स्थूल जीवन दृष्टि की प्रतिक्रिया सूक्ष्म अन्वेषी और भावात्मक जीवन दृष्टि के रूप में दिखाई पड़ी। अब काव्य में 'स्व' की चेतना जागरूक हुई तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य को प्रतिष्ठा मिली। इसके अतिरिक्त उसके अन्य क्षेत्रों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन घटित हुए। मर्यादावादिता के स्थान पर शृंगारिकता और भावुकता को प्रश्रय मिला। परम्परागत और आदर्श मूलक नायकों का स्थान युग के सहज मानव ने लिया। पात्रों और उनके आदर्शों का यह परिवर्तन युग की प्रवृत्ति के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल था। पौराणिक और

ऐतिहासिक वृत्तों पर आधारित महाकाव्यों और खंडकाव्यों के स्थान पर प्रगीत मुक्तकों का प्रचलन हुआ। वर्णन की स्थूलता के स्थान पर चित्रण की सूक्ष्मता विकसित हुई। यथार्थ को भावुकता और कल्पना ने आन्दोलित किया तथा सूक्ष्म की अभिव्यक्ति के लिए 'ध्वन्यात्मकता' और 'अनुभूतिमय प्रतीकविधान' का माध्यम अपनाया गया, जिसमें परम्परा की अपेक्षा प्रयोग का तथा पुरातन की तुलना में नवीन का आग्रह था। कुल मिलाकर काव्य में कलात्मक मूल्यों का प्राचुर्य हो चला और कवियों की सृजन चेतना, सौन्दर्य सृष्टि, अर्थबोध और शब्द साधना पर केन्द्रित हो गई। अस्तु, हिंदी में उपर्युक्त मान्यताओं पर आश्रित काव्य के कलात्मक मूल्यों के एक आन्दोलन का आविर्भाव हुआ। इस आन्दोलन ने हिन्दी काव्य के अनुभूति और अभिव्यक्ति पक्षों को प्रौढ़ता प्रदान की। उसे कल्पना की उन्मुक्त उड़ान, संवेदनाशीलता, लाक्षणिकता, भावों की गहनता, चित्रात्मकता, ध्वनि, गेयता, प्रवाहपूर्ण काव्य भाषा आदि से अलंकृत किया।

छायावादी कहे जाने वाले नवीन काव्य में संवेदनशीलता और भाव प्रवणता को अपूर्व प्रश्रय मिला। इन्हीं के प्रभाव स्वरूप उसमें प्रकृति के चेतन रूप की अभिव्यक्ति कदाचित् अधिक सम्भव हो सकी। इस नव्य प्रकृति दृष्टि ने छायावादी काव्य में 'सर्वात्म दर्शन' की प्रतिष्ठा की। उसने सृष्टि के नाना उपकरणों में सचेतन आत्म तत्त्व के दर्शन किए। आत्म की इस व्याप्ति ने ही छायावादी काव्य में उसे सर्वोपरि बना दिया। छायावाद की इस सर्वात्म चेतना के पीछे भारतीय दर्शन की सशक्त पीठिका तो थी ही, उसके युग के समाज की पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था से विकसित व्यक्तिवाद के प्रभाव का भी इस दृष्टि के निर्माण में कम योग नहीं रहा। इसलिए छायावाद के प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि कवियों के काव्य में एक ओर तो वेदान्त दर्शन की छाया मिलती है तथा दूसरी ओर उनमें व्यक्तिवादी आत्मनिष्ठता समाई हुई है, उसमें 'स्व' की संवेदना मुखर है। अतिशय भावुकता और कल्पनाशीलता के कारण छायावादी काव्य में भाव के स्तर पर जड़ और चेतन की एकरूपता प्रतिपादित हुई है। अनुभूत्यात्मक स्तर पर छायावादी कवि ने जड़ प्रकृति पर चेतना का आरोप किया। छायावाद में स्वानुभूति को दार्शनिक भूमिका में अभिव्यक्ति देने के कारण सत्यों का द्विविध उद्घाटन हुआ है, जो एक ओर अनुभूत की चेतना से स्पंदित हैं और दूसरी ओर आरोपित से प्रतीत होते हैं। सभी छायावादी कवियों की भावधारा में हमें अनुभूत और आरोपित सत्यों की यह समन्वयात्मक स्थिति लक्षित होती है। अपने इस रूप में छायावादी काव्यधारा वेदान्त दर्शन, अद्वैत वेदान्त, रवीन्द्र-दर्शन, अरविंद-दर्शन आदि से व्यापक रूप में प्रभावित लक्षित होती हैं। छायावादी दर्शन ने प्रकृति के कण-कण में असीम सत्ता की परिव्याप्ति उपर्युक्त विचार धाराओं से प्रभावित होकर प्रतिपादित की। अतिशय दार्शनिक आग्रहों के कारण छायावाद की अनुभूति प्रवणता में विश्वास होने पर भी अनुभूति की सत्यता पर कहीं-कहीं सन्देह होने लगता है। इसी सम्बंध में छायावाद की रहस्य चेतना का भी उल्लेख आवश्यक है। जब छायावादी कवि असीम, अगोचर एवं लोकोत्तर रहस्यमयी सत्ता की खोज में जिज्ञासा, प्रेम, विरह आदि वृत्तियों की दर्शन के माध्यम से अनुभूति संश्लिष्ट काव्याभिव्यक्ति करता है तो वह रहस्यवादी बन जाता है। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि छायावाद के प्रतिनिधि कवियों के काव्य में यह रहस्य वृत्ति

किसी-न-किसी रूप में व्यक्त हुई है। भावुकता और कल्पनाशीलता ने छायावाद की इस रहस्य वृत्ति को पल्लवित होने का उर्वर धरातल प्रदान किया।

छायावादी काव्यधारा अन्तर्मुखी होते हुए भी युग प्रवाह की उपेक्षा नहीं कर सकी। उस पर सामयिक जीवन की विविध परिस्थितियों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। इस समय तक हमारी चेतना राष्ट्रीयता और बौद्धिकता से समन्वित हो चुकी थी। वह सामयिक बंधनों से मुक्ति चाहती थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गाँधी की असहयोग नीति असफल हो चुकी थी तथा अंग्रेज़ सरकार की कूटनीति के परिणामस्वरूप भारतीय जीवन में नैराश्य की एक अपूर्व लहर संचरित हो रही थी। युग की व्यवस्था और परिस्थितियों के प्रति सारे समाज में जो असंतोष, विद्रोह और पीड़ा की जो व्याप्ति हो रही थी उसने लोक मानस को अन्तर्मुखी बना दिया। युग की इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को काव्य में भी प्रवेश मिला। संघर्ष से विमुख होकर कवि ने प्रकृति का आश्रय ग्रहण किया, जिसने उसके कल्पना लोक को सुखद छाया चित्रों से आपूरित कर दिया। लेकिन युग की नैराश्य वृत्ति से वह सर्वथा मुक्त नहीं हो सका। इसीलिए छायावाद का स्वर निराशावादी है। अपनी मनःस्थिति और भावचेतना की अभिव्यक्ति के लिए छायावाद ने नवीन काव्य शैली अपनाई। लेकिन नवीन काव्य शैली के निर्माण में केवल परम्परा का ही संबल पर्याप्त नहीं था, अन्य स्रोतों से भी सम्यक् शक्ति संचित करना अनिवार्य था। इसीलिए छायावाद की काव्य शैली में हिन्दी काव्य परम्परा के उपकरणों के साथ वाह्य प्रभाव भी दिखाई पड़ते हैं। छायावाद ने जहाँ संस्कृत की कोमलकान्त पदावली और ब्रजभाषा की रससिक्तता ग्रहण की वहीं विश्व कवि रवीन्द्र की चित्रात्मक शब्द योजना और अंग्रेज़ी के रोमैण्टिक कवियों के सदृश्य धर्म की व्यंजना में सक्षम शब्द प्रतीकों को भी अपनाया। इन सबके समन्वय से छायावाद ने हिन्दी काव्य में नवीन कलात्मक मूल्यों की प्रतिष्ठा कर उसे अपूर्व सम्पन्नता प्रदान की। कदाचित इसीलिए छायावादी काव्यधारा को स्वच्छंदतावादी काव्यधारा भी कहा जाता है।

इस युग में हिन्दी काव्य में एक ऐसी धारा भी प्रवाहित हो रही थी जिसका स्वर राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित था। इस काव्यधारा की प्रमुख प्रेरणा राष्ट्रीयता की भावना थी तथा इसने छायावाद के समान कलात्मक मूल्यों को प्रधानता नहीं दी। इसीलिए इस युग का राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित काव्य छायावाद की तुलना में अधिक बोधमय है। राष्ट्रीयता प्रधान काव्यधारा की छायावाद के समान अन्तर्मुखी दृष्टिकोण नहीं ग्रहण किया, उसमें सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा हेतु संघर्ष का तीव्र उद्घोष है। छायावादी और राष्ट्रीय चेतना के काव्य के विकास के साथ द्विवेदी युग की वस्तुपरक यथार्थवादी कविता का प्रचलन गौण पड़ता गया।

छायावादी काव्य में कलात्मक मूल्यों की प्रखरता के साथ कतिपय दोष भी निरंतर विकसित हो रहे थे। उसकी अतिशय भावुकता, कल्पनाशीलता और आरोपित प्रतीक योजना ने काव्य में अस्पष्टता के दोष को विकसित होने की प्रचुर सामग्री प्रदान की। छायावादी काव्य दृष्टि समाज से भी दूर पड़ती गई। छायावाद का 'कला-कला के लिए' वाला आदर्श हिन्दी काव्य को कलात्मक सम्पन्नता प्रदान करने में चाहे जितना सफल हुआ हो, किन्तु वह युग को कोई स्वस्थ जीवन दर्शन नहीं दे सका। उसमें सामाजिक मूल्यों का धीरे-धीरे लोप होता जा

रहा था। अतएव छायावाद का परवर्ती कवि काव्य के नवीन मूल्यों की खोज में संलग्न हुआ। उसकी अन्तर्मुखी व्यक्तिवादी चेतना के प्रति आस्था नहीं बन सकी। छायावादोत्तर कवि में प्रणय भावना तो थी लेकिन उसे वह प्रकृति और रहस्य के आवरण में छिपाना नहीं चाहता था। व्यक्तिवाद की इस परम्परा के कवियों में हरिवंशराय बच्चन, नरेश शर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने प्रणय भावना की अभिव्यक्ति में समाज के नैतिक मूल्यों की चिन्ता नहीं की। प्रकृति और अध्यात्म के आवरण को हटा देने तथा नैतिकता से आक्रान्त अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के परित्याग के कारण इन कवियों के काव्य की वैयक्तिक भावभूमि में संप्रेषण का अभाव नहीं खटकता। एक प्रकार से इस नव्य व्यक्तिवादी काव्यधारा को छायावादी काव्य के विकास की सहज स्थिति कहा जा सकता है। नव्य व्यक्तिवादी कवियों के साथ ही सियाराम शरण गुप्त ने गाँधीवाद के सिद्धान्त पक्ष की भूमिका में काव्य क्षेत्र में प्रवेश किया। उनके काव्य में गाँधीवादी विचारधारा के सत्य, अहिंसा, करुणा, स्वदेश प्रेम, सर्वोदय आदि सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति प्रधान रही है। गाँधीवादी दर्शन की स्वीकृति होने के कारण सियाराम शरण गुप्त के काव्य में वैयक्तिक और सामाजिक चेतना की युगपत् अभिव्यक्ति मिलती है। यह एक विचित्र संयोग है कि गाँधीवाद ने जिस मात्रा में इस युग के कथा साहित्य को प्रभावित किया, उतना वह काव्य क्षेत्र में लोकप्रिय नहीं हो सका। गाँधीवाद को काव्य की भावभूमि पर उतारने वाले सियाराम शरण गुप्त ही एकमात्र कवि हैं।

जैसा कि संकेत किया जा चुका है कि छायावादी काव्य में प्रेषणीयता के अभाव के साथ सामाजिक मूल्यों की भी पर्याप्त अवहेलना हुई थी। राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधि को निराशा का धरातल अवश्य प्राप्त हुआ था किंतु वह स्थायी नहीं था। गाँधी जी रचनात्मक कार्यों में योग दे ही रहे थे तथा इसी समय समाजवादी और साम्यवादी विचार धाराएँ भी देश में अपना क्षेत्र विस्तार कर रही थीं। इनके आविर्भाव और प्रसार से देशव्यापी एक नवीन एवं क्रान्तिदर्शी चेतना का संचार हुआ, हिन्दी काव्य भी उसके प्रभाव से अछूता न बचा। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष, सर्वहारा राज्य, आदि सद्धान्तों से देश किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हो रहा था। साम्यवाद सामाजिक विषमता का तीव्र विरोधी था। सामन्तवादी और पूँजीवादी मान्यताओं का उच्छेदन उसका चरम लक्ष्य था। इसके लिए वह क्रान्ति के मार्ग का पक्षपाती था। उसने धर्म, संस्कृति, कला आदि मानव सभ्यता के सभी उपकरणों की व्याख्या आर्थिक संदर्भों में प्रस्तुत की हिन्दी काव्य में मार्क्स के आदर्शों की प्रतिष्ठा प्रगतिवाद के रूप में हुई। सन् १९३४ में प्रेमचंद की अध्यता में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। इसके अनन्तर हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य के सृजन का एक आन्दोलन ही चल पड़ा। काव्य क्षेत्र में भी तथाकथित प्रगतिवाद को मान्यता मिली। समाज के शोषित मध्य और निम्न वर्गों को कवियों की संवेदना प्राप्त हुई। किसान, मजदूर और समाज के निम्न वर्ग के लोग तथा उनकी समस्याएँ काव्य में प्रवेश पाने लगीं। उपर्युक्त सभी विषय खड़ी बोली हिन्दी कविता में भी अछूते नहीं थे लेकिन अब उन्हें एक समर्थ विश्वव्यापी जीवन दर्शन की उपलब्धि हो गई। प्रगतिवादी काव्य में साम्यवाद के सभी आदर्शों को वाणी मिली। इस काव्य में परम्परागत, नैतिकता और मर्यादा का तीव्र विरोध प्रतिफलित हुआ। साम्राज्यवादी और पूँजीवादी व्यवस्था तथा मान्यताओं

के प्रति इस काव्यधारा में असंतोष की भावना पल्लवित हुई। इसका प्रभाव यह पड़ा कि प्रगति-वाद के नाम पर नैतिक मूल्यों की अवहेलना कर वैयक्तिक वासना मूलक काव्य रचना का एक उद्वेग आया। इसके साथ ही मध्य और निम्न वर्ग के चित्रण को भी प्रगतिवादी काव्यधारा में अपूर्व प्रश्रय मिला। अस्तु, प्रगतिवाद की व्याख्या हिन्दी काव्य में नैतिक मूल्यों के परित्याग तथा सर्वहारा वर्ग के चित्रण तक ही सीमित रही। प्रगतिवाद की इस भूमिका में अनेक कवियों को सम्मिलित किया गया। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, पन्त, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर, रामेश्वर शुक्ल अंचल आदि अनेक कवियों को प्रगतिवाद की सीमा में प्रवेश मिला। इन कवियों का तत्कालीन काव्य एक सीमा तक प्रगतिवादी मान्यताओं से अनुप्राणित भी है। आगे चलकर प्रगतिवाद की मान्यताओं के अनिश्चित हो जाने पर इनकी प्रगतिशीलता पुरातन मानी गई। प्रगतिवाद के संक्रमण काल में उसकी मान्यताएँ निश्चित न हो सकने के कारण परम्परा विरोधी, क्रान्तिकारी, सामाजिक व्यांगाश्रित, यथार्थवादी राष्ट्रीय चेतना से संपृक्त आदि नाना प्रकार की कविताएँ प्रगतिवाद की परिधि में मानी गईं, किसान और मजदूर वर्ग का चित्रण करने वाली कविताएँ तो प्रगतिवादी कही ही गईं। प्रगतिवाद का यह संक्रमण सन् १९३६ से १९४३ तक माना जाता है। इस युग राष्ट्रीयता और सामाजिकता का तीव्र उन्मेष प्रगतिवादी दृष्टिकोण और आदर्शों के प्रसार में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुआ।

इसके उपरान्त प्रगतिवादी काव्यधारा सैद्धान्तिक मतभेद के विकसित हो जाने के कारण दो भिन्न दिशाओं में प्रवाहित होती हुई दिखाई पड़ती है। प्रगतिवादी कवियों का एक वर्ग 'अज्ञेय' के नेतृत्व में 'उदार मानवतावाद' के आदर्श को लेकर अग्रसर हुआ और दूसरा वर्ग सामाजिक यथार्थ को आदर्श मानकर काव्य रचना में संलग्न हुआ। अन्ततः सामाजिक यथार्थवादी कवियों का वर्ग ही सच्चा प्रगतिवादी वर्ग माना गया। नव्य प्रगतिवाद की सीमा में आने वाले नागार्जुन, शिवमंगल सिंह सुमन, डॉ० रामविलास शर्मा, भवानीप्रसाद मिश्र, केदारनाथ सिंह आदि अनेक कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। लेकिन प्रगतिवादी चिंतन का क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। वह सामाजिक यथार्थ को ही वाणी दे सका, वह भी केवल अर्थ नीति के संदर्भ में। परिणामतः मार्क्सवादी समाज दर्शन का चिंतन काव्य की आनंदवादी रस भूमि पर बहुत समय तक स्थिर नहीं रह सका। सामाजिक मूल्यों के नाम पर हिन्दी कविता में एक नई रूढ़ि को जन्म मिला तथा कविता कुछ ही विषयों तक सीमित हो गई। साम्यवादी आदर्श हिन्दी काव्य और भारतीय सामाजिकता के लिए भी उपयोगी नहीं सिद्ध हो सके। सामान्य जीवन में भी प्रगतिवादी विचारधारा राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रमुख संस्था कांग्रेस की व्यापक नीति की तुलना में लोकप्रिय नहीं हो सकी। अतएव जीवन और काव्य में उसका स्थायित्व मिल सकना असम्भव था। काव्य में सामाजिकता के अतिशय आग्रह के परिणामस्वरूप अभिव्यक्ति औद शैलीगत मूल्यों में भी परिवर्तन आया तथा काव्य भाषा और काव्य शैली में एक विचित्र नीरसता और शुष्कता का प्रवेश हुआ। लेकिन कुल मिलाकर प्रगतिवादी काव्य का अपना मूल्य है और उसके योगदान की अवहेलना नहीं की जा सकती। प्रगतिवादी काव्य ने छायावाद की आरोपित भावुकता और अस्पष्टता को भेद कर काव्य की सहज शैली का समर्थन किया। प्रगतिवादी कवियों की जागरूक सामाजिक चेतना ने आधुनिक हिन्दी काव्य में सर्वप्रथम

सामाजिक उपमानों और प्रतीकों को प्रश्रय दिया। सौन्दर्य बोध और सामाजिक मूल्यों में एक अन्तर्सम्बन्ध स्थापित हुआ। प्रगतिवादी काव्यधारा ने व्यंग-काव्य की अपूर्व सृष्टि की तथा समाज के रूढ़िवादी तत्त्वों पर कुठाराघात किया। आगे चलकर प्रगतिवादी काव्यादर्शों ने लोक चेतना और लोकगीतों की शैली अपनाई जिससे यह काव्यधारा अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर सम्पन्न होती हुई लक्षित होती है।

सन् १९४३ में अज्ञेय के नेतृत्व में उदार मानवतावाद की भावभूमि पर जो काव्यधारा विकसित हुई थी, उसने सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा कलात्मक मूल्यों पर बल दिया। काव्य के नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा का लक्ष्य होने के कारण यह काव्यधारा 'प्रयोगवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रयोगवाद का आविर्भाव सन् १९४३ में 'तार सप्तक' के प्रकाशन से हुआ। 'प्रतीक' (जुलाई १९४७), नामक पत्रिका के द्वारा उसे बल मिला और सन् १९५१ में दूसरे तार सप्तक के द्वारा उसकी अंतिम रूप में प्रतिष्ठा स्वीकार की गई। इधर 'अज्ञेय' की प्रेरणा से इस काव्यधारा को 'नई कविता' कहा जाने लगा है। 'नई कविता' नामक पत्रिका के कुछ अंक इस काव्य धारा के मान्य कवि डॉ० जगदीश गुप्त के सम्पादन में प्रकाशित हुए हैं। प्रयोगवादी काव्य के आधिकारिक संग्रह 'तार सप्तक' का तीसरा खंड भी प्रकाशित हो चुका है। प्रयोगवाद, काव्य के नवीन कला मूल्यों को लेकर आया। अतएव उद्भव काल से ही उसकी आलोचनाएँ प्रारम्भ हो गईं। प्रयोगवादी कवियों ने समय-समय पर उनका उत्तर दिया है। इस वैचारिक संघर्ष में प्रयोगवाद की मान्यताएँ भी स्पष्ट होती गई हैं। इस काव्यधारा के अन्तर्गत अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, डॉ० जगदीश गुप्त, नरेश मेहता, प्रभाकर माचवे, सर्वेश्वर-दयाल सक्सेना, शकुन्तला माथुर आदि अनेक कवि प्रसिद्ध हैं। इन कवियों के अतिरिक्त दिनकर ने भी अपने को 'नीलकुसुम' नामक काव्य में अपने को प्रगतिवाद का अनुगामी कहा है। छाया-वाद के यशस्वी कवि पंत ने अपने 'कला और बूढ़ा चाँद' नामक काव्य संहग्र में प्रयोगवादी काव्य धारा में अपना विश्वास व्यक्त किया है।

प्रयोगवादी कवियों पर अंग्रेज़ी के इलियट, एज़रा पाउन्ड आदि प्रसिद्ध कवियों का प्रभाव स्वीकार किया जाता है। लेकिन उन्होंने अंग्रेज़ी के कवियों से अपने दृष्टिकोण की भिन्नता प्रति-पादित की है। प्रयोगवादी कवि 'जड़ आस्था' के प्रति विद्रोही हैं। वे युग सापेक्ष्य नवीन मर्यादा और नवीन व्यवस्था में विश्वास रखते हैं। उनकी मान्यता है कि वर्तमान युग की विश्रृंखलता, विषमता, कुंठा आदि सब कुछ परिस्थिति सापेक्ष्य है। युग की सर्वतोन्मुखी संवेदना व्यक्तित्व से उभर कर अभिव्यक्त होती है। काव्य के रूप विधान के सम्बन्ध में प्रयोगवादी कवियों की धारणा है कि नई अनुभूति अथवा नवीन जीवन सत्य अभिव्यक्ति के माध्यम की अपने आप खोज कर लेता है। अस्तु, काव्य के रूप विधान में परिवर्तन अनिवार्य है। प्रयोगवादी कवि अपने को 'चिर सत्यान्वेषी कहता है। उसकी दृष्टि में 'अस्तित्व की चेतना' ही सबसे बड़ा सत्य है। अस्तित्व की सचेतन अनुभूति हम क्षण विशेष में ग्रहण करते हैं। अतएव वही महत्वपूर्ण है। प्रयोगवादी कवि ने 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' पर बल देकर प्रगतिवाद की अति सामाजिकता तथा पूँजीवादी व्यवस्था की वैयक्तिता का विरोध किया है। प्रयोगवाद की दृष्टि में व्यक्ति स्वातंत्र्य से वृहत्तर कोई अन्य मूल्य नहीं हैं तथा व्यक्ति का अनुभव ही सर्वोपरि है।

प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य धाराओं में एक ही युग की भूमिका में तथा एक ही स्रोत से विकसित होने के कारण पर्याप्त साम्य लक्षित होता है। परम्परागत मूल्यहीन रूढ़ियों और संस्कारों के प्रति दोनों की ही अनास्था है। दोनों में यथार्थ का आग्रह है। प्रगतिवाद और प्रयोग-वाद ने काव्य का मूल प्रयोजन रसानुभूति न स्वीकार कर विचार तत्त्व को प्रधानता दी है। लेकिन इन दोनों काव्यधाराओं की दार्शनिक भूमिका में महान अंतर है। प्रगतिवाद, मार्क्सवादी जीवन दर्शन लेकर चला है और उसी को सार्वकालिक आदर्श मानता है। परंतु प्रयोगवादी कवि चिर और सार्वकालिक सत्य को अस्वीकार करके अपने को उसका अन्वेषी मात्र कहता है। प्रगतिवादी समाज के सर्वहारा वर्ग का समर्थक है लेकिन प्रयोगवादी मध्यवर्ग के प्रति अधिक सहानुभूति रखता है। हिन्दी काव्य की प्रयोगवादी धारा अभी विकासशील है। इस काव्यधारा में वैयक्तिकता के आग्रह के परिणाम स्वरूप सूक्ष्मता और अनुभूति की विविधता पल्लवित हो रही है। प्रयोगवादी कवि रेखा-संकेतों और बिम्बों पर बल देता है। इन प्रवृत्तियों के उत्तरोत्तर विकास के मध्य अभी प्रयोगवाद की कोई प्रकृतस्थ दिशा निश्चित नहीं हो सकी, तो सम्भव है कि इसकी भी प्रतिक्रिया हो। किंतु अपने व्यापक युगबोध और अभिव्यक्ति की सहजता के कारण यह धारा उत्तरोत्तर अपना क्षेत्र विस्तार कर लोकप्रिय होती जा रही है। इसके अतिरिक्त अभी भारत की सामाजिक व्यवस्था के प्रति मार्क्सवादी विचारधारा आशान्वित है, अतएव काव्य में भी उसका संस्कार किसी न किसी रूप में निरंतर दिखाई पड़ रहा है। इसके अतिरिक्त कवियों का एक वर्ग ऐसा भी है जो जनतांत्रिक आदर्शों को अपनाकर काव्य रचना कर रहा है। अस्तु, हिन्दी काव्य में तीन धाराएँ विकासशील हैं—प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और जनतांत्रिक। इनके अतिरिक्त स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी प्रदेश की विविध बोलियों में भी सरस एवं भावपूर्ण गीतों की रचना की परम्परा विकसित हो रही है। विगत काव्य धाराओं के विकास में योग देने वाले कवि तो अपनी मान्यताओं के अनुरूप काव्य रचना में योग दे ही रहे हैं।

कथा साहित्य

(क) **उपन्यास**—हिन्दी में उपन्यास अपेक्षाकृत नवीन साहित्य रूप है। उपन्यास ने विगत तीन चार सौ वर्षों में विश्व साहित्य में जो प्रगति की है, वह सम्भवतः अन्य किसी भी साहित्य रूप के द्वारा नहीं सम्भव हो सकी। जनतांत्रिक व्यवस्था और लोकचेतना के विकास के साथ उपन्यास की लोकप्रियता दिन प्रतिदिन बढ़ती गई है। वह नवयुग की मान्यताओं, आकांक्षाओं और विचार परम्पराओं को जीवन की समग्रता के साथ वाणी देने वाला सबसे समर्थ साहित्य रूप है। मध्ययुग में जो स्थान महाकाव्य का था आधुनिक युग में वही उपन्यास का है। आधुनिक युग में उपन्यास ने हिन्दी प्रदेश की सर्वतोन्मुखी गतिविधियों को अभिव्यक्ति देने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। वह अपने विकास के साथ राष्ट्रीय विकास और सामाजिक परिष्कार का गुरुतर दायित्व भी वहन करता आया है। हिन्दी में उन्नीसवीं शताब्दी में उपन्यासों का प्रारम्भ गद्य के उद्भव के साथ माना जाता है। लेकिन हिन्दी के उद्भवकालीन उपन्यासों में आधुनिक उपन्यास की कलात्मक और वस्तुगत मान्यताओं का अभाव मिलता है। जिस समय हिन्दी उपन्यास का उद्भव हुआ उस समय कतिपय पौराणिक एवं धार्मिक कथाएँ, उर्दू-फारसी के प्रख्यात आख्यान तथा

लोक कथाएँ ही उपन्यासों का कार्य सम्पादित कर रही थीं। हिन्दी के प्रारम्भिक गद्य लेखकों की रचनाओं में कथा साहित्य की छाया मात्र मिलती है। हिन्दी में सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक उपन्यासों की ओर ध्यान दिया। लेकिन भारतेन्दु की रामलीला, हमीर हठ, राजसिंह, सुलोचना, मदालसोपाख्यान, शीलवती, सावित्री चरित्र आदि जिन रचनाओं का उपन्यास के रूप में नामोल्लेख किया जाता है। उनमें से अधिकांश को उपन्यास की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। उनकी केवल 'पूर्ण प्रकाश और चंद्रप्रभा' नामक रचना को ही उपन्यास कहा जा सकता है। लेकिन उनका यह उपन्यास भी मौलिक न होकर मराठी से अनूदित है। भारतेन्दु जी की प्रेरणा से उपन्यास रचना के क्षेत्र में अनेक लेखकों ने प्रवेश किया। इनमें किशोरीलाल गोस्वामी, देवीप्रसाद शर्मा, श्री निवासदास, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्णभट्ट, कार्ति प्रसाद खत्री, गोपालराम गहमरी, देवकीनंदन खत्री, राधाकृष्ण दास आदि उल्लेखनीय हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के इन सभी उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उन्होंने हिन्दी उपन्यास को उसके उद्भवकाल में ही अपनी प्रतिभा से सम्पन्नता प्रदान की। उद्भवकालीन उपर्युक्त उपन्यासकारों की कृतियों की चार कोटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं, सामाजिक, नैतिक और शिक्षाप्रद, तिलस्मी-जासूसी और ऐतिहासिक। हिन्दी उपन्यास की इस नव निर्माण की बेला में उपन्यासों की रचना तो प्रचुर संख्या में हुई लेकिन उनमें सामाजिक प्रगति और जीवन की वास्तविकता का यथार्थ एवं प्रभावशाली चित्रण नहीं मिलता।

उद्भवकाल में ही हिन्दी उपन्यास-साहित्य में अनूदित उपन्यासों की परम्परा का भी जन्म हुआ। इस समय सबसे अधिक अनुवाद बंगला से हुए। भारतेन्दु ने 'राजसिंह' (बंकिम कृत) राधाकृष्ण दास ने स्वर्णलता, 'पति प्राणा अबला' (तारकचन्द्र गंगोली कृत) 'राधारानी' (बंकिम कृत), 'बंग विजेता' (रमेशचंद्र दत्त कृत), किशोरी लाल गोस्वामी ने 'प्रेममयी' और 'लावण्यमयी', राधाचरण गोस्वामी ने 'दीप निर्वाण' और 'विरजा' (सरन कुमारी घोषाल कृत), प्रतापनारायण मिश्र ने 'युगलाङ्गुलीय' और 'कपाल कुण्डला' (बंकिम कृत) आदि उपन्यासों का अनुवाद किया। इस समय बँगला के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू, अँग्रेज़ी और मराठी से भी अनुवाद किए गए। वस्तुतः इस समय के हिन्दी उपन्यास साहित्य को सम्पन्न बनाने में अनूदित उपन्यासों का कम मूल्य नहीं है। लेकिन भारतीय भाषाओं को छोड़कर अँग्रेज़ी से जिन उपन्यासों के अनुवाद हुए वे अधिकतर साहसिक, जासूसी और प्रेम चर्चा प्रधान हैं। सांस्कृतिक और सामाजिक उपन्यासों के अनुवाद की प्रवृत्ति इस समय उतनी नहीं विकसित हो सकी। वस्तुतः इस समय तक हिन्दी में लोकरुचि का परिमार्जन नहीं हो पाया था तथा श्रेष्ठ कृतियाँ उसके प्रतिकूल सी पड़ती थीं। एक सम्भावना यह भी ज्ञात होती है कि उस समय तक अँग्रेज़ी की श्रेष्ठ औपन्यासिक कृतियों का हिन्दी में प्रचलन ही न हो पाया हो। अस्तु, अपने उद्भवकाल में हिन्दी उपन्यास मौलिक और अनूदित कृतियों के माध्यम से रूप निर्माण करता हुआ दिखाई पड़ता है।

बीसवीं शताब्दी में हिन्दी उपन्यास की विषय वस्तु और शिल्प विधि में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोग हुए जिनसे उसके क्षेत्र का विस्तार हुआ तथा उसकी रूपात्मक और सैद्धान्तिक भूमि को सुदृढ़ता प्राप्त हुई। वस्तुत्त्व और शैली तत्त्व के युगपत् विकास के परिणामस्वरूप हिन्दी उपन्यास जीवन के निकट आया तथा वह युग जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे समर्थ, उपयोगी एवं

लोकप्रिय माध्यम सिद्ध हुआ । उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यास साहित्य में घटनाओं की प्रधानता थी परंतु बीसवीं शताब्दी में चरित्र-चित्रण को प्रमुखता प्राप्त हुई—वस्तुतः बीसवीं शताब्दी में हिन्दी उपन्यास एक सुनिश्चित कला-स्वरूप को प्राप्त करके अपनी आत्मा को पहिचान सकने में सफल हुआ तथा वह उद्देश्य की गम्भीर एवं व्यापक गरिमा से मण्डित होता हुआ लक्षित होता है ।

हिन्दी उपन्यास में उपर्युक्त सभी परिवर्तनों का सूत्रपात उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद के प्रवेश से हुआ । । प्रेमचंद वस्तुतः हिन्दी उपन्यास के विकास युग के नायक हैं । प्रेमचंद की औपन्यासिक कृतियों की सर्वप्रमुख विशेषता उनकी आदर्शवादिता है । अपने उपन्यासों में वे चरित्रों तथा उनकी प्रवृत्तियों के चित्रण में आदर्शोन्मुखी हैं । अतः प्रेमचंद घटनाओं के संचयन, विकास और उपसंहार में एक आदर्श लेकर चलते हैं । उनकी आदर्शवादिता केवल आदर्श के लिए नहीं होती प्रत्युत वे ध्येयोन्मुख होकर ही किसी आदर्श को प्रस्तुत करते हैं । ध्येय अथवा लक्ष्य की खोज में ही प्रेमचंद की सृजन चेतना यथार्थोन्मुख होती है । उन्होंने उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र माना था और तदनुरूप ही उन्होंने अपने उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की सृष्टि की । अन्ततः वे कला को जीवन के उत्थान और परिष्करण का माध्यम मानते थे । इसी आग्रह के कारण आदर्श प्रधान पात्रों और परिस्थितियों की अवतारणा में प्रेमचंद कहीं-कहीं उपदेशक से दिखाई पड़ते हैं । उनके उपन्यास की आदर्शात्मक प्रेरणा तथा उनकी उपदेशात्मक वृत्ति में प्रायः संघर्ष रहता है । प्रेमचंद के उपन्यासों के कथानक सामाजिक जीवन और उसकी समस्याओं को लेकर विकसित हुए हैं । इसलिए उनके उपन्यासों में युगबोध का धरातल अत्यन्त व्यापक है । प्रेमचंद ने सामाजिक, विशेषकर मध्य वर्गीय और ग्रामीण जीवन के चित्रण में अद्भुत सफलता प्राप्त की है । समाज, आदर्श और उद्देश्य की भूमिका में अवतरित होने के कारण प्रेमचंद के चरित्र वर्गगत, जातिगत और प्रतीकात्मक हैं । वे सभी वर्गों को साथ में लेकर चलते हैं और अन्ततः उन्हें जीवन के लिए उपादेय आदर्श के किसी सामान्य धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं । प्रेमचंद जिस समय उपन्यास साहित्य के सृजन में संलग्न थे उस समय गाँधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर था । प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य पर गाँधी के राज-नीतिक, सामाजिक और आदर्शमूलक विचारों की स्पष्ट छापा देखी जा सकती है । प्रेमचंद के अंतिम उपन्यासों में उनकी कला वस्तुवाद की ओर उन्मुख होती हुई लक्षित होती है । कुल मिलाकर प्रेमचंद ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को विकासोन्मुख किया और उसमें कला के श्रेष्ठ मूल्यों की प्रतिष्ठा की ।

प्रेमचंद के सामयिक उपन्यासकार प्रसाद का भी हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योग रहा है । उन्होंने मध्यवर्गीय सामाजिक समस्याओं, व्यवहारों और परिस्थितियों को लेकर अपने उपन्यासों की रचना प्रारम्भ की थी । प्रसाद जी की भी दृष्टि बहुत सीमा तक युग प्रवाह से प्रभावित हुई है । उन्होंने समाज कि उच्च जातीयता तथा अभिजात्य वर्ग की मान्यताओं पर एक गंभीर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया है तथा आदर्शवादी चरित्रों को जीवन की सामान्य भूमिका में परखा है । अपनी औपन्यासिक कृतियों में प्रसाद जी लोकोन्मुख एवं ग्रामोन्मुख हुए हैं, लेकिन उन्होंने अपने नाटकों की ऐतिहासिकता की प्रवृत्ति को उपन्यासों में भी प्रवेश दिया है । इस प्रकार समाज और इतिहास की भूमिका में प्रसाद जी उपन्यास-क्षेत्र में अवतरित हुए ।

प्रसाद के अतिरिक्त प्रेमचंद के समसामयिक अनेक उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को सम्पन्नता प्रदान की। इनमें विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चंडी प्रसाद हृदयेश, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, बेचन शर्मा उग्र, जैनेन्द्र कुमार, ऋषभचरण जैन, इलाचंद्र-जोशी, सियाराम शरण गुप्त, प्रताप नारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी-'निराला', राधिकारमण प्रसाद सिंह, भगवती प्रसाद बाजपेयी आदि अनेक नाम उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासकारों की रचनाओं की शिल्प की दृष्टि से तीन कोटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं, कथा प्रधान, चरित्र प्रधान और भाव प्रधान। इन कोटियों को वस्तु और शिल्प को दृष्टि में रखते हुए अवांतर कोटियाँ भी दिखाई पड़ती हैं। कथा प्रधान उपन्यासों की तिलिस्मी, साहसिक, जासूसी, प्रेमाख्यानक, ऐतिहासिक, सामाजिक और पौराणिक धाराएँ विकसित हुईं। इन धाराओं में से आगे चलकर सामाजिक और ऐतिहासिक कथानकों को लेकर चलने वाले उपन्यासों का ही विकास हो सका और शेष धाराएँ अवरुद्ध सी हो गयीं। चरित्रप्रधान उपन्यासों के तीन रूप विकसित हुए—उपदेशात्मक, प्रयोगात्मक और कलापूर्ण। इन तीनों धाराओं के उपन्यासों की प्रचुर संख्या में रचना हुई लेकिन कलापूर्ण-चरित्र प्रधान उपन्यासों का सर्वाधिक प्रचलन हुआ। इस कोटि के उपन्यासों में सामयिक जीवन की अत्यंत व्यापक अभिव्यक्ति हुई है। उनमें युग की सर्वतोन्मुखी चेतना के स्वर मुखर हैं तथा उनके चरित्रों की भूमिका सामाजिक है। भाव प्रधान उपन्यासों में कवित्वपूर्ण शैली का आग्रह मिलता है, उनमें कथानक अथवा चरित्र की अपेक्षा पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण प्रमुख रहा है।

इसी समय चरित्र प्रधान उपन्यासों में एक विशेष प्रवृत्ति का उदय हुआ, जो 'प्राकृतवादी' कही जाती है। चरित्र प्रधान उपन्यासों की यह धारा अपने मूल में पाश्चात्य है और हिन्दी में इसकी अवतारणा सम्भवतः पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क के प्रभाव स्वरूप हुई। प्राकृतवानी विचारधारा नव्य वैज्ञानिक अनुसंधानों की उपलब्धियों द्वारा निर्मित जीवन के सत्यों की अभिव्यक्ति का अभियान लेकर अग्रसर हुई। यूरोप में इस प्रकार की प्रवृत्ति सर्वप्रथम फ्रेंच साहित्य में विकसित हुई थी, तदनंतर अँगरेजी साहित्य में इसका आविर्भाव हुआ। अँगरेजी के सम्पर्क से प्राकृतवादी उपन्यासों की परम्परा हिन्दी में भी विकसित हुई। हिन्दी में प्राकृतवादी उपन्यासों की रचना में आचार्य चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा उग्र, इलाचंद्र जोशी, ऋषभचरण जैन आदि लेखक प्रयोगोन्मुख हुए। लेकिन प्राकृतवादी दृष्टि हिन्दी में विशेष विकास नहीं प्राप्त कर सकी और उपन्यासों की यह धारा अवरुद्ध सी हो गई।

इस प्रकार विकास युग में प्रेमचंद और उनके समसामयिकों के द्वारा हिन्दी उपन्यास विविध रूप सम्पन्न होकर गतिशील हुआ। उसके वस्तु तत्व को विविध स्रोतों से सम्पन्नता प्राप्त हुई तथा प्रयोगों की एकरूपता ने उसके शिल्प को व्यापकता प्रदान की। प्रेमचंद के सामयिक एवं परवर्ती हिन्दी उपन्यास साहित्य पर प्रेमचंद के आदर्शों की छाप बहुत दूर तक दिखाई पड़ती है। प्रेमचंद द्वारा निर्धारित मान्यताओं और आदर्शों के आधार पर उपन्यासों की रचना करने वालों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', भगवतीप्रसाद वाजपेयी और भगवतीचरण वर्मा उल्लेखनीय हैं। इनमें से कौशिक ने प्रेमचंद की उपन्यास कला के आदर्शों को अत्यंत व्यापक और यथार्थ स्तर पर ग्रहण किया। अतएव वे कला की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास को कोई नवीनता

नहीं दे सकें। भगवती प्रसाद वाजपेयी प्रारम्भ में तो प्रेमचंद का ही प्रभाव लेकर चले थे लेकिन तदन्तर उनके उपन्यासों में मनोविज्ञान का स्वर प्रखर होता गया। इसीलिए उनके उपन्यासों में मनोविज्ञान-आश्रित दृश्य चित्रों की प्रमुखता दिखाई पड़ती है। वे पात्रों और परिस्थितियों के अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण की ओर उन्मुख हुए हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की इस नव्य दृष्टि ने हिन्दी उपन्यास को वैयक्तिक चरित्र सृष्टि और मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। लेकिन उनकी उपन्यास कला का यह उपक्रम अपने समग्र रूप में बहुत सफल नहीं हो सका। मनोवैज्ञानिकता के आग्रह में उपन्यास की सामाजिक चेतना को आघात पहुँचा और चरित्र-चित्रण भी अतिशय सैद्धान्तिक और मनोवैज्ञानिक हो गया। अतएव कुल मिलकर भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रेमचंद से आगे नहीं बढ़ सके। भगवतीचरण वर्मा ने सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक स्तर पर नैतिक प्रश्न उठाए। उनका 'चित्रलेखा' नामक उपन्यास इसी दृष्टि को लेकर सामने आया जो अनातोले फ्राँस की 'थाया' की समान भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। लेकिन वे मनोवैज्ञानिक धरातल पर नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा सफलतापूर्वक नहीं कर पाए। इसीलिए वे भी प्रेमचंद से आगे नहीं जा सके।

इस प्रकार सन् १९३६ तक के हिन्दी उपन्यास के विकास में प्रेमचंद का सर्वाधिक योग रहा। उनके उपरांत हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में जैनेन्द्र कुमार का नाम महत्त्वपूर्ण है। एक प्रकार से उन्होंने प्रेमचंद के कार्य को आगे बढ़ाया। प्रेमचंद की दृष्टि मुख्य रूप से ग्रामों तक ही सीमित थी और ग्रामों के ही सामाजिक जीवन का उनके उपन्यासों में प्रमुख रूप से चित्रण हुआ है। जैनेन्द्र ने नगरों के सामाजिक जीवन से अपने उपन्यासों के वस्तुतत्त्व को सम्पन्न बनाया। जैनेन्द्र का प्रसिद्ध उपन्यास 'सुनीता' इसी नवीन आदर्श को लेकर अग्रसर हुआ है। उन्होंने अपनी इस कृति में मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक विशेषताओं के चित्रण का अत्यंत सफल प्रयास किया है। लेकिन आगे चलकर मनोवैज्ञानिक चित्रणों की अतिशयता और दार्शनिक अभिव्यक्तियों के प्रति उनका आग्रह बढ़ने लगा जिसके प्रभाव स्वरूप उनकी रचनाएँ अधिक सफल नहीं हो सकीं। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों में प्रभावमत्ता के अभाव का यही कारण है। जैनेन्द्र की व्यक्तिपरक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि का प्रयोग एक सीमा तक भगवतीप्रसाद वाजपेयी और सियारामशरण गुप्त ने भी किया। लेकिन वे अपने प्रयोगों में सफल नहीं हो सके।

जैनेन्द्र के उपरान्त हिन्दी उपन्यास अनेक धाराओं में विकसित हुआ। पहली धारा तो मनोविश्लेषणप्रधान उपन्यासों की है, जिसपर पश्चिम के फ्रायड, एडलर, युंग आदि मनोवैज्ञानिकों की विचारधाराओं और मान्यताओं का प्रभाव है। इनकी विचारधारा के प्रभाव से उपन्यास में दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला। मनोविज्ञान की इस नवीन भूमिका में अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, द्वारिका प्रसाद आदि ने अनेक उपन्यासों की रचना की। इन तीनों उपन्यासकारों के प्रायः सभी उपन्यास मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर लिखे गए हैं। लेकिन मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की दिशा में सबसे अधिक सफलता अज्ञेय को मिल सकी। उनका 'शेखर : एक जीवनी' नामक उपन्यास मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। उन्होंने फ्रायड, हैवेलाक, एलिस, एविंग आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों पर आश्रित अनेक प्रयोगात्मक स्थलों की योजना कर मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन किया है। इस समय के हिन्दी उपन्यासों की दूसरी धारा साम्यवादी उपन्यासों की है। साम्यवादी उपन्यासों की धारा का

विकास मार्क्स दर्शन की भूमिका में हुआ है। मार्क्स दर्शन की विविध मान्यताओं के आधार पर रचना करने वाले उपन्यासकारों में यशपाल, अमृतराय, नागार्जुन, रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, राहुल सांस्कृत्यायन, विष्णु प्रभाकर आदि उल्लेखनीय हैं। लेकिन मार्क्सवादी सिद्धान्तों की जितनी सफल और व्यापक अभिव्यक्ति यशपाल के उपन्यासों में मिलती है, उतनी अन्यत्र नहीं। यशपाल के उपन्यासों में साम्यवादी सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति के साथ विशाल और निर्बाध जीवन की परिस्थितियों का भी चित्रण हुआ है। इसीलिए उनके अधिकांश उपन्यास सफल बन पड़े हैं। तीसरी धारा ऐतिहासिक उपन्यासों की है, जिसका सूत्रपात विकास युग में ही हो गया था। कथा प्रधान उपन्यासों की यह धारा इतिहास के विविध युगों से सम्बन्धित इतिवृत्तों का आधार लेकर अग्रसर हुई है। इस परम्परा के उपन्यासकारों में बृंदावनलाल वर्मा के अतिरिक्त रांगेय राघव, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, चतुरसेन शास्त्री आदि उल्लेखनीय हैं। इन सभी ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृंदावनलाल वर्मा अग्रणी हैं। उन्होंने भारतीय इतिहास के मध्य और आधुनिक युगों से इतिवृत्तों का चयन कर अपने उपन्यासों की रचना की है।

आज अनेक प्रयोगशील उपन्यासकार अपनी कृतियों द्वारा उपन्यास साहित्य को सम्पन्नता प्रदान कर रहे हैं। अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा आज उपन्यासकार अपने युग को अभिव्यक्ति देने में सर्वाधिक सक्षम सिद्ध हो रहा है। उसकी दृष्टि का क्षितिज उत्तरोत्तर विकसित होता दिखाई पड़ता है। वर्तमान उपन्यासकारों में गोविंद वल्लभ पंत, ऊषादेवी मित्र, मोहनलाल महतो, उदयशंकर भट्ट आदि उल्लेखनीय हैं। इधर विगत दशाब्दि में हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में डॉ० धर्मवीर भारती, सच्चिदानंद पांडेय, मन्मथनाथ गुप्त, विनोद शंकर, हंसराज रहबर, रजनी पनिकर, डॉ० देवराज, फणीश्वरनाथ रेणु आदि अनेक नवीन प्रतिभाएँ प्रकाश में आई हैं। इन उपन्यासकारों की कृतियों में उपन्यास की विविध धाराओं और प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। शैली की दृष्टि से भी हिन्दी उपन्यासों में अनेकरूपता पल्लवित हो रही है। कुल मिलाकर हिन्दी उपन्यास अपनी वर्तमान अवस्था में विकासशील है। उसमें वस्तु और शिल्प की दिशाओं में विकास की अनंत सम्भावनाएँ ज्ञात होती हैं।

(ख) कहानी—कथा साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण रूप कहानी है। व्यापकता और प्रसार की दृष्टि से कहानी का भी अपना वैशिष्ट्य है। उपन्यास के समान इसे भी आधुनिककाल में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई है। हिन्दी कहानी के उद्भव और विकास पर प्राचीन भारतीय कथा साहित्य और पाश्चात्य कथा साहित्य का सम्मिलित प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त वह भारत की लोक कथाओं की परम्परा से भी प्रभावित मानी जाती है। लेकिन आधुनिक कहानी का रूप-विधान बहुत सीमा तक पाश्चात्य प्रभाव से निर्मित हुआ है। हिन्दी कहानियों का आविर्भाव सामान्य रूप से 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ माना जाता है। आचार्य द्विवेदी के सम्पादन में प्रकाशित इस पत्रिका के प्रारम्भिक दो वर्षों में हिन्दी कहानी के रूप निर्माण के यत्न दिखाई पड़ते हैं। इस समय 'सरस्वती' के माध्यम से जो कहानियाँ प्रकाश में आईं उनमें अनेकरूपता को प्रश्रय मिला है। इस समय कुछ कहानियाँ शेक्सपियर के नाटकों के कथानकों के आधार पर लिखी गईं। कुछ कहानियाँ स्वप्न कल्पनाओं, काल्पनिक चरित्रों, काल्पनिक यात्रा वर्णनों, आत्म कथाओं और संस्कृत नाटकों की आख्यायिकाओं का आधार लेकर लिखी गईं। कहानी-शिल्प की दृष्टि से यद्यपि

इस प्रकार की कहानियों में मौलिकता का अभाव दिखाई पड़ता है, तथापि हिन्दी कहानियों के आगामी विकास में इन कहानियों ने एक प्रकार से शिलान्यास का कार्य किया। 'सरस्वती' के प्रकाशन के तीसरे वर्ष रामचंद्र शुक्ल की हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाशित हुई। 'सरस्वती' के प्रकाशन ने हिन्दी कहानियों को विकास की अपूर्व भूमिका प्रदान की। उसके माध्यम से जहाँ अनेक मौलिक कहानियाँ प्रकाश में आईं वहीं उसमें बँगला और अँग्रेजी की कहानियों के अनुवाद भी समय-समय पर प्रकाशित हुए। सन् १९०६ से 'सरस्वती' में मौलिक कहानियों के प्रकाशन को बल मिला और १९१० ई० तक उसके माध्यम से वंकटेश-नारायण, पं० सूर्यनारायण दीक्षित और वृंदावनलाल वर्मा जैसे कहानीकार प्रकाश में आए।

हिन्दी कहानियों की प्रारम्भिक गतिविधि को बल देने में काशी की पत्रिका 'इन्दु' ने भी पर्याप्त योग दिया। 'इन्दु' का प्रकाशन सन् १९०९ ई० में प्रारम्भ हुआ। उसके माध्यम से प्रसादजी ने कहानी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रसादजी की प्रारम्भिक महत्त्वपूर्ण कहानियाँ इन्दु में ही प्रकाशित हुईं। 'प्रसाद' के उपरांत पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा ने इन्दु के माध्यम से इस क्षेत्र में प्रवेश किया। इन दोनों मौलिक कहानीकारों को प्रकाश में लाने के अतिरिक्त इन्दु का अनूदित कहानियों की परम्परा को भी विकसित करने में पर्याप्त योग रहा है। इन्दु समय-समय पर बँगला के मौलिक कहानीकारों की तथा 'प्रवासी' नामक बंगला पत्र में प्रकाशित होने वाली अनेक कहानियों के अनुवाद प्रकाशित हुए। इस प्रकार हिन्दी कहानी को उसके उद्भवकाल में सम्पन्नता प्रदान करने में इन्दु का असंदिग्ध महत्त्व है। हिन्दी में बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक तक सम्भवतः कहानी की लोकप्रियता पर्याप्त बढ़ चुकी थी, क्योंकि सन् १९१८ में काशी से 'हिन्दी गल्प माला' नामक कहानी के एक अन्य मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। 'हिन्दी गल्प माला' ने भी हिन्दी कहानी की शिल्प विधि के विकास में पर्याप्त योग दिया। इस पत्रिका के माध्यम से जी० पी० श्रीवास्तव, इलाचंद जोशी आदि कहानी लेखकों की प्रतिभा प्रकाश में आई। प्रसादजी की भी अनेक कहानियाँ 'हिन्दी गल्प माला' में प्रकाशित हुईं। अस्तु, हिंदी कहानियों की प्रारम्भिक दिशा के निर्धारण में सरस्वती, इन्दु और हिन्दी गल्प माला के योग को असंदिग्ध रूप से स्वीकार करना होगा। इन पत्रिकाओं से हिन्दी कहानियों को लोक-प्रियता मिली और उनका एक पाठक वर्ग भी तैय्यार हुआ।

हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियों के कथानक की योजना में कुतूहल प्रधान आकस्मिक और दैवी घटनाओं का पर्याप्त योग लक्षित होता है। लेकिन जब हिन्दी कहानी विकासोन्मुख हुई तो उसकी प्रकृति में परिवर्तन आया, कहानियों के कथानक विकास में चरित्रों को विशेष महत्ता प्राप्त हुई तथा चरित्र-चित्रण के मनोवैज्ञानिक आधार को प्रमुखता मिली। हिन्दी कहानी में मनोवैज्ञानिक कथानकों का सूत्रपात सन् १९१६ में प्रकाशित प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'पंच परमेश्वर' से हुआ। उनके अतिरिक्त हिन्दी कहानी की मनोवैज्ञानिक भूमिका के निर्माण में 'हिन्दी गल्पमाला' ने भी पर्याप्त योग दिया। इस समय 'सरस्वती' के माध्यम से चंद्रधर शर्मा गुलेरी और प्रेमचंद भी कहानी रचना के क्षेत्र में आए। सन् १९२५ ई० तक हिन्दी कहानी का क्षेत्र व्यापक और उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि सम्पन्न होती हुई लक्षित होती है। लेकिन मुख्य रूप से कहानियों की दो परम्पराओं का विकास हुआ, यथार्थवादी और आदर्शवादी इनमें से प्रथम का

उन्नयन प्रेमचंद, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा और पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने किया तथा द्वितीय का चण्डी प्रसाद हृदयेश और राधिकारमण प्रसाद सिंह ने। इस सम्बंध में यह ज्ञातव्य है कि कहानी की यथार्थवादी और आदर्शवादी धाराओं के विकास में योग देने वाले प्रायः अधिकांश कहानीकार उपन्यासकार भी थे। अतः कहानियों में भी प्रकारान्तर से उनकी उपन्यासों की ही दृष्टि प्रतिफलित हुई है।

इन दोनों धाराओं के माध्यम से हिन्दी कहानी पर्याप्त सम्पन्न हुई तथा उसमें शिल्प-विधि की अनेक दिशाएँ उद्घाटित हुईं। सन् १९३० तक हिन्दी कहानियों के चरित्र प्रधान, वातावरण प्रधान, कथानक प्रधान, कार्यप्रधान आदि प्रमुख रूपों का विकास स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता। हिन्दी कहानी में इन रूपों के विकास के साथ शैलीगत विविधता भी विकसित हुई। इस समय तक की कहानियों में वर्णनात्मक, संलाप, आत्म चरित, पत्र और डायरी शैलियों का भी विकास वस्तु तत्व के समानांतर हुआ। लेकिन इनमें सर्वाधिक प्रचलन वर्णनात्मक शैली का दिखाई पड़ता है। प्रेमचंद के समय तक हिन्दी कहानियों के यही रूप और शैलीगत प्रकार परिलक्षित होते हैं।

प्रेमचंद के उपरांत हिन्दी कहानी नवदिशोन्मुख होकर विकसित हुई। प्रेमचंद के कहानी साहित्य पर उनके उपन्यास साहित्य की विचारधारा और शैली का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः उनकी कहानियों में भी यथार्थोन्मुख आदर्श को प्रश्रय मिला। उनका दृष्टिकोण मूलतः सुधारवादी था। सुधारवादी की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न हो जाने के बाद हिन्दी कहानियों का संघर्ष और संक्रान्ति युग प्रारम्भ हुआ। उपन्यासों के समान कहानियों में भी मध्य वर्ग की समस्याओं को प्रवेश मिला तथा उनके मनोवैज्ञानिक समाधान खोजे गए। परिणामतः कहानी में यथार्थ को व्याप्ति मिली और नवीन संकेतों तथा जीवन सत्यों की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति विकसित हुई। लेकिन प्रेमचंद के आदर्शों को लेकर अब भी अनेक कहानीकार चलते रहे। इनमें जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा और भगवतीप्रसाद बाजपेयी प्रमुख हैं। इन सभी ने शैली के क्षेत्र में नवीन प्रयोग किए और हिन्दी कहानी को मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार प्रेमचंद के उपरांत हिन्दी कहानियों की दो प्रमुख धाराएँ विकसित हुईं। प्रथम धारा के कहानीकार प्रेमचंद की मान्यताओं को लेकर चलते रहे। उनकी कहानियों में सामाजिक तत्त्वों को प्रश्रय मिला। लेकिन दूसरी धारा के कहानीकारों ने कहानी कला में मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक विश्लेषणों को मान्यता दी। अपने उपन्यासों के समान अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी ने अपनी कहानियों में भी यह प्रवृति अपनाई। इनके अतिरिक्त हिन्दी कहानियों की दो अन्य धाराएँ भी महत्वपूर्ण हैं। इनमें रोमानी चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। रोमानी प्रवृत्ति के कहानीकारों में अश्क, डॉ० धर्मवीर भारती, शम्भूनाथ सिंह आदि प्रमुख हैं। इनकी कहानियाँ समाज की संघर्षशील चेतना का वहन कर सकने में असमर्थ रही हैं। उपर्युक्त कहानीकारों के अतिरिक्त इस समय के अन्य अनेक कहानीकार भी उल्लेखनीय हैं, जैसे श्रीराम शर्मा, देवीदयाल चतुर्वेदी, आरसी प्रसाद सिंह आदि लेकिन ये सभी कहानीकार कहानी की वास्तविक दिशा नहीं पहिचान सके।

व्यापक युगबोध तथा नवीन जीवन दृष्टि की भूमिका में कहानी लिखने वालों में यशपाल का नाम महत्वपूर्ण है। साम्यवादी आदर्शों की स्फुट अभिव्यक्ति यशपाल की कहानियों में

देखी जा सकती है। उन्होंने समाज की रूढ़िवादी मान्यताओं और पूँजीवादी व्यवस्था के अभावों पर प्रहारकरने के प्रयोजन से सामाजिक संदर्भों को अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी है। यशपाल का प्रभाव उनके सामयिक कहानीकारों की कहानीकला पर भी पड़ा है। उनसे प्रभावित कहानी-कारों में अश्क, राधाकृष्ण, विष्णु प्रभाकर, रांगेय राघव, अमृतराय, प्रभाकर माचवे, अमृतलाल-नागर आदि प्रमुख हैं। यशपाल की पीढ़ी के परवर्ती कहानीकारों का एक वर्ग और है जो हिन्दी कहानी में नवीन प्रयोगों को प्रश्रय दे रहा है। हिन्दी कहानी की वर्तमान गतिविधि के नियमन में कृष्णा सोवती, ओंकार शरद, भीष्म सहानीं, मोहन राकेश, रमेश वख्शी, गिरीश अस्थाना आदि संलग्न हैं। हिन्दी कहानी के कुछ अन्य संदर्भ भी महत्त्वपूर्ण हैं। भगवतशरण उपाध्याय और राहुल सांकृत्यायन ने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कहानियाँ लिखी हैं, जिनका अपना वैशिष्ट्य है। इसी प्रकार सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा की कतिपय अनुभूतिपरक कहानियाँ भी प्रयोग की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार हिन्दी कहानी अपने उद्भव काल से लेकर आज तक विकासोन्मुख रही है। उद्भवकाल में कहानी का प्रमुख तत्त्व कथानक था और उसके संगठन में ही कहानीकार की कुशलता समझी जाती थी। तदनन्तर वर्णन-वैचित्र्य की कला को प्रधानता मिली। आगे चल कर हिन्दी कहानी में कथानक की स्थिति गौण पड़ती गई तथा उसमें चित्रण-कला को विशेष प्रश्रय मिला। मनोविज्ञान से पुष्ट होकर हिन्दी कहानीकारों ने चरित्र-चित्रण का अत्यन्त व्यापक धरातल ग्रहण किया। इस स्थिति में हिन्दी कहानी की भाषा में भी परिष्कार तथा प्रयोग वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। वर्तमान स्थिति में हिन्दी कहानी में संवेदना पर बल देकर मानव मन और समाज की विविध समस्याओं के मनोवैज्ञानिक एवं बौद्धिक विश्लेषण की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। हिन्दी कहानी का युगबोध भी विकासशील रहा है तथा अपनी सीमा में उसने विविध-स्तरों पर युग की विभिन्न संवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

नाटक :—हिन्दी नाटकों का उत्स मध्ययुग की पद्यबद्ध ब्रजभाषा नाट्य परम्परा में खोजा जाता है। लेकिन मध्ययुग की जिन अनेक कृतियों का नाटकों के रूप में उल्लेख किया जाता है, उनको आधुनिक दृष्टि से नाटकों की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। वे कथाओं के पद्यात्मक वर्णन मात्र हैं। वस्तुतः हिन्दी नाटकों का वास्तविक सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी उतरार्द्ध में भारतेंदु के पिता गिरधरदास द्वारा रचित 'नहुष' नामक नाटक से हुआ। इसके उपरांत हिन्दी नाटक का सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप भारतेंदु की नाट्य कृतियों में दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य सम्पर्क से देशमें नवीन चेतना का उदय हुआ तथा इसका प्रभाव हिन्दी नाटकों की प्रारम्भिक गतिविधि पर भी पड़ा। अंग्रेज़ों ने मद्रास, कलकत्ता, बम्बई, पटना आदि नगरों में मनोरंजन के उद्देश्य से अनेक अभिनयशालाओं की स्थापना की। पाश्चात्य रंगमंच ने प्रारम्भ में भारतीय शिक्षित वर्ग का ध्यान आकृष्ट किया, जिसके प्रभाव से शेक्स-पियर के नाटकों का अध्ययन भारत का शिक्षित वर्ग करने लगा। साथ ही 'शकुन्तला' जैसे सर्व-श्रेष्ठ संस्कृत नाटक के कई अनुवाद फोर्ट विलियम कालेज में प्रस्तुत किए गए। इस प्रकार मध्य-युग की विशृंखल नाट्य परम्परा और पाश्चात्य सम्पर्क ने आधुनिक हिन्दी नाटकों के अभ्युदय में सम्मिलित योग प्रदान किया।

भारतेंदु के उदय के साथ हिन्दी नाटकों के प्रारम्भिक विकास की दिशा स्पष्ट होती है। उन्होंने अनेक मौलिक और अनूदित नाट्य कृतियों की रचना की। भारतेन्दु के नाटकों की वस्तु का धरातल व्यापक है। उनमें सामाजिक, राजनैतिक, पौराणिक और प्रेम सम्बन्धी विषयों को प्रवेश मिला है। भारतेंदु जी ने अपने नाटकों में यथासम्भव नवीनता का उन्मेष भरने का यत्न किया तथा एक सीमा तक पाश्चात्य नाट्य शैली को भी अपनाने की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त उन्होंने नाटकों की रंगमंचीय उपादेयता भी अपनी दृष्टि में रक्खी और अपने नाटकों में आधुनिकता के समावेश का यत्न किया। लेकिन समग्र रूप में भारतेंदु परम्परा के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो सके। साथ ही भारतेंदु अपने युग के प्रति भी इतने अधिक जागरूक थे कि उनकी प्रतिभा का अधिकांश नाटकों की वस्तुगत विविधता के निर्माण में ही नियोजित हुआ और वे अपने नाटकों में आधुनिकता की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं कर सके। भारतेन्दु ने अपने युग की सर्वतोन्मुखी परिस्थितियों के चित्रण के साथ अपने मानस को भी अभिव्यक्ति दी है। सम्भवतः इसीलिए उनकी रत्नावली, विद्या सुन्दर, प्रवास नाटक, पाखण्ड विडम्बन, धनञ्जय-विजय, वैदिकी हिंसा न भवति, मुद्राराक्षस, प्रेम योगिनी, सत्य हरिश्चन्द्र, कर्पूरमंजरी, विषस्य-विषमौसधम्, भारत-दुर्दशा, चन्द्रावली, भारत जननी, नील देवी, दुर्लभ बंधु, अंधेर नगरी, सती-प्रताप आदि नाट्य कृतियों में वस्तु की अनेक रूपता मिलती है। अपने नाटकों में एक ओर भारतेन्दु जी जहाँ वैष्णव भक्त हैं वहीं दूसरी ओर देश प्रेम और राष्ट्रीयता के उन्नायक भी हैं। वे केवल व्यक्तिनिष्ठ कलाकार नहीं थे वरन् वे कलाकार के सामाजिक दायित्व से भी भली प्रकार परिचित थे। इसीलिए उनके नाटक आत्मतोष और परतोष की द्विविध चेतना से अनुप्राणित हैं।

भारतेंदु के सामयिक नाटककारों में श्री निवासदास, राधाकृष्णदास किशोरीलाल गोस्वामी, आदि ने भी हिन्दी नाटकों के प्रारम्भिक विकास में पर्याप्त योग दिया। इनके अतिरिक्त देवकीनंदन त्रिपाठी, अम्बिका दत्त व्यास, ज्वाला प्रसाद मिश्र, प्रताप नारायण मिश्र आदि अन्य ऐसे नाटककार भी हुए जिन्होंने केवल जन रुचि के परितोष तथा समाज सुधार के लिए ही नाटकों की रचना की। इनके नाटकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है तथा उनमें शिल्प की किसी शास्त्रीय मर्यादा का पालन नहीं मिलता। अतएव भारतेन्दु के नाटकों की तुलना में उपर्युक्त नाटकारों की नाट्यकला न तो प्रशस्त ही कही जा सकती है और न समाज सुधार तथा मनोरंजन के अतिरिक्त उसका कोई अन्य महत्वपूर्ण प्रयोजन ही ज्ञात होता है। भारतेंदु ने अपने नाटकों के शिल्प विधान में संस्कृत और बंगला के नाटकों से भी प्रेरणा ग्रहण की थी, लेकिन हिन्दी के अपने रंगमंच के अभाव में वे उससे पूर्ण रूपेण लाभान्वित नहीं हो सके।

उन्नीसवीं शताब्दी की हिन्दी नाट्य परम्परा में अनूदित नाटकों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस युग में संस्कृत अंग्रेजी और बंगला के अनेक नाटकों के अनुवाद किए गए। अनूदित नाट्य परम्परा के विकास में भारतेंदु ने स्वयं भी पर्याप्त योग दिया। राजा लक्ष्मणसिंह, और लाला सीताराम ने कालिदास, भवभूति, शूद्रक, हर्षदेव आदि नाटककारों के अनेक नाटकों का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त श्री देवदत्त तिवारी, रामेश्वर भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, ज्वाला-प्रसाद मिश्र, कृष्णदेव शर्मा, शीतलाप्रसाद सिंह आदि अनुवादकों ने भी भवभूति, हर्ष, कृष्ण-मिश्र आदि संस्कृत नाटककारों के नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। अंग्रेज़ी से सबसे अधिक

अनुवाद शेक्सपियर के नाटकों के हुए। भारतेन्दु का शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट ऑव वेनिस' का 'दुर्लभ बंधु' नाम से अधूरा अनुवाद मिलता है। इसके अतिरिक्त रत्नचन्द्र ने 'कामडी ऑव एरर्स' का 'भ्रम जालक', पुरोहित गोपीनाथ ने 'एज़ यू लाइक इट' तथा 'रोमियों एण्ड ज्यूलियट' के अनुवाद क्रमशः 'मनभावन' और 'प्रेमलीला' नाम से किए। इसी प्रकार मथुरा प्रसाद उपाध्याय ने 'मैकबेथ' का अनुवाद 'साहसेन्द्र साहस' नाम से किया। अंग्रेज़ी से अनूदित नाटकों के द्वारा हिन्दी प्रदेश की जनता को अंग्रेज़ी नाटकों की परम्परा से परिचय प्राप्त हुआ तथा हिन्दी नाटककारों ने यह अनुभव किया कि हिन्दी नाटक और रंगमंच अभी तक कितने पिछड़े हुए हैं। बंगला नाटकों के अनुवादों की परम्परा को विकसित करने में रामकृष्ण वर्मा और उदितनारायण का महत्त्वपूर्ण योग रहा। उन्होंने मधुसूदन दत्त, द्वारिकानाथ गाँगुली, और राजकिशोर डे आदि के अनेक बंगला नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। संस्कृत, अंग्रेज़ी और बंगला से अनूदित नाटकों का मौलिक नाटकों की रचना में जो भी योग रहा हो, लेकिन इतना निश्चित है कि अनूदित नाटकों द्वारा जनरुचि को परिष्कृत करने में पर्याप्त सहायता मिली। उस पर पारसी कम्पनियों के पड़ते हुए कुरुचिपूर्ण प्रभाव को रोकने में अनूदित नाटकों के योग का महत्व असंदिग्ध है।

भारतेन्दु के उपरान्त कुछ समय के लिए हिन्दी नाटकों की परम्परा में गतिरोध उत्पन्न हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के अन्त के तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के अनेक वर्ष नाटक रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते। यह युग वस्तुतः नाटक रचना के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भाषा के परिष्कार और आदर्शीकरण में संलग्न रहे। उन्होंने साहित्य के प्रतिमान भी निश्चित किए लेकिन काव्य के माध्यम से क्योंकि उन्हें काव्यभाषा और युगानुरूप काव्यादर्शों का प्रतिपादन अभीष्ठ था। इसके अतिरिक्त इस समय के जीवन की सर्वतोन्मुखी गतिविधि भी नाटक रचना के प्रतिकूल सिद्ध हुई।

इस समय आर्य समाज के प्रचार से लोकरुचि शास्त्रार्थ और सैद्धान्तिक चर्चा के प्रति जागरुक हुई और वह नाटकों के प्रति विशेष उत्सुक भी नहीं थी। शास्त्रीय तर्क-वितर्क के लिए न तो नाटको में अवकाश ही था और न उससे नाटक की कलात्मकता को कोई उत्कर्ष ही मिल सकता था। सच तो यह है कि, इस समय किसी असाधारण प्रतिभा के नाटककार की आवश्यकता थी जो नाट्य परम्परा और युग की आवश्यकताओं का परिशीलन कर नाटकों का प्रणयन करती। अंग्रेजी कामेडी के प्रभाव से हिन्दी में प्रहसनों की रचना की बाढ़ सी आ गई जिनमें रचनाकारों की व्यंग दृष्टि का अभिव्यक्तीकरण हुआ है। इन सब कारणों से इस समय हिन्दी नाटक विशेष प्रगति नहीं कर सका। सामयिक प्रवाह से प्रभावित होकर पुनरुत्थानवादी चेतना साहित्य में भी अवतरित हो रही थी, जिसके प्रभावस्वरूप बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय के हिन्दू संस्कृति के प्रतिपादक कुछ नाटकों के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किए गए। साहित्यिक नाटकों की गतिरोध की इस अवस्था में भी कुछ नाटककार नाटक रचना में संलग्न रहे। इनमें हरिऔध, ज्वालाप्रसाद मिश्र, शिवनंदन सहाय, राय देवीप्रसाद पूर्ण, बलदेव मिश्र आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटककारों की दृष्टि पुनरुत्थानवादी है। इन्होंने अपने नाटकों की रचना में अधिकतर इतिहास और पुराण की सामग्री का उपयोग किया है। इनके नाटकों का युगबोध अत्यन्त शिथिल

है, तथा इस दृष्टि से उनको कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इसी समय साहित्यिक नाटकों की अभावपूर्ण स्थिति का लाभ उठाकर राधेश्याम कथावाचक, आगाहश्र, हरिकृष्ण जौहर आदि ने लोकरुचि को परितुष्ट करने वाले नाटकों की रचना की। इनके नाटकों में कलात्मकता का अभाव प्रत्यक्ष है।

सन् १९१५ के आसपास हिन्दी नाटकों का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। नाटकों के इस पुनरुत्थान में योग देने वालों में बद्री नारायण भट्ट, माधव शुक्ल और माखनलाल चतुर्वेदी उल्लेखनीय हैं। इसके उपरान्त प्रसाद के आगमन से हिन्दी नाटकों की परम्परा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। उनके द्वारा हिन्दी नाटक को कलात्मक उत्कर्ष प्राप्त हुआ। प्रसाद के नाटक संख्या में पर्याप्त हैं तथा उनमें कथा शिल्प की अनेकरूपता और प्रौढ़ता मिलती है। सज्जन, कल्याणी-परिणय, करुणालय, प्रायश्चित, और विशाख प्रसाद की प्रारम्भिक नाटक रचनाएँ हैं, जो उनकी नाट्यकला के आगामी विकास की सूचना देती हैं। राज्यश्री, अजातशत्रु, कामना, जन्मेजय का नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, एक घूँट, चंद्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि कृतियाँ उनके प्रौढ़ नाटककार के व्यक्तित्व की प्रमाण हैं। इन नाटकों की कथावस्तु इतिहास और पुराण से ली गई है, लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से इतिहास का उपयोग अधिक हुआ है। प्रसाद के उपर्युक्त नाटकों में शिल्प के कुछ नवीन प्रयोग भी मिलते हैं, जो परम्पराश्रित और मौलिक दोनों ही प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ, कामना एक रूपात्मक नाट्य कृति है सज्जन, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित और एक घूँट एकांकी की छाप लिए हुए हैं और करुणालय एक गीति नाट्य है। जैसा कि संकेत किया जा चुका है कि प्रसाद के अधिकांश नाटक कथावस्तु की दृष्टि से ऐतिहासिक हैं तथा इनमें प्रसाद का सांस्कृतिक दृष्टिकोण पल्लवित हुआ है। इतिहास की भूमिका में प्रसाद जी ने अपने वर्तमान की अभिव्यक्ति की है। उनके पात्रों का व्यक्तित्व भी अनूठा है, उनका अन्तर्जगत द्वन्द्वात्मक चेतना से अनुप्राणित है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में प्रसाद जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि का भी स्पर्श दिया है। इसीलिए उनके पात्र कहीं-कहीं ऐतिहासिक नहीं मालूम पड़ते। प्रसाद के नारी पात्र उनके कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हैं। उनके चरित्रों में कवि प्रसाद की भावुकता, प्रेमभावना और व्यक्तिपरकता की प्रभावपूर्ण व्यंजना मिलती है। प्रसाद के नाटकों में यद्यपि हमें किसी सुव्यवस्थित और सुनियोजित चिन्तन का प्रयास नहीं मिलता तथापि उनके अधिकांश पात्र आदर्शवादी हैं और उनकी अपनी एक जीवन दृष्टि है। प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता पर प्रायः आक्षेप किया जाता है। उनके नाटकों की मूल चेतना उनकी साहित्यिकता है और उनके कवि व्यक्तित्व ने उनके नाटकों के रूप निर्माण में पर्याप्त सीमा तक योग दिया है। वस्तुतः प्रसाद के समक्ष रंगमंच का कोई आदर्श नहीं था। इसलिए उनके नाटकों में अभिनयगत विधान का कोई आग्रह भी नहीं मिलता। प्रसाद की कवि सुलभ भावुकता, आलंकारिक भाषा, गीत योजना, दृश्य संकेतों की अनुपस्थिति आदि अनेक ऐसे कारण हैं जो प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता में बाधक सिद्ध होते हैं। कदाचित् इसीलिए प्रसाद अपने प्रौढ़ावस्था के नाटकों में रंगमंचीय संकेतों के प्रति सजग दिखाई पड़ते हैं। ध्रुवस्वामिनी, स्कंदगुप्त आदि नाटकों में उनकी यह रंगमंचीय सजगता स्पष्ट है। प्रसाद के सभी ऐतिहासिक नाटकों में उनकी सांस्कृतिक दृष्टि भी अभिव्यक्त हुई है। इतिहास की अनेक

घटनाएँ अपनी सांस्कृतिक प्रतिक्रिया के साथ प्रायः उनके सभी नाटकों में देखी जा सकती हैं। प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों में आदि से अंत तक एक भावात्मक चेतना विकसित हुई है तथा इतिहास के आलोक में उन्होंने वर्तमान को देखा है। प्रसाद के नाटकों की यह चेतना एक सीमा तक पुनरुत्थानवादी कही जा सकती है। कुल मिलाकर प्रसाद जी ने हिन्दी नाटकों को नवदिशोन्मुख किया और उनका नाटककार का कृतित्व हिन्दी नाटकों के पुनरुत्थान की विराट चेष्टा है। इसीलिए हिन्दी नाटकों के इतिहास में उनका युग 'प्रसाद युग' कहा जाता है।

अनूदित नाटकों की जिस परम्परा का सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हुआ था, वह बीसवीं शताब्दी में भी विकसित होती रही। इस युग में संस्कृत नाटकों के अनुवाद अपेक्षाकृत कम संख्या में हुए। मैथिलीशरण गुप्त, अतरचन्द कपूर, हरदयाल सिंह आदि ने भास, हर्ष आदि संस्कृत नाटककारों के नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। इस समय पाश्चात्य नाटकों के अनुवाद अपेक्षाकृत अधिक संख्या में हुए। अब अनुवादकों की दृष्टि केवल अंग्रेजी साहित्य तक ही सीमित नहीं रही, वरन् वह अन्य साहित्यों की ओर भी आकृष्ट हुई। इस युग में जिन पाश्चात्य नाटककारों के अनुवाद हुए उनमें अंग्रेजी के शेक्सपियर; गाल्सवर्दी, रूसी के टाल्स्टाय, फ्रेंच के मोलियर और जर्मन के शीलर के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बेल्जियम के कवि मारिस मेटरलिंक की नाटिकाओं के भावानुवाद भी हिन्दी में हुए। लेकिन यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त सभी अनुवाद मूल भाषाओं से न होकर अंग्रेज़ी के माध्यम से ही हुए। इस प्रकार अंग्रेज़ी ने अन्य भाषाओं के नाट्य साहित्य को हिन्दी में रूपान्तरित करने में मध्यस्थ का कार्य किया। बंगला नाटकों के भी अनुवादों के हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किए गए। जिनमें द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के रूपान्तर सबसे अधिक संख्या में हुए।

प्रसाद के समय तक हिन्दी नाटक की जो धाराएँ विकसित हुईं उनमें रोमांचकारी, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामयिक समस्याओं से सम्बंधित और प्रतीकवादी प्रमुख हैं। इन धाराओं के मध्यम से हिन्दी नाटकों में विषयगत और शिल्पगत अनेकरूपता पल्लवित हुईं। प्रसाद के अनन्तर नाटकों की उपर्युक्त धाराएँ किसी न किसी रूप में विकसित होती रहीं। लेकिन इनमें पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की धाराएँ सबसे अधिक सम्पन्न दिखाई पड़ती हैं। प्रसाद के बाद पौराणिक नाटकों की धारा को उदयशंकर भट्ट, गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामकुमार वर्मा आदि नाटककारों ने आगे बढ़ाया। ऐतिहासिक नाटकों की धारा को उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त हरिकृष्ण प्रेमी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, कैलाशनाथ भटनागर, उपेन्द्रनाथ अश्क, वृंदावनलाल वर्मा, सत्येन्द्र, आदि ने भी अग्रसर किया। इन सभी नाटककारों की नाट्य कृतियों में रंगमंचीय तत्त्वों को पर्याप्त प्रश्रय मिला है। उनमें विविध समस्याओं के माध्यम से अतीत और वर्तमान की एकरूपता प्रतिपादित हुई है। इसलिए सांस्कृतिक संदर्भों में प्रायः अधिकांश नाटककारों का युगबोध अत्यन्त व्यापक और जागरूक बन पड़ा है। लेकिन प्रसादोत्तर नाटक साहित्य की सर्वश्रेष्ठ और सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि समस्या नाटकों की परम्परा है। समस्या नाटकों के सूत्रपात से हिन्दी नाटकों की दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। नाटकों की यह धारा इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि किसी न किसी समस्या के माध्यम से युगजीवन की अभिव्यक्ति नाटक रचना की एक अनिवार्य शक्ति मानी जाने लगी है।

समस्या नाटकों में समस्या विशेष के माध्यम से अतीत और वर्तमान की एकरूपता का प्रतिपादन इसी का परिणाम है। हिन्दी में समस्या नाटकों की परम्परा इब्सेन और बर्नार्ड शा जैसे पाश्चात्य नाटककारों की रचनाओं के प्रभावस्वरूप विकसित हुई। हिन्दी के समस्यामूलक नाटककारों में प्रेमसहाय सिंह, लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि अग्रणी हैं। लेकिन हिन्दी में समस्या प्रधान नाटकों के सर्वश्रेष्ठ लेखक लक्ष्मीनारायण मिश्र माने जाते हैं। इन सभी नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना बुद्धिवादी दृष्टिकोण से की है। समस्या विशेष को उभारने और उसी को केन्द्र में रखकर नाटक की रूप रचना का उपक्रम समस्या नाटकों के आधार फलक को सीमित बना देता है। इनमें जीवन की अनेकरूपता के स्थान पर उसके एकदेशीय रूप का चित्रण किसी समस्या के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। समस्या नाटकों की दृष्टि बुद्धिवादी और आधार भूमि अधिकांशतः सामाजिक हैं।

प्रसाद के उपरांत हिन्दी नाटक परम्परा में एकांकी कला का तीव्रता से विकास हुआ। हिन्दी एकांकियों की परम्परा का स्रोत प्रायः संस्कृत नाटकों में खोजा जाता है लेकिन अपने वर्तमान रूप में हिन्दी एकांकी आधुनिक युग की ही उपज है। आज के मनुष्य के समस्या ग्रस्त और खंडित जीवन की अभिव्यक्ति एकांकियों का मुख्य प्रयोजन कहा जा सकता है। हिन्दी एकांकियों की परम्परा सन् १९३० के आसपास से विकसित होती हुई दिखाई पड़ती है। सन् १९२८ में प्रकाशित प्रसाद का एक घूँट हिन्दी का सर्वप्रथम व्यवस्थित एकांकी कहा जा सकता है। लेकिन एकांकी की कला का पूर्ण विकास और आदर्श रूप हमें रामकुमार वर्मा के एकांकी के क्षेत्र में प्रवेश से दिखाई पड़ता है। उनका पहला एकांकी 'बादल की मृत्यु' १९३० ई० के लगभग प्रकाशित हुआ था। उन्होंने एकांकी में यथार्थ का समुचित उपयोग किया तथा समस्या विशेष की मार्मिक संवेदनात्मक अभिव्यक्ति को एकांकी का मूल प्रयोजन स्वीकार किया है। डा० वर्मा एकांकी कला को प्रतिष्ठा और व्यवस्था प्रदान करने वाले हिन्दी के प्रथम महत्वपूर्ण एवं मौलिक एकांकीकार हैं। समाज के अतिरिक्त उन्होंने अपने एकांकियों की कथा-वस्तु इतिहास, विज्ञान, साहित्य आदि से भी ग्रहण की है। रामकुमार वर्मा के चारुमित्रा, औरंगजेब की आखिरीरात, पृथ्वीराज की आँखें, कौमुदी महोत्सव, मयूरपंख आदि एकांकी संग्रहों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। रामकुमार वर्मा के सभी नाटकों में प्रकारान्तर से उनका कवि व्यक्तित्व भी मुखरित हुआ है। हिन्दी नाटकों को मनोवैज्ञानिक तथा वस्तुगत और शैलीगत व्यापक धरातल देने में वे प्रसाद के परवर्ती सर्वश्रेष्ठ नाटककार कहे जा सकते हैं।

कथावस्तु की सामाजिक भूमिका ने एकांकी परम्परा को गतिशीलता प्रदान की। सन् १९३५ और उसके उपरांत हिन्दी में अनेक एकांकीकार प्रकाश में आए। इनमें भुवनेश्वर, गणेश-प्रसाद द्विवेदी, सत्येन्द्र, जगदीशचंद्र माथुर, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर आदि उल्लेखनीय हैं। इन एकांकीकारों ने समय-समय पर एकांकी के शिल्प में अनेक प्रयोग किए हैं।

इधर नये प्रयोगों के फलस्वरूप हिन्दी नाटक में कुछ नवीन रूपों का भी विकास हो रहा है। इनमें रेडियो रूपक और गीति नाट्य पर्याप्त लोकप्रिय हो रहे हैं। रेडियो नाट्य वस्तुतः

ध्वनि रूपक हैं। इन्हें रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। आज हिन्दी नाटकों की दिशा में प्रयोगों की आवश्यकता है, क्योंकि अभी हिन्दी नाटककारों के समक्ष युग की आवश्यकताओं को देखते हुए रंगमंच की स्थापना का कार्य शेष है।

निबन्ध—हिन्दी निबन्ध का सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हो गया था। इस समय पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क, भारतीय लोक जीवन में प्रसारित नवोदित चेतना, पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार आदि के परिणामस्वरूप हिन्दी में निबंध रचना की परम्परा का आविर्भाव हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हिन्दी निबंध के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का पर्याप्त योग दिखाई देता है और उनके माध्यम से हिन्दी निबंध लोक जीवन के निकट आया। इस समय का जो निबंध साहित्य उपलब्ध होता है, उसमें सामयिक समाज, धर्म, राजनीति, आचार-व्यवहार, प्राचीन-गौरव, इतिहास, विज्ञान मनोभाव आदि विषयों का समावेश मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के हिन्दी निबन्धकारों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी, भारतेंदु हरिश्चन्द्र आदि उल्लेखनीय हैं। इन निबंधकारों की साधना के परिणामस्वरूप हिन्दी निबंध अपनी शैशवास्था में ही विविध रूप सम्पन्न होकर विकासोन्मुख हुआ तथा वह अपने युग का सर्वाधिक प्रचलित साहित्य रूप बन गया। इस युग के अधिकांश निबन्धकार पत्रकार भी थे। इसलिए उनके निबन्धों में अपने पाठक वर्ग से आत्मीयता एवं निकट सम्पर्क स्थापित करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। निबन्धकारों की आत्माभिव्यक्ति की शैली निबन्धों में रोचकता और सरसता के गुणों के समावेश में सहायक हुई। इसीलिए निबंध उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध का सर्वाधिक प्रचलित साहित्य रूप बन सका तथा उसने हिन्दी गद्य के अभ्युत्थान में महत्वपूर्ण योग दिया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी गद्य के प्रतिमान निश्चित किए और उसका एक आदर्श रूप प्रतिपादित किया। गद्य का यह परिमार्जिन निबन्ध के लिए विशेषरूप से लाभप्रद सिद्ध हुआ। सशक्त गद्य के माध्यम से बालमुकुन्द-गुप्त, मिश्रबन्धु, सरदार पूर्णसिंह, रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, गुलाबराय, माखनलाल चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सहाय आदि अनेक निबन्धकारों ने हिन्दी निबन्ध को विविध शैलियों के सूत्रपात और विकास के द्वारा सम्पन्नता प्रदान की। इस युग में निबन्ध की प्रायः उन सभी शैलियों की परम्परा का विकास हुआ जिनका सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हो चुका था। हिन्दी-निबन्ध में साहित्य, भाषा, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, राजनीति, अध्यात्म आदि अनेक उपयोगी विषयों को श्रेष्ठ वैचारिक और भावात्मक धरातल प्राप्त हुआ। निबन्ध, ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक विषय के प्रतिपादन का माध्यम बना और उसके माध्यम से भाषा की अभिव्यंजना शक्ति विकसित हुई। साहित्य के अध्ययन और चिन्तन के साथ हिन्दी निबन्ध को चिन्तन का व्यापक धरातल प्राप्त हुआ। इससे विचार प्रधान निबन्धों की रचना को पर्याप्त प्रेरणा मिली। इस युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा मनोभावों का निबन्ध के माध्यम से जो विवेचन हुआ वह हिन्दी निबन्ध की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त इस समय अन्य साहित्यों से अनुवाद भी अच्छी मात्रा में हुए जिससे हिन्दी निबन्ध को अपने रूप-निर्माण और क्षेत्र विस्तार में पर्याप्त सहायता मिली।

इस युग में रामचंद्र शुक्ल ने समालोचना और निबंध को एक दूसरे के निकट लाकर हिन्दी निबंध को अपूर्व प्रौढ़ता और व्यापकता प्रदान की। उनके प्रयोगों से निबंध और समालोचना परस्पर पूरक बनकर विकसित हुए। शुक्ल जी को काव्यशास्त्रीय परम्पराओं का गंभीर ज्ञान था और वे साहित्य के मर्मज्ञ थे, इसीलिए उनकी समालोचना अत्यंत सशक्त और महत्वपूर्ण बन सकी थी। शुक्ल जी की भाषा सम्बंधी दृष्टि पर्याप्त व्यापक और उदार थी, अतएव उनके निबंधों की भाषा में विशिष्ट अभिव्यंजना शक्ति के दर्शन होते हैं। हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप विविध भाषाओं के शब्दों, लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग करके उन्होंने हिन्दी निबंध की भाषा का एक आदर्शरूप प्रतिपादित किया। शुक्ल जी के भाव और मनोविकार तथा समालोचनात्मक दोनों ही प्रकार के निबंधों में हमें उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। शुक्ल जी के निबन्धों में यथास्थान समालोचना की सभी शैलियों का प्रयोग मिलता है, जिससे उनका विषय प्रतिपादन गंभीर और सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत हो सका है। परन्तु निबंधों में शुक्ल जी के बुद्धि-तत्व के साथ हृदय तत्व का भी निरंतर योग रहा है, जिससे उनकी रोचकता एक विशिष्ट साहित्यिक और मर्यादित स्तर पर भी समाप्त नहीं होने पाती। वस्तुतः शुक्ल जी के द्वारा हिन्दी निबंध को उसका अपेक्षित और आदर्श धरातल प्राप्त हुआ। वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं।

द्विवेदी युग के पश्चात् हिन्दी निबंध की परम्परा में भावात्मक और विवरणात्मक निबंधों की प्रमुखता दिखाई पड़ती है। हिन्दी काव्य के विकास में यह समय छायावाद का था। जिन परिस्थितियों ने हिन्दी काव्य को व्यापक भावात्मक धरातल प्रदान किया, उन्होंने निबंध के क्षेत्र में भी भाववृत्ति को पल्लवित होने का आधार प्रदान किया। इस कोटि के छायावाद के निबंध-कारों में वियोगी हरि, रायकृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी, रघुवीर सिंह आदि अग्रणी हैं। भावात्मक निबंधों के समानांतर विवरणात्मक निबंधों की रचना को भी पर्याप्त बल मिला। इस युग के सत्यदेव, राहुल, देवेन्द्र सत्यार्थी, और श्रीराम शर्मा, धीरेन्द्र वर्मा ने यात्रा एवं विवरण सम्बंधी निबंधों की परम्परा के विकास में पर्याप्त योग दिया। छायावाद युग के सामयिक हिन्दी निबन्ध की एक अन्य धारा भी पर्याप्त महत्वपूर्ण है, यह धारा आलोच-नात्मक साहित्यिक निबंधों की है। नन्ददुलारे बाजपेयी और शान्तिप्रिय द्विवेदी का निबंधों की इस परम्परा के विकास में अत्यन्त महत्व है। इसके अतिरिक्त छायावाद के प्रमुख कवियों प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी और रामकुमार वर्मा ने भी भावात्मक कोटि के अनेक निबंधों की रचना की है। इन सभी निबंधों में प्राप्त गद्य शैली काव्यात्मक गुणों से ओत-प्रोत है। इस सम्बंध में यह ज्ञातव्य है कि छायावादी कवियों के निबंध साहित्य में साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त राजनीति, समाज, धर्म, कला आदि विषयों का भी भावात्मक प्रतिपादन हुआ है। मूलतः कवि होने के कारण इनका गद्य भी भावात्मक, संस्कृतनिष्ठ और अलंकृत है।

छायावाद युग के उपरांत अनेक लेखकों ने हिन्दी निबंध की परम्परा के विकास में योग दिया। इनमें सियारामशरण गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय, रामविलास शर्मा, नगेन्द्र, प्रभाकर माचवे, शिवदानसिंह चौहान, विद्यानिवास मिश्र आदि उल्लेखनीय हैं। इन निबंधकारों के निबंधो की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, लेकिन समग्र रूप में इनके निबंध साहित्य में विविध विषयों और शैलियों का समावेश हुआ है। इनके साथ ही कुछ पुरानी पीढ़ी

के निबंधकार भी निबंधों के साहित्य को सम्पन्नता प्रदान करने में संलग्न रहे हैं जिनमें राजेन्द्र प्रसाद, धीरेन्द्र वर्मा, वासुदेवशरण अग्रवाल, विनयमोहन शर्मा, भगीरथ मिश्र आदि उल्लेखनीय है। अस्तु, आज हिन्दी निबंध विविध विषयों और शैलीगत प्रयोगों के साथ विकासशील है। विकास की प्रक्रिया में जीवनी, गद्य काव्य, रेखाचित्र, संस्मरण आदि नवीन गद्य रूपों को जन्म देता हुआ हिन्दी निबंधकार निरंतर अपनी साहित्यिक सीमाओं के निर्माण में संलग्न रहा है।

समालोचना—आधुनिक समालोचना का विकास पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क का परिणाम है। साहित्य के अन्य नवीन रूपों की अपेक्षा आधुनिक समालोचना का विकास अपेक्षाकृत बाद में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के पूर्व हिन्दी में भक्तिकाल अथवा रीतिकाल में समीक्षा का जो रूप मिलता है वह समालोचना के वर्तमान रूप से सर्वथा भिन्न है। उसका मूलाधार संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा है। हिन्दी में रीतिकाल में समीक्षा के जो भी मानदण्ड विकसित हुए उन्हें संस्कृत काव्य शास्त्र की सशक्त धारा की एक उद्धरणी मात्र कहा जा सकता है। रीतियुग की सैद्धान्तिक समीक्षा पद्धति में कोई मौलिकता नहीं दिखाई पड़ती तथा व्यावहारिक समालोचना का रूप भी उसी पर आधारित है। उसके नाम पर रचनाकारों के काव्य की छन्दवृद्ध प्रशस्ति, सिद्धान्त ग्रंथों में कवियों और काव्य की प्रासंगिक आलोचना और टीका पद्धति का ही प्रचलन दिखाई देता है। समालोचना की ये सभी पद्धतियाँ अपने किसी भी रूप में आधुनिक नहीं कही जा सकतीं। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में नवीन समालोचना पद्धति पाश्चात्य सम्पर्क के परिणाम स्वरूप आरंभ हुई, परंतु उसकी परम्परा आगे विकसित नहीं हो सकी। भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन आदि ने समालोचना की नवोदित पद्धति का अनुगमन किया। इस समय हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, जैसी रचनाओं में आलोचना के नाम पर कुछ टिप्पणियाँ ही अधिक मिलती हैं। धीरे-धीरे पुस्तक परिचय के लेखन की परम्परा विकसित हुई जिसमें गुण और दोषों का सामान्य विवेचन मात्र रहता था।

सन् १८९७ में नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के प्रकाशन के साथ हिन्दी समालोचना के विकास में एक नवीन दिशा का सूत्रपात हुआ। इस पत्रिका में प्रकाशित होने वाले निबंधों ने हिन्दी आलोचना के आगामी विकास और रूपनिर्माण में पर्याप्त योग दिया। सन् १८९७ ई० में ही गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का समालोचना नामक निबंध प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष जगन्नाथदास रत्नाकर का पोप का एसे आन क्रिटिसिज़्म का समालोचनादर्श नामक पद्यबद्ध अनुवाद तथा अम्बिकादत्त व्यास का गद्यकाव्य मीमांसा नामक निबंध भी प्रकाशित हुए। सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' के प्रकाशन से हिन्दी समालोचना के विकास को और भी गति मिली। इसके अतिरिक्त नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्राचीन साहित्य के अनुसंधान के साथ गंभीर वैज्ञानिक अध्ययन की प्रवृत्ति का विकास हुआ। इस समय तक पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय साहित्य के अध्ययन का सूत्रपात हो चुका था, जिसके परिणाम स्वरूप साहित्य के मूल्यांकन और उसके नवीन आलोक में अध्ययन की दिशाएँ उद्घाटित हुईं, जो प्रकारान्तर से हिन्दी समालोचना के विकास में एक सहायक तत्त्व सिद्ध हुआ।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति समालोचना के क्षेत्र में भी प्रति-

फलित हुई। द्विवेदी जी की प्रेरणा से संस्कृत साहित्य के अध्ययन को गति मिली। पुनरुत्थान की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर साहित्य के मूल्यांकन में भी आलोचना के प्रतिमानों के ग्रहण के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया गया। लेकिन इससे समालोचना के क्षेत्र में नवीन मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकी। इस समय रीतिकाल के कुछ प्रसिद्ध कवियों के ग्रंथों की टीकाओं एवं उनकी रचनाओं के संग्रहों की भूमिकाओं के रूप में हिन्दी समालोचना को कुछ गति मिली, लेकिन उसमें सामान्य परिचय और तुलना की ही प्रवृत्तियाँ अधिक दिखाई पड़ती हैं। धीरे-धीरे समालोचना के क्षेत्र में मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन किशोरीलाल गोस्वामी, श्यामसुन्दरदास और रामचंद्र शुक्ल का प्रवेश हुआ। इन समालोचकों की समालोचनाओं के माध्यम से हिन्दी में समालोचना की विविध पद्धतियों का विकास हुआ जिनमें रीतिकालीन, तुलनात्मक, सामान्य परिचयात्मक, खोज एवं अनुसंधानात्मक, गंभीर व्याख्यात्मक और समालोचना-सिद्धान्त सम्बन्धी पद्धतियाँ मुख्य हैं। लेकिन हिन्दी समालोचना को व्यापक आधार देकर उसके प्रतिमान निश्चित करने का जो यत्न रामचंद्र शुक्ल ने किया वह हिन्दी समालोचना के इतिहास में अक्षय महत्व का है।

शुक्लजी ने अपनी प्रतिभा से सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समालोचना पद्धतियों को सम्पन्नता और प्रौढ़ता प्रदान की। शुक्लजी की समीक्षा के स्पष्टतः दो क्षेत्र लक्षित होते हैं, पहला क्षेत्र साहित्य की धाराओं का है और दूसरा कतिपय प्रसिद्ध रचनाकारों का है। इनमें से पहला रूप तो हमें इनके इतिहास में मिलता है और दूसरा रूप उनकी सूर, तुलसी और जायसी के सम्बन्ध में लिखी हुई समालोचनाओं में प्राप्त होता है। इन्हीं के बीच-बीच मेंशुक्लजी ने सिद्धान्त-प्रतिपादन का भी कार्य किया है। परन्तु उन सिद्धान्तों की अवतारणा प्रतिपाद्य रचना अथवा रचनाकार को ही दृष्टि में रखकर की गई प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त उनके चिंतामणि के सहित्यिक निबंधों और रस मीमांसा में भी हमें उनका प्रौढ़ समालोचक का रूप दिखाई पड़ता है। शुक्लजी भारतीय साहित्य शास्त्र से तो भली प्रकार परिचित थे ही, साथ ही उन्होंने प्लेटो, अरस्तू, जी० डब्ल्यू मथेल, ए० टी० स्ट्रांग, रार्बट ग्रेब्ज़, एल० राइडिंग, रिचर्डस, क्रोचे, ब्रैडले आदि पाश्चात्य समीक्षकों के समीक्षा सिद्धांतों का भी अध्ययन और परीक्षण कर अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा की आधारभूमि को व्यापकता प्रदान की। अपनी समीक्षा दृष्टि और समालोचना के प्रतिमानों के निर्माण में शुक्लजी ने तुलसी साहित्य से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की। इसीलिए शुक्लजी की अनेक साहित्यिक मान्यताओं के पीछे उनके तुलसी साहित्य के अध्ययन की भूमिका परिलक्षित होती है। किसी भी कृति एवं परम्परा के मूल्यांकन में शुक्लजी की समालोचना विवेचनात्मक ही अधिक रहती है किन्तु तुलना, व्याख्या आदि के माध्यम से वे निर्णय भी लेते हैं। शुक्लजी ने साहित्य की परम्पराओं और गतिविधियों को युग प्रवाह के संदर्भ में परखने की दृष्टि दी। उन्होंने विविध साहित्यरूपों, रचनाकारों, साहित्यिक परम्पराओं, साहित्य-सिद्धान्तों आदि से सम्बंधित अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन किया। अस्तु, समग्र रूप में शुक्लजी ने हिन्दी समालोचना को प्रौढ़ता और व्यापक आधारभूमि प्रदान की।

शुक्ल जी के पश्चात् हिन्दी समालोचना की अनेक पद्धतियाँ विकसित हुईं, जिनमें वैज्ञानिक, अनुसंधानात्मक, व्याख्यात्मक, स्वच्छंदतावादी, मनोविश्लेषणात्मक, मार्क्सवादी,

सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक, प्रभाववादी और चरित्रमूलक पद्धतियाँ मुख्य हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान और अध्ययनों का सूत्रपात विश्वविद्यालयों की अनुसन्धान विषयक उपाधियों के निमित्त प्रस्तुत किए जाने वाले शोध प्रबन्धों से हुआ। इस प्रकार समालोचना पद्धति में लेखकों ने तटस्थ रह कर प्राचीन और नवीन साहित्य के विषय में आलोचनात्मक प्रबन्ध प्रस्तुत किए हैं। इससे आलोचना का क्षेत्र समृद्ध हुआ है। आज हिन्दी में इस प्रकार के समालोचनात्मक ग्रन्थ प्रचुर संख्या में लिखे जा रहे हैं। व्याख्यात्मक समालोचना को आचार्य शुक्ल ने उत्कर्ष प्रदान किया था। तथा इस पद्धति के स्वरूप को गुरुतर और व्यापक बनाने के निमित्त उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा पद्धतियों के समन्वय द्वारा अपनी आलोचना दृष्टि का निर्माण किया था। शुक्लजी की समालोचना में इतिहास और तुलना के भी संदर्भ रहते थे और अंततः उनकी दृष्टि निर्णयात्मक हो जाती थी। शुक्ल जी के साथ और उपरांत श्यामसुन्दरदास, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश', जगन्नाथप्रसाद शर्मा आदि ने इस समालोचना पद्धति के विकास में योग दिया। समालोचना में स्वच्छंदतावादो दृष्टि के समावेश के लिए छायावाद काव्य प्रेरक रूप सिद्ध हुआ। इस पद्धति में वस्तु, भाव, चरित्र, कल्पना, ध्वनि आदि का काव्यगत सौन्दर्य रचनाकार की संवेदना को केन्द्र में रखकर उद्घाटित किया गया। स्वच्छंदतावादी समालोचना का सूत्रपात स्वच्छंदतावादी कवियों ने ही किया, लेकिन आगे चलकर नन्ददुलारे बाजपेयी द्वारा इसको पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। उनके अनंतर शान्तिप्रिय द्विवेदी, नगेन्द्र, गंगाप्रसाद पांडेय आदि ने स्वच्छंदतावादी समालोचना पद्धति की परम्परा को आगे बढ़ाया है। मनोविश्लेषणात्मक समालोचना पद्धति फ्रायड्, एडलर, युंग आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का आधार लेकर अग्रसर हुई। उसने साहित्य को दलित वासनाओं की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर उसका मूल्यांकन किया। मनोविश्लेषणात्मक समालोचना पद्धति को अपनाने वाले समालोचकों में नगेन्द्र, अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी प्रमुख हैं। मार्क्सवादी समालोचना का स्वर मार्क्स के समाज दर्शन पर आधारित है। वह रचना एवं रचनाकार की दृष्टि में वर्गगत हितों का अनुसंधान करती हुई अंत में सर्वहारा वर्ग के लिए साहित्य की उपादेयता की परख करती है। रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि समालोचकों ने इस पद्धति को अपनाया है। सैद्धान्तिक समालोचना पद्धति का अन्य समीक्षा पद्धतियों की तुलना में कम विकास हुआ है। वस्तुतः साहित्य के मूल्यांकन के सिद्धान्तों का अनुसन्धान और नियमन असाधारण प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। हिन्दी में इस समीक्षा पद्धति का विकास मुख्यतः तीन रूपों में हुआ है, संस्कृत साहित्य शास्त्र पर आधारित, पाश्चात्य एवं भारतीय मान्यताओं से समन्वित, और साहित्यकारों की साहित्य विषयक अपनी मान्यताओं पर आधारित। संस्कृत साहित्यशास्त्र पर आधारित सैद्धान्तिक समीक्षा की धारा का सूत्रपात तो पर्याप्त पहले ही हो चुका था। शुक्ल जी के उपरान्त बलदेव उपाध्याय, सीताराम चतुर्वेदी आदि ने इसके विकास में योग दिया। भारतीय और पाश्चात्य समालोचना सिद्धान्तों के समन्वित रूप के विकास में योग देने वालों में गुलाबराय, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, नगेन्द्र, नंददुलारे बाजपेयी आदि प्रमुख हैं। अपने साहित्य के संदर्भ में साहित्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वालों में पंत,

प्रसाद, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा, अज्ञेय आदि अनेक रचनाकार अग्रणी हैं। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विकास के समानान्तर इस समालोचना पद्धति का तीव्रता के साथ विकास हुआ है। अस्तु, हिन्दी की सैद्धान्तिक समालोचना पद्धति की इन धाराओं के आधार पर उसके अपने काव्यशास्त्र के निर्माण की सम्भावना की जा सकती है। ऐतिहासिक समालोचना पद्धति का उपयोग प्रायः अन्य समालोचना पद्धतियों की सहायक पद्धति के रूप में होता रहा है। परन्तु इतिहास और अनुसन्धान के अध्ययन के साथ हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी आदि समालोचकों ने इस समालोचना पद्धति के विकास में पर्याप्त योग दिया है। साहित्य के विषय में सहृदय की प्रतिक्रिया को आलोचना की मूल दृष्टि स्वीकार कर, प्रकाशचंद्र गुप्त, भगवतशरण उपाध्याय आदि ने प्रभाववादी समालोचना पद्धति अपनाई है। चरित्रमूलक समालोचना पद्धति अपेक्षाकृत परवर्ती है किन्तु आज रचनाकार के जीवन की गतिविधि के साक्ष्य में रचना के मूल्यांकन की दृष्टि को अनेक समालोचकों ने स्वीकार किया है। हिन्दी समालोचना में आज नवीन प्रतिमानों का आधार लेकर रघुवंश, जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, शम्भूनाथ सिंह, नामवर सिंह आदि अनेक समालोचक साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचन और मूल्यांकन में सलंग्न हैं।

हिन्दी समालोचना के विकास में विविध पत्र-पत्रिकाओं ने भी निरन्तर योग दिया है। जिनमें सरस्वती, माधुरी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्मेलन पत्रिका, हिन्दुस्तानी, साहित्य, आलोचना, कल्पना, हिन्दी अनुशीलन आदि प्रमुख हैं। हिन्दी में आज समालोचना की जो पद्धतियाँ चल रही हैं उनकी सीमाएँ बहुत दृढ़ हैं, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। उनका पारस्परिक प्रभाव एवं संक्रमण भी सर्वत्र देखा जा सकता है। निश्चित प्रतिमानों के अभाव में अभी उसका रूप स्थिर नहीं हो सका है, लेकिन प्रयोग की विविध दिशाओं में संलग्न हिन्दी समालोचना आज विकासोन्मुखी है।

अन्य रूप—आधुनिक युग में हिन्दी में ललित और आलोचनात्मक साहित्य के अतिरिक्त जीवनी और उपयोगी साहित्य की भी रचना होती रही है। जीवनी साहित्य की परम्परा का एक रूप हमें उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के पूर्व भी मिलता है, लेकिन वह अधिकतर भक्तमाल-ग्रंथों, संत चरित्रों, प्रशस्तियों आदि के रूप में है। अपने वर्तमान रूप में जीवनी साहित्य आधुनिक युग की देन है, जिसका विकास पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव स्वरूप हुआ है। धीरे-धीरे यह साहित्य हिन्दी गद्य का एक महत्त्वपूर्ण रूप बन गया है। पाश्चात्य प्रेरणा से हिन्दी में जो जीवनी साहित्य विकसित हुआ है उसमें आत्मचरित, ऐतिहासिक, राजनैतिक और विदेशी चरित्रों को स्थान मिला है। आज हिन्दी में इस परम्परा की अनेक कृतियाँ मिलती हैं।

आधुनिक युग का उपयोगी साहित्य ललित कला, उपयोगी कला, स्वास्थ्य, समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, वाणिज्य व्यापार, नागरिकशास्त्र, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षा, अध्यात्म, धर्म, दर्शन, इतिहास, कोष, व्याकरण, ज्योतिष, भाषा-विज्ञान, विज्ञान आदि विविध विषयों से सम्बंधित है। शिक्षा के प्रसार और नवीन विषयों के अध्ययन से हिन्दी में उपर्युक्त विषयों से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन आवश्यक भी हो गया है। लेकिन हिन्दी का उपयोगी साहित्य ललित साहित्य की तुलना में सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। इस साहित्य की

रचना में अनेक व्यावहारिक समस्याएँ हैं, जिनका समाधान अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने से उपयोगी साहित्य के विकास की दिशा में व्यक्तिगत और राजकीय स्तर पर अनेक यत्न चल रहे हैं, जिनसे आशा है कि भविष्य में हिन्दी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों को अभिव्यक्ति देने में सक्षम सिद्ध होगी।

हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार की संस्थाएँ—आधुनिक युग में हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रसार में हिन्दी की अनेक संस्थाओं ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इनमें से कुछ संस्थाएँ तो स्थानीय हैं और कुछ अखिल भारतीय महत्त्व की हैं। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हिन्दी प्रदेश में साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रारम्भ और विकास पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव स्वरूप हुआ। इस प्रकार की प्रमुख संस्थाओं में फोर्ट विलियम कालेज (१८०० ई०), बनारस की थियोसोफिकल सोसाइटी (सन् १८२३), कविता वर्धिनी सभा (सन् १८७०), दि पेनी-रीडिंग क्लब (सन् १८७३), हिन्दी प्रवर्धिनी सभा (सन् १८७७), हिन्दी उद्धारिणी सभा (सन् १८८४), नागरी प्रचारिणी सभा (सन् १८९३) हिन्दी साहित्य सम्मेलन (सन् १९०५) हिन्दुस्तानी एकेडेमी (सन् १९२५), प्रयाग महिला विद्यापीठ (सन् १९२२), दक्षिण भारत-हिन्दी प्रचार सभा, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, हिन्दी भवन, शांति निकेतन आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन संस्थाओं का हिन्दी के प्रचार और उसके रूप निर्माण में पर्याप्त योग रहा है। इनमें अनेक संस्थाओं ने तो साहित्य के सृजन को भी विविध प्रकार से प्रेरणा दी है। १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् से हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के राजकीय स्तर पर भी यत्न हो रहे हैं लेकिन इस दिशा में अभी तक जो भी यत्न हुए हैं, वे पर्याप्त नहीं कहे जा सकते। अभी हिन्दी के समक्ष राष्ट्रभाषा के सन्दर्भ में अपने देशव्यापी व्यक्तित्व निर्माण के प्रश्न का समाधान पर्याप्त सीमा तक शेष है। आज भी कतिपय अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी को पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई है, फिर भी आशा है कि निकट भविष्य में हिन्दी का राष्ट्रभाषा का रूप अपने सम्यक् औचित्य से अनुप्राणित और गौरव से मण्डित हो सकेगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का नवीन दृष्टिकोण : सिद्धान्त, आदर्श और उनका विकास

मुस्लिम संस्कृति, मुख्यतः सूफ़ीधारा के संस्पर्श से भारतीय संस्कृति में एक नई स्फूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ जो भक्ति और रहस्यात्मकता के रूप में प्रकट हुई। लोक भाषाओं में नवजीवन का संचार हुआ और उन सभी में भक्तिवादी, रहस्यवादी और धार्मिक-पौराणिक प्रवृत्तियों में का प्राबल्य हो गया। पहले तो ये प्रवृत्तियाँ स्वस्थ और प्रगतिशील रहीं, किन्तु मुस्लिम शासकों के अत्याचारों से पीड़ित जनमानस इन्हें प्रतिरक्षा-तन्त्र (डिफ़ेन्स मेकैनिज़्म) के रूप में विकसित करने लगा और उसे इसमें जीवन की नई कटुता से पलायन को ठौर मिल गया। जनता ने धर्मान्ध सुल्तानों के आगे अपने को असहाय पाया और यहाँ के छत्रधारियों और सरस्वती पुत्रों को भविष्य अन्धकारमय दीखने लगा। समुज्ज्वल भविष्य की कल्पना के अभाव में जाति अकर्मण्य हो जाती है और ऐसा हुआ भी। संस्कृति में अकर्मण्यता की प्रवृत्ति के दर्शन होने लगे। भक्तों और वैरागियों ने अकर्मण्यता का खूब प्रसार किया, सभी ब्रह्म बन गये। नैष्कर्म्य-दर्शन संस्कृति का मुख्य दर्शन बन गया।[1] संस्कृति की जिजीविषा का ह्रास होने लगा। आशा, आस्था और आदर्श के अभाव में सारी संस्कृति पुरुषार्थ-शून्यता की स्थिति को पहुँच गई। इस व्यापक सांस्कृतिक ह्रासोन्मुखता की अवस्था में समाज में स्त्रैणता, शृंगारिकता और विलासिता की प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं। सत्ताधारी अय्याश बन गए। उनके आश्रित कवि शृंगारी, चमत्कारपूर्ण, और निरर्थक पाण्डित्य का प्रदर्शन करनेवाली कविताओं से उन्हें रिझाकर अपनी झोली भरने लगे। भक्ति युग का अन्त हुआ और संस्कृति ने रीति युग में प्रवेश किया। स्त्रैणता, शृंगारिकता और विलासिता की प्रवृत्ति राधावल्लभ जैसे नए वैष्णव सम्प्रदायों, में भी व्याप्त हो गई और उनमें राधा को प्रधानता प्राप्त हुई। राजदरबारों के समान सम्प्रदायों की गद्दियाँ और मठ मन्दिर भी अय्याशी के केन्द्र बन गए।

रीतिकालीन काव्य सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति और समीक्षा न रह कर विलासियों के विलास का एक उपकरण मात्र बन कर रह गया। तत्कालीन कवियों—बिहारी, देव, मति-राम, पद्माकर आदि—में भी धार्मिकता की भावना तो स्पष्ट है, किन्तु राधा और कृष्ण के प्रणय-चित्रण में उन्होंने शृंगारिकता ही भरी है। कविता में कृत्रिम, रूढ़िगत अलंकारों का जमघट लगने लगा। कविता का जीवनानुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। जीवन से विच्छिन्न विशुद्ध कला-विकास का दौर हुआ। भक्तिकालीन कवियों के योग, वैराग्य, दिव्य प्रेम और

---

१. मायावाद की आज चाहे जो व्याख्या की जाय, उसकी अकर्मण्यतापरक धारणा ही तब प्रचलित थी।

प्रपत्ति के स्थान पर 'जोगहूँ तें कहिन सँजोग परनारी को' का ग्रादर्श उपस्थित हो गया। पर नारी-संयोग की विविध स्थितियों की कल्पना, नायकों ग्रौर नायिकाग्रों के वर्गीकरण ग्रौर भोग विलास के नाना रूपों ग्रौर पत्तों के उद्घाटन ग्रौर उनकी विवृत्ति को ही कवि ग्रपना इति-कर्त्तव्य समझ बैठा। कामिनी-केन्द्रक श्रवण मनन निदिध्यासन का प्रवर्तन हुग्रा।

रीतियुग से सभी को शिकायत है। द्विवेदी युग उसे सदाचार-ध्वंसक मानता था। छायावाद युग ने उसके स्थूल सौन्दर्य बोध की शिकायत की। प्रगतिवाद ने उसे सामाजिक दायित्व से शून्य ग्रौर प्रतिक्रियावादी माना। नए समीक्षकों विशेषतः प्रयोगवादियों की दृष्टि में उसकी ग्रभिव्यंजना प्रणाली एकदम बासी ग्रौर उसकी विषय वस्तु एकदम उबाने वाली है। मात्र शृंगारिकता ग्रथवा शृंगार रस की प्रधानता की बात होती तो परिष्कृत ग्राधुनिक रुचि को रीतिकालीन काव्य से विशेष शिकायत न होती; किन्तु उसमें तो विलासियों की ग्रापाधापी, दूतियों की दौड़-धूप, ग्रभिसारिकाग्रों, नायिकाग्रों के चोंचले ही कवि ग्रौर काव्य के उपजीव्य बन गए थे। तत्कालीन कवि को युग-जीवन की कोई समस्या, जन-मानस का मंथन करने वाली कोई वास्त-विकता, किसी भी प्रकार की ग्रर्थवती घटना उद्वेलित करती हुई नहीं पाई जाती।

पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से भारतीय संस्कृति में एक महान् नवजागरण काल का प्रादुर्भाव हुग्रा था, जिसमें इस विलासितामूलक ग्रौर पाण्डित्य प्रदर्शक कलावाद को ही सब कुछ समझने वाले कवियों का स्वप्न भंग हुग्रा ग्रौर साहित्य एकबारगी जीवनोन्मुख हो गया। दिनकर के शब्दों में, 'रीतिकाल के बाद की हिन्दी-कविता कला की पराजय ग्रौर जीवन की जय की कविता है। साहित्य में जीवनवाद की प्रतिष्ठा ग्राधुनिक नव जागरण की एक ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।' इस पर हम ग्रागे विचार करेंगे। पहले हमें एक नवजागरण जन्य भाषा सम्बन्धी क्रान्तिकारी परिवर्तन की ग्रोर इंगित करना ग्रभीष्ट है।

हिन्दू भारत में संस्कृत ही मुख्य साहित्यिक भाषा के रूप में ग्रहीत थी। मुस्लिम भारत में सांस्कृतिक ग्रव्यवस्था के फलस्वरूप उसका प्रभाव क्रमशः क्षीण होता गया ग्रौर प्रादेशिक बोलियों को साहित्यिक भाषा का रूप ले लेने का ग्रवसर प्राप्त हुग्रा। दिल्ली के ग्रास-पास की बोली होने के कारण खड़ी बोली का मान बढ़ा था। मुग़ल साम्राज्य के विघटन के समय खड़ी बोली बोलने वाले व्यापारियों, कर्मचारियों, साहित्यिकों ग्रादि के देश में दूर-दूर तक फैल जाने से खड़ी बोली का भी देश-व्यापी प्रसार हो गया। ग्रंग्रेज़ी राज्य की प्राणप्रतिष्ठा के समय वही (हिन्दी तथा उर्दू रूप में) देश की एकमात्र ग्रन्तर प्रान्तीय भाषा थी। ग्रतः उसे ही ग्रन्ततः राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण पद प्राप्त हुग्रा। ग्रब स्थिति यह है कि ब्रजभाषा, ग्रवधी ग्रादि हिन्दी की ग्रन्य बोलियाँ साहित्य-भाषा-पद से च्युत हो गई हैं ग्रौर जिसे ग्राधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास कहा जाता है वह हिन्दी के केवल खड़ी बोली रूप का इतिहास होकर रह गया है। वस्तुतः ग्राधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास खड़ी बोली के उत्तरोत्तर विकास ग्रौर हिन्दी की ग्रन्य बोलियों के उत्तरोत्तर ह्रास का इतिहास है।

यह उल्लेखनीय है कि खड़ी बोली के फ़ारसी-निष्ठ रूप रेख्ता, उर्दू ग्रथवा (दक्षिण में) दक्खिनी उर्दू का विकास उसके संस्कृतनिष्ठ रूप हिन्दी से बहुत पहले हो चुका था।

बीसवीं शती के उषःकाल तक ब्रजभाषा ही कविता की भाषा के रूप में व्यापक रूप

से ग्रहीत रही और कविगण प्रायः भक्ति और रीति काल की रूढ़ि का ही निर्वाह करते रहे। किन्तु आधुनिक चेतना का प्रथम उन्मेष भी बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बद्रीनारायण 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र के ब्रजभाषा-काव्य में ही देखने को मिला था। अतः यह समझने में भूल नहीं होनी चाहिए कि आधुनिकता का वहन खड़ी बोली ही कर सकती थी। वस्तुतः आधुनिक काल में हिन्दीभाषा-समूह की अन्य भाषाओं की तुलना में खड़ी बोली की उत्तरोत्तर प्रगति हुई। लोकप्रियता का एकमात्र कारण है, उसका दिल्ली प्रान्त की भाषा होना और मुग़ल-शासन के विघटन के साथ-साथ अन्य प्रान्तों के शिष्ट वर्ग के बीच फैल जाना। अन्यथा, साहित्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली का कोई महत्त्व ही नहीं था, यद्यपि आधुनिक काल के पूर्व भी उसका थोड़ा-बहुत साहित्य-भाषा के रूप में—कहीं ब्रजभाषा खड़ी बोली, जैसे अकबरी दरबार के कवि गंग की 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' (१५८०) और जटमल की 'गोरा बादल की कथा' (१६२४) और कहीं हिन्दी-उर्दू, जैसे इंशाअल्लाह खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' (१७६८-१८०३) के मिले-जुले रूप में तो कहीं पं० रामप्रसाद निरंजनी के 'योगवासिष्ठ' (१७३२) की परिमार्जित खड़ी-बोली के रूप में भी अस्तित्व अवश्य था। सन्तों, भक्तों और सूफ़ियों की लावनी-परम्परा में भी खड़ी बोली का प्रयोग मिलता है। किन्तु आधुनिक युग की विशेषता है कि उसमें खड़ी बोली हिन्दी का परिमार्जित, संस्कृतनिष्ठ रूप मुख्य भाषा, पहले गद्य और फिर पद्य की भाषा के रूप में गृहीत हुआ, यहाँ तक कि आज खड़ी बोली हिन्दी ही राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' के पद पर समासीन है।

आधुनिक काल में, खड़ी बोली में पहले केवल गद्य रचना होती थी। पद्य रचना बीसवीं शती के उषःकाल तक ब्रजभाषा में ही होती रही। खड़ी बोली के आधुनिक साहित्य की भाषा होने के कारण ही ऐसा हुआ, अन्यथा पुरानी भाषाओं में पहले पद्य-रचना हुई, फिर गद्य-रचना की बारी आयी। वस्तुतः गद्य साहित्य की नई परम्परा का उद्भव और विकास आधुनिक युग का एक विशिष्ट वरदान है। हिन्दी भाषा-समूह की विविध भाषाओं में गद्य रचना के स्फुट उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं, किन्तु गद्य आधुनिक काल में ही, और खड़ी बोली में ही, साहित्य का प्रधान अंग बन पाया। साहित्य पर आज गद्य इस प्रकार हावी हो गया है कि आधुनिक काल को गद्य काल मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध का गद्य शास्त्रीय विषयों तक ही सीमित नहीं रहा। उसमें ललित साहित्य की भी प्रभूत रचना हुई। तत्कालीन लेखकों ने उपन्यास, नाटक, जीवनी, निबन्ध, समीक्षा सब कुछ लिखा। आगे चल कर, द्विवेदी युग में, कहानी का भी जन्म हुआ। फिर तो गद्य रूपों के वैविध्य की कोई इयत्ता ही नहीं रही।

हिन्दी भाषा और साहित्य का सर्वतोन्मुखी विकास आधुनिक युग की एक अभूतपूर्व घटना है। जैसा कि कह आए हैं, खड़ी बोली हिन्दी आधुनिक युग के पूर्व कोई विकसित साहित्य-भाषा भी नहीं थी। वह एक बोली मात्र थी जिसमें ब्रजभाषा, अवधी, आदि की सिद्ध काव्य, चारण-काव्य, भक्ति काव्य, रीति काव्य जैसी कोई भी परम्परा इतिहास में ज्ञात नहीं है। अंग्रेज़ी राज्य में ऐसी क्षीण भाषा का इतनी द्रुत गति से साहित्य के सभी अंगों-प्रत्यंगों का विकास कर लेना इतिहास में अपना सानी नहीं रखता। कविता के अतिरिक्त उपन्यास, नाटक, कहानी,

निबन्ध, समीक्षा, जीवनी, इतिहास, डायरी सब कुछ इसी युग की उपज है। जर्मनी में गेटे के युग में हुए अभूतपूर्व साहित्यिक समुत्थान से भी इसकी समता नहीं की जा सकती, क्योंकि आधुनिक भारत में हिन्दी को तो भाषा और साहित्य दोनों का ही लगभग शून्य से निर्माण करना पड़ा था, जबकि गेटे के जर्मनी में भाषा गढ़ी-गढ़ाई विद्यमान थी।

आधुनिक काव्य में प्रकृति को एक नई गरिमा प्राप्त होती है। रीति काल के काव्य में प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता नहीं थी। उससे बस अभिप्राय, अलंकृति और उद्दीपन का काम लिया जाता था, वह भी प्रायः प्रकृति-सम्बन्धी कवि समयों, प्राकृतिक तत्त्वों की एक सूची मात्र प्रस्तुत करके, उनका 'कोशवत् उपयोग' करके इसमें भी निश्चय ही अपवाद है, और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध का परिचय तत्कालीन कवियों में यदा-कदा मिल ही जाता है; किन्तु उनकी संख्या नगण्य है। आधुनिक युग में इस स्थिति का अन्त हुआ और प्रकृति ने एक प्रकार से व्यक्तित्व लाभ किया। भारतेन्दु तो नई प्रवृत्ति का परिचय केवल चन्द्रावली नाटिका के यमुना वर्णन और 'हरिश्चन्द्र' नाटक के 'गंगा वर्णन' एवं 'प्रात समीरण' जैसी कविता में ही दे सके हैं, किन्तु श्रीधर पाठक ने अंग्रेज़ी काव्य से प्रेरणा लेकर प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण की एक सशक्त परम्परा का सूत्रपात किया, जिसमें प्रेमघन का भी योग रहा। वैदिक और संस्कृत साहित्य से भी इस दिशा में, कवियों को प्रभूत प्रेरणा मिली, उपमान मिले। छायावाद में प्रकृति को अत्यधिक महत्त्व दे कर 'प्रकृति प्रेम-रस' जैसे एक प्रकार से स्वतंत्र रस की ही सृष्टि की गई है। यद्यपि, जैसा कि कहा जाता है, कि संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से छायावाद का प्रकृति-चित्रण रसाभास की ही कोटि में आयेगा, क्योंकि मानवेत्तर ऐहिक जगत्-पशु, पक्षी, जड़ पदार्थ पर चेतना का आरोप ही छायावादी प्रकृति चित्रण का मूल मंत्र है। वस्तुतः छायावाद युग में प्रकृति प्रेम-सी बन गई, प्रकृति नहीं बल्कि उसमें जो कुछ सुन्दर है। छायावादी कवि की अवदमित और कुण्ठित प्रेम वासना ही प्रकृति के इस प्रेयसीकरण के मूल में दिखायी देती है। छायावादी को प्रायः प्रकृति के सुन्दर सुकुमार रूप ने ही लुभाया है, उसके उग्र, कठोर रूप ने नहीं। नई कविता में 'सुन्दर' का आग्रह जाता रहा और ज़ोर तद्वता अथवा तत्ता पर हो गया। अज्ञेय के शब्दों में, 'व्यवस्थित संसार' के स्थल में 'सुन्दर संसार' की प्रतिष्ठा हुई थी, अब उसके स्थान में 'तद्वत् संसार' ही सामने रखा जाता है।'

चाहे जिस दृष्टि से विचार किया जाय यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि अंग्रेज़ी अमलदारी के पूर्व भारतीय संस्कृति में ह्रासोन्मुखता के प्रभूत लक्षण प्रकट हो गए थे। संस्कृति की नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा मरणासन्न थी। उसकी मध्यकालीनता समाप्त होने का नाम नहीं ले रही थी। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक सभी क्षेत्रों में विशीर्णता, जीर्णता और जाड्य का अखंड साम्राज्य था। समाज रूढ़ि और रीति से बुरी तरह आक्रान्त था। अंग्रेज़ों की अन्य बातों के लिए चाहे जितनी निन्दा की जाय, यह मानना ही होगा कि भारतीय संस्कृति को मध्यकालीन जाड्य और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता से मुक्त करने और उसमें नवचेतना का स्पन्दन जगा कर नवजीवन का संचार करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। वस्तुतः पाश्चात्य सभ्यता के संस्पर्श मात्र से देश के अंग प्रत्यंग में जैसे बिजली दौड़ गई। हम यहाँ भारतीय संस्कृति की मूल, अमुस्लिम, धारा की बात कर रहे हैं। वलीउल्लाही आन्दोलन और उर्दू काव्य के चरमोत्कर्ष को

देख कर मुस्लिम संस्कृति की जीवन्तता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों के इस सम्पर्क द्वारा प्रवर्तित नवजागरण के मूल में चार शक्तियों का पता चलता है: (१) प्रोटेस्टैन्ट मिशन (२) आधुनिक विज्ञान (३) अंग्रेज़ी अमलदारी और (४) प्राच्यविदों की खोजें। भारतीय धर्मों की धरती में प्रोटेस्टैन्ट मिशनों और आधुनिक विज्ञानों ने बीज का कार्य किया, अंग्रेज़ी अमलदारी ने अनुकूल ऋतु तैयार की और प्राच्यविदों की खोजों ने खाद का काम किया। नवजागरण का पौधा खूब पल्लवित-पुष्पित हुआ।

नवजागरण के साथ-ही-साथ धर्म संस्कार (सुधार) की भी लहर चली। राजा राममोहन राय नवजागरण और धर्म-संस्कार दोनों के पैग़म्बर कहे जा सकते हैं। वस्तुतः नवजागरण सुधार, सुधार-प्रतिसुधार (रिफ़ार्मेशन—काउन्टर रिफ़ार्मेशन) और प्रतिसुधार—इन तीन सोपानों में पूर्ण हुआ था। सुधार के प्रवर्तक थे राजा राममोहन राय, जिन्होंने ईसाइयत, विज्ञान और फ्रान्स की राज्यक्रान्ति और तत्प्रवर्तित स्वतंत्रता समता और बन्धुता के आदर्शों सभी महत्त्वपूर्ण आधुनिक मूल्यों, वस्तुतः आधुनिकता मात्र का स्वागत किया था। उनके बाद स्वामी दयानन्द ने सुधार और प्रतिसुधार दोनों प्रवृत्तियों का नेतृत्व किया। वे धर्म और समाज का सुधार चाहते थे, आधुनिक विज्ञान और यांत्रिकता के बीज वेदों में देखते-दिखाते थे, किन्तु वे अधुनिकता की अपनी दृष्टि में वेद विरुद्ध तत्त्वों का डट कर विरोध भी करते थे। देवसमाज के संस्थापक पं० शिवनारायण अग्निहोत्री, अहमदिया सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद क़ादियानी आदि उनके समसामयिक सम्प्रदायाचार्य भी सुधार और प्रतिसुधार दोनों प्रवृत्तियों को साथ लेकर चलते थे। थियोसॉफ़ी और रामकृष्ण मिशन जैसे सर्वधर्म समन्वयवादी अतएव सब कुछ, ठीक-वादी आन्दोलनों ने कुल मिला कर प्रतिसुधार का ही पोषण किया। यही कार्य सनातन धर्म सभा और भारतधर्म महामण्डल जैसी प्रतिरक्षात्मक संस्थाओं ने भी किया। जब सब कुछ ठीक ही है, जब सब कुछ एक ही है, तब सुधार किसका करना ? स्वामी विवेकानन्द अवश्य अपवाद हैं, जिन्होंने प्रतिसुधार की अपेक्षा सुधार का ही पथ प्रशस्त किया। अतः नवजागरण सुधार, सुधार-प्रतिसुधार और प्रतिसुधार तीनों प्रवृत्तियों की समष्टि था।

नवजागरण के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति में आत्मचेतना और व्यक्तित्व चेतना का संचार हुआ था। प्राचीन भारत में पहले जन थे, जातियाँ थीं; व्यक्ति नहीं थे। उपनिषदकाल में जनसत्ता, जाति सत्ता का विघटन और व्यक्तित्व का, व्यक्तित्व-चेतना का उदय हुआ। बुद्धकाल में; श्रमण संस्कृति के नवोत्थान के साथ-साथ, भारतीय संस्कृति में व्यक्तित्व की, व्यक्तित्व चेतना की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई। किन्तु यह स्थिति टिकाऊ नहीं सिद्ध हुई। सम्भवतः, जातिबद्ध ब्राह्मण धर्म से होड़ लेने के चक्कर में, बुद्ध की मृत्यु के बाद ही उन्हें देवत्व से मण्डित कर दिया गया और क्रमशः व्यक्ति पुनः पुरोहित-वर्ग अथवा जाति के अधीन हो गया। यह स्थिति समग्र हिन्दू युग में व्याप्त रही। मुस्लिम संस्कृति से सम्पर्क और संघर्ष के फलस्वरूप एक ओर जहाँ थोड़ी-बहुत सन्तों और भक्तों की व्यक्तित्व चेतना का विकास देखने को मिला वहाँ दूसरी ओर स्मार्त आचार-विचार की शृंखलाएँ कसती ही गईं। बल्कि मुस्लिम संस्कृति के हाथों

भारतीय संस्कृति के स्वाभाविक विकास का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया। नवजागरण-काल में यहाँ व्यक्तित्व-चेतना का नये सिरे से प्रस्फुटन हुआ था।

वस्तुतः किसी संस्कृति का इतिहास उसके घटकों में व्यक्तित्व चेतना के विकास का इतिहास है।

एक दृष्टि से साहित्य का इतिहास साहित्यकारों में व्यक्तित्व चेतना के विकास का इतिहास है। व्यक्तित्व-चेतना शून्य युग का साहित्यकार बहिर्मुखी प्रवृत्ति का होता है और आँखों पर कल्पना की ऐनक चढ़ाए, वस्तुतः कल्पना से ही आँखों का काम लेते हुए, बाह्य जीवन का चित्रण करता है। व्यक्तित्व चेतना के विकास के साथ-साथ साहित्यकार अधिकाधिक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का, आत्म-केन्द्रित होता जाता है और अपने ही सुख-दुख, राग-विराग, भाव-अनुभाव के चित्रण में तल्लीन रह कर साहित्य को सामाजिक जीवन से विच्छिन्न कर देता है। आवश्यक नहीं कि ऐसे साहित्यकार का व्यक्तित्व तत्कालीन संस्कृति का वास्तविक प्रतिनिधि ही हो। जहाँ साहित्यकार के व्यक्तित्व और संस्कृति में विसंगति अथवा विसंवाद होता है वहाँ साहित्यकार की अति विकसित और संस्कृति से बेमेल व्यक्तित्व चेतना को दृष्टि में न रखने के कारण, बहुधा सामाजिक यथार्थवादी समीक्षक उसकी वृत्ति के आधार पर उसकी संस्कृति को भी समझने की भूल के शिकार हो जाते हैं। क्रमशः इस व्यक्तित्व चेतना शून्यता और अति व्यक्तित्व चेतना रूपी अनुयोग और प्रतियोग, स्थापना और प्रतिस्थापना का समन्वय होता है तब साहित्यकार व्यक्तित्व के माध्यम से संस्कृति को और संस्कृति के माध्यम से व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देने और प्रतिफलित करने लगता है।

हम देख चुके हैं कि, भारतीय संस्कृति में व्यक्तित्व चेतना का आधान पाश्चात्य संस्कृति के हाथों हुआ है अन्यथा बुद्ध के बाद नवजागरण के आरम्भ तक व्यक्तित्व चेतना का अभाव ही रहा है। फलतः, हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'पिछले दो हजार वर्षों का भारतीय साहित्य कवि के व्यक्तित्व को खोता आया है। कवि जनसाधारण के दुःखों से हट कर अपने ही द्वारा निर्मित बन्धनों में बँधता आया है। वैयक्तिकता की स्वाधीनता छोड़कर वह 'टाइप' रचना की पराधीनता को स्वीकार करता आया है।' अतः व्यक्तित्व चेतना कुल मिलाकर आधुनिक युग की पैदावार है।

व्यक्तित्व चेतना के विकास की दृष्टि से हम आधुनिक हिन्दी साहित्य को पाँच युगों में बाँट सकते हैं : छायावाद पूर्व युग, छायावाद युग, प्रगतिवाद युग, प्रयोगवादयुग और नवलेखन युग। छायावादपूर्व युग में, पश्चिम की उदारवादी संस्कृति से सम्पर्क के फलस्वरूप, आधुनिक व्यतित्व चेतना का बीजारोपण हुआ था। उस युग का साहित्यकार पहले राष्ट्रचेतन, राष्ट्र के व्यक्तित्व के प्रति चेतन हुआ। उसके पूर्व तो आधुनिक अर्थ में भारत का राष्ट्रीय व्यक्तित्व ही नहीं था। यहाँ सब कुछ था, राष्ट्र के व्यक्तित्त्व की चेतना नहीं थी। राष्ट्रने अंग्रेज़ी अमलदारी में व्यक्तित्त्व लाभ किया था। अस्तु, पहले छायावादपूर्व युग में व्यक्तित्त्व चेतना राष्ट्र चेतना के रूप में प्रस्फुटित हुई। तत्कालीन व्यक्तित्त्व चेतना का एक दूसरा रूप भी देखने में आया था—सुधारवाद। नवजागरण द्वारा उद्बोधित व्यक्तित्व चेतना ने मध्ययुगीन रूढ़ियों और मूढ़ग्राहों पर प्रहार कर महासुधार का सूत्रपात किया था। इस प्रकार व्यक्तित्व चेतना ने रूढ़ियों और मूढ़ग्राहों के

बन्धन से छुटकारा पाने का मार्ग ढूँढ़ लिया था।

किन्तु, भारत की सांस्कृतिक चेतना इतनी तेजी से बदल रही थी कि व्यक्तित्व चेतना के लिए अधिक काल तक प्रच्छन्न (राष्ट्रवाद और सुधारवाद के) रूप में रहना असम्भव हो गया और वह छायावाद युग में बड़े वेग से उभर आई। फलतः छायावाद अपने मूल रूप में व्यक्ति-केन्द्रक ही दिखाई देता है। जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, वैयक्तिकता की पूर्ण, अनवदमित अभिव्यक्ति मूल छायावाद में न होकर हालावाद जैसी अतिवैयक्तिकतावादी काव्य प्रवृत्तियों में हुई थी, जिसका उदय छायावाद युग की सांध्यवेला में हुआ था। छायावाद युग में व्यक्तित्व आवरण प्रिय, संकोचशील और वायवीय था और अज्ञात प्रियतम को निवेदित। वह पद-पद अध्यात्मवाद-रहस्यवाद की कुहेलिका में खो जाता था। किन्तु, अतिवैयक्तिकतावाद युग में वह अत्यन्त प्रखर मांसल और उद्दाम हो गया। वस्तुतः अतिवैयक्तिकतावाद युग व्यक्तित्त्व चेतना की पराकाष्ठा का युग है। गाँधीवाद और मार्क्सवाद के प्रभावस्वरूप छायावादियों की समाधि और अतिवैयक्तिकतावादियों की सरमस्ती भंग हुई और छायावाद में तथा अतिवैयक्तिकता-वाद में भी, प्रगतिवाद के नाम से एक नए प्रकार की सामाजिकता का प्रवेश हो गया, जिसके ही हाथों अन्ततः उनका अन्त भी हो कर रहा। किन्तु व्यक्तिवाद की संभावनाएँ अभी चुकी नहीं थीं। अतः प्रयोगवाद ने, जो कुल मिलाकर एक व्यक्ति-केन्द्रक आन्दोलन था, उसे पुनरुज्जीवित किया। छायावादी व्यक्तिवाद की चरम परिणति एक प्रकार की रहस्यमूलक अध्यात्मिक जीवन-दृष्टि में होती है और हालावाद की जीवन के प्रति नैरर्थक्य-दृष्टि और तन्मूलक क्षणवाद-भोगवाद में। प्रयोगवाद का मूल स्वर मनोवैज्ञानिक है वह व्यक्ति को मनोविश्लेषण के चश्मे से देखता है। प्रगतिवाद द्वारा व्यक्ति-मानस की सरासर उपेक्षा, छायावाद की वायवीयता-रहस्योन्मुखता और अतिवैयक्तिकतावाद की अतिमांसलता इन सब की प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रयोगवाद का जन्म हुआ था। फिर भी, प्रयोगवाद में व्यक्तित्व के विश्लेषण के साथ-साथ समाज और संस्कृति के विश्लेषण का एक सबल स्वर भी सुनायी दिया था, जिसकी चरम परिणति 'अन्धा-युग' में दिखाई दी थी। प्रयोगवाद-युग वस्तुतः विविध नई प्रवृत्तियों का युग था, संकीर्ण (एक्लेक्ट्रिक) युग था।

पुनः प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की क्रिया-प्रतिक्रिया से जिस नई प्रवृत्ति, नवलेखन कह लीजिए, का विकास हो रहा है उसमें समाजपरक व्यक्तिवाद का स्वर स्पष्ट है। इस युग में महाकाव्य का स्थान उपन्यास ने ले लिया है, और उपन्यास में युग और समाज का भी विश्लेषण होता है और व्यक्ति का भी। यह सम्पूर्ण विकास-प्रक्रिया, क्रिया-प्रतिक्रिया-नियम अथवा द्वन्द्व-नियम के सहारे चलती दीखती है।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया की सारिणी इस प्रकार होगी—

छायावादपूर्व युग (ठेठ)	**सामाजिकता**
छायावाद युग (शालीन)	**वैयक्तिकता**
अतिवैयक्तिकतावाद युग	**अतिवैयक्तिता**
प्रगतिवाद युग (वर्गपरक)	**अतिसामाजिकता**

प्रयोगवाद युग (विश्लिष्ट) वैयक्तिकता-सामाजिकता

नवलेखन युग समाजपरक वैयक्तिकता अथवा व्यक्तिपरक सामाजिकता

प्रत्येक क्रिया अपनी प्रतिक्रिया को जन्म देती है, एक चरम प्रतियोगी चरम को जन्म देता है। छायावादपूर्व-कालीन समाजोन्मुखता अथवा वाह्योन्मुखता ने छायावादकालीन व्यक्ति केन्द्रकता अथवा आन्तरोन्मुखता की प्रतिक्रिया उत्पन्न की। यह प्रतिक्रिया अतिवैयक्तिकतावाद में पूर्ण हुई। क्रिया-प्रतिक्रिया कह लीजिए अथवा स्थापना-प्रतिस्थापना, अनुयोग-प्रतियोग बात एक ही है। छायावादी अतिवैयक्तिकतावाद की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद के रूप में हुई और छायावाद-अतिवैयक्तिकतावाद तथा प्रगतिवाद की प्रयोगवाद के रूप में। नवलेखन को प्रयोगवाद का ही अगला क़दम माना जा सकता है, माना भी जाता है। हमारी प्रक्रिया से इस मान्यता का कोई विरोध नहीं। क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रम एक ही प्रवृत्ति के निर्मायक तत्वों में भी हो सकता है, उसका एक सोपान पिछले सोपान की प्रतिक्रिया भी हो सकता है।

प्रवृत्तियाँ वस्तुतः दो ही हैं—व्यक्ति केन्द्रकता और सामाजिकता। इन्हीं के विशिष्ट पक्ष और आयाम विशिष्ट युगों में उद्घाटित होते रहे हैं। यह भी ध्यातव्य है कि व्यक्तित्व चेतना के एक बार उद्बुद्ध और विकसित हो जाने पर चाहे जो भी परिवर्तन आते हैं, सब व्यक्तित्व चेतना का आधार लेकर ही चलते हैं—वैयक्तिकता आए चाहे सामाजिकता, व्यक्तित्व चेतना किसी-न-किसी रूप में अनुस्यूत रहती ही है।

अभिनव राष्ट्रचेतना के परिणामस्वरूप छायावादपूर्व आधुनिक साहित्य देश प्रेम सम्बन्धी उद्गार, अतीत की गौरव गाथा और अंग्रेज़ी राज्य की शोषणनीति के प्रति आक्रोश से भर गया था। भारतेन्दुकालीन कवियों ने अंग्रेज़ों की प्रशंसा भी कम नहीं है। उनमें राजभक्ति की भावना भी प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। कुछ लोग इस आधार पर उन्हें अंग्रेज़ों का पिट्ठू होने का फतवा देने लग जाते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं। बात यह है कि आठ-नौ सौ वर्षों के कुल मिलाकर धर्मान्ध मुस्लिम शासन से पीड़ित और त्रस्त हिन्दू जनता को शान्ति प्रेमी और उदार ब्रिटिश शासन की छत्रछाया में राहत की साँस लेने का अवसर प्राप्त हुआ था। उसे अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का मार्ग दिखायी दिया था। भारतेन्दु ने युवराज के आगमन पर लिखा था—

> जैसे आतप-तपित को छाया सुखद गुनात,
> जवन-राज के अन्त तुव आगम तिमि दरसात।
> मसज़िद लखि बिसुनाथ ढिग परे हिए जो घाव,
> ता कहँ मरहम सरिस यह तुव-दरसन नर-राव।

यहाँ स्पष्ट है कि उन कवियों को मुसलमानों से, मुसलमान होने के कारण नहीं, धर्मान्ध और अत्याचारी होने के कारण क्षोभ था, अन्यथा वे तो 'एक-एक हरि-भक्त मुसलमान पर कोटि-कोटि हिन्दू वारने' और मुहम्मद, अली, फ़ातिमा, हसन और हुसैन को 'पंचपवित्रात्मा' मानने को तैयार थे।

इसके अतिरिक्त, मुग़ल साम्राज्य के विघटन के साथ-साथ देश में घोर अनाचार, अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। अंग्रेज़ों के हाथों इस दुःस्थिति का

अन्त हुआ और देश में एक सुशासन की स्थापना हुई थी, जिसके प्रति जनता में कृतज्ञता की भावना स्वाभाविक ही है।

यही कारण है कि सन् १८५७ के राजद्रोह को किसी-किसी तत्कालीन कवि ने कुछ मूर्खों का कृत्य बतलाया है। उस विद्रोह का लक्ष्य था पूर्व स्थिति का स्थापन, जिसकी कल्पना मात्र से अनेक तत्कालीन बौद्धिक काँप उठते थे। जिन सुल्तानों, नवाबों और रजवाड़ों का शासन पुनः स्थापित होता उनके दुःशासन की याद ताज़ा थी। वस्तुतः अंग्रेज़ों तथा अंग्रेज़ी शिक्षा ने इस विद्रोह को ग़लत रूप में सामने रखा था। इसके साथ ही, किसी समुज्ज्वल लक्ष्य के अभाव में विद्रोह बौद्धिकों को कम ही आकृष्ट कर सका। अतः विद्रोह के सम्बन्ध में अधिकांश साहित्यकारों का मौन धारण और किसी-किसी का उस पर लिखना तो उसे मूर्खों का कृत्य बतलाना उनमें देश प्रेम और राष्ट्रियता की कमी नहीं सिद्ध करता।

वस्तुतः भारतेन्दुकालीन कवियों को अंग्रेज़ों से देश की समुन्नति की आशा थी। कांग्रेस के संस्थापकों को भी थी, किन्तु जहाँ भी उन्हें अंग्रेज़ों में दोष दिखाई दिये वहीं उन्होंने उनका पर्दाफ़ाश करने में कसर भी नहीं रखी। एतदर्थ, भारतेन्दु को अंग्रेज़ों का कोप-भाजन भी बनना पड़ा था। और तो और, उन्होंने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का भी प्रचार किया था। वस्तुतः भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम राष्ट्र कवि कहे जा सकते हैं, जिन्हें होली जैसे उल्लासमय त्यौहार के चित्रण के समय भी देश की दुर्दशा का ध्यान विकल कर देता है—

भारत में मची है होरी।
× × ×
भइ पतझार तत्त्व कहुँ नाहीं सोई बसन्त प्रकटो री।
पीरे मुख भइ प्रजा दीन ह्वै, सोई फूली सरसों री।
सिसिर को अन्त भयो री।
× × ×
उठौ उठौ सब कमरन बाँधौ शस्त्रन शान धरो री।
विजय निसान बजाइ बावरे आगेइ पाँव धरो री।

१८८० में लिखी इन अन्तिम पँक्तियों को देखकर प्रतापनारायण मिश्र का भारतेन्दु के विषय में कहा हुआ एक शेर याद आता है—

बहुत लोगों को है दावा वतन की ख़ैरख़्वाही का,
कोई पूछे तो इनसे चाल यह किसकी उज़ई है।

भारतेन्दु की कविता ने राष्ट्र को कर्मठता की प्रेरणा दी थी। 'शिवोऽहं शिवोऽहं' और 'अहं ब्रह्मास्मि' की रट लगाने वाले अकर्मण्यों और दम्भियों को उन्होंने कैसी लताड़ बतायी है—

शिवोऽहं भाखत हैं सब लोग।
कहँ शिव कहँ तुम कीट अन्त के यह कैसो संयोग।
अरध अंग में पारवती हू शिवहि न काम जगावै,
तुमको तो नारी के देखत अंग गुदगुदी आवै।

रचि कै मत वेदान्त को, सबको ब्रह्म बनाय।
हिन्दुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय।

यह कर्मठ पाश्चात्य संस्कृति द्वारा उद्बोधित और उत्प्रेरित कर्मयोग का युग ही था। सर सय्यद, हाली और एक़बाल ने मुसलमानों और दयानन्द, तिलक और विवेकानन्द ने हिन्दू जाति को कर्मठता का मंत्र दिया था।

इसी प्रकार राष्ट्र चेतना भारतेन्दुकालीन कवियों ने सामाजिक कुरीतियों—बहुविवाह, छुआछूत, सम्प्रदायों की संख्या वृद्धि आदि—की कड़ी आलोचना की है।

भारतेन्दु के हाथों ब्रजभाषा के संकुचित कैनवस को अभूतपूर्व विस्तार प्राप्त हुआ। उसमें भक्ति और शृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों के चित्रण की भी शक्ति आ गयी। उन्होंने अवधी की भी इसी प्रकार श्री वृद्धि की। उन्होंने खड़ी बोली में भी प्रयोग किये थे।

ऐसा नहीं कि, उन्होंने भक्ति और रीति की परम्पराओं को सर्वथा तिलांजलि ही दे दी हो। उन्होंने दर्जनों भक्ति भाव से पूर्ण कविताएँ की हैं। उनके अनेक सवैयों और कवित्तों में रीति की अदा दिखाई देती है। उनमें नख-शिख, नायिकाभेद सब कुछ है किन्तु उनमें अनुभूति का योग स्पष्ट है।

वस्तुतः भारतेन्दु युग में हिन्दी साहित्य ने प्रथम बार परिसर की व्यापक चेतना का परिचय दिया था। द्विवेदी युग में भी 'चींटी से लेकर पर्वत पर्यन्त' प्रत्येक विषय पर कविता लिखने का आग्रह दिखाई देता है। समाज और प्रकृति का जितना व्यापक सर्वेक्षण द्विवेदी-काव्य में मिलता है उतना अन्यत्र कम देखा गया है। अवश्य ही, जैसा भारतेन्दुकालीन काव्य में वैसा यहाँ भी, व्यापकता की तुलना में गहराई बहुत ही कम है, किन्तु तब भारतीय जीवन जिस द्रुतगति से बदल रहा था उसे देखते हुए काव्य के लिए भावों और विचारों में गम्भीरता की निष्पत्ति असाधारण प्रतिभा की अपेक्षा करती है। ऐसा काव्य अधिकतर वर्णनात्मक, विवरणात्मक और इतिवृत्तात्मक होने को बाध्य है। उसमें कला पर नहीं कथ्य पर जोर का होना स्वाभाविक ही है। वैसे, हरिऔध के प्रिय-प्रवास को इतिवृत्तात्मक नहीं कहा जा सकता।

छायावादपूर्व युग, विशेषतः द्विवेदी युग, की इतिवृत्तात्मकता का एक बड़ा कारण है स्वामी दयानन्द का प्रभाव। स्वामी जी के उपदेशों से शास्त्रार्थ खण्डन मण्डन की जो गूँज उठी उसने पर्यावरण को तर्क कर्कश बना दिया और कला की स्वच्छन्दता और निरंकुशता पर अंकुश लगा दिया। उनका पवित्रतावादी आन्दोलन द्विवेदीकालीन साहित्य में अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रकट हुआ। तत्कालीन कविता को कभी-कभी 'शुभ्रवसना संन्यासिनी' कहकर पुकारा जाता है। यह उसके नारी को सम्मान की दृष्टि से देखने, नायिका मात्र न समझने के कारण अन्यथा, दयानन्द, तिलक, विवेकानन्द को कर्म की चुनौती से परिव्याप्त वातावरण में गृहलक्ष्मी और रणचण्डी का आदर्श उस युग के अधिक अनुरूप था। तत्कालीन कविता में सती साध्वी देवियों और वीर क्षत्राणियों के चित्रण का बाहुल्य है, कामिनियों का नहीं। अवश्य ही, इसके कारण कविता में नीरसता की सीमा तक रूक्षता और परुषता आ गई।

रीति युग में स्त्री और पुरुष के बीच केवल नायिका नामक सम्बन्ध की विवृत्ति मिलती है। भारतेन्दु युग में सामान्यतः और द्विवेदी युग में विशेषतः स्त्री पुरुष सम्बन्ध के अन्य रूपों

की भी विवृत्ति हुई। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में कई उपेक्षित नारी पात्रों—उर्मिला, यशोधरा आदि ने शताब्दियों की प्रतीक्षा के बाद न्याय पाया।

वस्तुतः भारतेन्दु काल का सामान्यतः और द्विवेदी काल का विशेषतः, मूल स्वर मानवतावाद है। तत्कालीन कवियों का ईश्वर भी, स्वर्ग में नहीं, दीन-दुखियों के बीच निवास करता है। पीड़ित मानवता के प्रति समवेदना-प्रकाश द्विवेदीकालीन साहित्य में सर्वत्र पाया जाता है।

भारतेन्दु युग रूढ़ि में अनास्था और नवजीवन में आस्था का युग है। यह आस्था द्विवेदी युग में अपनी पराकाष्ठा को पहुँची दीखती है। एतत्कालीन कवि का लक्ष्य स्पष्ट है। उसे कहीं भी कोई विप्रविपत्ति नहीं है। जन मानस के समान ही कवि मानस भी संशय और विचिकित्सा से रहित है। सभी मूल्य मान और आदर्श सर्वस्वीकृत और चिरन्तन हैं।

परिसर चेतना के फलस्वरूप साहित्य जो कि नायिका के नख-शिख वर्णन जैसे विषयों तक ही सीमित था, अब प्रगतिशील और जीवनोन्मुख हुआ। साहित्य के बदले हुए स्वर का अनुमान पंडित मदनमोहन मालवीय के अधोलिखित सवैये से किया जा सकता है—

भारत चारहुँ ओर दुखी दुख भोगत बीति गे वर्ष हजारन।
ध्यान रतीक दियो चहिये दुख कौन उपाय सो होय विचारन।
सो सब दूरि रहै 'मकरन्द' समै इन बातन में किहि कारन।
होय सो होय इहाँ नहिं भूलनौ राधिका रानी कदम्ब की डारन।

प्रताप नारायण मिश्र की निम्नलिखित कविता में भी रीतिकालीन काव्यधारा पर तीखी चोट पायी जाती है—

महँगी और टिकस के मारे हमहि क्षुधा पीड़ित तन छाम।
साग पात लौ मिलै न जिय भर लेषो बृथा दूध को नाम॥
तुमहिं कहा प्यावैं, जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमुखि-अलक उपमा लाहि नाग देवता तृप्यत्ताम्।

ये कवितायें सर एक़वाल की निम्नलिखित कविता 'हुनरपराने हिन्द' की याद दिलाती है —

इश्क़ो मस्ती का जनाज़ा हैं तखय्युल इनका
इनके अन्देशए तारीक में क़ौमों के मज़ार
मौत की नक़्शगरी इनके सनम-खानों में
ज़िन्दगी से हुनर इन बरहमनों का बेज़ार
चश्मे आदम से छुपाते हैं मक़ामाते बलन्द
करते हैं रूह को ख़ाबीदा, बदन को बेदार
हिन्द के शाइरो सूरतगरो अफ़सानानवीस
आह ! बेचारो के आसाब पै औरत है सवार

द्विवेदी युग में बालमुकुन्द गुप्त ने उर्दू पर जो चोटें की हैं उनमें भी उर्दू कवियों की शृंगारिता और उत्तेजकता की ही निन्दा मिलती है। आधुनिकता के बदले हुए स्वर का सही

अनुमान करने के लिए वह कविता नीचे दी जाती है—

न बीबी बहुत जी में घबराइए, सम्हलिए जरा होश में आइए।
करो और कलियों का पाजागा चुस्त, वह धानी दुपट्टा और नकसक दुरुस्त।
वह दाँतों में मिस्सी घड़ी पर घड़ी, रहे आँख आइने ही से लड़ी।
मगर इतना जी में रखो अपना ध्यान, यह बाजारी पोशाक है मेरी जान।
जना था तुम्हें माँ ने बाजार में, पली शाहआलम के दरबार में।
मिली तुमको बाज़ारी पोशाक भी, वह थी दोगले काट की फ़ारसी।
मेरी गुफ़्तगू और हिन्दी के हर्फ़, वह शोला फिशानी यह दश्याम बर्फ।
इस अन्दाज़ पे दिल हुआ लोट-पोट, दुलाई में अतलस के गाढ़े की गोट।
तुम आई हो अंग्रेज़ी दरबार में, तो अब छोड़िए शोक बाज़ार का।
यहाँ आई हो, आँख नीची करो, लटकने चटकने पे अब मत मरो।
न कालियों की अब यों दिखाओ बहार, कभी यां पे चलिये न सीना उभार।
वह अब काम छोटे पे अपने करो, यहाँ तो अदब ही को सिर पर धरो।
यह सरकार ने दी है जो नागरी, इसे तुम न समझो निरी घाघरी।
समझ लो अदब की यह पोशाक है, हया और इज़्ज़त की यह नाक है।
बुराई न इसकी करो दूबदू, बढ़ायेगी हरदम यही आबरू।
करो शुक्रिया जी से सरकार का, कि उसने सिखाई है तुमको हया।

रीतिकाल की परम्परा से सम्बद्ध कवियों की असत्यवादिता की निन्दा में एक अन्य कवि ने लिखा है—

एती झूठी जुगुती बनावै औ कहावै कवि,
ताहू पै कहै कि हमें सारदा को वर है।

उर्दू के प्रसिद्ध कवि अल्ताफ़ हुसैन 'हाली' ने कवियों की असत्यवादिता की निन्दा में यहाँ तक कह डाला है—

गुनहगार वाँ छूट जायेंगे सारे
जहन्नुम को भर देंगे शायर हमारे

वस्तुतः तत्कालीन सुधार आन्दोलनों की गूँज से अनुगूँजित पर्यावरण में देश में सर्वत्र पवित्रतावाद, व्यवहारवाद और जीवनवाद की एक लहर सी आ गई थी जो रीतिकालीन परम्पराओं को एक साथ ही बहा ले गई। इसी लहर का यह परिणाम था कि हिन्दी कविता में परिसरानुकूल पर्यावरण की सृष्टि हुई। द्विवेदी काल में यह प्रवृत्ति खूब पल्लवित-पुष्पित हुई। खेद का विषय है कि हिन्दी कवियों ने युगानुकूल कला की उद्भावना की ओर कम ध्यान दिया—सम्भवतः ऐसी कला की सृष्टि उनके वश की बात भी नहीं थी,—जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी का एक़बाल आते-आते रह गया। क्या ही अच्छा होता यदि 'प्रगतिशील' कवियों ने आधुनिक जीवनवादी काव्यधारा की इस कमी की ओर ध्यान दिया होता। उर्दू के प्रगतिवादियों ने इस ओर किसी सीमा तक अवश्य ध्यान दिया, जिसके फलस्वरूप आधुनिक, प्रगतिवादी उर्दू काव्य में जीवन और कला का सहयोगपूर्ण स भाव सम्भव हो सका। यही कारण है कि हिन्दी

का प्रगतिवादी आन्दोलन अपने मूल रूप में कब का समाप्त हो चुका है, जबकि उर्दू काव्य में प्रगतिवादी आन्दोलन अभी भी जोरों पर है। वस्तुतः उर्दू काव्य में हाली और एक़बाल की परम्परा अपने मूल रूप में तो नहीं चल सकी—यद्यपि इससे उसकी महत्ता में कभी नहीं आती, तथापि उस स्वस्थ परम्परा का लाभ तरक़्क़ी-पसन्दों प्रगतिवादियों ने ख़ूब उठाया और इस प्रकार उर्दू में कलापूर्ण जीवनवाद की एक स्वस्थ धारा प्रवाहित हो सकी।

शुद्ध साहित्य और शुद्ध कला की दृष्टि से भारतेन्दुकालीन साहित्य कुल मिलाकर अत्यन्त साधारण कोटि का ही कहा जाना चाहिए। इसका कारण, तत्कालीन साहित्यकारों की प्रतिभा की सीमाओं को भी माना जा सकता है। यह कहना कि खड़ी बोली हिन्दी के आदि काल में इसी कोटि का साहित्य रचा जा सकता था, अनैतिहासिक और अतात्त्विक है। यह तर्क अधिक से अधिक प्राचीन, आदिम भाषाओं के ही सन्दर्भ में समीचीन माना जा सकता है। नवीन भाषाओं की स्थिति निराली है। यदि कोई नवीन भाषा अविकसित है तो उसका कवि अन्य सुलभ भाषाओं से प्रेरणा लेकर उत्तम काव्य रच सकता है, बशर्ते कि उसमें प्रतिभा की कमी न हो। पुश्किन, चासर, कबीर, जायसी, तुलसी, वली दक्कनी जैसे साहित्यकारों ने ऐसी भाषाओं को चार चाँद लगाए जिनकी कोई दीर्घ अथवा प्रौढ़ साहित्यिक परम्परा नहीं थी। भारतेन्दु के कनिष्ठ समसामयिक रवीन्द्र को तो जाने दीजिए, भारतेन्दु युग में खड़ी बोली के ही दूसरे रूप उर्दू का भण्डार ग़ालिब, हाली, अकबर जैसे कवि वरेण्य भर रहे थे। अतः मानना ही होगा कि भारतेन्दुकालीन हिन्दी कवियों में प्रतिभा की पूँजी अपर्याप्त थी। वस्तुतः साहित्य में सब कुछ परिस्थिति के मत्थे मढ़ कर प्रतिभा की प्रभविष्णुता की उपेक्षा करना दृष्टि की घोर अनैतिहासिकता का परिचय देना है।

वस्तुतः आधुनिक काल के आदि कवियों साहित्यिकों में प्रतिभा उतनी नहीं की जितनी लगन, पाण्डित्य उतना नहीं था जितनी स्वस्थ प्रयोगों की भूख, कला उतनी नहीं थी जितनी जीवन की परख।

द्विवेदी युग अंग्रेज़ी साहित्य के पोप-जानसन युग से बहुत-कुछ साधर्म्य रखता है। पोप-जानसन युग की अनुशासनप्रियता और कठोर नैतिकतावादिता द्विवेदी युग की भी विशेषताएँ हैं। किन्तु उसके पोप-जानसन युग से कई वैधर्म्म भी उतने ही प्रखर हैं। पोप-जानसन युग की भाषा कृत्रिम और आलंकारिक थी, जब कि द्विवेदी युग की भाषा अपनी सादगी और व्यावहारिकता के लिए प्रसिद्ध है। भाषा की कृत्रिमता और आलंकारिकता, मोटे तौर पर, रीति युग की विशेषता है। पोप-जानसन युग के मुक़ाबिले की नियमबद्धता, रूढ़िबद्धता और शास्त्रीयता भी, द्विवेदी युग में नहीं, रीति युग में पायी जाती है। वस्तुतः रीति युग की और न्यूनाधिक भारतेन्दु युग की भी, रूढ़ि-रीतिबद्धता के विरुद्ध सैद्धान्तिक स्तर पर विद्रोह द्विवेदी युग में ही आरम्भ हो गया था। हाँ, उस विरोध का काव्य में अवतार छायावाद युग में ही हो सका। अस्तु, पोप-जानसन युग के बाद स्वच्छन्दतावाद आया था। यहाँ भी रीति युग, भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के बाद एक प्रकार का स्वच्छन्तावादी आन्दोलन छायावाद के रूप में प्रकट हुआ।

द्विवेदी काल में व्यक्तित्व चेतना का अधिक विकास नहीं हो सका था। उस समय तक

हिन्दी साहित्य में नए-नए प्रयोग अवश्य होने लगे थे, रीतिकाल में एक प्रकार से पूर्ण स्वातंत्र्य की घोषणा भी हो चुकी थी, किन्तु रीतिकालीन काव्य की कला का लोहा सभी को मानना पड़ता था। सच पूछा जाय तो, छायावादपूर्व आधुनिक युग में जीवन के आगे कला को कोई पूछता ही नहीं था। छायावाद युग में आधुनिक हिन्दी साहित्य की यह कमी भी पूरी हो गयी। उसने रीतिकालीन कला का स्थानापन्न तलाश कर लिया। आधुनिक युग जीवन और कला दोनों क्षेत्रों में अपने पैरों पर खड़ा हो गया, उसका व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्णता में उभर आया।

यूरोप का स्वच्छन्तावादी आन्दोलन छायावाद से एक शती पुराना है। उसने वैयक्तिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक स्वान्तन्त्र्य का जय घोष किया। मनुष्य ने सामन्ती मध्ययुग से निकल कर उदारतावाद पूँजीवाद से युग में प्रवेश किया। मनुष्य के अधिकारों की घोषणा हुई। कुछ ऐसा ही छायावाद युग में भी हुआ। छायावादी कवियों ने यूरोप के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से अवश्य प्रेरणा ली थीं। कुछ लोग छायावाद को सर्वथा मौलिक सिद्ध करने की धुन में कह जाते हैं कि हिन्दी का कवि सत्तर-अस्सी वर्ष पहले ही समाप्त यूरोपीय स्वच्छन्दतावाद का अनुकरण क्यों करता, उसे तो पश्चिम में उस समय प्रचलित अनास्थावादी, ह्रासोन्मुखी कविता का अनुकरण करना चाहिए था। किन्तु लोग भूल जाते हैं कि अनुकरणकर्ता इस सीमा तक कालज्ञता नहीं बरतता। हमारे यहाँ अंग्रेज़ी के प्रायः पाठ्यक्रम में सम्मिलित कवियों का ही प्रभाव देखने को मिलता है और समसामयिक कवि यहाँ के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित ही कहाँ हो पाते हैं।

किन्तु छायावाद स्वच्छन्दतावाद का अनुकरण मात्र नहीं है। नवजागरण के फल-स्वरूप यहाँ व्यक्तित्व चेतना का विकास द्रुत गति से हुआ था, जो किसी न किसी व्यक्तिवादी, व्यक्ति-केन्द्रित काव्यान्दोलन को रूप ले लेने का बाध्य था। आधुनिक साहित्य रीतिकालीन रूढ़ि-बद्धता शास्त्रीयता को तिलांजलि दे कर नई विषय वस्तु को प्राप्त कर चुका था, पर नई कला की तलाश जारी थी। द्विवेदीकालीन मर्यादावाद और उपदेशवाद के बोझ से रही-सही कला भी दब गई थी। व्यक्ति आत्माभिव्यक्ति के लिए छटपटा रहा था। ऐसी स्थिति में छायावाद के उदय के लिए क्षितिज अनुकूल था। छायावाद के बीज श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी में ही नहीं, कबीर, मीरा, रसखान, घनानन्द और बोधा में भी ढूँढ़ने की चेष्टा की गई है। अतः यूरोपीय स्वच्छन्दतावाद के प्रभाव के अभाव में भी स्वच्छन्दतावाद से पर्याप्त सादृश्य रखने वाली कोई न कोई प्रवृत्ति अवश्य जन्म लेती। अन्य बातों के बराबर होने की शर्त अवश्य है।

छायावाद के मूल में रवीन्द्र का प्रभाव भी उतना नहीं दिखाई देता है जितना बहुधा समझा जाता है। माखनलाल चतुर्वेदी की कुछ प्रारम्भिक कविताओं और जयशंकर प्रसाद के 'प्रेमपथिक' में ही छायावादी प्रवृत्ति स्पष्ट हो गई थी। किन्तु छायावाद के इन आदि कवियों पर तब तक रवीन्द्र का कोई प्रभाव नहीं प्रतीत होता। रवीन्द्र का प्रभाव निराला और पन्त ही में दिखायी देता है। अतः रावीन्द्रिक प्रभाव का योग, छायावाद के उद्भव में नहीं, विकास में ही दिखायी देता है। यही बात प्रतीकवादी प्रभाव के विषय में कही जा सकती है।

छायावाद के उद्भव और विकास में विवेकानन्द, रामतीर्थ, रवीन्द्र और गांधी की

आध्यात्मिक जीवन दृष्टि का भी योग है। गांधी के राष्ट्रीय आन्दोलन और उसकी आरम्भिक विफलताओं का भी छायावाद पर थोड़ा बहुत प्रभाव दिखायी देता है।

इस सन्दर्भ में प्रतिभाओं की प्रभविष्णुता प्रायः भुला दी जाती है। वस्तुतः यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के अभाव में हिन्दी में कोई अन्य प्रवृत्ति जन्म न लेती।

स्वच्छन्दतावाद में कुछ-न-कुछ दार्शनिकता और रहस्योन्मुखता भी रहती ही है। किन्तु छायावाद में रहस्यात्मकता का पुट अपेक्षतया अधिक था। इसका कारण विवेकानन्द आदि की आध्यात्मिक जीवन दृष्टि का प्रभाव तो था ही, कबीर, मीरा आदि मध्ययुगीन रहस्यवादियों और काश्मीरी शैव दर्शन का प्रभाव भी था, तथापि छायावाद को रहस्यवाद समझ लेने की भूल नहीं होनी चाहिए। छायावाद में असीम और अज्ञान के प्रति जिज्ञासा और कुतूहल का भाव तो पाया जाता है, कवि अतीत और अज्ञात की झलक से विभोर भी हो उठता है, उसमें एक प्रकार की वेदनामय खिन्नता का भी प्रकोप पाया जाता है, वह प्रकृति में प्राण का स्पन्दन भी पाता है, उसमें कभी-कभी उत्कट सर्वात्म चेतना का भी पता मिलता है, किन्तु असीम और अज्ञात की झलक के साथ-साथ उसकी प्राप्ति की ललक, उसके प्रति पागल कर देने वाले प्रेम, उसके प्रति आत्मसमर्पण की भावना जो रहस्यावाद के भेदक लक्षण हैं, का अभाव ही रहा है। अज्ञात प्रियतम से संयोग-वियोग का चित्रण रहस्यवाद की जान है, किन्तु छायावाद में ऐसे चित्रण का प्रायः अभाव ही है। पंत की 'मौन निमंत्रण' जैसी कविता और प्रसाद के 'आँसू' के कई स्थल रहस्यवाद की सीमा को छूते हुए अवश्य जान पड़ते हैं। 'आँसू' में तो प्रियतम से वियोग का चित्रण भी मिल जाता है। किन्तु इन अपवादों के आधार पर छायावाद को रहस्यवाद से समीकृत नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, रहस्यवाद का सम्बन्ध एक विशेष प्रकार की साधना, संवेदना और जीवनचर्या से है, जिससे छायावादी कवियों का सम्बन्ध ही नहीं रहा है।

वस्तुतः अन्तिम विश्लेषण में, छायावादी काव्य का मूल स्वर, लौकिक प्रेम मूलक ही प्रतीत होता है। द्विवेदी युग में रीतिकालीन मांसल सौन्दर्य-श्रृंगार और विलासिता के साथ-साथ सौन्दर्य मात्र का बहिष्कार सा हो चुका था। पवित्रतावाद के हाथों सारी सरसता का अन्त हो गया था। साहित्यिक पर्यावरण पर एक विचित्र प्रकार की नीरसता छा गयी थी। यह स्थिति नवयुग की नवचेतना और उत्कट व्यक्तित्व-चेतना से अनुप्राणित प्रतिभाओं के लिए असह्य हो उठी। किन्तु पवित्रतावाद के आतंक से रीतिकालीन मांसल विलासमूलक सरसता का पुनरुत्थान असम्भव था। परिणामतः एक सूक्ष्म, अमांसल, लोकोत्तर सौन्दर्य-बोध का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें उन्मुक्त प्रेम की उद्दाम किन्तु अवरुद्ध और अवदमित वासना की अभिव्यक्ति के लिए एक नया, निरापद मार्ग मिला।

रीतिकालीन विलासवाद के प्रति विद्रोह भाव और दयानन्द और गांधी के पवित्रतावाद से परिव्याप्त पर्यावरण में प्रेयसी से प्रेम निवेदन स्थूल, कुरुचिपूर्ण, और अशिष्ट माना जाने लगा था। नारी पहले की अपेक्षा अधिक गरिमामयी और आदरणीय हो गई थी, जिसके प्रति प्रेम-निवेदन में भी प्रेमी को शिष्टता और शालीनता का परिचय देना आवश्यक था। विश्वम्भर-

नाथ उपाध्याय ने लिखा है 'विश्वविद्यालय की किसी युवती के सम्मुख यदि उसका प्रेमी, हे रम्भोरु ! हे नितम्बिनी ! कहे तो वह प्रेमिका अपमानित अनुभव करेगी। अतः छायावादियों ने नारी के नए सामाजिक स्तर के अनुरूप प्रेम का विधान किया है।' अवश्य ही, कहीं-कहीं छायावादी सौन्दर्य बोध इस संयम का बाँध तोड़ रीतिकालीन भाव-भङ्गिमा दिखला जाता है, 'अमियों से उकसे उरोज' भी निहारने लग जाता है; अन्यथा वह नारी सौन्दर्य को 'त्रिवेणी की लहरों का गान' जैसे सम्मानपूर्ण विशेषण देता हुआ पाया जाता है।

भक्ति काल में अंशतः उदात्तीकृत और अधिकांशतः अवदमित प्रेम-वासना को रीति काल में मुक्त संचरण का अवसर प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार द्विवेदीकालीन पवित्रतावादी नैतिकता और मर्यादावाद द्वारा अवदमित प्रेम वासना ने छायावाद में बहुत कुछ स्वातंत्र्य लाभ किया, किन्तु पवित्रतावाद का वेग अभी शान्त नहीं हुआ था। अतः प्रेम वासना को स्वप्न लोक, अमूर्त संसार और प्रकृति में ही अभिव्यक्त होने का अवसर मिल पाया।

स्वच्छन्दतावादी स्वनिर्मित कल्पना-लोक, परी-लोक का निवासी होता है। भौतिक जगत् के कटु सत्य जब उसे बरबस धरती पर खींच लाते हैं तब वह जगत् में दुःख ही दुःख महसूस करने लगता है। इस दुःख का एक अन्य, महत्त्वपूर्ण कारण है उसकी लोक के प्रति कारुण्य की भावना। वस्तुतः दुःख ही वह तन्तु है जिसके द्वारा वह अपने को भौतिक जगत् से बँधा हुआ पाता है। छायावादियों में भी दुःख-चेतना उत्कट रही है। प्रसाद पर बौद्ध दुःखवाद का—'सर्वं दुःखम्' सिद्धान्त का—पर्याप्त प्रभाव रहा है, यद्यपि वे शैवागमों के आनन्द-वाद से उसे शोधते रहे हैं। वे वेदना-चेतना को छायावाद का अभिन्न अंग मानते थे। उनकी छायावाद की परिभाषा ही है, 'जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद नाम से अभिहित किया गया।' महादेवी ने भी लिखा है, 'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।....विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।' वस्तुतः स्वच्छन्दतावादी-छायावादी वेदना का स्वरूप इतना ही नहीं है। उसका दूसरा पक्ष है। 'काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन।' अवश्य ही, दुख का यह दूसरा रूप छायावादी काल में वहीं मिल पाता है जहाँ रहस्यवाद का स्पष्ट पुट है।

इस वेदनावाद से ही निराशावाद का जन्म होता है। पहले तो कवि वेदना में ही अपने को भूलने की चेष्टा करता है। दुःख और अवसाद भरे गीतों को मधुरतम मानने लगता है। किन्तु कठोर वास्तविकता के थपेड़े उसे कहीं का नहीं रहने देते। वह घोर निराशावादी बन जाता है। यह निराशावाद सभी छायावादियों में न किसी रूप में विद्यमान है। हिन्दी में सुमित्रानन्दन पन्त की लम्बी कविता 'परिवर्तन' में निराशावाद का स्वर बड़ा तीव्र है। प्रसाद का 'आँसू' और महादेवी की 'मैं नीर भरी दुख की बदली' जैसी कविताएँ इसके अन्य

उदाहरण हैं। कहते हैं कि छायावाद हिन्दी साहित्य में वह पारस मणि बन कर आया था जिससे जो वस्तु छू जाती थी, वह सोना बन जाती थी। भाषा, भाव, शैली छन्द, सब कुछ में उसने आमूल चूल परिवर्तन ला दिया। द्विवेदी युग के काव्य में स्वीकृति के लिए दर-दर भटकने वाली खड़ी बोली को तो उसने निहाल कर दिया। वह छायावादियों के हाथों इतनी संपुष्ट, संवर्धित और परिमार्जित हो गई कि उसने ब्रजभाषा को सदा के लिए उखाड़ फेंका। 'पल्लव' की भाषा सुकुमारता, रमणीयता और मिठास में अपना सानी नहीं रखती।

छायावाद को बहुधा द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया माना जाता है। इस मान्यता में सार अवश्य है। द्विवेदी युग में विवरण प्रधान रचनाओं का बाहुल्य था, ऐसे विवरण जो रसोद्रेक पूर्ण न हो कर मात्र सूचनात्मक, 'मैटर ऑव फ़ैक्ट' होकर रह जाए। 'प्रिय प्रवास' और 'जयद्रथ-वध, को छोड़ कर लगभग सारा द्विवेदीकालीन काव्य इतिवृत्तात्मक लगता है। इसके अतिरिक्त द्विवेदीकालीन काव्य अधिकतर कथामूलक था और कथा में इतिवृत्तात्मक स्थलों की भरमार भी सामान्यतः रहती है। वस्तुतः द्विवेदी-युग की कविता का उपजीव्य नैत्यक जीवन से सम्बद्ध, नित्य प्रति अनुभव और व्यवहार में आने वाले, अतिपरिचित विषय थे। 'मादक नवीनता' का खोजी छायावादी अपरिचित की ओर उड़ान भरता हुआ परी लोक में पहुँच जाता है। एतदर्थ उसे काव्य के अन्य रूपों के स्थान पर प्रगीत का अवलम्बन लेना अधिक सुकर और सुविधाजनक जान पड़ता है। इसी कारण छायावाद प्रगीतों के उत्थान का आन्दोलन था, वह कविता-सामान्य के प्रति प्रगीत का विद्रोह था। प्रगीतों में काव्य अपने खाँटी रूप में, विजातीय द्रव्य से सर्वथा असम्पृक्त रहता है।

इतिवृत्तात्मक काव्य अभिधा शैली की अपेक्षा करता है। वर्णन, यथातथ्य वर्णन की सुकरता अभिधेयार्थ द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। इतिवृत्तात्मकता की अस्वीकृति के कारण छायावाद में सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता तथा अभिधा की अनपेक्षा के कारण लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि का मान बढ़ा। इतिवृत्तात्मकता के कारण काव्य में एक प्रकार की निर्वैयक्तिकता आ जाती है, उसमें कवि का व्यक्तित्व कम ही प्रतिफलित हो पाता है। छायावाद इस निर्वैयक्तिकता के प्रति वैयक्तिकता का विद्रोह माना जा सकता है। इसी प्रकार, द्विवेदीकालीन काव्य परिसरोन्मुख है, जबकि छायावादी काव्य परिसर का सर्वेक्षण कम करता है, वह आत्मोन्मुख अधिक है। छायावाद में प्रकृति चित्रण अवश्य गिलता है, किन्तु वह प्रायः प्रेयसी बनकर अपनी परिसरता खो देती है। द्विवेदी युग में राष्ट्र समाज, और सभ्यता की निर्वैयक्तिक विवृत्तियों का ही प्राधान्य था, सूक्ष्म मनोवेगों, कुतूहल, और कल्पना के लिए उसमें कम स्थान था। छायावाद ने कवि-दृष्टि को परिसर से हटा कर अन्तर्मुखी कर दिया, फलतः छायावाद को वाह्य के प्रति अन्तस् का विद्रोह कहा जा सकता है। इसी प्रकार उसे वस्तु बोध के प्रति भाव बोध, रस बोध, और कल्पना-प्रवणता का विद्रोह भी कहा जा सकता है। छायावाद में सामान्य कविता के स्थान पर प्रगीतों की बाढ़ के कारण उसे उर्दू-शब्दावली में, नज़्म के प्रति तग़ज़्ज़ुल का विद्रोह भी कहा जा सकता है।

छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी कहा जा सकता है, कहा भी गया है। द्विवेदीकालीन कवियों ने जीवन की रूक्षता, यथार्थ अथवा वास्तव की कठोरता से उलझने की

प्रवृत्ति दिखलाई थी। यह विशेषता उनके पक्ष में पड़ती है। यह और बात है कि इस प्रक्रिया में वे कहाँ तक सफल हो सके, श्रेष्ठ काव्य दे सके। वस्तुतः वे जीवन के स्थूल पक्षों से ही उलझ सके, उन्होंने कोमल मधुर भावों की उपेक्षा की। छायावाद ने उसकी प्रतिक्रिया में वाह्य जीवन, स्थूल वास्तविकता, से दृष्टि ही फेर ली और उसने सूक्ष्म भावों की विवृत्ति को ही अपना सर्वस्व बना लिया। इस प्रकार उसे जीवन की रूक्षता के प्रति कला की सुषमा-कोमलता का विद्रोह भी कहा जा सकता है।

द्विवेदीकालीन कवियों का कैनवस विस्तृत था, उनकी कविता का उपजीव्य विशाल राष्ट्रीय सामाजिक जीवन था, जिसकी कोई इयत्ता नहीं थी। किन्तु कुछ तो इसके कारण और कुछ अन्य कारणों, प्रतिभा की स्वल्पता आदि से उनकी कविता में गहराई क्षत हुई, गहराई आ ही नहीं पायी। छायावादी काव्य की विषय-वस्तु सिमट कर बहुत छोटी रह गयी, किन्तु उसमें गहराई की निष्पत्ति खूब हुई। कवियों ने सूक्ष्मेक्षिका और संवेदना की तीव्रता का खूब परिचय दिया। इस प्रकार हम छायावाद को व्यापकता के प्रति गहराई का विद्रोह भी कह सकते हैं।

छायावाद द्विवेदी युग की नीरस उपदेशात्मकता के प्रति सरसता, मार्यादिकता, शास्त्रीयता और पवित्रतावादिता के प्रति स्वच्छन्दतावादिता, सत्य और शिव के प्रति सुन्दर का विद्रोह भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार उसे पारस्परिकता के प्रति मौलिकता और ज्ञान के प्रति अज्ञान और रहस्यमय का भी विद्रोह माना जा सकता है। वस्तुतः छायावाद सम्पूर्ण द्विवेदी-युगीनता के प्रति विद्रोह का उद्घोष लेकर हिन्दी जगत् में अवतीर्ण हुआ था।

डॉ० देवराज का मत है कि 'छायावाद अनाधुनिक पौराणिक-धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह था।' आधुनिकता को लक्षित करते हुए उन्होंने कहा है कि 'उसकी अभिरुचि का केन्द्र मनुष्य है, ईश्वर नहीं; यह लोक है परलोक नहीं।' यह स्थापना कुछ भ्रामक जान पड़ती है। इसकी ध्वनि तो यह है कि द्विवेदीयुग भक्ति युग के समान अमानवतावादी और परलोकोन्मुख था। हम दिखा आए हैं कि द्विवेदी युग ही नहीं भारतेन्दु-युग भी एक जीवनवादी और मानववादी युग था। इसमें सन्देह नहीं कि तत्कालीन काव्य की विषय वस्तु अधिकतर पौराणिक-धार्मिक कही जा सकती है, किन्तु उसका निर्वाह कुल मिलाकर आधुनिक सन्दर्भ में ही करने का यत्न किया गया है। मैथिलीशरण गुप्त परम्परा द्वारा उपेक्षित पौराणिक नारी-पात्रों के उद्धार के लिए प्रसिद्ध हैं। आधुनिक युग में नारी को जो सम्मान प्राप्त हुआ है उसी के सन्दर्भ में उनके काव्य में नारी का चित्रण हुआ है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'प्रिय प्रवास' की कथा-वस्तु एकदम पौराणिक है, किन्तु उसमें द्विवेदी युग के सम्पूर्ण भावबोध, वस्तुबोध और जीवनबोध की बड़ी ही सशक्त विवृत्ति हुई है। उसमें कृष्ण का चरित्र-चित्रण महामानव और महाजननायक के रूप में हुआ है। राधा और कृष्ण के प्रेम का स्वरूप भी उदात्त और पुनीत रखा गया है, एक लम्बे विरह की परिकल्पना करके प्रेम को शोधा गया है। उसमें विश्वमानवतावाद की प्रतिष्ठा हुई है। वस्तुतः द्विवेदीकालीन कवियों ने पौराणिक आख्यानों और प्राचीन ऐतिह्य को काव्य का आधार अवश्य बनाया है, किन्तु उसमें आधुनिक मूल्यों, उपेक्षितों के प्रति समवेदना, देश-प्रेम, मानव प्रेम। आदि की ही प्रतिष्ठा करने का प्रयास

किया है । अतः छायावाद पौराणिकता के विरुद्ध आधुनिकता का विद्रोह कदापि नहीं जा सकता ।

इसके अतिरिक्त, छायावादी महाकाव्य 'कामायनी' की कथावस्तु भी तो पौराणिक-धार्मिक ही है । वस्तुतः कथावस्तु अथवा कथा का स्रोत नहीं बल्कि कथा का निर्वाह किस परिप्रेक्ष्य अथवा सन्दर्भ में हुआ है, वह महत्त्वपूर्ण है । एक दृष्टि से तो छायावाद को ही द्विवेदी-युगीन काव्य की अपेक्षा अनाधुनिक कहा जा सकता है । जिस युग में छायावाद फूला-फला था, वह हमारे स्वाधीनता संग्राम की दृष्टि से सब से महत्त्वपूर्ण युग रहा है । ऐसे युग का काव्य यदि युग जीवन से वैराग्य ले ले, जन मानस को उत्प्रेरित-आन्दोलित करना बन्द कर दे, सामाजिक दायित्व से पलायन करके परीलोक में रमण करने लगे, तो उसे हम देवराज की परिभाषा के अनुसार आधुनिक तो नहीं हीं मानेंगे ।

छायावाद दीर्घायु नहीं सिद्ध हुआ । दो ही दशकों की अवधि में उसका वेग शान्त हो गया, मन्द तो एक ही दशक बाद पड़ गया था । उसका पतन हो गया । क्यों ? कुछ समीक्षकों ने इसको लम्बी-चौड़ी मीमांसा प्रस्तुत की है । नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद के पतन की मीमांसा को बकवास मानते प्रतीत होते हैं । वे लिखते हैं, 'कुछ लोगों ने छायावाद के पतन का कारण भी बतलाना चाहा है, पर वह ऐसा ही है जैसे कोई वसन्त ऋतु के पतन का कारण बताने बैठे ।" उनका तर्क है कि 'श्रेष्ठ से श्रेष्ठ काव्य युग भी अपने समय पर विकसित होते हैं और उस समय के बीत जाने पर नई काव्य-शैलियाँ प्रवर्तित होती हैं ।' इस स्थापना में सत्यांश अवश्य है । रुचियों की भी फैशनों की भाँति एक गति-परम्परा होती है । कोई भी रुचि, कोई भी फैशन, पूर्ण नहीं, पूर्ण इस अर्थ में कि वह मानवता को सदा समान रूप से आकृष्ट करता रहे । वस्तुतः मानव मन की सृष्टि ही कुछ इस प्रकार हुई है कि उसे एकरसता में नीरसता, उद्वेजकता, और ऊब लगती है । 'मेघदूत' कभी इतना लोकप्रिय हुआ था कि उसके अनुकरण में दूत-काव्यों की एक परम्परा ही चल पड़ी । किन्तु शीघ्र ही उसकी ओर से ध्यान हटा और आज इसका अनुकरण कहीं भी नहीं हो रहा है, यद्यपि वह आज भी रोचक लगता है ।

तो क्या, छायावाद के अन्त की व्याख्या मात्र रुचि वैचित्र्य अथवा रुचि के गति शास्त्र के आधार पर की जा सकती है ? मैं समझता हूँ, नहीं । छायावाद के अन्त को पतन की संज्ञा दो जा सकती है । रुचि विवर्तन-परिवर्तन उसका केवल एक कारण है । अन्य कारणों की ओर भी ध्यान जाना चाहिए; जिनमें से कई रुचि-परिवर्तन सम्बन्धी कारण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं ।

छायावाद के पतन का एक कारण है रुचि-विवर्तन-परिवर्तन । उसका दूसरा कारण है पवित्रतावाद के बन्धन की शिथिलता और अवदमित वासनाओं का तज्जनित विस्फोट । हम कह आये हैं कि छायावाद की उत्कट व्यक्तित्व चेतना भी पवित्रतावाद के प्रभाव से नहीं बच सकी और छायावादी को काम-वासना का अवदमन-उन्नयन करने को विवश होना पड़ा । इस प्रकार का अवदमन-उन्नयन रहस्यवाद की आभा उत्पन्न कर देता है । भारतीय संस्कृति के द्रुत गति से हो रहे पाश्चात्मीकरण के परिणाम-स्वरूप इस स्थिति का अन्त होना था और हुआ । कुछ तो प्रगतिवाद और अधिकांशत हालावाद जैसी अतिवैयक्तिक काव्य प्रवृत्ति और प्रयोगवाद

ने वासनाओं पर से रहस्यवादी पर्दा हटा दिया अब वासनाओं की अभिव्यक्ति के लिए किसी परीलोक की सृष्टि की अपेक्षा नहीं रही, फलतः नवयुवक प्रतिभाएँ छायावाद से विमुख हो हालावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की ओर आकृष्ट होने लगीं।

छायावाद के पतन का तीसरा कारण है छायावादी काव्य में सामाजिक संदर्भ का अभाव, उसके द्वारा सामाजिक दायित्व की उपेक्षा और उसका सामाजिक समस्याओं से पलायन। छायावाद युग में काव्य का जीवन से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था, समाज में द्रुतगति से घटित हो रहे विवर्तन में काव्य कोई भूमिका अदा नहीं कर रहा था। यह स्थिति क्रान्ति के उपासक युवक समाज के लिए असह्य थी। उसमें सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं से जूझने की त्वरा थी। उसे अवकाश कहाँ कि भौतिक जगत् के जलते प्रश्नों से छुट्टी लेकर परीलोक की सैर का आनन्द लूटे। इस परिस्थिति में प्रगतिवाद ही प्रगति कर सकता था।

छायावाद के पतन का चौथा कारण है, प्रतिभा की कमी। जिन प्रतिभाओं के हाथों छायावाद का उद्भव और विकास हुआ उनका स्थान लेने और उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाली प्रतिभाओं का प्रादुर्भाव कम हो गया। हम देखते हैं कि छायावाद और अतिवैयक्तितावाद का स्थान तो प्रगतिवाद ने ले लिया किन्तु वह छायावाद के उन्नायकों के समकक्ष एक भी प्रतिभा को उत्पत्ति नहीं कर सका। अवश्य ही, यह स्थिति छायावाद की किसी स्वगत सीमा का पता नहीं देती।

वस्तुतः छायावादियों ने अपनी शैली को इतने उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया था कि उस तक पहुँचना आगे चल कर टेढ़ी खीर बन गया। और, तो, और स्वयं छायावाद के अग्रणी भी, शीघ्र ही, अपने स्तर को क़ायम रखने में कठिनता का अनुभव करने लगे। पन्त जैसे छायावादी की प्रतिभा, मेरा मतलब छायावादी व्यक्तित्व से है, चुक सी गई और उन्होंने शीघ्र ही प्रगतिवाद और अरविन्दवाद का पल्ला पकड़ लिया। पन्त आज भी जीवित हैं, सक्रिय हैं, किन्तु छायावादी की कब की मृत्यु हो चुकी है।

उर्दू फारसी में इक़बाल के काव्य की परम्परा नहीं चल पाई, इक़बाल ही इक़बाल युग के एकमात्र प्रतिनिधि रहे हैं। उन्होंने लिखा था—

नाउम्मीदस्तम ज़े याराने क़दीम
तूरे मन सोज़द कि मी आमद कलीम

अर्थात् मैं पुराने ढर्रे के कवियों से निराश हूँ, मेरा नूर इसलिए प्रज्वलित है कि कलीम (मूसा) का आगमन होने वाला है। किन्तु वे जब तक जीवित रहे नूर और कलीम दोनों की भूमिका स्वयं अदा करते रहे। कलीम का आगमन आज तक प्रतीक्षित ही है (जब तक यह न मान लें कि कलीम से इक़बाल का तात्पर्य अपने से ही था)। इक़बाल का काव्य भी अननुकृत और अननुकरणीय ही रहा, किन्तु इससे इक़बाल की महत्ता में कोई कमी नहीं आती, और न हम कभी इक़बाल द्वारा प्रवर्तित परम्परा के पतन की बात करते हैं। इसी प्रकार छायावाद के प्रतिष्ठापकों के स्तर की प्रतिभाओं का अप्रादुर्भाव भी छायावाद की महत्ता में कोई कमी नहीं लाता। किन्तु अन्तर यह है कि, इक़बाल की तुलना में, छायावादियों में चिन्तन और साधना की भारी कमी थी। फलतः इक़बाल अन्त तक अपनी विशिष्ट काव्य शैली का सम्पोषण-संवर्धन करते रहे, जब कि छायावादी दो ही दशकों में चुक गए।

छायावादियों में चिन्तन और साधना की दृष्टि से प्रसाद का स्थान सबसे ऊँचा है। भारतीय साहित्य और संस्कृति में उनकी पैठ बहुत गहरी थी। पन्त उनके समकक्ष नहीं कहे जा सकते। पन्त पहले अध्यात्मवादी रहे, फिर प्रगतिवादी बने, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का समन्वय करने लगे और आज अरविन्दवादी हैं। वैसे दृष्टिकोण का परिवर्तन जीवनी शक्ति का भी परिचायक होता है, किन्तु कवि के लिए ऐसे नाटकीय परिवर्तन उसकी काव्य-प्रतिभा में भारी कमी, अप्रौढ़ता की ओर इंगित करते हैं।

यह कोई नहीं कहता कि छायावादियों में प्रतिभा की कमी थी। उनमें प्रतिभा तो थी, चिन्तन और साधना—स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए अपेक्षित चिन्तन और साधना की कमी थी। वस्तुतः किसी भी आधुनिक काव्यान्दोलन के लिए चिन्तन और साधना की बड़ी आवश्यकता होती है। यूरोप के स्वच्छन्दतावादियों ने इस विषय में बड़े ऊँचे प्रतिमान स्थापित किये है। कॉलरिज ही नहीं, शेली और वर्ड्सवर्थ भी उच्चकोटि के चिन्तक थे, जिनके निबन्ध आज भी गम्भीर और विचारोत्तेजक लगते हैं। वस्तुतः सभी श्रेष्ठ स्वच्छतावादी कवि आलोचक भी थे। प्रसाद और पन्त ने अपने यहाँ की वही स्थिति उत्पन्न करनी चाही थी, किन्तु सफल नहीं हुए।

वस्तुतः ऐसा लगता है कि हिन्दी के कवियों तथा अन्य साहित्यकारों में भी मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति ही नहीं है। वे जिस वाद को फैशनेबुल पाते हैं, स्वदेश में अथवा विदेश में उसके ही हो रहते हैं। यह विचार दारिद्रय महान् साहित्य की उद्भावना में सबसे बड़ा बाधक है।

हमने यहाँ छायावाद की मूल प्रवृत्ति की ही व्याख्या, मीमांसा की है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि छायावादियों की सभी रचनाएँ छायावाद की मूल प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। निराला की क्या, कई दृष्टियों से सम्पूर्ण छायावाद युग की, श्रेष्ठतम-काव्यकृति 'राम की शक्ति-पूजा' शुद्ध क्लासिक परम्परा की चीज़ जान पड़ती है। इसी प्रकार पन्त की लम्बी कविता 'परिवर्तन' में क्लासिकीयता का रंग उतना ही गाढ़ा है जितना स्वच्छन्दतावाद का। उनकी कई अन्य प्रसिद्ध कविताएँ 'लायी हूँ फूलों का हास,' 'मौन-निमन्त्रण', आदि—अभिव्यक्ति की सफाई और पूर्वापर-सम्बन्ध के निर्वाह की दृष्टि से क्ला।सकीयता के संयम की परिचायक हैं। 'परिवर्तन' को उसके सशक्त निराशावादी स्वर के बावजूद शुद्ध वैयक्तिक परिसर-निरपेक्ष कविता नहीं माना जा सकता।

छायावाद के उत्तरार्ध में छायावाद के अग्रणी कवि तो प्रगतिवाद की ओर झुकते गए किन्तु कतिपय अन्य कवियों में अहंवाद का प्रचण्डतम रूप देखने को मिला था। इन कवियों ने छायावाद का पवित्रतावादी, संयमवादी आवरण उतार फेंका और वे उच्छृङ्खल वासना के गीत गाने लगे। इस प्रवृत्ति के मूल में व्यक्तितत्व की पवित्रतावाद के पंजे से छुटकारा पाने की छटपटाहट तो थी ही, उमर खय्याम का साक्षात् प्रभाव भी शामिल हो गया।

विश्वसाहित्य में उमर खय्याम का स्थान सदा सुरक्षित रहेगा। उसकी कविता व्यक्ति की विराट् के प्रति विद्रोह की कविता है। उसका विद्रोही व्यक्तित्व कुफ़्, इस्लाम, धर्म-कर्म, परमतत्त्व किसी से भी समझौता नहीं कर सकता था।

वह लिखता है—

रिन्दे दीदम नशिस्त बर खंगे ज़मीं,
नै कुफ़्, न इस्लाम, न दुनिया, व न दीं,
नै हक़, न हक़ीक़त, न शरीयत, न यक़ी ।
अन्दर दो जहाँ केरा वुवर ज़हरए ई ।।

(मैंने पृथ्वी पर आसन जमाये एक रिन्द को देखा जिसे न कुफ़् की परवाह थी, न इस्लाम की, न दुनिया की, न धर्म की, न ईश्वर की, न परम तत्व की, न धर्मशास्त्र की, न किसी भी प्रकार की आस्था की। भला दोनों लोकों में किसे ऐसा जीवट हो सकता है ?) निश्चय ही यह संशयवाद की पराकाष्ठा है । वह जीवन को निरुद्देश्य और निरर्थक घोषित करता है—

आउर्द ब इज़्तराबम अव्वल ब वजूद,
जुज़ हैरतम अज हयात चीज़े न फ़ज़ूद,
रफ़्तेम ब एकराह व न दानेम चे बूद,
ज़ीं आमदन, व बूदन, व रफ़्तन मक़्सूद ।

(पहले तो, जब मैं अस्तित्ववान् हुआ तब पीड़ा से युक्त था, जब अस्तित्ववान् हो गया तब जीवन में मेरी हैरानी ही बढ़ी, और अन्ततः यहाँ से बरबस ही प्रयाण करना पड़ा । मेरी समझ में नहीं आया कि इस आने, रहने और जाने का उद्देश्य क्या था ।) इन विचारों के कारण उसके लिए भाग्य ही सब कुछ हो गया—

गर कारे तो नेकस्त, ब तदबीरे तो नेस्त,
वर सर वरवद, नीज़ ब तक़्सीरे तो नेस्त,
तस्लीम व रज़ा पेश कुन व शाद बज़ी,
चूँ नेको बदे जहाँ ब तदबीरे तो नेस्त,

(पुण्य और पाप का दायित्व तुझ पर नहीं है । और चूँकि संसार के शुभाशुभ का निमित्त तू है नहीं, अतः जो भी घटित हो उसे स्वीकार करते हुए मस्ती से जी ।) ऐसी विचार-सरणि वर्तमान क्षण को सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु समझती है । ख़य्याम लिखता है—

रोज़े कि ज़े तो गुज़श्तः शुद याद मकुन,
फ़र्दा कि नयामदस्त फ़रियाद मकुन,
ज़ाइन्दः व बगुज़श्तए ख़ुद याद मकुन,
हाले ख़ुश बाश व उम्र बर्बाद मकुन,

(जो दिन कि बीत चुका है उसे याद न कर । कल अभी आया ही नहीं है, अतः उसका विलाप न कर । अतीत को याद न कर । वर्तमान का आनन्द ले, व्यर्थ आयु बर्बाद न कर ।) अतः ख़य्याम साक़ी और शराब में मस्त रह कर दिन काट देने की सलाह देता है । अवश्य ही वह स्पष्ट कर देता है कि वह शराब, अन्तिम विश्लेषण में, आनन्दोल्लास के लिए नहीं, बल्कि संसार की कटुता को भूलने के लिए पीता है—

मैं ख़ुर्दने मन न अज़ बराए तरब अस्त,
नै बहरे फ़साद व तर्के दीनो अदब अस्त,

ख़ाहम कि ब बेख़ुदी बर आरम नफ़से,
मै ख़ुर्दन व मस्त बूदनम ज़ीं सबब अस्त।

इसके अतिरिक्त, उसे स्वर्ग का भरोसा नहीं है। वह नक़द लाभ (सुरामान) में आस्था रखता है—

ई नक्द बगीर दस्त अज़ाँ नसियः बशौ

इस प्रकार ख़य्याम का दर्शन जीवन के नैरर्यक्य, नैराश्य और नैष्कर्म्म का दर्शन है, जो साक़ी और शराब में मस्त रह कर जीवन की विषमताओं से मुक्त होना सिखाता है।

ख़य्याम की रुबाइयों का अंग्रेज़ी अनुवाद एडवर्ड फ़िज़जेराल्ड ने १८५९ ई० में प्रकाशित किया था। इस अनुवाद की यूरोप और अमेरिका में धूम मच गई। सन् १९२० के लगभग हिन्दी जगत् में भी रुबाइयात की चर्चा होने लगी थी और सन् १९३० के आसपास तो फ़िज़जेराल्ड के अनुवाद के कई हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो गए। एक अनुवाद मूल फ़ारसी से भी प्रकाशित हुआ। सन् १९३० का काल भी सत्याग्रह-संग्राम की असफलताओं, विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी और बेकारी का काल था, जिनके फलस्वरूप पर्यावरण नैराश्य से परिव्याप्त था। इन अनुवादों का खूब स्वागत हुआ। कुण्ठा, निराशा, और अवसाद से सारा देश ग्रस्त था। चतुर्दिक नैराश्य से घिरे रोमांटिक तरुणों को मदिरालय में शरण मिली। फलतः, हिन्दी में अतिवैयक्तिक, मादक कविता की एक नई प्रवृत्ति चल पड़ी।

तो, आलोच्य अतिवैयक्तिक कविता की नई प्रवृत्ति के तीन कारण थे, वासनाओं की उन्मुक्त अभिव्यक्ति की छटपटाहट, उमर खय्याम का प्रभाव, और नैराश्य से परिव्याप्त पर्यावरण। इस अविवैयक्तिक कविता के अग्रणी हैं हरिवंशराय बच्चन। बच्चन के काव्य को हालावादी काव्य कहा जाता है। बच्चन के अनुसार हालावाद की व्याख्या इस प्रकार की गई है, "यह समस्त विश्व किसी क्रूर नियति के इंगित से परिचलित चक्रवत् घूम रहा है, वह भाग्य चक्र के अधीन सर्वथा विवश और अपनी विवशता में एकान्त करुण है। उसकी सब से बड़ी विशेषता है अस्थायित्व। उसके सभी नाम-रूपात्मक प्रोद्भास क्षणभंगुर हैं। इस अस्थिरता पर विजय प्राप्त करने के लिए मानव के सभी प्रयत्न सर्वथा निष्फल सिद्ध हुए हैं। अतएव पाप और पुण्य पर आश्रित जीवन के सभी मूल्य जीवन की क्षणभंगुरता में एकान्त निस्सार हैं। उनके बन्धन के कारण मनुष्य और भी क्लीव बन गया है। ईश्वर और धर्म की कल्पना ने मनुष्य के मन को रूढ़ि-जाल में जकड़ कर निस्तेज बना दिया है जिसके परिणामस्वरूप वह प्रत्यक्ष का त्याग कर परोक्ष के मोह में भटक कर जीवन की क्षणभंगुरता को और भी अधिक करुण बना देता है। जीवन की इस विफलता का तो बस एक ही उत्तर है—उपभोग। और उसके लिए इस कल्पित आध्यात्मिक-नैतिक रूढ़ि-पाश को छिन्न-भिन्न करना अनिवार्य है। नियति से जितने भी क्षण हमें मिले हैं उनका ही केवल तात्कालिक मूल्य है, अतएव उनकी सार्थकता भोग में ही है, पाप-पुण्य भूत-भविष्यत् की चिन्ता में उन्हें भी गवाँ देना मूर्खता है।"[1]

बच्चन ने जीवन की कठोरता-कटुता के भी खूब अनुभव किये हैं। जिस सत्याग्रह

---

१. नगेन्द्रः आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ८३-८४

आन्दोलन में उन्होंने विश्वविद्यालय छोड़ा था उसका विफल हो जाना, असमय में ही पढ़ाई छोड़कर एक स्कूल में एक बहुत साधारण नौकरी करने को विवश होना, यौवन के मध्य में ही पत्नी का क्षय-रोग से ग्रस्त हो जाना और उन्हें घोर मानसिक यातना की अवस्था में छोड़कर परलोक सिधार जाना—ये ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिन्होंने बच्चन के नैराश्य और अवसाद को अपनी चरमावस्था को पहुँचा दिया ! वे अपनी पत्नी की मृत्यु शैय्या के पास हुए अनुभवों को इस प्रकार अंकित करते हैं : ''उस मृत्यु-शैया के निकट कितनी बेचैनी थी, यौवन की कितनी अभिलाषाएँ उसके पायों और पाटियों पर अपना सिर धुन चुकी थीं, उस पर चमकती हुई दो आँखों में जीवन की कितनी प्यास थीं, मौत के अनजाने भेद भरे देश में जाने से कितना भय था और अकिंचन मानव की असमर्थता और विवशता पर कितना विक्षोभ था।''

हालावाद में वासना की उन्मुक्त, निरावरण अभिव्यक्ति मिलती है। बच्चन इसे खुल्लम-खुल्ला स्वीकार करते और आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहते हैं :—

कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।
मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता।
वृद्ध जग को क्यों अखरती हैं क्षणिक मेरी जवानी?
विश्व पूरा कर सका है कौन सा अरमान मेरा?

बच्चन के जीवन-दर्शन का सूत्र उनकी अधोलिखित पँक्तियाँ हैं—

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन मेरा परिचय।

अंचल, नरेन्द्र, नवीन, हृदयेश, पद्मकान्त मालवीय और भगवतीचरण वर्मा ने भी छायावादी अतिरिक्त शालीनता के पर्दे में ढके, पवित्रतावादी पाश में आबद्ध नारी-पुरुष-सम्बन्ध के प्रकृत स्वरूप को अनावृत्त और पाशमुक्त रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। वे प्रगतिवादी पन्त के 'प्रिया के अधरों पर चुम्बन अंकित न कर सकने वाली नैतिकता' के विरोध के स्वर मिला कर चले।

इन कवियों में अंचल का काव्य अपनी 'सहल वासना-प्रियता, ऐन्द्रिकता, और मांसलता में बच्चन आदि सबसे आगे बढ़ जाता हैं। वह 'मांसलवाद' ठीक ही कहा जाता है। हालावाद में ऐन्द्रिकता, भोग-प्रियता और मांसलता का जय-घोष अधिक है, किन्तु मदिरालय, सुरा, सुन्दरी को प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति अधिक दिखायी देती है, जिसके कारण हालावादी काव्य की शालीनता अधिक क्षत नहीं होने पायी है। किन्तु अंचल का मांसलवाद शालीनता का महीन-से-महीन पर्दा भी सहन नहीं कर सकता। उनकी बलात्कार-भावना की विवृत्ति देखिए—

आज सुहाग हरूँ मैं किस का? किसका लूटूँ यौवन?
किस परदेशी को बन्दी कर, सफल करूँ यह जीवन?

भगवतीचरण वर्मा में व्यक्तिवाद, अहंवाद अथवा स्ववाद का उच्छ्वास अधिक पाया जाता है। 'मैं' के अतिरिक्त सब कुछ भ्रम मानने की ओर उनका अधिक झुकाव दिखाई देता है। नरेन्द्र में जिजीविषा पर मुमूर्षा, मृत्यु की कामना हावी दीखती है।

इस प्रकार इन अतिवैयक्तिकतावादी, हालावादी, मांसलवादी, प्राकृतवादी अहंवादी कवियों में वासना का नग्न चित्रण, स्वेच्छाचारिता, और अहंमूलक गर्जन-तर्जन की प्रधानता दीखती है। भाग्यवाद नियतिवाद संशयवाद, निराशावाद, क्षणवाद, क्षण भंगुरजीवनवाद, मृत्युवाद, और भोगवाद इनका जीवन-दर्शन हैं जिस पर उमर ख़य्याम की छाप स्पष्ट है। इन कवियों में व्यष्टि और समष्टि का संघर्ष भी उग्र रूप में देखने को मिलता है। सृष्टि सामान्य ही नहीं, समाज भी उनकी आशाओं-आकांक्षाओं पर पानी फेर देने को तत्पर रहता है, उन्हें मुक्त, निर्द्वन्द्व और टिकाऊ जीवन जीने नहीं देता, उन्हें अपनी वासनाओं के साथ खुल कर खेलने नहीं देता। अतः वे भोग के क्षणों में भी जीवन की क्षणभंगुरता और समष्टि की क्रूरता के भय से आक्रान्त रहते हैं। यह काव्य-प्रवृत्ति अथवा काव्य-प्रवृत्ति-समूह एक प्रकार से छायावाद का पूरक, छायावादी व्यक्तित्व चेतना की चरम परिणति, है। छायावाद-युग में काव्य लोक-जीवन से विच्छिन्न होता चला गया था। अतिवैयक्तिकतावादी कवियों ने उसे लोक-जीवन में पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की, और कुछ सफल भी हुए। बच्चन की लाइनें उस समय हिन्दी जगत् में सर्वाधिक लोकप्रिय थीं।

साहित्येतिहास के अध्येता को स्पष्ट रहना चाहिए कि सांस्कृतिक युग-विभाजन और साहित्यिक युग विभाजन में कभी-कभी भारी भेद हो जाता है। साहित्य में प्रवृत्ति वैविध्य बना ही रहता हैं। वस्तुतः साहित्य कोई स्वतन्त्र इकाई नहीं है। वह संस्कृति का एक अंग भर है। सच पूछा जाय तो युग संस्कृति के होते हैं, साहित्य के नहीं। केवल साहित्य (ललित साहित्य) के आधार पर किसी संस्कृति का अध्ययन निश्चय ही भ्रामक होगा। अतः केवल सांस्कृतिक युग-विभाजन यथार्थ युग विभाजन है, कालात्मक (कॉनॉलॉजिकल) युग विभाजन है; साहित्यिक युग-विभाजन बहुधा तार्किक (लॉजिकल) युग विभाजन ही होकर रह जाता है। द्विवेदी युग के अनेक प्रौढ़ कवि—जैसे मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, आदि—छायावाद ही नहीं, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद युग तक कविता का भाण्डार भरते रहे हैं, किन्तु उन्हें न छायावाद के अन्तर्गत रखा जाता है, न प्रगतिवाद के और न प्रयोगवाद के। इसी प्रकार गुरुभक्त सिंह 'भक्त', सुभद्रा कुमारी चौहान, श्यामनारायण पाण्डेय, रामधारी सिंह दिनकर जैसे कवि कालतः छायावाद-युग में ही पड़ते हैं, किन्तु वे छायावाद से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। फिर भी वे प्रौढ़ कवि हैं, अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और स्थान रखते हैं, अतः उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः युग का नामकरण बहुधा उन्हीं, बलवती प्रवृत्तियों के आधार पर किया जाता है जिनकी अपनी परम्परा बन गई है, अपना स्कूल चल पड़ा है। ऐसी स्वस्थतर श्रेष्ठतर प्रवृत्तियों का होना असम्भव नहीं है जिनके नाम पर केवल इस कारण युग का नामकरण नहीं हुआ कि उनका कोई स्कूल नहीं बन सका। उर्दू में इक़बाल का उदाहरण सामने है। वे किसी भी उर्दू कवि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं माने जाते, किन्तु वे अपना कोई स्कूल नहीं बना सके। फलतः उर्दू में इक़बाल युग जैसे शब्द का प्रयोग केवल शिष्टतावश ही किया जा सकता है।

मैथिलीशरण गुप्त में 'कालानुशरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति अपरिमित थी। यद्यपि इनकी विचार-धारा गांधीवाद से अत्यधिक प्रभावित जान पड़ती है, तथापि ये काव्यक्षेत्र में किसी भी वाद से

नहीं बँधे। इनकी कविता में अतीत की गौरवगाथा, वर्तमान पर क्षोभ और विलाप, भविष्य के प्रति आशा, राष्ट्रीय आन्दोलन की अनुगूंज, हिन्दू प्रत्यावर्तन का शंखनाद, समाजसुधार की भावना, किसान और मजदूर का आर्तनाद, छायावादी भाव-भंगिमा वाले गीत, सब कुछ मिल जाता है। हाली के 'मुसद्दस' के अनुकरण में इन्होंने 'भारत-भारती' की रचना करके हिन्दू जाति में आत्म-सम्मान जगाने की चेष्टा की थी। खेद है कि मौलिक चिन्तन के अभाव में यह पुस्तक 'मुसद्दस' की प्रौढ़ता नहीं प्राप्त कर सकी।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्विवेदीयुग के एक ऐसे कवि हो गए हैं जिनके महाकाव्य 'प्रियप्रवास' पर इतिवृत्तात्मकता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। वस्तुतः इस महा-काव्य में द्विवेदीयुगीन कला का पूर्ण परिपाक हुआ है। 'प्रियप्रवास' द्विवेदीयुगीन अन्य महाकाव्यों से इस सीमा तक भिन्न है कि उसे बहुधा द्विवेदीयुग और छायावादयुग का सेतु कहा जाता है। द्विवेदीयुग में इस प्रश्न पर बहुत वाद-विवाद रहा कि कविता की भाषा खड़ी बोली बन सकती है अथवा नहीं। 'प्रियप्रवास' ने सिद्ध करके दिखा दिया कि खड़ी बोली में मधुर-से-मधुर काव्य की सृष्टि हो सकती है।

गुरु भक्तसिंह 'भक्त' का प्रबन्ध काव्य 'नूरजहाँ सन् ३४–३५ में सर्वाधिक लोकप्रिय काव्यों में से था। 'भक्त' सजीव प्रकृति-चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं। इस कारण कुछ लोग इन्हें छायावाद की 'नयी धारा' के कवियों में गिनते हैं। सरल, मुहाविरेदार भाषा में इतना हृद्य काव्य आधुनिक काल में दूसरा नहीं लिखा गया।

सुभद्राकुमारी चौहान अभिधा-शैली में ओजस्वी राष्ट्रीय कविताएँ लिखने में बेजोड़ थीं। उनकी सीधी-सादी किन्तु मार्मिक और हृदयग्राही कविता 'बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी, "खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी" आज भी सुनायी दे जाती है। उनके बाद तो ओजस्वी जन-गीतों की परम्परा ही समाप्त-सी हो गयी है।

श्यामनारायण पाण्डेय की 'हल्दी-घाटी' जगनिक के आल्हा की याद ताज़ा कर देती है 'हल्दी-घाटी' वीर-रस के काव्यों में अपना सानी नहीं रखती।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के कवियों में दिनकर अभिव्यक्ति की स्वच्छता, सूक्ष्म सांस्कृतिक चेतना और ओजपूर्ण रचनाओं के लिए अपना स्वतन्त्र स्थान रखते हैं।

ये और इन जैसे अनेक कवि छायावाद-युग में फूले-फले, किन्तु उनके किसी (नये) स्कूल के अन्तर्गत न आ सकने के कारण उनकी स्मृति समाप्त होती जा रही है।

हमने शियारामशरण गुप्त को इनके साथ रखना पसन्द नहीं किया है। गुप्तजी का आधुनिक हिन्दी काव्य में एक विशिष्ट स्थान है, क्योंकि वे एक ऐसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसका अन्य कोई प्रतिनिधि नहीं है, वह प्रवृत्ति है गांधीवाद के दार्शनिक-नैतिक पक्ष की विवृत्ति की।

छायावाद युग के विकास में गांधीवाद का पर्याप्त योग रहा है। जिन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक परिस्थितियों ने गांधीवाद को जन्म दिया उनमें से अधिकांश छायावाद का उपादान बनी। गांधी-रवीन्द्र आदि की विशाल आध्यात्मिक जीवन दृष्टि और स्वच्छन्दतावाद के प्रभाव स्वरूप छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह की प्रवृत्ति लेकर

जन्मा और पनपा। इस प्रकार छायावाद की प्राण-प्रतिष्ठा में गांधीवाद का योग अवश्य है, किन्तु उसे गांधीवाद का काव्यमय रूप किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। हिन्दी की राष्ट्रीय कवि-परम्परा के विकास में गांधीवाद का सीधा प्रभाव दिखाई देता है। कहा जाता है कि सोहनलाल द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त को मिला दिया जाय तो गांधीवाद के प्रतिनिधि काव्य का रूप स्पष्ट हो जायगा। गांधीवाद की थोड़ी-बहुत विवृत्ति और अभिव्यक्ति पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि में भी मिल जाती है। रघुवीरशरण 'मित्र' ने गांधी के जीवन को लेकर 'जननायक' नाम का एक सुन्दर महाकाव्य लिखा है। विद्याधर महाजन का 'गांधी चरित्र मानस' उल्लेखनीय है। किन्तु गांधी-विचारधारा के दार्शनिक-तात्त्विक पक्ष की काव्याभिव्यक्ति, और अपनी व्यापकता तथा गहराई दोनों में, केवल शियारामशरण गुप्त में पायी जाती है।

गांधीवाद कला के अनुकूल नहीं पड़ता। उसका अस्वाद-व्रत रसास्वाद को प्रश्रय नहीं दे सकता। वह कला के केवल उपयोगी रूप को मान्यता दे सकता है, शुद्ध कला उसके किसी काम की नहीं। फलतः, सियारामशरण गुप्त की कविता में जीवन का स्वाद कम ही उपलभ्य है। वस्तुतः, यद्यपि आधुनिक साहित्य का एक बड़ा भाग गांधीवाद और तज्जनित अन्य प्रवृत्तियों से प्रभावित और अनुप्राणित है, तथापि साहित्य ने गांधीवाद को, उसकी पवित्रतावादिता के ही कारण, कभी भी लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया। मार्क्सवाद कला और साहित्य के लक्ष्य के रूप में स्वीकारा गया है, किन्तु गांधीवाद नहीं। सियारामशरण गुप्त की कविता इस नियम का अपवाद अवश्य है; इसी कारण उसका अपना महत्त्व है।

सियारामशरण ने 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त' और 'नोआखाली में' में गांधीवाद को ही काव्याभिव्यक्ति दी है। गांधी के अहिंसावाद, सर्वधर्म समभाव, पापी के प्रति क्रोध के बदले दया, पाप की परिस्थितिजन्यता इत्यादि सभी मौलिक तात्त्विक सिद्धान्तों की विवृत्ति उनके काव्य में मिलती है। गांधी के पवित्रतावादी रंग में रंगे होने के कारण केवल करुण और शान्त रसों का परिपाक उनकी रचनाओं में देखा जा सका है; नगेन्द्र के शब्दों में, "शृंगार के जो प्रसंग उनमें आए भी हैं, वहाँ कवि मानों आँखें दूसरी ओर मोड़ लेता है। उनके काव्य में नारी के सभी रूप मिलते है, उसका प्रकृत रूप नहीं मिलता।"

इसमें सन्देह नहीं कि सियारामशरण जी जैसा साधक ही गांधी दर्शन को काव्य में उतारने का अधिकारी है, किन्तु कला की कमज़ोरी के कारण उनका काव्य पर्याप्त सशक्त और प्रभावोत्पादक नहीं बन सका है।

हिन्दी साहित्य में गांधीवाद से कहीं अधिक वेग के साथ मार्क्सवाद का पदार्पण हुआ था। छायावादी वैयक्तिकता तथा बच्चन आदि की अतिवैयक्तिकता युग के अनुकूल नहीं पड़ रही थी। शती के उषःकाल में ही स्वामी विवेकानन्द ने भारत को समाजवाद का सन्देश देकर मार्क्सवाद के प्रभाव का परिचय दिया था। सन् १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति की ओर युवकों का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक था। रवीन्द्र और जवाहरलाल नेहरू ने भारत को रूस में सक्रिय साम्यवाद का आँखों देखा हाल बतला कर साम्यवाद के प्रति सहानुभूति का पर्यावरण निर्मित करने में खूब योग दिया। सन् १९२७ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। **प्रेमचन्द** ने गोर्की साहित्य से साम्यवादी समाज दर्शन का प्रभाव ग्रहण किया और उसे अपने

उपन्यासों में चित्रित भी किया। प्रसाद ने प्रेमचन्द से प्रेरणा लेकर अपने उपन्यासों, 'कंकाल' और 'तितली,' में समाज के अन्तर्विरोधों का उद्घाटन किया। सन् १९३५ में लन्दन में साम्यवादी लेखकों की बैठक हुई। सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक लखनऊ में हुई। इसके बाद से हिन्दी में प्रगतिवाद बद्धमूल हो गया।

प्रगतिवाद साहित्य में मार्क्सवाद के प्रयोग की प्रवृत्ति का नाम है। मार्क्सवाद का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है। प्राचीन यूनान में द्वन्द्व-न्याय (डायलेक्टिक्स) शास्त्रार्थ अथवा वाद-विवाद की उस कला का नाम था जिसके द्वारा प्रतिपक्षी के तर्क में निहित अन्तविरोध का उद्घाटन और मार्जन कर पूर्णतर सत्य पर पहुँचा जाता था। द्वन्द्व-न्याय प्रत्ययवादियों के हाथों विश्व-प्रवाह का एक आवश्यक अंग बन गया। उसके अनुसार विश्व तत्त्व एक महाप्रत्यय अथवा चिन्मय प्रवाह है जिसकी विकास-प्रक्रिया मानवीय चिन्तन की विकास-प्रक्रिया के अनुरूप है। मानव मन में संकल्प के उत्पन्न होने पर उसके प्रतियोगी विकल्प की उत्पत्ति एवं उनके संघर्ष के फलस्वरूप उनकी अपेक्षा पूर्णता मनोव्यापार अध्यवसाय अथवा निश्चय की सृष्टि होती है। विश्व महाप्रत्यय के विकास की भी यही प्रक्रिया है। प्रत्येक वस्तु स्वभावतः अपने प्रतियोगी को जन्म देती है और वह प्रतियोगी वस्तु भी अपना निषेध कर डालती है। इस प्रकार, विकास-प्रक्रिया निषेधों अथवा प्रतिषेधों की एक लम्बी परम्परा है जिसे विसेध-निषेध-प्रसेध, स्थापना-प्रतिस्थापना-समन्वय, अथवा अनुयोग-प्रतियोग समन्वय द्वारा निरूपित किया जाता है। द्वन्द्व न्याय की त्रिसूत्री देखिए—

(१) प्रतियोगियों के संघर्ष, अन्तर्व्यापन और ऐक्य का नियम
(२) मात्रा-भेद से गुण-भेद और गुण-भेद से मात्रा-भेद
(३) प्रतिषेध का प्रनिषेध

यही द्वन्द्व न्याय मार्क्स-एंगेल्स के भौतिकवाद में ग्रहीत है

यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स-एंगेल्स के समाज दर्शन की आधार शिला है। द्वन्द्व-न्याय के प्रथम सूत्र के आधार पर समाज की संस्थिति और प्रगति वर्ग रूपी परस्पर संघर्षरत घटकावयवों के कारण मानी जाती है, द्वितीय सूत्र के आधार पर प्रत्येक पराकाष्ठाप्राप्त समाज-व्यवस्था की भिन्न व्यवस्था के रूप में परिणति और तृतीय सूत्र के आधार पर समाज की निरन्तर परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त निष्पन्न होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्सीय दृष्टि में समाज कोई स्थिर; स्थितिशील सत्ता नहीं है, वह एक गतिशील सत्ता है, जिसमें वर्ग संघर्ष के कारण सदा तनाव की स्थिति बनी रहती है। मार्क्सवाद की मान्यता है कि साहित्य को इस संघर्ष से तटस्थ नहीं रहना चाहिए, उसे श्रेष्ठतर क्रान्ति में योग देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। सामन्त और पूँजीपति किसान और मज़दूर का शोषण करते हैं। हमें किसान और मज़दूर का साथ देकर पूँजीवाद का अन्त कर देना चाहिए, ताकि सर्वहारा का राज्य स्थापित हो और समाज से शोषण का अन्त हो जाय। जो साहित्य इस संघर्ष का प्रतिफलन नहीं करता, किसान और मज़दूर की विजय का शंखनाद नहीं करता उनकी व्यथाओं, कष्टों और समस्याओं का चित्रण कर उनके प्रति सहानुभूति और शोषक पूँजीवादी वर्ग के विरुद्ध आक्रोश नहीं जगाता, वह प्रतिक्रियावादी

साहित्य है। प्रगतिशील साहित्य वह है जो इस संघर्ष में सर्वहारा के पक्ष में योग दे। अतः प्रगतिवाद एक स्तर पर यथार्थवाद है, क्योंकि वह समाज का यथातथ्य चित्रण करके वस्तु-स्थिति से परिचित होना चाहता है, दूसरे स्तर पर वह आदर्शवाद है, क्योंकि वह समाज को चित्रित करके छोड़ नहीं देता, उसे एक पूर्वनिश्चित आदर्श की दिशा में ले जाना चाहता है।

प्रगतिवादी स्वर, काव्य-क्षेत्र में पहले राष्ट्रीय कविताओं में व्यक्त हुआ। बालकृष्ण-शर्मा-नवीन और दिनकर की कविताएँ १९३२ से ही वर्ग भावना का संकेत दे रही थीं। नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा आदि अन्य अनेक कवियों में भी प्रगतिवादी तत्त्वों का सन्निवेश हुआ। किन्तु प्रगतिवादी दर्शन पन्त की 'युगवाणी' में ही सुस्पष्ट हो सका, जिससे उसे प्रगतिवाद का आदि काव्य माना जाता है। उसके बाद तो निराला, अंचल, नरेन्द्र सभी प्रगतिवाद के प्रभाव-क्षेत्र में आ गये, और इस प्रकार छायावाद की सांध्य-बेला में जो अतिवैयक्तिकतावादी प्रवृत्तियाँ पनपने लगी थीं, वे दब गईं। वस्तुतः प्रगतिवाद के लिए यह महान् गौरव की बात है कि उसने छायावाद और अतिवैयक्तिकतावाद के अग्रणी कवियों को भी तोड़ लिया था। उन्हें छायावाद काव्य के स्थान पर 'अलंकृत संगीत' मात्र लगने लगा, उनके 'भाव और कल्पना के मूल हिल गए' छायावादी 'काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गयी।'

प्रगतिवाद ने आकाशचारी, स्वप्न-लोक-परीलोक में रमण करने वाली, उच्छृंखल वासनाओं को ही सब-कुछ समझने वाली हिन्दी कविता को पुनः धरती पर संचरण करने के लिए विवश किया और कवि की सारी अभीप्साएँ-वासनाएँ सामाजिक दायित्व की भावना की वशवर्ती हो गईं। पन्त ने 'पुण्य प्रसू' कविता में कवि को सन्देश दिया कि वह 'मृत्यु नीलिमा गगन' की ओर ताकना छोड़े और 'स्वर्गिक भू' तथा 'मानव पुण्य प्रसू' की ओर दृष्टि करे। सुकुमार सौन्दर्य-साधना के अभ्यस्त छायावाद-युग में उग्र और कठोर में भी सौन्दर्य-दर्शन होने लगा। नवीन ने 'सुन्दर' शीर्षक कविता में कला दृष्टि-परिवर्तन का अच्छा परिचय दिया है—

ओ सौन्दर्य-उपासक, तुम ने सुन्दर का स्वरूप क्या जाना?
मधुर मंजु, सुकमार, मृदुल ही को क्या तुमने सुन्दर माना?
क्यों देते हो चिर सुन्दर को, इतने छोटे सीमा-बन्धन?
कठिन, कराल, ज्वलन्त, प्रखर भी है सौन्दर्य-प्रकेत चिरन्तन?

— — —

है जीवन के एक हाथ में, मधुर जीवनामृत का प्याला?
और दूसरे कर में उसके, है कटु मरण-हलाहल-हाला?

यह आश्चर्य का विषय है कि छायावाद के अग्रणी-पन्त, निराला आदि और हालावाद, मांसलवाद, क्षयी रोमांसवाद प्रभृति अतिवयक्तिकतावादी काव्य प्रवृत्तियों के उन्नायक बच्चन, अंचल, नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा आदि प्रगतिवादी के भी अग्रणी और उन्नायक रह चुके हैं। बल्कि अज्ञेय, सिद्धनाथ कुमार आदि प्रयोगवादी कवियों ने भी कभी प्रगतिवाद अथवा प्रगतिवादी प्रयोगवाद की प्रवृत्ति का परिचय दिया था।

प्रगतिवाद की आरम्भिक रचनाओं में गर्जन-तर्जन-उत्तेजन अधिक रहता था, उसमें उथल-पुथल का चित्रण बड़े प्रतिशोधात्मक और स्थूल ढंग से किया जाता था, सिद्धान्तवमनवाद

से सारा काव्य सदा आक्रान्त रहता था। आगे चल कर प्रगतिवादियों ने शिष्ट समाज के लिए सूक्ष्म व्यंजना प्रधान रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं और इस प्रकार प्रगतिवाद अधिक परिष्कृत रूप में सामने आया। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन में इस परिष्कृति की झलक अक्सर मिल जाया करती है। किन्हीं, किन्हीं प्रगतिवादियों में फ्रॉयड के मनोविश्लेषणवाद के प्रभाव से जीवन के चित्रण में अपेक्षया अधिक सूक्ष्मेक्षिका का पता चलता है। अवश्य ही, इसके कारण उनमें जो नग्नता-प्रियता आ गयी है वह उन्हें प्रायः अतिवैयक्तिकतावादियों ही में नहीं, कभी-कभी रीतिवादियों की पंक्ति में भी ला बिठाती है।

छायावाद के प्रभाव स्वरूप हिन्दी काव्य में जो अतिरिक्त कृत्रिम अलंकार-प्रियता आ गई थी, ताजमहली अलंकार संभार के प्रति जो छिछली भावुक आसक्ति उत्पन्न हो गई थी, उसका प्रगतिवाद के हाथों मार्जन-शोधन हुआ और भाषा की जीवन को प्रतिफलित करने की क्षमता में पर्याप्त वृद्धि हुई। फिर भी, प्रगतिवाद, कुल मिलाकर, एक साहित्येतर, वैचारिक स्तर का ही आन्दोलन रहा, काव्य की दृष्टि से, उसका सौन्दर्य बोध निषेधात्मक ही रहा। वह आद्योपान्त बुर्जआ भावनाओं के प्रति आक्रोश से ग्रस्त रहा। पन्त के इस कथन में पर्याप्त सचाई जान पड़ती है, "उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवन सौन्दर्य को वाणी देने के बदले केवल धनपतियों तथा मध्यवृत्ति वालों के प्रति विद्वेष और विक्षोभ उगलता रहा।" वस्तुतः, मार्क्सवाद की सीमा में बँध कर, प्रगतिवादी कवि किसी विधेयात्मक सौन्दर्य बोध का परिचय नहीं दे सके।

आश्चर्य है कि उर्दू में प्रगतिवाद का अभी भी दौर-दौरा है, जब कि हिन्दी में यह आन्दोलन इतना अल्पायु सिद्ध हुआ। उसने आरम्भ में छायावादी और अतिवैयक्तिकतावादी कवियों को तोड़ा था, शीघ्र ही उसके उन्नायक टूट कर अरविन्दवादी, प्रयोगवादी, नयी कवितावादी, नवलेखनवादी बन गये।

प्रगतिवाद से टूटने वाले कवियों में पन्त का एक विशेष स्थान है। पन्त जी छायावाद से प्रगतिवाद की ओर आये थे, किन्तु वे पूर्ण मार्क्सवादी कभी भी नहीं हो सके। वे प्रगतिवाद का नेतृत्व भी करते रहे और साथ-ही साथ गांधीवाद का पल्ला भी पकड़े रहे। शीघ्र ही, उन्होंने गांधीवाद और मार्क्सवाद के समन्वय की तान छेड़ी, जिसका स्वागत भी हुआ। किन्तु धीरे-धीरे वे श्री अरविन्द के प्रभाव में आये और भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद की नये ढंग से समन्वय-साधना में प्रवृत्त हो गये।

श्री अरविन्द शाक्ताद्वैत से प्रभावित थे। शाक्ताद्वैत में सब कुछ चेतनोद्भूत तो माना जाता है किन्तु भौतिकता को, भौतिक जगत् को, शंकर के समान मायिक, मिथ्या और अतात्त्विक नहीं घोषित किया जाता। अन्तिम सत्य तो परा चेतना ही है किन्तु भूत तत्त्व उसी का रूपान्तर (अध्यास नहीं) है। अरविन्द पर शाक्ताद्वैत के अतिरिक्त पाश्चात्य विकासवादी और प्रत्ययवादी चिन्ताधारा का भी प्रभाव है—शायद शाक्ताद्वैत की अपेक्षा कहीं अधिक, जिससे उनके दर्शन में आध्यात्मिक विकासवाद का एक विशिष्ट स्थान है। उनकी साधना का साध्य है, धरती पर परा चेतना (सुप्रामेन्टल) अथवा अतिमानस (सुपरमाइन्ड) की अवतारणा और अति मानव का प्रादुर्भाव।

इस दर्शन के प्रभाव से पन्त जी भौतिक विकास को 'समतल' का विकास अथवा 'समदिग् गति,' तथा आध्यात्मिक विकास को 'ऊर्ध्व विकास' अथवा 'ऊर्ध्व संचरण' कहते हैं। समदिग् गति सामाजिकता और ऊर्ध्व संचरण वैयक्तिकता के उत्कर्ष के लिए आवश्यक हैं

ऊर्ध्व संचरण में रे व्यक्ति निखिल समाज का नायक।
समदिग् गति में सामाजिकता जनगण-भाग्य-विधायक।

पन्त के इस नये अरविन्दवादी काव्य में जीवन की उष्णता और मांसलता की कमी अवश्य हो गयी है; जिसके कारण भाषा में नीरसता और अतिरिक्त सांकेतिकता आ गयी है। फिर भी हम शिवदानसिंह चौहान के इस मत से सहमत हैं कि 'उनकी किसी भी दार्शनिक कविता में मुझे रागात्मकता का सर्वथा अभाव नहीं दीखता।'

छायावाद युग के उत्तरार्ध में, उसकी अतिवायवीयता की प्रतिक्रिया स्वरूप अति मांसलता का प्रकोप हुआ था और उसकी वैयक्तिकतावादी प्रवृत्ति अति की सीमा तक पहुँच गयी थी। इस प्रवृत्ति के वैयक्तिकतावादी और उच्छृंखलतावादी पक्ष की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद के रूप में प्रकट हुई थी। किन्तु, उसकी अतिरिक्त भावुकता, कल्पना-प्रवणता, आत्मनिष्ठता की भी प्रतिक्रिया होती थी, सो प्रयोगवादी बौद्धिकता और वस्तुपरकता के रूप में हुई। वर्तमान युग मूल्यसंकट का युग है, इसमें मूल्यों का अवमूल्यन हुआ है, मूल्य चेतना का ह्रास हुआ है मूल्य और अमूल्य का भेद कम होता गया है, परम्परागत मूल्यों का पतन तो हुआ ही है। अतः काव्य में मूल्योन्मुखता कम होती गई है, कवि में भावुकता और अतिरिक्त आसक्ति की कमी हुई है, तटस्थता और वस्तुपरकता की प्रवृत्ति बढ़ी है। वस्तुपरकता, वस्तुगत चित्रण, प्रयोगवादी कवियों का आदर्श है, यद्यपि इन इने-गिने कवियों को छोड़कर, वे छायावाद के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाए हैं।

प्रयोगवाद की नींव सन् १६४३ में प्रकाशित 'तार सप्तक' में पड़ी थी। इस प्रकाशन द्वारा विविध, बल्कि कई प्रकरणों में परस्पर विरोधी, जीवन-दृष्टियों, समाज-दृष्टियों के कवियों को एक प्लैटफ़ार्म पर लाया गया था। इनमें साम्यवादी भी थे; साम्यवाद से अप्रतिबद्ध प्रगतिशील भी थे, मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित भी थे। उपर्युक्त पुस्तक के सम्पादक अज्ञेय ने पुस्तक की विवृत्ति में लिखा था; "उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं; अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।' इस प्रकार प्रयोगवाद एक संकीर्ण (एक्लेक्टिक) काव्य-प्रवृत्ति था। वस्तुतः प्रयोगवाद परम्परा तथा प्रचलित काव्य-शैलियों से असन्तुष्ट 'कवियशःप्रार्थियों' का आन्दोलन था और इस प्रकार वह एक "निषेधात्मकवाद" था। प्रमुमुक्षा, प्रयोगैषणा से प्रेरित होने मात्र के आधार पर वे एक धारा के अन्तर्गत समझे जाते थे। प्रयोगवाद अभेद्य माने जाने वाले अनछुए क्षेत्रों में अन्वेषण के बुभुक्षुओं का सहकार कहा जा सकता है। 'भाषा को अपर्याप्त पा कर विराम संकेतों से, अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से; अधूरे वाक्यों से, सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।' इस प्रकार, प्रयोगवादी काव्य उलझी हुई संवेदना की सृष्टि है। यह उलझन दो कारणों से है, **आन्तरिक संघर्ष और**

वाह्य संघर्ष।' 'आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है, और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्डित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है।' यह रहा आन्तरिक संघर्ष का स्वरूप। बाह्य संघर्ष वर्गों और श्रेणियों का संघर्ष है, जिससे एक दूसरे प्रकार की वर्जनाओं का पुंज जन्म लेता है। आज का जीवन इतना जटिल हो गया है, इस प्रकार जटिल से जटिलतर होता जाता है, कि आज के कवि की संवेदना में जटिल उलझाव अपरिहार्य हो गया है। साधारणीकरण और संप्रेषण का प्रश्न भी आज पूर्वापेक्षया विकटतर हो गया है। इस वस्तु-स्थिति की उत्कट चेतना लेकर प्रयोगवाद हिन्दी साहित्य में अवतीर्ण हुआ था।

छायावाद द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ के पूर्व ही म्रियमाण था, महायुद्ध ने उसके मरण की प्रक्रिया तीव्रतर कर दी। देश के बाहर युद्ध और भीतर स्वातन्त्र्य-संग्राम की समस्याओं में उलझा हुआ राष्ट्र-पुरुष छायावादी स्वप्न, रहस्यवादी समाधि और अतिवैयक्तिकतावादी सरमस्ती झाड़कर उठ खड़ा हुआ था। किसी विधेयात्मक सौदर्य बोध और जीवन बोध के अभाव में प्रगतिवाद की भी युद्धोत्तर-काल में शीघ्र ही असामयिक मृत्यु हो गयी। साहित्य, विशेतः काव्य, में शून्य की स्थिति आ गयी। सर्जनशील प्रतिभाओं को एक नई जीवन-शैली, चिन्तन-शैली और काव्य-शैली की आवश्यकता महसूस होने लगी। कुछ कारणों से चिन्तन के क्षेत्र में तो कोई अन्तर नहीं आ सका, किन्तु काव्य के क्षेत्र में प्रयोगवाद की नयी प्रवृत्ति पनपने लगी, जो आगे चल कर नयी कविता और नवलेखन के रूप में विकसित हुई।

प्रयोगवाद पर पश्चिम का अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। यहाँ फ्रायड के मनोविश्लेषण-वाद और डी० एच्० लॉरेन्स का प्रभाव तो प्रयोगवाद के पहले ही से क्रियाशील था, किन्तु टी० एस० इलियट, एज़रा पाउन्ड, ई० ई० कमिंग्ज़ जैसे कवियों का पूरा प्रभाव प्रयोगवाद पर दिखाई देता है। इंग्लैंन्ड में नए लेखकों का एक काव्य-संकलन, 'न्यू सिग्नेचर्स' (नये हस्ताक्षर), १९३२ में प्रकाशित हुआ। इसके सभी लेखक ३५ वर्ष से कम अवस्था के थे। इनमें ऑडेन, डे लुइस और स्टीफ़ेन स्पेंडर जैसे लेखक भी सम्मिलित थे जो साम्यवादी पद्धति की रचनाओं के प्रवर्तक से थे। ये सभी लेखक परम्पराप्राप्त रचना-पद्धतियों को नवयुग के लिये अपूर्ण और अपर्याप्त समझकर नई दिशा की तलाश में थे। इस प्रकाशन के एक ही वर्ष बाद एक और संकलन, न्यू कन्ट्री (नया देश), अस्तित्व में आया, जिसमें गद्य रचनाओं की प्रधानता थी। प्रथम संकलन की कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता थी, नए मशीनयुग के भावचित्रों (इमेज़री) का प्रयोग, यद्यपि ये भावचित्र उतने स्पष्ट और मार्मिक नहीं बन सके थे। विज्ञान, मार्क्सवाद और इतिहास-दर्शन इस कविता के उपकरणों में से थे।

इसके पूर्व ही, १९१५ के आस-पास, इंग्लैंड में 'जार्जियन पोइट्री का प्रकाशन हुआ और अमेरिका में 'सम इमेजिस्ट पोएँट्स' शीर्षक से तीन कविता-संग्रह प्रकाशित हुए। इन संग्रहों से सम्बद्ध कवि "सशक्त और स्पष्ट कविता उत्पन्न करने के लिये नयी लय-गति का निर्माण करना चाहते" थे इन कवियों में परुष अनगढ़, और भदेस को भी काव्य का विषय बनाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

अमेरिका में प्रयोगवादी रचनाओं का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह 'स्पियरहेड' (भाले की नोक) प्रकाशित हुआ था।

इन संकलनों-संग्रहों का प्रभाव हिन्दी के प्रयोगवादियों पर कई जगह स्पष्ट हुआ है। स्पियरहेड के कवि भी 'अपनी अनास्था के लिए नहीं बल्कि अपनी नयी राहों के लिए महत्त्व-पूर्ण हैं।'

नलिन विलोचन शर्मा, केसरीकुमार और नरेश की कविताओं के संकलन 'नकेन के प्रपद्य' की भूमिका 'पस्पशा' में प्रयोगवाद का वास्तविक आरम्भ नलिनविलोचन शर्मा की १९३६-३८ में लिखी गई कविताओं से माना गया है। इसके अनुसार 'तारसप्तक' के कवियों को प्रयोगशील मानना चाहिए, जो प्रयोग को साधन मानते हैं; जबकि प्रपद्यवादी ही वास्तविक प्रयोगवादी हैं, क्योंकि वे प्रयोग को साध्य मानकर चलते हैं।

प्रपद्यवाद पर फ्रांस के प्रतीकवाद और बिम्बवाद, टी० एस० इलियट तथा अतियथार्थ-वाद का सीधा प्रभाव दिखाई देता है। उसकी मान्यता है कि 'हिन्दी कविता को अपने में वयस्क बुद्धि लानी होगी और तभी वह युग की मेधा को अपने प्रति खींच सकती है। उसे अपने पुराने हृद्रोग से मुक्त होना होगा।' इस संकलन की कविताएँ प्रयोगवादी; तारसप्तकीय; अथवा नयी कविताओं की ही कोटि में; कुल मिलाकर बैठती हैं।

प्रपद्यवादी कविता अपेक्षया दुरूह अधिक है, और क्यों न हो, प्रपद्यवादी का सिद्धान्त ही है कि कवि अपने प्रत्येक शब्द और छन्द का स्वयं निर्माता है।

प्रपद्यवादी अपनी कविता की विशिष्टता-ज्ञापन के लिए उसे प्रपद्य (प्रकृष्ट पद्य) कहते हैं। संकलन के तीनों कवियों के नामों के आद्य अक्षरों को मिलाने से 'नकेन' बनता है। प्रपद्यवाद को नकेनवाद भी कहा जाता है। यह वाद चला नहीं।

'तार सप्तक' के बाद, १९५१ में, 'दूसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ। इसके बाद १९५९ में; 'तीसरा सप्तक' भी अस्तित्व में आया। 'दूसरा सप्तक' के बाद ही 'नयी कविता' की चर्चा होने लगी। यह नयी कविता प्रयोगवाद का ही अगला क़दम थी। जैसे अन्वेषियों को राह मिल गई हो।

हम कह चुके हैं कि प्रयोगवाद, कुल मिला कर एक निषेधात्मक आन्दोलन था। प्रयोगवादी कवि राहों के अन्वेषी मात्र थे। नयी कविता में कुछ विधेयात्मक तत्त्व भी उभरे। वैसे तो प्रयोगवाद और नई कविता दोनों का समान धर्म है, प्रखर व्यक्तित्व-चेतना के आलोक में भाव और वस्तु, शिल्प और शैली, के प्रयोगों के प्रति जागरुकता, वस्तुपरक व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण, परम्परा के प्रति विद्रोह, मूल्यों के अवमूल्यन-पतन के प्रति गहरी चिन्ता (कन्सर्न); किन्तु दोनों में भेद यह है कि पूर्व स्थिति में पाने की आशा और बेचैनी अधिक थी, जबकि नई स्थिति वस्तुस्थिति की स्वीकृति की स्थिति है, तद्वत् को तथ्य मानकर चलने की स्थिति है। 'न्यू सिग्नेचर्स' के संकलमिता माइकेल रॉबर्ट्स ने लिखा है कि इस पुस्तक के लेखकों ने इस तथ्य को, कि प्रगति एक भ्रान्ति है, मानकर चलना तो सीख लिया है, तथापि यह भी सीख लिया है कि खेल खेलने योग्य है। उन्होंने यह मान कर चलना तो सीख लिया है कि दुख का निवारण अच्छी चीज़ है, यद्यपि इससे नयी संवेदनशीलता उत्पन्न होती है जो नये दुख का कारण बनती है। उन्होंने यह मान कर चलना तो सीख लिया है कि उनके अपने प्रतिमान अन्यों के प्रतिमानों से अधिक निरपेक्ष नहीं हैं; तथापि उन प्रतिमानों की रक्षा करना और

उनके लिए दुख सहना भी सीख लिया है। उन्होंने विश्व-प्रक्रिया को तो पूर्वनियत, पूर्व-निश्चित मानकर चलना सीख लिया है, तथापि यह भी सीख लिया है कि मनुष्य के कर्म के विषय में वैज्ञानिक नियमों के आधार पर भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, वह एक नयी सृष्टि है।[१] माइकेल रॉबर्ट्स ने आगे स्पष्ट किया है कि दृष्टिकोण के ये अन्तर्विरोध तार्किक स्तर के नहीं हैं और वे एक प्रकार की भावात्मक-आवेगात्मक विसंगतियाँ हैं, जो कला के स्तर पर ही समन्वित की जा सकती हैं। यही बात नयी कविता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह नहीं कि उसे कोई राह मिल गई हो, नये, विधेयात्मक मूल्य मिल गये हों, कोई अन्तिम रूप से समाधानकारक जीवन-दृष्टि मिल गयी हो, युग की समस्याओं का निदान और उपचार मिल गया हो, ऐसा कुछ भी नहीं। नया कवि तो समस्याओं-संकटों के मध्य जीना सीख गया है, चाहे वे कितने ही विकट और अवारणीय हों। प्रयोगवादी में एक बौखलाहट थी, झुँझलाहट थी, सब कुछ का समाधान प्राप्त कर लेने की त्वरा थी। नया कवि अपनी आवेगात्मक-भावात्मक उथल-पुथल का अनुद्विग्न द्रष्टा है, साक्षी है; उसने दत्त (द गिवेन) को स्वीकार कर लिया है, उस पर कला-स्तर पर हावी हो गया है।

स्पष्ट ही, यह चरम स्थिति है जिस तक पहुँचने का दावा तथोक्त नये कवियों में इक्के-दुक्के ही, और वे भी अपनी इक्की-दुक्की कविताओं के विषय में ही, कर सकते हैं।

मैं समझता हूँ कि यदि नए कवियों में चिन्तन और साधना का पर्याप्त बल होता—जैसा कि खेद है कि नहीं है—तो वे भी 'वेस्ट लैन्ड' और अस्तित्ववादी वस्तु बोध और भाव बोध से युक्त रचनाओं की कोटि की रचनाएँ दे सकते। इधर पश्चिम के प्रथम कोटि के साहित्यकारों, विशेषतः कथाकारों, में चरमार्थ चेतना (जीवन और जगत् के चरम अर्थ की चेतना) अथवा चरमार्थ जिज्ञासा की एक व्यापक लहर देखने में आयी है, दार्शनिक (मेटाफ़िज़िकल) और आस्तित्विक (एग्ज़िस्टेन्शल) मूड का, अभूतपूर्व प्रसार देखने को मिला है यद्यपि, अपने शास्त्रीय रूप में, दर्शन का ह्रास ही हुआ है। रूमी और अत्तार के ईरान में भी तो दर्शन-शास्त्र की कोई लम्बी, सशक्त परम्परा नहीं थी, किन्तु दार्शनिक मूड से फ़ारसी काव्य भरा पड़ा है। खेद का विषय है कि हमारे नये कवि अभी इतने नये नहीं हैं कि पश्चिम की इस नयी प्रवृत्ति को पचा सकें। वस्तुतः आधुनिक युग के अनुकूल वही कविता बन सकेगी जिसके पीछे गहरी जीवनानुभूति के साथ-साथ गहरे चिन्तन का बल हो।

नये कवियों का कोई सर्वमान्य जीवन-दर्शन विकसित नहीं हो सका है। उनकी मौलिक

---

१. द राइटर्स इन दिस बुक हैव लर्न्ड टु ऐक्सेप्ट द फ़ैक्ट दैट प्राग्रेस इज़ इल्यूज़री, ऐन्ड यट टु बिलीव दैट द गेम इज़ वर्थ प्लेइंग; टु बिलीव दैट दि ऐलिविएशन ऑव सफ़रिंग इज़ गुड ईविन दो इट मेयरली मेक्स पॉसिबिल न्यू सेन्सिटिवनेस ऐन्ड देयरफोर न्यू सफ़रिंग, टु बिलीव दैट देयर ओन स्टैन्डर्ड्स आर नो मोर ऐब्सोल्यूट दैन दोज़ ऑव अदर पीपुल, ऐन्ड यट टु बी प्रियेयर्ड टु डिफेन्ड ऐन्ड टु सफ़र फ़ॉर देअर ओन स्टैन्डर्ड्स; टु थिंक ऑव द वर्ल्ड....इन टर्म्स ह्विच मेक इट अपियर डिटर्मिनिस्टिक ऐन्ड यट टु नो दैट ए ह्यूमन ऐक्शन मे बी अनप्रेडिक्टेबिल फ्रॉम सायन्टिफ़िक लॉज़, ए न्यू क्रिएशन।

एकता का सूत्र है 'विकसित आधुनिकता का परिप्रेक्ष्य तथा उसका समसामयिकता के दायित्व-निर्वाह का आग्रह।' हमारे यहाँ मौलिक चिन्तन के अभाव में आधुनिकता का बोध नाम मात्र को है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति में हमारा योग-दान ही क्या है? हम तो हर क्षेत्र में 'फ़ारेन एड' पर ही जीते है। हम जीवन-दर्शन की बात बहुत करते है, किन्तु जीवन-दर्शन की उद्भावना करते कहाँ हैं? नयी कविता पर सारा-का-सारा प्रभाव पाश्चात्य चिन्तकों का पड़ा है। हमारे देश के चिन्तकों में एकमात्र श्री अरविन्द का प्रभाव नयी कविता पर माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में हम में आधुनिकता का परिप्रेक्ष्य विकसित कैसे हो? हम तो पाश्चात्य चिन्तन के आयात और अनुकरण पर ही जी सकते है। इससे हमारा आधुनिक परिप्रेक्ष्य सतही नहीं होगा तो क्या होगा? यही कारण है कि नयी कविता की विवेचना में तो बड़ी-बड़ी बातें की जाती हैं, बड़े-बड़े दावे किये जाते हैं, बड़े-बड़े घोषणापत्र निकाल दिये जाते हैं, किन्तु कार्यान्वयन में सारा पोल खुल जाता है। जीवन पर गहरी, मौलिक दृष्टि के अभाव में आधुकिता के परिप्रेक्ष्य का लोभ प्रत्येक वस्तु को एक कृत्रिम, नवीन दृष्टिकोण से देखने का मोह उत्पन्न करता है, फलतः कविता सस्ती और निस्तेज हो जाती है। आज नयी कविता से नये कवियों के अतिरिक्त सबको शिकायत है। लगता है कि शिकायत निराधार नहीं है। स्वस्थ, आधुनिक चेतना की कमी, शुष्क चमत्कार-विधान, उलझे प्रतीक-विधान, और रुग्ण वैचित्र्य-विधान द्वारा पूरी करने की चेष्टा की जाती है। कविता एक प्रहेलिका बन जाती है। अक्सर कवि अन्त तक नहीं समझ पाता कि लिखना क्या चाहता है, और अपनी आरोपित उलझन को नयी संवेदना की उलझन कह कर सन्तोष करना और आलोचकों का मुँह बन्द करना चाहता है।

प्रयोगवाद की प्राण-प्रतिष्ठा के बाद से आधुनिकता का आग्रह और गौरव खूब बढ़ा है। आधुनिकता बीसवीं-शती संसार के सर्वश्रेष्ठ मूल्य, महामूल्य, के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है, यहाँ ही नहीं, पश्चिम में भी। १९ वीं शती का महामूल्य था प्रगति, प्रगतिशीलता; बीसवीं शती का है आधुनिकता। 'आधुनिकता का अपनी आधुनिकता पर गर्व करने की पद्धति पूर्णतया आधुनिक है।'[1] हिन्दी में इस प्रवृत्ति का उदय सर्वथा स्वाभाविक, बल्कि विलम्बित, है।

नयी कविता वर्जना-मुक्ति, कुण्ठा-मुक्ति, का उद्घोष करती है और उसे आधुनिकता का एक आवश्यक उपादान मान कर चलती है। वह व्यक्ति को आत्मानुभूति की समस्त संवेदना को तद्वत् रूप में, बिना किसी आग्रह के, प्रस्तुत करने, अभिव्यक्त करने को आदृत करती है।

वैसे, नयी कविता का निजी जीवन दर्शन क्षणवाद है, ऐसा कहा जा सकता है। हमने देखा है कि उमर खय्याम और उसके प्रभाव से हिन्दी के अतिवैयक्तिकतावादी कवि क्षण के जीवन का महत्त्व प्रतिपादित करने लगे थे। लगभग यही क्षणवाद नयी कविता में भी स्वीकृत और गृहीत दीखता है। वैसे, अस्तित्ववादी क्षणवाद और बौद्ध क्षणिकवाद का भी इस पर प्रभाव पड़ा है। अप्रासंगिक न होगा यदि यहाँ कहा जाय कि क्षणवाद

---

१ **मांडर्निटीस वे ऑव प्राइडिंग इटसेल्फ़ ऑन इट्स मांडर्निटी इज एन्टायरली मॉडर्न।**

मानने को तो मान लिया गया है, किन्तु उसके निहितार्थों पर बिल्कुल विचार नहीं किया गया है। उसके कुछ निहितार्थ तो बड़े ही अटपटे हैं। इस नियोजन युग में जबकि हम सुदूर भविष्य के लिए योजनाएँ बनाते हैं, क्षणवाद किस अर्थ में आधुनिक अथवा आधुनिकता-मण्डित कहा जा सकता है ? यदि नहीं कहा जा सकता तो समसामयिकता के दायित्व की घोषणा में कितना सार रह जाता है ?

क्षणवाद तानाशाही की ओर भी ले जा सकता है। अनातोले फ्रांस ने अपने उपन्यास, 'रिवोल्ट आँफ़ दि ऐंजेल्स' में नैपोलियन के सम्बन्ध में कहा है कि उसकी आधिपत्य जमाने की अपूर्व क्षमता के मूल में यह तथ्य था कि वह सम्पूर्णतया वर्तमान क्षण में जीता था और उसे अपरोक्ष तथा तात्क्षणिक यथार्थ के अतिरिक्त किसी चीज की कल्पना नहीं थी।[1]

नयी कविता में अतिसामान्य, क्षुद्र और लघु से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने और उन्हें काव्य का विषय बनाने की प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी प्रकार असाधारण, महान् और गुरु पर उसकी व्यंग दृष्टि भी देखी जाती हैं। उसमें 'मुखौटों की संस्कृति' पर कभी-कभी करारे व्यंग देखने को मिल जाते हैं। जीवन की कटुताओं-विषमताओं पर तो उसकी 'आधुनिक यथार्थ से द्रवित' व्यंग-दृष्टि रहती ही है।

नयी कविता में कहीं-कहीं लोक-सम्पृक्ति, लोक-चेतना, की अभिव्यक्ति बहुत ही सशक्त बन पड़ी है।

नयी कविता की मूल प्रकृति बौद्धिक है, वह भाव-विसर्जन (डिइमोशनलाइज़ेशन) का मार्ग पकड़ कर चलती है। व्यवहार में, प्रतिभा और साधना की कमी के कारण, नये कवि कविता में बुद्धि-तत्त्व का तो विशेष विकास नहीं कर सके किन्तु उनके हाथों भाव-विसर्जन अवश्य हो गया। स्पष्ट है कि ऐसी कविता यदि पद्य में लिखी जाय तो तुकबन्दी जान पड़ेगी। उसके लिए गद्य का ही मध्यम अधिक उपयुक्त है। यही कारण है कि कविता आज अधिकाधिक गद्यात्मक होती जा रही है। पहले तुक गया, फिर छन्द और अब कुछ लोग ध्वन्यात्मक लय को भी अनावश्यक मानने लगे हैं। जब यही बात है, तब होना तो यह चाहिए कि कविता के लिए गद्य पूरा-पूरा अपना लिया जाय और उसका पद्याकार-पद्याभासाकार मुद्रण-लेखन बन्द ही कर दिया जाय। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने नयी कविता के लिए 'गद्य कविता' नाम सुझाया है। 'गद्य काव्य' हमारे यहाँ स्वीकृत ही था। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने नयी कविता को 'पाठ्य काव्य' कहना पसन्द किया है।

क्लासिकी फ़ारसी और उर्दू ग़ज़ल तथा रुबाई में बुद्धि तत्व का पूर्ण विकास और परिपाक दिखाई देता है। किन्तु इसके लिए न भाव-विसर्जन की आवश्यकता हुई और न छन्दोविसर्जन की। नये हिन्दी कवि ने इस तथ्य की उपेक्षा कर भाव और छन्द के दायित्व से अपने को सर्वथा मुक्त कर लिया। छन्द का तो वह जानी दुश्मन-सा बन गया है। फलतः

---

१. **वाट मेड हिम सो एमिनेन्टली फ़िट टु डॉमिनेट, वाज़ दैट ही लिव्ड एन्टायरली इन द प्रेज़ेन्ट मोमेन्ट, ऐन्ड हैड नो कन्सेप्शन ऑव एनीथिंग एक्सेप्ट इमीडिएट ऐन्ड इन्स्टैन्ट रियालिटी। ('नैपोलियन फ़ॉर ऐन्ड अगेन्स्ट,' पृ. ३५३)**

कविता और अकविता का भेद लुप्तप्राय है। हिन्दी का दुर्भाग्य है कि फ़ारसी और उर्दू की स्वयं इस देश की इतनी स्वस्थ परम्परा के रहते, नये कवि ने पश्चिम के अन्धानुकरण में शुष्क गद्यात्मकता का वरण कर हिन्दी कविता का सारा स्वारस्य नष्ट कर दिया है और उसे अलोकप्रिय बना दिया है। गद्यात्मकता का यह दुराग्रह कविता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

हमें तो (वास्तविक) कविता चारों ओर से सिमट कर नव्यतर गीत-कविता में केन्द्रित होती हुई दीख रही है। हमारे नये गीत-कवि नीरज, रामावतार त्यागी, शम्भुनाथ सिंह, हंसकुमार तिवारी, क्षेम आदि छायावाद, अतिवैयक्तिकतावाद, प्रगतिवाद सभी के प्रभाव लेकर चले हैं। वे वैयक्तिकता, सामाजिकता और दार्शनिकता, (क्षणवाद, मृत्युवाद, भोगवाद, समाजवादी दर्शन आदि) के सशक्त स्वर छेड़ कर कविता की महत्ता का सिक्का अभी भी दिलों पर बैठा देने की क्षमता रखते हैं। इनमें गद्यात्मकता का दुराग्रह भी नहीं।

जगदीश गुप्त के अनुसार, नयी कविता में संगीतात्मक लय के स्थान पर 'अर्थ की लय' रहती है। जैसा कि कुछ समीक्षकों ने दिखलाया है, यह सिद्धान्त रिचार्ड्स, इलियट, और स्पेंडर की कुछ उक्तियों का गलत अर्थ लगाने के कारण अस्तित्व में आया है। अर्थ यदि लय देने लगे तो शांकर भाष्य' और 'डास कैपिटल' भी काव्य मान लिये जायँ।

बच्चन के ग़ालिब पर लिखे 'स्तवनगीत' की ये पंक्तियाँ देखिए—

उन सब कविताओं को मैं मरी समझता हूँ
एरिएल कान का जिनको नहीं पकड़ता है।
रेडियो ज़बाँ का जिन्हें नहीं फैलाता है
उनका हर अक्षर कृमि-कीटों का कौर बने।

स्पष्ट है कि कान का एरियल शब्द-लय को ही पकड़ सकता है। वस्तुतः "नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है।" अस्तु, यहाँ इस विवाद में पड़ने का अवकाश नहीं है।

प्रयोगवाद नयी कविता मुक्तक-प्रधान है। धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' काव्यात्मक नाटक" है और उनकी 'कनुप्रिया' खण्ड-काव्य कही जा सकती है। 'अन्धायुग' इस आन्दोलन की श्रेष्ठता कृति कहा जा सकता है। इसकी मूल कथा वस्तु पौराणिक है किन्तु वह आद्योपान्त आधुनिकता, आधुनिक समस्याओं संदर्भों से गुंजयमान है। मूल्यों, आस्थाओं, आदर्शों का समसामयिक विघटन इसका मूल उपजीव्य है।

इतना कुछ कहने के बाद यह कहना रह जाता है कि, अपनी सारी घोषणाओं के बावजूद, नयी कविता के अधिकांश रचनाकार कुण्ठा, रुग्णता, और अहं की अतिरिक्त चेतना का ही परिचय देते हैं, और बहुधा शब्दाडम्बर और चमत्कार का प्रदर्शन करके ही रह जाते हैं। 'तीसरा सप्तक का एक कवि मदन वात्स्यायन प्रयोगवाद के एक अंश में 'शब्दों के सर्कस,' 'निर्वेग बौद्धिकता" और 'ऊब रस' मानता और ऐसी रचनाओं को मायावादी कहता है। उसी सप्तक के एक अन्य कवि प्रयागनारायण त्रिपाठी ने भी कुछ ऐसी ही बातें कहीं हैं।

देवराज ने प्रयोगवाद और नयी कविता में तीन कमियों की ओर इंगित किया है, जिन्हें संक्षेप में सस्ते चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति कवियों में व्यक्तित्व की कमी और अनुशासन, की कमी कहा जा सकता है। अन्यों ने भाषा के एकान्ततः वैयक्तिक प्रयोग और उससे जनित

कव्य की दुरूहता और अप्रेषणीयता की शिकायत भी की है। जो भी हो, नई कविता का रूप द्रुत गति से परिवर्तनशील है, और हो सकता है कि शीघ्र ही वह पूर्णतर काव्य-पद्धति का रूप ले ले।

गद्य साहित्य का विकास आधुनिक युग की विशेषता है। हिन्दी-भाषा में, आधुनिक युग के पूर्व भी गद्य की सत्ता के उदाहरण तो दो-चार मिल जाते हैं, किन्तु साहित्यिक गद्य का आरम्भ भारतेन्दु-काल में ही हुआ। भारतेन्दु का प्रहसन, वैदिकी हिंसाहिंसा न भवति' साहित्य की दृष्टि से, खड़ी बोली हिन्दी की प्रथम मौलिक रचना है। अंग्रेज़ी शासन, मुद्रणालयों की स्थापना, राष्ट्रीय जागरण की लहर, विज्ञान और वैज्ञानिकता की उत्तरोत्तर प्रगति के फलस्वरूप गद्य का विकास होना ही था, सो हुआ। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण-मिश्र, श्रीधर पाठक, प्रेमधन ही जैसे उत्साही लेखकों ने नाटक, उपन्यास, कहानी, निवन्ध, आलोचना आदि गद्य-विधाओं में मौलिक रचना का सूत्रपात किया था।

ब्रज, अवधी, मैथिली आदि में तो नाट्य-रचना और लोक रंगमंच का विकास १५-१६ वीं शती में ही हो गया था। ब्रजभाषा में बल्लभ सम्प्रदाय में 'रासलीला' की गीति नाट्य परम्परा अवधी में तुलसीदास की कथित 'रामलीला,' मैथिली में विद्यापति के 'गोरक्ष विजय-नाटक' से प्रादुर्भूत 'कीर्तनिया नाटक' और 'और अंकित नाटक' की लम्बी परम्परा का पता चलता है।

भारतेन्दु और उनके समसामयिकों पर बंगला नाटकों का प्रभूत प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने प्रेम प्रधान, पौराणिक-धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी प्रकार के नाटक लिखे और खेले। इन नाटकों में उन सभी मुख्य प्रवृत्तियों का प्रभाव दिखाई देता है जो हमने तत्कालीन कविता में लक्षित की थी। उसी काल में पारसी कम्पनियाँ अस्तित्व में आयी थीं। उनके हाथों नाटककला में और सामाजिक प्रयोजन की हत्या हुई और अश्लील गानों, ऐयारी और चटक-मटक के दृश्यों की वृद्धि हुई, और नाटक में हर प्रकार का सस्तापन आ गया। साहित्यिकों ने इनसे लोहा लिया, किन्तु १९३० के बाद ही, फ़िल्म व्यवसाय द्वारा, उनका अन्त हो सका।

भारतेन्दु के बाद, प्रसाद के प्रादुर्भाव तक बदरीनाथ भट्ट ही एकमात्र मौलिक नाटक कार दिखाई देते हैं। हिन्दी नाटक का, वस्तुतः हिन्दी साहित्य का ही, स्वर्णकाल दोनों महायुद्धों के बीच का काल है, जिसमें प्रसाद के प्रौढ़ नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। वैसे, प्रसाद के कई नाटक 'सज्जन,' 'करुणालय,' 'प्रायश्चित' और 'राजश्री' प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही प्रकाशित हो चुके थे, किन्तु ये आरम्भिक नाटक थे, जिनमें प्रसाद की कला, शैली, दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। फिर भी, इन नाटकों में उस स्वच्छन्दवादिता की प्रवृत्ति के दर्शन अवश्य होते हैं जो छायावाद के रूप में पल्लवित-पुष्पित हुई थी।

'राजश्री' के बाद प्रसाद ने कुल नौ नाटक लिखे जिनमें सात ऐतिहासिक हैं। उनके दृष्टिकोण का परिचय 'विशाख' (१९२१) की भूमिका के इस वाक्य से मिलता है : 'मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंक में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराना है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत-कुछ प्रयत्न किया है।

प्रसाद के नाटक गम्भीर तलस्पर्शी ऐतिहासिक दृष्टि का प्रतिफलन करते हैं। उनमें

दार्शनिकता और भावुकता का भी पर्याप्त पुट मिलता है।

प्रसाद के समसामयिकों और परवर्तियों में श्रेष्ठ नाट्य रचना की परम्परा जीवित तो रही किन्तु बहुत आगे नहीं बढ़ी। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की परम्परा तो बिल्कुल आगे नहीं बढ़ी। परवर्तियों में न तो इतिहास पर उतनी गहरी दृष्टि ही दिखाई देती है और न युग जीवन को इतिहास-चेतना से समृद्ध, अनुप्राणित और आलोकित करने की वह क्षमता। नये नाटककार अधिकतर व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को उद्घाटित करने में ही व्यस्त रहे हैं। यद्यपि यह, अपने में, कोई अस्वस्थ प्रवृत्ति नहीं है तथापि जन-जीवन में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं, उनके चित्रण की ओर कम दृष्टि गई है।

अब 'अमेच्योर' रंगमंचों का युग आया है। इनके लिए एकांकी अधिक उपयुक्त होते हैं। फलतः इधर एकांकियों का जोर बढ़ा है और सम्पूर्ण नाटक के विकास को पर्याप्त क्षति पहुँची है। सुव्यवस्थित साहित्यिक रंगमंच की कमी से भी सम्पूर्ण नाटक की बाढ़ रुकी है।

आधुनिक चेतना को अभिव्यक्ति देने वाले नाटक नहीं के बराबर हैं। लक्ष्मीनारायण-लाल का 'मादा कैक्टस' लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'आदमी का ज़हर,' नरेश मेहता का 'सुबह के घंटे बस। ये संवेदन प्रधान नाट्य रचना की दिशा में प्रथम प्रयत्न हैं। ये 'एक कलाकार के व्यक्तित्व-संघटन की चिन्ता का आख्यान समझे जाते हैं। इनमें 'आदमी का ज़हर' शायद सर्वाधिक आधुनिक है, दृष्टि और संवेदन, अचल शिल्प, तीनों दृष्टियों से **हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास** है लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' (द्वितीय संस्करण १८८२ ई०) उसके बाद एक ओर सामाजिक और ऐतिहासिक तथा दूसरी ओर जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों की वृद्धि हुई। देवकीनन्दन खत्री ने फ़ारसी और उर्दू के प्रभाव में 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' नामक जासूसी और तिलिस्मी तथा ऐयारी की सनसनी-खेज़पूर्ण घटनाओं से परिपूर्ण उपन्यास लिखे, उसके बाद तो इस प्रकार के उपन्यासों की एक बाढ़-सी आ गई थी। किन्तु ऐतिहासिक, सामाजिक और प्रेमाख्यानक उपन्यासों की परम्परा भी खूब चली।

हिन्दी उपन्यास का स्वर्ण युग भी महायुद्ध द्वय के बीच का काल है, जो प्रेमचन्द युग भी कहा जा सकता है। हिन्दी उपन्यास के सबसे बड़े मास्टर प्रेमचन्द का पहला हिन्दी उपन्यास 'सेवासदन' सन् १९१८ में और अन्तिम तथा सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' सन् १९३६ में प्रकाशित हुए थे।

प्रेमचन्द पूर्व उपन्यासों के कथानक प्रायः प्रेम प्रधान होते थे। उनके चरित्र भाव लिए होते थे। कोई चरित्र एकान्ततः दैवी, अतिमानवी गुणों से सम्पन्न, कोई एकदम नीच और पतित, कोई आदर्श प्रेमी था, तो कोई निर्भय लुटेरा; कोई सर्वगुण सम्पन्न था, तो कोई सारे अवगुणों की खान जैसा कि पुरानी आदर्शवादी परम्परा में होता था। चरित्रों के क्रमिक विकास की तो पहले कल्पना ही नहीं था। उनका हर पात्र ढला-ढलाया, सभी गुणों या अवगुणों की चरमा-वस्था को लिये हुए जन्मा होता था, वह व्यक्तित्व से सर्वथा विहीन, 'टाइप' मात्र था।

प्रेमचन्द भी, कुल मिला कर, आदर्शवादी परम्परा में ही आते है, अन्तिम विश्लेषण में, 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' भी आदर्शवाद ही है, क्योंकि उसका यथार्थ आदर्श का पोषक-साधक

मात्र है। वस्तुतः उनकी उद्देश्य-चेतना, सोद्देश्यता, इतनी प्रबल, प्रखर और हावी है कि उनके उपन्यास अक्सर उपदेशप्रधान बन जाते हैं।

प्रेमचन्द के चरित्र उतने वैयक्तिक नहीं होते। वे अधिकतर वर्गगत और जातिगत होते हैं। वे प्रतिनिधि मानव चरित्रों, टाइपों के चित्रण में अधिक रुचि लेते जानपड़ते हैं, व्यक्ति-चित्र में कम रम पाते हैं। यथापि उनके चरित्र टाइप मात्र नहीं, वे सजीव, प्रतिनिधि मानव चरित्र हैं जिनसे वे मनचाहा ब्यवहार नहीं कराते, उन्हें घटना-गति के अनुरूप स्वाभाविक भूमिका खेलने देते हैं। हाँ, वे पात्रों का निर्वाह उतनी सशक्तता और कुशलता से नहीं कर पाते जितनी कुशलता से उनका निर्माण कर लेते हैं। उनके कई पात्रों की असामयिक-अस्वाभाविक मृत्यु हो जाती है। उनके कुछ उपन्यासों पर गाँधीवाद तथा 'गोदान' पर सुधारमूलक समाजवाद का प्रभाव दिखाई देता है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में चरित्रों का वैविध्य—किसान, ज़मींदार, ग़रीब, जुलाहे, क्लर्क साहूकार-महाजन,पण्डे-पुरोहित, राजनीतिक कार्यकर्ता, सरकारी अमले, समाज-सुधारक और उन सब के साथ उपन्यासकार द्वारा पूर्ण न्याय सहज ही ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। 'गोदान' को ग्राम-जीवन और किसान के मार्मिक तलस्पर्शी चित्रण के आधार पर, 'किसान जीवन का 'एपिक' कहा जाता है।

प्रेमचन्द से प्रेरणा लेकर प्रसाद ने भी तीन उपन्यास लिखे थे। प्रेमचन्द के समय से उपन्यास साहित्य का भाण्डार तो खूब भरा है, किन्तु कुल मिलाकर उतना बड़ा उपन्यासकार हिन्दी साहिन्य को अब तक नहीं मिल सका है। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में यशपाल और गुरुदत्त के राष्ट्रिय-राजनीतिक उपन्यास, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यास; भगवतीचरण वर्मा का पाप-पुण्य के द्वन्द्व का चित्रण करने वाला उपन्यास 'चित्रलेखा;' जैनेन्द्र के सामाजिक-समस्यामूलक उपन्यास, नागार्जुन, अश्क, नागर, रेणु आदि के सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने वाले उपन्यास; इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय के मनोवैज्ञानिक उपन्यास, अज्ञेय-प्रणीत, हिन्दी का एकमात्र अस्तित्ववादी उपन्यास अपने-अपने अजनबी; देवराज का अजय की डायरी; भारती, का सूरज का सातवाँ घोड़ा' आदि उल्लेखनीय हैं। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' अपने उपन्यासों में, फ़्रांसीसी उपन्यासकार ज़ोला के समान, समाज के वर्जित और कुत्सित अंगों के निर्भीक उद्घाटन और चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं। यह प्रवृत्ति इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, नागार्जुन आदि में भी दिखाई देती है। जोशी मनो-विश्लेषण-विज्ञान से अपने उपन्यासों में भरपूर काम लेते हैं! उनमें रुग्ण मानस के चित्रण, व्यक्ति मानस के दुर्भेद्य प्रदेशों में दबी काम वृत्तियों के अध्ययन और उद्घाटन, की प्रवृत्ति बलवती रही है। भगवतीचरण वर्मा भी फ़्रायड से प्रभावित उपन्यासकार हैं। उनके लोकप्रिय उपन्यास 'चित्रलेखा' पर अनातोले फ्रांस के उपन्यास ताया का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें पाप, पुण्य, प्रेम आदि का स्वतंत्र चिन्तन हुआ है। 'अज्ञेय' का 'शेखर एक जीवनी, नामक उपन्यास हिन्दी उपन्यास परम्परा को एक नया मोड़ देता है। वस्तुतः अज्ञेय प्रेमचन्दोत्तर काल के सब से बड़े उपन्यासकार माने जा सकते हैं। 'शेखर' पर रोम्याँ रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्तोफ़' की छाप स्पष्ट है। उनका दूसरा उपन्यास है 'नदी के द्वीप' जो 'शेखर' का ही परिशिष्ट कहा जा सकता

है। शेखर का बहुमुखी जीवन इस उपन्यास में संकुचित हो जाता है। उपन्यासकार मानव-व्यक्तित्व की सामाजिक परिणति के मार्ग से और भी हट जाता है। अज्ञेय का तीसरा उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' मृत्युभय और एकाकीपन की प्रचण्ड चेतना को अभिव्यक्ति देता है। इसमें, हिन्दी उपन्यास-साहित्य में शायद पहली बार, अस्तित्ववादी चिन्ता-धारा का महत्त्वपूर्ण उपयोग किया गया है। धर्मवीर भारती, देवराज, नरेश मेहता, रघुवंश, अमृतलाल नागर आदि उपन्यासकारों ने भी अच्छे प्रयोग किए हैं। वैसे, प्रेमचन्द्र की परम्परा के सर्वश्रेन्ठ उपन्यासकार जैनेन्द्र हैं।

हिन्दी में मौलिक, आधुनिक कहानी की परम्परा का सूत्रपात प्रसाद और प्रेमचन्द की कहानियों से होता है। इनकी कहानियों की शैली इनके उपन्यासों के ही अनुरूप हैं। प्रेमचन्द कहानी सम्राट् भी कहे जा सकते हैं। समसामयिक कहानी प्रचारात्मक होती जा रही है। नयी कहानी, सचेतन कहानी, अन्ययावादी कहानियों के विभिन्न स्कूल बनते जा रहे हैं और कहानी की कहानियत खतरे में पड़ती जा रही है।

निबन्ध लेखन की परम्परा का सूत्रपात भारतेन्दु से ही होता है। उनके बाद निबन्ध लेखन की एक सशक्त परम्परा क़ायम हो गई, जिसके उन्नायकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द, गुप्त, सरदार पूर्णसिंह आदि, और सबसे अधिक रामचन्द्र शुक्ल के नाम विशेष आदर के साथ लिए जाते हैं। शुक्ल जी ने समीक्षात्मक निबन्धों के साथ-साथ मनोविकार-सम्बन्धी मौलिक निबन्ध लिखकर हिन्दी साहित्य के भाण्डार को भरा। हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार, गुलाब राय, महादेवी वर्मा आदि ने भी उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध लिखे हैं।

यात्रा संस्मरण भी हिन्दी में बहुत हैं। अधिकतर तो वर्णनात्मक-इतिवृत्तात्मक ही है, किन्तु अज्ञेय का 'अरे यायावर रहेगा याद' संवेदनशील चित्रण और विश्लेषण से युक्त प्रथम यात्रा-संस्मरण कहा जा सकता है। इस शैली में और भी किन्तु थोड़े ही यात्रा-संस्मरण लिखे गए हैं।

इधर डायरी तथा नोट बुक का रिवाज भी चल रहा है। नयी शैली की डायरियों में अजितकुमार और लक्ष्मीकान्त वर्मा की डायरी का उल्लेख किया जा सकता है। रघुवीर-सहाय और शमशेर बहादुर सिंह ने नोट-बुक और अज्ञेय ने 'जॉर्नल' शैली में उत्कृष्ट रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

हिन्दी में समीक्षा-अलोचना की अविच्छिन्न परम्परा का सूत्रपात महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय से हुआ है। मिश्र-बन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु-विनोद' में हिन्दी साहित्य के इतिहास का इतिवृत्त और 'हिन्दी-नवरत्न' में साहित्य-समीक्षा प्रस्तुत की। पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी' के मण्डन में एक समीक्षा-पुस्तक लिखी। इस पर खण्डन-मण्डन का एक साहित्य ही तैयार हो गया। हिन्दी के प्रथम और कई अर्थों में सर्वश्रेष्ठ आलोचक रामचन्द्र शुक्ल हैं। उन्होंने कवियों को सामाजिक पृष्ठभूमि में रख कर परखा और साहित्यिक प्रवृत्तियों, साहित्यिक युगों का निर्धारण किया, समीक्षा के मान दण्ड निर्धारित किए, और हिन्दी में वैज्ञानिक समीक्षा प्रणाली की नींव डाली। उनके बाद के समीक्षकों में नगेन्द्र ने साहित्य समीक्षा में मनोविश्लेषण विज्ञान

का प्रयोग किया है। शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह आदि प्रगतिवादी दृष्टि के समीक्षक हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, देवराज स्वतन्त्र दृष्टि के समीक्षक हैं। प्रयोगवाद और नवलेखन के समीक्षकों में अज्ञेय, लक्ष्मीकान्त वर्मा, रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि अग्रणी हैं।

काव्य

भारतेन्दु युग

१९वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

विश्व के इतिहास में १९वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अपनी बहुविध विशेषताओं के कारण अपना स्थायी स्थान बना चुका है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, 'इस शताब्दी का अध्ययन कोई आसान काम नहीं है। यह एक विशाल दृश्य है, एक महान् चित्र है, और चूँकि हम उसके इतने नज़दीक हैं इसलिए यह हमें पहले की सदियों के बनिस्बत ज़्यादा बड़ी और घनी मालूम होती है। जब हम इस सदी के गूंथने वाले हज़ारों धागों को सुलझाने की कोशिश करते हैं तो उसकी यह विशालता और उलझन कभी-कभी तो हमें घबड़ा देती है। यह सदी मशीनों की आश्चर्यभरी उन्नति की सदी थी, औद्योगिक क्रान्ति की। रेत, तार, टैलीफ़ोन, जहाज़ इत्यादि का आविष्कार इसी युग में हुआ था। यह सदी यूरोप की समृद्धि, खास कर इंग्लैण्ड मोटर और अन्त में हवाई जहाज की उन्नति की सदी थी। इसी सदी में यूरोपीय साम्राज्यवाद एशिया और अफ्रीका की छाती पर जम कर बैठ चुका था।'[1]

इसी सदी में यूरोपीय पूँजीवाद ने राष्ट्रीयता को जन्म दिया। पश्चिम में अरब राष्ट्रों से लेकर सुदूर पूर्व में, समस्त एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन इसी शदाब्दी में उठ खड़े हुए। हर देश में यूरोपीय शक्तियों के साथ राजनैतिक संघर्ष शुरू हुआ। भारत की राष्ट्रीयता भी उसी समय जाग्रत हुई।

विश्व के इतिहास में १९वीं शताब्दी का राजनैतिक महत्त्व ही नहीं, सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्त्व भी है। सभी सभ्य देशों में युग प्रर्वतक महापुरुषों का जन्म इसी शताब्दी में हुआ, जिनके नव चिन्तन ने मानव जीवन की दिशा ही बदल डाली। पश्चिम में मार्क्स, रूसो, डार्विन टालस्टाय के साथ भारत में भी अनेक युगान्तरकारी युग पुरुषों का जन्म हुआ। सार्वजनिक शिक्षा का उत्थान, समाचारपत्रों की दृष्टि, जनतन्त्र के नए आदर्शों की स्थापना, मध्यवर्ग का अभ्युदय, बुद्धिवाद का आविभाव, साहित्य के सार्वजनिक महत्त्व का मूल्यांकन, गद्य का अपूर्व विकास, मनुष्य के विचार स्वातंत्र्य की मान्यता, इसी सक्रिय शताब्दी की उपलब्धियाँ हैं।

इस दिशा में, हिन्दी साहित्य का योग किसी भी दूसरे साहित्य से कम महत्त्वपूर्ण न था। यदि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का तटस्थ अध्ययन किया जाए तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जायगी कि उस काल के अनेक महान् लेखकों ने समाज और राष्ट्र के चरणों में अपनी भावनाओं की शत-शत श्रद्धांलियाँ भेट की थी। अकेले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जितना काम किया वह उस युग के किसी भी राष्ट्रीय नेता से कम न था।

---

१. पं० नेहरू : विश्व इतिहास की झलक, खण्ड–१, पृष्ठ ५६५,५६७

युगचेतना के उपर्युक्त संदर्भ में हमें भारतेन्दु युग के काव्य का सामूहिक अध्ययन प्रस्तुत करना है। सर्वप्रथम आलोच्य काल की युग सीमा का निर्धारण और युगचेतना का सामान्य परिचय अपेक्षित है।

युग सीमा :—

सामान्यतः हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने सन् १८५० से लेकर सन् १९०० तक के काल को 'भारतेन्दु युग' की संज्ञा दी है। किन्तु इस विषय पर विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो सन् १८७५ से लेकर सन् १९०० तक के समय को 'भारतेन्दु युग' कहते हैं।[१] लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपने शोध ग्रंथ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में इस काल का अध्ययन आधुनिक साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में किया है और उसे 'भारतेन्दु युग' के नाम से सम्बोधित नहीं किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी ऐसा ही किया है। केसरी नारायण शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक काव्यधारा' में भारतेन्दु युग सन् १८६५ से सन् १९०० तक माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु युग की सीमा स्पष्ट निर्धारित नहीं है।

वैसे साहित्यिक उन्नति और विकास की श्रृंखला में कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, फिर भी मैं सन् १८६८ से सन् १९१० तक के काल को 'भारतेन्दु युग' की संज्ञा देना चाहूँगा, क्योंकि आधुनिकता की दृष्टि से इसी काल में आधुनिक हिन्दी साहित्य की पक्की नींव रखी गई। हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन् १८६८ वह महत्त्वपूर्ण वर्ष था जब हिन्दी साहित्य प्राचीनता से आधुनिकता की ओर बड़ी तेज़ी से अग्रसर हुआ। इसी वर्ष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'कवि-वचन-सुधा' नामक हिन्दी की प्रथम साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ, जिसने एक साथ हिन्दी निबन्ध, आलोचना, पत्रकारिता, नाटक और नवीन काव्य का श्री गणेश किया। उसी वर्ष हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक 'विद्या-सुन्दर' का प्रकाशन हुआ, जिसमें गद्य का प्रयोग पद्य की अपेक्षा अधिक था। सन् १८६८ में ही बनारस में नए ढंग का रंगमंच, 'बनारस थिएटर' स्थापित हुआ, जिस पर आधुनिक शैली के नाटक खेले गए इसके अतिरिक्त उसी वर्ष प्रयाग के बाबू रतनचन्द ने शेक्सपीयर के नाटक 'ऐज़ यू लाइक इट' का प्रथम हिन्दी, रूपान्तर 'भ्रमजालक' नाटक के नाम से प्रस्तुत किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १८६८ से हिन्दी साहित्य सर्वथा नवीन दिशा की ओर अचानक प्रवर्तित हुआ, जिसमें प्राचीनता की अपेक्षा नवीनता की मात्रा कहीं अधिक है।

भारतेन्दु युग के इस काल सन् १८६८से सन् १९१०, को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। सन् १८६८ से १८८५ई० तक का समय भारतेन्दु युग का पूर्वार्द्ध और सन् १८८६ से १९१०ई० तक की अवधि उस युग का उत्तरार्द्ध है। प्रथम काल में भारतेन्दु के नेतृत्व में हिन्दी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों का विकास हुआ और दूसरे काल में भारतेन्दु के अनुयायियों ने उनके साहित्य पथ को प्रशस्त किया। सन् १९१० तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव हिन्दी के सामान्य लेखकों पर किसी न किसी रूप में तब तक बना रहा जब तक हिन्दी संसार में

---

१. रामचन्द्र मिश्र : श्रीधर पाठक तथा हिन्दी की पूर्व स्वच्छन्दवादी काव्य, पृष्ठ ४८

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का नेतृत्व सुदृढ़ नहीं हुआ। अतः सन् १८८६ से १९१० तक के काल को 'भारतेन्दु युग' की संज्ञा देना उचित ही है। यह कहना ठीक नहीं कि भारतेन्दु और श्री निवासदास की मृत्यु के बाद हिन्दी साहित्य का विकास रुक गया। सच तो यह है कि, सन् १८८५ के बाद ही भारतेन्दु युग के साहित्य में विभिन्न शैलियों और नए-नए विषयों का विकास हुआ। वस्तुतः इसी उत्तरार्द्ध काल में उच्च शिक्षा-प्राप्त हिन्दी लेखक साहित्य रचना की ओर प्रवृत्त हुए, नए विचारों और विषयों का समावेश हुआ, नाटकों में पद्य के स्थान पर गद्य की प्रतिष्ठा हुई, बंगला, गुजराती और अंग्रेज़ी साहित्य से हिन्दी लेखकों का संपर्क बढ़ा, गद्य की भाषा पहले से कहीं अधिक परिष्कृत हुई, अनुवादों की संख्या में वृद्धि हुई, आर्यसमाज के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण सामाजिक साहित्य की रचना आरंभ हुई और खड़ी बोली काव्य की प्राण प्रतिष्ठा हुई। इस दृष्टि से उस काल (सन् १८८६-१९१०) का अध्ययन अभी नहीं हुआ है। फिर भी, भारतेन्दु युग आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास काल नहीं, शिलान्यास काल था। उस युग में आधुनिक हिन्दी साहित्य की नींव डाली जा रही थी और उसकी नींव डालने वाले थे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र।

युग चेतना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह पहला अवसर था जब कि हिन्दी के लेखकों ने साहित्य की रचना में युग चेतना और युग भावना को इतने समीप से देखा और उसके कठोर सत्य को बड़ी ईमानदारी से प्रकट किया। उस युग का साहित्य हमारे नए सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण का शुभ परिणाम था। उसकी मूलधारा राष्ट्रीय और जनवादी थी। राष्ट्रीय इसलिए कि उस युग के लेखक देश की स्वाधीनता चाहते थे। भारतेन्दुयुगीन हिन्दी साहित्य जनवादी इसलिए है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से संतुष्ट न होकर उसमें आवश्यक सुधार चाहता था। वह केवल राजनैतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाई-चारे का साहित्य था।

भारतेन्दु युग संक्रान्ति काल था। इस काल के कवियों के सामने अतीत का गौरव और भविष्य का उत्साह रहता है। वे युग का विश्लेषण कर भविष्य के नवनिर्माण का सुखद स्वप्न देखते हैं। वे समाज को सत्य और आदर्श की नींव पर प्रतिष्ठित करने के लिए अतीत की ओर मुड़ कर देखते हैं। भारतेन्दु युग के लेखकों और कवियों में भी ये दोनों दृष्टियाँ वर्तमान थीं। समाज के नवनिर्माण के लिए उन्होंने अंग्रेज़ी समाज का अंधानुकरण नहीं किया। इसके लिए उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति और साहित्य का अध्ययन किया, उनमें ही उन्हें युगानुकूल सत्य और आदर्श के दर्शन हुए।

किन्तु, अतीत के आधार पर वर्तमान का निर्माण और भविष्य की सुखद कल्पना समाज की रचना में सदा हितकर नहीं होती। इसलिए भारतेन्दु युग के लेखकों तथा कवियों ने समन्वय का मार्ग स्वीकृत किया। यह कहना ठीक नहीं कि उस काल के लेखकों की सामान्य दृष्टि शुद्ध पुनरुत्थानमूलक थी। वे अतीत को आँख मूँद कर अपना लेने के पक्ष में बिल्कुल न थे, क्योंकि वे अतीत और वर्तमान का समुचित समन्वय करना चाहते थे। इस तथ्य को ठीक से समझ न

सकने का कारण कुछ लोगों को उस युग के साहित्य में अन्तर्विरोध का भ्रम होता है।

१९ वीं सदी में भारतीय जनता की दयनीय दशा थी। सारे उत्तर भारत में हिन्दू और मुसलमान एक विशेष प्रकार के मानसिक संघर्षों से गुज़र रहे थे। उस समय सामाजिक कुरीतियाँ तथा धार्मिक वितंडावाद के विरुद्ध जो घोर आन्दोलन चल रहा था, उसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि, भारतेन्दुकालीन हिन्दी साहित्यकारों की सामान्य चेतना सामाजिक और राष्ट्रीय थी। समाज की दुर्दशा में सुधार लाना और देश को विदेशी शासन से मुक्त करना ये ही उनके दो महान् लक्ष्य थे। १९वीं शताब्दी में भारतीय नवोत्थान की जो लहर उठी उसका लक्ष्य समाज और धर्म के तमाम काले चिट्ठे खोल कर रखना और उनकी समस्त गलित परम्पराओं को मिटा कर यूरोपीय विशिष्टताओं के साथ भारतीय आदर्शों का समन्वय करना था।

भारतेन्दु युग अनेक प्रकार के संघर्षों का युग था। इस संघर्ष में एक नए वर्ग का जन्म हुआ, मध्य वर्ग। यह नया वर्ग अंग्रेजों के कूटनीतिक शासन का परिणाम था। यह मध्यवर्ग सरकारी नौकरियों के पीछे तबाह था, इसलिए हर तरह असंतुष्ट था। उस युग के अधिकांश कवि और लेखक इसी मध्यवर्ग से उत्पन्न हुए थे।

भारत में नई शिक्षा के प्रसार और विस्तार के कारण मनुष्य की दृष्टि अब पहले से कहीं अधिक बौद्धिक होने लगी, वह पुरानी बातों को बुद्धि की तुला पर तौलने लगा। उसमें सचाई को जानने की जिज्ञासा जागृत हुई और दूसरी बात यह हुई कि मानवीय चेतना अब धीरे-धीरे व्यक्ति से समूह की ओर उन्मुख हुई। भारतेन्दु काल के कवियों तथा लेखकों ने पहली बार यह अनुभव किया कि साहित्य व्यक्ति के मनोरंजन के लिए नहीं, बल्कि समाज के उत्थान, जनता की भलाई के लिए लिखा जाना चाहिए। १९वीं सदी के तीसरे चतुर्थांश में हिन्दी के कवि और लेखक शृंगार से खिंचने लगे थे। फलतः साहित्य की सर्वथा नवीन व्याख्या शुरू हुई। भारतेन्दु युग में सार्वजनिक और प्रगतिशील साहित्य की रचना का एक प्रमुख कारण शृंगार का विरोध और दूसरा कारण साहित्य के प्रति तत्कालीन लेखकों का नवीन दृष्टिकोण। यह नया दृष्टिकोण नई शिक्षा के प्रसार और विज्ञान के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुआ। जुलाई, सन् १८१८ के 'हिन्दी-प्रदीप' में बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य की नयी व्याख्या इन पंक्तियों में की, 'साहित्य उस-समूह के हृदय का विकास है, साहित्य जिस देश के जो पुरुष हैं उस जाति की मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है जो जाति जिस समय से परिपूर्ण या परिप्लुत होती है सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।' उन्हीं दिनों इग्लैण्ड में मैथ्यू आर्नल्ड ने भी साहित्य की नवीन व्याख्या की थी और कहा था, 'साहित्य जीवन की आलोचना है।' हो सकता है कि भारतेन्दुयुगीन कवियों तथा लेखकों पर उसका प्रभाव भी पड़ा हो। फलतः साहित्य में अब व्यक्तिवादी रीतिपरक अभिव्यक्तियाँ कम होने लगीं और सामाजिक भावों तथा विचारों का प्रस्फुटन होने लगा।

---

१. राम विलास शर्मा : भारतेन्दु-युग, तृतीय संस्करण, ११५६ की भूमिका से

प्रेरणा के मूल स्रोत

१९वीं शताब्दी के साहित्यिक मूल्यों में जितना परिवर्तन हुआ उतना पहले कभी नहीं हुआ था। इसका एक कारण पाश्चात्य प्रभाव था। यह प्रभाव ऐसे समय में आया जबकि हमारा बौद्धिक विकास बहुत-कुछ रुद्ध हो चुका था और भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पतनोन्मुखी प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं। चारों ओर अराजकता फैली थी। मध्ययुग में इस्लाम के प्रभाव से हिन्दी साहित्य के विकास में भले ही कुछ लाभ हुआ हो किन्तु हमारे मूलभूत दृष्टिकोण में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। वैदिक युग से लेकर भारतेन्दु के पहले तक संभवतः ऐसा युगान्तरकारी और अपूर्व परिवर्तन कभी देखने में नहीं आया। इसी बौद्धिक परिवर्तन के कारण भारतेन्दुकालीन हिन्दी साहित्य आज भी आकर्षक बना हुआ है और हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुका है। इसी संघर्ष रत युग में 'पूरब' और 'पश्चिम' की सम्मिलित शिक्षा के फलस्वरूप भारत में अनेक महापुरुषों, जैसे स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा-राममोहन राय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्र नाथ ठाकुर आदि का आविर्भाव हुआ, जिनके नवीन विचारों से सारा उत्तर भारत उजागर हुआ।

उत्तर भारत में पाश्चात्य प्रभावों को सबसे पहले बंगाल ने ग्रहण किया, क्योंकि अंग्रेज़ों की विजय पताका सर्वप्रथम बंगाल में ही फहरी थी। ऐसा होते हुए भी नवोत्थान और नव-जागरण का प्रथम सुप्रभात वहीं हुआ। इसके फलस्वरूप उस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल ने अनेक महापुरुषों को जन्म दिया। स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण—जैसे दार्शनिक, राजा-राममोहन राय, केशवचन्द्र तथा देवेन्द्र ठाकुर—जैसे समाज-सुधारक, बंकिम—जैसे उपन्यास-कार, गिरीशचन्द्र घोष—जैसे नाटककार और मधुसूदन दत्त—जैसे महाकवि से सारा बंगाल प्रभावित था। उस समय हिन्दी-प्रान्तों की सांस्कृतिक और साहित्यिक बागडोर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हाथ में थी। दूसरी ओर स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्यसमाज ने भारतीय समाज की तमाम रूढ़ियों और अंधविश्वासों को धज्जियाँ उड़ा दीं और चारों ओर नव जागरण और नवोत्थान की लहर फैला दी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस काल के हिन्दी कवि और लेखक बंगाल से प्रभावित थे और उस प्रदेश के साहित्यिक जागरण से बहुत-कुछ प्रेरणा ग्रहण करते थे, किन्तु इतना होते हुए भी हमारे कवि और लेखक अपनी रचनाओं में निजी विशिष्टताएँ बनाए रखते थे। उपन्यास और नाटक की दिशा में अवश्य ही वे बंगाल से सीधे प्रभावित थे, किन्तु कविता के क्षेत्र में उनकी अपनी विशिष्टता और मौलिकता बनी रही।

पत्र-पत्रिकाओं का योग

शिक्षा और विज्ञान के प्रसार के फलस्वरूप उस युग में अनेकानेक हिन्दी पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। इतने बड़े पैमाने पर इतनी सारी पत्रिकाओं का प्रकाशन पहले कभी नहीं हुआ था। उस काल में विश्व के सभी बड़े देशों में पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई थी। भारतेन्दुकालीन हिन्दी साहित्य के नवोत्थान में कुछ हिन्दी पत्रिकाओं की सेवाएँ आशातीत थीं। कथा साहित्य, नाटक, काव्य, आलोचना, पुस्तक परिचय, नवीन काव्य और गद्य भाषा के निर्माण में पत्रिकाओं ने प्रत्यक्ष रूप से सहायता पहुँचाई। सामान्यतः उस समय का लेखक पत्रकार भी होता था।

उस काल की प्रमुख प्रत्रिकाएँ विभिन्न दिशाओं में, विभिन्न विषयों को लेकर कार्यरत थीं। उदाहरण के लिए 'हिन्दोस्तान' राजनीति में, 'मित्र-विलास', 'आर्यावर्त' और 'धर्म दिवाकर' धर्म के क्षेत्र में कार्य कर रही थीं। उस काल की साहित्यिक पत्रिकाओं में 'साहित्य-सुधा-निधि,' 'कवि वचन-सुधा,' 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन,' 'भारतेन्दु,' 'ब्राह्मण', 'हिन्दी-प्रदीप', 'बिहार बंधु,' 'रसिक पंच' इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन साहित्यिक पत्रों में भारतेन्दु युग के हिन्दी साहित्य का विपुल भण्डार आज भी पुरानी फाइलों के नीचे दबा पड़ा है और उसके आधार पर साहित्य का अध्ययन अभी नहीं हुआ है। इन पत्रों में निबन्ध, कविता, नाटक, एकांकी, आलोचना और पुस्तक समीक्षा की बहुत बड़ी राशि छिपी पड़ी है; जो अभी प्रकाश में नहीं आई है। वास्तव में, उस काल की पत्र-पत्रिकाओं ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के दिशा-प्रवर्तन में पर्याप्त योग दिया है। उनसे साहित्य की अनेक नई विधाओं के द्वार खुले हैं, नई-नई शैलियों का सृजन हुआ है और न जाने कितने नए प्रयोग हुए हैं। इस दृष्टि से उस काल का अध्ययन अभी नहीं हुआ है। नवीन हिन्दी काव्य का उत्थान भी इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ था।

युग का साहित्यिक नेतृत्व

'कलियुग के कन्हैया' भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (सन् १८५०-१८८४) भारतेन्दुयुगीन हिन्दी साहित्य के एक मात्र नेता थे। वे वास्तव में उस युग के महान् व्यक्तित्व थे। उनके सम्पर्क में जो भी आया, सोने की तरह चमका और उसकी झोली साहित्य की विभूतियों से भर गई। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में जिस राजा हरिश्चन्द्र की कथा कही गई है उसमें भारतेन्दु का ही व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हुआ है। उनके लिए साहित्य, देशसेवा और पत्रकारिता तीन अलग-अलग चीजें नहीं थीं। महात्मा गाँधी के आविर्भाव के पहले हिन्दी प्रान्तों के लिए उन्होंने जितना जो-कुछ किया, वह अद्वितीय है। पं० अम्बिका दत्त व्यास का यह कहना बिलकुल ठीक है कि 'जो काम चँवरधारी राजा बाबू न कर सके, सो वैश्य बाबू हरिश्चन्द्र ने किया।'

साहित्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन का सर्वस्व था। यह उनके लिए एक तमाशा नहीं बल्कि समाज-सुधार और देश प्रेम का एक सबल साधन और माध्यम था। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने जितना कार्य किया उतना पहले किसी ने नहीं किया था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने युग के एक ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व थे जिनसे उस समय के सभी छोटे-बड़े हिन्दी-लेखक व कवि प्रभावित थे। उनका साहित्य-संदेश हिन्दी-प्रदेश के कोने-कोने तक पहुँचा और देखते-ही-देखते हिन्दी-लेखकों और कवियों का एक बहुत बड़ा मण्डल तैयार हो गया। उन्होंने अपने हाथों आधुनिक हिन्दी साहित्य का जो पौधा लगाया था उसे सींचकर बड़ा करने वाले अनेक लेखक और कवि उस युग में पैदा हुए। स्वयं भारतेन्दु ने उस पौधे को अपने सामने पनपते देखा था। उनके मित्रों और अनुयायियों में सभी कवि, पत्रकार, निबन्धकार और नाटककार थे। लाला श्रीनिवासदास, बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, दामोदर शास्त्री, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास इत्यादि उस युग के कुछ ऐसे साहित्य-मनीषी थे जो भारतेन्दु से सीधे प्रभावित थे। राजा हो

या रईस, शिक्षक हो या विद्यार्थी, पत्रकार हो या समाज-सेवी सभी वर्ग के लोग भारतेन्दु के विराट् व्यक्तित्व से अभिभूत थे। 'कवि-वचन-सुधा' के अध्ययन से न जाने कितने नवयुवक लेखक, कवि, नाटककार, पत्रकार और निबन्धकार बने, इसका कोई हिसाब नहीं। निःसन्देह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने युग के साहित्यिक नेता थे। उस काल की अनेकानेक पुस्तकों में लिखी भूमिकाओं और नाटकों की प्रस्तावनाओं में उनके प्रति अनेक श्रद्धांजलियाँ अर्पित की गई हैं।

सिपाही-विद्रोह के बाद, जब कि चारों ओर श्मशान की शान्ति विराजमान थी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही एक ऐसे प्रकाश स्तंभ थे, जिन्होंने हिन्दी संसार में घूम-घूम कर मुर्दों में जान फूँकी और उन्हें उठा कर खड़ा किया। उन्होंने धर्म को आडम्बरों से, समाज को रूढ़ियों से और देश को पराधीनता से मुक्त करने के जितने प्रयत्न किए उनके लिए वे सदा याद किए जाएँगे। उनके सामने मरघट का धुँआ छाया था और उनके हृदय में उत्साह का ज्वार फूटा था। देश के नौजवानों को वे इसी ज्वार-भाटा से खेलने की चिरन्तन प्रेरणा दे गए।

स्वच्छन्दवादी प्रवृत्तियाँ

रीतिकाल के काव्य की जिन प्रवृत्तियों का प्रारम्भ आचार्य केशवदास, चिन्तामणि एवं मतिराम ने किया था उनका विकास कवि पद्माकर तक आते-आते शिथिल पड़ चुका था। धीरे-धीरे परिस्थितियाँ बदलीं। राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण भारतीय जीवन और साहित्य को नई दिशा की ओर प्रवर्तित होना पड़ा। भारतेन्दु की प्रेरणा से हिन्दी साहित्य ने करवट बदली और उसमें नई भावनाओं और प्रवृत्तियों का समावेश हुआ। काव्यशास्त्र का पुराना अनुशासन अब ढीला पड़ने लगा और कवि नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त हुए। रीतिकाल की अतिशय श्रृंगार भावना के स्थान पर जीवनोपयोगी साहित्य की रचना आरम्भ हुई। फलतः भारतेन्दु युग के लगभग सभी बड़े साहित्यकारों ने प्राचीन साहित्यशास्त्र की अवहेलना की और युग के अनुकूल साहित्य का निर्माण किया। कविता यद्यपि अभी मध्ययुग के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हुई थी तथापि उसमें भी नए-नए विषयों का समावेश होने लगा था।

भारतेन्दु युग की उपर्युक्त साहित्यिक और युगीन विशिष्टताओं के संदर्भ में हमें उस युग के काव्य का विशेष अध्ययन करना है और यह देखना है कि उस युग का हिन्दी काव्य पूरवर्ती हिन्दी काव्यधारा से कितनी दूर आगे जा सका है। सबसे पहले हमें उस युग के काव्य सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना है।

काव्य सिद्धान्त

युग परिवर्तन के साथ ही काव्य के मूल सिद्धान्तों में भी युगानुकूल परिवर्तन हो जाया करता है। भारतेन्दु युग के नए और पुराने कवियों ने यद्यपि काव्य का शास्त्रीय प्रतिपादन व्यापक ढंग से नहीं किया तथापि उसके कुछ छिटपुट उदाहरण अवश्य मिलते हैं, जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं। रीतिकाल में जहाँ कवियों का ध्यान मुख्यतः रस, अलंकार आदि के विवेचन पर केन्द्रित था वहाँ इस युग के कवियों ने रस और अलंकार को एक सीमा और मर्यादा के अन्दर स्वीकार किया। इस संबंध में सुरेशचन्द्र गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक कवियों के काव्य-सिद्धान्त' में ठीक ही लिखा है कि 'भारतेन्दु युग के कवियों द्वारा प्रतिपादित

काव्य-सिद्धान्त व्यापक न होने पर भी महत्त्वपूर्ण है।' उन्होंने रीतिकालीन कवियों की भाँति संस्कृत काव्यशास्त्र का पिष्टपेषण न कर अपने सिद्धान्त-निरूपण की दिशा को उनसे पर्याप्त भिन्न रखा है।—उनकी प्रवृत्ति विशेषतः काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य और काव्य-शिल्प के विवेचन की ओर रही है। उन्होंने काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, रस, काव्यानुवाद और काव्यालोचन का सामान्य उल्लेख किया है।—उन्होंने काव्य के तत्त्वों और काव्य-रचना के रूपों की चर्चा नहीं की।[1]

भारतेन्दु युग में काव्यशास्त्र पर एक भी प्रौढ़ ग्रंथ नहीं लिखा गया। वैसे रस, अलंकार और पिंगल पर कुछ पुस्तकें अवश्य लिखी गयीं, जैसे महाराज प्रतापनारायण सिंह का 'रसकुसुमाकर' (१८९२), मुरारिदान का 'जसवन्तभूषण' (१८९३), गंगाधर द्विजभंग का 'महेश्वरभूषण' (१८९५) कन्हैयालाल पोद्दार का 'अलंकार-प्रकाश' (१८९६) और गदाधर भट्ट का 'छन्दोमंजरी' (१८९६)। किन्तु इनमें से कोई भी ग्रंथ प्रौढ़ और प्रभावकारी सिद्ध न हुआ। अतएव भारतेन्दु युग में काव्याचार्यों की परम्परा समाप्त हो गई।

उस युग के साहित्यिक नेता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और अन्य कवि काव्य की परम्परागत मान्यताओं से परिचित अवश्य थे किन्तु उनका अधिकांश समय उसके शास्त्रीय विवेचन में नहीं लगा, उनकी दृष्टि सृजनात्मक अधिक, शास्त्रीय कम थी।

भारतेन्दु ने रस को काव्य की आत्मा माना है और इस विषय पर अपने विचार प्रकट किए हैं। उनका स्पष्ट कथन है—'जामै रस कछु होत है पढ़त ताहि सब कोय।' इतना ही नहीं, उन्होंने 'गीतगोविन्द' के मंगलाचरण में नवरसों के अतिरिक्त वात्सल्य, दास्य और माधुर्य को भी प्रमुख रसों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। 'नाटक' नामक पुस्तक में 'दास्य' को भक्ति रस और 'माधुर्य' को प्रेम रस की संज्ञा दी है। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिए कि भारतेन्दु ने रस-सिद्धान्त को प्राचीन अर्थ में ग्रहण नहीं किया। उनकी दृष्टि में रस का सम्बन्ध कवि की अनुभूति से है। ५ जुलाई, १८७२ की 'कवि-वचन-सुधा' में उन्होंने इस बात को इन शब्दों में लिखा—'रस ऐसी वस्तु है जो अनुभूतिसिद्ध है।'

भारतेन्दु काव्य में 'उक्ति वैचित्र्य' का होना आवश्यक मानते हैं, कहा भी है—'बात अनूठी चाहिए, भाषा कोउ होय।' भारतेन्दु के काव्य चिंतन की दूसरी देन 'भक्ति' को रस का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानने में है। प्राचीन आचार्यों ने 'भक्ति' को रस के अंतर्गत नहीं रखा था। वस्तुतः भारतेन्दु युग के अधिकांश कवियों ने शृंगार के बाद भक्तिपरक काव्य ही अधिक लिखा।

भारतेन्दु द्वारा गृहीत सभी रसों में शृंगार को रसराज माना गया है। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' (अगस्त, १८७४, पृष्ठ १०५) में उन्होंने इस प्रकार लिखा—'जहाँ प्रेम हो वहीं रस है' क्योंकि सबसे अमूल्य, सब का शिरोधार्य, सबसे दुर्लभ और रस का मूल प्रेम ही है।' शृंगार

---

१. सुरेशचन्द्र गुप्त : आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त, पृष्ठ ८६

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ३७२

को सर्वोपरि मान कर भारतेन्दु ने एक तरफ से केशव और देव की रीतिकालीन काव्य-परम्परा का अनुसरण किया है।

भारतेन्दु की उपर्युक्त काव्यगत मान्यताएँ उस युग के अधिकांश छोटे-बड़े कवियों को भी स्वीकार थीं और उन्होंने भी शृङ्गार रस को एक मर्यादा के अन्दर रखा। लेकिन यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतेन्दु युग के अधिकांश नए कवियों में शृङ्गार के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी शुरू हो गई थी क्योंकि तत्कालीन नवोत्थान की चेतना से प्रभावित होकर कवियों का ध्यान समाज के नवनिर्माण की ओर आकृष्ट हुआ था। ऐसी स्थिति में रसराज शृंगार के परम्परागत गलित रूपों को फैलने का अनुकूल अवसर और वातावरण नहीं मिला। स्मरण रखना चाहिए कि, रीति युग की सामाजिक अवस्थाओं में घोर परिवर्तन हो चुका था। देश के नए समाजसुधारक इस दिशा में ज़ोर-शोर से काम कर रहे थे। जनोपयोगी साहित्य लिखने की भावना लेखकों और कवियों में घर करने लगी थी।

रामविलास शर्मा का यह कथन बिलकुल ठीक है कि 'भारतेन्दु युग की साहित्यिक प्रक्रिया में कुछ तत्त्व ऐसे थे जो मरणशील थे और वे नष्ट हो रहे थे; दूसरे तत्त्व ऐसे थे जो विकासोन्मुख थे और विकसित और पल्लवित हो रहे थे। दरबारी परम्परा और राजभक्ति ऐसे ही मरणशील तत्त्व थे। काव्य में नायिका भेद वाली शृंगारी परम्परा काफी जगह घेरे हुए है लेकिन वह पस्त और बेदम है और साहित्य की धारा को प्रशस्त करके आगे बढ़ने में असमर्थ है।"[1]

इतना ही नहीं, भारतेन्दु युग विभिन्न विचारधाराओं और प्रवृत्तियो का संगम था। रामविलास शर्मा के ये निष्कर्ष बड़े तर्कसंगत हैं—'भारतेन्दु युग के काव्य-साहित्य को पढ़ने से विचित्र कोलाहल का अनुभव होता है। विभिन्न धाराओं के एक साथ मिलने से पाठकों को आकाशभेदी कल-कल ध्वनि सुनाई पड़ती है। कुछ लोग नायिकाओं के नख-सिख-वर्णन में लगे हैं तो दूसरे प्रतिभावान् समस्या-पूर्ति में चमत्कार दिखा रहे हैं। अन्य कवि महामारी, अकाल, टैक्स पर लोकगीत रच रहे हैं और कुछ लोग कविता में गद्य की भाषा के प्रयोग कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि काव्य-साहित्य में व्यवस्था का अभाव है, पुरानी रूढ़ियों पर चलने वाले काफी हैं तो साहस से नये प्रयोग करने वालों की भी कमी नहीं है। ऐसे लोग भी हैं जो कुछ दिन रूढ़ियों पर चलने के बाद इन नए प्रयोगों की ओर झुक रहे हैं। दरबारी संस्कृति और नवचेतना का संघर्ष कविता में ही सबसे ज्यादा दिखाई देता है।'[2]

स्पष्ट है कि तत्कालीन कवियों के मानस में द्वन्द्व की स्थिति थी। एक ओर रीतिकाल की शृंगारी परम्परा उन्हें झकझोरती थी और दूसरी ओर युग-चेतना की नई लहर उन्हें प्रभावित करती थी। फलतः उन्होंने प्रथम को आंशिक रूप से और द्वितीय को सामूहिक रूप से ग्रहण किया।

हिन्दी साहित्य के अध्येताओं ने भारतेन्दु युग के साहित्य का अध्ययन करते समय उसके दो स्पष्ट विभाग किए हैं और उनका अनुशीलन दो अलग-अलग धाराओं—नवीन काव्य-

१. रामविलास शर्मा : भारतेन्दु-युग, पृ० १७१, तृतीय संस्करण, १९५६ ई०

२. वही, पृष्ठ १३४

धारा और प्राचीन काव्यधारा के अन्तर्गत किया है। इस पद्धति का श्री गणेश सर्व प्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया था।

प्राचीन काव्यधारा

हम कह चुके हैं कि भारतेन्दु युग संक्रांति काल था। ऐसे काल में प्राचीनता के प्रति मोह होता ही है। इस संधि काल में हिन्दी की प्राचीन काव्य-परम्पराएँ पूरी तरह अपदस्त नहीं हुई थीं। इस काल में भी जहाँ-तहाँ देशी नरेशों की राजसभाएँ और नवाबों के दरबार साहित्य एवं काव्य के प्रमुख केन्द्र थे। इनमें रीवाँ, अयोध्या, सुढालिया, रामपुर, काशी, हरिहरपुर, दरभंगा, सूर्यपुरा इत्यादि के राजदरबार प्रधान थे। इन साहित्यिक केन्द्रों में विगत युगों की काव्य परम्पराओं का पालन किसी तरह किया जा रहा था, क्योंकि ये केन्द्र अंग्रेजी राज्य के नवीन प्रभावों से अछूते थे। हिन्दी साहित्य के इस संक्रान्तिकाल में प्राचीन साहित्य-परम्परा से एकदम विमुख हो जाना संभव भी न था। इस पुरानी परिपाटी के कवियों में अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' (१८२०-१८७०), सरदार कवि, नकछेदी तिवारी 'अजान कवि', त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश', गौरी सिंह, गोविन्द कवि गिल्लाभाई, बलदेव प्रसाद, रसिक विहारी रसिकेश, संतोष सिंह शर्मा, ठाकुर जगमोहन सिंह, द्विजबेनी, गदाधर कवि, लाल कवि, राय शिवदास कवि, शाह कुन्दनलाल 'ललितकिशोरी', उदयनाथ कवीन्द्र, शिवनाथ द्विवेदी, लछिराम, चन्द्रशेखर बाजपेयी, गोकुलनाथ, ठाकुर गणेशबख्श सिंह, राजा राजराजेश्वर प्रसाद सिंह और जगन्नाथ रत्नाकर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अन्य छोटे कवियों में ईश्वर प्रताप नारायण राय, रायजू उपाध्याय, श्रीकृष्णलाल जी, कवि नन्दराय, महाराज कुमार, नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह 'ईश', द्विज कवि, हरिशंकर सिंह, दिवाकर भट्ट, गजाधर प्रसाद शुक्ल शर्मा, बलभद्र मिश्र, द्विजगंग शर्मा, सुखदेव मिश्र, श्याम सुन्दर 'श्याम', अयोध्यानाथ अवधेश, शिवनन्दन सहाय इत्यादि अनेक कवियों के नाम लिए जाते हैं। डॉ० वार्ष्णेय का कहना है कि 'इनमें से कुछ कवियों की तो स्वतन्त्र रचनाएँ प्राप्त हैं, परन्तु अधिकांश के केवल स्फुट कवित्त-सवैया ही संग्रह-ग्रंथों में मिलते हैं।' इन सभी छोटे-बड़े कवियों ने हिन्दी कविता की पुरानी परिपाटी को बनाए रखा। इतना ही नहीं भारतेन्दु-युग में ऐसा एक भी कवि न मिलेगा जिसने प्राचीन काव्य-परम्परा को बनाए रखने में थोड़ा-बहुत योग न दिया हो।'[२]

उक्त कवियों ने पिछली पीढ़ी की हिन्दी कविता का पिष्टपेषण किया। वे अपने पूर्ववर्ती कवियों के संकीर्ण मार्ग पर चलते रहे। अतः वे स्वतंत्र एवं मौलिक काव्य-कौशल का परिचय दे सके। नख-शिख वर्णन और नायिका भेद में ही वे अधिक डूबे रहे, क्योंकि उन्हें परम्परा के अनुसार अपने स्वामियों को प्रसन्न करना था। इस काल में भी राधा-कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित उसके मनोहर पक्षों का वर्णन किया गया, किन्तु 'कृष्ण सम्बन्धी पौराणिक कथाओं की जितनी छीछालेदर इस काल के शृंगार-काव्य में हुई उतनी पहले कभी नहीं हुई

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० १८४

२. वही

थी। उद्दाम श्रृंङ्गार के नग्न वर्णन में ये कवि पूववर्ती कवियों से बाज़ी मार ले गए। ऐहिक प्रेम-सम्बन्धों के वर्णन में ये कवि मर्यादा के घेरे से बाहर चले गए। अतएव साहित्यिक दृष्टि से उनकी रचनाओं को हम 'उच्चकोटि' का नहीं कह सकते।

भारतेन्दु तथा द्विजदेव जैसे कुछेक कवियों को छोड़ अन्य शेष कवियों की कृतियाँ महत्त्वहीन और प्रभावहीन हैं। उन्होंने अधिकतर कवित्त और सवैयों में अपनी कविताएँ लिखी हैं। छन्दों के प्रयोग में उन्होंने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। काव्य के कलेवर में अलंकारों को ठूँसने की प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि कविता कामिनी का सारा शरीर अलंकारों के बोझ से दब कर कृत्रिम और विकृत हो गया। रीतिकालीन काव्य की तरह भारतेन्दु युग के लगभग सभी परम्परायुक्त कवियों ने पुस्तक काव्य में शृङ्गारिक कविताएँ लिखीं।

भाषा के क्षेत्र में भी पुरानी परिपाटी के कवियों ने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया। किन्तु इस काल में इस भाषा पर ब्रज प्रदेश की साहित्यिक भाषा का प्रभाव नहीं रहा। क्योंकि ब्रजभाषा और पूर्वी हिन्दी का स्पष्ट प्रभाव था। काव्य भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभुत्व पहले से कहीं अधिक गहरा था। हिन्दी प्रदेश के कोने-कोने में हिन्दी कवि ब्रजभाषा में काव्य की रचना कर रहे थे। यह प्रवृत्ति रीतिकाल में ही जड़ जमा चुकी थी। वस्तुतः १९वीं शताब्दी के मध्य तक यह ब्रजभाषा एक तरह से सारे उत्तर भारत की साहित्यक भाषा बन चुकी थी।

भारतेन्दु युग के परम्परावादी कवि शृंगार को ही काव्य का प्राण समझते थे। अतएव वे उससे बुरी तरह चिपके रहे। उनकी विषयगत कूपमंडूकता ने उन्हें इस सीमा से बाहर जाने का तनिक भी अवसर न दिया। युग चेतना का उन पर कोई असर न था। किन्तु शृंगार को वे वैज्ञानिक दृष्टि से देखने का उपक्रम करने लगे थे। इस दिशा में उन्होंने शृंगारिक कविताओं के अनेक संग्रह समय-समय पर प्रकाशित किए। कुछ के नाम इस प्रकार हैं—सरदार कवि का 'शृंगार-संग्रह' (सन् १८४८), भारतेन्दु का 'सुन्दरी तिलक' (१८६६), हफ़ीजुल्ला खाँ का 'हज़ारा,' 'नवीन संग्रह' (१८२२), 'षट्ऋतु काव्य-संग्रह' (१८८६), द्विज कवि पन्नालाल का 'पंचाशतक,' 'शृंगार-सुधाकर,' प्रेम तरंग (१८७७), 'शृंगार सरोज' (१८८०), नकछेदी तिवारी का 'अजानकवि' का 'मनोज मंजरी' (१८८६)। इन सभी संग्रह-ग्रंथों में शृंगार के सभी पक्षों पर लिखी जानी वाली कविताओं का संकलन किया गया है।

भारतेन्दु युग के परम्परायुक्त काव्य में कल्पना की उड़ान, अतिवैचित्र्य की भरमार सामन्ती प्रवृत्ति, कवियों की शास्त्रीय दृष्टि, काव्य का सीमित क्षेत्र और परम्परागत दृष्टिकोण का सामूहिक परिचय मिलता है। तत्कालीन नवजागरण को उसने तनिक भी अग्रसर नहीं किया। विचारों के उस संक्रांतिकाल में इस प्रकार के काव्य की कोई उपयोगिता नहीं रह गई थी। अतः यह प्राचीन काव्यधारा क्रमशः क्षीण होती गयी और आगे चलकर खड़ीबोली की काया में समाकर नए रूपों में पुनः आविर्भूति हुई।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यद्यपि देश के विभिन्न भागों में रीतिपरक कवियों की ही बहुलता थी, तथापि इन कवियों की आवाज़ नक्करखाने में तूती की आवाज़ थी; देश और समाज के नव निर्माण में इतना योग नगण्य था। ये अपने कवि कर्म में बड़े संकीर्ण

और रूढ़िवादी थे। वास्तव में ये कवि दिन भर मधु-संचय करने के बाद थकी हुई मक्खियों के जमघट के समान थे।[1]

सारांश यह कि भारतेन्दु युग के रूढ़िग्रस्त कवियों में जीवन और जगत् के विभिन्न गोचर तथा अगोचर अनुभवों का अभाव था, उनकी दृष्टि शृंगार, अलंकार, समस्या-पूर्त्ति तथा नायिका-भेद तक ही सीमित थी, काव्य में कवियों की वैयक्तिकता बिलकुल नहीं थी, छन्दों का वैचित्र्य नहीं था, भाषा ब्रजभाषा थी, जो अव्यवस्थित, अस्थिर और अव्याकरण सम्मत थी, रसों में भी केवल दो रसों—शृंगार और वीर का प्रयोग होता था, इनमें भी शृङ्गार की प्रधानता थी, वह भी अश्लील। सामान्यतः काव्य रीतिबद्ध था।

नवीन काव्यधारा

भारतेन्दु युग में ऐसे कवियों का भी अभाव नहीं था जो युग के अन्धकार को भेद कर नई आशा और उत्साह का आलोक फैलाने में सक्षम हुए थे। भारत पहली बार यूरोपीय साहित्य और संस्कृति के संपर्क में आया जिसके फलस्वरूप हमारे कवियों का ध्यान पश्चिम के नवीन विचारों और भावों की ओर गया। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह पहला अवसर था जबकि हिन्दी कविता अपनी पुरानी सम्पदा छोड़कर नई दिशा की ओर अग्रसर हुई। वस्तुतः हिन्दी कविता में आधुनिकता का सूत्रपात यहीं से हुआ। ये कवि सामान्यतः अंग्रेज़ी शिक्षा पाने वाले, और तत्कालीन नवयुगीन आन्दोलनों में भाग लेने वाले देश और समाज की दुरावस्था पर आठ-आठ आँसू बनाने वाले व्यक्ति थे, जो प्रायः मध्यवर्ग से आए थे, जिनका राज दरबारों से कोइ सम्बन्ध नहीं था। पाश्चात्य प्रभावों से उत्पन्न परिणामों और परिवर्तनों को वे बड़ी सावधानी, सजगता और निकटता से देख रहे थे और यह समझ रहे थे कि यदि भारत में यथासमय नवजागरण हुआ तो सारे देश का राजनैतिक ह्रास तो हो ही जाएगा, उसकी सांस्कृतिक एकता भी छिन्न-भिन्न हो जाएगी। उधर बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और मद्रास इन प्रान्तों में भी नवोत्थान की लहर काफी फैलती जा रही थी। फलतः उन प्रान्तों में भी युगानुरूप नए कवियों का आविर्भाव हुआ। ऐसी स्थिति में हिन्दीभाषी-प्रान्तों के कवि उस राष्ट्रीय नवजागरण से कैसे अछूते रहते। अतः भारतेन्दु युग में, देशी राज्यों से बाहर, देखते-देखते ऐसे कवियों का दल तैयार हो गया जो सर्वत्र छा गया। स्मरण रखने की एक बात यह है कि उस युग के सशक्त नए कवि सिद्धान्ततः किसी-न-किसी हिन्दी पत्रिका के सम्पादक होते थे। उन्होंने इन पत्रों के माध्यम से एक ओर हिन्दी खड़ीबोली गद्य को पुष्ट किया और दूसरी ओर नए काव्य का सृजन कर सामाजिक असंगतियों को दूर करने में सक्रिय योग दिया। ये सभी देशभक्त थे, जो अंग्रेज़ों से राजनैतिक संघर्ष करने के पहले सामाजिक सुधार और चारित्रिक नवनिर्माण कर लेना चाहते थे। वास्तव में, इन्हीं कवियों का नवयुग के निर्माण में प्रत्यक्ष हाथ था और इन्हीं के प्रभाव और प्रयत्न से हिन्दी गद्य का विकास और नए काव्य का आविर्भाव हुआ।

यहाँ यह भी न भूलना चाहिए कि काँग्रेस का जन्म होने और गाँधी जी के आविर्भाव के पहले हिन्दी के इन नए कवियों ने ही राष्ट्रीय संघर्ष और स्वतन्त्रता की उर्वर भूमि तैयार कर

---

१. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १८४

दी थी। खेद है, हमारे इतिहासकारों ने अब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया। उनके मानस पट पर एक स्वतन्त्र, समृद्ध और संस्कृत देश का नक्शा खिंचा था। वे सौ पैसे राष्ट्रीय कवि थे। उन पर हिन्दू नवोत्थान का आरोप लगाना सर्वथा अनुचित है।

सच तो यह है कि, भारतेन्दु युग के नए कवियों की समस्त कृतियाँ अभी प्रकाश में नहीं आई हैं। उस समय की काव्य साधना या तो पुरानी पत्र-पत्रिकाओं में दबी पड़ी है या दीमकों का आहार बनती जा रही है, कुछ नष्ट हो गई हों तो कोई ताज्जुब नहीं है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सभी बड़े कवियों की कविताओं का एक-एक संग्रह प्रकाशित किया जाए। खेद है कि 'भारतेन्दु-ग्रंथावली,' 'राधाकृष्ण ग्रंथावली,' 'प्रेमघन-सर्वस्व' और 'प्रताप-ग्रंथावली' से आगे अभी हम नहीं गए हैं। यदि ऐसा न हुआ तो हमारी बहुतेरी काव्य कृतियाँ काल के गाल में समा जाएँगी। इतना ही नहीं, हमें उन कविताओं को भी प्रकाश में लाना है जिनका विपुल भण्डार उस युग के अनगिनत नाटकों में पाया जाता है। इस ओर भी हमारा ध्यान नहीं गया है। ऐसी स्थिति में भारतेन्दुयुगीन काव्य का अध्ययन वैज्ञानिक नहीं हो सकता। फिर जिन कवियों की कृतियों के आधार पर उस काल के काव्य का अध्ययन और मूल्यांकन किया जाता है उनकी पूरी रचनाएँ भी अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं। स्वयं भारतेन्दु की सभी कृतियों का उद्धार नहीं हुआ है। बाँकीपुर के खड्ग विलास प्रेस में अभी भी उनकी अनेक रचनाएँ अप्रकाशित पड़ी हैं। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी-समिति तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्—जैसी साधन-सम्पन्न संस्थाओं को अवश्य ही इस ओर ध्यान देना चाहिए। भारतेन्दु युग के साहित्य को मरने नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि हम उससे बहुत दूर नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि उस युग के बिना हमारी वर्तमान शताब्दी का साहित्य अधूरा रह जाएगा। आधुनिक साहित्य के सारे बीज पिछली शताब्दी के साहित्य में वर्तमान हैं। अतः उनके उद्धार की सभी संभव चेष्टाएँ करनी चाहिए। इस संक्षिप्त विषयान्तर के लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। बात भारतेन्दुयुगीन काव्य की थी।

यह कहना बिलकुल निराधार है कि भारतेन्दु युग के कवियों का ध्यान यथार्थ जगत् की ओर न होकर भाव जगत् की ओर ही अधिक था। वे परिपाटी-विहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबे हुए थे। कविता के आदर्शों में अभी परिवर्तन नहीं हुआ था।[१]

यह बात भारतेन्दु युग के परम्परावादी कवियों पर अवश्य ही ठीक बैठती है, किन्तु नए कवियों पर इस प्रकार का आरोप सरासर अन्याय है। मैं यह बात जोर देकर कहना चाहता हूँ कि भारतेन्दु के नेतृत्व में जिस नवीन काव्य की योजना बनाई गई थी, उसमें लोकोपयोगी तथा जनोपयोगी काव्य के नूतन निर्माण का प्रथम आह्वान था। सच तो यह है कि जीवन और कविता का प्रत्यक्ष-अटूट सम्बन्ध उसी युग में सर्वप्रथम स्थापित किया गया था। भारतेन्दु की मुकरियों, प्रताप नारायण मिश्र के 'ब्रैडला स्वागत', 'प्रेमघन' के 'जीर्ण जनपद,' श्रीधर पाठक के 'जगत

१. **लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य (प्रथम संस्करण, १९४१), पृष्ठ १३१**

सचाईसार' तथा 'भारत गीत,' बालमुकुन्द गुप्त की 'स्फुट कविता' इत्यादि कृतियों में कवियों के जीवन सम्बन्धी यथार्थ के स्वर बिलकुल बदले हुए हैं। बालमुकुन्द गुप्त की निम्नलिखित ओजस्वी प्रगतिशील पंक्तियाँ उसी युग में लिखी गई थीं—

हे धनियों क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार।
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार॥

—स्फुट कविता, पृष्ठ ५८

सन् १८५७ की क्रान्ति

वार्ष्णेय ने १८५७ की प्रथम भारतीय क्रान्ति को लक्ष्य करते हुए भारतेन्दुयुगीन कवियों पर यह आरोप लगाया है कि 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि प्रायः सभी बड़े-बड़े कवियों ने उसका जिक्र तक नहीं किया और जो कुछ कहा गया है वह अंगरेज़ इतिहासकारों के कथन का समर्थन करता है। उनकी राय में क्रान्ति का होना देश के हित में अच्छी बात नहीं हुई।'[1] इतना ही नहीं कुछ लोगों ने तत्कालीन कवियों द्वारा महारानी विक्टोरिया, प्रिन्स ऑफ वेल्स तथा लार्ड रिपन आदि अंग्रेज़ महाप्रभुओं पर लिखी कविताओं को लक्ष्य कर भावावेश में यह फतवा सुना दिया है कि उस समय के कवि 'राजभक्त' थे। किन्तु बात ऐसी नहीं है। मेरा तो ख्याल है कि सन्' ५७ के विद्रोह का समर्थन न कर हमारे कवियों ने सामयिक सूझ-बूझ से काम लिया था। यह सभी जानते हैं कि वह विद्रोह अंग्रेज़ों द्वारा बुरी तरह कुचल दिया गया था, चारों ओर श्मशान की शान्ति थी। किसी में सिर उठाने का साहस नहीं रह गया था। इतना ही नहीं अंग्रेज़ों की कूटनीति ने देश का साम्प्रदायिक विभाजन भी कर दिया था। विद्रोह में जिन अंग्रेज़ों ने मुसलमानों के विरुद्ध तलवार खींची थी, वे ही विद्रोह के बाद उनकी पीठ पोंछने लगे और हिन्दुओं के घोर शत्रु बन बैठे। समाज बुरी तरह रूढ़िग्रस्त था, जनता भूखी, अशिक्षित और नङ्गी थी। देश की इस विषम स्थिति में सशस्त्र क्रान्ति का राग अलापना था—गत विद्रोह की प्रशंसा में मदमस्त होना विदेशी शोषण की आग को और भी भड़काना। पं० केशव-राम भट्ट के प्रसिद्ध नाटक 'शामशाद-सौसन' में एक पात्र अंग्रेज़ों के विरुद्ध तलवार उठाने का प्रस्ताव करता है। जवाब में शमशाद तुरन्त कहता है—'नहीं, यह समय तलवार उठाने का नहीं।'

भारतेन्दु युग मूलतः समाज-सुधार का युग था। राजनैतिक संघर्ष के लिए वह अभी बिलकुल तैयार न था। इसका यह मतलब नहीं है कि उस समय के कवि कायर और आलसी थे, उनमें साहस और उत्साह की कमी थी। केशवराम भट्ट ने अपने पत्र 'बिहार बंधु' में एक स्थान पर लिखा है कि 'जो हमारे मुल्क का खैर-ख्वाह है, वह हमारा दोस्त है, जो हमारे मुल्क का खैर-ख्वाह नहीं, वह हमारा दुश्मन है। अंग्रेज़ हमारे दोस्त हैं, क्योंकि वे हमारे मुल्क के खैर-ख्वाह हैं। प्रेमचन्द ने भी एक स्थान पर लिखा है कि शेर के मुँह में हाथ डालना दिलेरी नहीं है। ठीक यही बात भारतेन्दु युग के देशानुरागी कवियों और लेखकों के साथ हुई। वे जान-बूझ कर आग से खेलना नहीं चाहते थे। और तो और, महात्मा गाँधी ने भी सहिष्णुता और शांति से काम लिया और अंग्रेज़ों से सीधा लोहा लेने की अपेक्षा अहिंसा

---

१. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १३३

की लड़ाई लड़ने की ठानी, जिसके परिणाम स्वरूप बाद में चलकर देश स्वतंत्र हुआ। हाल-हाल तक हमारे जनप्रिय नेता नेहरू लार्ड मौन्टबैटन तथा अंग्रेज़ों की प्रशंसा करते रहे। 'बृटिश कॉमनवेल्थ' में रहकर भी हम पूरी तरह आज़ाद हैं।

भारतेन्दु युग के कवियों ने गाँधी जी द्वारा छेड़े गए अहिंसात्मक संघर्ष की भूमि तैयार की और उसी अहिंसात्मक क्रांति के वे अग्रणी थे। उनपर राजभक्ति अथवा हिन्दू पुनरुत्थान का आरोप लगाना सर्वथा निराधार है। रामविलास शर्मा के इन विचारों में भी कुछ-कुछ सचाई वर्तमान है—यह याद रखना चाहिये कि गदर के बाद अंग्रेजों के वादों से सच्चे देशभक्त भी उनके चकमों में आ गए थे और समझने लगे थे कि पुराना अहसान खत्म हुआ और अब वे पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से लाभ उठा कर उन्नति कर सकेंगे।[1] निश्चय ही, हमारे कवियों का लक्ष्य अंग्रेज़ों से मिल-जुलकर पश्चिम की अच्छाइयों को ग्रहण कर लाभ उठाना था। इसलिए इसमें चकमें में आने का कोई प्रश्न ही नहीं था। सन् १८५७ के बाद महारानी विक्टोरिया ने भारतीयों के प्रति कुछ प्रतिज्ञाओं की घोषणा भी की थी, जिनका पालन लार्ड लीटन के समय तक नहीं हुआ। फलतः हमारे कवियों की वाणी में थोड़ी उग्रता और उष्णता हो आई। अतएव सन् १८७५ के बाद की हिन्दी कविता में यह उग्रता अधिक तीव्रता के साथ प्रकट हुई। अतः यह आवश्यक है कि भारतेन्दु युग की नवीन कविता का अध्ययन तत्कालीन इतिहास के परिप्रेक्ष्य में किया जाए, तभी वस्तुस्थिति स्पष्ट होगी। सन् १८७७ में भारतेन्दु ने हिन्दी की उन्नति पर व्याख्या लिखकर और बलिया में जनता के सामने पढ़कर युग का चार्टर तैयार किया और खुले शब्दों में कहा—

> परदेसी की बुद्धि अरु वस्तुन की करि आस।
> पर-बस ह्वै कब लौं कहो रहिहौ तुम ह्वै दास॥
>
> × × ×
>
> उठहु उदित पूरब भयो भारत-भानु प्रकास।
> उठहु खिलावहु हिय-कमल करहु तिमर दुख नास।[2]

भारतेन्दुयुगीन नए कवि युग-युग का साहित्य न लिखकर युग-साहित्य लिखने में प्रवृत्त हुए थे। उनकी रुचि जन-साहित्य की रचना में रमी थी क्योंकि उन्होंने देश की वास्तविक दुरावस्था को अपनी आँखों देखा था। रामविलास शर्मा का यह बिलकुल ठीक कहना है कि 'भारतेन्दु युग की सबसे बड़ी खूबी यह है, वह जनता का साहित्य है।'[3]

हिन्दी कविता के इतिहास में यह प्रथम अवसर था जब हिन्दी कवियों ने एक स्वर से जन-जागरण के हित में राजनैतिक सुधार, विदेशी शासन और शोषण से मुक्ति और राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की उत्कट अभिलाषा, काव्य के माध्यम से प्रकट की। उन्हें तत्कालीन जीवन के यथार्थ के कटु अनुभव हो चुके थे। उनकी यह अभिलाषा चार रूपों में कविताओं में व्यक्त हुई।

---

१. भारतेन्दु-युग पृ० १७२

२. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, पृ० ७३८

३. भारतेन्दु-युग, पृष्ठ १६६

'पहला, देशभक्ति और भारत की पराधीन और तत्कालीनता अधोगति पर छोभ। दूसरा, भारत के दुःख, दारिद्रय और अंग्रेज़ों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण पर संताप। तीसरा, राजनीतिक एवं शासन सम्बन्धी सुधारों और जन सत्तात्मक प्रणाली की स्थापना की माँग और चौथा, आपस का मतभेद और भेदभाव भूलकर स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए संगठित होना है।[1]

यह ठीक है कि भारतेन्दुयुगीन कवियों ने राष्ट्रीय नवजागरण में भारत के प्राचीन वीरों के नामों का स्मरण कर गौरव का अनुभव किया। उनके लिए पृथ्वीराज, राणाप्रताप, शिवाजी आदि राष्ट्रीय वीरों और चित्तौड़, हल्दीघाटी और पानीपत की भीषण लड़ाइयों के ज्वलन्त उदाहरण आदर्श स्वरूप थे। भारतेन्दु ने विजयिनी विजय वैजन्ती' (१८८२) में अपने मर्मोच्छ्वास इन पंक्तियों में प्रकट किए हैं—

हाय पंचनद, हा पानीपत।
अजहूँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चित्तौर निलज तू भारी।
अजहुँ खरो भारतहि मँझारी।[2]

हिन्दू वीरों के नामोल्लेख से यह न समझना चाहिए कि उस समय के कवि का भारत में हिन्दू राष्ट्रीयता की स्थापना का मधुर स्वप्न देख रहे थे। यद्यपि उस युग में सर सैयद-अहमद जैसे सम्प्रदायवादी नेता के निरन्तर विष वमन करने के बावजूद हमारे कवियों ने संतुलन बनए रखा और कहीं भी मुसलमानों के लिए देश निकाले की माँग नहीं की और न उनके प्रति रोष ही प्रकट किया और न उनमें दोष ही ढूँढ़े। सामान्यतः सभी छोटे-बड़े कवियों ने देश और उसकी जनता की अशिक्षा और निर्धनता पर कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा। प्रताप-नारायण मिश्र ने देश की गंभीर समस्या की ओर भारतीयों का ध्यान दिलाते हुए लिखा—

सर्वसु लिए जात अँगरेज,
हम केवल लेक्चर के तेज।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतेन्दु युग के कवियों का सीधा संघर्ष मुसल-मानों से नहीं, अँगरेज़ों से था। इसलिए उन्होंने उन पर ही अपने मन का सारा असंतोष-रोष आदि प्रकट किए। उनकी राष्ट्रीयता का आदर्श प्रेमघन जी की निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट रूप से घोषित हुआ है :

'हिन्दू मुसलिम जैन पारसी ईसाई सब जात।
सुखी होंय हिय भरे प्रेमघन सकल भारती भ्रात॥'

वस्तुतः स्वतंत्र राष्ट्र-राष्ट्रीय एवं साम्प्रदायिक एकता के ये कवि ही प्रथम वैतालिक थे। खेद है, न तो हिन्दी के आलोचकों तथा इतिहासकारों ने और न देश के सामान्य इतिहासकारों ने उनका, राष्ट्रीय संग्राम के संदर्भ में, अभी तक वास्तविक मूल्यांकन किया है। अब यह बात

---

१. डॉ०, वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० १३६

२. भारतेन्दु ग्रंथावली, सम्पा० ब्रजरत्नदास, खण्ड २—पृष्ठ ८०४

दिल से निकाल देनी चाहिए कि उस युग के कवि अँगरेज़ी राजनीति से त्रस्त थे और इसी 'राजनीतिक भय'[1] के कारण के अँग्रेज़ों के विरुद्ध कुछ कहने या लिखने में झिझकते रहे। विदेशी शासन के शोषण से ऊब कर निर्भीक कवि प्रताप नारायण मिश्र ने ये पंक्तियाँ लिखीं—

'सब तजि गहौ स्वतंत्रता, नहिं चुप लातै खाव।
राजा करै सो न्याव है, पाँसा परै सो दाँव॥'

उस युग में इस तरह की निर्भीक पंक्तियाँ लिखने के लिए बड़ा साहस चाहिए। उस काल की निकट राजनैतिक परिस्थितियों में इस तरह की कविता का लिखा जाना निश्चय ही आश्चर्य का विषय है। दूसरी ओर, हमारे कवियों के असीम साहस और अदम्य उत्साह की सराहना करनी पड़ती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मुकरियों में तत्काल राजनैतिक जीवन के कारुणिक वैषम्य का बड़ा ही यथार्थ चित्रण हुआ है। अँगरेज़ी सभ्यता की असलियत पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यह मुकरी लिखी—

सब गुरुजन को बुरो बतावै, अपनी खिचड़ी आप पकावै।
भीतर तत्व, न झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन नहीं अँगरेजी।

प्रताप नारायण मिश्र की एक ओजपूर्ण काव्य-कृति 'ब्रैडला-स्वागत' है, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद पिन्काट साहब ने किया था और इंगलैंड के एक पत्र में छपा भी था। इसमें देश की दुर्दशा और निर्धनता का बड़ा ही कारुणिक वर्णन हुआ है आज की प्रगतिवादी कविता को भी मात करते हुए मिश्र जी ने देश की निर्धनता का उल्लेख इन पंक्तियों में किया—

जहाँ कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा माही।
देसिन के हित कथा तत्व कैसेहु नाहीं।

युग-युग से भाग्य और भगवान के निर्धनता का कारण बतलाने वाले भारतीयों ने अब यह अच्छी तरह जान लिया है कि हमारी दरिद्रता का कारण देश की आर्थिक समस्या है। पेट-भर खाना न मिलने पर ही हम तरह-तरह के कुकर्मों के शिकार होते हैं। इस सामाजिक और प्रगतिशील विचार का उल्लेख प्रतापनारायण मिश्र की निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है—

'पेट अधम अनिगिनतिन अकरम करम करावत।
दरिद दुरगुन पुंज अमित दुख हिय उपजावत।'

इतना ही नहीं, तत्कालीन अँग्रेज़ शासकों ने ज़बान पर भी ताला लगा रखा था। देश के लोग अपना दुःख-दर्द भी किसी से कह नहीं सकते थे। उस समय की भारतीय जनता की यह विषम मनोदशा प्रतापनारायण मिश्र के इन शब्दों में व्यक्त हुई है—

'यह जिय धरकत यह न होइ, कहूँ कोउ सुनि लेई।
कछु दोष दै मारहि अरु रोवन नहिं देई।'

जिस राज्य में रोने की भी मनाही हो उस राज्य के शासन का क्या कहना ?

तैंतीस करोड़ देवताओं की अर्चना करने वाले भारत के पास अब नाग देवता को दूध पिलाने का साधन नहीं रहा, क्योंकि टैक्स और महँगी के मारे वह बेदम है। प्रताप-

---

१. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १३४

नारायण मिश्र ने देश की इस विषम अर्थ व्यवस्था के दुष्परिणामों का विवरण इस प्रकार दिया है—

मँहगी और टिकस के मारे हमहिं छुधा पीड़ित तन छाम।
साग पात लौं मिलैं न जिय भरि लेबों वृथा दूध को नाम।।
तुम्हीं कहा प्यावै जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमुखि-अलक उपमा लहिं नाग देवता तृप्यन्ताम।।

'प्रेमघन' की सुप्रसिद्ध काव्य-कृति 'जीर्ण पद' का हिन्दी में वही स्थान है जो अंग्रेज़ी में गोल्डस्मिथ के 'डेज़र्टेड विलेज़' का है। इसमें दत्तापुर नामक गाँव को केन्द्र में रख कर भारत के समस्त गाँवों की दुर्दशा का नग्न चित्रण किया गया है। महारानी विक्टोरिया के शासन काल में देश की जनता का क्या हाल था, उसका हवाला 'प्रेमघन' ने इस प्रकार दिया है,

सूखे वे मुख कमल, केश रूखे जिन केरे।
वेश मलीन, छीन, तन, छवि-इत-जात न हेरे।
दुर्बल रोगी, नंग धड़ंगे जिनके शिशुगन।
दीन दृश्य दिखराय हृदय पिघलावत पाहन।

पत्थर दिल को भी पिघलाने वाले मार्मिक दृश्यों में एक दृश्य तत्कालीन पढ़े-लिखे लोगों की दुर्दशा का भी है, जो इस प्रकार है,

ढूँढत फिरत नौकरी जो नहिं कोउ विधि पावत।
खेती हू करि सकत न दुख सों जनम बितावत।।

इन सब का कारण अंग्रेज़ों द्वारा देश का आर्थिक शोषण था। भारत के धन पर विलायत खुशहाल था, मज़े उड़ा रहा था। प्रेमघन जी लिखते हैं,

रहै विलायत जो हरखाय, भारत सों धन रोज कमाय।
चैन करै जो मजे उड़ाय, तिस का टिक्कस भी छुट जात।
यह अचरज देखो तो आय, सोचत बुद्धि विकल हो जाय।

भारतेन्दु युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज की बड़ी धूम थी। उनके द्वारा छेड़े गए सामाजिक सुधार के आन्दोलनों ने हिन्दी के तत्कालीन लेखकों और कवियों को बड़ा प्रभावित किया था। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की धारणा है कि हिन्दी साहित्य में नवीन सुधारवादी आंदोलन आर्य समाज की स्थापना से पहले ही पाया जाता है। भारतेन्दु के पिता और गोपालचन्द्र और महाराज रघुराज सिंह हिन्दू समाज में धार्मिक और सामाजिक सुधार के पक्षपाती थे। आर्य समाज की स्थापना भारतेन्दु के जीवन-काल में हुई किन्तु वे उससे पूरी तरह सहमत नहीं थे। फिर भी बुनियादी बातों में दोनों में कोई विशेष मतभेद नहीं था। भारतेन्दु युग के लगभग सभी नए कवि अशिक्षा, नशेबाजी, जुआ, वर्ण-भेद, स्त्रियों की अशिक्षा, वैवाहिक अपव्यय, बहु विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, बाल-विवाह, बाल-हत्या इत्यादि बुराइयों को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहते थे। इस दिशा में भी हमारे कवियों ने बड़ी ही ओजपूर्ण कविताएँ लिखीं। इनके अतिरिक समाज सुधार से संबंधित अनेकानेक कविताएँ उस काल के नाटकों में भरी-पड़ी हैं।

भारतेन्दु युग का भारतीय समाज जड़ हो चुका था। भारतेन्दु की प्रसिद्ध कविता 'देखी तुमरी कासी' और प्रतापनारायण मिश्र के 'कानपुर-वर्णन' में तत्कालीन समाज की वस्तु-स्थिति के बड़े ही यथार्थ चित्र खींचे गए हैं। स्थानाभाव के कारण ऐसी कविताओं को मैं यहाँ उद्धृत नहीं कर रहा हूँ। मेरे कहने का मूल आशय इतना ही है कि जन-साहित्य और युग-साहित्य के निर्माण में भारतेन्दु युग के नवीन कवियों ने जितनी सक्रियता और निर्भीकता का परिचय दिया परवर्ती कवियों के लिए एक शानदार सन्देश और परम्परा बन गई है। आधुनिक हिन्दी कविता उन्हीं की पथ-परम्परा पर अग्रसर होती जा रही है।

प्रकृति चित्रण

भारतेन्दु युग के काव्य में एक और नई घटना घटी, वह यह कि इस युग के कुछ नवोत्साही कवियों ने प्रकृति के प्रति परम्परागत दृष्टिकोण बदल दिया। पहले जहाँ उद्दीपन की दृष्टि से प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का उल्लेख मात्र होता था, अब उनका वर्णन होने लगा। जहाँ पहले कवियों की दृष्टि केवल राजमहलों, उपवनों, केलि-कुंजों तथा उद्यानों तक ही जा पाती थी अब उसमें आशातीत व्यापकता आई। अब प्रकृति के प्रति कवि के निजी भावों और उसके स्पष्ट चित्र सामने प्रकट होने लगे। इस नवीन परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण कवियों में प्रवृत्ति के प्रति आत्मीयता जगी। प्रकृति-वर्णन पहले से कहीं अधिक स्वाभाविक और उसका सूक्ष्म निरीक्षण होने लगा। इस दिशा में सबसे अधिक युगान्तरकारी कार्य सर्वप्रथम ठाकुर जगमोहन सिंह और फिर श्रीधर पाठक ने किया। बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र ने भी इस कार्य में थोड़ा-बहुत हाथ बँटाया। भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के अधिकांश कवि अधिकतर नर-प्रकृति के कवि थे। अतः वे प्रकृति-काव्य के सृजन में नवोन्मेष और नई दिशा का परिचय नहीं दे सके। इसका कारण यह है कि वह युग राजनैतिक तथा सामाजिक संघर्ष का युग था। युग-निर्माता कवियों के सामने देश के स्वातन्त्र्य और समाज-सुधार के बड़े विकट प्रश्न उपस्थित थे। फलतः प्रकृति के उन्मुक्त रूपों की ओर उनका ध्यान नहीं गया।

भारतेन्दु युग में प्रकृति के सम्बन्ध में नए दृष्टिकोण के विधायक ठाकुर जगमोहन सिंह थे। इस क्षेत्र में उन्होंने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से काम लिया। अपनी 'ओंकार चन्द्रिका' में उन्होंने नगर और शिव-मन्दिर का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। 'विजय राघव पचीसी' में विजय राघवगढ़ का बड़ा ही सरस वर्णन हुआ है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

> घन घोर मढ़्यौ व्योम मण्डल में बिज्जी की छटा छहरावदा है।
> नचैं मोर अटन्न में माते चढ़े स्वर सारंग की चारु भावदा है॥
> कर कंजन सों मंजु वीना लिये रामनिधि का चित्त चुरावदा है।
> विजय राघव महल्ल के मध्य बैठा तान राग मल्लार की गावदा है।
> जहँ सावन कुंज सुहावत है घन घोर घमंड के घूमता था।
> मृदु फूलन के स्वच्छ मुच्छन्न में मकरन्द मलिंद में झूमता था॥

इस उदाहरण में मानवेतर प्रकृति और मानव-प्रकृति का स्वाभाविक और आकर्षक वर्णन हुआ है। 'उन्होंने संस्कृत कवियों की प्रकृति-क्षेत्र से बिम्ब-ग्रहण की परिपाटी को अपना कर हिन्दी

में सर्वप्रथम प्रकृति को श्रृङ्गार के उद्दीपन-विभाव से मुक्त किया था। यही उनकी हिन्दी को स्वच्छन्दवादी मौलिक देन है।'[1]

प्रकृति वर्णन की दिशा में ठाकुर साहब के बाद श्रीधर पाठक ने हिन्दी काव्य की इस स्वच्छन्दतावादी प्रकृति को विकसित किया। प्रकृति के विभिन्न रूपों पर उनकी अनेक कविताएँ लिखी मिलती हैं। प्रकृति-प्रेमी पाठक जी ने प्रकृति की व्यापकता का गुणानुवाद करते हुए ये पंक्तियाँ लिखी हैं—

> प्रकृति-परम-चातुर्य अनुपम अचरज-आलय,
> श्रीधर-दृग छकि रहत 'अटल छवि निरखि हिमालय।'[2]

पाठक जी की 'काश्मीर-सुषमा' प्रकृति चित्रण की दिशा में वह मील स्तम्भ है जहाँ से हिन्दी में प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण की नई परम्परा का श्रीगणेश हुआ है। प्रकृति के सूक्ष्म, स्वतंत्र और समृद्ध रूपों के चित्रण में उन्होंने कमाल किया है। ऐसा प्रकृति-चित्रण विगत युगों की काव्य परम्परा में कभी नहीं हुआ था। इस दृष्टि से काश्मीर-सुषमा पाठक जी की एक अमर कृति है।

प्रकृति को पाठक जी ने सप्राण माना है। काश्मीर की प्राकृतिक सुषमा एक मनमोहक नायिका के रूप में वर्णित हुई है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

> 'प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति
> पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन-छिन धारति
> विमल-अंबु-सर-मुकुटन महँ मुख बिम्ब निहारति
> अपनी छवि पै मोहि आप ही तन-मन-वारति।'

स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग के हिन्दी काव्य में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ पनपने लगी थीं। कवियों की दृष्टि परम्परा से विमुख होने लगी थी।

पाश्चात्य प्रभाव

हम कह चुके हैं कि भारतेन्दु युग में अंग्रेज़ों के माध्यम से देश के विभिन्न भागों में अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन-अध्यापन होने लगा था। १८५७ के विद्रोह के बाद हिन्दी-प्रदेश की मनोदशा में काफी परिवर्तन हो गए थे। हिन्दी भाषियों का संपर्क अंग्रेज़ी कविता से बढ़ता जा रहा था। उन दिनों कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में स्थापित विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रमों के रूप में इन अंग्रेज़ी कवियों की कृतियाँ निर्धारित थीं—मिल्टन का 'पैराडाइज़ लॉस्ट,' पोप का 'दि टेम्पेल ऑफ़ फेम' जॉनसन का 'दि बैनिटी ऑफ़ ह्यूमन विशेज़ एण्ड लण्डन,' गोल्डस्मिथ का 'दि हरमिट,' दि डिज़रटेड विलेज़,' 'दि ट्रैवेलर,' टॉमसन का 'दि सीज़न,' ग्रे की 'एलेज़ी,' काउपर का 'दि टास्क' वर्ड्सवर्थ की कविताएँ—'एक्स कर्ज़न,' 'टु हाई लैण्ड गर्ल,' 'दि रीपर', 'दि कक्कू,' स्कॉट का 'दि ले ऑफ दि लास्ट मिन्स्ट्रेल,' शेली की कविता 'दि स्काइ लार्क,' कीट्स

---

१. रामचन्द्र मिश्र: श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य, पृ० १३८

२. श्रीधर पाठक, मनोविनोद, पृ० ५—५३

का एनडिमियन, टेनिसन का 'दि प्रिन्सेज़' और मैकाले की रचनाएँ सम्मिलित थीं। दो अमेरिकन कवि लॉंग्फ़ेलो और सिटमैन की कविताएँ भी पढ़ाई जाती थीं।'[१] हमारे हिन्दी-शोधकों का निष्कर्ष है कि हिन्दी प्रदेश में अंग्रेज़ी के उक्त कवियों के अध्ययन के बावजूद हिन्दी कवियों ने अभी उनकी पद्धतियों और प्रभावों को ग्रहण नहीं किया, क्योंकि अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण धर्म निरपेक्ष भावना का उनके लिए कोई महत्त्व ही नहीं था और इसीलिए उन्होंने इस प्रकार की भावनाओं को अपनी रचनाओं में अभियान नहीं किया। 'परम्परा के भार से वे इतने बोझिल हो गए थे कि नए प्रयोगों की ओर उनकी कोई रुचि नहीं रही थी। संभवतः इसी कारण अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवादित रचनाओं की संख्या थोड़ी ही है।'[२]

यहाँ हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि भारतेन्दु युग के हिन्दी कवियों का दृष्टिकोण मूलतः 'आध्यात्मिक' नहीं था, वे 'परम्परा के बोझ' से दबे भी नहीं थे। फिर अंग्रेज़ी कविता के नए प्रयोगों को ग्रहण करने की आवश्यकता भी नहीं थी। उनका लक्ष्य जीवन और युग के अनुकूल मानवीय अनुभूतियों को साहित्य में व्यक्त करना था ताकि देश का स्वातंत्र्य और समाज सुधार के मार्ग प्रशस्त होते रहें। उनकी दृष्टि युग की गिरती हुई अवस्थाओं पर जमी थी। उस समय के अधिकांश नए कवि अंग्रेज़ी शिक्षा और साहित्य से बहुत-कुछ परिचित थे। किन्तु उनका अनुकरण करना उनका उद्देश्य नहीं था। उन्होंने देश के युग धर्म के अनुकूल साहित्य अथवा काव्य का निर्माण किया। हाँ, अंग्रेज़ी काव्य के अध्ययन से एक लाभ यह हुआ कि हमारे कवियों ने जीवन और काव्य में गहरा सम्बन्ध स्थापित किया, अनियंत्रित भावना और कल्पना से उनका पीछा छूटा और जीवन और युग के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण अपनाया। दूसरी उपलब्धि यह हुई कि प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति उनका सहज अनुराग समृद्ध और संयुक्त हुआ। वर्णनात्मक काव्य (Narative Poem) लिखने की प्रेरणा भी सम्भवतः उन्हें वहीं से मिली हो। एक आलोचक (विश्वनाथ मिश्र) का कथन है कि हिन्दी कविता में वर्णनात्मकता और प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अनुराग—इन दोनों नवीन तत्त्वों के विकास में अंग्रेज़ी के दो प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ और टॉमसन का विशेष योग रहा है।[३] ये दोनों कवि हिन्दी कविता पर परोक्ष प्रभाव छोड़ गए हैं। 'प्रेमघन' जी के 'जीर्ण जनपद' की। रचना में गोल्डस्मिथ के 'डेज़रटेड विलेज' की प्रेरणा थी, ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार टॉमसन की प्रसिद्ध कृति 'सीजन्स' (Seasons) का प्रभाव पं० श्रीधर पाठक की प्रकृतिपरक कविताओं पर पड़ा था।

जहाँ तक अंग्रेज़ी काव्य-कृतियों के हिन्दी में अनुवाद का प्रश्न है, यह ठीक है कि अनुवाद कार्य बहुत थोड़ा हुआ। इस युग में श्रीधर पाठक द्वारा किए गए अंग्रेज़ी की दो कृतियाँ—'डेज़रटेड विलेज़' और 'हरमिट' के अनुवाद की बड़ी चर्चा हुई। पाठक जी के भी पहले बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का अनुवाद खड़ीबोली में सन् १८७६ में किया था।

---

१. **विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी भाषा और साहित्य पर अंग्रेज़ी प्रभाव, पृष्ठ २०५.०६**

२. **विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी भाषा और साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव, पृष्ठ २१०**

३. **वही, पृष्ठ ११५**

सन् १८९७ में 'विद्यारसिक' ने ग्रे की 'एलेज़ी' का अनुवाद किया। रत्नाकर जी ने पोप की रचना का 'समालोचनादर्श' के नाम से अनुवाद सन् १८९७ में किया। बाद में भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिका प्रसाद व्यास की मृत्यु पर ग्रे की एलेज़ी शैली में शोकपूर्ण कविताएँ लिखी गईं।

भारतेन्दु युग के नवजागरणवादी कवियों ने अंग्रेज़ी की उन्हीं कृतियों अथवा कविताओं को प्रश्रय दिया जिनके साथ तत्कालीन देश और समाज की परिस्थितियों तथा अवस्थाओं का मेल बैठता था। उन्होंने अन्धानुकरण कभी नहीं किया। अतएव उस युग के हिन्दी कवियों की रचनाओं पर पाश्चात्य प्रभाव अत्मयन्त सीमित दायरे में रहा। हाँ, हिन्दी गद्य और उसकी भाषा पर अंग्रेज़ी निबन्धों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

संस्कृत का प्रभाव

संक्रान्ति काल नवजागरण एवं नवोत्थान का सन्देशवाहक होता है। इस काल में नवचेतना की मूल प्रेरणा देश की पुरातन समृद्ध संस्कृति एवं सभ्यता से प्राप्त होती है। भारतेन्दु युग के कवियों, समाज-सुधारकों, राजनैतिक नेताओं को अपने देश की उस सशक्त पुरातन सभ्यता और संस्कृति से प्रेरणाएँ प्राप्त हुईं जो कभी स्वर्ण युग की सम्पन्न अवस्थाओं से गुजरी थीं। जिस प्रकार यूरोप के नवोत्थान काल में प्राचीन ग्रीस और रोम से प्रेरणाएँ मिली थीं—उसी प्रकार हमारे कवियों को अपने देश की पुरानी संस्कृति और साहित्य से प्रभावित होना पड़ा था। भारतेंन्दु युग के अनेक कवियों पर संस्कृत के दो स्पष्ट प्रभाव थे। प्रथम यह कि हमारे कवियों ने इतिवृत्तात्मक काव्य की रचना के अनुकूल संस्कृत के वर्ण वृत्तों अथवा वर्णिक छन्दों का उपयोग किया। इन छन्दों ने हिन्दी के कथनात्मक तथा वर्णनात्मक काव्य को नई दिशा की ओर मोड़ा। कालिदास की कृतियों के अध्ययन से कवियों में प्रकृति के प्रति स्वाभाविक अनुराग जाग्रत हुआ, वर्णनात्मक शैली में इतिवृत्तात्मक काव्य लिखा जाने लगा।

काव्यशैली

काव्य शैली की दृष्टि से भारतेन्दु युग में प्रबन्ध अथवा खण्ड काव्यों की रचना नहीं हुई। कवियों की रुचि मूलतः पुस्तकों की रचना में अपेक्षाकृत अधिक रमी थी। काव्य की यह शैली उन्हें रीतिकालीन कवियों से विरासत में प्राप्त हुई थी। पदों की भक्तिकालीन पद-परम्परा को भी इस युग के कवियों ने विकसित किया। देश की ग़रीबी का चित्रण करने के लिए उन्होंने वर्णनात्मक शैली को अपनाया। इस युग में सम्बोधन-गीत (ode) लिखने की भी नई परम्परा शुरू हुई। इतना ही नहीं, लोकगीतों के प्रति भी तत्कालीन कवियों का रुझान था, क्योंकि उन्हें अपनी कविता के माध्यम से देश की जनता को जगाना था। इन गीतों में संगीत का वह पुट भी था। भारतेन्दु युग में लोकगीतों की रचना में भारतेन्दु और प्रेमघन—इन दो समर्थ कवियों ने विशेष कार्य किया। लावनी और कजरी में लिखी कविताएँ लोकगीतों की ही कोटि में आती हैं। उस समय के काव्य की अभिव्यंजना में भावों की दुरूहता कहीं नहीं मिलती। जो कुछ है, साफ़, दो टूक और सरल। भावों अथवा विचारों की अभिव्यक्ति में उस समय के कवि बड़े ज़िंदादिल

और ईमानदार थे। स्थान-स्थान पर हास्य और व्यंग की फुलझड़ी छूटी है। हँसा-खेला कर शरीर में काँटा चुभाना वे खूब जानते थे।

जन शैली

हिन्दी कविता में जन शैली का प्रादुर्भाव इसी भारतेन्दु युग में हुआ था। इसके लिए उस समय के कवियों और लेखकों को एक ओर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को अपने साथ लेना पड़ा और दूसरी ओर अशिक्षित जनता में प्रचलित भाषा को समेटना पड़ा। भाषा के प्रयोग में उन्होंने बड़ी उदारता और सहिष्णुता से काम लिया। उन्हें अंग्रेज़ी शब्दों से कोई परहेज़ नहीं था, चलते-फिरते आरबी-फ़ारसी के शब्दों को भी उन्होंने स्वीकार किया। और फिर सामान्य जनता में फैले शब्द-समूह को भी ग्रहण किया। इस उदार भाषा-नीति के कारण भारतेन्दु युग के कवियों की क्या गद्य, क्या पद्य—दोनों की भाषा में अपूर्व सजीवता और ज़िन्दादिली पाई जाती है।

भाषाई संघर्ष

लेकिन भारतेन्दु युग की काव्यगत को स्थिर और पुष्ट होने का अनुकूल अवसर नहीं मिला, क्योंकि एक ओर हिन्दी को उर्दू निगलने के लिए मुँह खोले ताक में बैठी थी और उधर अंग्रेज़ी उसके रहे-सहे अस्तित्व पर राजनैतिक छल-छंद का जाल बिछा कर उसे सदा के लिए समाप्त कर देना चाहती थी। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि अदालतों और स्कूलों में उर्दू को स्थान दिया गया, और हिन्दी उपेक्षित रही। लेकिन देश भक्त हिन्दी कवियों और लेखकों ने विकट परिस्थितियों का डट कर मुकाबला किया। इस भाषागत संवर्ष में एक ओर ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली और दूसरी ओर उर्दू-हिन्दी के झगड़े उठ खड़े हुए। दूसरा झगड़ा तो अपनी जगह पर १९४७ तक किसी-न-किसी रूप में बना रहा लेकिन पहले झगड़े का निपटारा उसी युग में कर लिया गया। वह झगड़ा नहीं, एक विवाद था। जिसे बड़ी समझदारी के साथ जल्दी ही मिटा दिया गया।

हिन्दी कविता में १९वीं शताब्दी के आठवें दशक तक ब्रजभाषा का एक मात्र प्रभुत्व बना रहा। सब ने उसे गले लगाया और समृद्ध किया। भारतेन्दु और उनके मण्डल के सभी समर्थ कवियों ने उसे स्वीकार किया और कविता को भाषा के रूप में बनाए रखा। किन्तु भारतेन्दु की मृत्यु के बाद यह प्रश्न बड़े ज़ोर-शोर से उठा कि कविता की भाषा क्या हो—ब्रजभाषा या खड़ी-बोली? यह प्रश्न इसलिए उठा कि उस समय तक सभी भाषा भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं में गद्य और पद्य की भाषा में एक रूपता आ चुकी थी। इस दिशा में उर्दू तो बहुत पहले ही खड़ीबोली को अपना चुकी थी। अतएव भाषा के प्रश्न को लेकर दो दल बन गए। सन् १८८७ और १८८८ में कालाकाँकर के 'हिन्दोस्तान' में इस विषय पर काफी वाद-विवाद हुए। एक ओर पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा राधाचरण गोस्वामी थे, जो कविता में ब्रजभाषा के समर्थक थे और दूसरी ओर पं० श्रीधर पाठक तथा बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री थे जो खड़ीबोली का पक्ष लेते थे। 'हिन्दोस्तान' के सम्पादक ने फैसला खड़ीबोली के समर्थकों के पक्ष में इन शब्दों में दिया—'गद्य और पद्य की भिन्न-भिन्न भाषा होना हमारे लिए उतना अहंकार का विषय नहीं,

जितना लज्जा और उपहास का।' ब्रजभाषा के प्रशंसकों के पास इस तर्क का कोई उत्तर नहीं था।

यहाँ यह बात जान लेनी चाहिए कि ब्रजभाषा के पोषक कवि खड़ीबोली के विरोधी नहीं थे, गद्य की भाषा में वे उसे पहले ही स्वीकार कर चुके थे, पर पद्य की ओर पर उसे आने देना नहीं चाहते थे। बात यह है कि पिछले चार-पाँच सौ वर्षों से चली आती हुई ब्रजभाषा काव्य की समृद्ध परम्परा को एक झटके में तोड़ कर देने में उन्हें अजीब असमंजस का अनुभव हुआ। लेकिन युग की माँग के सामने उन्हें झुकना पड़ा।

ऐसी बात नहीं है कि भारतेन्दु के पूर्व और उनके जीवन काल में खड़ीबोली का व्यवहार कविता में नहीं होता था। लेकिन उसमें खड़ीबोली और ब्रजभाषा का मिश्रित रूप मिलता है। जनवरी १८७५ की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित उस मिश्रित भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है—

> हौं द्विज विलासी वासी अमृत सरोवर को,
> कासी के निकट तट गङ्गा जन्म पाया है।
> शास्त्र ही पठाया कर प्रीति पिता पंडित ने,
> पाया कवि पन्थ राम कीनो बड़ी दाया है।
>
> —सन्तोष सिंह (अमृतसर)

स्वयं भारतेन्दु ने सन् १८८१ में खड़ीबोली में लिखी अपनी कुछ कविताएँ 'भारत मित्र' के सम्पादक के पास प्रकाशनार्थ भेजी थी और पत्र में लिखा था—'प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इसमें काव्य-सौन्दर्य बन सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जायगा।' स्पष्ट है कि भारतेन्दु खड़ीबोली के विरोधी नहीं थे, 'सर्वसाधारण की सम्मति' के वे क़ायल थे। मेरा अनुमान है कि वे यदि १८८४ के बाद जीवित होते तो उनकी अधिकांश कविताएँ खड़ीबोली में ही लिखी गई होतीं। दुर्भाग्य ने उन्हें ऐसा करने का अवसर नहीं दिया। वे हिन्दी कविता में खड़ीबोली का प्रयोग ही करके रह गए। उसका अटल निश्चय और विकास तो उनके बाद के कवियों ने किया। धीरे-धीरे खड़ीबोली का विरोध शान्त पड़ गया और सभी उसके साज-शृङ्गार में जी-जान से लग गए। पं० श्रीधर पाठक तक आते-आते यह विवाद लगभग समाप्त हो गया। कुछ परम्परावादी ब्रजभाषा से अवश्य चिपके रहे, लेकिन उससे क्या होता है। इस प्रकार भारतेन्दु युग में ही गद्य-पद्य के प्रयोग की असंगति दूर की गई और दोनों के बीच बढ़ती हुई विवाद की खाई सदा के लिए पाट दी गई। इस भाषागत एकता के लिए भारतेन्दु युग के दूरदर्शी कवि, सम्पादक और लेखक सदा याद किये जाएँगे। श्रीधर पाठक तक खड़ी बोली हिन्दी काव्य ने जो रूप ग्रहण किया उसका एक उदाहरण पाठक जी की कविता से इस प्रकार उद्धृत है—

> प्राण पियारे की गुण गाथा, साधु कहाँ तक मैं गाऊँ।
> गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ।

विश्व निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर।
बलिहारौं त्रिभुवन धन उस पर वारौं काम करोर।

उक्त रेखांकित शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग के लगभग सभी कवि ब्रजभाषा के प्रभाव और मोह से सर्वथा मुक्त नहीं थे। उस समय सामान्यतः खड़ीबोली कविता का यही रूप प्रचलित था। उसका वास्तविक परिष्कार आगे चलकर द्विवेदी युग के कवियों ने किया। इतना होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग के हिन्दी काव्य पर ब्रज-भाषा का बोझ अभी भी अधिक था। जिस खुले दिल से गद्य में खड़ीबोली को स्थान दिया गया वैसा काव्य में नहीं हुआ। किन्तु संक्रान्ति कालीन साहित्य में ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं। यह युग भाषा के सँवारने का नहीं नवीन भावों के उद्बोधन का था। पुरानी बोतल में नई शराब ढाली गई थी।

भारतेन्दुयुगीन ब्रजभाषा काव्य परम्परानुमोदित न होकर नए विषयों, नई दिशाओं और नई दृष्टियों का वाहक बनकर अवतरित हुआ था उसमें अपूर्व आत्मीयता, सजीवता और स्वाभा-विकता वर्तमान है। यह निःसन्देह भक्ति काल और रीति काल के ब्रजभाषा काव्य से बहुत कुछ भिन्न है, क्योंकि यह लक्षण ग्रंथों के आधार पर नहीं रचा गया था; उसमें आत्माभिव्यंजन की अद्भुत क्षमता सन्निहित है।

छन्द

भारतेन्दु युग ने आधुनिक हिन्दी कविता को नई दिशाओं की ओर मोड़ा। उसका विषय बदला और युगनुरूप काव्य की नई भाषा का निर्माण हुआ। ऐसी अवस्था में छन्दों के क्षेत्र में भी परिवर्तन और विस्तार का होना स्वाभाविक था। उस युग के कवियों को भक्तिकाल और रीति-काल के काव्य में प्रयुक्त अनेक छन्द विरासत में मिले थे। उनके सामने कवित्त, सवैया, दोहा, पद, चौपाई, सोरठा, चौपाई, मालिनी, द्रुतविलम्बित इत्यादि छन्दों की लम्बी काव्यगत पराम्परा उपलब्ध थी, जो रीति युग में कवित्त और सवैया तक सीमित हो गई थी। बिहारी के दोहे इसके अपवाद थे। भारतेन्दु युग के कवियों ने पहले से चले आते सभी छन्दों का उपयोग अपनी कविताओं में किया। रीति कवियों की तरह वे कवित्त और सवैया तक ही सीमित न रहे। उक्त छन्दों के अतिरिक्त उन्होंने कविता में नवीन विषयों का प्रवर्त्तन करने के लिए रोला तथा छप्पय छन्दों को विशेष रूप से स्थान दिया। समस्या पूर्त्तियों के लिए घनाक्षरी और सवैया छन्द अधिक उपयुक्त समझे गए। स्पष्ट है कि भारतेन्दु काल के कवियों ने विविध छन्दों का उपयोग किया और इस दिशा में उन्होंने उदारता बरती। भाव तथा विषय के अनुसार ही उन्होंने अपनी कविता को छन्दों में ढाला उनका हिन्दी छन्दों का विशद् ज्ञान था।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का यह निष्कर्ष तर्क संगत नहीं है कि 'इस काल में नये-नये छन्दों की उद्भावना न हो सकी।'[१] हम कह चुके हैं कि उस समय के कवियों के दृष्टिकोण में अप्रत्याशित परिवर्तन हो चुके थे। उनका लक्ष्य युग साहित्य और जन साहित्य लिखने का था। इसके लिए उनका काम पुराने छन्दों से नहीं चल सकता था। उनमें समय की बड़ी ही

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १६०

अच्छी परख थी। उन्होंने उर्दू खड़ीबोली तथा लोकगीतों में प्रचलित अनेक छन्दों का प्रयोग हिन्दी कविता में किया। यह उनका एक बड़ा मौलिक कार्य था। लावनी, बिरहा, ग़ज़ल, मलार और रेख़ता, इन नए छन्दों का प्रयोग कर उन्होंने हिन्दी काव्य को नई दिशा की ओर मोड़ा।

उन दिनों उर्दू में ग़ज़ल और लोकगीतों में लावनी और कजली बड़े लोकप्रिय छन्द थे। भारतेन्दु, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, प्रेमघन आदि ने बड़ी अच्छी लावनियाँ लिखीं। आचार्य शुक्ल का मत है कि मिर्जापुर के संत तुकनगिरि गोसाईं ने सधुक्कड़ी भाषा में ज्ञानोपदेश देने के लिए 'लावनी' का श्रीगणेश किया था। फिर धीरे-धीरे हिन्दी काव्य में उसका व्यवहार होने लगा। इस छन्द में अधिकतर खड़ीबोली का ही प्रयोग होता है। जहाँ-तहाँ उर्दू का तर्ज़ भी रहता है। यह छन्द इतना प्रचलित हुआ कि श्रीधर पाठक ने सन् १८८६ में गोल्डस्मिथ के 'दि हरमिट' का अनुवाद इसी लावनी में 'एकान्तवासी योगी' नाम से कर डाला। लावनी अपनी लय के लिए काफी लोकप्रिय हुई।

'प्रेमघन' जी के प्रयत्न से 'कजली' नामक छन्द भारतेन्दुयुगीन हिन्दी काव्य में प्रचलित हुआ। इसके अन्तर्गत अधिकतर प्रेम और राष्ट्रीयता के गीत लिखे गए हैं।

भारतेन्दु युग के कवि रस के समझदार भौंरे थे। काव्य के उपवन में जिस डाली पर फूल देखा और रस पाया वहाँ बैठ जाना और उसका भरपूर पान करने में उन्हें तनिक भी झिझक नहीं होती थी। वे उर्दू के झूमते बागों में सैर को गए थे। वहाँ देखी ग़ज़लों की कतार और बहार। फिर क्या था, हिन्दी काव्य के उपवन की क्यारियों में लगा दीं, जहाँ-तहाँ ग़ज़ल की कलमें और सजा लाए ग़ज़लों के गुलदस्ते। दिल झूम उठा और हिन्दी के प्याले में ढाल दिया उसका खूबसूरत पहलू। भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र आदि कवि सभी ग़ज़ल की महफिल के दीवाने थे। वाह-वाही लूटने वाले आज के हिन्दी ग़ज़ल नवीस इस तथ्य को न भूलें कि हिन्दी में ग़ज़लों की डाली सजाने वाले और उनके प्रयोग का श्रीगणेश करने वाले भारतेन्दुयुगीन कवि ही थे।

उपसंहार

भारतेन्दुयुगीन हिन्दी काव्य के सामूहिक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतेन्दु युग की कविता भाव, भाषा, विषय और छन्दों की दृष्टि से, क्रान्तिकारी परिवर्तन के अनेक नए फार्मूले लेकर अवतरित हुई। ऐसा अभूतपूर्व परिवर्तन हिन्दी कविता के पिछले एक हजार वर्ष के इतिहास में कभी नहीं हुआ था। उसने २०वीं शताब्दी के हिन्दी काव्य की सुदृढ़ नींव डाली। आधुनिक हिन्दी कविता की मूल भावनाओं के सारे बीज उस युग की कविता में उपलब्ध हैं। उसकी मूल चेतना पर विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि भारतेन्दु युग में ही आगे चलकर होने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तन की उर्वर भूमि तैयार हुई थी। आधुनिक नवजीवन, नवजागरण और नवयुग का मंगलमय सुप्रभात उसी युग में हुआ था। प्राचीन छन्दों के साथ नए छन्दों का प्रयोग कर हिन्दी कविता को परम्परा के अन्धे अनुकरण से उसी युग के कवियों ने बचाया था। रीतिकालीन रुढ़िगत संकीर्ण प्रेम को युग के अनुरूप स्वस्थ और उन्मुक्त

वातावरण में प्रतिष्ठित करने की सफल चेष्टा उन्होंने ही की थी। सबसे बड़ा युगान्तरकारी दिशा परिवर्तन यह हुआ कि हमारे उन्हीं कवियों ने अंग्रेज़ी शासन, प्रभुता और शक्ति की परवाह किये बिना निर्भीक होकर व्यक्ति-स्वातंत्र्य और राष्ट्रीय स्वाधीनता का शंख नाद किया था। आज की राष्ट्रीयता का पौधा तभी लहराया था, आज तो वह वट वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। वर्तमान की विषय परिस्थितियों के प्रति असंतोष प्रकट करना, परम्परागत रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करना और सामाजिक बंधनों के प्रति क्षोभ प्रकट करना उस युग के कवि ही हमें सिखा गए हैं। हम उनके ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकते। इतना अधिक सजग और सचेत युग हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहले कभी आया ही न था।

भारतेन्दु युग में काव्य की प्राचीन परिपाटी के आधार पर जो कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी गई है। वे परम्परा की मात्र लकीरें पीट कर रह गई हैं। उनका असर न तब था, न आज है। इसलिए वे उसी युग में अपदस्त होकर दम तोड़ चुकी थीं। यह मरणशील परम्परा थी, जो पानी के बुलबुले की तरह उठी और तुरन्त विलीन हो गई।

भारतेन्दु युग के कवियों ने हिन्दी कविता में जनवादी परम्परा की नींव डाली थी, जिसका क्रमिक विकास आज होता जा रहा है। उनकी यह ऐतिहासिक देन उनके नाम और काम को अजर-अमर बना गई है। उनके काव्य का स्थायी भाग वह है 'जो' पुराने रूपों में सामयिकता की नयी विषय वस्तु भर रहा था और नयी साम्राज्य-विरोधी चेतना के अनुसार साहित्य के नये रूप भी गढ़ रहा था।[1]

यह कहना गलत है कि भारतेन्दु युग के कवि राजभक्त थे और 'राजनीतिक डर' के कारण वे १८५७ के विद्रोह पर कुछ नहीं लिख सके। सच तो यह कि वह विद्रोह मुट्ठी-भर रईसों, राजाओं, नवाबों और तालुकेदारों का था, जनता का उससे सम्बन्ध नहीं था। यदि वह जनता का विद्रोह होता तो वह हिन्दी-मराठी-भाषी प्रान्तों के बाहर भी फैलता।

भारतेन्दु युग के कवि यह बात जानते थे कि जिस विद्रोह या क्रान्ति को जनता का समर्थन और सहयोग प्राप्त नहीं है, वह उन्हें अभीष्ट नहीं हो सकता। उनके द्वारा विद्रोह का समर्थन न करने का एकमात्र कारण यही था। इधर हमारे इतिहासकारों ने साम्प्रदायिक एकता के भावावेश में आकर सन् '५७ के विद्रोह को भारत का प्रथम स्वाधीनता-संग्राम सिद्ध करना चाहा है, किन्तु ऐतिहासिक सत्य इसके पक्ष में नहीं है। यदि सत्यान्वेषण करना हो तो उस युग के हिन्दी साहित्य का अध्ययन अपेक्षित है। लेकिन दुर्भाग्यवश हमारे इतिहासकारों ने उस समय की पत्र-पत्रिकाओं, संपादकीय टिप्पणियों, साहित्य और निबन्धों की अनजाने में उपेक्षा की है।

हमारी आज की समस्याएँ भारतेन्दु युग की समस्याओं से बहुत मिलती जुलती हैं। हमें जानना चाहिए कि तब के समझदार लोगों ने उनका समाधान किस तरह निकाला था। जनता की भाषा में जनता का साहित्य लिखा जाए, यह समस्या तो आज भी ज्यों-की-त्यों है। शिक्षा की भाषा मातृ भाषा हो, यह प्रश्न भी आज ज्यों-का-त्यों बना है। सामाजिक और आर्थिक

---

१. राम विलास शर्मा : भारतेन्दु-युग, पृष्ठ १७४

विषमता तथा शोषण को दूर करने के लिए उन्होंने क्या किया और आज हम क्या कर रहे हैं, इस पर भी हमें विचार करना है। ऐसी अवस्था में वह युग इतिहास का शव न बनकर आज भी हमारे लिए प्रेरणा और उत्साह का साक्षी और वरदान बना हुआ है।

जहाँ तक उस युग के काव्य का सम्बन्ध है, हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि क्रान्तिकारी और युगान्तकारी विचारों का विस्फोट जितना भारतेन्दु युग के गद्य साहित्य, खासकर नाटक और निबन्ध, में हुआ उतना कविता में नहीं हुआ, क्योंकि नवीन और पुरातन का संघर्ष अधिकतर इसी क्षेत्र में हुआ। फिर भाषागत संघर्ष भी इसके लिए कम उत्तरदायी नहीं। फिर भी, इतना तो मानना ही होगा कि काव्य का जितना अंश अब तक हमारे सामने आया है, उससे विगत युग के अन्धकार के अवसान और नए युग के सुप्रभात की शुभ सूचना मिलती है। यही क्या कम है?

द्विवेदी युग

महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग को आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी-काव्य की नई धारा' की संज्ञा दी है। शुक्ल जी का नई धारा से अभिप्राय प्राचीन अभिव्यंजना रूढ़ियों, अभिव्यक्ति-पद्धतियों, अनुभूति में शास्त्रीयता आदि के स्थान पर स्वानुभूत भावोद्वेजन; अन्ध प्रतिक्रिया के स्थान पर अनुभूति की जीवन्तता परिपाटी के स्थान पर समसामयिकता आदि कतिपय ऐसी विशिष्टताओं से था, जिनका पूर्ववर्ती काव्यधारा में सर्वथा अभाव-सा था। यह सत्य है, कि रामचन्द्र शुक्ल द्विवेदीयुगीन काव्य के पक्के हिमायती भी नहीं थे, फिर भी दृष्टि सन्तुलन में उन्होंने इस काव्यधारा की जिन गरिमामयी विशिष्टताओं की ओर निर्देश किया है, वे आधुनिक काव्य की पनपती हुई जीवन्तता तथा शक्तिमत्ता से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं।

द्विवेदीयुगीन काव्य को प्रायः भारतेन्दु युग की प्रतिक्रिया का परिणाम बताया जाता है। भारतेन्दुयुगीन, प्रतिक्रिया का अर्थ लिया जाता है—खड़ी-बोली में काव्य रचना की भारतेन्दुयुगीन अवमानना से मुक्ति का एक सचेष्ट प्रयास, जो द्विवेदी युग में मुकुटधर पाण्डेय, महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्या प्रसाद खत्री, सरयू प्रसाद मिश्र आदि नवोदित कवियों-समीक्षकों के तीव्र विरोध से पनपा था। इसी प्रतिक्रिया के संदर्भ में शिल्प की भी चर्चा की जाती है। रीतिकाल की परम्पराबद्धता, शिल्प-योजना का एक परिनिष्ठित रूप जो अभिव्यंजना शक्ति तथा अर्थबोध दोनों दृष्टियों से घिस-पिट चुका था, भारतेन्दु युग में नई खराद के साथ येन केन प्रकारेण—स्वर तथा शिल्प दोनों में समझौतावादी दृष्टि के रूप में स्वीकृत हुआ—नवीनता के स्थान पर काव्य में केवल सतही, अर्थ-अभिप्राय-शून्य अभिव्यक्तियाँ सामने आईं। ये अभिव्यक्तियाँ शैली की दृष्टि से अपरिमार्जित, अभिव्यंजना की दृष्टि से सामान्य अभिधेय मात्र वस्तुकथन तक ही सीमाबद्ध थीं। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, भारतेन्दु हरिश्चंद्र आदि इने-गिने खड़ी-बोली के काव्य प्रयोक्ताओं की सम्पूर्ण आस्था अभी तक नई काव्यधारा के प्रति सजग नहीं हो पाई थी और इसके विपक्षी उसमें काव्यसिद्धि तथा रसात्मक बोध के सामर्थ्य का अभाव ही देखने की ओर प्रवृत्त थे। सामान्य अर्थवत्ता, शिल्पगत संकीर्णता और ब्रज भाषा की परम्परागत समृद्ध परिपाटी तथा रीतिकालीन गतानुगतिकता—जिनकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति भारतेन्दुयुगीन काव्य में थी—द्विवेदी युग ने उसका खुलकर विरोध किया। इस विरोध को आलोचकों ने भारतेन्दु युग के प्रति द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया भी कहा है। वस्तुतः द्विवेदीयुगीन काव्यबोध की संभावनाओं तथा फलवती निष्पत्तियों के अध्ययन के पश्चात् यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस काव्य धारा में प्रतिक्रिया सतही स्तर की थी; शैलीगत थी। इस शैलीगत प्रतिक्रिया के आवरण में प्राचीनता के साथ संधि, प्राचीनता में जीवित रहने का मोह एवं प्राचीन संस्कृति के विधेयक तत्त्वों में सृजन की क्षमता उत्पन्न करने की सामर्थ्य—इस युग की मूल मान्यता रही है। इस युग के प्रतिनिधि कवियों

मुकुटधर पाण्डेय, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध,' मैथिलीशरण गुप्त आदि की अन्तर्मानसिकता किसी भी प्रकार की काव्यगत प्रतिक्रिया से शून्य, केवल इतिहास पर आधृत भारतीयता के तत्त्वों के अन्वेषण के प्रति सजग, पुरातन गौरव-गाथा को गाकर गौरवान्वित होने का मोह आदि से ही संबंधित है ।

वस्तुतः इन सब के पीछे समाजबोध का एक व्यापक परिवेश था । राजनीतिक शक्तियों के उद्वेलन तथा नवयुवक कवियों पर नवीन भारतीय स्वतंत्रतावादी आन्दोलन की भावात्मक सजगता की अमिट छाप-सी पड़ चुकी थी । सन् १९०० से लेकर १९२५ तक भारतीय इतिहास का आधुनिक काल एक विशिष्ट प्रकार की मनोवृत्ति से प्रभावित रहा है । भारतीय इतिहास में परिवर्तन की नवीन प्रक्रिया का सूत्रपात सन् १८५७ के आन्दोलन के पश्चात् किसी-न-किसी रूप में हो चुका था । कम-से-कम शासित होने में पीड़ित होने का भाव भारतीयों में पहली बार उत्पन्न हुआ था । इस शासन-पीड़ा के पीछे विशिष्ट प्रकार की रागात्मक या भावात्मक एकता सम्बद्ध थी, जो धर्मगत, जातिगत अथवा संस्कारगत विभेदों को पर्याप्त सीमा तक मिटा चुकी थी । अंग्रेज़ी शासन का सब से बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण प्रभाव, जो भारत के लिए उसके नवीन स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहायक हुआ, वह यही रागात्मक ऐक्य था । अँग्रेज़ों को शासन-नीति तथा भारत के स्वतन्त्र राज्यों को तोड़कर एक व्यापक शासन, सूत्र में बाँधने और सुव्यवस्थित ढंग से नियन्त्रित करने के लिए वैज्ञानिक सुविधाओं का प्रसार—एक ओर इस रागात्मक एकता के प्रसार का बहुत बड़ा साधन बना, दूसरी ओर भारतीयों में नई दृष्टि, नवीन-चेतना को अंकुरित तथा रूढ़िवादी संकीर्णताओं, विमोहों को छिन्न करने में सहायक हुआ । इस नवीन संचेतना के संदर्भ में राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, महात्मा गाँधी, अरविन्द आदि का योगदान भारतीय इतिहास में अमिट है । परिस्थिति के अनुकूल एक विशिष्ट जीवन दर्शन प्रतिपादित करके उसके बीच सदियों से सुषुप्त भारतीय चेतना को जागृत करने के कार्य में इन्हें विरोध भी पर्याप्त सहना पड़ा था । फिर भी, एक व्यापक स्तर पर इनकी मान्यताओं को स्वीकृति मिली और समाज के अधिकांश शिक्षित वर्ग ने खुल कर या दबे स्वर में इनकी उपलब्धियों को युगानुकूल होने की स्वीकृति दी । सम्पूर्ण भारतीय एकता का सूत्र पंजाब, गुजरात, उत्तर-प्रदेश, बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश आदि में अधिक मुखर रहा और इस नवीन जागृत मनोवृत्ति की शक्ति सवेग बढ़ती गई । सन् १९०५ में इसी भारतीय रागात्मक एकता के पर्यावरण में 'स्वदेशी आन्दोलन' चला, जिसका मुख्य उद्देश्य था——भारत की यत् किन्चित खंडित या टूटी हुई इकाइयों को अनुस्यूत करना । सन् १९१४–१८ तक एक विशेष प्रकार के महायुद्ध का आतंक भारत में फैल चुका था । सन् १९१८ से २१ तक काँग्रेस द्वारा आयोजित स्वतंत्रता आन्दोलन तथा गाँधी जी की सत्याग्रह नीतियों में सामान्य जनता पर्याप्त रुचि ले चुकी थी और इस रूप में सम्पूर्ण आन्दोलन नवीन दृष्टिबोध से सन्दर्भित भारतीयों में समान तथा सह-अस्तित्व की प्रेरणा का पर्याप्त साधक कारण बना । इसी सन्दर्भ में सांस्कृतिक दृष्टि एवं सामूहिक आत्म चेतना की एक विशिष्ट भावना भारतीयों में पनपी थीं । 'स्वदेशी आन्दोलन' या विदेशीपन का त्याग, विदेशी वस्तुओं ही नहीं, विदेशी मान्यताओं, परम्पराओं,

समाज में प्रचलित व्यवस्थाओं, खान-पान आचरणगत विदेशी प्रभाव से मुक्त रहने का नवीन भाव, भारतीयों में उत्पन्न हुआ। इस निषेधात्मक तथ्य के पीछे विदेशी वातावरण में आत्म-अस्तित्व का निषेध भी छिपा हुआ था और इस रूप में भावात्मक आत्म-अस्तित्व के लिए भारतीय इतिहास की ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक एवं सहज था। कारण स्पष्ट है, इस समय भारतीयों के मन में 'भारतीयता' का एक प्रत्यय बन चुका था और इस 'भारतीयता' की एक गौरवपूर्ण इतिहास-परम्परा उनके सामने स्पष्ट रूप से वर्तमान थी। इस इतिहास परम्परा में में आदर्शवादी प्रत्ययों का पूर्ण स्वीकरण था। महात्मा बुद्ध, राम-कृष्ण, शिवाजी, राणा प्रताप आदि आदर्श चरित्र के रूप में प्रतिष्ठित थे। साथ ही, परम्परा और उपलब्धि के क्षेत्र में प्राचीन भारतीयता के सम्पूर्ण विशिष्ट आदर्शमूलक मूल्य निःसंकोच रूप से भारतीयों द्वारा अपनाये जाने लगे। द्विवेदी युग का भारतीय इतिहास इस मान्यता का सबल पोषक है। जहाँ एक ओर भारतीयों में परस्पर रागात्मक एकता उत्पन्न हुई, वहीं दूसरी ओर उनमें अब 'भारतीय' होने का राष्ट्रीय या सांस्कृतिक बोध भी उत्पन्न होने लगा था। भारतीय होने का राष्ट्रीय एवं सामाजिक दायित्व उत्पन्न कराने का श्रेय भारतीय उत्थानवादी नेताओं को ही है। विवेकानन्द ने गीता के ध्यानयोग, राजयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग की व्याख्या नवीन सन्दर्भ तथा समसामयिक युगबोध की पीठिका में की। बाल गंगाधर तिलक ने भी यही कार्य किया। उनके द्वारा लिखा हुआ 'गीता भाष्य' द्विवेदी युग में उतना ही समादृत हुआ, जितना किसी समय में रामचरितमानस। गाँधी जी की मान्यताएँ प्राचीन भारतीय संस्कृति की अभिन्नतम मर्यादाओं से सूत्रबद्ध थीं। समस्त परम्परागत शालीन आर्य सिद्धान्त गाँधी जी की आचार मीमाँसा के अंग थे। इस युग में किसी समाज सुधारक ने परम्परा से चली आती हुई दार्शनिकता का पल्ला नहीं पकड़ा। सभी ने आचरण मार्ग की भारतीय मान्यताओं को स्वीकृति दी और उसी के सन्दर्भ में भारतीयों को भारतीय बने रहने की गहरी चेतावनी भी मिलती गई। भारतेन्दु युग का वातावरण इस दृष्टि से अति सामान्य था। इसमें नएपन का बोध तो होने लगा था, परन्तु प्राचीन परम्परागत विचारधारा रूढ़बद्ध किए हुए थी।

भारतेन्दुयुगीन भारतीय समाज में पुनरुत्थान तथा नवीनता के वातावरण निर्माण का श्रीगणेश तो अवश्य हुआ था, किन्तु वस्तुतः सामाजिक, राजनीतिक क्रान्ति तथा सिद्धान्तगत पुनरुत्थान द्विवेदी युग में ही देखने को मिलता है। सामाजिकता के एक विशिष्ट वातावरण में कौटुम्बिक छिन्नता, व्यक्तिचेतना की सजगता तथा स्वात्म के प्रति सम्मोह, एक विशिष्ट आदर्श की खोज और उसे सर्वमान्य आदर्शवाद के रूप में प्रतिष्ठित करने की धारणा या आग्रह—भारतेन्दुयुगीन परिवेश में पनपने लगा था, किन्तु इनका सर्वांगीण विकास द्विवेदी युग में होता है। धर्म के क्षेत्र में भी यही धारणा परिलक्षित होती है। धर्मभीरुता तथा आस्थावादी आडम्बर-प्रधान ज्ञान, भक्ति, कर्मकाण्ड से समन्वित धार्मिक धारणा द्विवेदीयुग में खो गई या मात्र-परिचर्चा का विषय बनी रही। शतियों से चले आते हुए धर्माचरण एवं आदर्शात्मकता के मूलाधार 'राम' एवं 'कृष्ण' दोनों का व्यक्तित्व संशयपूर्ण हो गया। उनका आध्यात्मिक अतिरंजित या अतिमानवीय क्रियाकलाप लौकिक स्तर पर आदर्शपूर्ण चारित्रिक निष्ठा के रूप में स्वीकृत होने लगा और उनकी अतिमानवीयता पर सन्देह करके मानव के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास

किया गया। मैथिलीशरण गुप्त या अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा चित्रित 'राम, कृष्ण' के व्यक्तित्व निस्सन्देह मानवीयता की सीमा के हैं। भारतेन्दु युग की धार्मिक संचेतना के अनेक स्तर थे और उनमें आध्यात्मिकतापूर्ण भक्ति धर्म को अधिक प्रश्रय मिला था, फिर भी अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भक्तिकाव्य की भांति 'एकमात्र भक्ति विषयक संवेदना' की अभिव्यक्ति तक ये कवि सीमित नहीं थे। दूसरी ओर भारतेन्दुयुगीन काव्य की अभिव्यक्ति का एक सबल पक्ष भक्ति भी रहा है। द्विवेदी युग ने भक्ति एवं कवित्व को सर्वप्रथम बार दो पृथक् तत्त्व मान कर शतियों की अनर्गल अभिव्यक्ति से काव्य को मुक्त किया। इस मुक्ति का कारण था—नवीन जागरूक संचेतना—और इसके फलस्वरूप काव्य में पुराण पुरुषोत्तम की लीलाओं के स्थान पर पुरुष की चारित्रिक क्षमता को अभिव्यक्ति-स्तर पर स्वीकार करने का प्रयत्न किया गया द्विवेदी युग की क्षमताएँ सीमित थीं, किन्तु इस सीमित क्षमता के बीच उसने जिस तथ्य के सम्वर्धन का दायित्व लिया था, वह नवीनता की मेरुदण्ड था। द्विवेदीयुगीन काव्य की तीन मूलधाराएँ थीं, जिनका विकास तन्त्र परवर्ती काव्य के तीन विशिष्ट रूपों के विकास का कारण बना—

१—नवीन विकसित स्वात्मवाद, जो छायावाद का मूल कारण एवं प्रेरणा स्रोत माना जाता है। रहस्यवाद में निहित आत्मनिष्ठ स्वचर्चा का भी मूलाधार द्विवेदी युग में विकसित स्वात्मवाद ही है। भारतेन्दु युग में नवीन आर्थिक व्यवस्था से उत्पन्न तथा द्विवेदी युग में पोषित व्यक्ति पीड़ावाद तथा छिन्न कौटुम्बिक इकाइयों की कटुता से आक्रान्त स्वात्म केन्द्रित मनुष्य द्विवेदी युग के पश्चात् छायावाद युग में विषम पीड़ा भोगी, प्रयोगवाद युग में 'निस्संग पीड़ा भोगी' तथा 'नई-कविता' काल में 'अहम् पीड़ित' हो उठा।

२—भारतेन्दु युग तक मनुष्य की मुक्ति का प्रश्न धार्मिकता से जुड़ा था और द्विवेदी युग में यह प्रश्न नैतिक आदर्शपरक चरित्रनिष्ठा से सम्बद्ध हो गया। युगानुकूल 'व्यक्ति-माहात्म्य' तथा 'स्वतंत्र रहने की आकांक्षा' द्विवेदी युग की समाप्ति तक पूर्ण प्रबल हो चुकी थी। फलतः 'मनुष्य की मुक्ति' के स्थान पर 'मुक्त मनुष्य' की धारणा समाज में विशेष सक्रियता के साथ परिलक्षित हुई। यह मुक्त मनुष्य एकमात्र पश्चिम के रोमांटिक का प्रतिरूप नहीं था, किन्तु उसके वातावरणगत लक्षण इसमें अवश्य वर्तमान थे। वैज्ञानिकतापूर्ण अति नवीन सुख सुविधाओं के उपभोग के प्रति सचेष्टता तथा समान-तंत्र पर सबको भोगने का समान आदर्श, कठोर परम्परागत नैतिक नियंत्रण से छूट तथा पाश्चात्य जीवन दर्शन पद्धति का वातावरण कुल मिलकर द्विवेदी युग तक 'मुक्त व्यक्ति' को गढ़ चुका था। द्विवेदी युग के बाद यह व्यक्ति दो रूपों में सामने आया—एक धार्मिकता के बीच अपनी 'मधुचर्या' में आत्मनिष्ठ हुआ, दूसरा प्रत्यक्ष भोगवादी, जिसे आगत-अनागत के बीच आत्मनिष्ठता तथा भोग का स्वामित्व चरम आदर्शपूर्ण दिखाई पड़ा था। हालावाद का स्वरूप कुछ इस प्रकार का था। आज का नग्न प्रकृतवादी, भूखी पीढ़ी का कवि इससे अपना सम्बन्ध बनाए हुए है।

३—द्विवेदी युग की आदर्शवादिता मात्र भारतीयता के प्रत्यय या भारतीय होने से सम्बद्ध थी। जो भी चरित्र नायक, द्विवेदीयुग में काव्य के आधार थे, उनके माध्यम से 'भारतीयता' को स्पष्ट करना इन कवियों का उद्देश्य रहा। द्विवेदी युग की इस आदर्शनिष्ठा के सांस्कृतिक या राजनीतिक कारण की ओर निर्देश किया जा चुका है। द्विवेदीयुगीन आदर्शवादिता

परवर्ती द्विवेदीकाल में समाप्त न होकर एक दूसरे रूप में परिवर्तित हुई। राम या कृष्ण के भागवत तत्त्व से पृथक् उनके भारतीय व्यक्तित्व को परम्परा या आधार बनाकर कर्ण, बुद्ध, कुणाल, लक्ष्मण, महाराणा प्रताप, शिवाजी ही नहीं, अत्याधुनिक गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, आदि नेताओं के चरित्र को काव्य के लिए विषयवस्तु के रूप में चुना गया।

इस दृष्टि से अधिकांशतः विद्वानों का यह कथन द्विवेदी युग भारतेन्दु युग की प्रतिक्रिया या द्वन्द्ववाद में उत्पन्न हुआ और परवर्ती द्विवेदीकाल द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया का प्रतिफल है, पूर्णरूपेण सत्य नहीं है। यत्किंचित जो प्रतिक्रिया मिलती है, वह सामान्य ही है।

द्विवेदी युग पूर्व हिन्दी खड़ी बोली काव्य का श्रीगणेश हो चुका था, किन्तु परिष्कृत साहित्यिक स्तर पर उसे मान्यता नहीं मिल रही थी। भारतेन्दु युग में खड़ी बोली काव्य रचना का अभाव एवं उसकी अनिवार्यता दोनों विषयों पर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ था और सामान्य परिहासपूर्ण स्तर पर जो भी 'स्टाइलें' नमूने के तौर पर तत्कालीन पद्य, संग्रहों में देखने को मिलीं, उनसे इसकी भावी विकास दशा का अनुमान लगाना सरल नहीं था। खड़ी बोली में गद्य और पद्य का विन्यास एक ही प्रकार का है, इस भ्रम में भारतेन्दु के परवर्ती सभी कवि पड़े रहे, किन्तु प्रायोगिक स्तर पर खड़ी बोली काव्य रचना की ओर ये कवि ज्यों-ज्यों उन्मुख होते गए, अनुभव किया कि खड़ी-बोली के गद्य पद्य-विन्यास में लयात्मक गति का मूल अंतर वर्तमान है और खड़ी बोली की काव्य रचना इसी अर्थलय की खोज करती हुई आगे बढ़ने लगी। श्रीधर पाठक अब तक लगभग सन् १८८३ के आसपास ब्रजभाषा काव्य रचना की तिलाञ्जलि-सी देकर खड़ी बोली की ओर उन्मुख हो चुके थे। मनोविनोद के दूसरे खण्ड की खड़ी-बोली की उनकी पहली रचना १४ सितम्बर १८८३ की हैं। इसके पश्चात् खड़ी बोली के ही कवि के रूप में 'इन्होंने अंजलैना' तथा 'एकान्तयोगी' का अनुवाद सन् १८८६ में प्रस्तुत किया। यही नहीं, उन्होंने इसके पश्चात् खड़ी बोली के अनेक ऐसे विशिष्ट प्रयोग किए, जिनमें काव्यत्व की मर्यादित प्राणप्रतिष्ठा थी और उनके इस सशक्त प्रयोग से खड़ी बोली की काव्यरचना विषयक अनेक अनर्गल भ्रांतियाँ निर्मूल सिद्ध होने लगीं। उनकी ललित पदावली, भाषा की सफाई और उक्तियों की मार्मिक अभिव्यंजना पर मुग्ध होकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १८९९ में 'श्रीधर सप्तक' लिखकर आधुनिक खड़ी-बोली के इस आदि कवि की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

यद्यपि इसके पूर्व 'भारतेन्दु' आदि ने खड़ीबोली में कतिपय कविताएँ अवश्य लिखी थीं, किन्तु उनकी काव्यगत उपलब्धि नगण्य-सी थी। भारतेन्दु युग में व्यक्तिगत प्रेम और सहानुभूति ने बहुत कुछ व्यापक रूप धारण किया। श्रृंगार के आलम्बन—नायक, नायिका—स्वदेशी-विदेशी वस्तु सामाजिक कुरीतियों दार्शनिक और ऐतिहासिक विषयों के लिए भी स्थान-रिक्त किया। भारतेन्दु को 'विजयिनी विजय-वैजयन्ती' '(१८२२) और प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम्' (१८९७) में परतंत्र भारत की दीनावस्था पर 'क्षोभ,' देश की विपन्न दशा पर संताप, प्रेमघन की 'मंगलाशा या हार्दिक 'धन्यवाद' में सुधारक शासकों की कृपादृष्टि में संतोष और प्रताप नारायण मिश्र भी 'लोकोक्ति शतक' एवं बालमुकुन्द गुप्त आदि की स्फुट कविताओं में संगठन भावनाओं का व्यक्तीकरण है। राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र, आत्माराम सन्यासी आदि कवियों ने सामाजिक विषयों पर तथा श्रीधर पाठक, माधवदास,

रामचन्द्र त्रिपाठी आदि ने दार्शनिक विषयों पर रचनाएं कीं। इस युग की राजनीतिक, राष्ट्रीय, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कविताओं में अतीत के प्रति अभिमान, वर्तमान के प्रति क्षोभ और भविष्य के प्रति आशा की अभिव्यंजना हुई। प्राग द्विवेदीयुग की पद्य रचना में एक विशेष स्थान ईसाई धर्म प्रचारक और देशी पादरियों का भी है।

विषय की दृष्टि से तो भारतेन्दुयुगीन कविता पहले से काफी आगे बढ़ गई, लेकिन पूर्ववर्ती रीतिकाल का काव्य सौन्दर्य न आ सका। भारतेन्दु की कविता में कहीं तो भक्तिकालीन कवियों की तल्लीनता, कहीं छायावाद की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और कहीं चलचित्रों से चलते गाने हैं। उस युग के नायिका उपासक कवियों ने शृंगार वर्णन में ही अपनी प्रतिभा का अधिक उपयोग किया है। बहुत ही शृंगारेतर कृतियाँ प्रचारात्मकता और सामयिकता से ऊपर न उठ सकीं। पुराने ढर्रे के रूढ़िवादी कवि समस्यापूर्ति पर ही चल रहे थे। इस समस्यापूर्ति ने रचनाकारों की प्रतिभा को बहुत कुंठित-सा कर दिया। उस युग में प्रबन्ध काव्यों का अभाव-सा रहा। 'जीर्ण जनपद' 'कंसवध' 'कलिकालदर्पण' 'होली की नकल' 'एकांतवासी योगी, 'उजड़ा ग्राम' आदि इनी-गिनी रचनाएं प्रबन्ध की दृष्टि से निम्न श्रेणी की हैं। इनका मूल्य खड़ी बोली के इतिहास की पीठिका में ही है। एक ओर तो, रीतिकालीन प्राचीन परिपाटी के प्रति कवियों का मोह था और दूसरी ओर आन्दोलन और संक्रान्ति की अवस्था। अतएव कवियों की प्रचारात्मकता और उपदेशात्मकता के कारण आधुनिक शैली के गीत मुक्तकों की रचना न हो सकी। इस युग के कवियों ने सवैया, कवित्त, दोहा, चौपाई, की पूर्वकालिक पद्धति से आगे बढ़कर रोला, छप्पय, अष्टपदी, लावनी, गज़ल, रेख़्ता, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी आदि पर ध्यान तो अवश्य दिया, लेकिन इस दिशा में उसकी प्रगति विशेष महत्त्वपूर्ण न हुई। छन्दों की वास्तविक नवीनता और स्वच्छन्दता भारतेन्दु के उपरान्त श्रीधर पाठक की रचनाओं में ही मिलती है। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास आदि कवि ब्रजभाषा की पुरानी धारा में ही बहते रहे। खड़ी बोली में काव्य रचना के प्रति प्रोत्साहन न मिलने के ही कारण भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने बाद तक ब्रजभाषा को काव्य का माध्यम बनाए रखा। उस युग का कोई भी कवि खड़ी-बोली का ही कवि न हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त हो गई, लेकिन उद्योग करने पर भी इस नवीन काव्य भाषा में अपेक्षित माधुर्य, प्रांजलता और प्रौढ़ता न आ सकी। कविता के क्षेत्र में द्विवेदी जी विषय, भाव, भाषा, शैली और छन्द लेकर आए।

द्विवेदी जी खड़ी बोली पद्य के प्रवर्तक थे। शताब्दियों से काव्य के लिए मंजी हुई, सर्वस्वीकृत ब्रजभाषा को उन्होंने युगधर्म का निर्वाह करने में असमर्थ घोषित किया और काव्य के लिए शुष्क कही गई अललित और अकोमल खड़ी बोली को युगधर्म को वाणी देने योग्य सिद्ध किया। जिस समय आचार्य द्विवेदी जी हिन्दी क्षेत्र में आए, उस समय तक विहार के श्री अयोध्याप्रसाद खत्री खड़ी बोली को काव्यभाषा बनाने का नारा अवश्य बुलन्द कर चुके थे और श्रीधर पाठक भी 'एकांतवासी योगी' के माध्यम से इसका व्यावहारिक स्वरूप भी प्रस्तुत कर चुके थे, फिर भी उस समय तक ऐसी कोई सशक्त शक्ति सम्मुख न आ पाई, जो इस प्रवृत्ति व धारा को उचित प्रवाह दे सके। इसी शक्ति के रूप में द्विवेदी जी सम्मुख आए।

द्विवेदी जी ने प्रारम्भ में संस्कृत और ब्रज भाषा में कुछ कविताएं लिखीं, फिर बाद में खड़ी बोली की ओर झुके। जब तक झाँसी में रेलवे कार्यालय में रहे, तब तक 'भारत-मित्र' हिन्दी बंगवासी आदि में और 'सरस्वती' के प्रकाशित होने पर उसमें भी खड़ी बोली में ही कविताएँ लिखते रहे। सन् १९०४ में सरस्वती के आराधना-क्षेत्र में आए तब से आप ने स्वयं तो खड़ी बोली को अपनाया ही, अन्य कितने ही कवियों को इसी में कविता करने के लिए प्रोत्साहित करके उन्हें मार्ग दिखाया, सिखाया और कवि बनाया। 'सरस्वती' के द्वारा द्विवेदी जी ने खड़ी बोली की कविता को ऐसा प्रोत्साहन दिया कि बहुत दिनों तक खड़ी बोली बनाम ब्रज-भाषा का झगड़ा चलता रहा। पहले लोगों को यह विश्वास ही नहीं होता था कि एक दिन खड़ी बोली का इतने अल्पकाल में आज की भाँति स्थान हो जाएगा। कुछ दिन तक ब्रजभाषा और खड़ी बोली में यह संघर्ष की स्थिति बनी रही, क्योंकि उस समय खड़ी बोली भी शैशवा-वस्था में ही थी, उनमें वे सभी बातें नहीं थीं, जो काव्य भाषा के लिए आवश्यक होती हैं। चूँकि ब्रजभाषा का काव्य में धड़ल्ले से व्यवहार हो रहा था, इसलिए उसमें अधिक परिमार्जन हुआ था, लेकिन द्विवेदी जी को यह पूर्ण विश्वास था कि यह केवल खड़ी बोली की उपेक्षा करने से है। यदि उसे परिमार्जित करके काव्य भाषा के उपयुक्त बनाने का उपक्रम किया जाए, तो वह दिन आने में कोई देर नहीं, जब सम्पूर्ण भारत में काव्य भाषा के माध्यम में खड़ी बोली का व्यवहार होगा।

द्विवेदी जी ने फुटकल विषयों पर जो कविताएँ लिखीं, उनमें से कुछ कविता कलाप काव्य मंजूषा एवं सुमन में संग्रहीत हैं। पहले इन्होंने 'पाठक' की भाँति खड़ी बोली में कविता की तथा अपनी क्षमताओं का निरीक्षण, परीक्षण किया और बाद में काव्यरीति का प्रतिपादन किया। कविता के लिए विषय, छन्द तथा अर्थ विधान भी उन्होंने दिया—

'कविता करना आप लोग चाहे जैसा समझते हों, हमें तो एक तरह से यह दुःसाध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने तुकबन्दी करने का प्रयास किया था, पर कुछ समय में आते ही हमने अपने को इस कार्य का अनाधिकारिक समझा, अतः उस मार्ग से जाना ही प्रायः बंद कर दिया।' द्विवेदी जी की इस उक्ति में कोरी नम्रता ही नहीं सत्यता भी है। श्रेष्ठ काव्य की स्थायी प्रदर्शनी में उनकी कविताओं का ऊँचा स्थान नहीं है। द्विवेदी जी ने स्वयं अपनी कविताओं को काव्य या कविता न कहकर तुकबंदी ही कहा है, लेकिन आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास से उनकी कविताओं के लिए विशेष स्थान रहेगा। सौन्दर्य-मूलक आलोचना के आधार पर ही नहीं, किन्तु जीवनी मूलक और ऐतिहासिक समीक्षा की दृष्टि से निस्संदेह उनकी कविता में वह सौन्दर्य नहीं है, जिसके बल पर वे जयदेव पण्डितराज जगन्नाथ या मैथिलीशरण गुप्त की भाँति गर्व करते। उनकी कविता में वह विशेषता भी नहीं है, जो उन्हें कालिदास, तुलसीदास वा हरिऔध की श्रेणी में रख सके, लेकिन एक दूसरे अर्थ में वे इन सभी लोगों से उच्च स्थान के अधिकारी हैं।

फुटकल कविताओं के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कालिदास कृत कुमार सम्भव के प्रथम पाँच सर्गों का सार अपने 'कुमार संभव सार' में पद्यबद्ध किया है वे बहुत बड़े कवि, निर्माता और भाषा के संस्कारकर्ता थे। उन्होंने 'सरस्वती' में आई हुई सभी रचनाओं को संशोधित एवं

परिमार्जित किया और उनके द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त कर तत्कालीन अन्य कवियों ने संस्कृत भाषा के आधार पर काव्य रचना की। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व ने प्रायः सभी कवियों पर कुछ-न-कुछ प्रभाव डाला। जुलाई १९०१ में सरस्वती के पृष्ठों में उनका निर्देशन कवि कर्त्तव्य के रूप में सम्मुख आया। यही कवि कर्त्तव्य वस्तुतः भावी सूत्र संचालन के लिए द्विवेदी जी की घोषणा है। द्विवेदी जी ने कविता की कोई मौलिक परिभाषा न देकर संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों के काव्य 'लक्षणों' का निष्कर्ष मात्र निकाला है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी की कविताओं में काव्य सौन्दर्य ढूंढ़ना निष्फल सा ही होगा। इनकी मौलिक रचनाओं में केवल 'बाल-विधवा-विलाप' ही रसानुभूति कराने में सफल है।

भारतेन्दु की मृत्यु के (१८८५ ई०) पश्चात् श्रीधर पाठक ने काव्य के रूप, भाषा, छंद, अभिव्यंजना शैली, प्रकृति-वर्णन आदि में स्वच्छन्दता का प्रवर्तन करके और अयोध्याप्रसाद खत्री ने अपने खड़ी-बोली-आन्दोलन द्वारा पूर्ववर्ती युग से भिन्न एक नए युग का सन्देश दिया, यद्यपि यह युग किसी भी नए लक्ष्य की सिद्धि न कर सका। इस युग में कोई उच्चकोटि की रचनाएँ भी न हो सकीं। इस समय के सभी कवि अपनी-अपनी धुन में मस्त रहे। यह बिल्कुल अराजकता का युग था। और यह अराजकता सं० १९५९ तक बनी रही। द्विवेदी जी ने इस स्वच्छन्दता को रोक सा दिया। वे सं० १९६० में सरस्वती के सम्पादक हुए। इन्होंने एक सफल शासक की भाँति हिन्दी की बागडोर अपने हाथ में ली। यहीं से द्विवेदी युग का प्रारम्भ होता है।

द्विवेदी युग का नामकरण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम के आधार पर किया जाता है। सन् १९०३ से १९२० तक का समय उनके सम्पादन का समय है। इस काल में उन्होंने बड़ी योग्यता से 'सरस्वती' का सम्पादन किया और अपने सिद्धान्तों तथा विचारों को कार्यरूप में परिणत करने और कराने का भी प्रयास किया। उनके समय में एक कवि वर्ग तैयार हो गया था, जो बराबर उनके लक्ष्य तथा सिद्धान्तों पर चलता रहा, इसीलिए इनको उस युग के आचार्य रूप में स्वीकार किया गया। उन्होंने अपने समकालीन लेखकों और कवियों पर अपनी प्रतिभा की अमिट छाप लगा दी थी।

द्विवेदीयुगीन कवियों को तीन वर्गों के अंतर्गत रखा जा सकता है—प्रथम वर्ग तो उन कवियों का है, जो पहले से ही शास्त्रीय पद्धति पर काव्य साधना में रत थे और द्विवेदी जी के सम्पर्क में आने के पश्चात् उनके सिद्धान्तों व विचारों के अनुकूल अपने को ढालते रहे। इन कवियों में प्रमुख हैं—श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा शंकर, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार आदि। द्वितीय वर्ग उन कवियों का है, जो द्विवेदी जी के प्रभाव से ही पनपे तथा जीवन भर उनके ही आदर्शों पर चलते रहे। इनमें सर्वप्रमुख हैं—मैथिलीशरण गुप्त। इनके अतिरिक्त कामताप्रसाद गुरु, रामचरित उपाध्याय, लोचन प्रसाद पाण्डेय, सियारामशरण गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय, मुकुटधर पाण्डेय, लक्ष्मीधर बाजपेयी, गोपालशरण सिंह आदि। तृतीय वर्ग उन कवियों का है, जिन्होंने उनका परोक्ष प्रभाव ग्रहण किया। इनमें प्रमुख हैं—गिरधार शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामनरेश त्रिपाठी, बदरीनाथ भट्ट, प्रसाद, पंत और निराला।

काव्य भाषा का जो स्वरूप द्विवेदी जी जनता के सम्मुख रखना चाहते थे वह उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा प्रस्तुत किया ही, 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाओं में भी उसी की छाप बनी रही। इन कवियों में द्विवेदी जी का सफल अनुकरण करने वाले मैथिलीशरण गुप्त थे। सन् १६०६ और १० में क्रमशः 'रंग में भंग' और जयद्रथ वध लिखकर आपने खड़ी के काव्य ग्रंथों की रचना का सूत्रपात किया। गुप्त जी के हृदय में भारत के अतीत गौरव का जो महिमामय स्थान है, उसकी व्यंजना के साथ ही उक्त कवियों में इनकी कवित्व शक्ति का भी प्रस्फुटन हुआ है। इन कथानकों के द्वारा गुप्त जी ने करुण, रौद्र और वीर रस की जो धारा प्रवाहित की, वह आगे चलकर कुछ दिन तक देश भक्ति के अपूर्ण रस में दबी-सी गई। इनकी भारत-भारती में देश के नवोदित कवियों को इस प्रकार की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

इसके बाद इनका महाकाव्य 'साकेत' निकला। भाषा की सरसता सबसे अधिक 'पंचवटी' अथवा अनूदित 'विरहिणी ब्रजांगना' में देखने को मिलती है। इसके बाद गोपाल शरण सिंह के कवित्तों में अपेक्षाकृत अधिक मधुरता मिलती है। उनमें परिष्कृत खड़ी बोली का निखरा रूप देखने को मिलता है। पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय की रचनाएँ, फुटकल छोटे-छोटे पद्यात्मक निबन्धों तक ही सीमित रहीं, लेकिन उनके द्वारा देशभक्ति के अतिरिक्त करुण रस के मनोरम छींटे भी उठे। उनकी मृगी, दुख मोचना और आत्म त्याग शीर्षक कविताएँ इसी कोटि की हैं ! कामताप्रसाद गुरु मुक्तक रचना ही करते रहे। पं० रामचरित उपाध्याय ने छोटे-बड़े कई काव्य रचे, जिनमें 'रामचरित चिंतामणि' प्रमुख है। साहित्य शास्त्र में स्वीकृत महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार यह ग्रंथ महाकाव्य की कोटि में आता है। इसके अनेक स्थल बड़े सरस तथा मर्मिक हैं। इनके अतिरिक्त लाला भगवान दीन, पं० रामचन्द्र शुक्ल और रामदास गौड़ भी खड़ी बोली में रचना करते रहे। लाला जी के वीर पंचरत्न, वीर क्षत्राणी और वीर बालक में वीर रस की अभिव्यंजना हुई है। इन्होंने खड़ी-बोली में उर्दू छंदों का भी प्रयोग किया। खड़ी बोली कविता के प्रारम्भ काल में पं० नथूराम शर्मा का अपना विशिष्ट स्थान है। इन्होंने भी इस काल के अधिकतर कवियों की भाँति पहले ब्रजभाषा को ही काव्य का माध्यम अपनाया, फिर बाद में खड़ी बोली को। यह अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। अलंकारों और भावों के समन्वय की आप जैसी शक्ति विरलों में ही पाई जाती है। अपनी असाधारण कवित्व शक्ति के बल पर ही इन्होंने अपने जीवन काल के उत्तरार्द्ध में मात्रिक छंदों के प्रत्येक चरण में समान वर्ण रखने का ऐसा भीष्म व्रत निभाया, जो आज तक कोई नहीं निभा सका। बाद में, आर्य समाज में आने पर ये भी कवि की जगह समाज-सुधारक हो गए। इन्होंने आध्यात्मिक विषयों पर भी बहुत कुछ लिखा है। श्री गोपाल शरण सिंह इस परम्परा में अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। भाषा की जो मिठास रीतिकालीन पद्माकर जैसे कवियों में मिलती है, वही मिठास इनकी खड़ी बोली की कविता में है। श्री सियारामशरण गुप्त करुण-रस की व्यंजना बहुत मनोहर ढंग से कर सके हैं। उन्होंने 'विषाद' 'इबदिल' आदि विषयों में करुण रस में अत्यन्त सरस एवं भावपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। इनके सब से मधुर गीत वही हैं, जो वेदना की चरम व्यंजना करा सके हैं।

श्रीधर पाठक ने जिस खड़ी बोली में कविता का बीजारोपण किया था और द्विवेदी

जी ने अपनी अटूट लगन से जिसका असि चिंतन किया था, वह थोड़े ही दिनों में मन मोहित करने लगा। द्विवेदीयुग के उत्तरार्द्ध में ही इसमें अनेक शाखाएँ पल्लवित हुई। इस युग की कविता जो द्विवेदी के पहले रची गई थी, प्राचीन ब्रजभाषा की काव्य परिपाटी से अपना सम्बन्ध बनाए रही और तत्कालीन समाज के भावों की अभिव्यक्त से पर्याप्त दूर रही। ये प्राचीन परम्परा के कवि ब्रजभाषा से इतना प्रगाढ़ सम्बन्ध बना चुके थे कि उसे छोड़ना ही नहीं जानते थे। इन सब में केवल एक कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ऐसे हैं, जो नवीनता में उपादेयता मानते हुए उसके कुछ वांछनीय अंशों का समर्थन करते हैं। इनका भी कविकर्म ब्रजभाषा से ही प्रारंभ होता है और बाद तक इनके हृदय में ब्रजभाषा के प्रति अनुराग बना रहा, लेकिन ब्रजभाषा में भी इन्होंने समय के अनुसार अपने नवीन भावों को प्रकट किया। सन् १६०४ ई० में कन्हैयालाल पोद्दार लिखित 'कोकिल' कविता में विशुद्ध खड़ी बोली का रूप मिलता है। इसके बाद ये बराबर इसी में ही लिखते रहे। राय देवी प्रसाद पूर्ण भी ब्रजभाषा से ही खड़ी बोली में आए। इनकी १६१२ में लिखित 'दरबार दर्शन' नामक कविता खड़ी बोली में है। इसके बाद गिरिधर शर्मा की कविता **'कलंकी ऐड्रस'** भी खड़ी-वोली में है। यह धारा खड़ी बोली में फिर बराबर चलती रही। यद्यपि स्फुट रूप में यत्र तत्र ब्रजभाषा के भी दर्शन होते हैं। आगे चलकर अंग्रेज़ी कविताओं का खड़ी बोली में अनुवाद भी चलता रहा। सरस्वती के सम्पादन काल में उनके द्वारा समर्थन प्राप्त कवियों ने कुछ दिन तक संस्कृत के ग्रंथों का अनुवाद भी किया अतुकान्त ग्रंन्थों में हरिऔध का प्रियप्रवास एक महान देन है।

द्विवेदी युग ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली बार पद्य और गद्य दोनों को ही काव्य विधान का माध्यम स्वीकार किया। उस युग के कवियों ने हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त सभी रूप विधानों में कविताएँ लिखीं अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय विधान प्रबन्ध काव्य रहा। इसके अनेक कारण थे। विश्व साहित्य की समीक्षा से यह बात सिद्ध हो जाती है कि ग्रामबोलियों में कविता का प्रारंभ लोकगीतों से और संस्कृत भाषा में प्रबन्धों से होता है। वाल्मीकि का रामायण और होमर का इलियड आदि इस कथन के प्रमाण हैं। द्विवेदी युग खड़ी बोली कविता का प्रारंभिक काल था, अतएव कथानक की सहायता से ही कविता लिखना कवियों को अधिक सहज जान पड़ा। प्रबन्ध काव्यों की विशेषताओं ने ही कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। प्रबन्ध काव्य जीवन के तथ्यों को मूर्त रूप में उपस्थित कर देता है, जिससे पाठक अनायास ही प्रभावित हो सके। द्विवेदी जी के आदेशानुसार उस युग के उपदेश प्रधान प्रवृत्ति वाले कवियों ने प्रबन्ध काव्यों में आदर्श चरित्रों का अवलम्बन करके पाठकों को लाभान्वित करने का प्रयास किया।

द्विवेदी युग में प्रबन्ध काव्यों के तीन रूप मिलते हैं—पद्य प्रबन्ध, खण्ड काव्य और महाकाव्य। द्विवेदी युग के पूर्व पद्य निबन्धों का केवल प्रयोग मात्र ही मिलता है। 'सरस्वती' में ऐसे बहुत से निबन्ध मिलते हैं। उदाहरणार्थ—१६१० ई० की सरस्वती में प्रकाशित मैथिलीशरणगुप्त लिखित कीचक की नीचता 'कुंती और कर्ण' आदि इस रूप में हैं। कभी तो खण्डकाव्य की पद्धति पर एक ही छन्द में लिखे गए जैसे उपर्युक्त कुन्ती और कर्ण और कभी गीत प्रबन्ध के रूप में अनेक छन्दों के सम्मिश्रण के साथ उदाहरणार्थ, 'दीन' कवि कृत वीर पंचरत्न। इस युग

में पत्रगीति लिखने का भी एक क्रम चल पड़ा था, जैसे मैथिलीशरण गुप्त कृत पत्रावली। प्रबन्ध काव्य का दूसरा रूप खण्डकाव्य था। खड़ी बोली के अधिकांश खण्डकाव्य इसी युग में लिखे गए। उदाहरणार्थ, मैथिलीशरण गुप्त का जयद्रथ-वध (१९१०), किसान (१९७४) और पंचवटी (१९८२) रामनरेश त्रिपाठी का पथिक (१९२० ई०), प्रसाद का प्रेमपथिक (१९२० ई०) आदि। प्रबन्ध काव्य का तीसरा रूप महाकाव्य था। खड़ी बोली के प्रथम दो महाकाव्य 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' इसी युग में लिखे गए। यद्यपि संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सभी लक्षण इनमें नहीं पाए जाते फिर भी संवेदना तथा उद्देश्य की महनीयता के कारण ये महाकाव्य ही हैं।

द्विवेदीयुगीन कविता का दूसरा विधान मुक्तक रचना के रूप में मिलता हैं। मुक्तक के रूप में कवियों की अनेक प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं। पहली प्रवृत्ति सौन्दर्य व्यंजना की थी। उन कवियों की सौन्दर्य विषयक इयत्ता भी अपनी ही थी। उनकी यह प्रवृत्ति कहीं तो आलंकारिक चमत्कार के रूप में, कहीं उक्ति वैचित्र्य के रूप में और कहीं मार्मिक अनुभूति के रूप में प्रतिफलित हुई है। दूसरी प्रवृत्ति समस्यापूर्ति की थी और तीसरी प्रवृत्ति उपदेशक की। यह प्रवृत्ति कभी सीधे उपदेशक के रूप में मिलती है और कहीं अन्योक्ति के रूप में। कुछ में काव्यविधान का पालन किया गया। वे प्रबन्ध मुक्तक थे जिनमें प्रबन्ध का कथानक और मुक्तक की स्वच्छन्दता एक साथ थी। गीतों ने काव्य-विधान का चौथा रूप प्रस्तुत किया। मौलिकता की दृष्टि से इन गीतों के पाँच प्रकार हैं। भारत स्तव आदि गीत जो श्रीधर पाठक द्वारा लिखे गए हैं, यह संस्कृत के गीत गोविन्द के आधार पर लिखा गया है। पाठक, रामचरित उपाध्याय, वियोगी हरि आदि ने हिन्दी की भक्तिकालीन पद्य परम्परा की पद्धति पर रचना की यथा, रामचरित उपाध्याय का भव्यभारत। सुभद्रा कुमारी चौहान का झाँसी की रानी आदि गीत लोक गीत की परम्परा में हैं। उस युग के शोक गीत, प्रबन्ध गीत और पत्रगीत अंग्रेज़ी के एलेज़ी, वैलेड आदि के बहुत कुछ अनुरूप हैं। गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला आदि ने उपर्युक्त प्रभावों से युक्त गीत भी लिखे, जिनमें भाव, भाषा और छन्द सभी में नवीनता थी, जैसे पंत का परिवर्तन। शैली की दृष्टि से इन गीतों का प्रचार वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक, चित्रात्मक या पत्रात्मक था। इनका आकार एक छन्दोमय, मिश्र छन्दोमय या मुक्त छन्दोमय था। द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में भाषा में मँज जाने पर उच्च कोटि के कलात्मक गीतों की रचना हुई।

गद्यकाल का निर्माण काव्य विधान का पाँचवाँ रूप था। अब तक कविता का माध्यम पद्य ही रहा। गद्य काव्य के आविर्भाव और विकास के कारण भी द्विवेदी युग का हिन्दी साहित्य में निराला स्थान है। द्विवेदी जी ने स्वयं भी 'प्लेग स्तवराज' और समाचारपत्रों का विराटरूप लिखकर काव्यात्मक गद्य प्रबन्ध का प्रारम्भ किया। यह गद्यकाव्य के अभ्यास का यह युग था, इसलिए गद्यकाव्य का रूप इस समय निखर नहीं सका। विशुद्ध रूप न होने के कारण इसमें काव्योचित व्यंजना नहीं आ पाई। प्रसाद का प्रकृति सौन्दर्य, प्रलय और बालकृष्ण शर्मा कृत निशीथ-चिंता, रामकृष्णदास प्रणीत चेतावनी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री के कहाँ जाते हो, आदर्श आँसू, और फिर प्रताप नारायण श्रीवास्तव का विलाप, वियोगी हरि के पर्दा, वीणा, दर्शन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी का कवि आदि गद्य-काव्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। प्रसाद जी ने

गद्यकाव्यों में भाषा की क्लिष्टता तथा ग्रत्यधिक दार्शनिक गूढ़ता के कारण कवित्व नष्ट हो गया है। नवीन आदि में भी भाव तथा अभिव्यंजना की मार्मिकता नहीं है। बाद में इन कवियों ने उधर से मुँह फेर लिया। उस युग में गद्य काव्य निर्माण का विशेष श्रेय रायकृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री और वियोगी हरि को है।

विषय और शैली की दृष्टि से इस युग के गद्यकाव्यों के दो रूप मिलते हैं। पहले प्रकार के तो वे गद्यकाव्य हैं, जिनमें देश प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है और दूसरे प्रकार के ये हैं जिनको लौकिक या अलौकिक प्रेम पात्रों के प्रति प्रणय निवेदन हुआ है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि उनका मुख्य विषय प्रेम था, चाहे वह लौकिक हो, अलौकिक या देश प्रेम। यद्यपि देश प्रेम को लेकर लिखी गई कविताएँ अति न्यून ही हैं। द्विवेदी युग के अन्तिम वर्षों में सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा आंदोलन का बड़ा जोर था, इसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। फलतः जो देश-प्रेम, प्रार्थना तथा नम्र निवेदन से प्रारम्भ हुआ था उसे उग्र रूप धारण करना पड़ा। कवियों ने इस बात का अनुभव किया कि बिना रक्तपात और बलिदान के स्वतन्त्रता प्राप्ति असम्भव है। राय कृष्णदास के समुचित कर और चेतावनी नामक गद्य गीत इसी भावना के द्योतक हैं। इसी वर्ष कुँवर रामसिंह ने एक गद्य काव्य लिखा स्वतंत्रता का मूल्य, जिसमें उन्होंने भारतीय नारियों को देश की स्वतन्त्रता के लिए त्याग और बलिदान करने की प्रेरणा दी। अधिकांश गद्यकाव्य जो इस युग में लिखे गए हैं, वे किसी प्रेमपात्र के प्रति प्रेमी हृदय की वेदना के ही शब्द चित्र हैं। इस प्रेम का चित्रण कहीं-कहीं तो लौकिक हुआ है और कहीं वह पारलौकिकता की ओर भी उन्मुख है। ये गद्य काव्य वासवदत्ता, दशकुमार चरित, हर्ष-चरित तथा कादम्बरी आदि संस्कृत ग्रन्थों से अनेक बातों में भिन्न है। कथावस्तु की दृष्टि से वे प्राचीन काव्य आधुनिक उपन्यासों के पूर्व रूप हैं, इसलिए उन्हें आख्यायिका या कथा कहा गया है। आधुनिक गद्य काव्य में इस प्रकार की कथावस्तु का सर्वथा अभाव है। इसका कारण यह है कि काव्य साहित्य ही नहीं सारा वाङ्मय ज्ञान विस्तार के साथ-साथ अनेक भागों में विभाजित होता जा रहा है। इसीलिए तब की कहानी का अब उपन्यास, कहानी तथा गद्यकाव्य आदि कई रूप मिलते हैं। द्विवेदी युगीन गद्य काव्य लघुप्रबंध मुक्तक हैं और इनमें रसपरिपाक का प्रयास न करके कोमल भावनाओं की ही अभिव्यंजना मिलती है। हिन्दी गद्य गीतों में कल्पना की ऊँची उड़ान न होते हुए सरलता, लाक्षणिकता और मूर्तिवत्ता का इतना अधिक समन्वय है कि वह पाठकों पर अपना जबरदस्त प्रभाव छोड़ जाती है। इनमें गद्य भाषा की छंद-हीनता, वाक्य-विन्यास और व्याकरण संगति है, लेकिन साथ ही पद्य की सी लय और काव्यमय उपस्थापना भी है।

द्विवेदी जी ने अपनी मौलिक रचनाओं में वर्णिक छंदों का प्रयोग किया और अनुवादों में संस्कृत के द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा आदि का प्रयोग किया। इसका प्रभाव हिन्दी के अन्य कवियों पर भी पड़ा और लोगों ने अपनी रचनाओं में मात्रिक तथा वर्णिक छंदों के प्रयोग का उपक्रम किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपना प्रियप्रवास आद्यो-पान्त संस्कृत वृत्तों में ही लिख डाला। संस्कृत वृत्तों के यथोचित निर्वाह में कवियों को अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। मैथिलीशरण गुप्त आदि ने गीतिका, रूपमाला,

हरिगीतिका आदि हिन्दी के अप्रचलित छंदों का भी प्रयोग किया। नाथूराम शंकर शर्मा ने छंदों का मिश्रण करके एक तीसरा छंद बनाया। उस युग में लावनी की लय का विशेष प्रचार हुआ। हिन्दी के छन्दों का चरण और लावनी का अन्त्यानुप्रास क्रम लेकर मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामचरित उपाध्याय आदि ने हिन्दी में अनेक प्रबंध गीत लिखे। अँग्रेज़ी के सॉनेट तथा बंगला के पयार का भी हिन्दी में खूब प्रचार हुआ और प्रसाद आदि ने इन्दु तथा माधुरी में अनेक चतुर्दशपदी गीत लिखे। आगे चलकर छायावादी कवियों ने मुक्त और स्वच्छन्द की परम्परा चलाई। अन्त्यानुप्रास की दृष्टि से ये मुक्त छन्द तीन प्रकार के लिखे गए। एक तो वे थे, जिनमें आद्योपान्त अनुप्रास था ही नहीं, जैसे प्रसाद कृत महाराणा का महत्त्व या पंत की ग्रंथि। दूसरे वे छंद थे जिनमें अनुप्रास आदि से अंत तक किसी न किसी रूप में मिलता है, जैसे पंत की स्नेह तथा नीरवतार आदि रचनाएँ। तीसरे के मिश्रित रूप थे, जिनमें कहीं तो अनुप्रास था और कहीं नहीं था। यथा पंत का निष्ठुर परिवर्तन और सियारामशरण गुप्त की याद। निराला जी ने मुक्त छंदों का विशेष प्रचार किया। उनकी जूही की कली १९१७ में ही लिखी गई। मुक्त छन्दों में स्वच्छन्द छंदों के छन्द लय का स्थान स्वाभाविक भाव लय ने ले लिया। द्विवेदी जी ने उर्दू के बहरों का भी आदेश दिया। लाला भगवानदीन ने अपने वीर पंचरत्न में 'हरिऔध' ने अपने चौपदों और षटपदों में तथा अन्य कवियों ने भी अपनी रचनाओं में उर्दू बहरों का प्रयोग किया। द्विवेदी जी ने कवियों से यह भी आग्रह किया कि वे अपने सिद्ध छंदों का भी व्यवहार करें। गुप्त जी ने अपने सधे हुए छंद हरिगीतिका में ही भारत भारती और जयद्रथ वध लिखा। गोपालशरण सिंह ने घनाचरी और सवैयों में ही अपनी अधिकांश रचनाएँ कीं।

यद्यपि अनुकान्त कविता का भी प्रयोग द्विवेदी युग के पूर्व हो चुका था, सबलसिंह चौहान, सरजूप्रसाद मिश्र, श्रीधर पाठक तथा देवीप्रसाद पूर्ण आदि कवि तुकान्तहीन कविता कर चुके थे, लेकिन पूर्णरूप से उसका विकास इसी युग में हुआ। द्विवेदी जी की 'हे कविते' और पाठक के वर्षा-वर्णन तथा पोद्दार के 'गोपी-गीत' के सरस्वती में प्रकाशित होने के पश्चात् इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई। अतुकान्त का वास्तविक प्रवाह १९०३ से प्रारंभ होता है। सरस्वती ने इस प्रवाह को आगे बढ़ाया। १९०९ ने हरिऔध जी का काव्यपवन संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने कल्पित छंदों का प्रयोग किया। इंदु में राय कृष्णदास तथा प्रसाद की अनेक अतुकांत रचनाएँ प्रकाशित हुईं। सं० १९७० में प्रसाद का प्रेमपथिक तथा १९७१ में हरिऔध का प्रियप्रवास अतुकान्त वृत्तों में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार हिन्दी में अतुकान्त कविता का रूप प्रतिष्ठित होता गया। उपाध्याय ने प्रियप्रवास में भावानुकूल छंदों का प्रयोग किया, जैसे श्रृंगार और करुण की व्यंजना के लिए द्रुतविलंबित; वियोगवर्णन में मालिनी और मंदाक्रान्ता; उत्साह वर्णन में वंशस्थ आदि। इनके अतिरिक्त गुप्त, प्रसाद और पंत आदि कवियों ने भी भाषानुकूल छंदों में कविताएँ कीं।

द्विवेदी जी को काव्यभाषा का भी कायाकल्प करना पड़ा। 'सरस्वती' में आई हुई कविताओं में काट-छाँट करने के पश्चात् ही उन्हें छापने की अनुमति प्रदान करते थे। ब्रज भाषा के पश्चात् इनके युग में खड़ी-बोली में इतना अधिक परिष्कार किया गया कि भाषा अधिक

दुरूह तथा जटिल हो गई। बाद में इनको भी इस बात का ग्राभास हुग्रा कि ग्रधिक जटिल होने से कविता जनमानस को प्रभावित न कर सकेगी। ग्रतः इन्होंने कवियों को भाषा की सरलता तथा सुबोधता पर ध्यान देने को कहा। उन्होंने कवियों को केवल ग्रादेश ही नहीं दिया, वरन् उनकी ग्रर्थहीन या ग्रनर्थकारिणी भाषा का ग्रादर्श संशोधन भी किया। उनके इस सुधार का प्रमाण ग्रागे चल कर जयद्रथ वध, भारत-भारती, प्रिय प्रवास, पथिक, पंचवटी ग्रादि रचनाग्रों में मिला। गुप्तजी की रचनाग्रों को पढ़कर लोगों को हिन्दी से प्रेम हुग्रा ग्रौर ग्रधिक लोगों ने हिन्दी सीखना प्रारंभ भी किया। उस समय की सरस्वती को देखने से द्विवेदी जी की गुरुता का पता चलता है। इन्होंने कवियों से विषयानुकूल शब्द स्थापना, ग्रक्षर-मैत्री क्रमानुसार पद योजना ग्रादि का भी ग्रनुरोध किया।

द्विवेदी युग की कविता की भाषा पहले की ग्रपेक्षा ग्रधिक सृजनशील हुई। भाषा की सृजनशीलता के ग्राधार पर ही गद्य तथा पद्य की भाषा में ग्रंतर स्थापित किया गया, वैसे गद्य ग्रौर पद्य दोनों की भाषा खड़ी बोली रही। ग्रन्य भाषाग्रों के शब्द हिन्दी में ग्रहण किए गए ग्रौर उन्हें नए रूपों में प्रयोग में लाया गया। १९०९ में द्विवेदी जी ने कविता कलाप प्रकाशित किया, जिसमें द्विवेदी जी, राय देवीप्रसाद, कामता प्रसाद गुरु; नाथूराम शंकर शर्मा ग्रौर गुप्त की कविताएँ संकलित थीं। इनमें ग्रधिकांश कविताएँ खड़ी बोली की ही थीं। काव्य भाषा का परिष्कृत एवं परिमार्जित करने में द्विवेदी जी को ग्रधिक प्रयास करना पड़ा। पहले ग्रधिक क्लिष्टता एवं संस्कृत के शब्दों के ग्रत्यधिक से भाषा का क्लिष्ट रूप जो निर्मित किया गया यह दुर्व्यवस्था थोड़े ही दिनों तक रही। १९०९ में कविता कलाप में उसका सुधरा हुग्रा रूप देखने में मिला। इसमें पहले की ग्रपेक्षा शब्दों की तोड़-मरोड़ बहुत ही कम देखने को मिलती है। उनकी कविताग्रों में व्याकरण का सम्यक् रूप देखने को मिलता है। सन् १९१० में जयद्रथ वध को खड़ी बोली का श्रेष्ठ रूप उपस्थित हुग्रा। इसके बाद भारत भारती तथा प्रियप्रवास ने खड़ी बोली के विरोधियों को सदा के लिए चुप कर दिया। इस युग की काव्य भाषा में दो प्रकार के परिवर्तन हुए एक तो लाक्षणिक ध्वन्यात्मक एवं चित्रात्मक शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा, कविता में भाषा का विम्बात्मक रूप ग्रहण किया गया ग्रौर दूसरे भाषा में मुहावरों तथा कहावतों का ग्रधिक प्रयोग किया गया।

इस युग ने खड़ी बोली की प्रतिष्ठा के लिए काफी दिनों तक परिस्थितियों से संग्राम किया। द्विवेदी जी की काँट छाँट वाली पद्धति के डर से उस युग के महान से महान् कवियों को भी भाषा पर ग्रमल करना पड़ा। उस युग की कविता की सर्वव्यापक विशेषता उसका प्रसाद गुण है। पहले की बहुत सी कविताग्रों में प्रसाद, ग्रोज तथा माधुर्य गुणों की कमी रही। ग्रागे चलकर भाषा के मँज जाने पर यह त्रुटि दूर हो गई। प्रसाद गुण के कारण ही भारत-भारती की इतनी विशेषता रही। प्रियप्रवास ग्रादि रचनाएँ ग्रतिशय संस्कृत प्रधान होते हुए भी प्रसाद गुण से पूर्ण हैं। ग्रोज गुण का विशेष चमत्कार नाथूराम शर्मा शंकर, माखन लाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाग्रों में मिलता है। ग्रार्यसमाजी होने के कारण शर्मा की रचनाग्रों से ग्रक्खड़पन, निर्भीकता ग्रौर जोश की ग्रधिकता थी। माखन लाल चतुर्वेदी तथा सुभद्राकुमारी चौहान ग्रपनी कविताग्रों के द्वारा देश के स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय योग दे रहे

थे। अतः उनकी अभिव्यक्ति का भी ओजमय हो जाना स्वाभाविक ही था। राजनैतिक एवं धार्मिक हलचल ने कवियों के मन में एक क्रांति सी मचा दी। उन्होंने समाज की कुरीतियों एवं बुराइयों पर पूरा प्रहार किया। गुप्त, उपाध्याय, गोपालशरण सिंह की कविताओं में माधुर्यमयी व्यंजना हुई। कविता में विशेष रमणीयता आगे चलकर पंत भी कविताओं में मिलती है। इस युग भी कविताओं में सभी प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ। एक ओर से सरल एवं प्रांजल हिन्दी का निरलंकार सहज सौंदर्य है और दूसरी ओर संस्कृत भी अलंकारिक पदावली की छटा है। कहीं सरल वाक्य-विन्यास है तो कहीं छायावादी कवियों की अतिशय गूढ़ व्यंजना एक स्थान पर मुहावरों की झड़ी लगी हुई है, तो दूसरे स्थान पर उन्हें तिलांजलि भी दी गई है।

विषयवस्तु की दृष्टि से भी इस युग की कविता में सुधार हुआ है। अपने समकालीन कवियों को द्विवेदी जी ने इस बात का आदेश दिया वे विषय भोग के तथा अन्य रीतिकालीन संकुचित भावनाओं से अपने को ऊपर उठाए। फुटकल कविताओं को प्राकृतिक, सामाजिक आदि स्वतंत्र विषयों पर तथा आदर्श चरित्रों को लेकर प्रबंन्ध काव्य लिखने का निर्देश किया। यों तो, भारतेन्दु युग में भी शृंगारेतर रचनाएँ हुई हैं, लेकिन बहुत कम ही हैं। द्विवेदी युग ने शृंगारिकता से आगे बढ़ कर जीवन के अन्य पक्षों पर भी उचित ध्यान दिया। शृंगार प्रधान रचनाओं में भी प्रेम को व्यापक, विश्वजनीन रहस्योन्मुख रूप दे कर उसे उत्कृष्ट बना दिया। वर्ण्य विषय की दृष्टि से उस युग की कविताओं का दुहरा महत्त्व है। एक तो उन कवियों ने नवीन विषयों पर रचनाएँ कीं और दूसरे परम्परागत मानव प्रकृति आदि विषयों की नई दृष्टि से देखा। प्रकृति चित्रण विषयक कविताएँ प्रायः द्विवेदी युग के प्रथम-चरण में ही लिखी गईं। धार्मिक दृष्टि से इस समय काफी परिवर्तन हुआ। पौराणिक अवतारवाद से प्रभावित होकर भक्तिकालीन कवियों ने राम और कृष्ण को आदि देव के रूप में चित्रित किया था, लेकिन २०वीं शताब्दी में उनको एक महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया। इसलिए कि जनता उन्हें देव मान कर उनके सद्गुणों को अलभ्य न समझे, वरन् उन्हें एक महापुरुष के रूप में देखे और उनके सदगुणों को ग्रहण करने का प्रयास करे। आधुनिक काल का विज्ञानी युग उन्हें ईश्वर मानने को तैयार भी नहीं था। और उन कवियों को साहित्य जगत को एक ऐसी वस्तु देनी थी जो अनवतारवादियों तथा अवतारवादियों दोनों के लिए समान रूप से ग्राह्य हो। द्विवेदी युग के कवियों की दृष्टि केवल अवतार तक सीमित नहीं रही, उन्होंने विश्वकल्याण तथा लोकसेवा को भी ईश्वर का आदेश और उसकी प्रतिष्ठा का साधन समझा। इस रूप के प्रतिष्ठापक कवियों ने इस बात का अनुभव किया कि भगवान का दर्शन विलास और वैभव की आनन्दभूमि में रह कर नहीं किया जा सकता वह तो दीन दुखियों के दुख निवारण से ही मिलता है—

'मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुंज और वन में
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।'

तू आह बन किसी भी मुझ को पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में ।।

—अन्वेषण, रामनरेश त्रिपाठी

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए सब जगह नहीं हो क्या ?

—गुप्त, साकेत

दार्शनिक कवियों ने ईश्वर का घर किसी मंदिर या मस्जिद या गिरजाघर न बता कर दोनों का ही वतन बताया । संकुचित भावना से ऊपर उठ कर उनके विराट रूप को देखा—

जिस मन्दिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है,
जिस मंदिर में रंक नरेश समान रहा है,
जिसका है आराम प्रकृति का मन ही सारा,
जिस मंदिर के लिए इंदु दिनकर औ तारा ।

—नमस्कार, प्रसाद ।

सत्य बात यह है कि देवी देवताओं, कल्पित नायक नायिकाओं तथा प्रेमकथाओं के वर्णन करते करते हिन्दी कवि थक से गये थे, इसलिए उन्होंने विषय को परिवर्तित किया । उन्होंने साधारण-से-साधारण पुरुषों को भी नायक बनाया । उस संकुचित मापदण्ड से आगे बढ़ना आवश्यक भी था क्योंकि प्रत्येक युग की अपनी विशिष्ट मान्यताएँ होती हैं और समाज की बौद्धिकता के साथ-साथ उसमें परिवर्तन वांछनीय होता है । इस युग के कवियों की सामाजिक भावनाएँ चार रूपों में व्यक्त हुईं । समाज के सन्तप्त वर्ग में प्रति सहानुभूति-समाज को कुरीतियों से बचाने और सन्मार्ग पर चलाने का उपदेश उनकी बुराइयों का व्यंग्यात्मक उपहास ही था फलस्वरूप पतनोन्मुख समाज की बुराइयों के कारण भर्त्सना के प्रधान पात्र अछूत, किसान, अशिक्षित नारियाँ, विधवा और भिक्षुक बने । किसान तथा मज़दूर की ओर विशेष ध्यान दिया गया—

खपाया किए जान मज़दूर, पेट भरना धर उनका दूर ।
उड़ाते माल अधिक भरपूर, भलाई लड्डू मोतीचूर ।
सुधरने में है जाके देर, अभी है बहुत बड़ा अँधेर ।
अन्नदाता हैं धीर किसान, सिपाही दिखलाते हैं ज्ञान ।।

—'मर्यादा' भाग १५, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

उस समय की फुटकल कविताएँ अधिकता इन्हीं विषयों को लेकर लिखी गई हैं । गयाप्रसाद शुक्ल सनेही का कृषक क्रंदन, सियारामशरण गुप्त का अनाथ आदि सभी में किसान और मजदूरों के प्रति जमींदार, महाजन, पुलिस आदि के द्वारा किए गए घोर अत्याचारों का निरूपण हुआ । निराला ने अपने विधवा तथा भिक्षुक में इन दोनों की दयनीय दशा का बड़ा ही हृदय द्रावक चित्रण किया है ।

कवियों की उपदेश प्रवृत्ति मुख्यतः उस समय के ईसाई तथा पादरी आर्यसमाजी आदि

धर्मप्रचारकों की देन है। इन सभी धर्म के प्रचारकों ने अपने धर्मों का प्रचार देश-विदेश में घूम-घूम कर किया। उनकी सफलता का प्रभाव हिन्दी साहित्यकारों पर भी पड़ा और उन्होंने इसका अनुकरण किया। गुप्त जी ने अपने भारत भारती काव्य में ब्राह्मणों, शूद्रों, क्षत्रियों और वैश्यों को धर्म-कर्म की हीनदशा का परिचय कराते हुए उन्हें उन्नत होने के लिए विशेष उपदेश दिया। इस उपदेश के पात्र कवि आदि भी हुए—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।

—गुप्त, 'इन्दु'

सामाजिक अभिव्यक्ति का तीसरा रूप, व्यंगात्मक उपहास, तीन प्रकार के विषयों को लेकर उपस्थित किया गया। कहीं तो नई सभ्यता, संस्कृति और नए आचार-विचारों को अपनाने वाले नवशिक्षित युवकों की हँसी उड़ाई गई, कहीं अपरिवर्तनवादी धार्मिक कट्टरपंथियों के विरुद्ध धर्माडम्बर पर हास्य मिश्रित व्यंग्य किया गया—

"इस तरह के हैं कई टीके बने, जो कि तन के रोग को देते भगा।
जो न मनके रोग का टीका बना तो हुआ क्या लाभ यह टीका लगा।

—हरिऔध, 'सरस्वती'

कुछ भर्त्सनापूर्ण अभिव्यक्ति भी उन लोगों के प्रति की गई जो बार-बार समझाने पर भी आँख नहीं खोलते थे। इन कवियों का उद्देश्य समाज सुधार था। वे चाहते थे कि समाज अपनी सभ्यता, संस्कृति और वातावरण के अनुकूल केंचुल को छोड़ दें और मातृभाषा का सम्मान करे। साहित्यकारों के बारे में उनका मत था कि वे व्यर्थ की हठधर्मिता और खण्डन-मण्डन से दूर रहकर सच्चे ज्ञान का प्रसार करें। इसके लिए कवियों ने हास्य और व्यंग्य तथा पाखण्ड-विरोध की टीका-टिप्पणीवाली शैली अपनाई।

विदेशी शासन के कारण पराधीनता से देश को जो कष्ट उठाना पड़ा उसे देखकर इन कवियों का हृदय द्रवित हुआ और 'पराधीनता से मुक्ति' विषय को लेकर खूब लिखा। कवियों ने राजनीति में अपने को खूब डुबाया। इस युग के कवियों की राजनैतिक भावना मुख्यतः तीन रूपों में अभिव्यक्त हुई—नई पद्धति पर दी गई ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा, भारतीयों के विदेश-गमन और विदेशियों के भारत आगमन, विदेशी शासकों द्वारा देश के आर्थिक शोषण आदि ने कवियों को तुलनात्मक दृष्टि से आत्मसमीक्षा के लिए प्रेरित किया फलस्वरूप उन्होंने देश की वर्तमान अधोगति के प्रति ग्लानि और क्षोभ का अनुभव किया। कहीं देश की दीनदशा का चित्रण करते समय उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की गई और कहीं परिपीड़क शासकों आदि के अत्याचारों का निरूपण किया गया और कहीं पतित तथा हीनावस्था से मुक्ति पाने का प्रयास न करने वाले देशवासियों की भर्त्सना की गई।

अन्न नहीं अब विपुल देश में काल पड़ा है।
पापी पामर प्लेग पसारे पाँव पड़ा है।

—'सरस्वती', भाग १४

विदेशी शासन के कारण पराधीनता से देश को जो कष्ट उठाना पड़ा उसे देखकर इन

कवियों का हृदय द्रवित हुआ और 'पराधीनता से मुक्ति' विषय को लेकर पर्याप्त लिखा। कवियों ने राजनीति में अपने को डुबाया। इस युग के कवियों की राजनैतिक भावना मुख्यतः तीन रूपों में अभिव्यक्ति हुई—नई पद्धति पर दी गई ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा, भारतीयों के विदेश गमन और विदेशियों के भारत आगमन, विदेशी शासकों द्वारा देश के आर्थिक शोषण आदि ने कवियों को तुलनात्मक दृष्टि से आत्मसमीक्षा के लिए प्रेरित किया। फलस्वरूप उन्होंने देश की वर्तमान अधोगति के प्रति ग्लानि और क्षोभ का अनुभव किया। कहीं देश की दीनदशा का चित्रण करते समय उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की गई और कहीं परिपीड़क शासकों के अत्याचारों का निरूपण किया गया और कहीं पतित तथा हीनावस्था से मुक्ति पाने का प्रयास न करने वाले देशवासियों की भर्त्सना की गई।

अन्न नहीं अब विपुल देश में काल पड़ा है।
पापी पामर प्लेग पसारे पाँव पड़ा है॥

'सरस्वती', भाग १४

नौकरों की शाही सभ्यता का गला काटती है,
गाँधी के संघाती अँखियन में खटकत हैं।
भारत को लूट कूटनीति को उजाड़ रही,
न्याय के भिखारी ठौर-ठौर भटकत हैं,
जेलों में स्वदेशभक्त हिंसाहीन सज्जनों को,
पेटपाल पातकी पिशाच पटकत हैं,
कौन को पुकारें अब 'शंकर' बचा लो हमें,
गोरे और गोरों को गुलाम अंटकत हैं॥

'मर्यादा' भाग २२, नाथूराम शर्मा 'शंकर'

ज्ञान से मान से शक्ति से हीन हो,
धन से ध्यान से भक्ति से हीन हो।
आलसी भी महामूढ़ अति प्राचीन हो
सोचो देखो सभी से तुम्हीं आज दीन हो॥

'सरस्वती' मार्च सन् १९१६ ई०,
रामचरित उपाध्याय

भारत की इस दीनावस्था को भुलाने के लिए उसके अतीत का गुणगान किया गया और ऐसा करके कवियों ने संतोष लाभ किया। उस समय की कितनी रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें भारत के अतीत का चित्रण है। 'भारत भारती' के अनुकरण पर अन्य कई ग्रंथ ऐसे लिखे गए। कहीं भारत के अतीत रूप की देवता की भाँति व्यंजना की गई, कहीं देश के प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण हुआ, कहीं सीधे शब्दों में देश के प्रति अतिशय प्रेम की व्यंजना की गई। गुप्त तथा रामनरेश त्रिपाठी की उस समय की बहुत सी रचनाएँ इसी प्रकार के विषय को लेकर लिखी गई हैं। द्विवेदीयुगीन कवियों की स्वतंत्रता की आकाँक्षा ने भी राजनैतिक रूप धारण किया। इसके लिए उस समय के कवियों ने कहीं तो जनता में मेल जोल की भावना स्थापित करने के

लिए कहा, कहीं सरकार से प्रार्थना की गई, कहीं देश की दुर्दशा पर नवयुवकों का ध्यान आकृष्ट किया गया और कहीं बाहुबल से क्रान्ति करने का संदेश सुनाया गया। इन कविताओं के द्वारा भी उस समय की जनता में एक जागृति पैदा हुई और वे पराधीनता की बेड़ी तोड़ने के लिए विवश हो उठे।

प्राचीन काल से चले आते हुए प्रकृति वर्णन को भी इन कवियों ने अनेक रूपों में लिया। इन कवियों ने प्रकृति को अपने भावों के अनुकूल देखा और उसी के अनुसार उसका चित्रण भी किया। प्रकृति मानव की सहचरी है और मनुष्य उससे अपने कार्यों में मदद लेता है, युग-युग से कवि इससे प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। स्वच्छन्द विचार के कवियों ने प्रकृति से ही प्रेरणा लेकर उसे सहचरी, शिक्षक, सौन्दर्य की प्रतिमा, कोमल, उग्र आदि कई रूपों में देखा। भाव की दृष्टि से इस युग में प्रकृति का चित्रण दो रूपों में किया गया—एक तो भाव चित्रण और दूसरा रूप चित्रण। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करके इस युग के कवियों ने उसके अंतर्निहित गूढ़ तत्त्वों को दार्शनिक की भाँति देखा और रहस्यों का उद्घाटन किया—

> वही मधुऋतु की गुंजित डाल, झुकी थी जो यौवन के भार।
> 'अकिंचनता में निज' तत्काल, सिहर उठती जीवन है भार।

'आधुनिक कवि', 'अनित्य जगत'
सुमित्रानंदन पंत

रूप चित्रण में कलातत्त्व की प्रधानता थी। इसमें कवि ने चित्रकार की भाँति प्रकृति के ऐन्द्रिय दृश्यांकन द्वारा उसका बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयास किया—

> अचल के शिखरों पर जा चढ़ी, किरण पादप शीश विहारिणी।
> तरणि बिंब तिरोहित हो चला, गगन मंडल मध्य शनैः शनैः॥

'प्रियप्रवास', हरिऔध

स्थायी भाव के अनुसार प्रकृति के सौन्दर्य को कवि ने दो रूपों में देखा, एक तो उसके कोमल तथा मधुर रूप को और दूसरे उसके उग्र एवं विनाशकारी रूप को। जहाँ कवि के या उसके कल्पित पात्र के हृदय में मृदुभाव की प्रधानता रही वहाँ प्रकृति उसको सौंदर्य की प्रतिमा की भाँति दिखाई पड़ी। प्रकृति की छटा और उसके रमणीय रूप को देखकर वह मुग्ध हो गया और जहाँ उसके हृदय का यह कोमल स्वप्न टूट गया वहाँ उसने प्रकृति के उग्र तथा विनाशकारी रूप को देखा था—

> किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग।

'किरण', प्रसाद

जहाँ उसके हृदय में रति के प्रति घृणा की भावना का उदय हुआ वहाँ उसने कवि के विनाशकारी रूप को देखा। उदाहरण के लिए पंत का 'निष्ठुर परिवर्तन'। विभाव की दृष्टि से प्रकृति के दो रूप थे, उद्दीपन और आलम्बन। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण किसी रस या भाव की अनुकूल भूमिका के निर्माण के लिए किया गया जैसे गुप्त कृत 'पंचवटी' के प्रारम्भ में लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा के स्थायी भाव रति की सम्यक् अभिव्यंजना के लिए तदनुकूल उद्दीपन विभाव का चित्रण अपेक्षित था। इन्हीं भावों की सुन्दरता अभिव्यक्ति के लिए उद्दीपन

रूप में प्रकृति का चित्रण किया गया। जहाँ कवि ने या कवि कल्पित पात्र ने प्रकृति को तटस्थ भाव से देखा वहाँ उसका चित्रण आलम्बन रूप में किया 'उदाहरणार्थ 'पथिक' के प्रारम्भिक पद। जहाँ वस्तुस्थापन पद्धति पर चलते हुए कवि या उसके कल्पित पात्र ने अपने को प्रकृति से भिन्न मानकर उसका रूपांकन किया है, यथा—

कहीं झील किनारे बड़े-बड़े ग्राम गृहस्थ निवास बने थे।
खपरैलों में कद्दू करेलों की बेल के खूब तनाव तने थे॥

'प्रभा' भाग १
रूपनारायण पान्डेय

विधान की दृष्टि से द्विवेदी युग में प्रकृतिचित्रण प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो रूपों में हुआ। प्रस्तुत विधान की विशेषता यह थी कि उसमें प्रकृति चित्रण कवि का निश्चित उद्देश्य था। जहाँ प्रकृति आलम्बन के रूप में अंकित की गई वहाँ तो वह वर्ण्य विषय थी ही किन्तु जहाँ वह उद्दीपन रूप में अंकित की गई वहाँ भी वास्तविक वर्ण्य विषय उपस्थित था। अप्रस्तुत-विधान की विशेषता यह थी कि उसमें प्रकृति चित्रण कवि का उद्देश्य नहीं था। लक्षण, उपमा, रूपक आदि की सहायता से रमणीयता लाने की योजना मात्र की गई थी।

प्रकृति के द्वारा रतिव्यापार का निरूपण तथा प्रेमी और प्रेमिका के प्रेरणादायक तत्त्व जो रीतिकाल से चले आ रहे थे उनकी इस युग के कवियों ने उपेक्षा की। मानव मन की सहज वृत्ति प्रेम चलता रहा। उस प्रेम को शुद्ध तथा सात्विक रूप में प्रकृति के माध्यम से चित्रित किया गया। द्विवेदीयुगीन प्रेमप्रधान कविताओं में घोर शृंगारिकता, असंयम, व्यक्तिगत तत्त्व, वासना आदि के स्थान पर शिष्टता, संयम व्यापकता, लोक पावन तत्त्व आदि का समावेश हुआ। 'प्रिय-प्रवास' की राधा और 'साकेत' की उर्मिला का प्रेमांकन इसी की पुष्टि करता है। प्रेम भी विवाहित तथा अविवाहित दो रूपों में चित्रित किया गया है। वैवाहिक प्रेम में आधार के रूप में धर्म और समाज को लिया गया और उसकी एक सीमा निर्धारित की गई। प्रेम का आधार प्रथम दर्शन में आत्म समर्पण था जिसका धर्म और समाज से कोई सम्बन्ध नहीं जैसे 'ग्रंथि' और 'आँसू' द्विवेदीयुगीन प्रेमप्रधान कविता तीन रूपों में व्यक्त हुई है, प्रबन्ध, मुक्तक और प्रबन्ध मुक्तक।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी उस समय के कवियों ने अपनी लेखनी चलाई। 'प्रशंसा, आक्षेप आदि पर भी बहुत कुछ लिखा गया। अन्य विषयों पर लिखी गई कविताएँ अपना कोई विशेष स्थान नहीं बना पाई क्योंकि इनकी भाषा कोई अधिक परिमार्जित नहीं रही और जब भाषा ही गम्भीर तथा उदात्त नहीं है तो कृति का महत्त्व क्या हो सकता है। किसी भी उच्च कोटि की कृति के लिए भाषा का उच्च तथा समर्थ होना नितान्त आवश्यक है। इसके बाद अधिकतर प्रबन्ध काव्यों का निर्माण हुआ जैसे 'जयद्रथ बध' 'प्रिय-प्रवास' 'प्रेम पथिक' आदि। तृतीय चरण में प्रबन्ध मुक्तक गीत, गद्यकाव्य आदि सभी पर लेखनी चलाई गई। रति, हास, करुणा की व्यंजना हुई। इस युग के प्रबन्ध काव्यों विशेषकर'

'साकेत' और 'पंचवटी' में प्रयुक्त पात्रों के कथोपकथन में लक्षणा, व्यंजना, प्रत्युत्पन्नता आदि के आधार पर सौंदर्य की स्वाभाविक सृष्टि हुई। इस युग के काव्यों में विषय, भाषा, छंद इत्यादि सभी में विकास हुआ। आचार्य द्विवेदी का लगाया हुआ यह हिन्दी साहित्य का बिरवा बहुत अल्प समय में ही 'फल-फूल' देने लगा, यह उनके सतत् प्रयत्न का ही परिणाम था।

छायावाद युग

[१]

विषय-प्रवेश

गत दो महायुद्धों के बीच के युग को हिन्दी काव्य के इतिहास में छायावाद युग कहा जाता है। बीस पच्चीस वर्षों का यह छोटा-सा युग हिन्दी ही नहीं, सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में अपना सुनिश्चित और महत्त्वपूर्ण स्थान बनाकर अतीत की वस्तु हो गया है। अतः उसके सम्यक् विश्लेषण, विवेचन और मूल्यांकन के लिए यही सबसे उपयुक्त समय है, क्योंकि आज छायावाद के सम्बन्ध में आलोचकों और पाठकों में उस प्रकार की पूर्वग्रहयुक्त और पक्षपातपूर्ण धारणाएँ नहीं रह गई हैं जिनके फलस्वरूप उस युग की अतिशय प्रतिक्रियात्मक या प्रभाववादी आलोचना की सृष्टि हुई थी। आज के परिवर्तित युग में समीक्षा के स्वरूप में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो चला है और वह उत्तरोत्तर समाजशास्त्रीय मापदन्डों का सहारा लेने लगी है। समाजशास्त्रीय दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक और वस्तुपरक होती है। समाज-शास्त्रीय आलोचना इस बात पर विचार करती है कि आलोच्य काल में समाज के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और वैज्ञानिक विकास का स्तर क्या था और उस विकास का तत्कालीन साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा है? साथ ही, वह समाज के भावों और विचारों की ऐतिहासिक परम्परा, उनके प्रगतिशील नैरन्तर्य और विभिन्न संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन के सिद्धान्त को भी स्वीकार करती है। छायावाद के आविर्भाव के कारणों की खोज करने के लिए यहाँ इसी वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन किया गया है।

छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता के स्वाभाविक विकास की एक महत्त्वपूर्ण मंजिल है, जहाँ पहुँच कर वह भक्तिकालीन काव्य की ऊँचाई और गौरव को पुनः प्राप्त कर सकी है। ऐसा इसलिए कह रहे हैं कि हम छायावाद को विदेशी कविता और मतवादों का अन्धानुकरण नहीं मानते, जैसा कि कुछ परम्परावादी आलोचकों का मत रहा है। उनकी इस स्थापना का कारण सामन्तयुगीन भ्रम है कि साहित्य-कला के मान और मूल्य शाश्वत् होते हैं और उनमें परिवर्तन का कारण विदेशी प्रभाव या अनुकरण है। 'हमारे यहाँ यह था', 'हमारे यहाँ यह नहीं था' आदि नारे इसी भ्रम के परिणाम हैं जो धर्म समाज, नीति, राजनीति और साहित्य-संस्कृति सभी क्षेत्रों में पुनरावर्तनवाद संकीर्ण राष्ट्रीयतावाद या साम्प्रदायिकता के रूप में अभि-व्यक्त होते रहते हैं। यदि छायावाद मात्र प्रतिक्रिया या अनुकरण की देन होता तो उसे इतना अधिक महत्त्व और गौरव नहीं मिल पाता। छायावादी कविता सामन्ती रीतिमूलक काव्य से इतनी दूर हटी हुई है कि उसे स्वाभाविक परिवर्तन न कहकर विद्रोह कहा जा सकता है। किन्तु द्विवेदीयुगीन अर्थात् पुनरुत्थानवादी कविता से उसने विद्रोह नहीं किया और न उसकी प्रतिक्रिया

के रूप में उसका आविर्भाव ही हुआ। हमारी स्थापना है कि छायावाद द्विवेदीयुगीन कविता का अत्यन्त सहज और स्वाभाविक विकास है। कविता में यह विद्रोह या विकास कवियों या आलोचकों के कारण नहीं होता, बल्कि सामाजिक परिस्थितियाँ ही उसके मूल में होती हैं। इस दृष्टि से सामाजिक विकास का विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि आधुनिक हिन्दी कविता पूँजीवाद और राष्ट्रीयता की कविता है—जो संक्रान्तियुग (भारतेन्दु युग) में अंकुरित, पुनरुत्थान युग (द्विवेदी युग) में पल्लवित और विद्रोह युग (छायावाद युग) में पुष्पित-फलित हुई।

आधुनिक कविता का विकास भारत में उस तरह सीधे ढंग से नहीं हुआ जिस तरह यूरोपीय देशों, विशेष कर ब्रिटेन, में हुआ था। वहाँ आधुनिक साहित्य का प्रारम्भ चौदहवीं शताब्दी में व्यापक पुनर्जागरण की भावना के प्रसार के साथ हुआ और अठारहवीं, उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ वहाँ की कविता अपने विद्रोही रूप को प्राप्त कर सकी और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वह ह्रासमान हो गई। इसके ठीक विपरीत हमारे देश में पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की जो लहर सन्त और भक्ति-काव्यधारा के रूप में आई थी उसका स्वाभाविक विकास रीतिकाल में रुक गया। भक्तिकाल में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति का कारण देश की तत्कलीन आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता, भिन्न संस्कृतियों का संघर्ष-सम्पर्क और अन्तरावलम्बन तथा सामाजिक परिस्थितियाँ थीं, बाद में अंगरेज़ों के साम्राज्यवादी और आर्थिक आक्रमण के कारण पुनरुत्थान की वह स्वस्थ प्रवृत्ति दब गई और कविता ह्रासोन्मुख सामन्तवादी संस्कृति के बँधे पानी में चक्कर लगाती रही। सन् १६५७ ई० के विद्रोह के बाद फिर नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके कारण राष्ट्रीयता और पुनरुत्थान का नए रूप में प्रारम्भ हुआ। यहीं से हिन्दी कविता में आधुनिकता की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ने लगी जो आज तक उत्तरोत्तर विकसित होती आ रही है। इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक कविता गत्यात्मक है। वह सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उच्च-मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग के संघर्ष और विद्रोह की विभिन्न मंजिलों पर विभिन्न रूपों में दिखलाई पड़ती है। उसमें प्रारम्भ से अन्त तक एक शृंखलित विकास-क्रम है जो है। इस विकास-क्रम में प्रथम महायुद्ध के आस-पास परिवर्तन का वह स्वरूप स्पष्ट हो गया जिसे हम गुणात्मक परिवर्तन कहते हैं। इस समय हिन्दी कविता संक्रान्ति और पुनरुत्थान की मंज़िलों को पार कर विद्रोह के रास्ते पर आगे बढ़ी। यह विद्रोह देश की आर्थिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुआ और राजनीति, समाज-नीति, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला शिक्षा आदि सभी क्षेत्रों में किसी-न-किसी रूप में प्रतिफलित हुआ। जैसा प्रत्येक युग में होता है, इस काल की कविता का भी तत्कालीन राजनीतिक, दार्शनिक और समाजिक विद्रोही विचारों ने भी प्रभावित किया। यहाँ पहले उन परिस्थितियों तथा तज्जन्य प्रभावों और विचारों के सम्बन्ध में ही विचार किया जायेगा।

[२]

पृष्ठभूमि और प्रभाव

सन् १८५० ई० के बाद से ही हिन्दी कविता में एक महान परिवर्तन होने लगा था। प्रथम

महायुद्ध के बाद परिवर्तन का एक दौर पूरा हो गया। हिन्दी कविता संक्रान्ति और पुनरुत्थान की मंजिलों को पार कर इस युग में विद्रोह के रास्ते पर आगे बढ़ी। यह विद्रोह देश की आर्थिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुआ और राजनीति, समाजनीति, धर्म, दर्शन, साहित्य-कला सब में वह विविध रूप धारण करके सामने आया। यह भी कहा जा चुका है कि यह सामन्त-वाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उठते हुए पूँजीवाद का विद्रोह था। इस प्रकार इस युग की कविता पूर्णरूप से पूँजीवादी और राष्ट्रीयतावादी हो गई। यहाँ पूँजीवाद और राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि छायावादी कविता में इन्हीं प्रवृत्तियों की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

पूँजीवाद का प्रभाव

पूँजीवाद ने मानव सभ्यता के विकास में अत्यन्त क्रान्तिकारी कार्य किया है। जहाँ-जहाँ वह शक्तिशाली रहा है, उसने समाज के सभी सामन्ती सम्बन्धों को मिटा दिया है और मानव-समाज में विशुद्ध आर्थिक स्वार्थ का सम्बन्ध स्थापित किया है। वह उत्पादन और वितरण के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करता है। इस तरह उत्पादन की शक्तियाँ और सामाजिक सम्बन्धों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि ऊपर-ऊपर से वे सभी सामाजिक सम्बन्ध मिटते हुए से मालूम पड़ते हैं जो जोर-जबर्दस्ती और शोषण के लिये बने होते हैं। उनकी जगह यह सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार का सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार पूँजीवादी समाज में मनुष्य स्वतन्त्र हो जाता है। सामन्तवादी समाज में तो दास मालिक से और मालिक सामन्त से मजबूरन बँधा रहता है। किन्तु पूँजीवादी समाज में ये मजबूरी के सम्बन्ध टूट जाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होकर स्वतन्त्र बाजार में अपना माल बेचने और खरीदने का अधिकारी हो जाता है। वह अपने माल की तरह अपना परिश्रम भी बेचने के लिये स्वतंत्र होता है। इस तरह पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था व्यक्तिवादी अर्थ व्यवस्था है किन्तु यथार्थतः वह एक ऐसी घृणित अर्थ व्यवस्था है जिसमें बहुजन-समाज के लिये उस स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रह जाता। पूँजीवाद शोषण के सामन्ती तरीकों को हटाकर नये तरीके स्थापित करता है। इस तरह उसके स्वतन्त्रता के नारे का खोखलापन स्पष्ट हो जाता है। इस व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति का अधिकार हो जाता है जो राज्य के कानूनों द्वारा संरक्षित होता है। पूँजीवाद की दृष्टि से तो इस आर्थिक व्यवस्था में व्यक्ति स्वतन्त्र होता है किन्तु सामान्य जनता की दृष्टि से स्वतन्त्र बाजार और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार ही वे तरीके हैं जिनसे पूँजीवादी वर्ग शेष समाज का शोषण करता है। यही पूँजीवाद का अन्तर्विरोध है। पूँजीवादी संस्कृति को समझने के लिये इसे समझना आवश्यक है।

पूँजीवादी व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के द्वारा अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करता है, पर अन्य वर्गों के लिये यह स्वतन्त्रता परतन्त्रता से भी बदतर होती है। पूँजीवादी एक व्यक्तिवादी वीर की तरह होता है जो 'जन्मजात स्वतन्त्र होते हुए भी सब जगह बेड़ियों में जकड़े हुए मनुष्य' के बन्धनों को काटने का दम करता है। इस स्वतन्त्र बाजार की होड़ तथा व्यक्तिवाद के परिणाम-स्वरूप उत्पादन के साधनों के निरन्तर क्रान्तिकारी परिवर्तन होता रहता है। इसके बिना पूँजी-

वादी स्वतन्त्र बाज़ार की होड़ में नहीं टिक सकता। इस व्यवस्था में नये यन्त्रों के ग्राविष्कार होते हैं, सस्ता माल तैयार होता है ग्रौर गृह उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाते हैं। धीरे-धीरे पूँजीवादी व्यवस्था में निम्न मध्यवर्ग के लोग या तो मज़दूरी या नौकरी करने के लिये विवश होते हैं। फलस्वरूप समाज में एक तरह की ग्रव्यवस्था उत्पन्न होती है ग्रौर सारा समाज थोड़े से पूँजी-पतियों के चंगुल में फँस जाता है, बाज़ार में मन्दी ग्राती है, लड़ाइयाँ होती हैं, उद्योगों पर एकाधिकार कायम होता है, उपनिवेश कायम किये जाते हैं, साम्राज्यवाद ग्रौर फ़ासिस्टवाद का जन्म होता है ग्रौर मनुष्य सामन्तवाद से भी ग्रधिक भयानक गुलामी में फँस जाता है।

स्वतन्त्रता का भ्रम

पूँजीवादी साहित्य पूँजीवादी ग्रर्थव्यवस्था के ग्रनुरूप ही व्यक्तिवादी होता है। इस युग का कवि व्यक्तिवादी के रूप में उस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हुग्रा दिखलाई पड़ता है जो सामन्ती समाज व्यवस्था में उसे नहीं प्राप्त थी। वह हृदय के ग्रावेग ग्रौर सम्वेदना-शक्ति द्वारा ग्रपने 'स्व' का वाह्य वस्तुग्रों पर ग्रारोप करता है। वह स्वप्न द्रष्टा होता है जो ग्रपने स्वप्नों ग्रौर दमित वासनाग्रों की ग्रभिव्यक्ति करता है। उसका भ्रम ही एक ग्रोर सामान्ती बन्धनों से उसे मुक्त करने का कारण बनता है ग्रौर दूसरी ग्रोर काव्य के रूपविधान में भी निरन्तर परिवर्तन करता चलता है। पुराने सामाजिक बन्धनों को तोड़कर पूँजीवादी कवि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का जो स्वप्न देखता है वही उसके लिये नया बन्धन बन जाता है। उसकी ऐकान्तिकता स्वयं उसके लिये ग्रसह्य ग्रौर घातक बन जाती हैं। क्रमशः वह ग्रसामाजिक होता जाता है ग्रौर सारा जगत उसे बन्धन मालूम होने लगता है। उसकी यह ग्रसामाजिकता उसे समाज में नगण्य, ग्ररचित ग्रौर खोखला बना देती है। पूँजीवादी ग्रर्थव्यवस्था की भाँति पूँजीवादी कविता का ग्रन्तर्विरोध ही उसके जल्दी-जल्दी परिवर्तन का कारण होता है। जब तक वह पुरानी सामन्ती संस्कृति के बन्धनों को तोड़ने का कार्य करती है, तब तक शक्तिशाली ग्रौर प्रगतिशील रहती है। किन्तु जब वह नये पूँजीवादी बन्धनों का कारण बनती ग्रौर उन्हें स्थिर रखने में सहायता करती है तो उसका रूप प्रतिक्रियावादी ग्रौर ह्रासशील हो जाता है। ग्रपने ग्रन्त-विरोधों के कारण ही ऐसी परिस्थिति में कविता नये सर्वहारा वर्ग का साथ देने के लिए विवश हो जाती है।

स्वच्छन्दतावादी कविता में पूँजीवाद के उपर्युक्त भ्रम की ही ग्रभिव्यक्ति होती है। इस भ्रम में वह कल्पना भी छिपी रहती है जो ग्रागे ग्राने वाले यथार्थ की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। पूँजीवादी कविता बहुत ही संश्लिष्ट ग्रौर ग्रनेक रूपात्मक होती है। पर उसमें वह कल्पना बराबर दिखाई पड़ती है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मानस चित्र उपस्थित करती है। यह स्वतन्त्रता सामाजिक ग्रावश्यकता की चेतना जगाने के लिये नहीं, उसे भुला देने के लिये होती है। पूँजीवादी कवि व्यक्ति के सहजज्ञान को स्वतन्त्र मानता है ग्रौर समाज उस सहजज्ञान पर प्रतिबन्ध लगाता रहता है। इसलिये स्वच्छन्दतावादी कविता भी सहजज्ञान की स्वतन्त्रता में विश्वास करने के कारण सामन्ती सामाजिक नियन्त्रण के ही नहीं, पूँजीवादी परिस्थितियों के विरुद्ध भी उसी तरह विद्रोह प्रकट करती रहती है। स्वच्छन्दतावादी कवि यह विश्वास करता

है कि सामाजिक आवश्यकताओं की अस्वीकृति ही वह स्वतन्त्रता है जो आन्तरिक सहजोच्छ्वास द्वारा उसके अहम् को पूर्णता प्रदान करती है। इस तरह पूँजीवाद का कवि समाज के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं स्वीकार करता क्योंकि वह अपने को समाज से स्वतन्त्र और अपनी आत्मा के प्रति उत्तरदायी मानता है। किन्तु यह भ्रम मात्र होता है। सामन्ती सामाजिक सम्बन्धों से मुक्ति पा लने के बाद उसे और भी अधिक उलझे हुए सम्बन्धों का सामना करना पड़ता है। इन सम्बन्धों में वह और भी जकड़ जाता है, यद्यपि वह इनकी उपेक्षा करता और उनका कारण नहीं समझ पाता है। इस मानसिक स्थिति में उसका व्यक्तित्व अन्तर्मुखी हो जाता है। समाज तथा वाह्य जगत से असन्तुष्ट होकर वह या तो विद्रोही हो जाता है या अपने को समाज से अलग मानकर कल्पनिक स्वप्नलोक का निर्माण करता है। किन्तु प्रत्यक्षतः इन असामाजिक भावनाओं को व्यक्त करता हुआ भी अप्रत्यक्ष रूप से वह पूँजीवादी सामाजिक सम्बन्धों को ही अभिव्यक्त करता है। उसका अहम् अकेला उसी का नहीं बल्कि समूचे पूंजीवादी-वर्ग के व्यक्तियों का अहम होता है। अतः भ्रम पर आधारित होते हुए भी पूँजीवादी कविता असत्य नहीं होती। प्रारम्भिक समाजवाद की अव्यवस्था में फसलों को बोने या काटने के पहले सामूहिक उत्सव में कला का आयोजन होता था, ताकि अच्छी फसलें हों। इन उत्सवों के परिमाण स्वरूप नहीं, बल्कि व्यक्तियों के परिश्रम के फलस्वरूप फसलें अच्छी होती थीं। किन्तु लोगों का यह विश्वास अथवा भ्रम रहता था कि उनके उत्सव के फलस्वरूप ही फसलें अच्छी हुईं। उनके उक्त भ्रमपूर्ण विश्वास में भी सत्य इसी अर्थ में था कि जिस परिणाम की वे आशा करते थे उसकी प्राप्ति के लिये वे उत्सव उन्हें मानसिक बल प्रदान करते थे। इसी तरह पूँजीवादी युग में कविता जिस भ्रमपूर्ण स्वप्नलोक का निर्माण करती है उसमें भी सत्य की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति रहती है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य, स्वतन्त्र बाज़ार तथा यान्त्रिक उत्पादन द्वारा उस स्वप्न का प्रतिफलन होता है, यद्यपि पूँजीवाद का अन्तर्विरोध भी उस स्वप्न में निराशावाद, नियतिवाद, प्रतीकवाद आदि के रूप में कविता में दिखलाई पड़ता है।

पूँजीवाद और राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता कोई शाश्वत् भावना नहीं है। यह एक ऐसा परिवर्तनशील दृष्टिकोण है जो समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूप ग्रहण करता है। पूँजीवादी युग में स्वतन्त्र बाज़ार की नीति के कारण विभिन्न पूँजीवादी देशों के बीच बाज़ार प्राप्त करने की होड़ होती है, आर्थिक संघटन के नये-नये तरीके निकाले जाते हैं, उपनिवेशों की स्थापना होती है और साम्राज्य कायम होते हैं। अतः पूँजीवादी देशों में पारस्परिक होड़ के कारण पूँजीवादी राष्ट्रीयता का विकास होता है और दूसरी ओर औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शोषण की प्रतिक्रिया स्वरूप राजनीतिक जागृति होती है। हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद ने अपनी शोषण-नीति में समय समय पर इसलिये परिवर्तन किये कि उसकी शोषण-क्रिया अनन्त-काल तक चलती रहे। औद्योगिक विकास के साथ-ही-साथ उसके शोषण की भयंकरता भी बढ़ती गई, किन्तु उसके साथ राष्ट्रीय चेतना भी तीव्रतर होती गयी। उस राष्ट्रीयता में अनेक तरह के स्वार्थ जुड़े हुए थे। सन् १८५७ के विद्रोह के समय जो राष्ट्रीयता दिखाई पड़ी उसमें

सामन्ती चेतना अधिक थी, मध्यवर्गीय चेतना कम। उसके बाद सन् १९०० ई० तक जो राष्ट्रीय चेतना दिखलाई पड़ी उसमें विकासशील पूँजीवादी मध्यवर्ग का हाथ अधिक था, किन्तु सामन्त-वर्गीय चेतना भी उसके साथ-साथ चलती रही। सन् १९०० से १९१८ तक की भारतीय राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत और विकसित करने में सभी वर्गों का सम्मिलित सहयोग था। उठते हुए भारतीय पूँजीवादी वर्ग ने इस युग में राष्ट्रीयता की शक्तियों का खुलकर साथ दिया। इस युग में अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद ने राष्ट्रीयता की शक्ति को तोड़ने के लिये साम दाम-दण्ड भेद, सभी नीतियों का अवलम्बन किया। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय पूँजीवाद का विकास अपेक्षाकृत तेजी से होने लगा और ब्रिटिश शोषण नीति में भी ऐसा परिवर्तन हुआ जो ऊपर-ऊपर से तो राष्ट्रीय शक्तियों को सन्तुष्ट करने वाला प्रतीत होता था, किन्तु परोक्ष रूप से शोषण की गति को और भी तीव्र बनाने वाला था। अतः इस युग में निम्न मध्य वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। महात्मा गान्धी इस वर्ग के प्रतिनिधि थे। उन्होंने राष्ट्रीयता को नई दिशा दी और गोखले की समझौतावादी नीति तथा तिलक की उग्रवादी नीति दोनों का समय-समय पर अवलम्बन किया। यद्यपि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की महानशक्ति के सामने ये राष्ट्रीय शक्तियाँ अधिक शक्तिशाली नहीं थीं, फिर भी जब देश के कोने-कोने में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हो गई तो उसे बहुत दिनों तक दबा कर नहीं रखा जा सकता था। विभिन्न राजनीतिक दलों, पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों द्वारा राष्ट्रीय चेतना निरन्तर बढ़ाई जाती रही जो दूसरे महायुद्ध के बीच में सन् १९४२ की उग्र क्रान्ति के रूप में प्रकट हुई।

इस पर्यवेक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत की राष्ट्रीय चेतना के मूल में भी औद्योगिक विकास के लिये पूँजीवादी शक्ति ही काम कर रही थी। भारत का राष्ट्रीय जागरण भारतीय पूँजीवाद के विकास की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। इसलिये जब हम आधुनिक हिन्दी कविता पर विचार करते हैं तो उसमें राष्ट्रीय और पूँजोवादी मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति शुरू से अन्त तक पाते हैं। संक्रान्ति युग में ये दोनों मनोवृत्तियाँ मिली जुली थीं। किन्तु पुनरुत्थान-युग में पूँजीवाद ने सामन्तवाद और साम्राज्यवाद से समझौता किया जिसके फलस्वरूप हिन्दी-कविता में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति अधिक और राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति कुछ कम हो गई; साथ ही, स्थूल नैतिकता, मर्यादा और बौद्धिकता का बन्धन भी स्वीकार कर लिया गया। युद्धकाल में सभी वर्गों ने बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का साथ दिया, किन्तु उनकी आशाएँ पूरी नहीं हुई। अतः औद्योगिक विकास में बाधा डालने और राष्ट्रीय शक्तियों का दमन करने की ब्रिटिश नीति ने पूँजवादी वर्ग को साम्राज्यवाद-सामन्तवाद से अलग होकर राष्ट्रीय शक्तियों का साथ देने के लिए विवश किया। अंग्रेज़ों के स्वार्थ के कारण ही सही, प्रथम महायुद्ध और उसके कुछ वर्षों बाद तक भारतीय पूँजीवादी वर्ग कुछ शक्तिशाली हुआ। उसने यह अनुभव किया कि साम्राज्यवादी जुए को हटाए बिना उसका समुचित विकास नहीं हो सकता है और न भारत तथा विदेशों के बाजार पर ही उसका अधिकार हो सकता है। इस तरह सन् १९२१ के बाद एक तरफ़ तो ब्रिटिश सरकार, भारतीय नौकरशाही और सामन्तवाद में राष्ट्रीय शक्तियों को कुचलने के लिए साँठ-गाँठ ही रही थी और दूसरी तरफ साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए पूँजोपति वर्ग, किसान-मज़दूर-वर्ग और नौकरी पेशा मध्यवर्ग के बीच भी सहयोग बढ़

रहा था। इसका प्रभाव हिन्दी कविता पर भी पड़ा। वह पूँजीवादी भावनाओं को अभिव्यक्ति करने वाली और सामन्ती बन्धनों से मनुष्य के व्यक्तित्व को मुक्ति दिलाने वाली हो गयी। उसे ही 'छायावादी' काव्य कहा गया।

रोमाण्टिसिज्म और छायावाद

छायावाद कविता उस अर्थ में सामन्तवाद के विरुद्ध क्रान्ति करने वाली पूँजीवादी कविता नहीं थी जैसी यूरोप में अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की रोमाण्टिक कविता थी। इसके कई कारण थे। रोमाण्टिक कविता का विद्रोह केवल सामन्तवाद और उसके समर्थकों के विरुद्ध था; किन्तु छायावाद का विद्रोह सामन्तवाद के साथ ही साम्राज्य-वाद के विरुद्ध भी था। इससे उसका विरोध न तो सामन्तवाद पर ही पूर्णरूप से केन्द्रित हो सका और न साम्राज्यवाद पर। अतः उसमें रोमाण्टिक कविता जैसी शक्ति, वेग और तीव्रता न थी। दूसरी बात यह थी कि यूरोप में रोमाण्टिक कविता के समय तक पूँजीवाद का जितना विकास हो चुका था उतना भारतीय पूँजीवाद का द्वितीय महायुद्ध के बाद तक भी नहीं हुआ था। यूरोपीय पूँजीवाद को दुनियाँ का सारा बाज़ार प्राप्त था, किन्तु भारतीय पूँजीवाद को दूसरे देशों का कौन कहे, अपने देश के बाज़ार पर भी सीमित अधिकार ही प्राप्त थे। देशी रजवाड़े और अँगरेज शासक उसके सिर पर भूत की तरह सवार थे। इससे उसे खुलकर विद्रोह करने का साहस नहीं हुआ। वह मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों को कभी छिपकर और कभी खुलकर आर्थिक सहायता करता रहा। पूँजीपति वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलनों या कौंसिलों के चुनाव में अन्य वर्गों का नेतृत्व नहीं किया, वह केवल उनका साथ देता रहा। इसी कारण छायावादी कविता उस अर्थ में क्रान्तिकारी कविता नहीं थी जिस अर्थ में यूरोपीय रोमाण्टिक कविता थी, क्योंकि वह जिस वर्ग की भावनाएँ अभिव्यक्त करती थी वह स्वयं सच्चे अर्थ में क्रान्तिकारी नहीं था।

छायावाद का उद्भव

छायावाद युग में अनेक काव्य प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं जिनमें छायावाद, रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद, व्यक्तिवाद, अहम्वाद, राष्ट्रीयतावाद, मानवतावाद और प्रगतिवाद प्रधान हैं। इस युग में रोमाण्टिक कविता की स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति के साथ अन्य कई प्रवृत्तियों के मिल जाने का कारण यह है कि यूरोपीय साहित्य का भारतीय साहित्य पर सीधा प्रभाव पड़ा था और उधर यूरोपीय साहित्य इस समय तक रोमाण्टिसिज़्म (स्वच्छन्दतावाद) की मंज़िल को पीछे छोड़ कर और भी कई मंज़िलें पार कर चुका था। इंगलैण्ड में रोमाण्टिक विद्रोह का काल सन् १७५० से लेकर १८२५ तक था। उसके बाद सन् १६३० तक ह्रासोन्मुख स्वच्छन्दतावाद, प्रतीकवाद, भविष्यत्वाद, यथार्थवाद, अति यथार्थवाद आदि रहस्यवादी और घोर व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न, विकसित और मृत हो चुकी थीं। युद्धोत्तर काल में हिन्दी के कवियों ने यूरो-पीय साहित्य का अध्ययन किया और केवल रोमाण्टिक काल के वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज़, कीट्स, बायरन आदि से ही नहीं, बाद के अंग्रेज़ी कवियों, जैसे स्विनबर्न, ब्राउनिंग, आरनोल्ड, टॉमस हार्डी, वाल्ट ह्विटमैन, ईट्स, सरोजिनी नायडू आदि से भी प्रभाव ग्रहण किया। पर इनसे भी

अधिक और सीधा प्रभाव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता का पड़ा ।[1] ब्रह्मसमाजी होने के कारण विश्वकवि पर पाश्चात्य दर्शन और साहित्य का उतना ही प्रभाव था जितना भारतीय पुरातन साहित्य और संस्कृति का । उपनिषदों के ब्रह्मवाद, कबीर के योग और ज्ञानमार्ग और सूफ़ियों के प्रेममार्ग का उन्होंने पाश्चात्य रहस्यवादियों ब्लेक, वर्ड्सवर्थ आदि के जीवन दर्शन से सम्मिलन कराया था । राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ ऐसी थीं जिनसे रहस्यवादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिला । इसी समय सन् १९१३ ई० में रवीन्द्रनाथ की गीताञ्जलि को विश्वसम्मान मिला । उसका भी पुनरुत्थान युग के कुछ कवियों पर गहरा प्रभाव पड़ा । दर्शन, अध्यात्म और भक्ति की तरफ झुकाव होने पर उनके मूल स्रोतों की ओर कवियों का ध्यान जाना स्वाभाविक था । स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने भी कवियों को उस तरफ आकर्षित ही नहीं किया, विदेशों में वेदान्त का प्रचार कर और विदेशियों को अपना शिष्य बना कर उन्हें आश्चर्य में भी डाल दिया था । अतः इस युग के सभी प्रमुख कवियों ने प्राचीन भारतीय दर्शन का अध्ययन-मनन किया और भक्तिकालीन कवियों—कबीर, मीरा, जायसी से भी प्रभाव ग्रहण किया ।[2]

१—'पल्लव-काल में मैं उन्नीसवीं सदी के अंगरेज़ी कवियों—मुख्यतः शैली, वर्ड्स-वर्थ, कीट्स और टैनीसन से विशेष रूप के प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीन युग का सौन्दर्य बोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है । रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की मशीन युग की सौन्दर्य कल्पना में ही परिधानित किया है । पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का 'स्लोगन' भी रहा है । इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ और यदि लिखना एक उपचेतन व्यापार (अनकॉन्शस प्रासेस) है तो मेरे उपचेतन ने यत्र-तत्र इन कवियों की निधियों का उपयोग भी किया है और उसे अपने विकास का अंग बनाने की चेष्टा की है ।'

—सुमित्रानन्दन पन्त—आधुनिक कवि की भूमिका, पृष्ठ २३

२—'वीणा और पल्लव' विशेषतः मेरे प्राकृतिक साहचर्य-काल की रचनायें हैं । तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे पूर्ण विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी जिसके सिवा उस समय मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी । स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से प्रकृति-प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई ।'

—पन्त-आधुनिक कवि, पृष्ठ ३

'जो रहस्यानुभूति हमारे ज्ञान क्षेत्र में एक सिद्धान्त मात्र थी वही हृदय की कोमलतम भावनाओं में प्राण-प्रतिष्ठा पाकर तथा प्रेममार्गी सूफ़ी सन्तों के प्रेम में अतिरंजित हो कर ऐसे कलात्मक रूप में अवतीर्ण हुई जिसने मनुष्य के हृदय और बुद्धिपक्ष दोनों को सन्तुष्ट कर दिया । एक ओर कबीर के हठयोग साधनारूपी सम-विषम शिलाओं से बंधा हुआ दूसरी ओर जायसी के विशद प्रेम-विरह की कोमलतम अनुभूतियों की वेला में उन्मुक्त यह रहस्य का समुद्र आधुनिक युग को क्या दे सका है, यह भी कहना कठिन होगा ।'

—महादेवी वर्मा—आधुनिक कवि—पृष्ठ १०

गान्धी जी ने भी भारतीय और पश्चात्य दर्शनों का समन्वय करके उन्हें जीवन में व्यवहृत करने का प्रयत्न किया। अतः उनके दर्शन का भी कवियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इसी समय सन् १९१७ ई० रूस में राज्य क्रान्ति हुई और समाजवादी राज्य की स्थापना हुई। इससे संसार भर के लोगों का ध्यान मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट हुआ। टालस्टॉय और रस्किन ने ईसाई धर्म की पवित्रता, त्याग और भक्ति के आदर्शों का जो उपदेश किया था, गान्धी जी के माध्यम से उनका प्रभाव भी कवियों पर पड़ा। इस प्रकार रहस्यवाद और मानवतावाद की विचार धारा हिन्दी कविता में भी अभिव्यक्त होने लगी।

व्यक्तिवादी विद्रोह की भावना

जीवन और काव्य को उक्त परिस्थितियों और दार्शनिक विचारधाराओं ने विविध रूपों में प्रभावित किया। पूँजीवाद विकासशील था, अतः उसकी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति पर ही पहले विचार किया जायेगा। पहले ही कहा जा चुका है कि पूँजीवाद व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के द्वारा अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। भारत में भी पूँजीवाद के विकास के साथ व्यक्तिवाद का विकास हुआ और हिन्दी कविता में छायावाद के रूप में व्यक्तिवादी भावनाएँ ही अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई। छायावादी कविता, से चाहे वह पार्थिव प्रेम की हो या आध्यात्मिक प्रेम की, चाहे राष्ट्रीयता हो या मानवतावादी कवि अकेला एक योद्धा के रूप में समाज के बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए जूझता हुआ दिखलाई पड़ता है। संक्रान्ति युग में अभी इस व्यक्तिवादिता का अधिक विकास नहीं हुआ था, अतः उस काल की कविता में सामाजिकता की भावना अधिक थी। पुनरुत्थान युग में भी बहुत कुछ यही बात थी। किन्तु विद्रोह युग में पूँजीवाद के विकास, महायुद्ध के पश्चात्य प्रभाव और मध्यवर्ग की राजनीतिक असफलता आदि कारणों ने मिल कर व्यक्तिवाद के विकास में बहुत सहायता की। पाश्चात्य साहित्य और प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रभाव की बात ऊपर कही जा चुकी है। इन सब कारणों से इस युग के नवयुवक कवियों का उग्र रूप से विद्रोही हो जाना या वर्तमान समस्याओं और उलझनों से हट कर अध्यात्म, अतीत अथवा प्रकृति की एकान्त भावना क्षेत्र में पलायन करना स्वाभाविक था। विद्रोह दो रूपों में व्यक्त हुआ—सीधी और स्पष्ट राष्ट्रीय कविताओं के रूप में और प्राचीन रूढ़ियों, विचारों, आदर्शों और काव्यनियमों के बन्धन तोड़कर स्वतन्त्र और मुक्त भाव प्रवाह के रूप में। इस तरह राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना काव्य क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से भी व्यक्त हुई और साथ ही, असन्तोष की भावना की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति—रहस्यवाद—के रूप में भी।

राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गान्धी के रूप में जिस तरह देश की आत्मा स्वतंत्रता-प्राप्ति के नये प्रयोगों में लीन हुई; देश नवजीवन-प्राप्ति के नये मार्ग ढूँढ़ने में जिस तरह प्रवृत्त हुआ, उसी तरह साहित्य-क्षेत्र में भी अनेक नये प्रयोगों और विविध स्वतंत्र मार्गों की खोज की गई। राजनीतिक जीवन की असफलता, निराशा, असन्तोष, घृणा, विराग और साथ ही भविष्य की आशा, उमंग, प्रेम, सद्भावना, सुख-संतोष आदि मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति काव्य में विभिन्न प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष रूपों में हुई। छायावाद युग की काव्यधारा में विविधता के बीच भी एक सामान्य एकता—स्वातन्त्र्य-प्रेम—के दर्शन होते हैं। यह व्यक्तिवादी चेतना का ही परिणाम हैं।

किन्तु इस स्वतन्त्रता को भावना की खुल खेलने की स्वतन्त्रता न थी। एक ओर तो शासकों का प्रबल दमनचक्र सिर पर निरन्तर घूम रहा था, दूसरी ओर समाचार पत्रों को तथा भाषण और लेखन को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं थी। इन कारणों से राजनीतिक स्वतन्त्रता की वाणी को प्रच्छन्न, व्यंग्यात्मक और प्रतीकात्मक होना पड़ा। दूसरी ओर सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और साहित्यिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में भी सरपट दौड़ लगाना सम्भव नहीं था, क्योंकि समाज अभी पुराने मार्ग पर ही चल रहा था और मध्यवर्ग की नई पीढ़ी उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहती थी। यह पीढ़ी केवल काव्य में ही नहीं, जीवन में भी परिवर्तन लाना चाहती थी क्योंकि समाज के बन्धनों में उसका गला घुट रहा था। पुनरुत्थान युग ने समाज की बुराइयों का ही विरोध किया था, परम्परागत मान्यताओं, आदर्शों और नैतिक सिद्धान्तों से वह चिपका रहा। किन्तु छायावाद युग का विरोध मूल में ही था। वह वाह्य उपकरणों और कर्मकाण्डों को उतना महत्त्व न देकर आन्तरिक क्रान्ति चाहता था। सामाजिक सम्बन्धों और नैतिक आदर्शों में उलटफेर न तो समाज के अशिक्षित और पुरानी रूढ़ियों में पले सामान्य जन ही सहन कर सकते थे और न पुराने खेवे के साहित्यिक ही। नई पीढ़ी के नवयुवक पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति से प्रभावित थे; उनके विचार और आदर्श भी वैसे ही ढल रहे थे। किन्तु अपने जीवन में वे अपने स्वप्नों को सत्य नहीं कर पाते थे। वस्तुतः जीवन में अपने आदर्श को ढालने की उन्हें स्वतन्त्रता नहीं थी। स्वच्छन्द प्रेम और विवाह में अवरोध, पारिवारिक सम्बन्धों का निर्वाह, मानसिक विकास के साधनों का अभाव, बेकारी आदि प्रश्नों और उलझनों ने नई पीढ़ी की स्वतन्त्रता के मार्ग का दृढ़ता से अवरोध कर रखा था। शिक्षित नवयुवक समाज, विशेष कर उसके चेतन वर्ग—कवियों, और कलाकारों—में घोर असंतोष, निराशा और विद्रोह की भावना का आना स्वाभाविक था। अतः काव्य में भाग्यवाद, दुःखवाद, निराशावाद, करुणा और देश प्रेम आदि की अभिव्यक्ति छायावाद युग में विशेष रूप से हुई।

प्रथम महायुद्ध का प्रभाव

जैसा पहले ही कहा जा चुका है, प्रथम महायुद्ध का हिन्दी साहित्य पर व्यक्त और अव्यक्त रूप से बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। यह महायुद्ध भारत के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में एक नवीन चेतना लेकर आया। उसके पहले भारत के सम्मुख मुख्यतः अपना ही प्रश्न रहता था। वस्तुतः सन् १९१४ के पहले भारत की संसार के अन्य देशों के बारे में उतनी अधिक जानकारी नहीं थी। यूरोप में एक नवीन वैज्ञानिक और यान्त्रिक-सभ्यता का चरम विकास हो रहा है, यह तो भारतीय जान गये थे; किन्तु उसका परिणाम कैसा होगा, इसका परिचय उन्हें यहायुद्ध से ही मिला। इसके पहले ही सन् १९०४ के रूस जापान युद्ध में जापान की विजय से एशिया की हीनता की मनोवृत्ति समाप्त हो चली थी और उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा था। पश्चिम के अनुकरण से जापान ने यह शक्ति अर्जित की थी, यह बात भी स्पष्ट हो गई थी। किन्तु पश्चिम की सभ्यता की वाह्य चकाचौंध के भीतर क्या छिपा हुआ है, यह बात इस महायुद्ध ने ही स्पष्ट की। युद्ध में भारतीय सैनिक काफी संख्या में विदेश भेजे गए थे, समाचार पत्रों में युद्ध के समाचार भरे रहते थे; अनेक युद्धों में भारतीय सैनिकों ने विजय

प्राप्त करके योरोपीय सैन्यशक्ति पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित की थी। इन सब बातों से भारतीय जनता का दृष्टिकोण बहुत व्यापक, उनकी अन्तर्राष्ट्रीय भावना अधिक विस्तृत और राष्ट्रीय गौरव की भावना अधिक तीव्र हो गई। इस युद्ध ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आज के इस वैज्ञानिक युग में, जब कि जहाज, रेल, वायुयान, रेडियो आदि ने देशों की भौगोलिक दूरी कम करके उनकी सीमाएँ तोड़ दी हैं, भारत भी इस विशाल विश्व का एक अंग बन गया है और संसार की प्रत्येक घटना का उसके लिये भी उसी तरह का महत्त्व है, जैसे अन्य देशों के लिए।

युद्धकाल में युद्ध का प्रभाव उतना लक्षित नहीं हुआ जितना उसके बाद। यह प्रभाव विश्वव्यापी था जो अनेक रूपों में प्रकट हुआ। पहले तो इस युद्ध में लाखों आदमी मारे गये, अनगिनत आदमी पंगु बनकर जीवित मृतक हो गये, अपार धनराशि, कला और सभ्यता की प्राचीन असंख्य वस्तुएँ और संस्कृति के प्राचीन चिह्न नष्ट हो गये जिसका प्रभाव विश्व की नैतिकता पर बहुत पड़ा। दूसरे पूँजीवाद और साम्राज्यवाद अपने नग्नरूप में संसार के सामने आ गये। इस वैज्ञानिक विकास और अतिशय भौतिकता के विरोध में टालस्टॉय आदि कुछ मनीषी पहले ही से स्वर ऊँचा कर रहे थे। दूसरी ओर मार्क्स और एंजिल्स जैसे विद्वान इसके पूर्व ही भौतिक दर्शन को प्रतिपादित करके इस वैज्ञानिकता और यांत्रिकता का समर्थन करके तज्जन्य आर्थिक विषमता और पूंजीवाद का विरोध तथा वर्ग-संघर्ष का समर्थन कर गये थे। इस युद्ध ने स्पष्ट कर दिया कि जब तक उत्पादन के ये वैज्ञानिक साधन पूँजीपतियों के हाथों में रहेंगे तब तक न तो आर्थिक वैषम्य, भीषण गरीबी और बेकारी मिटेगी और न परतन्त्र देशों की गुलामी ही मिटेगी; साथ ही, अपना विक्रय क्षेत्र बढ़ाने के लिये पूंजीवादी और साम्राज्यवादी राष्ट्रों की प्रतिस्पर्धा और तज्जन्य युद्ध भी बने ही रहेंगे। रूस की राज्य क्रान्ति और तुर्की के उदय ने संसार के सामने जन-शक्ति और राष्ट्रशक्ति का महत्त्व और भी अधिक स्पष्ट कर दिया।

इन सभी बातों का प्रभाव भारत पर भी पड़ना अवश्यम्भावी था। सर्वप्रथम ब्रिटेन ने भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचल कर अपना साम्राज्यवादी रूप स्पष्ट कर दिया। फिर वार्सलीज़ की सन्धि में जर्मनी के साथ मित्र राष्ट्रों ने जो व्यवहार किया इससे उनकी साम्राज्यवादी और पूँजीवादी नीति पूर्णतया स्पष्ट हो गई। युद्ध के बाद संसार भर में जो आर्थिक संकट शुरू हुआ उसका सबसे अधिक प्रभाव भारत पर पड़ा, जिसके सम्बन्ध में पिछले अध्याय में में विचार किया जा चुका है। संसार के अन्य देशों में युद्धजनित अवसाद और पूँजीवाद व्यवस्था के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसकी लहरें भारत में भी पहुँचीं। गाँधी जी ने टालस्टॉय के भौतिकता-विरोधी तथा आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्तों से प्रेरित हो कर अपना सत्याग्रह संग्राम शुरू किया। गाँधीवाद युद्ध जर्जर विश्व, विशेष कर परतंत्र और बलहीन भारत, के लिये बहुत ही आकर्षक प्रतीत हुआ। उधर रूस में श्रमजीवी क्रान्ति हो गई थी, राजतन्त्र उलटकर दुनियाँ के छठें भाग में समाजवादी शासन-व्यवस्था कायम की गई थी जो संसार के लिए के लिए आश्चर्य-जनक वस्तु बन रही थी। संसार भर के मज़दूरों का संगठन तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ संसार भर में श्रमजीवी क्रान्ति करने के लिये प्रयत्नशील था जिससे सभी देशों में पूँजीपतियों और श्रम-जीवियों के बीच संघर्ष होने लगे। चीन में सनयातसेन ने रूस की सहायता से क्रान्ति कर दी

थी। इन सब विश्वव्यापी घटनाओं का व्यक्त-अव्यक्त प्रभाव भारत पर भी पड़ रहा था। भारतीय जनता संसार के विविध आन्दोलनों के परिचय के उपरान्त अधिक साहस और आत्म-विश्वास से युक्त हो गई। इस तरह भारतीय मध्यवर्ग की चेतना महायुद्ध के बाद बिलकुल बदल गयी। महायुद्ध के प्रभाव और योरोपीय तथा बंगला साहित्य के अध्ययन के कारण हिन्दी का स्वरूप बिलकुल बदल गया।

[३]

प्रेरणा-स्रोत और विकास-क्रम

मध्यवर्गीय चेतना का परिवर्तन छायावादी कविता में निम्नलिखित रूपों में दिखलाई पड़ता है—

१—सामन्ती और पुनरावर्तनवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह

२—व्यक्तिवादी और व्यक्ति स्वातन्त्र्यमूलक आदर्शों की स्थापना

३—बुद्धि के विरुद्ध हृदय का और स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह

४—यथार्थ के बन्धनों से ऊब कर प्रकृति, रहस्य, कल्पना और क्रान्ति के स्वप्नलोकों में पलायन

५—ह्रासोन्मुख पूँजीवादी प्रवृत्तियाँ—कलावाद, निराशावाद, अहम्वाद आदि का विकास

६—सामाजिक यथार्थवाद या प्रगतिवाद का प्रारम्भ

सामन्तवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध पूँजीवादी विद्रोह का प्रारम्भ संक्रान्ति युग में ही हो गया था। सामन्तवादी व्यवस्था में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का ही आधिपत्य रहता है और उस रूढ़िवादी परम्परा को तोड़े बिना व्यक्ति को स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। संक्रान्ति युग और पुनरुत्थान युग में धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक रूढ़ियों का तो विरोध किया गया पर धर्म का सर्वथा त्याग नहीं किया गया था। हिन्दू जाति या राष्ट्र का जागरण, भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान, सामाजिक सुधार आदि पुनरावर्तन की प्रवृत्तियों के रूप में धर्म का प्रभुत्व फिर भी बना रहा। पर इस युग में धर्म का प्रभुत्व बहुत कुछ घट गया और उसकी जगह आध्यात्मिकता और दार्शनिकता ने ले ली। छायावादी कवियों ने प्राचीन भारतीय दर्शन और उत्कर्षकालीन (भक्तिकालीन) काव्य से प्रभाव ग्रहण किया और साथ ही रीतिकालीन काव्य-परम्परा का खुले रूप में विरोध भी किया।[1] इस तरह इस युग में सामन्ती और दरबारी संस्कृति के बन्धनों से

१. भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक स्वर रिम-झिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपलवृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है। घन की घहर, भेंकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया और बेचारे औपमायन की बेटी उपमा को तो बांध ही दिया?—किसलय.

कवियों ने मुक्ति प्राप्त की।[1] भाषा, छन्द, काव्य-विषय, कल्पना, सबमें प्राचीन लकीरों को छोड़कर नये रास्ते अपनाये गये। रीतिकाल के विरोध में पुनरुत्थान युग में जो स्थूल नीतिमत्ता, थोथी उपदेशात्मकता और नीरस वर्णनात्मकता का विधान हुआ था, उससे नये कवि के उन्मुक्त मन को सन्तोष नहीं हुआ। वह स्थूल शृंगार के बन्धनों को तोड़ कर पूँजीवाद और सामन्तवाद के समझौते से उत्पन्न मर्यादावाद और बुद्धिवाद के बन्धनों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था क्योंकि इनसे उसकी उन्मुक्त कल्पना और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के पंख बंध जाते थे। उसने स्थूल बन्धनों से विद्रोह करके सूक्ष्म मनोलोक में अपने नीड़ की रचना की। अतिशय बौद्धिक नीरसता की जगह भावुकता और हार्दिकता की, भौतिक जीवन दृष्टि की जगह अध्यात्मिक जीवन दृष्टि की, स्थूल ऐन्द्रिय शृंगारिक भाव या प्रेम के पूर्व बहिष्कार की जगह आदर्शवादी (प्लेटॉनिक) प्रेम और स्वाभाविक प्रेम की प्रतिष्ठा हुई। यही नहीं, देश, जाति, प्रकृति और विश्व के प्रति भी प्रेम की मनोवृत्ति का प्रसार हुआ। इस तरह छायावाद में रीतिकाल या ह्रास-युग की काव्य परम्परा के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया की परिणति विद्रोह के रूप में हुई। रीतिकाल का सौन्दर्य बोध इतना रूढ़ और स्थूल हो गया था और उसका प्रवाह इस तरह धार्मिक, नैतिक और शास्त्रीय नियमों से अवरुद्ध था कि बदलती हुई आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक और अनिवार्य था। पुनरुत्थान युग में एक सीमा तक यह कार्य हुआ। भाषा बदली पर छन्द संस्कृत के वर्णवृत्त बने रहे। वासना का रंग छूटा तो उपदेश की रंगहीनता आ गयी और रस के ऊपर इतिवृत्ति चढ़ बैठी। इस तरह काव्य धारा महलों की बावलियों कूपों से निकली तो जरूर, पर संकीर्णता के उलझे जटाजूट में भटकती रह गयी। स्थूल सौंदर्य-बोध के विरोध में पुनरुत्थान युग के काव्य ने सौंदर्य को ही निर्वासित कर दिया। छायावादी कवि ने कविता को संकीर्ण भूमि से उठाकर सूक्ष्म और आन्तरिक सौन्दर्य के आकाश में पहुँचा दिया जहाँ से वह एक ओर तो विपुला पृथ्वी का दर्शन करने लगी और दूसरी ओर निर्बाध काल के प्रवाह से होड़ लेने लगी।

जब हम कहते हैं कि छायावादी कविता के निर्माण में पूँजीवाद का बहुत अधिक योग है तो हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि छायावादी कवि पूँजीपति, सेठ या दूकानदार था और वह अपनी कविता का क्रय-विक्रय करता था। इसके विपरीत छायावादी कवि पूँजीवाद के दुष्प्रभाव के कारण जीवन के यथार्थ से उत्तरोत्तर दूर होता गया। राष्ट्रीय पूँजीवाद ने सामन्तवादी समाज-व्यवस्था को तोड़ने में पूँजीवादी साम्राज्यवाद की सहायता की तो मध्यवर्गीय कवि ने

प्रवाल, लाख आदि और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की (?) शुक, दादुर, ग्रामोफ़ोन इत्यादि।

(पन्त—पल्लव की भूमिका, पृष्ठ १०)

१ एक दीर्घकाल से कवि के लिए सम्प्रदाय अक्षयवट और दरबार कल्पवृक्ष बनता आ रहा था और इस स्थिति का बदलना एक व्यापक उलटफेर के बिना सम्भव ही नहीं था जो समय से सहज हो गया।

(महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ५२)

भी सामन्ती विचारों और परम्पराओं के बन्धनों को तोड़ा। यदि पूँजीवाद ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का आदर्श-खड़ा कर स्वतन्त्रता का भ्रम उत्पन्न किया तो पूँजीवादी कवि ने भी रीतिकालीन परम्पराओं से मुक्ति का भ्रम उत्पन्न किया। उन परम्पराओं से मुक्ति गाकर एक बार पुनरावर्तन के भ्रम की स्थापना हुई और दूसरी बार छायावाद के भ्रम की। पुनरुत्थान युग में स्थूल सौन्दर्य के निराकरण के लिए सौन्दर्यबोध का ही बहिष्कार किया गया तो छायावाद युग में स्थूल सामाजिक आदर्शों और रूढ़ियों के निराकरण के प्रयत्न में समाज से ही मुक्ति पाने का प्रयत्न किया गया। पर व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों से कैसे मुक्ति पा सकता है? अतः यथार्थ दृष्टि तो यह है कि समाज को ही बदला जाय। पर छायावादी कवि समाज की ओर से आँख मूँद कर उससे पलायन करने में ही व्यक्ति की मुक्ति देखने लगा। इस तरह छायावादी कविता में व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना की दृढ़ प्रतिष्ठा हुई पर सामाजिकता की प्रवृत्ति कम हो गयी। कवि अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं और दुख-सुखों के प्रति जितना जागरूक था उतना सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति नहीं।

मध्यवर्ग की इस व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का कारण यह था कि मध्यवर्गीय व्यक्ति समझता था कि सामन्तवादी बन्धनों को तोड़ कर व्यक्ति को समाज से स्वतन्त्र कर देने से ही समाज के सभी वर्गों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायेगी। इसीलिये सामान्तवाद और उसके संरक्षक साम्राज्यवाद के विरुद्ध होने वाले संघर्ष में उच्चमध्यवर्ग, निम्नमध्यवर्ग और सर्वहारावर्ग सभी ने सम्मिलित रूप से योग दिया। सामन्तवाद का आधार-स्तम्भ— पुरोहित वर्ग पर ही नहीं, धर्म के बाह्यरूप पर भी कठोर आघात किये गये। ध्वंस का यह कार्य पुनरुत्थान युग में ही बहुत कुछ पूरा हो चुका था। इस नये युग में जीवन के सभी क्षेत्रों में लोक-तान्त्रिक दृष्टिकोण का प्रचार हुआ जिसके आधार थे समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व। किन्तु यह दृष्टिकोण भी कवि का भ्रम मात्र ही था क्योंकि जिस स्वतन्त्रता की बात वह करता था वह केवल पूँजीवादी वर्ग के लिये थी, निम्नमध्यवर्ग और सर्वहारावर्ग के लिये नहीं। इन कवियों का विचार था कि मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र है, फिर भी वह जीवन में उलझनों और विषमताओं से मुक्ति पाने का एकमात्र रास्ता यही है कि मनुष्य को प्रकृत मनुष्य बनाया जाय, वह प्रकृति की विकृति न करे, उसे स्वाभाविक रूप में स्वीकार करे। राजनीति में यह विचारधारा गान्धी-वाद के रूप में दिखलाई पड़ी जिसने यन्त्रों का विरोध किया और मनुष्य को आध्यात्मिकता की तरफ उन्मुख किया। छायावाद में वह प्रकृति के प्रति तादात्म्य की अनुभूति के रूप में प्रकट हुई; कवियों ने सर्वत्र एक ही चेतना का आभास देखा। निस्सन्देह प्राचीन भारतीय दर्शन के अध्ययन तथा महायुद्ध के निराशाजनक प्रभाव से यान्त्रिकता के विरोध और प्रकृति की ओर लौटने की प्रवृत्ति और बढ़ी। प्रकृति के प्रति कवियों के झुकाव के मूल में उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण था। वे अपनी ही अन्तरात्मा का प्रक्षेप बाह्य प्रकृति पर करते थे और उसमें किसी परोक्ष सत्ता का स्पन्दन देखते थे। इस युग के प्रायः सभी प्रतिनिधि कवियों में प्रकृति के प्रति तादात्म्य की भावना, उसके आन्तरिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति, उस सौन्दर्य के प्रति आश्चर्य और जिज्ञासा की भावना आदि प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं।

स्वतन्त्रता का यह भ्रम प्रकृति के क्षेत्र में ही नहीं, अध्यात्म, कल्पना और क्रान्ति के

स्वप्नलोकों में भी दिखलाई पड़ा। प्रकृति में परोक्ष सत्ता के आरोप की बात पहले ही कही जा चुकी है। व्यक्ति को स्थूल सामाजिकता के बन्धन से मुक्त करने के लिये छायावाद ने और भी कई रूपों में परोक्ष सत्ता का सहारा लिया। साम्राज्यवाद के कठोर बन्धन, द्वितीय महायुद्ध के निराशाजनक परिणाम और अद्वैतवाद के पुनः प्रचार से इस भावना को और भी प्रश्रय मिला। भक्तिकाल में आध्यात्मिकता के उत्थान में सामाजिकता का भी बहुत अधिक योग था और वह भिन्न-भिन्न साधना-मार्गों के सिद्धान्तों और प्रयोगों से पुष्ट थी। किन्तु इस युग की अध्यात्मिकता प्रधानतया एक दृष्टिकोण के रूप में थी जिसमें साधना का योग नहीं था। वह धार्मिक परम्परा और सुधारवाद के विरुद्ध विद्रोह रूप में आई थी। उसका लक्ष्य व्यक्ति की आत्मा को स्थूल सामाजिक नियन्त्रण से मुक्त करना था यद्यपि वह इस प्रतिक्रिया के प्रवाह में भौतिकता का ही विरोध करने वाली हो गई। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों की विषमता से छुटकारा पाने के लिये कवि ने अध्यात्म का सहारा लिया। अध्यात्म के क्षेत्र में अद्वैतवाद का ही स्वर प्रधान था जो प्राणिमात्र की आत्मा को भूत से स्वतन्त्र और समान मानता है। इसीलिये लोकतन्त्र की स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की माँग अध्यात्मवादी आदर्श कुछ पूरा करता था। यूरोप के दार्शनिक, कान्ट, हीगेल आदि ने भी इसी अध्यात्मवादी आदर्शवाद का प्रचार किया था जो अवैज्ञानिक और भ्रम पर आधारित था। सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने वालों को एक सूत्र में बाँधने के लिये अध्यात्मवाद का प्रयोग सर्वत्र एक नारे के रूप में किया गया, क्योंकि वह समाजिक यथार्थ से व्यक्ति का ध्यान हटाता है और साथ ही स्वतन्त्रता के लिये शक्ति भी प्रदान करता है। यूरोप के रोमाण्टिक साहित्य, विशेषकर जर्मनी के साहित्य में जिस तरह आध्यात्मिकता का रंग बहुत गहरा था उसी तरह हिन्दी की छायावादी कविता में भी आध्यात्मिकता का गहरा रंग चढ़ा हुआ था। इस काल में भारत में आध्यात्मिकता भी विद्रोह का एक प्रतीक बन गई थी। स्वामी विवेकानन्द, योगी अरविन्द, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गान्धी सब ने राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता का अपने जीवन में समन्वय किया था वस्तुतः व्यक्तिवाद के विकास के साथ-साथ आध्यात्मिकता का विकास भी स्वाभाविक है।

छायावाद का आदर्शवादी भ्रम अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। पहले कहा जा चुका है कि महायुद्ध के बाद विश्वव्यापी मन्दी आई और भारतीय उद्योगों पर भी उसका व्यापक

---

[1]. **कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है...कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था....और यह शायद पर्वतप्रान्त के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह निश्चय रूप से अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया....प्राकृतिक चित्रणों में प्राय: मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिला कर उन्हें ऐन्द्रिक चित्रण बनाया है...प्रकृति को मैंने अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है।**

(—पन्त—आधुनिक कवि, पृष्ठ १-२)

प्रभाव पड़ा। अतः भारतीय पूँजीवाद ने स्वतन्त्रता का जो भ्रम खड़ा किया था वह भी टूट गया। सन् १९२७ के बाद देश भर में औद्योगिक हड़तालें होने लगीं। बेकारी फैली और पूँजीवाद के स्वार्थ अपने नग्न रूप में सामने आ गये। अतः मध्यवर्गीय छायावादी कवि ने पूँजीवाद के प्रभाव से अनियन्त्रित स्वतन्त्रता की जो कल्पना की थी वह टूट गयी और जीवन उसे और भी विकराल और बन्धनग्रस्त मालूम होने लगा। मध्यवर्ग व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के कारण अनियन्त्रित स्वतन्त्रता का अभिलाषी हो गया था। पर अपने अन्तर्विरोध और स्वार्थ के कारण पूँजीवाद ने उसे प्राप्त नहीं होने दिया। उधर राजनीतिक स्वतन्त्रता की लड़ाई में बार-बार असफलता मिलती रही। महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण पश्चिमी देशों में भी यह स्पष्ट होता जा रहा था कि जिस मानव स्वतन्त्रता के लिये युद्ध लड़ा जा रहा था वह प्राप्त नहीं हुई और पूँजीवाद अपने विकृत रूप में मनुष्य की स्वतन्त्रता को और भी भयानक रूप से लीलता जा रहा था। इस विश्वव्यापी निराशा की लहर भारत में भी आई। इन सब बातों ने मिलकर मध्यवर्गीय कवि को अहम्वादी, भाग्यवादी और निराशावादी बना दिया। फलस्वरूप सन् १९३० के बाद छायावादी कविता में निराशा, भ्रम, मृत्यु पूजा, क्षयी रोमान्स, काल्पनिक अस्वस्थ ऐन्द्रियता और घोर समाजविरोधी अनुत्तरदायित्व की प्रतिक्रियावादी भावनाएँ दिखलाई पड़ने लगीं। वह समाज को शत्रु के रूप में देखने लगा और समाज उसके व्यक्तित्व को कुचलने वाला मालूम पड़ने लगा। अतः वह दुनिया से दूर होता गया। उसने अपने मन की अतृप्ति, लालसा और इच्छित विश्वासों को, जो उसके जीवन में मूर्त नहीं हो सकते थे, काव्य में मूर्त किया। समाज ने न तो छायावादी कवियों के अनियंत्रित जीवन को ही स्वीकृति दी और न उनके काव्य को ही। प्रतिक्रिया स्वरूप वे अज्ञात वेदना में डूबकर शून्य को मुखरित करने लगे, 'पीड़ा,' 'आँसू,' 'काली रजनी.' 'स्मशान,' 'स्वप्न,' 'अन्धकार' आदि उनके काव्य के उपादान हुए। उन्होंने नियति के आगे अपना सर झुका दिया। ऐसा इसलिये हुआ कि उन्हें व्यक्ति की असफलता और अभाव के कारणों का ज्ञान नहीं था। पूँजीवादी स्वतन्त्रता के भ्रम का आधार ही अज्ञान है। अतः पूँजीवाद के इन कवियों ने अभाव, वेदना, समाज की विषमता आदि को शाश्वत् मान लिया और वे निराशा के गहरे सागर में गोते लगाने लगे। यथार्थ जीवन की असंगतियों और उनके कारणों का विश्लेषण करने की ओर उनका ध्यान नहीं जा सका। अपने दुखों को भुलाने और कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिये फ़ारसी कविता के हाला, प्याला, मधुशाला तथा मधुबाला आदि प्रतीकों का सहारा लिया गया। 'निशा-निमन्त्रण' द्वारा कल्पित साथी को अपने दर्दों का 'एकान्त-संगीत' सुनाया गया। 'पलाश-वन' की रंगीन छाया में असफल प्रेम की रागिनी गाई गई। इस तरह व्यक्ति की 'अपराजिता' शक्ति ने हथियार डालकर अहंकार की उपासना शुरू कर दी।

किन्तु सन् १९३० के बाद की सभी कविताएँ ऐसी नहीं हैं। कुछ कवियों ने जीवन के दुखों के निदान और उपचार के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया। वस्तुतः दर्शन का प्रारम्भ ही दुख और निराशा से होता है। जिन कवियों ने पराजय नहीं स्वीकार की वे भावना के क्षेत्र से दर्शन और चिन्तन के क्षेत्र की ओर मुड़ गये। अतः परवर्ती छायावाद में जीवन के प्रति विश्लेषणात्मक और बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाया गया, यद्यपि उसमें भी वैज्ञानिकता का अभाव

ही था। चिन्तन की प्रधानता के कारण कवि और भी अन्तर्मुखी होता गया। जिन परिस्थितियों ने नये कवियों को निराशावादी और ऐन्द्रिय बना दिया उन्होंने ही कुछ पुराने छायावादी कवियों को अन्तर्मुख चिन्तन और आन्तरिक सामंजस्य की ओर बढ़ने के लिये प्रेरित किया। अतः इनमें से किसी ने वेदना को जगत का कल्याण करने वाला माना, किसी ने उसे व्यक्ति को पवित्र बनाने का साधन माना। इस तरह दुख को आदर्शवादी आवरण दिया गया[१]। कवियों ने दुख के माध्यम से ही अपने जीवन और काव्य का उन्नयन किया[२]। भारतीय दर्शन से इन कवियों को बहुत अधिक प्रेरणा मिली। वस्तुतः इन कवियों की कविता में सूक्ष्मतम अनुभूतियों, भावना के हल्के रंगों, दुख की गंभीर रेखाओं और करुणा के विविध रूपों की अधिकता दिखलाई पड़ती है। विषय की गंभीरता के कारण इनकी कविता भी दुरूह, संश्लिष्ट और बौद्धिक हो गई है। उसमें दर्शन की ऊँचाई और विचारों की गहनता तो है किन्तु अनुभूतियों की तीव्रता और संवेगों का सीधापन कम है। फिर भी इन्होंने जीवन में त्याग, साधना और बलिदान का महत्त्व स्वीकार किया और एक सीमा तक सामाजिक आदर्शों के सम्बन्ध में विचारोत्तेजना उत्पन्न की। प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा में सन् १९३० के बाद उपर्युक्त अन्तर्मुखी चिन्तन और मानवतावादी आदर्शवाद की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इनमें से कुछ कवि धीरे-धीरे आदर्शलोक को छोड़ कर सामाजिक यथार्थ की भूमि की ओर बढ़ने लगे।

प्रगतिवाद का उदय

ऐसा होना अनिवार्य था क्योंकि कवि का स्वप्नलोक, उसकी अन्तर्मुख कल्पना और उसके आदर्श सामाजिक यथार्थ से अधिकाधिक दूर हटकर अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकते थे। यूरोप में ह्रासोन्मुख पूँजीवाद के विरोध में सर्वहारावर्ग क्रान्ति कर रहा था और भारत

---

१. 'पल्लव' और 'गुंजन' के बाद मेरा किशोर भावना का सौन्दर्य-स्वप्न टूट गया। पल्लव की 'परिवर्तन' कविता दूसरी दृष्टि से मेरे इस मानसिक परिवर्तन की द्योतक है। इसलिये वह पल्लव में अपना विशेष व्यक्तित्व रखती है। दर्शन शास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्त्व में मंथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी, वसंत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का पंजर।'

(पंत—आधुनिक कवि, पृष्ठ ४)

२. 'दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्बर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है परन्तु दुख सब को बाँट कर। विश्व-जीवन में अपने जीवन को विश्ववेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।'

(रश्मि की भूमिका-महादेवी वर्मा, पृष्ठ ७)

में भी उस क्रान्ति की पुकार पहुँच रही थी। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि भारत की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में सन् १९३० के बाद बहुत कुछ परिवर्तन हुआ। पूँजीवाद के विकास के साथ ही सर्वहारावर्ग का उदय हुआ और वर्ग संघर्ष की भावना बढ़ चली। मध्य-वर्ग का स्वतन्त्रता का भ्रम टूटा और वह निराशा और चिन्तन की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों की ओर बढ़ा। दूसरी ओर, इसी वर्ग के कुछ लोगों ने पूँजीवाद से होने वाले संघर्ष में सर्वहारावर्ग का साथ भी दिया। देश की बढ़ती हुई बेकारी, गरीबी और साम्राज्यवादी शासन की कठोरता के विरुद्ध सामान्य जनता में संघर्ष की भावना बढ़ती गई और राजनीतिक आन्दोलनों के साथ-साथ लगानबन्दी आन्दोलन, हड़तालें और हिंसात्मक षड्यन्त्र होने लगे। कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट पार्टी के प्रचार और मेरठ षड्यन्त्र केस की गूँज ने उस भावना की वृद्धि में सहायता की। इस भावना की अभिव्यक्ति कविता में भी हुई। कवि अब तक पूँजीवाद के स्वर में स्वर मिला कर मानवात्मा की मुक्ति को पुकार करता था किन्तु स्वार्थी पूँजीवाद ने समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के सिद्धान्त को केवल अपने वर्ग तक ही सीमित रखा जिससे सर्वहारावर्ग विद्रोही हो उठा। अतः कवियों में से भी कुछ ने इस सामाजिक यथार्थ का अपनी कविता में चित्रण किया। इस तरह छायावाद का मानवतावादी आदर्शवाद का स्वर बदल कर धीरे-धीरे यथार्थवादी बनने लगा। इस तरह सन् १९३६ के बाद हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का प्रारम्भ हुआ जो एक विशेष राजनीतिक दल की विचारधारा से बँध कर बाद में कोरा प्रचारात्मक बन गया। छायावाद के रूप-परिवर्तन में इस नयी विचारधारा का बहुत अधिक हाथ था।

इस प्रकार सन् १९२० से लेकर १९४० तक की हिन्दी कविता में छायावाद का, जिसमें पूंजीवाद और राष्ट्रीयतावादी विचारधारा की प्रधानता थी, प्रारम्भ और विकास हुआ जिसकी विविध प्रवृत्तियों और उनके कारणों का विश्लेषण ऊपर किया गया है। इस काल की कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसके रूप विधान में निरन्तर प्रयोग और परिवर्तन होता रहा। इसका कारण यह था कि पूँजीवाद स्वयं अपने आधार में निरन्तर परिवर्तन करता रहता है जिससे सामाजिक सम्बन्धों में भी तीव्र गति से परिवर्तन होता रहता है। पूँजीवादी एक तरफ तो व्यक्ति-स्वतन्त्र बाजार सामाजिक सम्बन्धों से मुक्ति और समानता आदि की मांग करता है और दूसरी तरफ और भी दुरूह सामाजिक सम्बन्धों, असमानता, एकाधिकार तथा राजनीतिक नियंत्रण को उत्पन्न करता है। अतः पूँजीवाद के इस अन्तर्विरोध के कारण सामाजिक सम्बन्धों में जो परिवर्तन होता है उसका प्रतिविम्ब पूँजीवादी कविता में भी दिखलाई पड़ता है। छाया-वादी कविता की विषय वस्तु और रूपविधान का इतिहास इसी निरन्तर परिवर्तन का इतिहास है। छायावाद में रीतिकाल की स्थूल प्रवृत्तियों के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ था वह स्वयं रूढ़ि बन गया। अतः उसकी सूक्ष्मता और अतिशय भावुकता के विरुद्ध फिर विद्रोह हुआ और व्यक्तिवादी निराशावाद, अहम्वाद और अन्तर्मुख चिन्तन की प्रवृत्तियों का उदय हुआ। किन्तु यह परिवर्तन भी स्थायी नहीं था, क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ भी व्यक्ति को जीवन की असुन्दरताओं और विभीषिकाओं से दूर एक अलौकिक संसार में ही रखती थीं। दर्शन के अध्ययन, मनन और चिन्तन से कवियों में अवश्य कटु सत्य के साक्षात्कार की प्रवृत्ति बढ़ी और कवि भावुकता को छोड़कर संस्कारशील बौद्धिकता का आश्रय ग्रहण करने लगे। इस काल में वैज्ञानिकता का भी सहारा लिया गया

और विज्ञान विरोधी अलंकारों का प्रयोग नहीं किया गया। वर्ग संघर्ष की चेतना उत्पन्न होने पर कवि चिन्तन और कल्पना के शीशमहल से बाहर निकल कर सर्वहारावर्ग का समर्थन तथा पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शोषण का विरोध करने लगे। यद्यपि इनमें भी भविष्यत्वादी, मानवतावादी अथवा आदर्शवादी क्रान्ति की अयथार्थ प्रवृत्तियाँ कम नहीं थीं। इस तरह बीस वर्ष के अल्पकाल में ही छायावादी कविता की विषय वस्तु में बार बार परिवर्तन होते रहे, और उसकी काव्य भूमि का उत्तरोत्तर विस्तार होता रहा। इसी प्रकार कला के सम्बन्ध में भी प्रत्येक कवि ने नवीनता की उद्भावना की। पन्त, निराला और प्रसाद ने प्रगीत मुक्तक, गीत और मुक्त-छन्द की लम्बी कवितायें अपनी विशिष्ट शैली में लिखीं। महादेवी ने गीति काव्य में मीरा और सूर की परम्परा को कुछ कदम आगे बढ़ाया, बच्चन ने हृदय की सच्ची अनुभूतियों को सीधे-सादे शब्दों में पाठकों तक पहुँचाने की सीधी शैली अपनाई। सुभद्रा कुमारी चौहान, माखन लाल चतुर्वेदी और दिनकर ने ओजपूर्ण शब्दों में राष्ट्रीयता की भावना को मूर्त किया। छायावादी काव्य के इस बहुमुखी विकास के काल में सामन्त युग और पुनरुत्थान युग की काव्य परम्परा भी क्षीण रूप से चलती रही किन्तु साहित्य की प्रधान धारा में उसका विशेष महत्त्व नहीं था। इसलिये उनके सम्बन्ध में यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है।

[४]

छायावाद युग की काव्य प्रवृत्तियाँ

छायावाद युग की प्रमुख काव्य प्रवृत्ति 'छायावाद' है और उसकी प्रमुखता के कारण ही इस युग (सन् १९२०-४० ई०) को छायावाद कहा जाता है। किन्तु इस युग में छायावादी काव्य धारा के साथ ब्रजभाषा काव्य और पुनरुत्थानवादी काव्य की धारायें भी गौणरूप से प्रवहमान थीं, यद्यपि उनकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही थी। छायावादी काव्य के अन्तर्गत भी अनेक काव्य प्रवृत्तियाँ सम्मिलित थीं और उनमें कुछ का अलग-अलग नाम भी पड़ गया था किन्तु आज इन विभिन्न नामों की जगह एक सामान्य नाम 'छायावाद' प्रचलित हो गया है। 'छायावाद शब्द से हमारा तात्पर्य जिस काव्यधारा का होता है उसमें अन्य सभी नाम और उनके लक्षण अन्तर्भुक्त हो गये हैं। किन्तु यह धारणा उस समय बनी जब छायावाद युग समाप्त हो गया था। 'छायावाद' युग नाम भी बाद का ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उस युग की कविता को नई धारा का तृतीय उत्थान कहा था। उन्होंने भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग नाम तो स्वीकार किये पर छायावाद युग नाम नहीं माना था। इसका कारण यह था कि वे उस युग की नवीन-धारा की सभी कविताओं को छायावादी नहीं मानते थे। उनके अनुसार तत्कालीन नयी कविता की तीन शाखाएँ या उपधाराएँ थीं—१—स्वच्छन्दतावाद, २—छायावाद और ३—रहस्य वाद। भारतेन्दु युग में रीतिकालीन काव्य रूढ़ियों से मुक्त होकर हिन्दी कविता देशभक्ति, समाज सुधार और प्रकृति चित्रण के नवीन विषयों को अपना कर स्वच्छन्दता के जिस नवीन पथ पर अग्रसर हुई थी और श्रीधर पाठक ने लोक प्रचलित छन्दों को अपना कर प्रकृति के

साहचर्य जनित राग-बोध से समन्वित कर उसे जिस दिशा में आगे बढ़ाया था उसी मार्ग को अपना कर लिखी गयी कविताओं को शुक्ल जी स्वच्छन्दतावादी कविता समझते थे। सम्भवतः वे अपने को स्वच्छन्दतावादी ही मानते थे क्योंकि स्वच्छन्दतावाद सम्बन्धी ये धाराणाएँ उनके आलोचना और इतिहास ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर व्यक्त हुई है। किन्तु छायावाद के सम्बन्ध में उनकी जो धारणा पहले थी वह बाद में बदल गयी थी। पहले वे छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय मानते थे। सन् १९२८ में अपने ग्रन्थ 'काव्य में रहस्यवाद' में उन्होंने छायावाद को रहस्यवाद ही समझा था। पर अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास के संशोधित और परिवर्धित संस्करण में उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि 'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बना कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार की व्यंजना करता है। इस रूपात्मक आभास को योरप में छाया (फैण्टास्माटा) कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे, छायावाद कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य क्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में भी प्रकट हुआ। छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है—'हिन्दी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ रहस्यवाद की रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी ग्रहण हुआ वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।' (पृष्ठ—६१५-६१६)

छायावाद नाम कैसे प्रारम्भ हुआ, वह विवादास्पद है। शुक्ल जी के अनुसार वह पहले बंगाल साहित्य में नये ढंग के रहस्यात्मक काव्य के लिये प्रयुक्त हुआ और वहीं से हिन्दी में आया। किन्तु कुछ लोगों का कहना हैं कि बंगला साहित्य में छायावाद शब्द कभी प्रयुक्त नहीं हुआ।[1] यह एक शोध का विषय है कि हिन्दी में 'छायावाद' शब्द का प्रयोग सबसे पहले किस ने और किया था। सन् १९२० में मुकुटधर पाण्डेय ने जबलपुर से प्रकाशित होने वाली 'श्री शारदा' नामक पत्रिका के चार अंकों में हिन्दी में 'छायावाद' नामक एक निबन्ध प्रकाशित कराया था। उस निबन्ध से पता चलता है कि सन्१९२० ई० के पहले से ही यह शब्द यत्र-तत्र प्रयुक्त होता रहा था। उसे एक आन्दोलन का रूप देने वाले प्रथम व्यक्ति मुकुटधर पाण्डेय ही थे। किन्तु मुकुटधर पाण्डेय ने 'छायावाद' शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी के 'मिस्टिसिज़्म' शब्द

---

१. इसी नवीन प्रकार की कविता को किसी ने छायावाद नाम दे दिया है। यह शब्द बिलकुल नया है। यह भ्रम ही है कि इस प्रकार के काव्यों को बंगला में छायावाद कहा जाता था और वहीं से यह शब्द हिन्दी में आया है। छायावाद शब्द केवल चल पड़ने के जोर से ही हिन्दी में स्वीकारणीय हो सका है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ४६०-६१

के लिए किया था। उस समय तक हिन्दी में अंग्रेज़ी के 'रोमाण्टिसिज़्म' शब्द के लिए कोई शब्द प्रचलित नहीं हुआ था, न अंग्रेज़ी की रोमाण्टिक काव्यधारा की विशेषताओं और प्रवृत्तियों का ही अध्ययन किया गया था। अतः संभव है कि मुकुटधर पाण्डेय आदि ने अंग्रेज़ी की रोमाण्टिक कविता को ध्यान में रखकर उसे ही 'मिस्टिक' कविता कहा हो और उसी का हिन्दी अनुवाद 'छायावाद' किया हो। मुकुटधर पाण्डेय ने अपने उक्त लेख में लिखा भी था—'अंग्रेज़ी या किसी भी पाश्चात्य साहित्य अथवा बंग साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले तो सुनते ही समझ जायेंगे कि यह शब्द मिस्टिसिज़्म के लिए आया है।' इससे स्पष्ट है कि उस काल के साहित्यिकों को अंग्रेज़ी के 'रोमाण्टिसिज़्म' और 'मिस्टिसिज़्म' शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ा था और इन दोनों शब्दों का अर्थ-बोध कराने के लिए हिन्दी में एक ही शब्द 'छायावाद' प्रयुक्त होने लगा था। बाद में रामचन्द्र शुक्ल ने अंग्रेज़ी की रामाण्टिक कविता की व्याख्या करते हुए हिन्दी में इसके लिए 'स्वच्छन्दतावाद' शब्द चलाया। जैसा पहले कहा जा चुका है, उन्होंने 'छायावाद' को 'स्वच्छन्दतावाद' से भिन्न माना और उसके दो रूप माने, अभिव्यंजना-वैचित्र्य वाला छायावाद और आध्यात्मिक अनुभूति वाला छायावाद। इस दूसरे प्रकार के छायावाद को ही उन्होंने रहस्यवाद कहा।

किन्तु अब यह मान्य धारणा हो गयी है कि अंग्रेज़ी में रोमाण्टिसिज़्म शब्द जो अर्थ व्यक्त करता है वही अर्थ हिन्दी का छायावाद शब्द भी व्यक्त करता है। किन्तु अंग्रेज़ी की रोमाण्टिक कविता और हिन्दी की छायावादी कविता हू-बहू एक जैसी नहीं है। पहले कहा जा चुका है कि दोनों में दो भिन्न देशों और दो कालों का अन्तर है, यद्यपि दोनों में विद्रोह और व्यक्तिवाद का प्राधान्य है। अतः आज स्वच्छन्दतावाद और छायावाद शब्द सामान्य हो गये हैं। जिस प्रकार अंग्रेज़ी में 'मिस्टिक' कविता रोमाण्टिक कविता का अंग है, उसी तरह हिन्दी में भी रहस्यवादी कविता छायावादी या स्वच्छन्दतावादी कविता का अंग है। सन् १९२० से १९३० के बीच प्रचलित यह मान्यता कि छायावाद और रहस्यवाद एक ही हैं, बाद में अस्वीकृत हो गयी। जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा आदि ने छायावाद और रहस्यवाद को दो भिन्न प्रवृत्तियाँ माना यद्यपि उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि छायावाद व्यापक काव्य प्रवृत्ति है और रहस्यवाद उसी का एक अंग या शाखा है। किन्तु आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत इससे कुछ भिन्न है। उनके अनुसार सामान्य रूप से ये तीनों एक ही हैं पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनमें परस्पर अन्तर भी है। वे लिखते हैं—'इस प्रकार आधुनिक छायावादी और रहस्यवादी काव्य-रचनायें स्वच्छन्दतावाद की ही विभिन्न शैलियाँ हैं। उन्हें स्वच्छन्दतावाद से पृथक् करके देखने की आवश्यकता नहीं हैं। यदि हम इन तीनों वादों का अन्तर करना ही चाहें तो कह सकते हैं कि स्वच्छन्दतावाद नवयुग की समग्र प्रेरणाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला काव्य स्वरूप है जिसमें परम्परागत काव्यधारा और काव्योपकरणों के विरुद्ध विद्रोही उपकरणों की प्रधानता है। इसमें नयी भाव-सृष्टि और नये अलंकरण हैं, बहिर्मुखता के स्थान पर अन्तर्मुखी प्रयाण हैं, प्रकृति का निसर्ग-जात आकर्षण है, शब्दावली में नवीन संगति है। छायावादी काव्य में भी यही तत्त्व हैं। परन्तु जिस एक तत्त्व की प्रधानता के कारण इसका यह नाम पड़ा है वह इसकी अन्तर्निहित आध्यात्मिकता है। समस्त स्वच्छन्दतावादी काव्य में इस प्रकार का आध्यात्मिक संस्पर्श हो, ऐसा

आवश्यक नहीं है। परन्तु छायावादी काव्य में यह संस्पर्श मूलतः विद्यमान माना जाता है। इस सीमित परिभाषा में हिन्दी का समस्त छायावादी काव्य नहीं आता। परन्तु एक बार नाम पड़ जाने पर गुणों के न रहने पर भी नाम की स्थिति बनी रहती है। यही बात छायावादी काव्य के सम्बन्ध में भी घटित हुई है'। (राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १०१, १०२)

बाजपेयी जी ने 'छायावाद' का यह अर्थ सम्भवतः जयशंकर प्रसाद के निबन्ध 'छायावाद' से प्रभावित होकर किया है। प्रसाद जी ने भी यही माना है कि छायावाद में एक अध्यात्मिक संस्पर्श होता है। मुकुटधर पाण्डेय की भी यही धारणा थी। 'छायावाद' शब्द सर्वप्रथम भले ही आध्यात्मिक ढंग की कविताओं के लिए प्रयुक्त हुआ हो किन्तु अब वह उस समस्त कल्पनाप्रवण आदर्शवादी और व्यक्ति चेतनामूलक काव्य के लिए प्रयुक्त होता है, जिसे स्वच्छन्दतावादी कहा जाता है। यद्यपि आज स्वच्छन्दतावाद और छायावाद में कोई अन्दर नहीं माना जाता पर 'स्वच्छन्दतावाद' शब्द का व्यवहार बहुत कम होता है, अधिकतर 'छायावाद' शब्द ही व्यवहृत होता है। 'स्वच्छन्दतावाद' शब्द अब केवल अंग्रेज़ी की 'रोमाण्टिक' कविता के लिए रूढ़ होता जा रहा है। इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। रामचन्द्र शुक्ल ने जिन कविताओं को स्वच्छन्दतावादी कहा था। आज की विकसित धारणा के अनुसार वे सभी स्वच्छन्दतावादी नहीं मानी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए श्रीधर पाठक, गुरुभक्त सिंह भक्त और रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह, सुभद्राकुमारी चौहान आदि की कविताएँ पूर्णतः स्वच्छन्दतावादी या छायावादी कविता की कोटि में नहीं आ सकतीं, उनमें स्वच्छन्दतावाद का प्रारम्भिक रूप अवश्य वर्तमान था। केवल विषय वस्तुगत अथवा अभिव्यंजनागत लक्षणों को देख कर ही किसी काव्य को स्वच्छन्दतावादी या छायावादी काव्य नहीं कहा जा सकता। उसमें उन दोनों के साथ विद्रोह भावना और व्यक्ति चेतना का होना आवश्यक है और वह भी इस रूप में कि वह वस्तु, तत्त्व और शिल्प दोनों में परिलक्षित हो।

प्रायः यह समझा जाता है कि छायावाद या स्वच्छन्दतावाद का प्रारम्भ प्रथम महायुद्ध के बाद एकाएक हो गया। यह भ्रान्त धारणा है। जिस तरह अंग्रेज़ी में रोमाण्टिक कविता का विकास क्रमशः हुआ, उसी तरह हिन्दी में भी हुआ है। रीतिवाद (क्लासिज़्म) और स्वच्छन्दतावाद का द्वन्द्व हर युग में किसी न किसी रूप में चलता रहता है। सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार कभी रीतिवादी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है और कभी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति। यूरोपीय साहित्य में पुनर्जागरण युग में सर्वप्रथम स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ था और एलिज़ाबेथ के काल में शेक्सपीयर के साहित्य में उसका निखरा रूप दिखाई पड़ा था। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक फिर रीतिवादी प्रवृत्ति प्रमुख हो गयी। पर १८वीं शती के अन्तिम दो दर्शकों में स्वच्छन्दतावाद का पुनः प्रादुर्भाव हुआ जिसे स्वच्छन्दतावादी पुनरावर्तन (रोमाण्टिक रिवाइवल) कहा जाता है। किन्तु जर्मनी और फ्रान्स में १८वीं शती के मध्य में जो स्वच्छन्दतावाद विकसित हुआ उसे स्वच्छन्दतावादी विद्रोह (रिबोल्ट) कहा जाता है, पुनरावर्तन नहीं। भारत में भी १३वीं १४वीं शताब्दी में अनेक कारणों से जो नवीन भक्तिमूलक विद्रोह की चेतना उत्पन्न हुई वह उत्कर्षकाल (भक्तिकाल) में स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के रूप में बदल गयी। वह विद्रोह सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध

था। ह्रास काल (रीतिकाल) में विविध कारणों से स्वच्छन्दतावादी विद्रोह की वह चेतना दब गयी और रूढ़िग्रस्त रीतिवादी काव्य प्रवृत्ति बलवती हो गयी। संक्रान्ति काल (भारतेन्दु युग) में उन रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह की जो भावना जाग्रत हुई, वह धीरे-धीरे बढ़ने लगी। पर राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण उस विद्रोही भावना का सीधा और सहज विकास नहीं हो सका। पुनरुत्थान युग में महावीरप्रसाद द्विवेदी की शुद्धतावादी और मर्यादावादी मान्यताओं के प्रभाव से स्वच्छन्दतावाद का वेग बहुत मन्द हो गया यद्यपि उस युग (सन् १९००-१९२० ई०) से भी श्रीधर पाठक, बदरीनाथ भट्ट, मुकुटधर पाण्डेय, रायकृष्णदास, मैथिलीशरण-गुप्त और जयशंकर प्रसाद ने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया था। धीरे-धीरे वह प्रवृत्ति अपना रूप बदलती हुई पूर्ण विकसित होकर नये रूप में ढल गयी। इस नये ढले रूप को ही छायावाद कहा जाने लगा। इस तरह यह स्पष्ट है कि छायावाद स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का ही पूर्ण विकसित रूप है। जब तक वह प्रवृत्ति पुनरुत्थानवादी काव्यधारा से पूर्णतः भिन्न नहीं हुई थी, तब तक उसका कोई अलग नाम नहीं था। सन् १९१८ ई० के बाद उसके बदले हुए रूप तथा उसकी प्रधानता को देख कर ऐसा लगने लगा कि हिन्दी कविता का एक नया युग आ गया है। पर सच पूछा जाय तो छायावाद एकाएक उत्पन्न नहीं हुआ था, न वह पुनरुत्थानवादी कविता की प्रतिक्रिया की देन था। इसके विपरीत वह पुनरुत्थानयुगीन काव्य के भीतर ही वर्तमान स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का विकसित रूप था। रीतिवादी काव्य प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया की जो लहर संक्रान्तियुग में प्रारम्भ हुई थी उसी की चरम परिणति छायावाद था। अतः स्वच्छन्दतावाद को छायावाद से भिन्न मानना आधुनिक हिन्दी कविता के इस क्रमिक विकास के स्वरूप को ठीक से न समझने का परिणाम है। इस सम्बन्ध में जो गलती रामचन्द्र शुक्ल ने की है, उसी को नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी दुहराया है।

किन्तु यह समझना भी उतनी ही बड़ी गलती है कि स्वच्छन्दतावाद पूर्ण विकसित होकर जिस रूप में सामने आया वह सन् १९२० से १९४० तक एक जैसा बना रहा। विचारों और वस्तु-जगत के समान कविता के क्षेत्र में भी जीवन्तता का लक्षण सतत परिवर्तन और विकास है। कोई काव्य धारा जब बहुत दिनों तक एक जैसी रह जाय तो उसे रूढ़ या मृत काव्यधारा मानना चाहिए। ह्रासकालीन रीतिवादी कविता ऐसी ही थी। बीसवीं शताब्दी में रत्नाकर ने उस रीतिवादी कविता का पल्ला पकड़कर केवल एक मृत परम्परा को ढोया और रूढ़ियों का निर्वाह मात्र किया, हिन्दी कविता को किसी भी तरह आगे नहीं बढ़ाया। इसके विपरीत छायावादी कविता बीस वर्ष की अल्प अवधि में लगातार आगे बढ़ती गयी, वह एक ही बिन्दु पर अड़ी नहीं रही। यही उसकी जीवनी शक्ति और विकसनशीलता का प्रमाण है। छायावाद के विकास क्रम को तीन युगों में बाँटा जा सकता है; १—रूप निर्माण का युग (सन् १९१०-१९१८ ई०), २—पूर्ण विकास का युग (१९१८-१९३६), ३—विघटन का युग (सन्१९३६ ई० से बाद)। इन तीनों युगों में उसका स्वरूप बराबर बदलता रहा। सन् १९१८ के पूर्व अर्थात् निराला और पन्त के प्रादुर्भाव के पूर्व की ऐसी कविता में विद्रोह का भाव उतना अधिक नहीं था जितना नवीनता का मोह था। स्वयं, महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य की नवीनता पर बल देते हुए रीतिवादी कविता को ध्यान में रखकर लिखा था, 'इस तरह की कविता सैकड़ों वर्षों से होती आ रही है। अनेकों

कवि हो चुके जिन्होंने इस पर न मालूम क्या-क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं ? वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक। इस पर भी लोग पुरानी लकीर बराबर पीटते जाते हैं। कवि, सवैये, दोहे, सोरठे लिखने से भी बाज नहीं आते।' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी के मन में रीतिवादी कविता की प्रतिक्रिया और नवीनता के प्रति मोह था।

नवीनता का मोह भी विद्रोह का ही एक रूप है, पर विद्रोह—विद्रोह ही है और मोह-मोह ही। इसी कारण जो सचमुच विद्रोही कवि हुए, महावीरप्रसाद द्विवेदी, जो पुनरुत्थानवादी और सुधारवादी थे, उनको अच्छी तरह समझ नहीं सके। सन् १९२७ ई० में 'सरस्वती' में उनका 'आज कल के हिन्दी कवि और उनकी कविता, शीषक एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने लिखा था, छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिये। 'इसी तरह रामचन्द्र शुक्ल ने भी छायावाद को ठीक-ठोक नहीं समझा क्योंकि वे मूलतः मर्यादावादी थे, यद्यपि पाश्चात्य साहित्य से उन्होंने स्वच्छन्दतावाद का हलका प्रभाव भी ग्रहण कर लिया था। इसीलिए उन्होंने 'स्वाभाविक स्वच्छन्दतावाद' की प्रशंसा की किन्तु छायावाद की प्रशंसा करते हुए भी निन्दा ही अधिक की। इस दृष्टिकोण का कारण यह था कि वे छायावाद को पश्चिमी साहित्य का अनुकरण मानते थे, भारतीय परिस्थितियों में उत्पन्न स्वाभाविक विद्रोह का काव्य नहीं। सन् १९१८ के बाद की छायावादी कविता में विद्रोह की भावना पूरी तरह आ गयी थी। यह विद्रोह अंग्रेज़ी की रोमाण्टिक कविता की भाँति प्रायः कल्पना और सौन्दर्य के आदर्शलोक में ही चरितार्थ हुआ, वास्तविक जीवन से उसमें पलायन की प्रवृत्ति ही अधिक थी। किन्तु सन् १९३० के बाद उसमें जीवन की ओर लौटने और उसके मूल तत्त्वों को गहराई में जाकर समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इस तरह छायावादी कविता एक ओर तो दार्शनिक चिन्तन-मनन में प्रवृत्त हुई दूसरी ओर वह जीवन की वास्तविक स्थितियों के प्रति भी जागरूक हुई। उसमें वैयक्तिक-जीवन की अनुभूतियों के साथ सामाजिक विसंगतियों और राजनीतिक आर्थिक संघर्षों का चित्रण भी होने लगा। इस प्रकार उसमें विघटन की क्रिया प्रारम्भ हो गयी और वह मानवतावादी भावभूमि के साथ व्यक्तिवादी अहम्वाद तथा समाजवादी विचार क्षेत्र की भूमियों पर भी अग्रसर हुई। सन् १९४० के बाद विघटन का यह दौर पूरा हो गया और छायावाद क्रमशः क्षीण हो कर समाप्त हो गया। इसकी जगह प्रगतिवाद और प्रयोगवाद ने ले ली।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छायावाद युग की प्रमुख काव्यप्रवृत्ति छायावाद की थी जो स्वच्छन्दतावाद का समानार्थी है। इस मुख्य काव्य धारा की कुछ सामन्य प्रवृत्तियाँ थीं और कुछ विशेष। सामन्य प्रवृत्तियों को छायावादी काव्य का सामान्य लक्षण और विशेष प्रवृत्तियों को छायावाद की उपधारा या शाखा कहा जा सकता है। रहस्यवाद, प्रगतिवाद और व्यक्तिवादी रूमानी काव्य को छायावाद की उपधाराएँ मानना चाहिये। छायावाद के सामान्य लक्षण इन उपधाराओं में भी मिलते हैं। अन्य अर्थों में छायावाद की मुख्यधारा इन उपधाराओं से भिन्न है।

छायावाद की सामान्य विशेषताएँ

छायावाद की अब तक जितनी परिभाषाएँ की गयी हैं, वे प्रायः सभी अपूर्ण या दोषपूर्ण हैं। सच पूछा जाय तो छायावाद की परिभाषा हो ही नहीं सकती क्योंकि वह सतत् परिवर्तन-शील था और गतिमान वस्तु की स्थिर मूल्यों वाली परिभाषा हो ही नहीं सकती। 'स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह' भी एक ऐसी ही भोंड़ी और तर्कहीन परिभाषा है। बहुत-सी छायावादी कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें स्थूल के विरुद्ध स्थूल का अथवा सूक्ष्म के विरुद्ध स्थूल का विद्रोह अभिव्यक्त हुआ है। यह कहना भी आंशिक सत्य है कि छायावाद में आध्यात्मिक संस्पर्श होता है। इस परिभाषा के अनुसार तीन चौथाई छायावादी काव्य छायावाद की सीमा के बाहर हो जायेगा। अतः छायावाद की कुछ वाक्यों में परिभाषा निश्चित करने की अपेक्षा उसके सामान्य लक्षणों या विशेषताओं को उद्घाटित कर देना ही उसके समझने के लिए अधिक उचित साधन है। छायावाद की सामान्य विशेषताएँ ये हैं—(१) व्यक्तिनिष्ठता और आत्मभिव्यंजकता, (२) विद्रोह की भावना (३) प्रेम-भावना और सौन्दर्य चेतना। इन सामान्य प्रवृत्तियों के साथ छाया-वादी काव्य की मुख्य धारा की विशेषताएँ ये हैं—(१) अतिशय कल्पनाप्रवणता (२) विस्मय की भावना (३) आदर्शवादी प्रवृत्ति (४) राष्ट्रीयता की भावना और सांस्कृतिक चेतना (५) लाक्षणिक वैचित्र्य, प्रतीकात्मकता और भाषा की वक्रता।

व्यक्तिनिष्ठता और आत्मभिव्ज्यकता

छायावाद का सर्वप्रमुख लक्षण व्यक्ति निष्ठता और आत्मभिव्यंजकता है। छायावाद पूँजीवादी व्यक्तिवाद की कविता है, अतः उसमें व्यक्तिवादी भावनाओं का होना स्वाभाविक था। छाया-वादी कविता जगत के केन्द्र में अपने को ही स्थित पाता था क्योंकि वह एक ही चेतना को सर्वत्र व्याप्त पाता था और वह चेतना इसके अपने ही 'अहम्' की चेतना थी। इस कारण वह समस्त बाह्य वस्तुओं पर अपने 'स्व' को आरोपित करके उनका वर्णन करता था। अतः उसकी कविता विषयीनिष्ठ और स्वानुभूतिपरक होती थी। छायावाद के पूर्व की हिन्दी कविता अधिकतर विषय निष्ठ या बाह्यार्थनिरूपक हुआ करती थी, भक्तिकाल की कविता में आत्मभिव्यंजकता तो थी पर वैयक्तिक सुख-दुखों की अनुभूति की अभिव्यक्ति उसमें नहीं होती थी। उसे निर्वैयक्तिक आत्माभिव्यंजना का काव्य कहा जा सकता है। पर छायावाद की आत्मभिव्यंजना निर्वैयक्तिक नहीं थी। उसमें कवि अपनी निजी अनुभूतियों की रागात्मक अभिव्यंजना करते थे। इसी कारण छायावादी कविता मुख्यतः प्रगीतात्मक है क्योंकि स्वानुभूति की अभिव्यक्ति प्रगीत मुक्तक काव्य में ही होती है।

छायावादी कवियों ने अधिकतर 'मैं' शैली अपना कर काव्य रचना की है अर्थात् उन्होंने कविता में अपने 'अहम्' की अभिव्यक्ति की है। उनके अनुभव की सीमा में जो कुछ आया है उसे उन्होंने अपने कल्पना प्रधान और संवेदनशील 'अहम्' के रंग में रंग कर काव्य में व्यक्त किया है। इस तरह की आत्माभिव्यंजना दो प्रकार से हुई है—(१) अपनी भावना या कल्पना का आरोप करके बाह्य वस्तुओं का चित्रण, (२) अपने ही सुख-दुःख आशा-निराशा, संघर्ष य, चिन्तन-मनन की मनोदशाओं की सीधी अभिव्यक्ति। छायावाद युग के पूर्वार्ध में पहली प्रणाली

अधिक अपनाई गई। पन्त की पल्लव काल की अधिकतर कविताएँ ऐसी ही हैं। पर 'ग्रन्थि' और 'वीणा' में पन्त ने और 'आँसू' तथा 'लहर' की कविताओं में प्रसाद ने दूसरी प्रणाली अपनाई है। छायावाद युग के उत्तरार्ध में दूसरी प्रणाली ही अधिक अपनाई गयी। महादेवी-वर्मा और रामकुमार वर्मा ने अपनी निजी आध्यात्मिक अनुभूतियों की ओर भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा तथा अंचल ने अपने पारिवारिक तथा वैयक्तिक जीवन की लौकिक अनुभूतियों को सीधे ढंग से व्यक्त किया।

विद्रोह की भावना

पहले कहा जा चुका है कि छायावाद कविता में पूँजीवादी युग के मध्यवर्गीय कविता की विद्रोह-भावना व्यक्त हुई है। यह विद्रोह भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों में दिखाई पड़ता है। छायावादी कवियों ने परम्परागत रीतिवादी काव्य विषयों तथा काव्य रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके स्वच्छन्द पथ अपनाया। यही नहीं, उन्होंने सामाजिक बन्धनों, मर्यादाओं और वर्जनाओं की भी अवहेलना की तथा निर्भीक भाव से ऐसे नवीन विषयों और अनुभूतियों का वर्णन किया जिनका वर्णन इसके पूर्व किसी भी युग के काव्य में नहीं हुआ था। इस तरह छायावादी युग में काव्य विषयों का विस्तार हुआ और साथ ही लोकतान्त्रिक भावना, सामाजिक न्याय, साम्यभावना और राष्ट्रीयता की भावना की भी सम्यक् अभिव्यक्ति हुई। इस सर्वतो-मुखी विद्रोह के फलस्वरूप छायावादी कविता के रूपविधान में भी निरन्तर प्रयोग और परि-वर्तन होता रहा। छायावाद ने स्वयं जो रास्ता बनाया, कुछ दिनों बाद वह भी रूढ़ि बन गया। अतः परवर्ती छायावादी काव्य में उन रूढ़ियों के विरुद्ध भी विद्रोह किया गया। इसी से छाया-वादी कविता की विषयवस्तु और रूपविधान में परिवर्तन का क्रम बराबर चलता रहा। पर-वर्ती छायावादी काव्य में पूर्ववर्ती छायावाद की अतिशय भावुकता और कल्पनाशीलता के विरुद्ध भी विद्रोह हुआ और कवि यथार्थ जीवन की अनुभूतियों को सहज भाषा में सीधे ढंग से अभिव्यक्ति करने लगे। पूर्ववर्ती छायावादी काव्य में राष्ट्रीय भावना और सामाजिक विद्रोह की जो वाणी व्यक्त हुई थी उसमें मानवतावादी आदर्शवाद की प्रेरणा निहित थी। पर वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष का बोध हो जाने पर कवियों में एक नये प्रकार का स्वातन्त्र्यभाव उदित हुआ जो आदर्शवादी भ्रममूलक स्वातन्त्र्य चेतना और विद्रोह भावना से भिन्न प्रकार का है। यह सामान्यता का विशिष्टता या असाधारणता के विरुद्ध विद्रोह था। यह विद्रोह भावना व्यक्ति के स्तर पर व्यक्तिवादी अहंम्वाद के रूप में और समाज के स्तर पर प्रगतिवाद के रूप में व्यक्त हुई। इस तरह समस्त छायावादी काव्य विद्रोहपूर्ण है। प्रारम्भ में उसे स्थूल ऐन्द्रिय सौन्दर्य की जगह सूक्ष्म और अवीन्द्रित सौन्दर्य के उद्घाटन के लिए परम्परा से विद्रोह करना पड़ा और सामन्ती सामाजिक मान्यताओं और वर्जनाओं को तोड़कर व्यक्तिस्वातन्त्र्य का क्रान्तिकारी मार्ग अपनाना पड़ा, पर बाद में पूँजीवादी स्वतन्त्रता का स्वप्न भंग हो जाने पर अपने ही निर्मित आध्यात्मिकता और कल्पना लोक के शीश महल को तोड़ कर सामान्य जीवन की यथार्थभूमि पर उतरना और व्यक्तिवादी आदर्शवाद की जगह वैयक्तिकतामूलक यथार्थवाद अथवा समाज-वादी यथार्थवाद का रास्ता अपनाना पड़ा। छायावाद युग में लिखी गयी राष्ट्रीय कविताओं

में भी उग्रविद्रोह का स्वर प्रधान है। पुनरुत्थान युग की राष्ट्रीय कविता में देशभक्ति के साथ सुधारवाद और समझौते की भावना मिली हुई थी, संक्रान्तियुग की राष्ट्रीयता याचनामूलक थी, पर छायावादी राष्ट्रीय कविताओं में गान्धीवाद के प्रभाव से खुली और निर्भीक विद्रोही भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। इस तरह छायावाद की समस्त विकास प्रक्रिया की प्रेरक शक्ति विद्रोह की भावना ही थी।

सार्वभौम प्रेम भावना और व्यक्तिनिष्ट सौन्दर्यचेतना

छायावाद युग में पूँजीवादी युग की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का विकास हो जाने के फलस्वरूप पूर्ववर्ती सामन्ती युगों के मानवीय सम्बन्धों का स्वरूप बदल गया। मानवीय सम्बन्धों मे रतिसम्बन्ध सर्वप्रमुख नियामक शक्ति है। सामन्त युग में दाम्पत्य रति और दास्य रति का आधार यह सामन्ती मान्यता थी कि स्त्री पुरुष की वासना तृप्ति का साधन है और राजा तथा सामन्ती के प्रति प्रजा और सामान्य जन की दैन्यपूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। पूँजीवादी युग में समानता स्वतन्त्रता और वन्धुत्व की भावना तथा राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में लोकतान्त्रिक दृष्टि के विकास के कारण रति भाव सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यताओं का लोप हो गया। मानवतावादी भावना उदय के फलस्वरूप न्यस्त स्वार्थ वाले वर्गों का एकाधिपत्य टूट गया, स्वामीसेवक सम्बन्ध की भावना लुप्त हो गयी और स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों में समानता को दृष्टि विकसित हुई। अब स्त्री-पुरुष के विलास की वस्तु और पैरों की जूती न रहकर स्वतन्त्र, समानाधिकारिणी और शक्तिपूर्ण सहयोगिनी के रूप में सामने आयी। छायावादी कविता में इन्हीं विशेषताओं के साथ रति भाव का चित्रण किया गया है। प्रेम के लौकिक और आध्यात्मिक ये दो रूप पूर्ववर्ती कविता में भी मिलते हैं पर छायावाद—युग से पहले प्रेम को केवल निजी मामला नहीं समझा जाता था और रति भाव का आलम्बन केवल मानव ही हो सकता था। छायावाद युग में प्रेम वैयक्तिक वस्तु बन गया और रतिभाव का आश्रय स्वयं कवि बन गया। वह अपनी निजी प्रेमानुभूतियों को काव्य में अभिव्यक्त करने लगा। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु उसके रति भाव के आलम्बन के रूप में प्रयुक्त होने लगी। छायावाद युग के पूर्वार्ध में प्रेम का स्वरूप पूर्णतः आदर्शवादी था। नारी को सम्मान का पद मिल जाने से उसके प्रति कवियों की दृष्टि बदल गयी और इसी कारण रति सम्बन्ध का अर्थ स्थूल शारीरिक सम्बन्ध न रह कर, आदर्श का सम्बन्ध हो गया। इस तरह छायावादी काव्य का प्रेम भौतिक से अधिक आध्यात्मिक प्रतीत होने लगा, यहाँ तक कि भौतिक प्रेम ही आध्यात्मिक प्रेम के रूप में ढलने लगा। प्रसाद के आँसू तथा पन्त की ग्रन्थि और पल्लव की अनेक कविताओं में प्रेम के इस सूक्ष्म और आदर्श रूप को लक्ष्य किया जा सकता है। इस तरह इस काल में लौकिक और ईश्वरीय प्रेम, दोनों का रूप आदर्शवादी हो गया।

छायावाद कवियों ने प्रेम को अत्यन्त पवित्र और सार्वमौम तत्त्व माना। उन्होंने उसे आत्मा का धर्म माना और शारीरिक सम्बन्धों को प्रेम के क्षेत्र से वहिष्कृत कर दिया। सुमित्रानन्दन पन्त को वह सार्वभौम और सर्वव्याप्त तत्त्व के रूप में दिखाई पड़ा—

अनिल सा लोक-लोक में
हर्ष में और शोक में
कहाँ नहीं है प्रेम, साँस सा सब के उर में ?

—'उच्छ्वास'—पल्लव

इस उदात्तीकरण या आदर्शकरण के कारण छायावाद में व्यक्तिगत प्रेम विश्वप्रेम में और मानवीय प्रेम प्रकृति प्रेम में बदल गया और प्रिय की छवि, चाहे वह प्रिय लौकिक हो या आध्यात्मिक, विश्व प्रकृति के भीतर प्रतिबिम्बित होने लगी—

प्रिये ? कलि कुसुम-कुसुम में आज
मधुरिमा मधु, सुषमा, सुविकास
तुम्हारी रोम-रोम-छवि व्याज
छा गया मधुवन में मधुमास !

—पन्त

इसी तरह अपने प्रियतम परोक्षसत्ता का आभास कवि को सर्वत्र मिलने लगा। फलस्वरूप प्रकृति से उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हुआ। छायावादी कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन केवल दृश्य वर्णन के लोभ से नहीं किया है। वस्तुतः उनकी सहज रति भावना का प्रसार प्रकृति के क्षेत्र में भी हुआ और उन्होंने प्रकृति को आलम्बन मान कर उसको अपनी सच्ची और हार्दिक रागत्मक वृत्ति से बाँधने का प्रयास किया। इसी से प्रकृति उन्हें चेतन सत्ता के रूप में दिखाई पड़ी। निराला ने सन्ध्या को सुन्दरी के रूप में और प्रसाद ने उसको 'नागरी' के रूप में देख कर प्रकृति की अन्तस्सत्ता के सौन्दर्य का उद्घाटन किया। इस तरह मानव मात्र ही नहीं, समस्त प्रकृति में छायावादी कवि ने अपनी व्यापक प्रेम भावना का प्रसार किया।

छायावादी कवियों का प्रेम केवल दाम्पत्य सम्बन्ध और प्रकृति के प्रति रागात्मक सम्बन्ध तक ही सीमित नहीं रहा, उसका प्रसार अपने देश, जाति और संस्कृति, विश्वमानव तथा दलित पीड़ित मानव की विस्तृत भूमियों तक हुआ। निराला और प्रसाद का काव्य भारतीय संस्कृति की आधार शिला पर प्रतिष्ठित है। अपने देश के अतीत गौरव और अपनी संस्कृति की उदारता और विशिष्टता का इन कवियों ने मुक्तकण्ठ से गान किया है और इस तरह अपने देश और जाति के प्रति अपनी गहरी आसक्ति की भावना को अभिव्यक्त किया है। छायावादयुगीन राष्ट्रीय कविताओं में भी विद्रोह युक्त देश प्रेम की वाणी मुखर हुई है। उत्तरकालीन छायावाद में विश्वमानता की विजय और कल्याण भावना भी व्यक्त हुई, पर साथ ही, वर्ग संघर्ष की चेतना उत्पन्न हो जाने से निम्न वर्गों—किसान मज़दूर आदि के प्रति सहानुभूति और सौहार्द्र का भाव भी व्यक्त किया गया और उच्चवर्गीय शोषकों के विरुद्ध घृणा और आक्रोश प्रकट किया गया। यह सब छायावादी कवियों के समष्टि प्रेम को प्रमाणित करता है।

प्रेम भावना का सौन्दर्य चेतना से घनिष्ट सम्बन्ध है। छायावाद युग में कवियों की सौन्दर्य सम्बन्धी अवधारणा पहले से बहुत बदल गयी। पहले की तरह सौन्दर्य को एक स्थूल शारीरिक गुण मानने की प्रवृत्ति समाप्त हो गयी और अब वह आन्तरिक और मानसिक तत्त्व

समझा जाने लगा। व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के विकास के कारण सौन्दर्य को वस्तु या द्रव्य में नहीं, द्रष्टा की सौन्दर्यबोधात्मक चेतना में अवस्थित माना जाने लगा। इस तरह द्रष्टा का मन ही सौन्दर्य का आधार बन गया। यूरोप में रूसो, वाल्टेयर, काण्ट, हीगेल, फीश्टे, सेलिंग, कॉलरिज, गेटे, बर्गसाँ, क्रोचे आदि विचारकों, दार्शनिकों और कवियों ने इस विचारधारा का प्रचार किया था। फीश्टे और क्रोचे की मान्यता थी कि दृश्य जगत असत्य है, वह चेतना जगत की छायामात्र है। यह दृष्टिकोण प्लेटो के आदर्शवाद और भारतीय वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त का ही परिवर्तित रूप है। छायावादी कवियों पर इन विचारकों और दर्शनों का प्रभाव पड़ा था। अतः वे भी सौन्दर्य को वस्तु निरपेक्ष मानते थे। वे मन को सौन्दर्य ग्रहण करने वाला नहीं, उसका निर्माता मानने लगे। रीतिवादी सौन्दर्य चेतना वाह्य आकार-प्रकार तथा रंग रेखाओं के सन्तुलन और सामंजस्य के मानदण्ड से ही सौन्दर्य का मूल्य निश्चित करती थी। पुनरुत्थान युग में वह मानदण्ड छोड़ दिया गया पर उसकी जगह किसी अधिक व्यापक तथा सूक्ष्म मानदण्ड की स्थापना नहीं हो सकी। यह कार्य छायावाद युग में हुआ। सौन्दर्य को वस्तु निरपेक्ष मानने के कारण इस युग की कविता में सौन्दर्य भावना की अभिव्यक्ति की अधिकता के साथ तत्सम्बन्धी अराजकता भी बढ़ गयी। इस व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के कारण छायावादी कविता अत्यधिक कलावादी और वैचित्र्य प्रधान होने लगी, उसमें रमणीयता की जगह विचित्रता और दूरारूढ़ कल्पना की करामात को महत्त्व दिया जाने लगा। इससे मानव क्षेत्र से आगे बढ़कर जीवन के अन्य क्षेत्रों तक सौन्दर्य दृष्टि का प्रसार तो हुआ पर वर्ण्यवस्तु या प्रस्तुत के मार्मिक रूप विधान की ओर से कवियों का ध्यान हट गया और वे अप्रस्तुत रूप विधान में अधिक लीन होने लगे। जीवन की मार्मिक और प्रामाणिक अनुभूतियोंके चित्रण का प्रयास उतना नहीं हुआ जितना उक्ति वैचित्र्य और चमत्कार दिखलाने का। इसलिये प्रकृति और मानव दोनों में कवियों ने असुन्दर और लघु में सुन्दर और विराट के दर्शन किये। धूल की ढेरी में उन्हें 'मधुमय गान' सुनाई पड़ने लगा। पेड़ की छाया नल द्वारा परित्यक्ता दमयन्ती प्रतीत होने लगी और स्याही की बूँद नक्षत्र बन गयी।

छायावाद युग के उत्तरार्ध में सौन्दर्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की नयी और उसकी आन्तरिक शक्ति को पहचाने का प्रयत्न किया गया। साथ ही, नये कवियों ने सौन्दर्य के आदर्शीकरण की प्रवृति को छोड़ फिर स्थूल शारीरिक सौन्दर्य की ओर दृष्टि डाली। प्रसाद ने कामायनी में तथा पन्त ने युगान्त और युगवाणी में यदि सौन्दर्य सम्बन्धी चिन्तन और गहरी अनुभूतियों का चित्रण किया तो नरेन्द्र शर्मा और अंचल ने नारी के शारीरिक सौन्दर्य की शक्ति को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इन उत्तरकालीन छायावादी कवियों की सौन्दर्य चेतना आदर्शवादी नहीं, भौतिक थी। प्रगतिवादी कविता में अधिकतर सौन्दर्य दृष्टि का अभाव ही था, पर प्रकृति की सहज सुन्दरता ने उसे भी प्रभावित किया। सुमित्रानन्दन पन्त और रामविलास शर्मा की कविताओं में जो रूपाभ में प्रकशित हुई थीं, यह वस्तुगत सौन्दर्य दृष्टि दिखाई पड़ती है। उन्होंने ग्रामीण वातावरण का जो चित्रण किया उसमें सुन्दर ग्रामीण लोगों और सामान्य ग्रामीण प्राकृतिक दृश्यों के प्रति उनका तादात्म्य भाव और रागात्मक सम्बन्ध व्यक्त हुआ।

अब तक छायावाद के सामान्य लक्षणों का विवेचन किया गया है। अब उसकी उन विशेषताओं के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा जो छायावाद की सभी उपधाराओं में सामान्य रूप से नहीं मिलती। सन् १९३० के बाद व्यक्तिवादी अहम्‌वाद को व्यक्त करने करने वाली छायावादी कविता तथा प्रगतिवादी काव्य धारा में ये विशेषताएँ बहुत कम या नहीं के बराबर हैं।

अतिशय कल्पनाशीलता

छायावादी कविता में भावात्मकता के साथ कल्पना की अतिशयता भी पाई जाती है। भावना और संवेदना अपने को व्यक्त करने के लिये कल्पना का सहारा लेती है। काव्य में कल्पना का उपयोग किस रूप में होना चाहिये, यह विवादास्पद प्रश्न है। पर यह कवि के दृष्टिकोण और कल्पनाशक्ति पर निर्भर करता है कि वह किस सीमा तक और किस रूप में कल्पना का उपयोग करे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत था कि कल्पना का उपयोग विभाव को मूर्त रूप देने, उसका संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने में होना चाहिए। अप्रस्तुत विधान में उसका अधिक प्रयोग केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिये होता है। शुक्ल जी का विरोध काव्य में अलंकार-विधान में कल्पना के अतिशय प्रयोग के प्रति था। कल्पना का मुख्य कार्य सम्मूर्तन है चाहे वह विभाव के चित्रण में हो या भावों के प्रत्यक्षीकरण में। कवि की कल्पना जब बुद्धि और भावना द्वारा समान रूप से नियाश्रित होती है तभी उसकी रचना द्वारा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न होता है। ऐसा न होने पर उसमें अनौचित्य, अपर्यायता या अस्वाभाविकता का दोष आ जाता है। कल्पना की अतिशयता, अबौद्धिकता और असामाजिकता को जन्म देती है। अतिशय-कल्पना प्रिय व्यक्ति सामाजिक यथार्थ से पलायन करता है या यथार्थ से पलायन करने वाला व्यक्ति ही कला के क्षेत्र में कल्पनावादी हो जाता है। कल्पनावादी कॉलरिज़, जो अफ़ीमची था, उसका उदाहरण है।

छायावादी कवियों में सब से अधिक कल्पनावादी सुमित्रानन्दन पन्त हैं जो स्वयं कहते हैं, 'प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया वहाँ दूसरी ओर जनभीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जन समूह से अब भी मैं दूर भागता हूँ और मेरे आलोचकों का यह कहना कुछ अंशों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने आने से लजाती है।' (पन्त-आधुनिक कवि की भूमिका, पृष्ठ २)। उनकी प्रारम्भिक कविताओं में भावुकता और कल्पना का मेल हुआ तो बाद की कविताओं में बौद्धिकता और कल्पना का। दोनों ही दशाओं में उनकी कविता कल्पना लोक की वस्तु बन गयी है। छायावादी कवि वास्तविक जगत से ऊब कर कल्पना लोक में विचरण करने में ही सुख पाता था। इसीलिए पूर्ववर्ती छायावादी कविताओं में भावना की अधिकता और कल्पना की अतिशयता थी जिससे उसमें अवैज्ञानिकता और अयथार्थता आ गयी थी। बाद में उसमें कल्पना की अतिशयता तो पूर्ववत् बनी रही पर भावना की जगह बौद्धिकता का आधिक्य हो गया। यथार्थ का चित्रण करते हुए भी अतिशय बौद्धिकता और कल्पनातिरेक के कारण ऐसी कविता असन्तुलित हो कर प्रभावहीन हो गयी। पन्त की 'नौका विहार' और 'संध्या तारा' कविताएँ तथा 'युग-वाणी'

को बहुत सी रचनाएँ ऐसी ही हैं। छायावाद युग के उत्तरार्ध में नये कवियों बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि ने अपनी वैयक्तिक कविताओं में तथा प्रगतिवादी कवियों ने प्रचारात्मक रचनाओं में कल्पना का उपयोग बहुत कम किया है।

विस्मय और कुतूहल की भावना

विस्मय का भाव (फीलिंग ऑफ वण्डर) अंग्रेज़ी की स्वच्छन्दतावादी कविता का प्रमुख लक्षण है। छायावाद की प्रारम्भिक कविताओं में भी यह भाव प्रधान था। छायावादी कवि जब प्रकृति पर दृष्टि डालता था तो उसे सभी वस्तुएँ आश्चर्यजनक प्रतीत होती थी। कभी वह उनके सौन्दर्य को देख कर चकित रह जाता था, कभी उनकी अन्तर्निहित परोक्ष सत्ता का दर्शन करके विस्मित होता था और कभी उनके मूल स्रोतों तक पहुँचने की जिज्ञासा प्रकट करता था। आश्चर्य भावना के उदय के साथ ही कुतूहल और जिज्ञासा का भाव भी उदित होता है। छायावादी कवियों में भावुकता और संवेदनशीलता अधिक थी, इसलिए वे विराटता, विशालता, और असाधारणता पर तो विस्मय-विमुग्ध होते ही थे, सामान्यता और लघुता में भी परोक्ष सत्ता का आभास पा कर कुतूहल वश 'कौन' 'कहाँ' 'क्यों', 'कैसे' 'क्या' आदि प्रश्नों की झड़ी लगा देते थे। कुछ कविताओं के उद्धारणों से बात स्पष्ट हो जायेगी।

कौन कौन तुम परिहत वसना म्लानमना भू पतिता सी ?
क्या तुमको भी छोड़ गया है अलि नल-सा निष्ठुर कोई ?

—'पन्त—छाया'

प्रथम रश्मि का आना रंगिनि तूने कैसे पहिचाना ?
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनो सीखा तूने यह गाना ?

—'पन्त—प्रथम रश्मि'

सजनि ! कौन तम में परिचित सा सुधि सा छाया सा आता ?
पथ-व्यय के हित अंचल में कुछ बाँध अश्रु के कन जाता ?

—'महादेवी वर्मा'

जाने किस जीवन की सुधि ले।
लहराती आती मधु बयार।

—'महादेवी वर्मा'

बाँधा विधु को किसने इन काली जंजीरो से ?
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ?

—'प्रसाद—आँसू'

कौन तम के पार रे कह ?
अखिल पल के स्रोत, जल जग ?
सार या कि असार ? (रे कह) ?

—'निराला—गीतिका'

इस विस्मय-भावना को व्यक्त करने के लिए छायावादी कवियों ने कल्पना के सहारे जमीन आसमान के कुलावे मिलाये हैं और रहस्यमय तथा स्वप्न-लोक जैसे वातावरण की सृष्टि की है जिसके भीतर उनको विस्ममयुक्त भावानुभूतियों को उद्दीप्त होने का अवसर मिला है। छायावादियों का यह विस्मय भाव बहुत कुछ अबोध बालकों की विस्मय और भय मिश्रित जिज्ञासा की मनोदशा जैसा लगता है। पन्त की 'छाया' कविता इस दृष्टि से छायावाद की प्रतिनिधि कविता मानी जायेगी—

गूढ़ कल्पना सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गम्भीर हृदय सी
बच्चो के तुतले भय सी।

आदर्शवादी प्रवृत्ति

छायावादी कविता पूँजीवादी युग के व्यक्तिवादी आदर्शवाद की कविता है। छायावादी कवि अपने ही बनाये हुए आदर्शलोक में रहता था जिसका वास्तविक जीवन से अधिक वास्ता नहीं था। आदर्शलोक का तात्पर्य उस स्वप्न लोक या विचार जगत से है जो व्यक्ति के मानस-लोक में ही स्थित होता है। प्लेटो ने ऐसे ही आदर्शलोक का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था और वस्तु जगत को उस आदर्श-जगत की छाया बताया था। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय दार्शनिकों—फ्रीश्टे, बर्गसाँ, काण्ट आदि ने भी उसी आदर्शलोक का सिद्धान्त प्रचारित किया था। पूँजीवादी युग में आदर्शवाद के इस रूप की प्रतिष्ठा का कारण यह था कि इस युग में जीवन के सभी क्षेत्रों में लोक तान्त्रिक दृष्टि का प्रसार हुआ जिसका मूल मन्त्र था—'स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व।' किन्तु यह सिद्धान्त पूँजीवाद द्वारा निर्मित एक भ्रम सिद्ध हुआ। उसका लाभ पूँजीपति वर्ग को ही हो सकता था, निम्नमध्य वर्ग और सर्वहारा वर्ग के लिए वह स्वतन्त्रता स्वप्न मात्र थी, अतः मध्य वर्ग के चेतन और प्रबुद्ध कवियों ने स्वतन्त्रता की भावना को इच्छित विश्वासों (विशफ़ुल थिंकिंग), दिवा स्वप्नों और काल्पनिक आदर्शों की अभिव्यक्ति द्वारा रूपायित किया। उनका विचार था कि मनुष्य जन्म से तो स्वतन्त्र है किन्तु सामाजिक और आर्थिक बन्धन उसे सर्वत्र परतन्त्र बनाये रहते हैं। अतः इन सामाजिक उलझनों और विषमताओं से मुक्ति पाने का एक मात्र रास्ता यही है कि मनुष्य को प्रकृति मनुष्य बनाया जाय, वह प्रकृति की विकृति न करे बल्कि उसे स्वाभाविक रूप से स्वीकार करे।

भारत में यह प्रवृत्ति राजनीति में गान्धीवाद के रूप में और साहित्य में छायावाद या स्वच्छन्दतावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई जिसने यान्त्रिकता और भौतिकता का विरोध कर मनुष्य की प्राकृतिक जीवन और आध्यात्मिकता की ओर लौटने का सिद्धान्त स्वीकार किया। छायावाद में वह प्रकृति के साथ तादात्म्य की अनुभूति के रूप में प्रकट हुई और प्रकृति में सर्वत्र एक ही चेतना को व्याप्त देखा गया। छायावाद की लोकतान्त्रिक दृष्टि राजनीतिक-लोकतांत्रिक दृष्टि से अधिक व्यापक किन्तु अयथार्थ और वायवी था। निस्सन्देह प्राचीन भारतीय दर्शन के अध्ययन और महायुद्ध के निराशाजनक प्रभाव के कारण यान्त्रिकता के विरोध और प्रकृति की ओर लौटने की प्रवृत्ति और भी बढ़ी। प्रकृति के प्रति झुकाव के मूल में कवियों का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

भी था। प्रकृति और अध्यात्म क्षेत्र की ओर कवियों के अधिकाधिक झुकाव का कारण मनोवैज्ञानिक था। छायावादी कवि आदर्शवादी दार्शनिकों और विचारकों के समान यह सोचता था कि मनुष्य स्वभाव से शुद्ध और निष्कलुष है पर सामाजिक नियमों और परम्परागत रीतियों में बँध कर वह बुरा बन जाता है, अतः रीतिवादी रूढ़ियों और वर्तमान जीवन की वर्जनाओं को तोड़ कर उनसे मुक्ति पा लेने से ही मनुष्य अपने प्रकृत स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। सामाजिक बन्धनों ने मनुष्य को इतना विकृत कर दिया था कि उसके सत्य, सौंदर्य, स्वतन्त्रता, मनुष्यता आदि आध्यात्मिक और नैतिक गुणों का लोप हो गया था। अतः इन गुणों की पुनः प्रतिष्ठा के लिए ही छायावादी कवियों ने अपने लिये स्वतन्त्र आदर्श लोक या स्वप्नजगत की सृष्टि की। इस कल्पित जगत में उनकी स्वतन्त्रता का स्वप्न चरितार्थ होता था। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि छायावादी कवियों ने यथार्थ जीवन की उलझनों और संघर्षों से घबराकर प्रकृति, अदर्श प्रेम, अध्यात्मिक और अतीत इतिहास के क्षेत्रों में पलायन किया।

छायावादी आदर्शवाद का प्रमुख तत्त्व आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता छायावादी कवियों के लिये एक नैतिक दृष्टिकोण भर थी। छायावादी कवि मध्यकालीन सन्तों और भक्तों जैसे आध्यात्मिक साधक या धर्मोपदेशक नहीं थे। यहाँ आध्यात्मिक का अर्थ इतना ही है कि इन कवियों ने जड़-चेतन सब में एक ही चेतना को व्याप्त देखा और वस्तुओं के स्थूल रूपों में अन्तर्निहित सौंदर्य सत्य की सूक्ष्म सत्ता को उद्घाटित किया यद्यपि वह सत्ता वास्तविक नहीं, स्वयं कवियों द्वारा वस्तुओं में आरोपित थी। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने कवियों को अपना अलग आदर्श जगत निर्मित करने के लिए प्रेरित किया। उनकी उदार कल्पना उसमें सहायिका हुई। आध्यात्मिक आदर्शों के लोक में व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के प्रसार का पूरा अवसर मिलता है और उसके अहम् की तृप्ति या विसर्जन भी होती है। अधिकतर छायावादी कवियों ने अपने अहम की तृप्ति और उत्सर्ग के लिए आध्यात्मिकता के माध्यम से विद्रोह का स्वर ऊँचा किया है। निराला इसके प्रमाण हैं।

यह आदर्शवाद केवल अध्यात्म के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था। सौन्दर्यबोध इतिहास और राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में भी उसका प्रसार दिखलाई पड़ता है। आध्यात्मिक आदर्शवाद के अनुसार यह जगत मिथ्या हैं, आत्म सत्य चिरन्तन और अखण्ड है और परोक्ष सत्ता से मिलन ही उसका साध्य है। उसी तरह काव्य के क्षेत्र में भी यथार्थ से कल्पना को विच्छिन्न करके एक आदर्श स्वप्नलोक की गयी जहाँ जगत की विषातायें और आत्मा की स्वतन्त्रता के मार्ग की बाधायें नहीं हैं। प्रकृति और अध्यात्मत के क्षेत्रों के अतिरिक्त अतीत के इतिहास से भी अपने स्वप्नलोक के निर्माण के लिए छायावादी कवियों ने उत्पादान ग्रहण किए हैं। वर्तमान जगत से असन्तुष्ट होकर उन्होंने स्वप्नलोक का निर्माण किया और जगत के विषम कोलाहल से दूर भाग कर उससे मुक्ति पाने की कामना की। इसीलिये 'क्षितिज के पार' 'ज्योतिर्मय', 'उस पार', 'निर्जन वन-प्रान्तर', 'आकाश-सुमन', 'स्वर्णज्वाल', 'नन्दन-वन', 'स्वर्ग' आदि शब्दों की बार-बार आवृत्ति की गई और 'मग्नहृदय' 'टूटेतार' 'हृदयवीणा' 'मूकरुदन' 'विरह-वेदना', 'सुप्त व्यथा', 'विफल रागिनी' आदि शब्दों द्वारा वर्तमान से असन्तोष की भावना को वाणी दी गई। इस तरह एक तरफ तो अपने जीवन के प्रति असन्तोष प्रकट किया गया और

दूसरी तरफ कल्पना और स्वप्न के लोक में विचरण किया जाने लगा। किन्तु यह दर्द की दवा नहीं, उसे थोड़ी देर तक भुलाने का इंजेक्शन मात्र था। फिर भी इस प्रवृत्ति को प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में यह भी विद्रोह की भावना को ही अभिव्यक्त करने वाली थी। अतः जीवन के असौन्दर्य और अभाव की क्षतिपूर्ति काव्य में आदर्शों की प्रतिष्ठा द्वारा की गई।

छायावादी कविता में अभिव्यक्त राजनीतिक विचारधारा में भी उसी व्यक्तिवादी आदर्शवाद का दर्शन होता है। कहा जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों और क्रान्तियों तथा राजनीतिक विचार धाराओं का प्रभाव भारतीय मध्यवर्ग पर निरन्तर पड़ता रहा। महायुद्ध के बाद उनका प्रभाव और भी तीव्र हो गया। रूसी क्रान्ति और आयरलैण्ड के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन को हिंसात्मक पद्धतियों तथा यूरोपीय अराजकतावादी विचारधाराओं को भारतीय राजनीति में भी स्थान मिला। बंगला काव्य की तरह छायावादी कविता में भी इन भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई। बंगाल में नज़रुल इस्लाम ने अपनी क्रान्तिकारी कविताओं द्वारा राजनीतिक चेतना को जाग्रत करने का बहुत बड़ा काम किया था। यह लहर हिन्दी में भी आई। गान्धी जी के आन्दोलन और आदर्शों का प्रभाव भी हिन्दी कविता पर पड़ रहा था। इस युग की राष्ट्रीय कविताओं में राजनीतिक चेतना के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं। प्रथम प्रकार की राष्ट्रीय कविता में छायावादी शैली में गान्धीवादी राजनीतिक विचारधारा व्यक्त की गई और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये जनता को उद्बुद्ध किया गया। दूसरे प्रकार की कविता में अराजकतावादी आदर्शवाद की ध्वनि थी जिसमें 'महानाश' 'क्रान्ति', 'ध्वंस', 'अग्निवीणा' आदि शब्दों द्वारा क्रान्ति का आवाहन किया गया, उसे निर्बन्ध, लक्ष्यहीन और अनियन्त्रित बताया गया। इस तरह इस ध्वंसात्मक क्रान्ति की भावना के पीछे कोई रचनात्मक विचारधारा नहीं थी। इन कविताओं में वर्ग संघर्ष और नवीन समाज व्यवस्था की कोई रुपरेखा नहीं दिखलाई पड़ी। बहुधा इनकी अभिव्यक्ति प्रतीक-पद्धति में हुई जिससे इनकी प्रभावोत्पादकता भी कम हो गई। फिर भी, ये दोनों ही प्रकार की राष्ट्रीय कविताएँ राजनीतिक विद्रोह की भावना को अभिव्यक्त करने वाली थीं। इनमें पलायन की नहीं, संघर्ष का सामना करने की प्रवृत्ति थी। बंगाल के हिंसात्मक क्रान्तिकारी भी इसी विचारधारा को लेकर चलने वाले थे। बंगाल में परिस्थितियों के प्रभाव से जमीदार वर्ग के पढ़े लिखे युवक पूँजीवादी विचारधारा के समर्थक हो गये थे और पूँजीवाद के साथ कंधे से कंधा मिलाकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहे थे। इसीलिए उनमें वर्ग भावना उतनी नहीं थी जितनी भावुकता। अत: वे क्रान्ति के साथ आध्यात्मिकता की भावना का समन्वय करके चल रहे थे और जब वर्ग भावना तीव्र हुई तो इनमें से बहुतों ने मध्यवर्ग का साथ छोड़कर निराशाजन्य आध्यात्मिकता की शरण ली अथवा भावुकता के अतिरेक में विक्षिप्त हो गये। अरविन्द घोष और काजी नज़रुल इस्लाम इसके प्रमाण हैं। हिन्दी कवियों में निराला इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। उन्होंने आध्यात्मिकता और क्रान्ति की भावनाओं का समन्वय किया। 'बादल राग' 'जागो फिर एक बार' तथा अन्य कविताओं में उन्होंने ऐसी ही अनियन्त्रित क्रान्ति का भावुकतापूर्ण चित्रण किया। वायरन और नज़रुल इस्लाम की तरह निराला अकेले योद्धा की भाँति सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों से

लड़ते हुये दिखलाई पड़ते हैं। अपनी ओज और व्यंगपूर्ण कविताओं द्वारा उन्होंने अपने क्रान्तिकारी स्वरूप का प्रदर्शन किया है। अन्त में, संघर्ष में क्षत-विक्षत होकर नज़रुल इस्लाम की तरह ही वे भी विक्षिप्त हो गए।

राष्ट्रीयता और सामाजिक विद्रोह की भावना :—

छायावाद युग में राजनीतिक आन्दोलन जितना तीव्र हुआ और लोकतान्त्रिक विचारों का जितना प्रचार हुआ उसके अनुपात में राष्ट्रीय एवं सामाजिक भावनाओं की काव्यात्मक अभिव्यक्ति बहुत कम हुई। फिर भी इस युग के साहित्य में राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं का अभाव नहीं है बल्कि मात्रा में वे पिछले युगों से अधिक ही होगी। किन्तु जो कुछ भी राष्ट्रीय एवं सामाजिक कविताएँ लिखी गई उनमें तेज, ओज, उत्साह और गाम्भीर्य पहले से बहुत अधिक था। महात्मा गान्धी के व्यापक प्रभाव और भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण भारतीय जनता में पर्याप्त नैतिक और आत्मिक बल आ गया था। अतः कवियों के लिए भी सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से अपने को बिलकुल अलग रखना असम्भव था। संवेदनशील होने के कारण वे भी उन समस्याओं का समाधान अपने ढंग से खोजने लगे और राष्ट्रोत्थान के यज्ञ में अपने काव्य द्वारा योगदान करने लगे। इस काल की कविता ने निश्चित रूप से देश में राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना और उत्पन्न करने में बहुत सहायता की। संक्रान्तियुग की राष्ट्रीयता से हिन्दू राष्ट्रीयता और अनुनय-विनय की प्रवृत्ति वर्तमान थी; पुनरुत्थानयुग में बौद्धिक सहानुभूति और इतिवृत्त का वर्णन अधिक हुआ, जिससे उस काल की राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं में कटार की धार जैसी तेजी नहीं थी। किन्तु छायावाद युग की राष्ट्रीय और सामाजिक रचनाओं का रूप और स्वर बदला हुआ था। कभी-कभी राजनीतिक और सामाजिक तत्त्व एक ही कविता में मिले-जुले होते थे। ऐसी कविताओं में कवि पौरुषयुक्त वाणी में रूढ़ियों और परतंत्रता की बेड़ी को काटने के लिए समाज को ललकारता अपने देश के गौरवमय अतीत की ओर ध्यान दिलाता और नवीन समाज व्यवस्था की स्थापना की कल्पना करता था। उदाहरण के लिए निराला की सन् १९२४ की लिखी 'उद्बोधन' शीर्षक कविता ली जा सकती है—

> गरज गरज घन अन्धकार में, गा अपने संगीत
> बन्धु वे बाधा बन्ध विहीन।
> आँखों में नव जीवन का तू अंजन लगा पुनीत
> बिखर झर जाने दे प्राचीन।
> ताल से रे सदियों के विजड़े हृदय कपाट
> खोल दे कर कर कठिन प्रहार।

इस युग के काव्य में राष्ट्रीयता के तीन रूप दिखाई पड़ते हैं—(१) देश भक्ति, (२) स्वतन्त्र्य संग्राम से सम्बन्धित उत्साह और उद्बोधन, (३) राजनैतिक क्रान्ति या बग़ावत। प्रसाद, निराला, पन्त आदि कवियों ने भारतमाता की वन्दना या भारत के गौरव के गान के

रूप में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति की। अनेक कवियों ने देश की जनता, वन पर्वत, नदी, भूमि आदि के प्रति अपनी रागात्माकता की अभिव्यक्ति की। हिमालय के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनेक कविताएँ लिखी गईं। वे सभी देश प्रेम का भाव व्यक्त करने वाली थीं। देश-प्रेम के अतिरिक्त स्वतंत्रता संग्राम के सम्बन्ध में भी बहुत सी कविताएँ लिखी गईं। माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने सत्याग्रह आन्दोलन, जेलयात्रा, ब्रिटिश शासन के अत्याचार आदि के सम्बन्ध में बड़ी तीखी और मार्मिक कविताएँ लिखीं। दिनकर ने 'रेणुका' और 'हुंकार' की अनेक ओजस्वी और भावुकतापूर्ण कविताओं में भारतीय इतिहास के गौरवमय पृष्ठों का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रीय भावों को वाणी दी। उनकी हिमालय शीर्षक प्रसिद्ध कविता ऐसी ही है।

राष्ट्रीयता की भावना जब उग्र रूप धारण करती है तो वही विपथगा क्रान्ति के रूप में दिखलाई पड़ती है। उसमें बुद्धिपूर्वक निश्चित किसी भावी समाज व्यवस्था की कल्पना का अभाव तथा योजनाओं के परिणामों के प्रति लापरवाही का भाव होता है। बंगीय कवि नज़रुल-इस्लाम ने अपनी पुस्तक 'अग्नि वीणा' की ऐसी कविताओं द्वारा बहुत ख्याति पाई थी। इसका प्रभाव हिन्दी कवियों पर भी पड़ा। इस तरह की कविताओं में अत्यधिक क्षोभ, वर्तमान से घोर असन्तोष और शत्रु के प्रति भयंकर क्रोध का भाव अत्यन्त ओज पूर्ण शब्दों में व्यक्त किया गया। इस तरह इन कवियों ने देश को सशस्त्र क्रान्ति की ओर बढ़ने के लिए ललकारा। उन कविताओं में इस बात का संकेत नहीं था कि क्रान्ति के बाद किस तरह की राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था कायम की जायेगी। नवीन, हरिकृष्ण प्रेमी और दिनकर ने इस प्रकार की क्रान्तिकारी कविताएँ लिखी थी।

नवीन अभिव्यंजनापद्धति—

छायावाद की एक विशेषता उसके साहसपूर्ण प्रयोगों में भी दिखलाई पड़ती है। काव्य में नये प्रयोग करने की आवश्यकता उस समय होती है जब कवि के पास नवीन परिस्थितियों में उपलब्ध ऐसा नवीन कथ्य होता है जिसकी अभिव्यक्ति पुराने रूप-शिल्प के माध्यम से नहीं हो सकती। उस समय कवि को परम्परागत रूढ़ काव्य-पद्धतियों से विद्रोह करके नयी भाषा-शक्ति, नवीन कथन भंगिमा और नये छंदों का सहारा लेना पड़ता है। छायावादी कविता का कथ्य पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य के कथ्य से सर्वथा भिन्न था। इसा कारण छायावादी कवियों को पुरानी भाषा, छंद-योजना, अलंकार प्रियता और अभिव्यंजना पद्धति को छोड़कर नवीन छन्दों, यहाँ तक कि मुक्तिछन्द, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों से समन्वित नवीन भाषा और प्रतीक तथा संकेतपद्धति वाली अभिव्यंजना-प्रणाली का सहारा लेना पड़ा। इन प्रयोगात्मक प्रवृत्तियों को पुराने खेवे के रसज्ञों और आलोचकों में, जिनमें सामन्तयुगीन प्रवृत्तियाँ अवशिष्ट थीं, संदेह की दृष्टि से देखा। समर्थ आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने तो यह भी मानने से इनकार कर दिया कि छायावाद में कथ्य सम्बन्धी कोई नवीनता थी। इसी कारण उन्होंने छायावाद को एक शैली मात्र माना। उनके अनुसार छायावाद में "न कोई आँधी थी न तूफान, न कोई कसक थी न वेदना, न प्राप्त युग की नाना परिस्थितियों का हृदय पर कोई नया आघात् था,

न उसका आहत नाद । इन बातों का कुछ अर्थ तब हो सकता था, जब काव्य का प्रवाह ऐसी भूमियों की ओर मुड़ता जिन पर ध्यान न दिया गया रहा होता । छायावाद के पहले नये-नये मार्मिक विषयों की ओर हिन्दी कविता प्रवृत्त होती आ रही थी । कसर थी तो आवश्यक व्यंजक शैली की, कल्पना और सम्वेदना के अधिक योग की । तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था ।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७८४) शुक्ल जी का तात्पर्य यह था कि द्विवेदी-युगीन कवियों ने भी यदि लाक्षणिक और प्रतीकात्मक पद्धति अपनाई होती तो उनका काव्य भी वैसा ही होता जैसा छायावादी काव्य था । वस्तुतः ऐसी बात नहीं है । यद्यपि छायावाद का विकास द्विवेदीयुगीन काव्य के भीतर से ही हुआ है पर द्विवेदी युग के पुनरुत्थानवादी कवियों और परवर्तिछायावादी कवियों के दृष्टिकोण में अन्तर होने से दोनों के कथ्य में बहुत अन्तर था, इसी से पुनरुत्थानवादी कवियों की कविता में वह अभिव्यंजना पद्धति नहीं आ सकती थी जो छायावादी कविता में दिखाई पड़ी ।

रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि छायावाद के सम्बन्ध में पूर्वग्रह युक्त थी । इसी से वे उसे पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद (एक्स्प्रेशनिज़्म) और विम्बवाद (इमेजिज़्म) का अनुकरण समझते थे । किन्तु यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो छायावादी कविता पर इन पश्चिमी वादों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा था, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही इनसे प्रभावित थे । छायावाद पर अंग्रेज़ी के स्वच्छन्दतावादी काव्य का प्रभाव अवश्य पड़ा था । पश्चिम में स्वच्छन्दवादी काव्यधारा की समाप्ति के बहुत बाद अभिव्यंजनावाद और बिम्बवाद का प्रचलन हुआ । हिन्दी के कवियों की दृष्टि इन नये वादों की ओर नहीं गई थी, वस्तुतः छायावादी काव्य का अभिव्यंजना वैचित्य भारतीय ढंग का है, पाश्चात्य ढंग का नहीं । उस पर ध्वनि सिद्धान्त और वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रभाव अधिक है । उसकी प्रतीक योजना और सांकेतिक पद्धति अवश्य अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों तथा बंगला के रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य से किसी सीमा तक मिलती जुलती है । 'कला-कला के लिए' के यूरोपीय सिद्धान्त का भी छायावादी कबियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था । क्रोचे और ब्रैडले का अभिव्यंजनावाद और छायावादी अभिव्यंजना पद्धति भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं और दोनों में कोई भेद न देखना वास्तविकता की अवहेलना करना है । उसी तरह पश्चिम की चित्रकला, मूर्तिकला और काव्य में प्रचलित प्रभाववाद का भी छायावादी कविता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है । शुक्ल जी ने इन प्रभावों को छायावादी कविता की अभिव्यंजना-पद्धति में ज़बरदस्ती खोजने की कोशिश की है ।

जब हम कहते कि छायावादी कवियों ने नवीन अभिव्यंजना प्रणाली अपनाई तो इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि उन्होंने द्विवेदी युग की नीरस और गद्यात्मक काव्यभाषा की जगह कोमल कान्त पदावली और भावानुरूप शब्दों की योजना की । इसका अर्थ यह भी है कि अतिशय आत्मगत होने तथा दुरारूढ़ का सहारा लेने के कारण छायावादी कविता की भाषा भंगिमायुक्त हो गई है, उसमें नयी और अधिक अर्थवत्ता लाने के लिए नवीन अप्रस्तुतों, अलंकारों और विम्बों का प्रयोग किया गया है तथा प्रतीक पद्धति अपना कर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की गई है । इस सम्बन्ध में जयशंकर प्रसाद ने ठीक ही लिखा है कि "जब वेदना

के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से, जिसमें वाह्य वर्णन की प्रधानता थी, इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक संस्पर्श पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणावाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद योजना असफल रही। उनके लिये नवीन शैली, नया वाक्य विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिये प्रयुक्त होने लगी। उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।"[1] प्रसाद जी उस युग के प्रमुख कवि थे, अतः उनका यह कथन प्रमाणिक माना जायेगा। उन्होंने यह भी कहा कि छायावाद को अभिव्यंजना पद्धति भारतीय ढंग की है पाश्चात्य ढंग की नहीं। ध्वनि और वक्रोक्ति का हवाला देते हुए उन्होंने छायावाद की व्याख्या इस प्रकार की है—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।" इससे यह स्पष्ट है कि छायावादी कविता की विशिष्टता और नवीनता बहुत कुछ उसकी गूढ़ और सांकेतिक शैली अर्थात् लाक्षणिक और व्यंजनापूर्ण अभिव्यंजना पद्धति के कारण ही है। किन्तु केवल लक्षणा और व्यंजना के अधिक प्रयोग के कारण छायावादी काव्य की विशिष्टता नहीं है, क्योंकि संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन काव्य में इनका प्रयोग कम नहीं हुआ है। वस्तुतः छायावादी कविता की विशेषता इन प्रयोगों की नवीनता में है। छायावादी कवियों ने अपनी सूक्ष्म कल्पना के नवीन अप्रस्तुतों, प्रतीकों और विम्बों की योजना में लक्षणा और व्यंजना शक्तियों से काम लिया है। पर वे लाक्षणिक और व्यंग्य उक्तियों में कहीं-कहीं इतना आगे चले गये हैं कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ तक पहुँचना कठिन हो जाता है। कहीं-कहीं दोहरी-तेहरी लक्षणाओं तक की योजना की गई है, जिससे कविता बहुत दुरूह हो गई है। इन्हीं अस्वाभाविक और दुरूह प्रयोगों के कारण ही छायावादी कविता जनता के पास तक नहीं पहुँच सकी।

छायावादी कवियों ने स्थूल सौन्दर्य का उतना वर्णन नहीं किया है जितना सूक्ष्म और परोक्ष सौन्दर्य का। वे सौन्दर्य को रूपगत नहीं भावात्मक सत्ता मानते थे। इसीलिये उन्होंने अलंकारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया क्योंकि अलंकार काव्य के शरीर के गुण हैं, आत्मा के नहीं। यों तो, अलंकारों का प्रयोग बोल-चाल की भाषा में बहुत होता है पर आचार्यों ने अलंकार उस विचित्रता को माना है जो उक्ति को लोकातिशायिनी बनाती है। स्पष्ट है कि स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करने वाला कवि इस मत को नहीं स्वीकार कर सकता। छायावाद का जन्म ही इस स्थूल और सामन्ती अलंकृति के विरोध में हुआ था। अतः उसमें केवल स्वाभाविक और स्वतः स्फूर्त अलंकारों का ही प्रयोग हुआ है। उसमें प्रयुक्त अलंकार ऊपर से जड़े हुए या पहनाये हुये नहीं मालूम पड़ते, वे काव्य शरीर के अंग रूप में दिखाई पड़ते

---

१. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १४३।

हैं। छायावादी कवियों ने जान बूझकर अलंकारों का प्रयोग नहीं किया। संभवतः वे जानते भी नहीं थे कि वे किन-किन अलंकारों का प्रयोग कर रहे हैं फिर भी भाषा की शक्ति के उच्छल प्रवाह के साथ उनकी कविता में बहुत से अलंकार स्वतः आ गये हैं। अधिकतर अर्थालंकारों का ही प्रयोग हुआ है। ये अलंकार भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार के हैं। अलंकारों की योजना अधिकतर गुणसाम्य या भावसाम्य के आधार पर हुई है, रूपसाम्य के आधार पर नहीं। बहुप्रचलित अलंकारों—उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा आदि की योजना में छायावादी कवियों ने अधिकतर नवीन अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है, पुराने घिसे-पिटे अप्रस्तुतों का नहीं। सादृश्यमूलक और विरोधमूलक दोनों प्रकार के अलंकारों में यह प्रवृत्ति मिलती है। सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति, तुल्योगिता, दृष्टान्त आदि का प्रयोग अधिक किया गया है। विरोधमूलक अलंकारों में विरोधाभास की ओर छायावादी कवियों का झुकाव सब से अधिक रहा है। पाश्चात्य अलंकारों में उन्होंने मानवीयकरण, ध्वन्यात्मकता, विशेषणविपर्यय और विरोध का प्रयोग बहुत अधिक किया है।

छन्दयोजना में भी छायावादी कवियों ने अपनी विद्रोही प्रवृत्ति का परिचय दिया है। छायावादी कविता लयप्रधान है। भाषा की अपनी एक स्वाभाविक लय होती है और कविता इस लय में कुछ ऐसी विशेषता पैदाकर देती है, जिससे काव्य-भाषा गद्य की भाषा से भिन्न हो जाती है। छायावादी कवि यह मानता था कि समस्त जगत में एक ही लय व्याप्त है जो सब को एक सूत्र में पिरोती है। पन्त ने पल्लव की भूमिका में इस सम्बन्ध में लिखा है—'प्रत्येक की विशेषता भी संसार की वाणी पर अपने हाथ छोड़ जाती है। एक नित्य सत्य है, एक अनित्य। अनित्य सत्य के क्षणिक पद चिन्ह संसार की सभ्यता के राज-पद पर बदलते जाते, पुराने मिटते, नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं—जो अपने सत्य स्वर में सनातन सत्य के एक विशेष क्षण को वाणी देता है:, वही नाद उस युग के वायुमण्डल में गूँज उठता, उसकी हृत्तंत्री से नवीन छन्दों-तालों में, नवीन रागों स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता, नवीन युग अपने लिये नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पन्दन-कम्पन तथा नवीन साहित्य ले आता और पुराना जीर्ण पतझड़ इस नवजात वसन्त के लिए बीज तथा खाद स्वरूप बन जाता है। नूतन युग संसार की शब्द तंत्री में नूतन ठाट जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता, नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं, क्रियाओं, इच्छाओं, आशाओं के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छंद, नये राग, नयी रागनियाँ, नयी कल्पाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं।

पंत ने छंद और लय के सम्बन्ध में परिवर्तन की जो बात कही है वह छायावादी कविता में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। छंद, लय और अंत्यानुप्रास का विधान युगीन समाज की रुचि के अनुसार हुआ करता है। छायावादी कविता में परम्परा के अत्याचार से मुक्ति पाने की भावना थी। इसलिये उसने परम्परागत छंदों का अधिकाधिक त्याग किया। छंद सम्बन्धी परिवर्तन का कार्य संक्रांतियुग में ही प्रारम्भ हो गया था, जबकि कवि लोकगीतों और लोकछंदों की लय ग्रहण करने लगे थे। पुनुरुत्थानयुग में एक प्रवृत्ति संस्कृत के वर्णवृत्तों को अपनाने की थी, पर साथ ही कुछ कवियों ने लोक-प्रचलित छन्दों और धुनों को भी स्वीकार किया तथा मात्रिक

छंदों में स्वच्छदतापूर्वक परिवर्तन करके छन्द सम्बन्धी नवीनता उत्पन्न की। छायावादी कवियों ने संस्कृत के वर्णवृत्तों का त्याग कर दिया और विविध प्रकार के मात्रिक छंदों में प्रगीत, मुक्तक और गीत काव्य की रचना करने लगे। उन्होंने न केवल लोक गीतों के छंदों को अपनाया, बल्कि प्रचलित मात्रिक और वर्णिक छंदों में मात्राएँ घटा-बढ़ा कर, अंत्यानुप्रासों को छोड़ कर, छंदों की पंक्तियों और चरणों की संख्या घटा-बढ़ा कर, गीतों में आन्तरिक पदों और टेकों का विधान कर और मुक्त छंद अथवा मिश्रित छंदों की रचना करके अपनी मुक्ति-कामना को तुष्ट किया। मुक्त छंद का प्रचार इस युग की क्रान्तिकारी भावना का परिचय देता है।

छायावादी रहस्यवाद

पहले कहा जा चुका है कि छायावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति रहस्यवाद की है। प्रारम्भ में यह प्रवृत्ति इतनी प्रमुख थी कि महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल जैसे आचोचकों ने भी छायावाद और रहस्यवाद को एक ही मान लिया था। बाद में, यह स्पष्ट हो गया कि काव्य में रहस्यवाद की धारा प्राचीन काल से चली आ रही है और वह छायावाद में भी नये रूप में वर्तमान है। इस नवीन रहस्यवाद को छायावादी रहस्यवाद कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि विभिन्न युगों में रहस्यवाद का स्वरूप युगीन विचारधाराओं और परिस्थितियों के अनुसार छिन्न-भिन्न हुआ करता है। यूनान के प्राचीन तथा भारत के वैदिक साहित्य में जो रहस्यवाद मिलता है, उसे सर्वचेतनावादी रहस्यवाद कहा जा सकता है। सामी धर्मों के साहित्य में प्राप्त रहस्यवाद को छायाभासात्मक रहस्यवाद (फैन्टेस्मेटिक मिस्टिसिज़्म), सूफ़ियों के रहस्यवाद को प्रतिबिम्बवादी रहस्यवाद, उपनिषदों के रहस्यवाद के ज्ञानात्मक रहस्यवाद और बौद्धों तथा मध्यकालीन भारतीय संतों के रहस्यवाद को साधनात्मक रहस्यवाद कहा जा सकता है। वर्तमान समय में नयी कविता के भीतर भी अज्ञेय और कुँवरनारायण की कविता में रहस्यवादी अनुभूतियाँ व्यक्त हुई हैं। इसे आधुनिकतावादी रहस्यवाद कहना उचित है।

रहस्यवाद की परिभाषा करना असम्भवप्राय है क्योंकि रहस्यानुभूति के इतने गहरे और गुह्य आयाम हैं जिन्हें एक परिभाषा में समेटा नहीं जा सकता। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि परोक्ष सत्ता के प्रति जीव की जिज्ञासा, खोज, परिचय, मिलन, विरह, तादात्म्य आदि की गुह्य और अनिर्वचनीय अनुभूतियों की भाषिक अभिव्यक्ति ही काव्यात्मक रहस्यवाद है 'रहस्य' शब्द रहस् से बना है और रहस्य शब्द रहस् धातु में असुन् प्रत्यय लगा कर बना है। रहस् का अर्थ है त्याग और रहस का अर्थ है गुह्य, एकान्त अथवा गोपनीय। इस तरह रहस्यवाद उस काव्य का नाम है जिसमें गोपनीय या गुह्य आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। चूंकि गुह्य या गोपनीय आध्यात्मिक अनुभूतियाँ अनिर्वचनीय होती हैं अतः उन्हें केवल प्रतीकात्मक और सांकेतिक भाषा में ही व्यक्त किया जा सकता है। ऐसी अनुभूतियों को व्यक्त करने का प्रश्न केवल साहित्य और कला में ही उत्पन्न होता है। साधना के क्षेत्र में उनकी अभिव्यक्ति का नहीं, उपलब्धि का महत्त्व होता है। यहाँ एक विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित होता है कि रहस्यात्मक साधना के बिना भी कोई कवि रहस्यवादो काव्य

लिख सकता है या नहीं। प्राचीन काल में जितने भी रहस्यवादी कवि हुए, प्रायः सभी आध्यात्मिक साधक या उपासक थे। उनका सम्बन्ध किसी न किसी धर्म, सम्प्रदाय या दर्शन से अवश्य होता था। किन्तु आधुनिक युग में धर्म का महत्त्व कम हो जाने और वैज्ञानिक दृष्टि के अधिकाधिक विकसित हो जाने के कारण धर्मों तथा सम्प्रदायों के प्रति लोगों की आस्था नहीं रह गयी और आध्यात्मिकता का साधना से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। पर साधनात्मक मार्गों के लुप्त हो जाने पर भी आध्यात्मिक चेतना बनी रही। आधुनिक युग का रहस्यवाद साधनात्मक नहीं, भावानात्मक या चेतनात्मक है। आज के रहस्यवादी कवि के लिए किसी धर्म, सम्प्रदाय या दार्शनिक सिद्धान्त से बँधा रहना आवश्यक नहीं रह गया है।

छायावादी रहस्यवाद भी मुख्यतः भावनात्मक या चेतनात्मक है, इसका यह अर्थ नहीं कि छायावादी कवियों पर प्राचीन भारतीय दार्शनिक मतवादों और धार्मिक सिद्धान्तों का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा है। छायावादी कवि विद्रोही अवश्य थे किन्तु उनका विद्रोह परम्परागत रूढ़ियों से था। राष्ट्रीय और जातीय परम्परा के अनेक तत्त्वों को उन्होंने न केवल स्वीकार किया है बल्कि और भी विकसित किया है। छायावादी रहस्यवाद मध्यकालीन भारतीय रहस्यवाद का ही विकसित रूप है। इसमें अतिक्रान्त परम सत्ता (ट्रान्सेडेन्टल रियेलिटी) के बोध और साक्षात्कार की भावात्मक अभिव्यक्ति अधिक हुई है। जयशंकर प्रसाद ने छायावादी रहस्यवाद के सम्बन्ध में लिखा है :—"इसमें परोक्ष की अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है।" छायावादी कवियों की कविता में रहस्यवाद के जितने रूप मिलते हैं उन सबका सूत्र प्रसाद जी के कथन में वर्तमान है।

छायावादी रहस्यवाद के स्वरूप के विवेचन करने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि बीसवीं शताब्दी में हिन्दी कविता में रहस्यवादी प्रवृत्ति का उदय किस प्रकार हुआ। पहले कहा जा चुका है कि इस शताब्दी के प्रथम दो दशकों का काल सांस्कृतिक पुनरुत्थान का काल था। इस युग में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों पर आर्य समाज और ब्रह्मसमाज के आन्दोलनों तथा रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि आधुनिक युग के सन्तों के व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ा था। आर्यसमाज वेदों के अध्ययन पर जोर दे रहा था। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त के सिद्धान्तों को भक्ति, योग और कर्म के सिद्धान्तों के साथ समन्वित किया। स्वामी रामतीर्थ ने अद्वैतवाद का सिद्धान्त सारे संसार में प्रचारित किया। लोकमान्य तिलक ने गीता का विद्वत्तापूर्ण भाष्य 'गीता रहस्य' लिखकर प्राचीन भारतीय ज्ञानमार्ग और कर्म मार्ग का प्रचार किया। महात्मा गान्धी ने सत्य और अहिंसा का मार्ग अपना कर गीता के निष्काम कर्मयोग की शिक्षा दी। इसी काल में अनेक भारतीय इतिहासकारों तथा भारतीय विद्याविदों के शोधकार्यों के परिणाम स्वरूप बौद्ध धर्म की अनेक अज्ञात् बातों पर प्रकाश पड़ा। इन सब प्रभावों और प्रेरणाओं के कारण वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणग्रन्थों, षड्दर्शनों, गीता, बौद्ध-दर्शन तथा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन का अध्ययन किया जाने लगा। सन् १९१३ ई० में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जब उनके 'गीतांजलि' नामक काव्यग्रन्थ पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ तो सारे देश

का ध्यान रवीन्द्रनाथ की कविता की ओर गया। उनके काव्य ने भी हिन्दी कवियों को बहुत दूर तक प्रभावित किया। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त नयी पीढ़ी के कवियों पर अंग्रेज़ी के स्वच्छन्दतावादी कवियों की रहस्यात्मक भावना वाली कविता का भी प्रभाव पड़ा था। छायावादी कवियों में जयशंकर प्रसाद ने भारतीय दर्शनों का गहन अध्ययन किया था। निराला पर रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद का सर्वाधिक प्रभाव था। महादेवी वर्मा ने उपनिषदों, वेदान्त और बौद्ध-दर्शन का अध्ययन करके उनसे प्रभाव ग्रहण किया था।

इस अध्ययन, मनन और चिन्तन का प्रभाव खड़ी बोली की कविता में रहस्यवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति के रूप में दिखाई पड़ा। प्रसाद का रहस्यवाद कश्मीर के शैवागम दर्शन (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) से पूर्णतः प्रभावित है। सन् १९१४ ई० से ही मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, रायकृष्णदास, बदरीनाथ भट्ट और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी रहस्यवादी कविताएँ लिखने लगे थे। इन कवियों पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य का प्रभाव पड़ा था। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने मध्यकालीन संतों और बंगाल के बाउल गीतों से प्रभाव ग्रहण किया था। इस तरह भारतीय रहस्यवाद की धारा ही रवीन्द्रनाथ के काव्य से होती हुई हिन्दी में अवतरित हुई। किन्तु, सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य में जो रहस्यवाद मिलता है उस पर अँग्रेज़ी के स्वच्छन्दतावादी कवियों की सर्वचेतनावादी विचारधारा का अधिक प्रभाव है। इस तरह छायावाद युग में जो रहस्यवादी कविताएँ लिखी गयीं उनमें कहीं दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर आत्मा, परमात्मा और जगत के नित्य सम्बन्धों की व्याख्या की गई है, कहीं एक ही पारमार्थिक सत्ता का, समस्त व्यक्त जगत की जड़-चेतन सभी वस्तुओं में, आभास देखा गया है, कहीं आत्मा एवं परमात्मा के दाम्पत्य सम्बन्ध की कल्पना करके मिलन-विरह की अनुभुतियों का प्रतीकात्मक वर्णन किया गया है और कहीं जगत को दुख का आगार मानकर 'उस पार' या 'क्षितिज के पार' जाने की लालसा व्यक्त की गयी है। छायावाद युग के कवियों में जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, रामकुमार-वर्मा और माखनलाल चतुर्वेदी ने ही मुख्य रूप से रहस्यवादी कविताएँ लिखी हैं। इनमें भी प्रसाद और महादेवी वर्मा की कविताओं में रहस्यवादी प्रवृत्ति सबसे अधिक है।

यदि विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों और साधना-मार्गों के आधार पर छायावादी रहस्यवाद की परीक्षा की जाय तो उसमें रहस्यवाद के निम्नलिखित रूप दिखाई पड़ेंगे—(१) अद्वैतवादी (ज्ञानमार्गी) रहस्यवाद (२) प्रेममार्गी रहस्यवाद (३) आनन्दवादी रहस्यवाद (४) सर्वात्मवादी रहस्यवाद या प्राकृतिक रहस्यवाद। अद्वैतवाद प्राचीन वेदान्त दर्शन का शंकराचार्य द्वारा दिया गया नया नाम था। संसार को मिथ्या, ब्रह्म को सत्य और ब्रह्म और जीव की एकता सिद्ध करके इस दर्शन ने मनुष्य को स्थूल भौतिक जगत के बन्धनों से मुक्ति का एक मार्ग बताया था। ब्रह्म वास्तविक हो या केवल कल्पना, उसके साथ सम्बद्धस्थूल जगत से बन्धनों से आत्मा को मुक्त करने की कल्पना मानव-विजय की बहुत बड़ी महत्त्वाकांक्षा थी। बीसवीं शताब्दी में इस आकांक्षा की लहर भारतीय जीवन में पुनः दौड़ पड़ी। यह मध्यवर्गीय भारतीय जनता की विदेशी साम्राज्यवाद तथा देशी सामन्तवाद के कठोर बन्धनों से मुक्ति की आकांक्षा का रूपान्तर मात्र थी। भारतीय भाषाओं के साहित्य में बीसवीं शताब्दी में रहस्य-

वाद का प्रादुर्भाव उसी राष्ट्रीय और सामाजिक मुक्ति की आकांक्षा की उमड़ती हुई शक्ति की अभिव्यंजना का प्रतीकात्मक प्रयत्न था। छायावादी कविता में यह विचारधारा निराला, महादेवी और पन्त की कविताओं में व्यक्त हुई है। निराला की 'तुम और मैं' और महादेवी की 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' शीर्षक कविताओं में अद्वैतदर्शन का सफल रूपकात्मक वर्णन हुआ है। निराला के काव्य में अद्वैतवादी रहस्यवाद की प्रमुखता है। प्रेममार्गी रहस्यवाद सूफ़ी मत के प्रतिबिम्बवादी दर्शन तथा मध्यकालीन वैष्णवमार्गी की प्रेमा या रागानुराग भक्ति का आधुनिक रूप है। आध्यात्मिक प्रेम दो प्रकार का होता है। एक का आलम्बन निर्गुण परमसत्ता की साकार मूर्ति है और दूसरे का निराकार ब्रह्म। प्रथम प्रकार के आलम्बन के प्रति साधक का रतिभाव चार प्रकार का होता है, वात्सल्य भाव, सख्य भाव, दाम्पत्य या माधुर्य भाव और दास्य भाव। दूसरे प्रकार के आलम्बन के प्रति साधक का रति भाव केवल अनुभूतिगम्य और अनिर्वचनीय होने के कारण लौकिक रति भाव के विविध रूपों के प्रतीकों द्वारा व्यक्त होता है। आध्यात्मिक प्रेम, जिसकी अभिव्यक्ति सीधे ढंग से नहीं हो सकती, रहस्यात्मक हो जाता है। यही रहस्यमय प्रेम, जिसमें औत्सुक्य और जिज्ञासा के साथ प्रिय की पहिचान, आभास, मिलन, विरह आदि की विविध दशाओं की अनुभूतियाँ व्यक्त होती हैं, छायावादी कविता में प्रधान रूप से दृष्टिगोचर होता है। महादेवी वर्मा की आध्यात्मिक प्रेम-भावना इसी प्रकार की है। उनकी आध्यात्मिक वेदना का सीधा सम्बन्ध सूफ़ियों की विरह-वेदना तथा चैतन्य और मीरा के आध्यात्मिक प्रेम की पीड़ा से है।

जयशंकर प्रसाद के काव्य में आनन्दवादी रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। संसार की अनित्यता और जागतिक दुःखों से मुक्ति पाने के लिए शैवागम के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन ने आनन्द-मूलक साधना का मार्ग निकाला था। यह मार्ग बाह्यतः सहजयानी बौद्धों के सहजसाधना मार्ग जैसा था। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार शिव (ब्रह्म) के दो रूप हैं, विश्वोत्तीर्ण रूप शिव और विश्व रूप शिव-शिव की परम शक्ति (महाचिति) जब सजग होती है तो ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्तियों का वैषम्य उत्पन्न होता और यह जगत उन्मीलित हो जाता है। उक्त तीनों शक्तियों में साम्य स्थापित हो जाने पर विश्व ब्रह्म में विलीन हो जाता है। यही प्रलयावस्था है। जागतिक दुःखों से मुक्ति का उपाय शिवत्वबोध से है। इस बोध के बिना जगत दुःखमय प्रतीत होता है। वस्तुतः दुःख अनित्य और भ्रम है। जीव को अपने शिवत्व का अभिज्ञान हो जाने पर ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्तियों की विषमावस्था स्वतः समाप्त हो जाती है और फिर प्रतिकूल वेदना या दुःख का बोध नहीं होता। यही समरसावस्था है। इस तरह यह दर्शन रागमूलक आनन्द को अपना लक्ष्य मानता है जब कि अद्वैतवाद का लक्ष्य विरागमूलक निरपेक्ष आनन्द था। जयशंकर प्रसाद ने इसी को सचेत रूप से अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनाया था। समूचे प्रसाद साहित्य की रीढ़ यह आनन्दवादी दर्शन ही है। इस आनन्द साधना की अनुभूतियों को प्रसाद ने अनेक रूपों में व्यक्त किया है। कामायनी काव्य इसी रहस्य-साधना की रूपक कथा (एलेगॉरी) है। उसमें कवि ने एक ऐसे समन्वयमूलक जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया है जो आध्यात्मिक क्षेत्र के साथ ऐहिक जगत की समस्याओं का भी समाधान दे सकता है। उस जीवन दर्शन के मूल में है श्रद्धा, जो जीव की संकल्पनात्मक अनुभूति का

प्रतीक है। मनुष्य की संकल्पात्मक अनुभूति सदैव उसे सत्पथ पर अग्रसर करती है और अन्त में उसे समन्वय की दृष्टि देती है। इस दर्शन के अनुसार रागात्मक वृत्तियों को छोड़ा नहीं जा सकता, अतः शारीरिक भोग के मार्ग से ही आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

छायावादी रहस्यवाद में पाश्चात्य प्राकृतिक दर्शन और वैदिककालीन भारतीय सर्वात्मवादी चिन्ताधारा का समन्वय भी दिखलाई पड़ता है। पाश्चात्य प्राकृतिक दर्शन का मूलस्रोत यूनानी साहित्य है जिसमें सर्वात्मवादी (पैन्थिईस्टिक) भावना वर्तमान थी। स्वच्छन्दतावादी काव्य के अन्तर्गत यह भावना प्रमुख रूप से व्यक्त हुई है। इसमें कवियों ने प्रकृति के भीतर परमसत्ता के शुद्ध रूप को देखा था। भारतीय आर्यों ने भी वैदिक मन्त्रों में प्रकृति के भीतर सर्वत्र एक ही चेतना को व्याप्त पाया था। इन दोनों आध्यात्मिक दृष्टियों का प्रभाव ग्रहण करके छायावादी कवियों ने अपने काव्य में जिस रहस्यवाद को अपनाया है उसे आधुनिक सर्वात्मवादी रहस्यवाद कह सकते हैं। इसीलिए प्रायः सभी कवियों ने आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण करते हुए उसमें चेतन सत्ता का आरोप किया है। प्रकृति के मानवीकरण के मूल में भी यही कारण वर्तमान है। पन्त, निराला और महादेवी ने इस प्रकार की कविताएँ अधिक लिखी हैं। महादेवी को प्रकृति अधिकतर परोक्ष सत्ता की अभिव्यक्ति का माध्यम प्रतीत होती है। वे अपने प्रिय को बार-बार प्रकृति में प्रतिबिम्बित देखती हैं। पन्त को भी प्रकृति परोक्ष की छाया के रूप में दिखलाई पड़ती है। वे उसी प्रतिबिम्ब की सत्ता से तादात्म्य स्थापित कर अपने आराध्य से मिलना चाहते हैं। छाया शीर्षक कविता में उनकी यह दृष्टि स्पष्टतया व्यक्त हुई है—

> हाँ सखि आओ बाँह खोल हम
> लगकर गले जुड़ा ले प्राण,
> फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
> हो जावें द्रुत अन्तर्ध्यान।

रहस्यवादी कविता प्रतीकात्मक और सांकेतिक होती है। परोक्ष सत्ता निर्गुण और अनिर्वचनीय है। उसकी अनुभूति का वर्णन करना उतना ही कठिन है जितना गूंगे का भाव-प्रकाशन करना। पर गूँगा भी अपने मन की बात प्रतीकों और संकेतों के माध्यम से व्यक्त कर लेता है। यह अवश्य है कि उसकी लाक्षणिक और सांकेतिक भाषा सभी नहीं समझ पाते। रहस्यवादी कविता में भी आदिकाल से कुछ निश्चित प्रतीकों का प्रयोग होता आ रहा है। प्रतीक धार्मिक हों या साहित्यिक, जब वे रूढ़ हो जाते हैं तो उनका व्यंग्यार्थ लुप्त हो जाता और वे अर्थहीन और खोखले अभिधान मात्र रह जाते हैं। छायावादी कवियों ने विषयवस्तु और रचनापद्धति, दोनों ही में प्रतीकों और संकेतों का अत्यधिक प्रयोग किया है। रहस्यवादी धारा के अन्तर्गत इनकी स्थिति अनिवार्य है। छायावादी रहस्यवाद में मध्यकालीन साधना-मार्गों—योग, तंत्र आदि के प्रचलित प्रतीकों का प्रयोग नहीं किया गया है क्योंकि वह धार्मिक या साधनात्मक नहीं है। परोक्ष सत्ता की बौद्धिक चेतना ही जब अनुभूति के स्तर पर पहुँचती है तो छायावादी कवि अधिकतर प्राकृतिक उपादानों और भौतिक जीवन की क्रियाओं को प्रतीक बनाकर उन्हीं के माध्यम से अपनी रहस्यानुभूतियों को व्यक्त करते हैं।

स्वछन्द वैयक्तिक काव्यधारा

छायावाद युग के दूसरे चरण (सन् १९३०-१९४० ई०) में छायावादी व्यक्तिवाद ने अहम्वाद का रूप धारण करना शुरू कर दिया। पूर्ववर्ती छायावादी कवि अपने व्यक्तित्व के उपासक थे, अहम् के नहीं। वे अपने प्रति सजग रहते हुए भी संसार से द्रोह नहीं करते थे। वे व्यक्तिवादी थे किन्तु परवर्ती छायावादी कवि व्यक्तिवाद से आगे बढ़कर अहम्वादी हो गये। अहंवाद पूँजीवादी समाज की विसंगतियों का परिणाम है। मध्यवर्ग का व्यक्ति सर्वहारावर्ग में जाना नहीं चाहता, वह स्वच्छन्द रूप से व्यक्तिगत हित साधन करता हुआ आत्मोन्नति करना चाहता है। पर पूँजीवादी होड़ और संघर्ष में टिक नहीं पाता। वैज्ञानिक उद्योगों के उत्तरोत्तर विकास के कारण समाज में बेकारी बढ़ती है। पूँजीवादी लोकतन्त्र व्यक्ति की सुरक्षा का उत्तरदायित्व नहीं लेता, न उसे मरने की ही स्वतन्त्रता देता है। इस तरह पूँजीवाद के चरम विकास की अवस्था में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग का 'स्वतन्त्रता का भ्रम' टूटता है और वह अपने को नियति का बन्दी समझने लगता है। निराशा और मृत्युपूजा की भावना उसे बुरी तरह जकड़ लेती है। व्यक्तिवादी अहंवाद का दूसरा रूप असामाजिक उच्छृंखलता और समाज के प्रति द्रोह की भावना है। छायावाद युग के उत्तरार्ध में भारत की राजनीतिक और आर्थिक अवस्था ऐसी हो गयी कि छायावादी कवि का स्वप्नलोक और स्वतंत्रता का कल्पना-नीड़ नष्ट हो गया। परिणामस्वरूप एक ओर तो साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन का जन्म हुआ, दूसरी ओर स्वच्छन्द और अहंवादी व्यक्तिवाद की भावनाएँ व्यक्त की जाने लगीं। छायावादी कविता में प्रारम्भ में 'मैं' शैली अवश्य अपनायी गयी थी। परन्तु कवि अपने निजी सुख-दुःख की कथा या घरेलू घटनाओं का वर्णन काव्य में नहीं करता था। इस दूसरे दौर की छायावादी कविता व्यक्तिवादी न रहकर व्यक्तिगत हो गयी इसके मूल में नये कवियों की अहंवादिता ही थी। अब कवि अपने को सबसे अलग, सबसे प्रताड़ित और निरवलम्ब और कभी-कभी सच्चे अहंवादी की तरह सबसे बुद्धिमान समझने लगा। इसका प्रमाण भगवतीचरण वर्मा के काव्य-ग्रन्थ 'मानव' की भूमिका है जिसमें उन्होंने लिखा है, "आज जब मैं सोचता हूँ कि किस प्रकार अपना मस्तक ऊँचा कर मैं भूख और बेकारी से लड़ा हूँ, किस प्रकार मैंने 'आत्मसम्मान, अपनेपन' की रक्षा की है, तब मुझे कुछ शान्ति मिलती है। दुनियावालों की नज़र में खोया ही है, पाया कुछ नहीं। पर अपनी नज़रों में मैंने एक महान् अनुभव पाया है और मैं समझता हूँ कि मैं सत्य के बहुत निकट पहुँच गया हूँ—मैं अहम् का उपासक रहा हूँ। अहम् नाम की चीज़ गुलामों में नहीं मिल सकती।" अहम् का इस प्रकार प्रशस्ति-गान करने वाले कवियों ने अपने व्यक्तिगत जीवन की कथा कह कर तथा अपनी चारित्रिक कमज़ोरियों को स्वच्छन्दता का नाम देकर काव्य-रचना करना शुरू किया।

इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि जीवन-संघर्ष में पराजित कवि अपने अहम् के घेरे में बन्द होकर अपने को विजयी समझने लगे अथवा अपने निजी सुख दुःख, आशा-निराशा का दैन्य-भाव से निवेदन करने लगे। इस प्रकार वे काव्य में प्रेम की सफलता, असफलता, प्रेमिका का रूप-सौन्दर्य, आलिंगन, चुम्बन, अभिसार, विरह की नाना दशाओं, जीवन की अन्य असफलताओं, निराशा और वेदना, मृत्यु की कामना, शराब और साक़ी से दिलबहलाव आदि

का चित्रण करने लगे। यह निजी कविता ह्रासशील पूँजीवाद की परिस्थितियों की देन थी। उसे तत्कालीन 'पराजित पीढ़ी' की कविता कह सकते हैं।

उसमें अहंवाद के तीन रूप व्यक्त हुए हैं—

(१) आत्मरति, आत्मप्रशंसा और झूठा आत्मविश्वास

(२) व्यक्तिगत जीवन की निराशा, वेदना, प्रेम की असफलता, मृत्यु की उपासना

(३) मधुचर्या, शारीरिक सौन्दर्य का खुला चित्रण, मानसिक व्यभिचार और क्षयी-रोमान्स।

भगवतीचरण वर्मा के 'प्रेम-संगीत' और 'मानव' नामक काव्य-संग्रहों में अहंवाद की अभिव्यक्ति सबसे अधिक हुई है। बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और अंचल का काव्य आत्मरति, मधुचर्या और खुले रोमांस से भरा है। बच्चन के 'निशा-निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल-अन्तर' नामक काव्यसंग्रहों तथा नरेन्द्र शर्मा की कई कविताओं में निराशा, वेदना और मृत्यु-पूजा की अतिरंजित अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार परवर्ती छायावादी कवियों ने जीवन को गम्भीरता की दृष्टि से नहीं देखा। उनमें तत्त्व चिन्तन का अभाव और जीवन की स्थूल और ऊपरी समस्याओं में उलझे रहने की प्रवृत्ति थी। अत्यधिक भावुकता और कैशोर रूमानी भावनाओं के कारण उनके काव्य में अनुभूतिगत गहराई नहीं हैं।

किन्तु इन कवियों की एक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने छायावादी कविता को अतिशय कल्पनाशीलता और आरोपित आध्यात्मिकता के मार्ग से हटाकर जीवन की यथार्थ-भूमि पर अग्रसर किया, उसे स्वप्न के शीशमहल से निकाल कर मांसल अनुभूतियों का क्षेत्र प्रदान किया, काव्य भाषा को जनभाषा के निकट पहुँचाया और अनुभूतियों की सीधी अभिव्यक्ति का मार्ग अपना कर कविता को जन साधारण के लिए बोधगम्य बनाया। छायावाद नाम के पीछे एक धारणा यह भी थी कि वह छाया या कुहरे के समान अस्पष्ट है, समझ में नहीं आती। बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर, नेपाली आदि परवर्ती छायावादी कवियों की कविता में न तो दूरारूढ़ कल्पनाएँ थीं, न गूढ़ संवेदनाएँ, न लाक्षणिक और व्यंग्यात्मक उक्तिवैचित्र्य और न सूक्ष्म प्रतीकात्मकता और सांकेतिकता। इस कारण इनकी कविताएँ अधिक लोकप्रिय हुईं। ये कवि प्रायः कवि सम्मेलनों में कविताएँ सुना कर लोकप्रिय हुए। इस तरह इस युग में कवियों और जनता के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित हुआ। इसका कारण यह था कि इनकी काव्यशैली पूर्ववर्ती छायावादी कविता की उदात्त और गरिमामयी शैली से भिन्न, साधारण और सहज थी। इस शैली में सामान्य मानव की सहज अनुभूतियों की अभिव्यक्ति आसानी से हो सकती है। इसीलिए इन कवियों की कविता में अनुभूति की ईमानदारी और तीखापन अधिक है, गहराई और बाँकपन उतना नहीं है। परन्तु पाठक के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करने की यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं शिष्टता की सीमा का उल्लंघन कर गयी है। जहाँ जुगुप्सा-जनक और दैनिक जीवन के अति साधारण तथ्यों का कथन है वहाँ इस शैली की कविताओं से आकर्षण की जगह विकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इन कवियों ने बहुत ही सहज और सुबोध भाषा का प्रयोग किया है जो बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। भाषा को अलंकृत बनाने या सजाने-सँवारने की अथवा उसे अधिक अर्थवती और शक्तिमयी बनाने की ओर उनकी

रुचि नहीं थी। इसलिए उन्होंने प्राय: अभिधाप्रधान कविताएँ लिखी हैं, जिससे बहुधा उनकी भाषा गद्य की भाषा जैसी लगती है। इस तरह सहज संवेदना, सच्ची अनुभूति, सरल शैली, सुबोध भाषा और सामान्य भावबोध ही इन कविताओं की निजी विशेषता है।

छायावाद युग में प्रगतिवाद का संकीर्ण रूप सामने नहीं आया था। छायावादी कवि पन्त और निराला की सामाजिक वस्तु तत्त्व वाली कविताएँ भी, जो अभिव्यंजना और भाषा की दृष्टि से छायावाद से भिन्न नहीं थीं, प्रगतिवादी मानी जाती थी। ऐसी कविताओं को छाया-वादी प्रगतिवाद कहा जा सकता है। सन् १९४० ई० तक लिखी गयी प्राय; सभी प्रगतिवादी कविताएँ छायावादी भी हैं। पंत के युगान्त से परिवर्तन का जो क्रम प्रारम्भ हुआ उसने 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' में पहुँचकर एक निश्चित रूप धारण कर लिया। ये कविताएँ बौद्धिक विवेचना और आरोपित सहानुभूति से भरी थीं; उनमें कवि की आत्मीयता का कहीं पता नहीं था। पंत ने मार्क्सवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय करके एक नवीन सामाजिक दृष्टि को अपने काव्य में अभिव्यक्त किया। उनकी दृष्टि समाज के शोषित, पीड़ित और उपेक्षित वर्गों की ओर गयी और उन्होंने उन्हें अपने काव्य का वर्ण्य विषय बनाया। आगे चल कर पंत ग्रामीण नरनारियों और रीतिरिवाजों का चित्रण करते हुये सामान्य जनता के प्रति अपनी तर्कपूर्ण सहानुभूति और बौद्धिक आसक्ति की अभिव्यंजना करने लगे। इसी प्रकार भगवती-चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर, केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन ने भी कविता को प्रगति-वादी विचार व्यक्त करने का माध्यम बनाया। जीवन के गहरे अनुभवों से प्राप्त सामाजिक यथार्थ का कोई स्वोपलब्ध सत्य उनके पास नहीं था, जिसे व्यक्त कर वे प्रगतिवादी काव्य को वास्तविक काव्य बना पाते। इस तरह 'छायावादी प्रगतिवाद' हिन्दी साहित्य के इतिहास में कभी एक महत्त्वपूर्ण या स्वतन्त्र काव्यधारा के रूप में मान्य होगा, इसमें सन्देह ही है।

छायावादोत्तर कविता

'रहस्यवाद' की तरह 'छायावाद' किसी काल-सीमा रहित धारणा को व्यक्त करने वाला शब्द सिद्ध नहीं हुआ। दिनकर ने उसे काल-निरपेक्ष बनाने की चेष्टा की और घनानंद के काव्य में भी छायावादी तत्त्व प्रदर्शित किये और उन्हें छायावाद का 'अग्रदूत' कहा।[1] रामनरेश त्रिपाठी ने छायावाद को सदियों पहले के संतों की बानियों में अन्तर्निहित बताया और उसका प्रयोग रहस्यवाद के पर्याय रूप में भी किया।[2] और-तो-और छायावाद के बहु-मान्य प्रवर्त्तक प्रसाद जी ने भी उसका सम्बन्ध सौन्दर्यमयी मुक्ताछाया अथवा कान्ति से जोड़ कर उसे काव्य की विलक्षण चारुता एवं लावण्य के प्राचीन अर्थ में ग्रहण करने का उपक्रम किया।[3] परन्तु ऐसा कोई भी प्रयत्न अन्ततः 'छायावाद' शब्द को युगसीमा से मुक्त करने में सफल नहीं हुआ और वह हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग के बाद के लगभग दो दशकों की एक युगीन काव्य-प्रवृत्ति मात्र का द्योतक होकर रह गया। इधर छायावाद को पुनर्मूल्यांकित करने के प्रयत्न में सुमित्रानंदन पंत ने, उसे पीछे के स्थान पर आगे की ओर खींचते हुए प्रगतिवाद और प्रयोगवाद आदि के अन्तर्गत आने वाले अब तक के समस्त परवर्ती-काव्य विकास को छायावाद का ही परिविस्तार घोषित किया है।[4] यह धारणा पंत जी के अपने-ही कथनों का विरोध करती है क्योंकि उन्होंने ही इससे पूर्व छायावाद की सीमाओं का निर्देश

१—द्विवेदी युग की नीरसता के विरुद्ध कल्पनाओं और स्वप्नों की रंगीन कुहेलिका लिये हुए जो नई काव्य शैली हिन्दी में आई, उसके अग्रदूत घनानन्द ही थे।

—अवन्तिका, काव्यालोचनांक, पृ० १५२

२—(i) छायावाद तो हमारे संतों की वाणियों द्वारा हिन्दी-भाषा-भाषियों के जीवन में सदियों से, कम-से कम एक हजार वर्षों से होता रहा। यह हमारा उधार लिया हुआ धन नहीं है।

—वही, पृ० १८६।

(ii) उसका नाम छायावाद या रहस्यवाद रक्खा।

—वही, पृ० १६६।

३—प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है।

—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० १२५।

४—(i) प्रगतिवाद, दोनों अभिव्यक्ति तथा काव्यवस्तु एवं मूल्य की दृष्टि से छायावाद से ही समन्वित तथा संयोजित रहा।

(ii) प्रयोग और नयी कविता को आप छायावाद का भी छायावाद कह सकते हैं।

—छायावाद का पुनर्मूल्यांकन, पृ० ११४, १२५।

करते हुए, उसकी समाप्ति की स्पष्ट घोषणा कर दी थी।[2] पंत के इस प्रयत्न से पूर्व डॉ० शंभूनाथ सिंह ने भी छायावाद विषयक अपने विशिष्ट ग्रंथ में छायावादोत्तर काव्य-प्रवृत्तियों को 'छायावाद के ही विकसित रूप' कहा है,[3] असंभव नहीं है कि पंत ने छायावाद के पुनर्मूल्यांकन में इस पूर्व स्थापना से प्रेरणा ग्रहण की हो। छायावादोत्तर युग के हिन्दी काव्य में छायावाद अवशेष के प्राप्त होना स्वाभाविक है किन्तु उतने से ही यदि समस्त परवर्ती कविता को छायावाद का विस्तार या प्रक्षेपण कह दिया जाय तो यह वैसे ही असंगत है जैसे स्वयं छायावाद को भक्ति, रीति या द्विवेदी युग का विस्तार कहना। इस प्रकार की विचारधारा अतिवादी, एकांगी, दुराग्रहपूर्ण तथा वस्तु सत्य की उपेक्षा करने वाली लगती है। कुछ अधुनातन कवि-आलोचक भी इस तरह के विचार व्यक्त करते दिखायी देते हैं पर वे ऐसा कदाचित् इसलिए करते हैं कि 'छायावाद' की, रागात्मक ऐश्वर्य से युक्त, रूमानी प्रवृत्ति प्रधानतया यथार्थवादी चेतना से अनुप्राणित वर्तमान युग में प्रायः अग्राह्य हो गयी है। उसके प्रति विकसित अन्यथा भाव को प्रकट करने के लिए भी छायावाद का व्यंग्यार्थक प्रयोग लगभग उसी रूप में किया जाने लगा है, जैसा उसके आरंभिक काल में हुआ था। इससे यही लगता है कि छायावाद का विकास-वृत्त सर्वथा पूरा हो चुका है। उसकी पूर्णता के इतने बाद भी उसकी अनुगूँज सुनाई दे रही है, इसका प्रमुख कारण यह है कि छायावाद के अधिकांश कवि उसकी पूर्ण परिणति के बाद भी जीवित रहे, और कुछ अब भी हैं तथा यह भी कि युगानुरूप परिवर्तन की प्रवृत्ति रखते हुए भी उनके पूर्व-संस्कार उन्हें उसके कल्पना-प्रधान स्वर्णिम स्वप्नलोक से किसी-न-किसी प्रकार बराबर बाँधे रहे। प्रसाद (१८९०-१९३७ ई०) कामायनी रचने के अनन्तर दिवंगत हो गये। निराला (१८९७-१९६१ ई०) प्रगति, प्रयोग और नयी कविता के युग तक जीवित रहकर भी अन्त में आराधनापरक गीतों की ओर मुड़ गये। महादेवी (जन्म १९०७ ई०) और पंत (जन्म १९०० ई०) अपनी 'साहित्य-साधना' में अब भी लीन हैं। यह दूसरी बात है कि आधुनिक हिन्दी काव्य के सृजनात्मक संघर्ष की धारा आज उनसे बहुत दूर प्रवाहित हो रही है।[4]

२—छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।

—आधुनिक कवि, भाग २, भूमिका, पृ० २१

३—छायावाद युग, दृष्टिकोण, पृ० २

४—छायावादी कवि अथवा कलाकार वास्तव में आध्यात्मिक चेतना की अनुभूति नहीं प्राप्त कर सका था। वह केवल बौद्धिक अधिदर्शनों, मान्यताओं तथा धारणाओं से प्रभावित हुआ था, इसीलिए वह युगजीवन की कठोर वास्तविकता से कटकर कुछ दार्शनिक एवं मानसिक विरोधों में सामंजस्य स्थापित कर संतुष्ट रहने की चेष्टा करने लगा।

—श्री सुमित्रानंदन पंत, शिल्प और दर्शन, पृ० १६९

छायावाद : सीमान्त और पतन के कारण

सीमान्त

छायावाद के पतन के कारणों की खोज उसके सीमान्तों के भीतर करना अधिक सार्थक होगा क्योंकि इससे आधुनिक कविता के आंतरिक संघर्ष का रूप प्रकट होगा और प्रेरणा के बदलते हुए स्रोतों की पहचान भी हो सकेगी। किन्तु छायावाद के सीमान्त निर्धारित कैसे किये जायँ, यह समस्या है। इसका निदान छायावादी काव्य को समय विशेष तक सीमित मान कर ही किया जा सकता है। छायावाद को कालातीत अर्थ देकर ऐसा करना कदापि संभव नहीं है। आलोचकों ने प्रायः यही मार्ग अपनाया है। छायावाद के मान्य आलोचक नन्ददुलारे बाजपेयी ने उसे साग्रह प्रतिष्ठित करने वाली अपनी ऐतिहासिक कृति में ही एक स्थान पर इन सीमान्तों का निदर्शन करते हुए उनके भीतर उठने वाली 'बौद्धिक हलचल' के अनेक रूपों की चर्चा की है तथा महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा और अंचल की रचनाओं को सीमान्तक बताया है।[1] लेखक द्वारा यह स्थिति अज्ञेय ही नहीं बच्चन के भी उद्भव से पूर्व की मानी गयी है, जैसा उद्धरण से स्पष्ट है। साथ ही, बौद्धिक कही जाने वाली हलचल की ही परिणति काव्य में 'चित्रात्मकता', 'दुःखात्मक मादकता' तथा 'तृष्णा गान' के रूप में लक्षित की गयी है। इतना ही नहीं, भगवतीचरण वर्मा के 'भैंसा गाड़ी' वाले स्वर को उनकी दुःखात्मक मादकता से हो सम्बद्ध करके प्रस्तुत किया गया है। बाजपेयी जी ने जिस प्रकार सीमान्तों के भीतर उठने वाली हलचल के बौद्धिक पक्ष की काव्यात्मक परिणति निर्दिष्ट की है, उससे मतभेद हो सकता है पर जिन कवियों को उन्होंने सीमान्त के रूप में ग्रहण किया है—उनमें से एक महादेवो वर्मा को छोड़ कर शेष सहज ही स्वीकृत किये जा सकते हैं। यह मानते हुए भी कि प्रसाद-पंत-निराला की बृहत्रयी की अपेक्षा छायावाद में महादेवी का प्रवेश देर से हुआ, सामान्यतया उन्हें तथाकथित 'लघुत्रयी' के अन्य दोनों कवियों भगवतीचरण वर्मा और रामकुमार वर्मा की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है और सरलता से 'बृहत्रयी' में मिल कर चतुष्ट्य की कल्पना कर ली जाती है। बाजपेयी जी ने सीमान्तों के संदर्भ में भगवतीचरण वर्मा के साथ रामकुमार वर्मा का नाम नहीं लिया है और न उनकी रहस्यवादी सांकेतिकता से युक्त गीतियों का ही उल्लेख किया है जब कि

१—सत्य की रक्षा के लिए यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अंचल के कुछ पहले ही एक बौद्धिक हलचल छायावाद के कतिपय सीमान्तों में उठ चुकी थी। उनमें से एक महादेवी जी वर्मा के काव्य की चित्रात्मकता के रूप में परिणत हो गई।...दूसरी हलचल भगवतीचरण वर्मा की दुःखात्मक मादकता बन कर रह गई। बहुत पीछे वाली 'कलकत्ते की ट्राम' और 'भैंसागाड़ी' के रूप में प्रकट हुई: अंचल इसके कई वर्ष पूर्व 'कनक रेणुका रानी' की समाधि पर अपने तृष्णा गाग गाने लगा था। हरिवंश राय 'बच्चन' तब तक अज्ञात थे और अज्ञेय अविज्ञात थे।

—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० २०५-२०६

इस संदर्भ में कवि रूप में वे भगवतीचरण वर्मा से अधिक महत्ता रखते हैं। छायावाद के रहस्य का सीमान्त उनके अतिरिक्त जिस कवि में विशेष रूप से लक्षित होता है, उनका नाम है—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'। भगवतीचरण वर्मा और बच्चन ने मादकता को प्रायः आध्यात्मिक आवरण से उद्धार कर ग्रहण किया किन्तु 'नवीन' ने अन्त तक आध्यात्मिक मदिरा से मुँह नहीं मोड़ा, जो मुख्यतया बच्चन की मधुशाला तक ही सीमित रहा और जिसे किसी ने भी एक सीमान्त के रूप में ही ग्रहण करना उपयुक्त होगा। क्रान्ति का जो स्वर माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन आदि की राष्ट्र-जागरणपरक वाणी में विशेषतः सुनायी दिया, निराला और पंत की विद्रोहात्मकता से कुछ भिन्न दिखायी देता है और उसे भी एक अन्य सीमान्त के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। छायावाद के कल्पना-लोक का निश्चित अन्त यथार्थोन्मुखी प्रगतिवाद के आगमन के साथ हुआ, जिसका बौद्धिक प्रभाव इतना गहरा सिद्ध हुआ कि प्रसाद को छोड़ कर छायावाद के शेष सभी प्रमुख-अप्रमुख कवि न्यूनाधिक रूप से उसकी ओर उन्मुख हुए और उन्हें अपना आसन डोलता हुआ दिखायी देने लगा। प्रगतिवादी विचारधारा को ऊपर से अपना कर छायावाद पर ही प्रहार करने वाले सबसे बड़े परिवर्तन-शील कवि सुमित्रानंदन पंत ही सिद्ध हुए। उन्हें छायावाद का विशालतम सीमान्त कहा जा सकता है। किन्तु अज्ञेय के आविर्भाव और उनके द्वारा सम्पादित 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ भावात्मक और सृजनात्मक दृष्टि से भी छायावाद की इतिश्री हो गयी। 'जयतु, हे कंटक चिरन्तन' कविता में, जो परीक्षा-भाव से लिखी गयी कृत्रिम छायावादी शैली की 'जैसे तुझे स्वीकार हो' की पैरोडी है, आयी हुई निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात को स्पष्टतया घोषित कर देती हैं, कि प्रगतिवाद की अभिव्यंजना की दृष्टि से भी छायावादी शैली सर्वथा कृत्रिम और निर्जीव हो चुकी थी।[1]

काव्य के झंखाड़ में बाकी बचे बस
निविड़ छायावाद के निष्प्राण रूखे शूल—

अज्ञेय की 'धैर्य-धन' वाली प्रसिद्ध कविता 'शिशिर की राका निशा' में भी एक स्थल पर पूर्व युगों के हिन्दी कवियों के निष्प्राण होते जाने की स्मृति-गाथा के अन्त में छायावादी कवि के कृतित्व का स्मरण करते हुए दिखाया गया है।[2]

गा गया अन्तिम प्रहर में वेदना-प्रिय अलस तन्द्रिल—
कल्पना कर लाड़ला
कवि निपट भावावेश से निर्वेद !

पतन के कारण

छायावाद के पतन के कारणों की खोज करने में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य डॉ० देवराज का रहा है। उनकी प्रसिद्ध समीक्षा-कृति का नाम ही 'छायावाद का पतन' है। यह सन् १९४८ ई० में प्रकाशित हुई। कल्पनाधिक्य को उन्होंने छायावाद की सबसे बड़ी कमज़ोरी

१—तारसप्तक, पृ० ७९।
२—वही, पृ० ७८।

बताया। यथार्थ की नितान्त अधूरी पकड़, रहस्य भावना की दुर्बलता का द्योतक अनुभूतियों का धुँधला छायामय प्रकाशन, शब्द-मोह, चित्र-मोह, एकांगी सौन्दर्य-दृष्टि, वाह्य प्रभाव से उत्पन्न विचारगत और रागात्मक सामंजस्य तथा लोक-संवेदना का तिरस्कार आदि अनेक बातों को उन्होंने साकार और सतर्क प्रस्तुत किया। आध्यात्मिकता और पलायनशीलता को उन्होंने पतन के कारणों में स्वीकार नहीं किया क्योंकि वैसा प्रभाव ही उत्पन्न नहीं होता है। यदि सच्ची विरागमूलक धार्मिकता छायावाद में होती तो उनके मत से इस धर्म-प्राण देश की जनता उससे इतनी जल्दी न ऊबती।[1] ऐसा ही एक अन्य प्रयत्न इलाचन्द्र जोशी ने 'छायावाद का विनाश क्यों हुआ' शीर्षक लेख 'विशाल भारत' में लिखकर किया। स्त्रैणता आदि के आरोपों का उन्होंने निराला-काव्य के आधार पर खंडन किया। उनकी दृष्टि में अन्ततः भाषा और भाव की एकांगिता, आडम्बरपूर्ण और नीरव झंकार भरी कल्पना, अपूर्ण जीवनी शक्ति अथवा अर्ध विकसित व्यक्तित्व एवं वैयक्तिकता, अनुभूतिगत ईमानदारी और व्यंजनागत संयम की कमी आदि मुख्य कारण सिद्ध होते हैं। 'नवलेखन' में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी इस प्रश्न को उठाया है और उनके अनुसार जीवन से सम्बन्धित रचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव स्थायी जीवन-तत्त्वों को आत्मसात् करने की अक्षमता तथा संघर्षपूर्ण कठोर युग के लिए अनुपयुक्त सूक्ष्म तन्तुओं से छायावाद की निर्मिति ही उसके अवसान के प्रधान कारण कहे जा सकते हैं।[2] मेरे विचार से छायावाद जीवन-दर्शन में मूलतः आत्मविश्वास की ऐसी कमी रही है जिसके कारण उसे यथार्थ जीवन का सीधा सामना नहीं करने को मिला। लोकातीत भावना के ऊपरी आवरण के नीचे उसकी भावानुभूति वस्तुतः लोकोन्मुखी और वासना पर ही थी। अभिव्यक्ति में अवश्य रहस्यात्मक और आध्यात्मिक मुद्रा अपनायी गयी।[3] यही द्विधा उसके पर्यवसान का मुख्य हेतु बनी क्योंकि यथार्थ परिस्थितियों के आघात ने छायावाद के अन्तर्विरोधी रूप को बड़ी सरलता से उद्घाटित कर दिया। लौकिक प्रवृत्ति को प्रच्छन्न रूप से अधिक समय तक व्यक्त करना संभव नहीं था। युग सापेक्ष गंभीर चिंतन का प्रभाव भी इसके मूल में रहा। 'सर्वात्मवाद' जिसे छायावाद की जीवन दृष्टि की संज्ञा दी गयी अपर्याप्त प्रतीत होने लगा। 'प्रगतिवाद' की ओर बिना अपने पूर्व संस्कारों का त्याग किये आकर्षित होना भी इसी कारण संभव हुआ।

सन्धिकाल (सन् १९३६–४० ई० तक)

छायावाद और प्रगतिवाद के अन्तराल में किसी सन्धिकाल की कल्पना करना कहाँ तक संगत है यह कहना कठिन है क्योंकि प्रगतिशील आन्दोलन बहुत कुछ आकस्मिक रीति से सामने आया। छायावाद की चरम उपलब्धि 'कामायनी' का प्रकाशन वर्ष सन् १९३५ ई० और हिन्दी में प्रगतिवादी विचाराधारा के प्रवर्त्तन का वर्ष १९३६ ई०—दोनों के बीच कोई ऐसा अन्तर नहीं मिलता कि क्रम भंग हो। 'कामायनी' के पूर्णतया प्रतिष्ठित होने तथा प्रगतिवाद के व्यापक रूप से स्वीकृत होने में जितना समय लगा उतने को ही सन्धिकाल समझा जा

---

१. **छायावाद का पतन**, पृ० ७–९।

२. **नवलेखन**, पृ० १५।

३. **हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ**, पृ० २१–३०।

सकता है। इसका औचित्य इस कारण विशेष सिद्ध होता है कि इसी काल में आदर्श और यथार्थ का वैचारिक संघर्ष समस्या का रूप ग्रहण करता है और वास्तविकता की कठोर पुकार कवि को वैयक्तिक सीमा में बँधे रहस्यमय स्वप्नलोक से सामाजिक भूमि पर उतरने की प्रेरणा देती है। एक नयी सशक्त एवं व्यवस्थित क्रान्तिकारी चिन्तन पद्धति भावी मूल्यबोध में भारी परिवर्त्तन घटित होने की पूर्व सूचना देती है। राष्ट्रीयता को भी छायावादी विश्वमानवत्त्व के खिंचाव के बाद अन्तर्राष्ट्रीयता की एक और चोट सहनी पड़ती है। चार-पाँच वर्ष के इस काल-खण्ड में प्रगति का प्रथम आकर्षण अपनी अपरिपक्व अवस्था में ही छायावादी कवियों पर हावी हो जाता है और कवियों के ऊपर से रहस्य का आवरण सहसा हटने लगता है। एक ओर वैयक्तिक प्रेम का उन्माद और दूसरी ओर सामाजिक क्रान्ति का आवेश-स्वर विचित्र प्रकार से गठबंधन करता दिखायी देता है। भगवतीचरण, बच्चन, अंचल, नरेन्द्र आदि की प्रारम्भिक कविताएँ इसी दुहरी भाव-भूमि की उपज हैं। नवीन में तो रहस्यवाद भी अपने अवशिष्ट रूप में सक्रिय मिलता है और उनमें तिहरी सन्धि पहचानी जा सकती है। बच्चन, नरेन्द्र इत्यादि की रचनाओं में बहुधा उन्माद, अवसाद से ऊपर उठता प्रतीत होता हैं पर एक विशेषज्ञ ने एकान्तिक अवसाद और पीड़ा ही कहना उपयुक्त समझा है।[२] शिवकुमार मिश्र की दृष्टि में छायावाद को प्रगतिवाद ने आकस्मिक रीति से अपदस्थ नहीं किया वरन् उसका आगमन स्वाभाविक ढंग से ऐतिहासिक क्रम में हुआ।[3] यह बात कहने में अच्छी तो लगती है और ऊपर से संगत भी प्रतीत होती है पर वस्तुस्थिति और उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति के समस्त विकासक्रम को देखने पर तथ्यात्मक नहीं लगती। कविता की अपेक्षा उस काल के कथा साहित्य

१—सन् १९३६ ई० के बाद ही छायावादी कविता में विघटन के चिह्न साफ़-साफ़ दिखायी देते हैं और उनमें अनेक प्रतिकूल तत्त्वों का सम्मिश्रण मिलने लगता है।

नया हिन्दी काव्य—रामअवध द्विवेदी द्वारा लिखित भूमिका पृ० ८।

२. छायावाद के विघटन के साथ दो प्रवृत्तियाँ प्रकट हुईं। एक ओर पंत और 'निराला' ऐसे कवि सामाजिक समस्याओं में रुचि लेने और दूसरी ओर बच्चन और नरेन्द्र शर्मा ऐसे कवि एकान्तिक अवसाद और पीड़ा के गीत गाने लगे। दूसरी प्रवृत्ति चिरस्थायी न बन सकी......यद्यपि छायावादी कविता अपना महत्त्व बहुत कुछ खो चुकी थी तथापि वह जीवित बनी हुई थी और प्रगतिवादी कविता को निरन्तर चनौती दे रही थी।

वही, पृ० ४–५।

३—छायावाद युग की समाप्ति और उसके पश्चात् प्रगतिवादी युग के पदार्पण में हिन्दी कविता ने अपना एक ऐतिहासिक परन्तु स्वाभाविक चरण-निक्षेप ही किया है, न तो उसने छायावाद के 'यौवन का गला ही घोंटा है' और न ही किसी विस्मय तथा अनहोनी की ही सूचना दी है।

वही, पृ० २, विषय प्रवेश।

के विषय में ऐसा कहा जाता तो उसे स्वीकार करने में इतनी कठिनाई न होती परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ छायावादी काव्य के वातावरण के भीतर ऐसा कोई निश्चित तत्त्व नहीं था कि उससे मार्क्सवादी विचारधारा अकस्मात् और सीधे विकसित हो जाती। छायावादी कवियों ने स्वतः उस आकस्मिकता का अनुभव किया और उसके प्रमाण उनके सहसा परिवर्तित स्वर में लक्षित होते भी हैं। बाहरी प्रभावजन्य होने के कारण ही प्रगतिवादी छाप उन पर चिरस्थायी न हो सकी, और प्रायः सब यथार्थ से अध्यात्म की ओर मुड़ गये। शोभा के लिए कुछ विचार सूत्र कुछ शब्द अवश्य अपना लिये गये—महा-मिलन के अवशेष चिह्न जैसे। यह दूसरी बात हैं कि भारतीय उदार समन्वयात्मक और सारग्राहिणी वृत्ति ने उसे भी यथाशक्ति आत्मसात् करने का यत्न किया जो अभी तक जारी है। गिरिजाकुमार माथुर, जो इस सन्धि-संक्रमण के एक जागरूक साक्षी रहे हैं, सन् १९४० ई० को ही छायावादी युग, चेतना से आगे के युग बोध के सम्पूर्ण विच्छेद का बिन्दु मानते हैं जो उचित प्रतीत होता है। वे इसे आधुनिकता का प्रथम बोध कहते हैं। तथा कुछ वर्ष पहले ३८—३९ तक ले जाना चाहते हैं।[1] नूतन मूल्यबोध का ग्रहण, संक्रमणकालीन ऐतिहासिक अनिवार्यता और नवीन ज्ञान-विधियों के प्रभाव के दोहरे स्तर पर प्रकट हो रहा था इसलिए भी सन्धिकाल की उक्त धारणा और काल सीमा सही दिखायी देती है, परन्तु जहाँ तक इस संक्रमण को 'आधुनिकता का प्रथम बोध' मानने का प्रश्न है वह उचित नहीं लगता क्योंकि भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और उनके अनन्तर छायावाद युग यह तीनों-के-तीनों आधुनिकता के ही चरण कहे जाएँगे और हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इन्हें इसी रूप में प्रस्तुत किया है।

इस संधिकाल में सामने आने वाले प्रमुख कवियों की रचनाओं के प्रकाशन-वर्ष की ओर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि सन् ३५ में ही, अर्थात् कामायनी के प्रकाशन के साथ-साथ एक ओर डॉ० रामकुमार वर्मा के रहस्यवादी गीतों का संग्रह 'चित्रलेखा' एवं उदयशंकर भट्ट की छायाभास देने वाली 'मानसी' दूसरी ओर बच्चन की तथाकथित हालावादी रचना 'मधुशाला' तथा तीसरी ओर दिनकर की भावप्रवण राष्ट्रवादी प्रवृत्ति का पूर्वाभास कराने वाली 'रेणुका' भी प्रकाशित होती है। इससे यही लगता है कि संक्रमण का आरम्भ सन् ३५ से ही हो जाता है। कोई चाहे तो सन् ३६ के स्थान पर सन् ३५ को ही संधिकाल की पूर्व सीमा मान सकता है। परन्तु उसे एक वर्ष बाद मानना इसलिए उचित प्रतीत होता है कि सन्धि के बाद जिस प्रगतिशीलता को प्रमुखता मिली उसका सूत्रपात हिन्दी में सन् ३६ से ही होता है। इसकी स्पष्ट सूचना पंत के 'युगान्त' से मिलती है जो इसी वर्ष प्रकाशित हुआ। अन्य प्रवृत्तियाँ, यहाँ तक कि छायावादी भी, समानान्तर सक्रिय रहीं क्योंकि युगान्त के ही

१—मैं छायावादी युग-चेतना से सम्पूर्ण विच्छेद का बिन्दु १९४० को मानता हूँ। इसका साक्ष्य उस काल के सभी नये कवियों की रचनाओं में है जिनके विस्तृत परीक्षण से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ।

—आधुनिक भावबोध की काव्य धारा—शीर्षक लेख से
ज्ञानपीठ-पत्रिका, जनवरी, १९६६, पृ० ९—१०।

साथ निराला की गीतिका, महादेवी का 'सान्ध्यगीत', उदयशंकर भट्ट का 'विसर्जन', और बच्चन की 'मधुशाला', भी सन् ३६ में ही छपी। कहाँ महादेवी के गीतों का अतीतस्मृति युक्ति वेदनामय स्वर और कहाँ पंत की भविष्योन्मुखी उद्‌घोषणा 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' जिसमें 'नवयुग' का स्पष्ट आवाहन मिलता है। वैचारिक संक्रमण की सर्वाधिक चेतना पंत के काव्य में लक्षित होती है। 'युगान्त' में 'पल्लव' की कोमलता का अभाव यों ही नहीं प्रतीत होता, उसके पीछे कवि का क्रान्तिदर्शी संकल्प पूरी सजीवता के साथ निहित दिखायी देता है।

सन् ३७ भी मिश्रित प्रवृत्तियों का परिचायक है क्योंकि इसमें रामकुमार वर्मा की 'चन्द्रकिरण', सियारामशरण गुप्त के 'बापू', भगवतीचरण वर्मा के 'प्रेम-संगीत' और बच्चन के 'मधु कलश' का प्रकाशन हुआ। बच्चन और भगवतीचरण वर्मा के सम्मिलित स्वर को देखने से उसकी विशेषता व्यापक रूप में सामने आ जाती है। और उसमें महादेवी और रामकुमार की प्रच्छन्न रहस्यवादिता के प्रतिकूल प्रेम के लौकिक स्वरूप को सीधे स्वीकार किया गया है। छायावादी आवरण में जो वस्तु छिपी हुई थी वह यथार्थ के आग्रह से निस्संकोच प्रकट होने लगी।[1] सन् ३८ में ऐसे ही दो व्यक्तित्व साहित्य के क्षितिज पर पहली बार उदित होते दीखते हैं जिनकी रचनाएँ उन्मुक्त प्रेम की भावना को विकसित करती हैं। अंचल की 'मधूलिका' और नरेन्द्र शर्मा की प्रभातफेरी' तथा 'प्रवासी के गीत' नामक प्रसिद्ध रचनाएँ इसको प्रमाणित करती हैं। बच्चन का 'निशा-निमंत्रण' कवि की पूर्व कृतियों की तुलना में इस स्वर-साम्य को अधिक व्यक्त करता है। इस आत्म-केन्द्रित विरह-प्रेम की व्यथा-कथा के विपरीत इसी वर्ष निराला की 'अनामिका', ३५ से ३८ के बीच की रचनाओं से युक्त होकर, पुनर्जन्म प्राप्त करती है और अपने नये रूप में वह पंत से भी अधिक सशक्त रीति से नये युग को वाणी प्रदान करती है। क्योंकि उसकी अनेक कविताओं में मुक्त छंद का विधान मुक्ति की प्रत्यक्ष उपलब्धि जैसा लगता है। नयी विषय वस्तु के लिए नयी अभिव्यक्ति यथोचित रूप में निराला के द्वारा ही सम्भव हुई, और आज तक के परवर्ती विकास को समग्रतः दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि निराला ही उसके सर्वप्रमुख पुरस्कर्ता थे। उनकी तेजस्वी एवं क्रान्तिकारी प्रयोगात्मक अभिव्यंजना शैली और अवांच्छित के प्रति प्रतिशोधपूर्ण भाव उस विचारधारा के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ जो नये युग का सूत्रपात कर रही थी। 'बादल राग' और 'राम की शक्ति पूजा' जैसी उनकी कविताएँ पूरे युग की शक्ति साधना को व्यक्त करती हैं। 'तुलसीदास' का प्रकाशन भी सन् ३८ में ही हुआ और निराला की निजी सांस्कृतिक चेतना तुलसी के व्यक्तित्व के माध्यम से मुखरित हुई। जानकीवल्लभ शास्त्री जो निराला के पक्षधर एवं परम्परावाहक कहे जा सकते हैं, उनके इस काव्य को रचना विधान की दृष्टि से कामायनी से उत्कृष्ट मानते हैं। यह मत वस्तुसत्य के स्थान पर भक्तिभाव अधिक सूचित करता है और उस मनोवृत्ति का परिचय देता है जिसके वशीभूत होकर उस काल में और बाद तक भी प्रसाद, निराला और पंत की बृहत्रयी में से पक्षधरों द्वारा किसी एक को अन्य या अन्यों से श्रेष्ठतर घोषित करने का उपक्रम किया जाता रहा। यह मनोवृत्ति सन्धिकाल की ही उपज

१—हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० २८-२९।

प्रतीत होती है। क्योंकि इस काल में निराला और पंत के काव्यत्व में विविधता, प्रौढ़ता और विकास इस सीमा तक लक्षित होने लगा था कि उसे प्रसाद के कृतित्व के समकक्ष रख कर देखा जा सके। पंत की 'युगवाणी', नवीन का 'कुंकुम', भट्ट का 'युगदीप' तथा 'अमृत और विष', बच्चन का 'एकान्त संगीत', नरेन्द्र का 'पलशवन', अंचल की 'अपराजिता' और दिनकर की 'हुंकार' सन् ३९ की रचनाएँ हैं। जिनसे सन्धिकाल की कल्पना स्वतः सार्थक सिद्ध हो जाती है।' 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये' जो नवीन की विप्लव-गायन शीर्षक कविता की प्रथम पंक्ति है (कुंकुम पृ० ९) विशेष लोकप्रिय हुई। इसका कारण यही है कि उसमें उस युग की छटपटाहट प्रतीक रूप से व्यक्त हो गयी है। मधुमय गुंजन सुनने के अभ्यस्त कान युगवाणी सुनने पर विवश हुए क्योंकि वह हुँकार का रूप धारण करने लगी थी। सन् ४० में पंत की 'ग्राम्या', महादेवी की 'दीपशिखा', भगवतीचरण वर्मा का 'मानव' और दिनकर की 'रसवन्ती' तथा 'द्वन्द्वगीत' प्रकाशित हुए। 'ग्राम्या' और 'दीपशिखा' के स्वर इतने भिन्न हैं कि सहसा यह विश्वास नहीं होता कि दोनों एक ही युग के प्रतिनिधि कवि रहे हैं। महादेवी ने अपनी काव्यभूमि में परिवर्त्तन को जितना अस्वीकार किया पंत ने उसे उतनी ही स्वीकृति प्रदान की। छायावादेतर कवि तो अपना स्वतन्त्र मार्ग बना ही चुके थे। सन् १९४० ई० के बाद गिरिजाकुमार माथुर और अज्ञेय आदि ऐसे व्यक्तित्वों का उदय होने लगा जो छायावाद और प्रगतिवाद की सीमा से उबर कर स्वतन्त्र पथ का निर्माण करने में प्रवृत्त हुए यद्यपि इनकी भी प्रारम्भिक कृतियाँ सन्धिकाल की भाव-भूमि से बहुत भिन्न नहीं हैं। यदि इस भाव-भूमि के तत्त्वों को विश्लेषित किया जाय तो उनका निर्देश निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

१—वैयक्तिक प्रेम और अवसाद युक्त गीति तत्त्व की प्रधानता।

२—गीतिमयता के आवेगपूर्ण एवं रहस्यमय वातावरण के बीच से ही परिवर्तन की तीव्र आकांक्षा की अभिव्यक्ति।

३—सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष और क्रान्ति का संकल्प।

४—बिना आन्तरिक रूप से मूल्यगत परिवर्तन को स्वीकार किये, मोह-भंग के पूर्व की स्थिति में ही बाह्य प्रभाव से प्रगति की चेष्टा।

५—राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राम की प्रेरणा का, विश्वास के साथ, क्रान्ति की दिशा में प्रवर्त्तन।

६—कथ्य के अनुरूप अभिव्यक्ति के प्रति सजगता।

छायावादोत्तर दो दशकों (१९४०-६०) की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियाँ

छायावाद ने एक विचित्र रहस्यमय आध्यात्मिक वातावरण को, जो वायवी और सूक्ष्म होते हुए भी पर्याप्त आकर्षक था, अपने चारों ओर बनाये रख कर भी मध्यकालीन परलोकोन्मुखी जीवन-दृष्टि के स्थान पर लोकोन्मुखी वैयक्तिक चेतना को प्रकृति के साहचर्य में परोक्ष से प्रत्यक्ष करते हुए प्रस्तुत किया किन्तु उसकी सीमा संस्कृति के सुकुमार रूप तक ही रही। कठोर राजनीति में प्रवेश करते हुए किसी भौतिक आदर्श पर आधारित समाज

की प्रतिष्ठा में साहित्य को हथियार की तरह प्रयुक्त करने की धारणा उसके बस की बात नहीं थी। प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित अनेक आलोचकों ने अपनी मान्यताओं को एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्रदान करने और ऐतिहासिक संदर्भ से जोड़ने के उपक्रम में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि साम्यवाद के स्वागत लिए छायावाद ने ही ज़मीन तैयार कर दी थी, जब कि सत्य इसके बहुत कुछ प्रतिकूल दिखायी देता है। गांधीवाद के प्रभाव से जो यथार्थ-दृष्टि आयी वह मूलतः आदर्शोन्मुखी थी और उसका सम्बन्ध आध्यात्मिकता द्वारा अनुप्रेरित गीता के वैष्णव-भाव-युक्त निष्काम कर्मयोग से था। अनासक्ति उसके मूल में थी और भौतिक सुख का त्याग उसकी प्रक्रिया का अंग था। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित नितान्त लोकोन्मुखी जनवादी प्रगतिशीलता का सूत्र उसमें खोजना एक प्रकार का विभ्रम उत्पन्न करना है। प्रेमचन्द के 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की प्रगतिवादी व्याख्या उसे वर्ण-संकर बनाकर प्रस्तुत करती है जब कि वह मूलतः वैसा नहीं है।

प्रगतिवाद

यदि प्रगतिवादी विचारधारा का प्रवेश हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में न हुआ होता या कुछ दशकों बाद हुआ होता तो छायावाद के अनन्तर हिन्दी कविता का विकास कैसा और किस दिशा में होता, यह सही ढंग से सोच पाना अब कठिन दिखाई देता है। परन्तु इसकी कल्पना करने से वह आकस्मिकता अधिक स्पष्ट हो जाती है जिसके साथ हिन्दी कविता नवीन और प्रायः अप्रत्याशित दिशा में मुड़ गई। एक ओर डॉ० नगेन्द्र की यह मान्यता है कि 'प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोंट कर ही उठ खड़ा हुआ।'[1] और दूसरी ओर है सुमित्रानन्दन पंत की यह धारणा कि 'छायावाद तथा प्रगतिवाद एक दूसरे के बिना अधूरे और अर्थहीन लगते हैं।'[2] परन्तु पंत जी प्रगतिशीलों से भी अधिक प्रगतिशील निकले। उनकी युगवाणी गगन ताकने-वालों को 'जीव-प्रसू भू' की ओर देखने का उद्बोधन देती हुई पुनः अरविन्दवाद की 'सुप्रामेन्टलरियलिटी' के आध्यात्मिक लोक में प्रस्फुटित होने वाले दैवी जीवन (लाइफ डिवाइन) की ओर उन्मुख हो गई और वहाँ से उतर कर फिर 'भू' से सम्बद्ध 'लोकायतन' तक चली आयी। प्रगतिवादियों का अभ्यास सपाट और सीधी-रेखा में चलने का रहा है, अतः उन्हें ऐसे उतार-चढ़ाव समझने-समझाने में निरन्तर कठिनाई होती रही है और वक्र रेखा में चलने वालों से तो उनका वैमनस्य ही दिखाई देता है।[3] यह विचित्र बात हुई कि जिस सार्व-

---

१—आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, पृ० १०८।

२—छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृ० ११४।

३—आश्चर्य की बात नहीं है। यह 'वक्र-रेखा' लेखक को इसी तरह अपने समाज से दूर ले जाती है और इसके बाद तो वह 'सार्वभौम' हो जाता है, अपने देश-काल से जड़ कट जाने पर वह स्वभावतः सारी दुनिया का हो जाता है।—'डॉ० नामवरसिंह का लेख' 'व्यापकता और गहराई संकेत' १, पृ० २७२।

भौमिता के तर्क पर साम्यवादी विचारधारा राजनैतिक बल-बूते के साथ प्रत्येक देश में प्रवेश करने के लिए अभी तक प्रयत्नशील है, हिन्दी में प्रगतिशीलता के पक्षधरों को, भारतीय मानस को अन्त तक सही रूप में न समझने के कारण, उसी का विरोध करने पर विवश होना पड़ा। ऐसी विडम्बनाएँ अनेकशः मिलती हैं जो यह व्यंजित करती हैं कि साम्यवादी प्रगतिवाद सर्वात्मवादी छायावाद का विकसित रूप न होकर उसके प्रतिकूल विचारों वाली एक भिन्न दिशा से आने वाला आंदोलन था। किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए इस स्थिति को लक्षित कर लेना कठिन नहीं है। यों जैसा कहा जा चुका है प्रगतिवादी आलोचक इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे हैं कि समस्त आयातित विचारों को येन-केन-प्रकारेण भारतीय संस्कृति की शक्तिशाली परम्परा के विकास के रूप में प्रस्तुत कर दें। डॉ० रामविलास शर्मा ने प्रगतिवाद को जहाँ एक ओर सर्वथा नूतन तत्त्वों से युक्त बताया है वहाँ उसे छायावाद के 'जन-हितैषी' 'सबल' तत्त्वों की 'विरासत' से भी जोड़ने का प्रयत्न किया है।[1] सारी संस्कृति अन्ततः मानव संस्कृति है, अतएव कुछ न कुछ सम्बन्ध और साम्य खोज लेना किसी के लिए भी दुष्कर नहीं है परन्तु छायावाद और प्रगतिवाद के बीच आने वाले सन्धिकाल की मिली-जुली कविता के प्रायः अनिश्चय-ग्रस्त स्वर से इसी की पुष्टि होती है कि यह परिवर्त्तन, मूल्य और अभिव्यक्ति दोनों की दृष्टि से, आरंभिक अवस्था में आरोपित और आकस्मिक ही रहा। बाद में अवश्य नवोन्मुखता, ग्रहणशीलता और यथार्थ के बढ़ते हुए आग्रह ने उसे आत्मसात् करते हुए संतुलित बनाने में सहायता प्रदान की। हिन्दी में प्रगतिवादी कविता की प्रगति पहले ही उफान के बाद बहुत मद्धिम हो गयी किन्तु उसके कारण खोज लेना कठिन नहीं हैं।

प्रगतिवाद मार्क्सवादी विचारधारा का साहित्यिक रूप है और उसकी सीमा में कविता ही नहीं, साहित्य की सभी विधाएँ आ जाती हैं। कविता उसके लिए मुख्य नहीं थी। संरचनापरक गहरे साहित्यिक अर्थ में उसे कविता का आन्दोलन कहा भी नहीं जा सकता क्योंकि विषय-वस्तु और चिंतन के क्षेत्र में भारी क्रान्ति करते हुए भी उसने काव्य की सृजनात्मक अन्तर्प्रक्रिया में कोई विशेष परिवर्तन उपस्थित नहीं किया। भाषा का स्वर और कहने का ढंग अवश्य बदला परन्तु वस्तु के अनुरूप अभिव्यक्ति की दिशा में कोई आमूल क्रान्ति अथवा विशेष रचनात्मक उपलब्धि नहीं हो सकी। हिन्दी में काव्य के नये अभिव्यंजना-रूपों का जन्म अधिकतर या तो प्रगतिवाद के क्रिया-कलाप के पहले हो चुका था या उसकी समाप्ति के बाद हुआ। लोक-रूपों के ग्रहण की दिशा में किये गये प्रयत्नों का नाम लिया जा सकता है किन्तु ऐसे अपवाद बहुत नहीं मिलेंगे जिनसे पूर्वोक्त स्थापना का प्रतिवाद किया जा सके। प्रगतिवाद की शक्ति मुख्यतया पुरातन आदर्शवादी मनोवृत्ति को यथार्थवाद की ओर प्रवृत्त करने तथा अध्यात्मवादी मूल्यों के स्थान पर भौतिकवादी मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में व्यय हुई और इस क्षेत्र में उसका योगदान भारतीय ही नहीं विश्वव्यापी स्तर पर अभूतपूर्व रहा है। आर्थिक और वर्ग संघर्षमूलक सामाजिक सम्बन्धों को प्रमुखता देकर जिस यथार्थ को

१—संस्कृति और साहित्य, भूमिका भाग।

मार्क्सवाद ने सामने रक्खा उसमें एक नये प्रकार के वर्ग-विहीन समाज के आदर्श की कल्पना निहित मिलती है। अतएव यह कहना कि प्रगतिवाद ने आदर्शवाद से अपने को सर्वथा मुक्त करके पूरी तरह यथार्थ की भूमि में प्रवेश कर लिया, उचित नहीं है। उसने वस्तुतः एक नवीन आदर्शवाद को जन्म दिया जिसकी प्रमुख विशेषता यह थी कि वह भौतिक यथार्थ से असम्पृक्त या विमुख नहीं था। भाव-बोध के स्तर पर देखा जाय तो छायावाद के अध्यात्मोन्मुख वातावरण से प्रगतिवाद की यथार्थोन्मुख चेतना बौद्धिक-दृष्टि से जितनी विपरीत लगती है मानसिकतया उतनी प्रतिकूल सिद्ध नहीं होती। आदर्शवादिता और आवेग दोनों में प्रायः समान रूप से अन्तर्निहित मिलते हैं। छायावाद सर्वात्मवादी मूल्यों के लिए जितना भावुक हो उठता था उससे कम भावुकता साम्यवादी एवं समाजवादी मूल्यों के प्रति प्रगतिशील कवियों में नहीं रही। यही कारण है कि अभिव्यक्ति की कोई गहरी समस्या प्रगतिवादी काव्य के आगे नहीं उठी तथा छायावाद के अनेक कवि प्रगतिवाद की ओर झुक सके। अनन्त के स्थान पर सान्त जीवन की कल्पना के कारण प्रगतिशील कवियों में असंतोष की मात्रा छायावादियों से कहीं अधिक मिलती है। मूल्यों को चिंतन, आस्था और आत्ममंथन के स्तर पर कम, घोषणा, नारे और प्रचार के स्तर पर अधिक ग्रहण किया गया[1]। परिणामतः प्रगतिवादी कविता प्रायः एक उबाल का रूप होकर रह गयी और सुस्थिर आत्मसात्कृत प्रगाढ़ अनुभव-सम्पन्नता उसमें न आ सकी। ऐसी प्रगतिशील कविताएँ जो गंभीर रूप से मन को स्पर्श करती हुई स्थायी प्रभाव छोड़ने का सामर्थ्य रखती हों, बहुत कम लिखी जा सकीं। प्रगतिवाद के एक प्रमुख व्याख्याता एवं 'आलोचना' के प्रख्यात सम्पादक शिवदानसिंह चौहान ने 'हिन्दी कविता का विकास' प्रदर्शित करते हुए प्रगतिशील कविता के विषय में जो विचार व्यक्त किये हैं वे अनुपेक्षणीय हैं। प्रगतिवाद के समर्थक कट्टर आलोचकों की तुलना में चौहान जी उदार और सौम्य दिखाई देते हैं। उन्होंने मान-मूल्यों के प्रश्न से अपने को घनिष्ठ रीति से सम्पृक्त रखते हुए भी प्रगतिवादी साहित्य की त्रुटियों को निःसंकोच निर्दिष्ट किया है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य और उससे सम्बद्ध विचारों का उन्होंने खुल कर विरोध किया है और जनवाद का समर्थन भी उतनी ही शक्ति एवं स्पष्टता से किया है किन्तु फिर भी उग्रवादियों के आगे उनका मत बहुत उभर कर सामने नहीं आ सका। जहाँ काव्य का सम्बन्ध है वे उसके विषय में विशेष जागरूक रहे हैं। 'काव्यधारा' नाम से सन् १९५५ में उन्होंने एक पुस्तक-पत्रिका प्रकाशित की जिसमें प्रगतिवादी कविता के विकास का सिंहावलोकन प्रस्तुत करने में अनेक लेखकों की सहायता ली गई है। उनका निजी मत विशेष उल्लेखनीय है....

'उत्तर-छायावादी-युग के अनेक तरुण-कवि प्रगतिवाद-प्रेरित नये जीवनादर्श और जन-मंगल के उत्साह भरे गीत गाते हुए सामने आये। इनमें नरेन्द्र शर्मा तो थे ही, शिवमंगल

१—'वस्तुतः प्रगतिवादियों ने लेनिन से प्रभावित होकर साहित्य को दलीय प्रचार का अंग तो बनाया पर लेनिन की सी व्यापक और उदार दृष्टि अपने में समाहित न कर सके।'

—डॉ० शिवकुमार मिश्र, नया हिन्दी काव्य, पृ० १६४।

सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन, रांगेय राघव और रामदयाल पाण्डेय प्रमुख थे। अनेक छायावादी ढर्रे के तरुण कवियों—शम्भूनाथ सिंह 'रसिक', विद्यावती 'कोकिल' आदि—में प्रगतिशील विचारों की अनुगूंज सुनायी दी। गांधीवादी कवियों—सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र आदि-आदि ने भी नये विषयों पर कविताएँ लिखीं; यहाँ तक कि चेतना से आक्रान्त अनेक प्रयोगवादी कवि—गिरिजाकुमार माथुर, गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेरबहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा आदि—भी प्रगतिशील धारा से अप्रभावित न रह सके....दूसरे महायुद्ध के पाँच-छः वर्षों के बीच हिन्दी में प्रगतिशील कविता का ही सर्वाधिक जोर रहा। उस समय ऐसा लगता था कि इन महान् सामाजिक आदर्शों की प्रेरणा हिन्दी काव्य में एक ऐसा युगान्तर उपस्थित कर रही है जिसका पूर्ण उन्मेष छायावाद-युग की तरह ही अनेक महान् प्रतिभाओं के प्रस्फुटन से महिमाशाली बनेगा। लेकिन तरुण प्रगतिशील कवि स्वतन्त्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी सम्यक् विकास भी न कर पाये थे कि उन्होंने राजनैतिक दलबन्दी की मतवादों और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में पड़ कर अपनी काव्य-प्रतिभा को स्वयं ही कुंठित कर डाला।.... भावना की समग्रता पुनः विश्रृंखलित हो गयी और कवि अपने दलगत विचारों की अनुभूति-हीन विवृत्ति करने लगे।....इसके लिए विपरीत परिस्थितियों से अधिक इन तरुण प्रगतिशील कवियों की असामर्थ्य और असंवेदनशीलता ही उत्तरदायी है, जो उन्हें सत्य की उपलब्धि नहीं होने देती, और संकीर्ण पथों पर भटका देती है[1]।'

वास्तविकता के आकलन में प्रायः तटस्थ दृष्टिकोण रखते हुए भी यदि चौहान जी ने पूरी परिस्थिति को और गहराई से देखा एवं विश्लेषित किया होता तो प्रगतिशील काव्यान्दोलन की असफलता के लिए वे केवल उन्हीं कवियों को दोषी नहीं ठहराते जिनके लिए उन्होंने 'तरुण' विशेषण का बार-बार प्रयोग किया है। प्रगतिशील कविता की ही नहीं प्रगतिवाद की समस्त विचारधारा की जो गति हुई है उसका सर्वप्रमुख कारण मेरी दृष्टि में यही दिखाई देता है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना से वह अभी तक एकात्म नहीं हो सका क्योंकि एक ओर उसे आग्रहपूर्वक आरोपित करने की चेष्टा की गयी दूसरी ओर विदेशी संकेतों पर उसे परिचालित किया जाता रहा। इसके लिए कवि उतने उत्तरदायी नहीं हैं जितने कि उसके प्रवर्त्तक एवं आलोचक।

प्रगतिशील आन्दोलन का इतिहास बहुत बड़ा नहीं है। १९३५ में पेरिस में ई० एम० फार्स्टर के सभापतित्व में जो अधिवेशन हुआ उसी से अनुप्रेरित होकर मुल्कराज आनंद आदि साम्यवादी अंग्रेजी, उर्दू और हिन्दी के लेखकों की मिली-जुली जमात ने प्रेमचन्द के सभापतित्व में लखनऊ में १९३६ में एक अधिवेशन किया जिससे भारतीय प्रगतिशीलता का पहला चरण आरंभ हुआ। १९३८ में कलकत्ते के अधिवेशन में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को सभापतित्व प्रदान किया गया। वे स्वयं उपस्थित नहीं हो सके पर उनका भाषण पढ़ा गया जो प्रेरक एवं महत्त्व-पूर्ण था। प्रेमचन्द और रवीन्द्र के इन भाषणों से चिन्तन की जो रेखा उभरी उसका दिशा-

१—काव्यधारा, पृ० ४४।

संकेत समाज की नयी रचना, जनवादी एवं लोकोन्मुखी भावना, वैज्ञानिक युक्तिवाद की सराहना तथा साहित्य में यथार्थ की अवतारणा की ओर था। इसी वर्ष 'रूपाभ' में प्रगतिशील साहित्य का घोषणा-पत्र भी प्रकाशित हुआ। प्रेमचंद और रवीन्द्र न तो स्वयं साम्यवादी थे और न भौतिकवादी दर्शन ही उन्हें अभीष्ट था, किन्तु वे हृदय से भारतीय संस्कृति के परिष्करण, पद-दलित और अधिकार-वंचित जनता के उन्नयन एवं साहित्य में नये विचारों के स्वागत के पक्षपाती थे। अतएव उन्होंने अपनी राष्ट्रीय दृष्टि से प्रगतिशील आन्दोलन का समर्थन किया। उन्हें प्रगतिशीलता शब्द से कोई मोह नहीं था। 'प्रगति का एरावत' भारतीय भूमि पर यहाँ से चला और इसे ही भगवतशरण उपाध्याय ने 'रवि ठाकुर और प्रेमचंद की राह' कहा है। वस्तुतः यह राह उनकी नहीं मार्क्स, स्टैलिन, लेनिन और माओ की थी जो उत्तरोत्तर स्पष्ट होती गयी। इस आन्दोलन के विकास में बड़े-बड़े नामों को अपने से सम्बद्ध करते चलना और उन्हें पूरी तरह अपनी विचारधारा का समर्थक बताना एक टेकनीक की तरह इस्तेमाल किया गया जिसका क्रम बाद में सैद्धान्तिक कट्टरता और राजनैतिक आग्रह के कारण उलट गया। अनेक नाम छिटक-छिटक कर अलग होते गये और आपस में ही लेखकों के बीच मतभेद बढ़ता गया जिससे 'संयुक्त मोर्चा' बनाने की जरूरत पड़ी। '४२ और '५३ में दिल्ली, '४७ और '५२ में इलाहाबाद और '४६ में पुनः लखनऊ, प्रगतिशील लेखकों के सम्मिलित केन्द्र बने और भाषा एवं साहित्य की तरह-तरह की समस्याओं के साथ वैचारिक द्वन्द्व के दृश्य भी उपस्थित होते रहे। लगभग दो दशकों में प्रगतिवाद के चढ़ाव-उतार का एक दौर पूरा हुआ जिसके बाद गति मंद पड़ गयी। अनेक घोषणा-पत्र प्रकाशित किये गये जिनकी शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रगति किधर से किधर की हुई।

प्रगतिवाद के विकास-क्रम और प्रगतिशील कविता के स्वरूप-निर्माण पर सापेक्षिक रीति से विचार करते हुए 'प्रगतिशील काव्य पर एक दृष्टि' शीर्षक निबन्ध में श्री ब्रजकिशोर चतुर्वेदी ने कुछ ऐसे तथ्यों की ओर निर्देश किया है जो संक्षेपतः उल्लेखनीय एवं विचारणीय है।[1] उनके अनुसार 'हिन्दी में प्रगतिवाद राष्ट्रीय कविताओं के भीतर से प्रकट हुआ' हिन्दी में वर्ग-भावना का उदय भी राष्ट्रीय कविताओं के साथ हुआ। वर्ग-भावनाओं की ओर संकेत करने वाली कुछ कविताएँ सन् १९३२ से ही देश में फैल रही थीं।' तथा छायावादी संस्कारों में पले हुए कवि को स्वयं कृषकों एवं श्रमिकों के जीवन के अनुभव न होने के कारण, केवल नूतन युग की माँग के स्वरूप प्रगतिवादी सिद्धान्तों का विवेचन इस संग्रह (युगवाणी) में पाया जाता है। जो क्लिष्ट भाषा में होने के कारण सहज बोधगम्य भी नहीं है और इस पुस्तक को 'कविता' की अथवा 'प्रगतिवादी कविता' की पुस्तक कहने में भी संकोच होता है।

'सन् १९४० ई० से अब तक (१९५४) प्रगतिवादी कविता की धूम रही है और इस छोटे से काल को देखते हुए अभी इस धारा का शैशव-काल ही मानना पड़ता है। इसमें १९४० से १९४६ तक प्रगतिवादी काव्य झगड़े और झंझटों में फँसा रहा। इस काल की अधिकतर कविताएँ नीरस, शुष्क, सिद्धान्तहीन एवं भारत में समय के प्रतिकूल भी थीं। सन्

१—अवन्तिका १९५४, काव्यालोचनांक, पृ० २१०-२२८।

१९४० से १९४६ के आस-पास जो साहित्य प्रगतिवादी कवियों ने तैयार किया वह केवल रूस की विजय एवं मित्र राष्ट्रों की विजय-कामना करते हुए फासिस्ट-विरोधी नारों के अतिरिक्त और क्या हो सकता था। स्तालिनग्राद की लड़ाई पर लिखा गया रांगेय राघव का 'अजेय खंडहर' और शिवमंगल सिंह 'सुमन' का 'मास्को अब भी दूर है' ऐसी ही कृत्रिम रचनाएँ हैं। 'उन्होंने यह भी लिखा है कि कम्युनिस्ट पार्टी के पुनर्जागरण के साथ प्रगतिवादी काव्य ने भी आशातीत सफलता प्राप्त की तथा उस काल की रचनाओं के कारण एक विश्वचेतना आने लगी और विश्व-शक्तियों के संघर्ष की अनेक प्रकार की झलक इन रचनाओं में मिलनी प्रारंभ हुई।

इधर कुछ अन्वेषकों एवं आलोचकों द्वारा प्रगतिशील कविता का विशेष अध्ययन, छायावाद तथा छायावादोत्तर समस्त हिन्दी काव्य-विकास के संदर्भ में तथा स्वतंत्र रीति से भी, अनेक रूपों में सम्पन्न किया जा चुका है। डॉ० शिवकुमार मिश्र ने 'नया हिन्दी काव्य' नाम से प्रथम प्रकार का तथा विजयशंकर मल्ल ने 'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद' और उमेशचन्द्र मिश्र ने 'प्रगतिवादी काव्य' नाम से द्वितीय प्रकार का कार्य सम्पन्न किया है जो प्रकाशित हो चुका है। अन्यान्य समीक्षकों ने, जिनमें आचार्य नंददुलारे बाजपेयी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० नामवरसिंह आदि के नाम प्रमुख हैं, अपनी पुस्तकों एवं निबन्धों में प्रगतिवादी काव्य और उसके निर्माता कवियों के विषय में बहुत कुछ ऐसा लिखा है जो इस प्रवृत्ति के अध्येता के लिए अनुपेक्षणीय है। कुछ का मत व्यापक साहित्यिक दृष्टि-सम्पन्न उदार है, कुछ का दलीयता युक्त संकीर्ण और हठवादी। 'हंस', 'रूपाभ', 'नया साहित्य', 'काव्य-धारा', 'कृति', 'संकेत', 'उपमा' तथा ऐसी ही कई मान्य प्रगतिशील पत्रिकाओं एवं पत्रों में प्रकाशित लेख और कविताएँ ऐसी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत कर देती हैं जिससे साम्यवादी विचारों से प्रेरित प्रगति-काव्य का स्वरूप स्पष्टतया सामने आ जाता है। बहुत से प्रगतिवादी कवियों के सम्मिलित और स्वतंत्र कविता-संकलन भी प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें समग्र काव्यधारा के भीतर कुछ कवियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व को पहचानना भी संभव हो गया है। उनके कतिपय उल्लेखनीय संकलन इस प्रकार सूचीबद्ध किये जा सकते हैं :—

पंत—१. 'ग्राम्या'
निराला—२. 'नये पत्ते' ३. 'कुकुरमुत्ता'
अंचल—४. 'करील'
नरेन्द्र—५. 'रक्तचंदन' ६. 'अग्निशस्य'
गिरजाकुमार—७. 'धूप के धान'
नागार्जुन—८. 'युगधारा' ९. 'सतरंगे पंखोंवाली'
रांगेय राघव—१०. 'पिघलते पत्थर' ११. 'अजेय खंडहर'
शिवमंगलसिंह 'सुमन'—१२. 'प्रलय सृजन' १३. 'विश्वास बढ़ता ही गया'
केदारनाथ अग्रवाल—१४. 'युग की गंगा', १५. 'लोक और आलोक'

इन कवियों के कुछ और भी संकलन इसी भावधारा से सम्पृक्त हैं तथा इनके साथ

त्रिलोचन (धरती), शील (अंगड़ाई) आदि कुछ और कवि भी गिनाये जाते हैं पर उनकी स्थिति अपेक्षाकृत गौण एवं सामान्य है। शमशेर की 'कुछ कविताएँ' देख कर प्रगतिवादी संस्कारों की अपेक्षा उनकी प्रयोगशीलता पर ही अधिक दृष्टि जाती है। मुक्तिबोध मेरी दृष्टि में हिन्दी के समस्त प्रगतिशील काव्यों की श्रेष्ठतम उपलब्धि हैं। किसी में उनकी जैसी स्वप्नात्मक कल्पना-शक्ति और अन्तर्मन्थन की निविड़ता लक्षित नहीं होती। किन्तु उनका कवि व्यक्तित्व 'तार सप्तक' में संग्रहीत कविताओं से उतना प्रकाश में नहीं आया जितना १९६४ में 'चाँद का मुँह का टेढ़ा है' प्रकाशित होने के बाद। इस संग्रह की अनेक लम्बी 'नागात्मक' कविताएँ प्रगतिवादी आन्दोलन के दौर में लिखी गई थीं पर उनको वास्तविक प्रसिद्धि एवं मान्यता आन्दोलन बीत जाने के वर्षों बाद मिली।

डॉ० शिवकुमार मिश्र ने अपने शोध-ग्रन्थ 'नया हिन्दी काव्य' के पाँचवें अध्याय में 'प्रगतिवादी काव्य' पर विशेष रूप से विचार किया है तथा पूर्ववर्ती आलोचकों के मतों को भी ध्यान में रखा है। उनके अनुसार राजनैतिक जागरूकता, साम्राज्यवादी प्रचारात्मकता, सक्रिय एवं क्रांतिकारी रोमांटिसिज़्म, सोद्देश्यता, उपनिवेशवादी और पूँजीवादी व्यवस्था एवं शोषण का विरोध तथा समाजवादी यथार्थ का स्पष्ट चित्रण, शिल्प की तुलना में वस्तु की महत्ता का स्वीकरण, काडवेल के सामूहिक भाव के रूप में साधारणीकरण का ग्रहण, नैतिक-अनैतिक का मान्य सिद्धान्तों के आधार पर सतर्क बोध, सामाजिक एवं राजनैतिक क्रान्ति के लिए साहित्य का हथियार के रूप में प्रयोग, व्यक्तिवादी, अहंवादी, यौनवादी साहित्य का तिरस्कार, धर्म और ईश्वर की अवज्ञा, किसान-मजदूर को विशेष सहानुभूति प्रदान करते हुए सीमित अर्थ में मानवतावाद का समर्थन, इतिहास के प्रति सजगता, बुद्धिवादिता, रूढ़ि-विरोध और अर्थ प्रधान भौतिकवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा लोक-साहित्य के प्रति उन्मुखता प्रगतिवादी काव्य की प्रगति एवं कवि की मनोवृत्ति की सूचना देती है। निश्चय ही यह बातें प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख विशेषताएं कही जा सकती हैं। उन सात प्रतिनिधि कवियों में जिनका उन्होंने स्वतंत्र रूप से अनुशीलन किया है डॉ० रामविलास शर्मा प्रथम और शील अन्तिम हैं। काव्य विशेषण अधिक गंभीर नहीं हो सका है, तथापि उसकी सामान्य प्रकृति का परिचय मिल जाता है। डॉ० रामविलास शर्मा (अगिया बैताल) के एक अपवाद को छोड़कर मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन और भारतभूषण अग्रवाल जैसे उस काल के घोषित प्रगतिवादी कवि भी संभवतः तारसप्तक में सम्मिलित कर लिए जाने के कारण उक्त सूची में समाविष्ट नहीं किये गये हैं। लगता है कि मिश्र जी की धारणा भी कुछ-कुछ अपने मान्य कवि शील की उनके नव प्रकाशित काव्य-संग्रह में व्यक्त धारणा के समान है।[1] शील जी तो पंत की 'ग्राम्या' और अंचल की 'लाल चूनर' में प्रगतिवाद खोजने को समीक्षकों का दृष्टि-दोष एवं विशुद्ध प्रमाद मानते हैं।

यह धारणा कि अपने अखिल भारतीय प्रसार के कारण 'प्रगतिवाद' को बाहर से

१—'हिन्दी काव्य में तार सप्तकियों का इतिहास मार्क्सवादी विचारधारा को, उसके अपने मूल गुणों के प्रतिकूल भटकाने की साजिशों का इतिहास है।—लावा और फूल, (१९६७) पृ० ख।

ढोई गई वस्तु नहीं माना जा सकता, 'तथ्यों पर आधारित प्रतीत नहीं होता।' 'मार्क्सवाद-समाजवाद से प्रभावित होने के बावजूद भी वह भारतीय मिट्टी की ही उपज़ है' कहने से इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता कि उसका बीज विदेशी है और न यह कर ही कि वह 'हिन्दी की गौरवशाली और प्रगतिशील साहित्यिक परम्परा का प्रारम्भ से ही चला आता हुआ क्रम विकास है।'[1] आगत वस्तु या प्रभाव भी अन्ततः विकास-क्रम में समाहित हो हो जाता है, देखना यह होता है कि जो उसका वैशिष्ट्य है, विभेदक तत्त्व है, वह कहाँ आविर्भूत हुआ और किस प्रकार साहित्य-प्रवाह का अंग बन गया। बाह्य तत्त्वों को अपनी चेतना के अनुरूप आत्मसात् करने की प्रक्रिया मानव-संस्कृति के विकास में निरन्तर चलती रहती हैं अतः विदेशी वस्तु को मूलतः देशी सिद्ध करने का आग्रह निरर्थक है। प्रगतिवाद के अन्य अध्येताओं ने भी प्रायः इसी संकीर्ण पद्धति का अनुसरण किया है।[2]

प्रगतिवाद ने जहाँ हिन्दी कविता को अशरीरी और अयथार्थ लोक के कुहा-जाल से बलात् खींच कर वास्तविकता के चौराहे पर ला खड़ा किया वहाँ इस उपकार के प्रतिकूल, ऐसी अननुभूत, अनात्मसात्, कृत्रिम वाणी को भी प्रोत्साहित किया जो न केवल कविता के स्तर तक बहुत कम पहुँच पायी वरन् उस स्तर को रक्षित रखते वाले कवियों के मार्ग, में अपने अत्यधिक वस्तुपरक मूल्य-बोध और आरोपित त्वरा के कारण, बाधक भी बनी। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

१. काटो काटो काटो करलो, साइत और कुसाइत क्या है।
मारो मारो मारो हँसिया, हिंसा और अहिंसा क्या है।

—केदारनाथ अग्रवाल

२. तुम भी रणचण्डी बन जाओ,
मैं क्रान्तिकुमारी का अनुचर।

—सुमन

३. पड़ा मैं बंद जीवन में मुझे बाहर निकलने दो।
मुझे जनता बुलाती है, बुलाता काल परिवर्तन।
बुलाता है मुझे भवितव्य का सुन्दर सुखी जीवन।

—अंचल

४. फिर वह एक हिलोर उठी, गाओ!
वह मजदूर—किसानों के स्वर कठिन हठी,
कवि हे, उनमें अपना हृदय मिलाओ!
उनके मिट्टी के तन में है अधिक आग, है अधिक ताप,
उनमें कवि हे! अपने विरह-मिलन के पाप जलाओ!
काट बुर्जुवा भावों की गुमठी को, गाओ!

—शमशेर

१—'नया हिन्दी काव्य'—पृ० १५२।

२—उमेशचन्द्र मिश्र 'प्रगतिवादी काव्य' अनुक्रम ५ से १०।

५. हमको भी है ज्ञान विरह का और मिलन का,
आज हमारे सन्मुख और समस्याएँ हैं।
—गिरिजाकुमार

केदारनाथ ने अत्यधिक आवेश में हिंसा और अहिंसा के इस संदेश द्वारा युगों से पल्लवित विवेक को क्षण मात्र में तिलांजलि देने का आह्वान किया, 'सुमन' ने आर्थिक क्रान्ति को अपने रूमानी उन्मेष में 'क्रान्तिकुमारी' कह डाला, 'अंचल' किंकिणी का स्वर सुनते-सुनते सहसा जनता की आवाज़ और समय की पुकार सुन कर स्वयं बाहर निकल आने के स्थान पर बाहर 'निकलने दो' की दयनीय कामना कर उठे, शमशेर मजदूर-किसानों के स्वर में न तो पूरी तरह अपना हृदय मिला सके और न अन्य कवियों को वैसी प्रेरणा दे सके।

बुर्जुवा भावों से बचने और विरह-मिलन को पाप समझने की बात भी उनके व्यक्तित्व की पूर्ण शक्ति से प्रस्फुटित नहीं हुई क्योंकि उसमें उर्दू ग़ज़ल और प्रेमपरक अवसाद-विषाद की गहरी छाया मिलती है। माथुर ने विरह और मिलन को पाप न कह कर संभवतः अधिक ईमानदारी प्रदर्शित की है उन्होंने केवल समस्याओं से सामना करने की बात कही है। यों उनके काव्य में भी 'सुमन' जैसी रूमानी क्रान्ति की झलक जगह-जगह मिलती है यथा—'बाँह गोरी मनुजता का ध्वज बने। इन उदाहरणों से प्रगतिशील कविता के अन्तर्गत समाहित मनोभावों की विविधता एवं विचित्रता के साथ-साथ उनके सतहीपन का परिचय भी सरलता से मिल जाता है। जैसे गुप्त जी 'भारत भारती' में 'हाय' के द्वारा करुणा उपजाते हैं, कहीं-कहीं प्रगतिशील कवि भी उसी मार्ग का अनुसरण करता दिखाई देता है। 'सुमन' लिखते हैं—

हाय! यहाँ मानव मानव में समता का व्यवहार नहीं है।

उनकी 'नयी आग है, नयी आग है।' पंक्ति वाली कविता एशिया के नव जागरण की व्यापक अनुभूति और अभिव्यक्ति की ओजस्विता के कारण बहुत समय तक लोगों को प्रभावित करती रही, विशेषतः कवि सम्मेलनों में। कुछ कवियों ने स्वपरिचित एवं निकट से निरीक्षित प्रकृति के उपेक्षित अंचल के चित्रों को भी सरलता के साथ प्रस्तुत किया है जैसे केदारनाथ की इन ंक्तियों में—

एक बीते के बराबर, यह हरा ठिगना चना,
बाँधे मुरैठा शीश पर, छोटे गुलाबी फूल का
सज कर खड़ा है।

अधिकतर कवि साम्यवाद की नयी चेतना को अपनाने के क्रम में व्यंग्य प्रधान कविताएँ—जो अक्सर गाली-गलौज के स्तर तक उतर आती थीं—लिख कर अपनी प्रगतिशीलता का विशेष परिचय देते रहे। नागार्जुन और शील की अनेकानेक कविताएँ इसे प्रमाणित करती हैं।

प्रगतिवाद ने सारी समस्याओं का एक साथ समाधान करने की अद्भुत साहसिकता के साथ ऐसा अद्वितीय और प्रशस्त राजमार्ग दिखलाया कि उसकी प्रतिक्रिया में अनेक प्रतिबद्ध एवं प्रतिश्रुत कवि भी प्रयोगशील अज्ञेय के साथ मिल कर 'राहों के अन्वेषी' बनने को तैयार हो गये। प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को एक वैचारिक आन्दोलन के रूप में पूरी शक्ति के साथ यथार्थ की ओर उन्मुख किया किन्तु देश के निजी यथार्थ का भ्रामक या स्वल्प बोध होने के

कारण तथा यथार्थ की अभिव्यक्ति के साहित्यिक रूप के प्रति बहुत ही 'डिक्टेटोरियल' और राजनैतिक रुख़ अपनाने से भी अन्ततः परिणाम यह हुआ कि वह काव्य में किसी नयी तथा निजी अभिव्यंजना-प्रणाली के प्रवर्तन का उतना भी श्रेय नहीं पा सका जितना छायावाद को सहज ही प्राप्त हो गया।

इसका गहरा कारण मेरे विचार से यह कि स्वतन्त्रता के लिए अहिंसात्मक विधि से संघर्ष करने वाला देश भले ही उसे पाने पर पूरी तरह स्वातंत्र्य का अनुभव न कर पाया हो परन्तु वह इतना सचेतन तो हो ही गया है कि किसी वैचारिक पारतन्त्र की आती हुई आँधी को पहचान ले और अपनी सांस्कृतिक चेतना के अनुसार मूल्यों की स्थापना के एवं उनके पुनरन्वेषण तथा आकलन के लिए नये सिरे से उन्मुख हो सके। मार्क्सवाद के अर्थ-प्रधान द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन ने इस देश की समस्त दार्शनिक, आध्यात्मिक जिज्ञासाओं एवं आकांक्षाओं को, उनके समुचित रूपान्तरण, समाधान अथवा बौद्धिक परिशमन के बिना ही, नितान्त निरर्थक, हेय तथा त्याज्य घोषित करने का आग्रह व्यक्त किया जिससे भारत का सांस्कृतिक स्वाभिमान विचलित हो उठा और युगवाणी में प्रगतिवाद के समर्थक कवि पंत जी को विवश होकर चेतावनी देनी पड़ी—

> आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम।
> मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम।

किसी अन्य देश और काल की परिस्थितियों में आविष्कृत सिद्धान्तों को अतिवाद और बौद्धिक जड़ता के साथ धार्मिकों जैसी कट्टरता का अनुसरण करते हुए भारत जैसे समृद्ध एवं गौरवपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा वाले किन्तु युगों से परतन्त्र देश पर लागू करने के हठ का परिणाम यही हुआ कि तथाकथित क्रान्ति की 'लाल' ज्वाला अकाल में ही अपना तेज और आकर्षण खोने लगी। रूस और चीन के सैद्धान्तिक संघर्ष तथा राजनैतिक द्वन्द्व ने इस आन्दोलन को भारतवर्ष में न केवल राजनीति के क्षेत्र में खंडित कर दिया वरन् प्रगतिशील साहित्यिकों के वर्ग में भी विघटन आरम्भ हो गया। कविताओं की विषयवस्तु और अभिव्यक्ति पर भी इसका प्रभाव पड़ने लगा जो स्वाभाविक था। देश की समस्याओं का समाधान करने से पहले ही 'कल्पवृक्ष' मुरझाने लगा और उसकी दो शाखाएँ आपस में प्रहार कौशल प्रदर्शित करके जनोद्धार के स्थान पर आत्मोद्धार के प्रयत्न में विलीन होकर जनरंजन करने लगीं। चीनी आक्रमण के बाद माओ को गाली देते हुए नागार्जुन और शमशेर आदि ने जो कविताएँ आवेश में लिखीं वे भी कम विचित्र नहीं लगीं।

उपलब्धियाँ और सीमाएँ

प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि हिन्दी में लगभग एक दशक तक बड़े व्यापक रूप से हुई और उससे पिछली और अगली दोनों पीढ़ियों के लेखक एवं कवि पर्याप्त गहराई के साथ प्रभावित हुए। भले ही रचनाओं में वह उतनी मात्रा में प्रतिबिम्बित न हो सकी हो जिसके अनेक कारण रहे हैं। प्रगतिवाद के अनेक विशेषज्ञ समीक्षकों ने उसकी उपलब्धियों और सीमाओं का तटस्थ रहने की चेष्टा के साथ आकलन किया है। कुछ समीक्षक ऐसे भी हैं जिनकी दृष्टि या तो

दोषों पर अधिक रही है या गुणों पर। नन्ददुलारे बाजपेयी को 'मार्क्सवादी गणित और हिन्दी साहित्य में उसके फलित रूप में समानता ढूंढ़ निकालना कठिन कार्य' प्रतीत हुआ। उनके विचार से 'केवल आर्थिक स्वतन्त्रता की लड़ाई जनवादी लड़ाई नहीं है।'[1] एक कठिनाई उनके सामने आई कि 'मार्क्सवादियों के सर्वहारा सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक कविता का सृजन सर्वहारा वर्ग ही कर सकता है। जो सर्वहारा वर्ग के बाहर हैं; बुद्धिजीवी हैं और वास्तविकता की अनुभूति रखते हैं. उन्हें भी प्रगतिशील काव्यरचना का अधिकारी नहीं माना जाता।'[2] बाजपेयी जी ने यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और मौलिक प्रश्न उठाया है क्योंकि स्वयं प्रगतिवादी समीक्षकों में ही इस सम्बन्ध में मत-वैपरीत्य रहा है जिसको देखकर उन्हें यह भी घोषित करना पड़ा कि 'साधारणता स्वतः काव्य का लक्ष्य नहीं हो सकती।' वैसा मान लेने पर विगत युग के किसी कवि का मूल्यांकन करना कठिन हो जायेगा क्योंकि साधारणतः स्वयं सापेक्षिक वस्तु है। काव्य की शक्ति कवि के किसी वर्ग विशेष से सम्बद्ध होने के आश्रित रहती है यह निर्विवाद प्रमाणित नहीं है। डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में 'हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील लेखक उस जीवन से दूर है जो उनकी प्रेरणा का मूल-स्रोत है। केवल बौद्धिक सहानुभूति के बल पर शोषितों की पीड़ा को मुखर करने वाले या हजारों मील दूर लड़ने वाली लाल सेना के अभियान-गीत लिखने वाले कवियों की रचनाओं की प्राणवत्ता पर उन्होंने स्पष्टतः संदेह व्यक्त किया है।[3] प्रगतिशील वर्ग के भीतरी मौलिक मतभेद तथा सच्चे वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव की ओर भी उनकी दृष्टि गयी है। हिन्दी के इन दोनों समालोचकों में प्रगतिवादी काव्य की सीमाओं के प्रति पर्याप्त सजगता मिलती है पर वाजपेयी जी में सहानुभूति की मात्रा अधिक है। प्रगतिशील कवियों का व्यवस्थित अध्ययन अधिकतर उनकी प्रेरणा से सम्पन्न हुआ। नामवर सिंह की प्रगतिवाद विषयक धारणाएँ द्विवेदी जी से ही नहीं उनसे भी प्रभावित हैं। पंत जी का छायावाद से प्रगतिवाद की ओर झुकना जैसे वाजपेयी जी को प्रिय नहीं लगा वैसे ही नामवर सिंह को भी वह अग्राह्य ही बना रहा। उनकी दृष्टि में पंत जी 'जनभीरु' और 'समाज से कटे हुए व्यक्ति हैं।[4] कुछ ही आगे उन्होंने पंत की 'बौद्धिक सहानुभूति' की सराहना भी की है और उसे उनकी 'ईमानदारी' का द्योतक माना है। कुछ ऐसी ही दोहरी बात उन्होंने प्रगतिवादी कविता के विषय में भी कही है। 'प्रगतिवाद' के सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण कविता में जितना परिवर्त्तन हुआ, उतना कहानी-उपन्यास के क्षेत्र में नहीं हुआ।' यह कहने के कुछ ही बाद उन्होंने यह भी लिखा है कि 'कुल मिलाकर कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद कविता की अपेक्षा अधिक व्यापक और सफल हुआ, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है।' परिवर्त्तन की शक्ति एक जगह प्रगट हुई और सफलता दूसरी जगह मिली, इस

१—नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २१६–२१७।

२—आलोचना, अंक २५, काव्यालोचन विशेषांक, पृ० ९।

३—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ पृ० १०८।

४—आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० ९०।

५—वही, पृ० ११३ और ११७।

असंगति को अलंकार की कल्पना किये बिना स्वीकार करना कठिन दिखायी देता है। जिन बातों पर प्रगतिवाद गर्व कर सकता है उनमें उन्होंने स्वस्थ सामाजिक पारिवारिक प्रेम, स्फूर्तिदायक वीरत्वव्यंजक स्वप्न-दर्शिता, सहजता और अनगढ़ता का आकर्षण, व्यंग्यमयता, लोकधुनों का छंद-विधान में समावेश तथा उद्देश्य की महानता आदि को परिगणित किया है। उनके अनुसार सौन्दर्य और शक्ति के मूल स्रोत के रूप में 'जनता' को प्रस्तुत करना प्रगतिशील समीक्षा की देन है। प्रकारान्तर से उन्होंने स्वयं भी मान लिया कि 'मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र का नाम प्रगतिवाद है।' यह धारणा काडवेल के विचारों की अनुगूँज मात्र है, किसी प्रगतिवादी समीक्षक की निजी उपलब्धि नहीं। मुझे बाजपेयी जी का यह कथन यथार्थ लगता है कि 'मार्क्सवाद के हिन्दी व्याख्याता काडवेल-जैसी साहित्यिक दृष्टि का भी निर्माण नहीं कर सके।'[१] डॉ० शिवकुमार मिश्र ने अपने शोध प्रबन्ध में प्रगतिवाद की विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का निरूपण करते हुए उसकी उपलब्धियों और सीमाओं को प्रकारान्तर से संकेतित कर दिया है तथा कुछ बातें स्पष्ट रूप से भी कह दी है पर वे सामान्यतया परिचित बातें ही हैं[२]। उमेशचन्द्र मिश्र ने अवश्य अपनी पुस्तक के अन्तिम भाग में न केवल उपलब्धियों और सीमाओं की चर्चा की है वरन् प्रगतिवाद की संभावनाओं पर भी विचार किया है[3]। उनका यह दावा कि 'हिन्दी कविता में साहित्य तथा जीवन की अभिन्नता प्रथम बार प्रगतिवादी कविता के माध्यम से ही अपने दर्शन देती है।' मुझे सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसमें 'साहित्य' और 'जीवन' दोनों को बहुत सीमित तथा पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण कर लिया गया है। प्रकृतिवादी यथार्थ के स्थान पर सामाजिक यथार्थ के चित्रण की बात अवश्य मान्य हो सकती है पर वरेण्यता की दृष्टि से ही, उसके आत्यन्तिक निषेध के अर्थ में नहीं क्योंकि अनेक प्रगतिवादी कवियों ने भी प्रकृतिवाद एवं यथातथ्यवाद को अपनाया है। अन्तश्चेतनावादी यथार्थ की ओर वे अवश्य उन्मुख नहीं हुए क्योंकि उसमें उन्हें ऐसे व्यक्तिवाद की गंध मिली जो समाज विरोधी प्रतीत हुआ।

प्रयोगवाद

'छायावाद' की तरह 'प्रयोगवाद' नाम भी काव्य-प्रवृत्ति विशेष के विरोधियों द्वारा दिया नाम है जो प्रतिवाद किये जाने पर भी, उस समय के साहित्यिक वातावरण में व्याप्त वाद मूलक चेतना के कारण, व्यापक स्वीकृति पा गया। कहा भी गया है कि 'मात्र रूपाकारों पर प्रयोग करने वाली कविताओं को 'प्रयोगवाद' नाम देने का श्रेय प्रगतिवादियों को है।'[४] यह रोचक तथ्य है कि इस शब्द के चल पड़ने पर आश्चर्य एक प्रगतिवादी आलोचक को ही हुआ क्यों कि 'प्रयोग' शब्द जैसे अंग्रेज़ी के 'एक्सपेरिमेन्ट' का हिन्दी पर्याय है वैसे 'प्रयोगवाद' का 'एक्सपेरिमेन्टलिज़्म' जैसा कोई समानान्तर आधार नहीं है और न योरोप में वैसा कोई

१—आलोचना, २५वाँ अंक, पृ० १०।

२—नया हिन्दी काव्य, पृ० १६२-१८२।

३—प्रगतिवादी काव्य, पृ० २८८-३०६।

४—द्र० लेख—प्रयोगशील कविता का भविष्य, अवन्तिका, जनवरी, १९५४ ई०।

वाद ही चला।[1] यह भी विचित्र है कि जिन्होंने प्रयोग को कविता में साधन माना वह प्रयोगवादी कहलाये और जिस वर्ग ने वादी मनोवृत्ति अपनाकर प्रयोग को साध्य घोषित किया वह, संभवतः अपने को तथाकथित प्रयोगवादियों से पृथक् रखने की चेष्टा में, 'प्रपद्यवादी' अथवा 'नकेन' कहलाया।[2]

नलिनविलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश के प्रथम नामाक्षरों को लेकर बने 'नकेन' नाम के कविता संग्रह का प्रकाशन यद्यपि 'तार सप्तक' के अनेक वर्षों बाद हुआ तथापि जितनी योजना-बद्धता के साथ उसमें प्रयोगवाद का पक्ष लिया गया है वैसा तीनों सप्तकों में से किसी की भूमिका में नहीं। 'नकेन' के आरम्भ में 'प्रपद्य-द्वादश-सूत्री' 'फक्किका' समेत छपी है और अन्त में 'पसुपशा' के अन्तर्गत 'प्रयोगवाद का वास्तविक आरम्भ १९३६-३८ में लिखी गई नलिनविलोचन शर्मा की कविताओं से' माना गया है तथा 'प्रयोग-दश-सूत्री' देकर अज्ञेय के विचारों की खुली आलोचना की गयी हैं। एक विडम्बना सूत्र नं० २ उपस्थित करता है जिसके अनुसार 'प्रयोगवाद सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, उसके लिए शास्त्र या दल-निर्धारित नियम अनुपयुक्त है।' यह सूत्र स्वयं दल-निर्धारित नियमों का एक अंग है। 'कच्चा माल', 'एक मात्र सही नाम' 'दृक्वाक्यपदीय प्रणाली' 'उत्कृष्ट केन्द्रण' जैसे अनेक पारिभाषिक शब्दों के द्वारा अन्य सूत्रों में 'प्रयोगवाद' और 'प्रपद्यवाद' की विशेषताएँ एक साथ प्रस्तुत की गयी हैं। इनमें से कुछ शब्द और धारणाएँ तो अवश्य प्रचलित हुईं पर समग्र रीति से बिहार का यह अत्याग्रही प्रयोगवाद हिन्दी के व्यापक क्षेत्र में अपनी मान्यता, एक आन्दोलन के रूप में, नहीं प्राप्त कर सका और न उसका सूत्र-संचालक ही बन पाया।' भाव और व्यंजना का स्थापत्य' कह कर प्रयोगवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए स्वनिर्धारित अन्य आग्रहों को महत्त्व रहित भी बताया गया परन्तु परिणाम कुछ विशेष नहीं निकल सका। 'प्रपद्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि' के स्पष्टीकरण का प्रयास भी सफल नहीं हुआ क्योंकि उसमें भी 'नकेन' की बातों को ही प्रायः दोहराया गया है।[3]

'प्रयोगवाद' के नाम से अभिहित कविता के स्वरूप को जानने के लिए उस काल की अन्य प्रकाशित कविताओं को छोड़कर अधिकतर तीनों सप्तकों को ही आधार बनाया जाता है क्योंकि उनके सम्पादक ने न केवल इक्कीस कवियों को एकत्र किया वरन् उसके पास निजी सौन्दर्य-दृष्टि और एक सजग कसौटी भी रही है जिसका परिचय तीनों संकलनों तथा उनकी भूमिकाओं से स्पष्टतया मिल जाता है। सहयोगी प्रकाशन के रूप में 'तार सप्तक' का प्रथम

१—हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० ४३।

२—(i) 'प्रयोग का कोई वाद नहीं हैं। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है।'—दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ० ६।

(ii) 'इन कवियों ने अपने वाद के लिए 'प्रपद्यवाद' का और नाम-संकेत के लिए 'नकेन' का अभिधेय स्वीकार किया और इस प्रकार हिन्दी कविता की वह धारा आगे बढ़ी जो निःसंकोच प्रयोग को ही अपना साध्य मानती है।'

—नकेन, (१९५६), पृ० ११४।

३—द्र० केसरी कुमार का लेख, अवन्तिका, काव्यालोचनांक, (१९५४), पृ० २५१-५५।

संस्करण १९४३ ई० में छपा और द्वितीय संस्करण कुछ परिवृद्ध रूप में १९६६ में सामने आया। इसकी मूल-कल्पना, योजना, वास्तविक श्रेय तथा 'महत्त्वपूर्ण कौन' इत्यादि के विषय में जो विवाद पिछले दिनों नेमिचन्द्र जैन आदि इसी में संकलित किन्तु अज्ञेय की ख्याति और प्रतिष्ठा से विक्षुब्ध कवियों द्वारा उठाया गया, नये संस्करण में समाविष्ट उनके वक्तव्यों से उसकी झलक साफ़ दिखायी दे जाती है। शमशेर बहादुर सिंह ने भी अन्यत्र एक जगह लिखा है कि 'इसकी मूल परिकल्पना प्रभाकर माचवे और नेमिचन्द्र जैन की थी। नाम 'तार-सप्तक' प्रभाकर माचवे का सुझाया हुआ था। अज्ञेय जी से सम्पर्क बढ़ने पर योजना को कार्यरूप में सम्पन्न करने के लिए उसमें सम्पादन का भार उन पर डाल दिया गया।'[1] मूलतः यह संकलन केवल मध्य-प्रदेश के कवियों तक ही सीमित था। उनमें से दो कवियों के नाम हटाकर अज्ञेय ने डॉ० रामविलास शर्मा और गिरिजाकुमार माथुर को सम्मिलित कर लिया। मेरी दृष्टि में इतिहास के ऐसे उद्घाटन से इस बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि अज्ञेय ही उस श्रेय के वास्तविक अधिकारी थे जो उन्हें मिला। उनकी जैसी कविता की पहचान और समझ, सिद्धान्तवादिता तथा संतुलित-सतर्क लेखन-क्षमता 'तार सप्तक' के अन्य किसी कवि में नहीं थी। आगे चलकर यह स्वतः प्रमाणित हो गया। संकलित कविताओं को देखने से, माथुर को छोड़ कर, शेष सभी कवि मार्क्सवादी विचारधारा से न्यूनाधिक रूप से प्रभावित दिखाई देते हैं। मुक्तिबोध की 'पूँजीवादी समाज के प्रति', नेमिचन्द्र जैन की 'कवि गाता है', भारतभूषण की 'अपने कवि से' एवं 'जागते रहो', माचवे की 'निम्न मध्य वर्ग', 'बीसवीं सदी' और 'दाज़्द्रास्तव्युते सवित्स्की सोयूज !' तथा रामविलास शर्मा की 'विश्व-शान्ति' शीर्षक कविताओं का स्वर स्पष्टतया साम्यवादी विचारों से अनुप्रेरित है। यहाँ तक कि स्वयं सम्पादक भी अपनी 'जनाह्वान' नामक पहली ही कविता की समाप्ति इन शब्दों में करता है।

लाल आग
मेरे भावी गौरव का रथ है।[2]

'काले पापों में' प्रतीक रूप से प्रवहमान होकर भी अज्ञेय की यह 'लाल आग' उस युग की प्रचलित प्रवृत्ति से एकदम अछूती नहीं दिखायी देती। इस सबके आधार पर यदि यह कहा जाय कि संवेदना और दृष्टि का अन्तर होते हुए भी 'प्रयोगवाद' का जन्म 'प्रगतिवाद' की कोख से हुआ है तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी। इससे बहुत सी भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं। जैसे प्रगतिवाद को 'समाज' और प्रयोगवाद को 'व्यक्ति' से सम्बद्ध करके परस्पर विरोधी रूप में फ़ार्मूला बनाकर प्रस्तुत करना। मैं नहीं मानता कि प्रयोगवाद और उसके बाद की कविता को इस प्रकार समाज विरोधी कहा जा सकता है। व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि से दोनों परस्पर पूरक भी हो सकते हैं और हैं।

सुविदित है कि 'तार-सप्तक' की भूमिका में काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण

---

१. चाँद का मुंह टेढ़ा है, भूमिका-भाग, पृ० १६।
२. तार-सप्तक, प्रथम संस्करण, पृ० ७७।

अपनाकर संकलित कवियों को 'राही नहीं, राहों के अन्वेषी' कहा गया और 'कविता की कसौटी' को खोजने का संकल्प किया गया। प्रयोगशीलता को सबसे प्रमुख कसौटी मान कर कविता, जो शब्दों की मीनाकारी नहीं है, के सागर में बूँद की तरह खो जाने के प्रति आशंका व्यक्त की गयी तथा एक संग्रह में एकत्र होने का कारण 'स्कूल' बद्धता का अभाव बताया गया। अपनी कविता के वक्तव्य में अज्ञेय ने आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या के रूप में 'भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुली फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ' भरने की कठिनाई की ओर इंगित किया जो मेरे विचार से प्रत्येक नये कवि की वास्तविक समस्या है। प्रगतिवाद के धुआँधार वातावरण में किसी कवि का ध्यान इस सूक्ष्म बात की ओर नहीं गया इसीलिये उक्त बातें विशेषतः प्रयोगशील अन्वेषी दृष्टि ही विभाजक रेखा बन गयीं और आगे उसी के आधार पर नये वाद का दौर चल पड़ा। यद्यपि यह भी सत्य है कि अपने प्रकाशन के बाद 'तार-सप्तक' अनेक वर्षों तक उपेक्षित पड़ा रहा। जब प्रगतिवादियों एवं उनके पक्षधर समीक्षकों तथा आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने प्रयोगवादियों पर तीखा और खुला प्रहार किया[1] और अज्ञेय का व्यक्तित्व उनकी आँखों में गड़ने लगा तब उसकी ओर साहित्यिक वर्ग का ध्यान गया और जगह-जगह उसका उल्लेख किया जाने लगा। 'दूसरा सप्तक' (१९५१ ई०) की भूमिका में, इन प्रहारों को दृष्टि में रख कर, कतिपय ऐसी सैद्धान्तिक स्थापनाएँ की गयीं जिनसे बहुत से आपत्तिकर्त्ताओं को उत्तर मिल गया। प्रयोग का कोई 'वाद' नहीं होता, प्रयोग अपने आप में लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य है साधारणीकरण, कवि का क्षेत्र रागात्मकता का क्षेत्र है पर उसकी अभिव्यक्ति की प्रणालियाँ बदल गयी हैं, 'तथ्य' रागहीन और 'सत्य' रागात्मक होता है, इसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। 'तीसरा सप्तक' (१९५९ ई०) प्रयोगवाद के उतरते और नयी कविता के चढ़ते दौर में प्रकाशित हुआ। 'प्रत्येक शब्द को नया संस्कार देने' और 'एक मात्र उपयुक्त शब्द की खोज' आदि को छोड़ कर उसमें न तो कोई महत्त्व की बात कही गयी है और न चयन की वह सजगता लक्षित होती है जो पूर्ववर्ती दोनों सप्तकों में थी। यदि कुल मिलाकर देखा जाय तो हर सप्तक में कुछ न कुछ ऐसे कवि मिल जायेंगे जो संकलित हो जाने के बाद प्रायः निष्क्रिय हो गये तथा प्रतिदान में अपनी मौन लेखनी की अवशिष्ट स्याही प्रतिभा-पारखी सम्पादक की कीर्ति को अर्पित कर गये। आलोचकों ने बिना सक्रियता और निष्क्रियता का विचार किये अधिकतर एक रूढ़ि के रूप में उन्हीं इक्कीस कवियों तक प्रयोगवाद की चर्चा को सीमित कर दिया जब कि अज्ञेय-वृत्त के कवियों से बाहर भी प्रयोगशीलता की प्रवृत्ति व्यापक रूप से लक्षित होती रही जैसे लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि के कृतित्व में जिसे वाद-मुक्त 'नयी कविता' के द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

'तार-सप्तक' के कवियों में रचना-सामर्थ्य की दृष्टि से सबसे अधिक सक्रिय अज्ञेय सिद्ध हुए और सबसे अधिक निष्क्रिय नेमिचन्द्र जैन। रामविलास शर्मा की स्थिति नेमिजी से अधिक

---

१. **आधुनिक साहित्य, दूसरा लेख, प्रयोगवादी रचनाएँ।**

भिन्न नहीं कही जा सकती है यद्यपि उनका 'रूपतरंग' नामक एक संग्रह तक प्रकाशित हो चुका है। अपने जीवन-काल में मुक्तिबोध भी विशेष ध्यान आकर्षित नहीं कर सके किन्तु गहन अन्तिम संघर्ष और मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित उनके सुप्रसिद्ध कविता संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (१९६४ ई०) ने उन्हें अकस्मात् जो ख्याति प्रदान की उससे उनका कवि-व्यक्तित्व सहसा सम्माननीय और महत्त्वपूर्ण हो गया। मुक्तिबोध की कविताओं में जीवन-दृष्टि और वस्तु-चेतना प्रगतिवाद की, शिल्पगत जागरूकता प्रयोगवाद की और वातावरण एवं प्रेरणा नयी कविता की परिलक्षित होती है। उनके संग्रह की कविताएँ १९५४ से ६४ तक की हैं, यह तथ्य इस तेहरी परिणति को समझने में सहायता देता है तथा यह भी प्रमाणित करता है कि प्रयोगवाद के उन्मेष एवं विकास-काल में वे भी विशेष सक्रिय नहीं रहे। गिरिजाकुमार माथुर के 'धूप के धान' और 'शिलापंख चमकीले' की कविताएँ एक मिली-जुली स्थिति का ही बोध कराती हैं। कविकर्म के प्रति सजगता, संलग्नता और रचनाशीलता आदि अनेक दृष्टियों से उनका स्थान अज्ञेय के अनन्तर माना जा सकता है यद्यपि विचारों के क्षेत्र में वात्स्यायन जैसी सूक्ष्म पकड़ और गहरी चिंतन-शक्ति उनमें दिखायी नहीं देती। भारतभूषण अग्रवाल और प्रभाकर माचवे के भी देर-सवेर अनेक काव्य-संग्रह प्रकाशित होते रहे किन्तु उनमें से कोई ऐसा नहीं रहा जो काव्य की दिशा को मोड़ने का कार्य करता। तार सप्तक के सक्रिय कवि अधिकतर युग-बोध के साथ अपने को सचेष्ट रूप में सम्पृक्त रखने के लिए प्रयत्नशील दिखायी देते हैं। इस स्थिति से कुछ ऊपर उठ कर केवल अज्ञेय ही अपने कवि-व्यक्तित्व को सार्थक रूप में प्रतिष्ठित कर सके। 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्र धनु रौंदे हुए थे', 'अरी ओ करुणा प्रभामय' तथा 'आँगन के पार द्वार' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कविता-संग्रह इसके प्रमाण हैं। अज्ञेय की आधुनिकता और उनके व्यक्तित्व को नकारने या उसे नीचे लाने के भी कई प्रयत्न हुए और हो रहे हैं किन्तु उससे उनके विवादास्पद होने का ही प्रमाण मिलता है, असमर्थता का नहीं। उन्होंने हिन्दी कविता के उस आन्तरिक संघर्ष से अपने को सबसे अधिक एकात्म कर दिया जिसे प्रयोगशीलता का सच्चे अर्थ में संवाहक एवं निर्धारक कहा जा सकता है। इसकी द्योतक उनकी कुछ पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

'यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया है
यह नहीं कि मुझको शब्द अचानक कभी-कभी मिलता है,
दोनों जब-तब सम्मुख आते ही रहते हैं
प्रश्न यही रहता है
दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाये रहते हैं
मैं
कब कैसे उनके अनदेखे
उसमें सेंध लगा दूँ
या भर कर विस्फोटक उसे उड़ा दूँ।'

कवि रूप में उनकी महत्ता शब्द और अर्थ के असह्य अन्तराल को दूर करने के प्रयत्न में निरन्तर लगे रहने तथा दूसरों को इस समस्या के प्रति जागरूक

बनाये रखने के कारण विशेष रूप से मान्य हुई। 'तारसप्तक' के नवीन संस्करण के 'पुनश्च' में भी उनकी यह विशेषता स्पष्ट रूप से लक्षित की जा सकती है।[1] दूसरे और तीसरे सप्तक के अनेक कवियों में भाषा को नया रूप देने की जो विशेष चेतना मिलती है, जैसा भवानी प्रसाद मिश्र, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय, कुँवर नारायण और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना इत्यादि के वक्तव्यों एवं रचनाओं से प्रकट है, उसका श्रेय बहुत-कुछ अज्ञेय की विचारधारा को ही है।

भाषा ही नहीं व्यक्ति चेतना को भी अज्ञेय से विशेषतः जोड़कर देखा गया है और वह भी 'दूसरा सप्तक' के एक कवि द्वारा—

'तारसप्तक का व्यक्तिवाद वस्तुतः शेखर की वैयक्तिकता का ही काव्यात्म रूप था। ....इस प्रकार हिन्दी का यह व्यक्तिवाद हमारे मन की प्रगति का मेरुदंड बन कर सामने आया। तारसप्तक का कवि घोर अन्तर्मुखी हो जाता है और उसके कंठ से चीत्कारें फूट पड़ती हैं। तारसप्तक में इन्हीं 'चीत्कारों का प्राधान्य है।'[1]

व्यक्तिवाद के छायावादी और प्रयोगवादी रूपों को अलग करने का यह प्रयत्न विचित्र दिखायी देता है क्योंकि इसमें एक ओर तो प्रयोगवाद को छायावाद से आगे मान कर उसके व्यक्तिवाद को समर्थित किया गया है दूसरी ओर उसको प्रगतिवाद की सामाजिक चेतना के आगे अग्राह्य भी बताया गया है। अज्ञेय ने स्व-संकलित हरिनारायण व्यास के इस आरोप का कहीं खंडन किया हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। उन्होंने प्रतिवाद न भी किया हो तो भी मुझे यह आरोप वास्तविक नहीं लगते क्योंकि मेरे विचार से सतही फ़ार्मूलाबद्ध यथार्थ को छोड़कर, अनुभूति और विचार की सापेक्षिक स्वतन्त्रता के साथ, जीवन की विविधतामय अभिव्यक्ति 'तारसप्तक' की बहुसंख्यक कविताओं में हुई है। यह भी सत्य है कि इस दिशा में 'दूसरा सप्तक' उससे उत्कृष्टतर है। उसके सभी कवि परवर्ती विकास-क्रम में अधिक समर्थ और सक्रिय सिद्ध हुए। नयी कविता की विचार-भूमि ने उन्हें अपने कृतित्व को प्रस्फुटित करने का पूरा अवसर दिया और वह उससे समृद्ध भी हुई। तीसरे सप्तक के प्रथम तीन कवियों की तुलना में अन्तिम तीन की स्थिति अधिक सशक्त दिखायी दी। मध्यस्थ का पर्यवसान साठोत्तरी कविता के विलगाव के आग्रह में हो गया जिसे उसकी रचनाएँ स्वयं ही प्रमाणित नहीं कर सकीं। उससे कहीं अधिक विलग और आधुनिक मशीन-युग की चेतना का संवहन तो मदन वात्स्यायन की कविताओं में लक्षित होता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि तीसरे सप्तक के कवि नयी कविता के व्यापक भावबोध से पृथक् अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व रखते दिखायी नहीं देते।

नयी कविता के उन्मेष और वाद-रहित मानवीय जीवन-दृष्टि तथा विकसित एवं

१—'शब्द का ज्ञान—शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़—ही कृतिकार को कृती बनाती है....लेकिन शब्द की अर्थवत्ता की खोज में शब्द की ऐतिहासिक और अर्थ की सामाजिक परख दोनों निहित है और अर्थवान् शब्द का संवेदन (संप्रेषण) हो ही नहीं सकता बिना युग-सम्पृक्ति के।' पृ० ३०८-३०९।

परिष्कृत सौन्दर्य-बोध ने प्रयोगवाद को दुर्गति तक पहुँचने या बिखर जाने से बचा लिया। यही नहीं उसने उसके सार्थक तत्त्वों को नयी भूमिका प्रदान की तथा कला-चेतना और शिल्पगत सजगता के अनेक पक्षों का उद्घाटन करते हुए उसे पूरी तरह आत्मसात् कर लिया।

नयी कविता तथा अन्य समवर्ती काव्य-प्रवृत्तियाँ

स्वातंत्र्योत्तर भारत में एक नये आरम्भ की कल्पना आर्थिक विषमताओं और सांस्कृतिक संक्राति के कारण सही रूप में सामने नहीं आ सकी। उसे अनेकानेक विकृतियों ने घेर लिया। विश्वासपूर्ण निष्ठा, दृढ़ता और मूल्यबोध परक आन्तरिक संगति की अपेक्षा रिक्तता, विघटन एवं विसंगति के स्वर ही अधिक सुनायी देते रहे। कविता के भीतर पैठ कर वही स्वर धीरे-धीरे आत्म-मंथन, उत्पीड़न, क्रान्ति, विद्रोह व्यंग्य-विद्रूप, अनास्था और विडम्बना की विचित्र अनुगूंजें पैदा करते रहे तथा कभी-कभी ऐसा भी लगने लगा कि सहस्राब्दियों से जीवन को अखंड रूप से धारण और रक्षित किये रहने वाली आस्था, उदात्तता और व्यापक मानवीय हित की ओर, स्वार्थ के घेरे को तोड़कर, बढ़ने वाली सहज सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही समाप्त होने जा रही है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि कवि-कर्म कठिन से कठिनतर होता गया तथा कविता भी रंजनात्मक तटस्थ स्थिति को छोड़ कर युगीन यथार्थ के बीचोबीच आकर मानसिक संघर्ष की नयी स्थितियों में अपनी शक्ति का परीक्षण करने लगी। बहुत-सी सीमाएँ और वर्जनाएँ अपने आप चरमराकर टूट गयीं, कुछ के लिए सचेष्ट प्रयत्न भी करना पड़ा। सुधारवाद की शिथिल मनोवृत्ति को त्याग कर उसने साग्रह परिवर्तन करनेवाली विद्रोह की कठोर प्रवृत्ति को मुक्त भाव से ग्रहण किया। मानव-मुक्ति की भावना से उद्भूत एवं निराला द्वारा पारिपोषित मुक्त छंद उसका प्रतीक बना और उसे व्यापक स्तर पर सहजपूर्ण स्वीकृति प्राप्त हुई। क्रान्ति की सीमा तक पहुँचे हुए असंतोष के खिंचावों और तनावों के भीतर रहकर ही सुकुमार और स्निग्ध पक्ष भी अपनी अभिव्यक्ति पाता रहा, पर वह जीवन के ठंढे लोहे जैसे कठोर इतर पक्ष की उपेक्षा कभी नहीं कर सका और न उससे अधिक महत्व पा सका। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में नये सिरे से मूल्यों को साहित्यिक धरातल पर अन्वेषित करने की प्रवृत्ति 'राहों के अन्वेषण' से भी गंभीर सिद्ध हुई और प्रगति-प्रयोग से लेकर नयी कविता तथा उसके अनेकमुखी परिविस्तार तक की सारी विकास-रेखा उसी से परिचालित है। कवि के लिए विचार-भूमि से असम्पृक्त रह पाना संभव नहीं रहा और न उसे गौरव की वस्तु माना गया। उसकी वृत्ति उन तत्वों के प्रतिकार में विशेषतः संलग्न हो गयी जो जीवन के सहज प्रवाहमय रूप को विकृत, विच्छिन्न, रुद्ध और क्षीण बनाते हैं। कवि की प्रतिक्रिया बहुधा 'बौद्धिक' न होकर 'प्रातिभ' होती हैं विशेष रूप से रचना के क्षेत्र में प्रवेश करने पर विचार-भूमि स्वतः भाव-भूमि में परिणत हो जाती है। इस आन्तरिक रचनात्मक परिणति के साथ सांस्कृतिक विकास-क्रम में घटित होने वाली व्यक्तित्वमूलक परिणति की धारणा को मिला कर देखना आवश्यक है तभी नयी कविता के स्वरूप को समझा-परखा जा सकता है। उपदेशात्मकता की मुद्रा आज के कवि की मुद्रा नहीं है भले ही 'शुद्ध कविता' के पारखी 'दिनकर' अब भी, गुप्त जी की परम्परा में, उपदेश को किसी न किसी रूप में कवि के लिए

आवश्यक समझते हों। नया कवि सिद्धान्त-कथन और वस्तु-वर्णन से ऊपर उठकर अपने अनुभव को सही, सशक्त और सांकेतिक रूप में संप्रेषित करना चाहता है।

'नयी कविता' के, सन् १९५४ से १९६७ तक, लगभग एक-डेढ़ दशक के भीतर प्रकाशित आठ अंकों में लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर, कुँवर नारायण, विपिनकुमार अग्रवाल और श्रीराम वर्मा इत्यादि सात विशेष कवियों की कविताएँ अज्ञेय, रघुवंश और विजयदेव नारायण साही जैसे जागरूक काव्य-मर्मज्ञों द्वारा लिखित 'परिचय' के साथ प्रकाशित हुई जिनसे नयी दिशा का स्पष्ट संकेत मिला। 'अंधा-युग' के और 'कनुप्रिया' जैसी भारती की विशिष्ट रचनाओं के अंश सर्व-प्रथम 'नयी कविता' के अंक २ और ४ में क्रमशः प्रकाशित हुए जिनसे आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति में प्राचीन पौराणिक आख्यानों के सफल और सशक्त प्रयोग का एक नया स्तर उद्घाटित हुआ। 'संचयन' स्तंभ के अन्तर्गत बहुसंख्यक परिचित-अपरिचित नये कवियों की रचनाओं को स्थान मिला। बहुत-सी नवीन प्रतिभाएँ 'नयी कविता' के माध्यम से प्रकाश में आयीं। 'किंचित् कविता' जैसे अटपटे 'शीर्षक' से अभिहित 'अगर कहीं मैं तोता होता' आदि कई हल्की-फुल्की व्यंग्यात्मक कविताओं ने लोक-रुचि की दिमाग़ी काहिली और भुथरेपन को चीर कर विद्रोह का मार्ग सहसा अधिक प्रशस्त कर दिया। अनेक पुरातन-पंथी विद्वानों ने भी 'नयो कविता' के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करने के लिए 'किंचित् कविताओं' का सहारा लिया जिससे 'नयी कविता' का उपहास तो नहीं ही किया जा सका, वे स्वयं उपहासास्पद अवश्य दिखायी देने लगे। क्योंकि जहाँ आघात करने का कोई अर्थ हो सकता था वहाँ उन्होंने आघात किया ही नहीं। जो कार्य बाद में अनेक प्रयत्न करने पर भी बहुतों के द्वारा संभव नहीं हो सका वह इन कविताओं की समझ और नासमझी के द्वन्द्व ने सहज ही कर दिखाया। 'नयी कविता' के पहले अंक की जितनी तीव्र प्रतिक्रिया हिन्दी जगत् में हुई उतनी तब से अब तक कविता के क्षेत्र में विविध नामों से आरंभ किये जाने वाले किसी आन्दोलन द्वारा नहीं हुई। अनेक प्रयत्नों के बावजूद सच्चे अर्थ में अभी दूसरा कोई आन्दोलन सामने आया ही नहीं है। जो मूल्य-बोध विषयक प्रश्न अभिव्यक्ति की समस्याएँ नयी कविता ने उठायी उनकी व्याप्ति अभी तक बनी हुई है। लक्ष्मीकान्त वर्मा को रचनाओं में जो 'अजब-सा खुरदरापन, अनगढ़पन, व्याकृति' परिव्याप्ति मिली उसकी खोज हिन्दी कविता में अब भी की जा रही है। उनके द्वारा 'नयी कविता के प्रतिमान' नामक पुस्तक में जो स्थापनाएँ की गयीं उनमें से अनेक की सार्थकता अब भी निर्विवाद है। 'नयी कविता' के तीसरे अंक में 'अर्थ की लय' की जो धारणा निष्पन्न की की गयी उसकी मौलिकता ने अनेक काव्य-चिंतकों को प्रभावित किया और वह एक सजीव चर्चा का विषय बनी हुई है। अर्थ-संगठन के सूक्ष्म आन्तरिक प्रवाह को लक्षित करने से बहुत-सी ऐसी कविताएँ जो ऊपर से गद्यात्मक प्रतीत होती हैं, रूप-युक्त और संगत दिखायी देने लगती हैं। इसी प्रकार चौथे अंक में 'रसानुभूति और सहानुभूति' के बीच जो विवेक किया गया है वह आधुनिक साहित्य को समझने और मूल्यांकित करने में निश्चित रूप से सहायक हुआ है। 'रस-सिद्धान्त' के घेरे में न आ सकने वाली कविता के सौन्दर्य-बोध की व्याख्या के लिए एक दिशा का निर्देश उससे मिला और हठवादी आचार्यों को समुचित उत्तर भी प्राप्त हुआ जिसकी अनुगूंज समीक्षा-साहित्य में अभी तक सुनायी देती है। इसी तरह पाँचवें-छठें संयुक्तांक के

सम्पादकीय में ही 'कविता और अकविता' का प्रश्न उठाया गया तथा सातवें अंक में 'काव्य-बिम्ब' की समस्या और उसके स्वरूप पर काव्य में निहित दृश्य-तत्त्व पर बल देते हुए, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-चिन्तन की सापेक्षता में, निजी दृष्टिकोण से विचार किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि आज कविता मात्र की चर्चा में 'बिम्ब-विधान' को महत्त्व दिया जाने लगा। 'आधुनिकता' पर एक परिचर्चा सातवें अंक में ही प्रकाशित हुई जिसमें उसके अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विविध लेखकों द्वारा मत व्यक्त किया गया। आठवें अंक में 'नयी कविता : किसिम-किसिम की कविता' शीर्षक के अन्तर्गत अनेक नामधारी लघु-पत्रिकाओं में व्यक्त होने वाली 'समकालीन कविता सम्बन्धी विचारधारा का परिदृश्यात्मक अवलोकन' प्रस्तुत किया गया। 'नयी कविता की वर्तमान स्थिति' को समझने और 'कविता के नये प्रतिमान' खोजने का यत्न अन्य परिचर्चाओं द्वारा इन्हीं अंकों में किया गया। 'नयी कविता' के पहले दो अंकों में मेरे सहयोगी रामस्वरूप चतुर्वेदी रहे और बाद के सभी अंकों में विजयदेव नारायण साही का योगदान प्राप्त हुआ। श्रीराम वर्मा और प्रमोद सिनहा भी सहायक बने।

साही का सुदीर्घ किन्तु अपूर्ण लेख 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है कि उसमें 'छायावाद से अज्ञेय तक' के संवेदनात्मक परिवर्त्तन को कविता के अन्तरंग संदर्भ में विवेचित करने की गहरी चेष्टा की गयी है और उसके लिए 'लघु' और 'महत्' के सम्बन्ध को आधार बनाया गया है। और भी अनेक लेख जैसे माचवे का 'भारतीय भाषाओं में नयी कविता : कुछ नोट्स' आदि विविध अंकों में छपे जिनसे हिन्दी कविता के पाठकों एवं आलोचकों का दृष्टिकोण व्यापक स्तर पर परिवर्तित हो गया और सामान्यतया जिन बातों से चौंकने-चौंकाने की प्रवृत्ति होती थी उनसे परिचय, वैचारिक संपृक्ति और आत्मीयता का भाव उत्पन्न होने लगा। नयी अभिव्यक्ति और नये कथ्य के बीच का व्यवधान कम होता गया तथा युगीन आवश्यकता के रूप में एक सहज दृष्टिकोण से नवीनता को देखा जाने लगा।

नयी कविता की ऐसी कौन-सी प्रमुख विशेषताएँ हैं जो उसे प्रयोगवाद से पृथक् करती हैं और आगे ले जाती हैं यह प्रश्न विचारणीय है। नयी कविता के संयुक्तांक की पहली सम्पादकीय टिप्पणी 'नये कवि का व्यक्तित्व और अज्ञेय जी' यहाँ उल्लेखनीय है क्योंकि उसमें विवश होकर नये कवि को अपना अनुवर्ती एवं गतानुगामी सिद्ध करने वाली, प्रथमतः 'कल्पना' के ६१, ६३ अंकों में प्रकाशित, कविताओं के मन्तव्य का मुझे सीधा विरोध करना पड़ा। 'आ, तू आ, हाँ, आ, मेरे पैरों की छाप-छाप पर रखता पैर, मिटाता उसे आ तू दर्पस्फीतजयी! मेरी तो तुझे पीठ ही दीखेगी—क्या करूँ कि मैं आगे हूँ और देखता भी आगे की ओर' जैसे कथन से नये कवियों के स्वाभिमान पर चोट लगी और 'हमें प्रतीक्षा न थी तुम्हारे आवाहन की, हम आये आवाहन के पूर्व ही नये भिन्न पथ से, जो तुम्हें अज्ञात था,' जैसा उत्तर भी उन्हें दिया गया।[1] उसी प्रसंग में मैंने नये कवि के व्यक्तित्व को शब्दबद्ध करने की चेष्टा की।

---

१. 'माध्यम' के मई १९६८ के अंक में इधर गंगाप्रसाद विमल ने भी अज्ञेय की संवेदना को आधुनिक मानने से इन्कार किया है। —पृ० १०

सार्वभौमिक दृष्टि, मनुष्य-मनुष्य के बीच की अविभेदकता एवं एकता का बोध, साहित्य मात्र की अखण्डता की प्रतीति, संकीर्णता और परिधिमूलकता के स्थान पर उदारता और व्यापकता का वरण, सच्ची, खरी और ईमानदार अनुभूति पर आग्रह, अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच आन्तरिक संवेदना-सूत्रों पर आधारित अधिकाधिक निकटता एवं सहजता लाने की चेष्टा, संवेदना को मानवीयता तथा मानव-मूल्यों के प्रति सतत् जागरूकता, सामाजिक और व्यक्ति पक्ष का संश्लेषण, मित और संयत कथन की प्रवृत्ति, रोमान्टिकता से यथार्थवाद की ओर वैचारिक स्वतन्त्रता के साथ उत्तरोत्तर तीव्र गति, स्वाभिमान के प्रति सजगता, व्यंग्य और विद्रोह करने की शक्ति एवं सक्रियता आदि बातों को उसके घटक तत्त्वों के रूप में ग्रहण किया गया। इनमें से कुछ बातें अवश्य ऐसी हैं जिनसे प्रयोगवाद के आगे आने वाले उस कवि-व्यक्तित्व का परिचय मिलता है जो विविध प्रकार की काव्य-रचनाओं में अब भी रूप ग्रहण करता जा रहा है। प्रयोगवाद में व्यक्तित्व की सार्थकता और स्वतन्त्रता का जो बीजारोपण हुआ वह प्रारंभिक विकास की अवस्था में कच्चेपन के कारण वैचारिक और मानसिक एकात्मता नहीं ला सका। नयी कविता में ही आकर परिपक्वता के साथ बौद्धिक और मानसिक पक्षों के बीच सहज आत्मिक ऐक्य घटित हुआ जिसमें वाद-वादिता अपने आप तिरोहित हो गयी। प्रगतिवाद की एकस्वरता के विरोध में प्रयोगों द्वारा विविधता लाने के प्रयोगवादी उद्देश्य से आगे बढ़कर अपने संदर्भ और परिवेश को सही रूप में पहचानते हुए अनुभूत सत्य के साक्षात्कार की सजग चेष्टा और उसकी संतुलित अभिव्यक्ति कवियों के लिए विशेष उपलब्धि बन गयी। बाहरी प्रभाव जो अनुकृति की दिशा में ले जाते थे कृति की दिशा में प्रतिफलित होने लगे और उर्वरता तथा बिम्बात्मक कल्पना-विधान ने एक नये सौन्दर्य-बोध को जन्म दिया जिसमें अतिवाद बहुत कम मिलता है।

यदि नयी कविता की मुख्य विशेषताओं को सूची-बद्ध किया जाय तो वे कदाचित् यह होंगी—

- वादमूलकता, अतिवाद और आग्रह की कमी
- अभिव्यक्तिगत मुक्ति के उद्देश्य एवं आदर्श की काव्य में व्यापक प्रतिष्ठा तथा गद्य का काव्यात्मक प्रयोग
- कविता की रचना-प्रक्रिया के प्रति जागरूकता के साथ छंद-विधान आदि में सर्वत्र उसके निजी अन्तरंग रूप और ढाँचे के सौन्दर्यपरक महत्त्व की मान्यता और शब्द-लय की अपेक्षा अर्थ-लय पर बल
- प्रस्तुत और अप्रस्तुत के परम्परागत विभाजन का बहुधा तिरोभाव तथा जीवन्त अनुभव की संश्लिष्ट और समग्र रूप में प्रस्तुति लक्ष्य
- प्रतीकात्मकता की अपेक्षा बिम्बात्मकता की प्रधानता तथा खंडित बिम्बों का विविध प्रकार से सफल प्रयोग
- सामान्य के माध्यम से असामान्य की अभिव्यक्ति, उपदेशात्मकता का सर्वथा अभाव, उदात्तीकरण के स्थान पर घनत्व और तीव्रता

- सत्य के उपेक्षित असाधारण एवं सूक्ष्म पक्षों को काव्य-बद्ध करने की प्रवृत्ति
- कला-चेतना में परिष्कार की अपेक्षा प्रामाणिकता की मूल्य-वृद्धि
- कथन में अनेक नाटकीय विधियों का समावेश किन्तु अनुभव की नाटकीयता अथवा अभिनय परकता से प्रायः मुक्ति
- अनारोपित रीति से स्वतः सामाजिक दायित्व का अनुभव करने वाले, मूल्यान्वेषी, व्यक्तिचेता, नये मनुष्य अथवा नये मानव-व्यक्तित्व का धर्मनिरपेक्ष मानववादी विचार-भूमि पर उदय
- पौराणिक प्रतीकों एवं मिथकों में नवीन व्यंजना-शक्ति तथा अर्थ-गरिमा का इहलौकिकता की सहज स्वीकृति के साथ अभिनिवेश
- बौद्धिकता और परिवेश के प्रति जागरूकता का आधिक्य तथा व्यंग और विद्रूप के माध्यम से गहरे असंतोष की अभिव्यक्ति बहुचर्चित 'लघुमानव' और 'क्षण के महत्त्व' की धारणाओं की कटु आलोचना करते हुए कुछ समीक्षकों द्वारा नयी कविता को लोक-मंगल से विरत सिद्ध करने की चेष्टा की गयी। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे गण्यमान्य समालोचक ने जिस प्रकार प्रयोगवाद पर प्रहार किया था वैसे ही नयी कविता पर खड्गहस्त होते हुए 'आलोचना' (अंक २०) के सम्पादकीय में उसे छद्मनामधारिणी, वैशिष्ट्य विहीन, अराष्ट्रीय, संस्कारच्युत, सीमित, संकीर्ण, तबकापरस्त, कृत्रिम विषाद की आड़ में अविचार और अनैतिकता का पोषण करने वाली, झूठी विभीषिका में पड़े हुए रोते-कराहते बाबुओं की क्षुद्र अभिलाषाओं, चिंताओं एवं तृष्णाओं से भरी, पाश्चात्य आत्म विज्ञापन की प्रथा से दूषित, आत्म पीड़ामय, संयम शालीनता एवं दायित्व से रहित और क्रमागत काव्य-पद्धति से विलगाव रखने के कारण हिन्दी के विकास का आगामी चरण कहे जाने के नितान्त अनुपयुक्त घोषित कर दिया। उनके इन आरोपों का सशक्त प्रतिवाद 'आचार्य श्री की कृपा-दृष्टि' शीर्षक से 'नयी कविता' के चौथे अंक के सम्पादकीय में किया गया। उसका उस समय जो भी प्रभाव पड़ा हो किन्तु यह सत्य है कि अपने देहावसान से पूर्व, नयी कविता पर 'धर्मयुग (अगस्त १९६७) में उनकी जो लेख माला प्रकाशित हुई उसका स्वर स्पष्टतः और काफी बदला हुआ दिखायी देता है।[1]

१—'ये नये कवि विचारों की भूमिका पर बड़े-बड़े विदेशी नाम लेते हैं....परन्तु अपनी रचनाओं में अधिकतर स्वदेशी भूमिका पर ही बने रहे हैं।....यह काव्य रचना किसी वाद विशेष का प्रतिरूप बनने से बच गयी है।....लम्बी कविताओं में वैचारिकता, बौद्धिकता, मनोवैज्ञानिकता, ऊहापोह, शिल्प-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा के नवीन आधारों को लेकर भी नये कवियों ने भारतीय चिन्तना का सम्मान किया है।....नयी कविता में क्रमशः एक समरसता आ रही है। और यह समरसता भारतीय काव्य-चिंतन, दर्शन और विचार-धाराओं के योग से बन रही है। ..सेक्यूलरिज्म एक व्यापक विचार-दृष्टि है। उसी का साहित्यिक रूपान्तर नयी कविता के मानववादी स्वरूप में प्रतिबिंबित हुआ है।....नयी कविता शिल्पोन्मुखीहै — धर्मयुग, २७ अगस्त, १९६७, पृ० १२ तथा ५२

वाजपेयी जी ने नयी कविता को समृद्ध करने वाले प्रमुख कवियों में अज्ञेय, भारती, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध, शमशेर, नरेश मेहता, कुँवर नारायण, जगदीश गुप्त; दुष्यन्त कुमार, केदारनाथ सिंह तथा नलिन विलोचन शर्मा आदि को परिगणित किया है। शमशेर को प्रयोगवाद के 'प्रगतिशील सम्भाग' के रूप में स्वीकार करते हुए मुक्तिबोध को 'संतुलित मार्क्सवादी' न कहकर 'वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं का अभिव्यंजक कवि' बताया है। वस्तुतः मुक्तिबोध की तुलना में शमशेर कहीं अधिक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कवि हैं। मुक्तिबोध में बहिर्मुखी प्रवृत्ति भी पर्याप्त शक्ति के साथ मिलती है जो मार्क्सवाद की मुख्य विशेषता है। नये काव्य की प्रबन्धात्मक उपलब्धियों के रूप में 'चिन्ता' (अज्ञेय), 'अंधायुग' (भारती), संशय की एक रात' (नरेश मेहता), 'आत्मजयी' (कुँवर नारायण) और 'एक कंठ विषपायी' (दुष्यन्त कुमार) का वाजपेयी जी के लेख में गौरव के साथ उल्लेख मिलता है। 'प्रयोगवाद का जितना प्रतिवाद स्वयं नये कवियों ने किया है उतना शायद ही किसी अन्य ने किया हो' स्वयं ऐसा मानते हुए भी उन्होंने प्रयोगवाद और नयी कविता को एक साथ रख कर विचार किया है जो उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है। यही नहीं निष्कर्ष रूप में उनका सुझाव 'नयी कविता' को 'प्रयोग-शिल्पी काव्य' कहने का भी है जो न तो उपयुक्त कहा जा सकता है न अब उसकी सर्वग्राह्यता सम्भव है। 'नयी कविता' नाम में जो अर्थवत्ता है उसका अंशमात्र भी इस तरह सुझाये गये कृत्रिम नामों में नहीं मिलता। भारती की 'कनुप्रिया', गिरिजाकुमार का अंशतः प्रकाशित 'पृथ्वीकल्प', राजेन्द्र किशोर का 'मन्वन्तर' और राजकमल चौधरी की 'कंकावती' एवं 'मुक्ति-प्रसंग' यद्यपि वाजपेयी जी द्वारा उल्लिखित नहीं हुए तथापि इनकी अनेकमुखी विशेषताओं पर विचार किये बिना नयी कविता की स्वरूपगत विविधता एवं काव्य-शक्ति का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। प्रबन्धात्मकता के संदर्भ में तो इनका उल्लेख करना ही होगा। नयी कविता के प्रमुख कवियों के ऐसे अनेक काव्य-संग्रह मिलते हैं जिनका महत्त्व उक्त रचनाओं से कम नहीं कहा सकता। उदाहरण के लिए 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (मुक्तिबोध) इसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण संग्रह है जिससे नयी कविता के एकान्वित यथार्थ-बोध और कल्पना-वैचित्र्य का सम्यक् परिचय मिल जाता है। एक दृष्टि से यह कहना भी असंगत नहीं होगा कि स्फुट छोटी कविताओं में नयी कविता की सक्रियता तथा आन्तरिक उर्वरता अधिक प्रस्फुटित हुई है जिसके परिचय के लिए गत दो दशकों की विविध पत्र-पत्रिकाएँ, उनके विशेषांक, वार्षिक चयन, बहुसंख्यक कविता-संकलन और अनेक प्रकार की व्याख्याएँ तथा कवि-वक्तव्य ही प्रमुख आधार हैं। सबका उल्लेख तो यहाँ संभव नहीं है पर कुछ का निर्देश अवश्य किया जा सकता है। मात्र कविता से सम्बद्ध पत्रिकाओं में 'नयी कविता' के अतिरिक्त 'कविता', 'कवि', 'आधुनिक कविताएँ', 'प्रारम्भ', 'विविधा' और इधर 'अकविता', 'विद्रोही पीढ़ी' आदि की विशेष चर्चा रही है तथा कविता के स्वरूप परिवर्तन की चेतना को जगाने में इनका योगदान भी रहा है। एक ही 'कविता' या 'कविताएँ' नामधारी अनेक पत्रिकाएँ मिलती हैं। प्रान्त-भेद और सम्पादक-भेद से ही उनको अलग किया जा सकता है। नयी कविता नाम से भी कई अन्य संकलन या गोष्ठी-विवरण प्रकाशित हुए। अभी हाल ही में 'नई कविता' नामक एक ऐसा लघु संकलन सामने आया जिसमें 'आकाशवाणी' से प्रसारित

नयी कविता विषयक वार्ताएँ तथा कुछ स्फुट कविताएँ भी समाविष्ट की गयी हैं। 'संस्कृति' ३२ को 'नई कविता अंक' नाम दिया गया है तथा उसमें भी १९६८ तक नयी कविता के विविध पक्षों पर होने वाली चर्चा और कुछ कविताएँ समाहित हैं।

हिन्दी में आधुनिक कविता के विविध रूपों तथा उनसे सम्बद्ध विचारों एवं प्रवृत्तियों को जिन मिश्रित सामग्री देने वाली पत्रिकाओं ने प्रकाशित किया उनमें 'भारती', 'नईधारा', 'लहर', 'ज्ञानोदय', 'कल्पना', 'माध्यम', 'आधार', 'उत्कर्ष', 'रूपाम्बरा', 'अर्थ', 'संज्ञा', 'कृति', 'कृति-परिचय', 'युयुत्सा', 'क ख ग', 'अकथ' इत्यादि का स्मरण आता है। विशेष संकलनों में 'निकष' 'संकेत' तथा 'हंस' आदि की ओर दृष्टि जाती है जो अर्धवार्षिक या वार्षिक रूप में छपे फिर भी अधिक समय तक न चल सके। इनमें 'निकष' का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वही प्रेरक था ! उसमें समसामयिक कविता को समाविष्ट करने का मोह उसी तरह संवरण नहीं किया जा सका जैसे 'आलोचना' के नामवरीय अंकों में। वस्तुतः आज भी साहित्यिक मानस में घटित होने वाले परिवर्तनों एवं आन्दोलनों का संवहन मूलतः कविता ही कर रही है। परिमाण और प्रभाव-क्षेत्र के सीमित हो जाने पर भी उसकी प्राथमिकता अभी तक खंडित नहीं हो सकी है। नयी कविता के दौर में प्रकाशित व्यक्तिगत काव्य-संकलनों की संख्या पत्र-पत्रिकाओं की तुलना में कहीं अधिक है और उनके अन्तर्गत कविताओं के स्वरूप, वस्तु विन्यास और अभिव्यक्ति-विधान की विविधता भी बहुत मिलती है। कवि-नाम के साथ कुछ महत्त्वपूर्ण संकलन नीचे उल्लिखित किये जाते हैं। प्रकाशन की दृष्टि से इनमें बहुत से प्रसिद्ध कवियों के संग्रह बाद में मुद्रित हुए।

शमशेर—कुछ कविताएँ'; **मुक्तिबोध**—'चाँद का मुँह टेढ़ा है', **भवानीप्रसाद मिश्र**—'गीत फ़रोश', 'चकित है दुःख'; **हरिनारायण व्यास**—'मृग और तृष्णा'; **रघुवीर सहाय**—'आत्महत्या के विरुद्ध'; **शम्भूनाथ सिंह**—'माध्यम मैं,' 'खंडित सेतु', **प्रभाकर माचवे**—'स्वप्न भंग', 'मेपल'; **बालकृष्ण राव**—'अर्द्ध शैली'; **गिरिजाकुमार माथुर**—शिला-पंख चमकीले', 'जो बँध नहीं सका'; **भारतभूषण**—'ओ अप्रस्तुत मन'; **भारती**—'ठंडा लोहा', 'सात गीत-वर्ष'; **जगदीश गुप्त**—'नाव के पाँव', 'शब्द-दंश, 'हिम-बिद्ध'; **नरेश मेहता**—'वन पाँखी सुनो', 'बोलने दो चीड़ को'; **सर्वेश्वर**—'बाँस का पुल', 'एक सूनी नाव'; **शकुन्त माथुर**—'चाँदनी-चूनर', **श्री कान्त वर्मा**—'भटका मेघ', 'माया-दर्पण'; **कुँवरनारायण**—'चक्रव्यूह', 'परिवेश : हम-तुम'; **वीरेन्द्र कुमार जैन**—'अनागता की आँखें'; 'यातना का सूर्य-पुरुष'; **विजयदेव नारायण साही**—'मछली घर'; **लक्ष्मीकान्त वर्मा** : **विपिन**—धुएं की लकीरें, **देवराज**—'उर्वशी ने कहा', 'इतिहास-पुरुष'; **राजेन्द्रकिशोर**—'वैयक्तिक'; **शिवचन्द्र शर्मा**—कविताएँ शिवचन्द्र शर्मा की; **कैलाश वाजपेयी**—देहान्त से हटकर', 'संक्रान्त' **अशोक वाजपेयी**—'शहर अब भी सम्भावना है'; **दुष्यन्त कुमार**—'सूर्य का स्वागत'।

नयी कविता की प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ या उपधाराएँ अपनी विशेषताओं और वैचित्र्य के साथ इन कृतिकारों की कृतियों में परिलक्षित की जा सकती हैं तथा प्रयोग के बाद नयी कविता के असंकट किन्तु एकान्वित रूप की भी पहचान की जा सकती है। गीतों को नयी कविता के प्रभाव से 'नवगीत' या 'नये गीत' का रूप मिला जिसमें नयी कविता का मुहावरा,

उसका सीधापन, यथार्थ और व्यंग्य की अन्तर्वर्ती चेतना, रोमान्टिक उन्मेष को मर्यादित करके गीतितत्व की पूरी सम्भावनाओं के कलात्मक उपयोग की चेष्टा स्पष्ट झलकती है। **ठाकुर प्रसाद** सिंह का 'वंशी और मादल', **वीरेन्द्र मिश्र** का 'अविराम चल मधुवंती', **'क्षेम'** का 'नीलम ज्योति और संघर्ष', **उमाकान्त मालवीय** का 'मेंहदी और महावर' तथा **'भ्रमर'** का 'रवीन्द्र भ्रमर के गीत' इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। 'नीरज' का 'गीत और अगीत' नयी कविता को कवि सम्मेलनी गीत से जोड़ने का कृत्रिम प्रयास मात्र है। भवानीप्रसाद मिश्र ने 'गीत-फरोश' नामक अपनी सुप्रसिद्ध कविता में गीत बेचने पर जो तीखा व्यंग्य किया है पेशेवर गीतकार उसकी छाया भी न छू सके प्रत्युत उसमें निर्दिष्ट विडम्बना के सटीक उदाहरण बन कर रह गये। भले ही उन्होंने गीत के पक्ष में दुनिया भर के तर्क जुटाने की चेष्टा की हो अपने कृतित्व से वे उसके द्वारा नयी कविता की मुक्त अभिव्यक्ति के प्रवाह को रोक न सके। विधा के रूप में गीत अपवाद बन कर ही स्थित रह सका और अब 'अकविता' के समानान्तर 'अगीत' तथा 'ऐण्टी कविता' के अनुरूप 'ऐण्टी गीत' की कल्पना की जाने लगी है। जिससे गीत का भीतरी ढाँचा इतना टूट गया है कि बहुधा उसे पहचानना भी सम्भव नहीं रहा।[1] डॉ० शम्भूनाथ सिंह, डॉ० रामदरश मिश्र, ओम प्रभाकर, बालस्वरूप राही, उदयभान मिश्र, केदारनाथ सिंह आदि ने अनेक प्रकार से, 'भाषातीत गूँज' आदि का आधार लेकर गीत की शक्ति और सम्भावनाओं को उजागर करने का यत्न किया। 'गीत' नाम से 'गीत की नव्यतम उपलब्धियों का रेखांकन' तथा तत्सम्बन्धी वैचारिक-पक्ष को प्रस्तुत करने वाले दो-एक विशिष्ट संग्रह भी प्रकाशित हुए जिनमें सभी प्रकार के गीतकारों को समेटने की चेष्टा की गयी। अधिकतर गीत के पक्षधर अपने भीतरी अन्तर्विरोध और बाहरी विसंगतियों का सही आकलन न कर पाने के कारण नयी कविता से विलग, एक स्वतन्त्र आन्दोलन के रूप में विकसित नहीं कर सके। फिर भी गीत के क्षेत्र में पर्याप्त नवीनता लक्षित होती है, इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हास्य और व्यंग्य के क्षेत्र में, छायावादोत्तर-काल में पहले सुरुचि और परिष्कार का अभाव दिखायी दिया किन्तु धीरे-धीरे उसमें भी गीत की तरह विकास की दो दिशाएँ हो गयीं। एक मनोरंजन की हल्की भूख मिटाने और सस्ती लोकप्रियता पाने की और दूसरी गहरे जीवन-स्तर पर उसे ग्रहण करके सुसंस्कृत और परिष्कृत किन्तु प्रभावशाली रूप देने की। सामान्यतया व्यंग की प्रवृत्ति नयी कविता के ताने-बाने में अनुस्यूत मिलती है। फिर भी कुछ कवि विशेष रूप से इस दिशा में सफलता पा सके। भारतभूषण अग्रवाल के तुक्तकों का संग्रह 'कागज के फूल' और केशवचन्द्र वर्मा की व्यंग कविताओं का संग्रह 'वीणापाणि के कम्पाउण्ड में' विशेष उल्लेखनीय है।

नयी कविता के अन्तर्गत अथवा उससे विलगाव अनुभव करते हुए काव्य-क्षेत्र में अन्य अनेक प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहीं। सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं गिन्सवर्ग आदि अमरीकी बीटनिकों तथा उनसे प्रभावित बंगाल के मलयराय चौधरी और सुविमल वसाक जैसे भूखी पीढ़ी के कवियों के

१—नयी कविता, अंक आठ, पृष्ठ २५८—२६२

समानान्तर हिन्दी में उभरने वाले राजकमल चौधरी तथा अकविता और अस्वीकृत कविता से सम्बद्ध कुछ अन्य कवि जिन्होंने 'हेटरो सेक्सुअलिटी, एवं 'ओपेन सीक्रेसी' की बीट धारणाओं को अपनाकर समाज से अपने को 'डिसएफिलिएट' करने का प्रयत्न किया। उनकी कविता में यौन शब्दावली का नंगा प्रयोग, अपने विक्षोभ और आक्रोश को व्यक्त करने के लिए प्राय: एक संस्कारहीनता एवं विकृति के रूप में मिलता है इसे साहित्य में काम-भावना का विस्फोट कहा गया है। श्रीराम शुक्ल की 'मरी हुई औरत के साथ संभोग' नामक 'कविता की खोज में लिखी गयी एक लम्बी कविता' (१९६६) तथा सतीश जमाली का 'एक और नंगा आदमी' नामक लघुकविता संग्रह (१९६७) इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। पहले अश्लीलता का खुला समर्थन करने के बाद जमाली ने अपने को इससे नाटकीयता के साथ अलग करते हुए आत्मस्वीकृति प्रकाशित की जिसमें अकविता की अधिकाँश रचनाओं को अश्लील अर्थात् निदंनीय बताया और यह भी कहा कि सशक्त नये कवियों द्वारा जो रचनाएँ लिखी गयी वे अपने परिवेश की सही तस्वीर पेश करती हैं।[1] बीटनिक आन्दोलन हिन्दी में एक फैशन की तरह आया और कुछ ही समय में निष्प्रेरक हो गया क्योंकि उसकी जड़ें देश के यथार्थ में नहीं थीं। परिपक्व अनुभव और प्रौढ़ मनीषा वाले देश को वास्तविक रूप में अधिक चौंकाना संभव न हो सका। युयुत्सावादी, नव प्रगतिशील या नव प्रगतिवादी कवियों ने सामाजिक मूल्यों पर बल देते हुए बीटनिकों से अपनी असहमति व्यक्त की। आन्दोलन के शुरू होते ही अकवियों में दरार पड़ गयी और मुद्राराक्षस जैसे एक असंतुष्ट अकवि ने उनका साथ दिया।[2] कुछ ऐसे अपवाद भी मिलते हैं जो दोनों के बीच समन्वय की चेष्टा को व्यक्त करते हैं। शमशेर बहादुर सिंह ने मार्क्सवादी होते हुए भी गिन्सबर्ग के अमरीकी विचारों का स्वागत किया तथा 'विद्रोही पीढ़ी' नाम से प्रकाशित एक संकलन में काम-विकृति और सामाजिक क्रान्ति के बीच गठबन्धन हो गया। ताजी कविता, टटकी कविता, भावी कविता, अगली कविता, ठोस कविता तथा ऐसे ही न जाने कितने क्षणजीवी नाम सन् साठ के बाद की हिन्दी कविता को दिये गये यहाँ तक कि साठोत्तरी कविता भी एक नाम बन गया। इस सम्बन्ध में 'उत्कर्ष' (१९६७) के 'कविता विशेषांक' में प्रकाशित एक 'प्रश्न-परिचर्या' द्रष्टव्य है जिसमें अनेक नये पुराने कवियों ने भाग लिया है। उसके सम्पादकीय में भी यही प्रश्न उठाया गया है। सन् साठ के बाद की पीढ़ी के बारे में अनेक लघुपत्रिकाओं में तरह-तरह के दावे किये जा रहे हैं जिनमें 'निहत्ये और नंगे बदन सत्य का सामना करने', 'मोहभंग की स्थिति' से अलग हो जाने, मूल्यबोध के स्थान पर मूल्यहीनता ही नहीं 'मूल्य भ्रष्टता का रिश्ता' अपनाने तथा पिछली पीढ़ी के कवियों की 'ऐय्याशी' से अपने को एक दम मुक्त घोषित करने की चेष्टा की गयी है।[3] इस प्रवृत्ति में

१—(i) अकथ, अप्रेल' ६८, पृष्ठ ६४-३७

(ii) कृति परिचय, जुलाई-अगस्त १९६७, 'काव्य : अश्लीलता का प्रश्न'—शीर्षक लेख, पृष्ठ २४-३०

२—'प्रारम्भ', जुलाई १९६७, सातवाँ आसमान, पृष्ठ २८-२९

३—उदाहरणार्थ द्र० 'ध्वजभंग' १ (१९६८) जिसमें सात समसामयिक कविता पुस्तकों की स्वल्प किन्तु तीखी समीक्षाएँ प्रकाशित की गयी हैं।

साहस और असंतोष तो दिखायी देता है किन्तु संतुलन और समझदारी का बहुधा अभाव मिलता है। कुल मिलाकर अभी तक अपरिपक्व विवेक और अधकचरेपन का बोध ही अधिक होता रहा है।[1] फिर भी नवीन काव्य प्रवाह के अन्तर्गत झलकने वाले विविध प्रकार के सूक्ष्म परिवर्तन को लक्षित करने की दृष्टि से 'विज़प' आदि कतिपय कविता-संग्रहों का नाम लिया जा सकता है जो पूर्वोक्त संग्रहों के बाद नयी कविता के क्षेत्र में सामने आये।

पूर्व-प्रक्षेप

छायावादोत्तर कविता का यह संक्षिप्त विवरण परिचात्मक दृष्टि से पूरा नहीं माना जायेगा यदि इसके अन्तर्गत पूर्वागत प्रवृत्तियों के ऐसे प्रक्षेप की चर्चा न की जाय जो अपनी ऐतिहासिक आवश्यकता प्रमाणित करने के बाद भी अलात-चक्रवत् सक्रिय रहा। 'प्रक्षेप' शब्द कदाचित् इस स्थिति का सही बोध कराता है। इतिहास की गति ऐसी विचित्र होती है कि कभी-कभी उसकी चपेट में आकर विशालकाय कृतियाँ नगण्य और निरर्थक दिखायी देने लगती हैं तथा उसकी शक्ति पाकर स्वल्प रचनाएँ सार्थकता की दीप्ति से चमक उठती हैं और उनकी उपेक्षा करना कठिन हो जाता है। किन्तु जहाँ तक साहित्यिक मूल्यांकन का प्रश्न है वह इतिहास से परिचालित होते हुए भी एक सीमा पर उससे मुक्त हो जाता है।

पूर्व-प्रक्षेप भी सब एक जैसे नहीं होते कुछ में पुनरावृत्ति निष्प्रेरक होने के कारण असह्य हो उठती है, कुछ में पुनर्नवीकरण की क्षमता उन्हें अनुपेक्षणीय बना देती है। दोनों ही प्रकार को रचनाएँ छायावाद के अनन्तर रची जाती रहीं। यदि समस्त प्रकाशित साहित्य पर दृष्टिपात् किया जाय तो यहभी ज्ञात होगा कि पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य की कदाचित् कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं है जो नयी कविता के युग में सर्वथा निःशेष हो गयी हो। द्विवेदी युग के अनन्तर स्फुट गीतों एवं कविताओं का इतना प्राधान्य हुआ कि प्रबन्धात्मकता अभिव्यक्ति की प्रमुख संवाहिका सिद्ध न हो सकी। तथापि, यदि कामायनी के बाद रचे गये अनेकानेक महाकाव्यों एवं खंडकाव्यों का लेखा प्रस्तुत किया जाय तो यह देखकर आश्चर्य होगा कि छायावादी युग से कहीं अधिक प्रबन्ध-काव्य उसके आगे वाले ढाई-तीन दशकों में निर्मित हुए। पंत के 'लोकायतन' और दिनकर की 'उर्वशी' में कामायनी को अपदस्थ करके उससे बड़ा सीमा-चिह्न बनाने की चेष्टा स्पष्ट लक्षित होती है जो बहुतों की दृष्टि में सफल नहीं हुई। एक आलोचक का कहना है कि मूल्यवत्ता और रागात्मक व्यापकता पंत के 'लोकायतन' में नहीं, मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' में है तथा मुक्तिबोध की धारणा है कि 'उर्वशी' कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य है।[2] इन दोनों काव्यों में अनेक स्थल महत्वपूर्ण हैं और कविता की दृष्टि से सराहनीय भी कहे जा सकते हैं परन्तु समग्र रूप से इन्हें उतनी मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी जितनी रचयिताओं ने कल्पित की थी। उसके अनेक कारण हैं। 'तारक वध' जैसे तथाकथित महाकाव्यों की तुलना में यह महाकाव्य युग-चेतना के कहीं अधिक संवाहक हैं परन्तु युग के गहरे संघर्ष और तीव्र बिडम्बनाओं से आक्रान्त यथार्थ को वाणी देने की शक्ति इनमें दिखायी नहीं देती। वह कार्य नयी कविता के द्वारा व्यापक रूप से सम्पन्न हुआ और हो रहा है।

१—विस्तार से लिए द्रष्टव्य 'नयी कविता'' अंक आठ, पृष्ठ २९६-२९७

२—'कविता के नये प्रतिमान'; पृ० ६७-६८ तथा ७४

उपन्यास : प्रेमचन्द-पूर्व

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य की मर्यादा सन् १८७७ से १९१८ ई० तक मान्य हो सकती है। सन् १८७७ ई० में श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भाग्यवती' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा था, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई थी।[1] अंग्रेजी ढँग का मौलिक उपन्यास चाहे यह न हो किन्तु विषयवस्तु की नवीनता की दृष्टि से इसे हिन्दी का प्रथम आधुनिक उपन्यास अवश्य कहा जा सकता है। इसके पूर्व के सदानन्द मिश्र और शम्भुनाथ मिश्र द्वारा सम्पादित जिस 'मनोहर उपन्यास'[2] (सन् १८७१) का उल्लेख डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने किया है, वह एक तो सम्पादकों द्वारा 'संग्रहीत और संशोधित' होने के कारण निश्चय ही मौलिक नहीं है, दूसरे उसकी कथावस्तु के विषय में कोई जानकारी न होने के कारण उसकी आधुनिकता भी विवादास्पद है। सन् १९१८ में प्रेमचन्द का 'सेवासदन' उपन्यास प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी उपन्यासों के विकासक्रम में निश्चित रूप से नए युग के सूत्रपात का द्योतक है। अतः प्रेमचन्द-पूर्व युग के अन्तर्गत सन् १८७७ से १९१८ ई० तक के प्रकाशित उपन्यासों का अध्ययन ही समीचीन होगा।

आज 'उपन्यास' शब्द अंग्रेजी 'नॉवेल' के अर्थ में रूढ़ हो गया है। 'नॉवेल' के लिए 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग बँगला साहित्य में प्यारीचन्द मित्र उर्फ टेकचन्द ठाकुर। (सन् १८१४-८३) के 'आलालेर घरेर दुलाल' के प्रकाशनकाल (सन् १८५८) से होने लगा था। हिन्दी में 'नॉवेल' शब्द के लिए 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग बँगला के अनुकरण पर ही प्रचलित हुआ। नवम्बर सन् १८७५ में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में 'नाटकोपन्यास' पाक्षिक पुस्तिका का विज्ञापन निकला था जिसमें 'नावेल' के लिए 'उपन्यास' शब्द का स्पष्ट प्रयोग था।[3] उपन्यास का शब्दिक अर्थ वागारम्भ (कथन), नियोजन, निर्देश, संकेत, घोषणा, धरोहर, प्रसादन आदि होता है। इन अर्थों से उसके आधुनिक अभिप्राय की संगति नहीं बैठती। बँगला में

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४४६

२. हिन्दी पुस्तक साहित्य, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १६

३. हिन्दी भाषा में नाटक और उपन्यास का पूर्ण रूप से अभाव है। विशेष करके अँगरेजी और बंग भाषा के अनुसार उत्तम नाटक आज तक बहुत कम प्रकाशित हुए है, और उपन्यासों के तो अभी तादृश स्वागत से भी हमारे देश के बांधवगण वंचित हैं। इस हेतु विचार किया गया है कि एक मासिक पुस्तिका २० पृष्ठ की हिन्दी भाषा की पूर्वोक्त नाम की प्रचलित हो और उसमें केवल उपन्यास और नाटक रहें—हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका—नवम्बर, १८७८ ई०

अंग्रेज़ी के 'रोमान्स' के लिए उपन्यास शब्द प्रयुक्त होता था। प्राचीन कथा साहित्य को 'उपकथा' या 'उपाख्यान' कहते थे। सम्भवतः 'उपाख्यान' का 'उपसर्ग' 'उप' और 'रमन्यास' के 'न्यास' के आकस्मिक संयोग से उपन्यास शब्द बना और वह अंग्रेज़ी के नॉवेल और रोमान्स के सम्मिलित अर्थ का द्योतक हुआ। बँगला के सम्पर्क में आने के कारण ही भारतेन्दु, ने इसे ज्यों-का-त्यों नॉवेल के अर्थ में ग्रहण कर लिया। इसीलिए बँगला के प्रभाव क्षेत्र से बाहर की उन्नत भाषाओं में 'नवल कथा' और 'वार्ता' मराठी में 'नवलिका' और 'कादम्बरी' तथा उर्दू में 'नावेल' और 'अफसाना' शब्दों का प्रचलन हुआ। हिन्दी में भी लाला श्री निवासदास (सन्-१८५१–८७) ने परीक्षा गुरु को अँग्रेज़ी में 'नॉवेल' तथा हिन्दी में 'संसारी वार्ता' कहा है, किन्तु भारतेन्दु के व्यापक प्रभाव के कारण 'उपन्यास' शब्द की अधिक महिमा हुई और 'वार्ता' शब्द अधिक लोकप्रिय न हो सका। किशोरीलाल गोस्वामी के कुछ उपन्यासों के मुख पृष्ठ पर 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' मुद्रित है। इससे प्रगट है कि गोस्वामी जी उपन्यास के प्राचीन अर्थ से न केवल परिचित थे, वरन् आपने 'उपन्यासों को संस्कृत की परम्परा से सम्बद्ध भी करना चाहते थे। कुछ भी हो, हिन्दी में भारतेन्दु युग से ही 'उपन्यास' शब्द सर्व-स्वीकृत होकर 'अंग्रेजी के नॉवेल के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था और आज इसके शाब्दिक अर्थ की ओर ध्यान न जाकर सीधे नॉवेल का ही अर्थ ग्रहण होता है।

प्रेरणास्रोत—

हिन्दी में उपन्यास रचना की प्रेरणा बंगला साहित्य से प्राप्त हुई। भारतेन्दुयुगीन हिन्दी उपन्यासों पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'नाटकों और निबन्धों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंग भाषा की देखा-देखी नए ढंग के उपन्यासों की ओर ध्यान जा चुका था। इस समय तक बंग भाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए।'[१] स्पष्ट है कि हिन्दी लेखकों का नये ढंग के उपन्यासों की रचना की ओर बंग भाषा की देखा-देखी ध्यान आकृष्ट हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि 'भाग्यवती' की रचना (सन् १८७७ ई०) के पूर्व ही बंगला में सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के कई उपन्यास लिखे जा चुके थे। भवानी चरण बन्द्योपाध्याय का 'नव बाबू विलास' (सन् १८२५ ई०) और टेकचन्द ठाकुर का 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५७ ई०) बंगला में बहुत ही लोकप्रिय हुए थे। किशोरी लाल गोस्वामी के 'चपला' उपन्यास (सन् १९०३ ई०) में 'नवबाबू विलास' की छाया स्पष्ट है। ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में बंगला में बंकिमबाबू को आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी। उनके तीन उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' (१८६५ ई०), 'मृणालिनी' (१८६९ ई०), 'युगलांगुरीय' (१८७४ ई०) क्रमशः १८७३ ई०, १८८० ई०, १८८० ई० में हिन्दी में अनूदित हुए थे। किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों पर बंकिम का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। बंगला में भी उपन्यास-रचना की मूल प्रेरणा अंगरेज़ी साहित्य से प्राप्त हुई थी। 'आलालेर घरेर दुलाल' की रचना हेनरी फ़ील्डिंग (१७०७–५४ ई०) के 'टाम जोन्स' (१७४९ ई०) के आदर्श

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५५

पर हुई थी। स्वयं बंकिम बाबू अंग्रेज़ी के दो प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकारों स्काट (१७७१–१८३२ ई०) और टेलर (१८०८–७६ ई०) से प्रभावित थे। इस प्रकार हिन्दी में उपन्यास रचना की प्रेरणा प्रत्यक्षतः बंगला और अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज़ी से प्राप्त हुई। 'परीक्षा गुरु' (१८८२ ई०) पर तो सीधे अंग्रेज़ी का प्रभाव स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि प्रारंभिक उपन्यासों पर ध्यान दिया जाय तो उनमें बीज रूप से भारत का प्राचीन कथा-साहित्य भी प्रेरक तत्त्व के रूप में कार्य करता हुआ लक्षित होता है। किशोरी लाल गोस्वामी के प्रसिद्ध उपन्यास 'पुनर्जन्म' या 'सौतिया दाह' (१६०७ ई०) में सुशीला और सुन्दरी का चरित्र 'वासवदत्ता' और 'रत्नावली' के आदर्श पर ढाला गया है। देवी प्रसाद शर्मा उपाध्याय के 'सुन्दर-सरोजिनी' उपन्यास की कहानी मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों के आदर्श पर रची गई है और इसमें नायक-नायिका के बीच प्रेमोदय का आधार स्वप्नदर्शन माना गया है। ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न' संस्कृत 'कथा' के आदर्श पर रची गई एक प्रेम कहानी है। वस्तुतः प्रारंभिक हिन्दी लेखकों का कथा-रचना संस्कार अंग्रेज़ी 'नावेल' और बंगला 'उपन्यास', के साथ ही संस्कृत की कथा-आख्यायिका तथा हिन्दी की मध्ययुगीन प्रेम कहानियों के सम्मिलित प्रभाव से निर्मित हुआ था। यह अवश्य है कि क्रमशः हिन्दी उपन्यास प्राचीन संस्कारों से मुक्त होता गया और अब वह पूर्णतः अंग्रेजी का 'नावेल' हो गया है। आज प्राचीन गद्य-काव्य की कोई विद्या इसे अपने भीतर समेट नहीं सकती।

वर्गीकरण

प्रेमचन्द पूर्वयुग के प्रमुख उपन्यासकार श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों को 'सामाजिक', ऐतिहासिक' तथा 'घटनात्मक' इन तीन वर्गों में रखा है। इनके द्वारा किए गए 'धार्मिक' या 'गार्हस्थ्य' आदि भेद सामाजिक के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। बंगला के प्रारम्भिक उपन्यासों का वर्गीकरण भी लगभग इसी आधार पर किया गया है। तत्कालीन बंगला उपन्यासों के तीन वर्ग—सामाजिक, ऐतिहासिक और अद्भुत किए गए हैं। गोस्वामी जी के घटनात्मक उपन्यास बंगला के अद्भुत उपन्यासों के समकक्ष रखे जा सकते हैं। शिवनारायण-श्रीवास्तव ने इस युग के उपन्यासों को सामाजिक, ऐयारी-तिलस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक तथा भाव-प्रधान—इन पाँच वर्गों में रखा है।[१] इस वर्गीकरण में ऐयारी-तिलस्मी और जासूसी उपन्यास तो घटनात्मक वर्ग के ही हैं, हाँ, भावप्रधान उपन्यासों के एक नये वर्ग का संकेत अवश्य मिलता है। डॉ० श्रीवास्तव का यह वर्गीकरण बहुत कुछ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास पर आधृत है। शुक्ल जी ने 'भावों या मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना' वाले भावप्रधान उपन्यासों की एक पृथक् कोटि निर्धारित की है और बाबू व्रजनन्दन सहाय को बंग भाषा के अनुकरण पर हिन्दी में भी ऐसे उपन्यासों की रचना में प्रवृत्त बताया है।[२] श्रीकृष्ण लाल ने रचना शैली के आधार पर वर्गीकरण करते हुए तज्यगीन समस्त

---

१. हिन्दी-उपन्यास, शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० २३

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०१

उपन्यासों को चरित्रप्रधान और कथाप्रधान इन दो वर्गों में रखा है।[१] चरित्रप्रधान उपन्यासों में उन्होंने श्री लज्जाराम मेहता, हरिऔध और मन्नन द्विवेदी के कुछ उपन्यासों की चर्चा की है और कथाप्रधान उपन्यासों के कुल छः भेद तिलस्मी, साहसिक, जासूसी, प्रेमाख्यानक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक–किए हैं। इस वर्गीकरण में सामाजिक वर्ग को महत्त्व नहीं दिया गया है। इस युग के अधिकांश सामाजिक उपन्यास कथाप्रधान ही है, अतः जिन्हें चरित्रप्रधान उपन्यासों की श्रेणी में नहीं रखा गया है उनकी गणना कथाप्रधान सामाजिक उपन्यासों में होनी चाहिए थी। श्री कृष्णलाल ने जिन उपन्यासों को चरित्रप्रधान माना है सच्चे अर्थों में वे भी कथाप्रधान सामाजिक उपन्यास ही हैं। यों तो तिलस्मी-ऐयारी और जासूसी उपन्यासों के पात्रों, में भी कोई न कोई चारित्रिक विशेषता मिल ही जाती है। माताप्रसाद गुप्त ने इस युग के उपन्यासों पर विचार करते हुए उन्हें चार प्रमुख धाराओं में विभक्त किया है—सामाजिक, ऐतिहासिक, ऐयारी-तिलस्मी, और जासूसी। पुनः उन्होंने सामाजिक उपन्यासों के चार उपभेद किए हैं—उद्देश्यप्रधान, रसप्रधान, वस्तुप्रधान और चरित्रप्रधान।[२] उद्देश्य प्रधान उपन्यासों से डॉ० गुप्त का तात्पर्य शिक्षाप्रद उपन्यासों से है। इस युग के अधिकांश सामाजिक उपन्यास इसी कोटि में आते हैं। रसप्रधान उपन्यासों से तात्पर्य शृंगारिक उपन्यासों से है। वस्तुप्रधान उपन्यास वस्तुतः घटनाप्रधान है। चरित्रप्रधान उपन्यासों में डॉ० गुप्त ने जगमोहन सिंह, अयोध्या सिंह उपाध्याय, लज्जाराम शर्मा तथा व्रजनन्दन सहाय के कुछ उपन्यासों की गणना की है। डॉ० गुप्त का यह वर्गीकरण भी सन्तोषजनक नहीं है। 'रस-प्रधान' उपन्यासों को शृंगारिक उपन्यासों का ही पर्याय कैसे मान लिया जाय? यदि ऐसा मान भी लें तो इस युग के ऐतिहासिक उपन्यास कहीं अधिक रसप्रधान हैं। (शृंगारिक अर्थ में ही।) ऐसी स्थिति में सामाजिक उपन्यासों का ही यह भेद क्यों गिना गया? इस प्रकार जासूसी, तिलस्मी—ऐयारी उपन्यास अपेक्षाकृत अधिक वस्तुप्रधान हैं। अतः सामाजिक उपन्यासों में ही वस्तु-प्रधान उपन्यासों की एक पृथक् कोटि निर्धारित करना भी समीचीन नहीं प्रतीत होता। इनके अतिरिक्त इस वर्गीकरण में उन उपन्यासों की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया है जो साहसिक सनसनीखेज घटनाओं से युक्त हैं, किन्तु जासूसी, ऐयारी या तिलस्मी नहीं हैं। इधर कैलाश-प्रकाश ने अपने शोध-प्रबंध 'प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास' में तत्कालीन उपन्यासों को तीन वर्गों में सामाजिक, ऐतिहासिक और घटनात्मक—में रखा है। उनके अनुसार घटनात्मक वर्ग बड़ा व्यापक और अनिश्चित है। इस वर्ग में सामान्यतः दो प्रकार के उपन्यास आते हैं—चित्र-विचित्र घटनाओं से भरे हुए जासूसी, तिलस्मी और ऐयारी ढंग के अनूठे उपन्यास, तथा वे उपन्यास जिनमें रँगीले, भड़कीले, अनूठे और जानदार कथानकों में किस्मत का खेल' प्रेम का फल, चालाकों की चालाकी, चोरों की दगाबाजी', ठगों की धोखेबाजी,' जिन्दों की महफिल आदि चित्र विचित्र विषय अंकित किए हैं।'[3] कैलास प्रकाश का यह वर्गीकरण

१—आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० २९२

२—हिन्दी-पुस्तक-साहित्य, माता प्रसाद गुप्त, पृ० २६

३—प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास, कैलाश, प्रकाश, पृ० ७७

किशोरी लाल गोस्वामी के वर्गीकरण से समर्थित है और तत्कालीन उपन्यासों के विवेचन के लिए पर्याप्त सुविधाजनक है।

वस्तुतः प्रेमचन्द-पूर्व युग में हमारी साहित्य चेतना दो प्रमुख प्रवृत्तियों से परिचालित थी। एक प्रवृत्ति मनोरंजन की थी, दूसरी सामाजिक जागरण की। ऐयारी, तिलस्मी, जासूसी एवं चित्र-विचित्र रहस्यमय साहसिक घटनाओं से पूर्ण तथा इतिहास के परिवेश में राजमहलों के रंगीन रहस्यमय वासनापरक प्रारणचित्रों से युक्त दोनों ही प्रकार के उपन्यास मनोरंजन की ही प्रवृत्ति से परिचालित थे। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास जिनमें औपन्यासिक शैली में इतिहास के सत्य का अनुसन्धान और प्रकाशनन लक्ष्य होता है—इस युग में बहुत कम लिखे गए। सामाजिक जागरण की प्रेरणा से परिचालित उपन्यास उपदेशप्रधान और सुधारवादी थे। इनमें से कुछ नवयुग के परिवर्तन से भयभीत सनातन धर्म की प्राचीन परम्परा के पोषण में प्रवृत्त थे और कुछ नवीन बौद्धिक जागरण का स्वागत करते हुए नए सुधारों का समर्थन कर रहे थे। जिन उपन्यासों को भावप्रधान कहा गया है वे भी सामाजिक चेतना से अछूते नहीं हैं। व्रजनन्दन सहाय के सौन्दर्योपासक की प्रगल्भ भावुकता के मूल में समाज-वर्जित प्रेम की मनोवैज्ञानिक समस्या लक्ष्य की जा सकती है। इस प्रकार यदि हम उपन्यासों को रचना के मूल में कार्य करनेवाली प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर वर्गीकरण करें तो समूचा उपन्यास-साहित्य प्रमुखतः दो वर्गों में सीमित हो सकता है—मनोरंजन प्रधान तथा सामाजिक चेतना से युक्त। किन्तु, यह वर्गीकरण उस युग की मनःस्थिति को समझने में सहायक होते हुए भी कृतियों के विवेचन के लिए सुविधाजनक नहीं है। मनोरंजन का तत्त्व न्यूनाधिक हर युग के कथा-साहित्य का प्रेरक होता है। प्रेमचन्द-पूर्व सामाजिक जागरूकता से प्रेरित उपन्यास भी मनोरंजन के तत्त्व से सर्वथा रहित नहीं है। इसलिए विषय की दृष्टि में रखकर किया गया किशोरीलाल गोस्वामी का वर्गीकरण ही अध्ययन के लिए अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास साहित्य प्रमुखतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—सामाजिक, ऐतिहासिक और घटनात्मक। इस वर्गीकरण को और अधिक विश्लेषणपरक और वैज्ञानिक बनाना चाहें तो इन प्रमुख वर्गों को उपवर्गों में विभाजित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, सामाजिक उपन्यासों के तीन उपवर्ग—घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान और भावप्राधन—हो सकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के दो उपवर्ग शुद्ध ऐतिहासिक और ऐतिहासिक रोमान्स कथा इसी प्रकार घटनात्मक उपन्यासों के तीन उपवर्ग ऐयारी-तिलस्मी, जासूसी तथा साहसिक एवं चित्र-विचित्र घटनात्मक किए जा सकते हैं।

सामाजिक उपन्यासकार और उपन्यास

प्रेमचन्द-पूर्व सामाजिक उपन्यासकारों में श्रद्धाराम फुल्लौरी (सन् १८८१ ई० में मृत्यु), लाला श्रीनिवासदास (१८५१-८७ ई०), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४ ई०), जगमोहन सिंह (१८४७-९९ ई०), राधा कृष्णदास (१८६५-१९०७ ई०), लज्जाराम शर्मा (१८६३-१९३१ ई०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२ ई०), अयोध्या सिंह उपाध्याय (१८६५-१९४१ ई०) व्रजनन्दन सहाय (१८७४-) तथा मन्नन द्विवेदी (१८८४-१९२१ ई०) प्रमुख हैं।

श्रद्धाराम फुल्लौरी ने एक ही उपन्यास 'भाग्यवती' (सन् १८७९ ई०) में लिखा। फुल्लौरी जी मुख्यतः धर्मोपदेशक थे, अतः उन्होंने भाग्यवती के रूप में ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखी 'कि जिसके पढ़ने से भारतखण्ड की स्त्रियों को गृहस्थधर्म की शिक्षा प्राप्त हो।[1]' यह ग्रन्थ सुगम हिन्दी भाषा में लिखा गया है।

लाला श्री निवासदास बहुपठित व्यक्ति थे। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२) 'अपनी भाषा में नई चाल की पुस्तक है।'[2] लेखक ने 'नई चाल' को समझाते हुए लिखा है 'अपनी भाषा में अबतक वार्ता रूपी जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें अक्सर नायक, नायिका वगैरे का हाल ठेटसै सिलसिलेवार (यथाक्रम) लिखा गया है, जैसे कोई राजा, बादशाह, सेठ साहूकार का लड़का था, उसके मन इस से यह रुचि हुई है और उसका यह परिणाम निकला' ऐसा सिलसिला कुछ नहीं मालूम होता। लाला मदनमोहन एक अंगरेज़ी सौदागर की दुकान में अस्बाब देख रहे हैं। लाला ब्रजकिशोर, मुन्शी चुन्नीलाल और मास्टर शिम्भूदयाल उनके साथ हैं। इनमें मदन मोहन कौन, व्रजकिशोर कौन, चुन्नीलाल कौन और शिम्भू दयाल कौन है ? इनका स्वभाव कैसा है ? परस्पर सम्बन्ध कैसा है ? हरेक की हालत क्या है ? यहाँ इस समय किस लिए इकट्ठे हुए हैं, यह बातें पहले से कुछ भी नहीं बताई गईं। हाँ, पढ़ने वाले धैर्य से सब पुस्तक पढ़ लेंगे तो अपने-अपने मौके पर सब भेद खुल्ता चला जायगा और आदि से अन्त तक सब मेल मिल जायगा।'[3] प्रगट है कि लेखक ने इस नाटकीय 'आरम्भ' को ही नई चाल कहा है। रचना की यह 'नई चाल' उसने अँग्रेज़ी उपन्यासों से प्रेरित होकर अपनाया होगी। उसने स्वयं भी (महाभारतादि संस्कृत' गुलिस्ताँ वगैरे फ़ारसी साथ स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों से सहायता लेने की बात कही है।[4] इस तकनीक की नवीनता की दृढ़ता से निश्चय हो 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का प्रथम अँग्रेज़ी ढँग का उपन्यास है। इस उपन्यास में दिल्ली के एक कल्पित रईस लाला मदनलाल का स्वाभाविक चित्र उतारा गया है। लाला मदनमोहन रईस आदमी उनका जीवन झूठे खुशामदियों के बीच भोग-विलास में व्यतीत होता है। उनके मित्र लाला ब्रजकिशोर वकील हैं। ये विवेकशील और चरित्रवान व्यक्ति हैं। जीवन में अनेक कठिनाइयों को झेलने के बाद लाला व्रजकिशोर के प्रत्यत्न से लाला मदनमोहन सही रास्ते पर आते हैं। लेखक के अनुसार जो बात सौ बार समझाने से समझ में नहीं आती वह एक बार की परीक्षा से मन में बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग परीक्षा को गुरु मानते हैं। इसी आधार पर लेखक ने अपनी इस कृति का नाम 'परीक्षा गुरु' रखा है। यह रचना उपदेश-प्रधान है। इसकी रचना 'संस्कृत अथवा फ़ारसी-अरबी के कठिन-कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहनेवालों की साधारण बोल-चाल' में हुई है।[5]

---

१. भाग्यवती की भूमिका से
२. परीक्षागुरु की भूमिका से
३. परीक्षागुरु की भूमिका से
४. वही, भूमिका, पृ० २
५. परीक्षागुरु की भूमिका से

बालकृष्ण भट्ट के दो उपन्यास—**नूतन ब्रह्मचारी** (सन् १८८६ ई०) सौ **अजान एक-सुजान** (सन् १८९२ ई०) प्रसिद्ध हैं। मधुकर भट्ट ने सन् १८७९ ई० के नवम्बर मास के हिन्दी-प्रदीप की फाइलों के आधार पर उनके '**रहस्य कथा**' नामक तीसरे उपन्यास का उल्लेख किया है। यह कृति अपूर्ण प्राप्त हुई है। 'नूतन ब्रह्मचारी' में महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विट्ठल राव के पुत्र ब्रह्मचारी विनायक के सरल व्यवहार के प्रभाव से डाकुओं के सरदार का हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है। यह विद्यार्थियों को चारित्रिक शिक्षा देने के लिए लिखा गया है। 'सौ अजान एक-सुजान' युवकों के लिए लिखा गया है। इसमें अवध प्रान्त के अनन्तपुर निवासी परम धार्मिक सेठ हीराचन्द के दो पौत्र ऋद्धिनाथ और निधिनाथ अजानों के फेर में पड़कर विलासी जीवन व्यतीत करते हैं। उनका शिक्षक चन्द्रशेखर (सुजान) कुछ दिनों के लिए उनका साथ छोड़ देता है। अन्ततः ऋद्धिनाथ और निधिनाथ जालसाज़ी के अपराध में पकड़े जाते हैं और चन्द्रशेखर (सुजान) आकर उन्हें बचाता है। यह उपन्यास परीक्षा गुरु की परम्परा में रखा जा सकता है।

जगमोहन सिंह का '**श्यामा स्वप्न**' (सन् १८८८ ई०) श्यामा (ब्राह्मण कुमारी) और श्याम सुन्दर (क्षत्रिय कुमार) की प्रणय कथा का एक काल्पनिक चित्र है। इसमें मध्यकालीन प्रेम कहानियों के सभी उपकरण सखी, दूती, प्रेम-पत्र, मिलन, विरह आदि—विद्यमान हैं। इसके दृश्यवर्णन संस्कृत कवियों की स्मृति सजीव कर देते हैं। काल्पनिक कहानी होते हुए भी '**श्यामा-स्वप्न**' ब्राह्मण कुमारी और क्षत्रिय कुमार के प्रणय-संबंध की संभावना की ओर संकेत करके नव्य समाज की नवीन मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करती है।

राधाकृष्णदास ने '**निस्सहाय हिन्दू**' (सन् १८९० ई०) नामक उपन्यास गोबध-निवारण की भावना से प्रेरित होकर लिखा। वस्तुतः राधाकृष्णदास जी उपन्यासकार नहीं थे, इसलिए कला की दृष्टि से इस उपन्यास का विशेष महत्त्व नहीं है।

लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त **रसिक लाल**' (सन् १८८९ ई०) **स्वतंत्र रमा** और परतंत्र लक्ष्मी (सन् १८९९ ई०), **आदर्श दम्पति** (सन् १९०४ ई०), **बिगड़े का सुधार** अथवा सखी **सुखदेवी** (सन् १९०७ ई०) तथा **आदर्श हिन्दू** (सन् १९१४ ई०) आदि कई उपन्यास प्रसिद्ध हैं। **धूर्त रसिक लाल** उपन्यास में रसिक लाल की धूर्तता दिखाई गई है। वह अपने मित्र सेठ सोहनलाल को अनेक दुर्व्यसनों में फँसाकर उनका सर्वस्व हरण करता है, किन्तु अन्ततः वह पकड़ा जाता है और दण्ड पाता है। कहना चाहें तो इसे चरित्रप्रधान उपन्यास कह सकते हैं। '**स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी**' में 'रमा' और 'लक्ष्मी' नामक दो सगी बहिनों की कहानी है। 'रमा' अँग्रेज़ी शिक्षा से प्रभावित है और स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना चाहती है। 'लक्ष्मी' भारतीय संस्कृति के अनुकूल पतिव्रता नारी का जीवन व्यतीत करती है। लेखक तुलनात्मक आधार पर भारतीय नारी के पातिव्रत की महत्ता सिद्ध करता है। **आदर्श-दम्पति** में पति-पत्नी दोनों ही भारतीय संस्कृति के अनुसार एक-दूसरे को प्रेम करते हुए आदर्श जीवन व्यतीत करते हैं। **बिगड़े का सुधार** अथवा **सती सुखदेवी** में एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त नई सभ्यता के हिमायती बनमाली बाबू और उनकी सती साध्वी पत्नी सुखदेवी की कहानी कही गई है। बनमाली बाबू नई रोशनी की धुन में एक होटल की नौकरानी मेम से

ब्याह करते हैं किन्तु अन्त में उनके मन से परदेशीपन का भूत निकल जाता है और वे पुनः 'स्त्रियों की रानी' सुखदेवी को स्वीकार करते हैं। **आदर्श हिन्दू** में पं० प्रियानाथ और उनके अनुज कान्तानाथ की कहानी कही गई है। प्रियानाथ की पत्नी प्रियम्वदा आदर्श हिन्दू महिला है। कान्तानाथ की पत्नी सुखदा वस्तुतः दुखदा है और निरन्तर कलह करती रहती है। तीर्थ-यात्रा में उसका सब कुछ लुट जाता है और अन्त में वह सुधर जाती है। लेखक ने इस उपन्यास में 'तीर्थयात्रा के ब्याज से एक ब्राह्मण कुटुम्ब में सनातन धर्म का दिग्दर्शन, हिन्दूपन का नमूना, आजकल की त्रुटियाँ, राजभक्ति का स्वरूप, परमेश्वर भक्ति का आदर्श और अपने विचारों की बानगी प्रस्तुत की है। शर्मा जी वस्तुतः भारतीय संस्कृति के समर्थक एक अखबार-नवीस थे। इसलिए उपन्यास रचना के क्षेत्र में उन्हें किशोरीलाल गोस्वामी जैसी लोकप्रियता नहीं प्राप्त हुई।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी प्रेमचन्द-पूर्व युग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। इनका जन्म काशी में सन् १८६५ ई० में हुआ था। इनके नाना कृष्ण चैतन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्यिक गुरु थे। ये निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनके विचार सनातन हिन्दू-धर्म के अनुकूल हैं। इन्होंने सब मिलाकर लगभग ६५ उपन्यास लिखे हैं। इनके सामाजिक उपन्यासों में **त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी** (१८९० ई०), **लीलावती** वा आदर्श सती (१९०१-ई०), **राजकुमारी** (१९०२ ई०), **चपला वा नव्य समाज** (१९०३-४ ई०) **पुनर्जन्म वा सौतिया दाह** (१९०७ ई०), **माधवी माधव वा मदन मोहिनी** (१९०९-१० ई०), **अँगूठी-का नगीना** (१९१८ ई०) आदि प्रसिद्ध हैं। **त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी** में मनोहरदास नामक एक धर्मात्मा व्यक्ति की कहानी है। मनोहरदास नौका डूबने की दुर्घटना के कारण अपनी गुणवती पत्नी त्रिवेणी से वियुक्त हो जाता है। शोक सन्तप्त होकर वह संन्यासी का जीवन व्यतीत करता है। तीन वर्ष बाद त्रिवेणी के तट पर कुम्भ मेला के अवसर पर वह अपनी पत्नी और श्वसुर को पुनः प्राप्त करता है। उसका जीवन सुखमय हो जाता है। **लीलावती वा आदर्श सती** में लीलावती और कलावती नामक दो स्त्रियों की कहानी है। लीलावती सती साध्वी स्त्री है और वह ललितकिशोर से प्रेम करती है। लीलावती की दूर की बहन कलावती नव्य जीवन की चमक-दमक से प्रभावित है। वह लम्पट बालकृष्ण के साथ भागकर सिविल मैरेज करती है। उसकी वासना अतृप्त रहती है और अवसर देखकर वह नौकर के साथ भाग जाती है। उसके जीवन में यही क्रम चलता रहता है और अन्ततः घृणित रोग से पीड़ित होकर वह यमुना में कूदकर आत्महत्या कर लेती है। लेखक ने इस प्रकार नवीन सामाजिक जीवन की विडम्बना दिखाई है। **राजकुमारी** उपन्यास में भाग्यचक्र कुछ ऐसा चलता है कि मुंगेर के जमींदार हीराचन्द की पुत्री सुकुमारी पैदा होते ही उनके दीवान के घर पहुँच जाती है और दीवान साहब का पुत्र मानिक जमींदार के यहाँ पहुँच जाता है। कुछ दिनों बाद दीवान राजा साहब (मुंगेर के जमींदार) को कैद कर लेता है और स्वयं राजा बन बैठता है। कुछ दिनों बाद उसकी कुटिल नीति का भेद खुलता है और लाट साहब की सहायता से राजा साहब मुक्त होते हैं। मानिक और सुकुमारी का ब्याह हो जाता है। सुकुमारी वस्तुतः राजकुमारी है, इसीलिए उपन्यास का नाम 'राजकुमारी' रखा गया है।

चपला वा नव्य समाज चित्र पर्याप्त बड़ा और अपने समय का बहुचर्चित उपन्यास है। इसे बँगला के 'नव्वाब विलास' की परम्परा में रखा जा सकता है। उपन्यास की मुख्य कहानी राजा राधाकिशोर के परिवार से सम्बन्ध रखती है। राजा साहब के दो पुत्र हैं—कमलकिशोर-ब्रजकिशोर। बाबू हरप्रसाद का एक दूसरा परिवार है। उनकी तीन बहिनें हैं—कामिनी, चपला और कादम्बिनी। कमलकिशोर दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति है। वह नव्य समाज का प्रतिनिधित्व करता है। ब्रजकिशोर आचरणशील व्यक्ति है। उसका ब्याह कादम्बिनी से हुआ है। कमलकिशोर एक दिन चपला को उसके घर से उड़ा कर अपने तिलस्मी मकान में बन्द कर देता है। चपला का ब्याह घनश्याम नामक एक युवक से होने वाला था। कमलकिशोर अपना मार्ग एकदम साफ देखने के उद्देश्य से उसे भी पकड़वा कर बन्द कर देते हैं। कमल-किशोर के सारे दुष्ट प्रयत्नों के बावजूद चपला अपने सतीत्व पर अडिग है। अन्ततः कमल-किशोर के दुष्कृत्यों का भण्डाफोड़ होता है। उसे पुलिस गिरफ्तार कर लेती है और वह आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार एक पापी को ईश्वरीय न्याय के अनुसार अपने कर्मों का दण्ड मिलता है। लेखक के दो प्रतिपाद्य हैं—एक तो यह कि नवीन समाज का वातावरण अवांछित है क्योंकि वह कमलकिशोर जैसे व्यक्तियों को जन्म देता है। दूसरा यह कि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म का फल अवश्य देता है। **पुर्नजन्म या सौतिया दाह** में अयोध्या के प्रतिष्ठित जमींदार सज्जन सिंह की पत्नी 'सुशीला' अभिमानिनी और कुटिल स्वभाव की है। सज्जन सिंह एक अन्य स्त्री 'सुन्दरी' को प्यार करते हैं जो अत्यन्त विनम्र और मृदु स्वभाव की है। सुशीला को पति पर सन्देह है और घर में इसी प्रश्न को लेकर आए दिन कलह मचती रहती है। सुन्दरी सुशीला के मार्ग का काँटा नहीं बनना चाहती। वह अनन्तकाल तक प्रतीक्षा करने के लिए प्रस्तुत है। सुशीला जब सुन्दरी के शील से परिचित होती है तब वह स्वयं आग्रहपूर्वक सुन्दरी का ब्याह सज्जन सिंह से उसी प्रकार करा देती है जिस प्रकार वासवदत्ता ने रत्नावली का उदयन से कराया था। लेखक की सम्मति है—कि सौतिनें सुशीला और सुन्दरी का-सा व्यवहार करें और पुरुष सज्जन सिंह की भाँति दक्षिण नायक का-सा आचरण करें। **'माधवी माधव या मनमोहिनी'** उपन्यास में धर्म से धर्म, काम से काम और मोक्ष से मोक्ष तीनों की सिद्धि दिखाने की चेष्टा की गई है। मुख्य तथा नायक माधव और नायिका माधवी के प्रेम और विवाह की है। मदन उपनायक और मोहिनी उपनायिका है। इनकी जोड़ी भी आदर्श है। इन सभी पात्रों का विवाह धर्मानुसार होता है। लेखक ने इन आदर्श पात्रों के विवाह में बाधा डालने वाले अधर्मी पात्रों का दुःखद अन्त दिखाकर धर्म एवं नीति की श्रेष्ठता प्रमाणित की है। **अँगूठी का नगीना** उपन्यास में मदनमोहन और लक्ष्मी के मर्यादित प्रेम की कहानी वर्णित है। रामसरन खलनायक है। वह स्वयं लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहता है। अन्ततः सच्चे प्रेम की जय होती है और लक्ष्मी मदनमोहन को प्राप्त होती है। इन उपन्यासों के अतिरिक्त किशोरीलाल गोस्वामी रचित **प्रणयिनी परिणय** (सन् १८८० ई०), **स्वर्गीय कुसुम वा** कुसुम कुमारी (१८८९ ?), **सुख शर्वरी** (१८९१ ई०), **प्रेममयी** (१९०१ ई०) **चन्द्रावती वा** कुलटा कुतूहल (१९०५ ई०) **चन्द्रिका वा जड़ाऊ चम्पाकली, तरुण तपस्विनी** या कुटीर वासिनी (१९०६ ई०) **इन्दुमती वा** वन विहंगिनी (१९०६ ई०)

तथा **लावण्यमयी** आदि अनेक प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास हैं। गोस्वामी जी के प्रायः सभी उपन्यास स्त्रीप्रधान हैं और उसमें प्रेम के विविध रूपों का चित्रण मिलता है। इन्होंने यदि एक ओर सती साध्वी देवियों के आदर्श प्रेम का चित्रण किया है तो दूसरी ओर साली-बहनोई के अवैधप्रेम, विधवाओं के व्यभिचार, वेश्याओं के कुत्सित जीवन, देवदासियों की विलास-लीला आदि का भी सजीव चित्रांकन किया है। ऐसा दिखाने में आपका उद्देश्य यह रहा है कि पाठक नारकीय और आदर्श जीवन चित्रों को एक साथ देख कर अपने आचरण को उज्ज्वल बनाने की चेष्टा करेंगे। विचारों से आप सनातनधर्मी और प्राचीनता-प्रेमी हैं। नव्य-समाज के प्रति आप न्याय नहीं कर सके हैं। फिर भी तज्जुगोन समाज की एक प्रतिनिधि मनोवृत्ति को समझने के लिए आपके उपन्यासों का अध्ययन आवश्यक है और प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यासकारों में निर्विवाद रूप से आपका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' **ठेठ हिन्दी का ठाट** या देवबाला (सन् १८९९ ई०), तथा **अधखिला फूल** (१९०७ ई०) दो सामाजिक उपन्यास लिखे। **ठेठ हिन्दी का ठाठ** में अनमेल विवाह का दुष्परिणाम दिखाया गया है। **अधखिला फूल** में धर्म की महत्ता प्रतिपादित की गई है और प्रसंगवश धार्मिक अंधविश्वासों का कुपरिणाम भी दिखाया गया है। इन उपन्यासों का महत्त्व भाषा सम्बन्धी प्रयोग की दृष्टि से कहीं अधिक है। **ठेठ हिन्दी का ठाठ** में तो लेखक ने संकल्प लेकर ठेठ हिन्दी का प्रयोग किया है। **अधखिला फूल** में भी छोटे-छोटे तद्भव शब्दों का ही प्रयोग अधिक किया गया है।

व्रजनन्दन सहाय ने बंगीय कथा साहित्य से प्रभावित होकर **सौन्दर्योपासक** (१९१२ ई०) और **राधाकान्त** (१९१८ ई०) दो सामाजिक उपन्यास लिखे। **सौन्दर्योपासक** में नायक अपनी साली से प्रेम करता है। साली भी उसे चाहती है। सौन्दर्योपासक की पत्नी इस तथ्य से अवगत होने पर दुःखी रहने लगती है और अन्त में मर जाती है। साली भी यक्ष्मा रोग से पीड़ित होकर स्वर्गवासिनी होती है। बेचारा सौन्दर्योपासक विरह-सन्तप्त होकर दुःखी जीवन व्यतीत करता है। उपन्यास का महत्त्व एक मनोवैज्ञानिक समस्या की भावमयी अभिव्यक्ति में है। 'राधाकान्त' आत्मकथात्मक शैली में दो खण्डों में लिखा गया है। प्रथम खण्ड में राधाकान्त ने और द्वितीय खण्ड में उनके मित्र हरेन्द्र ने अपनी आत्मकथा कही है। राधाकान्त और हरेन्द्र दोनों सहपाठी हैं। राधाकान्त साधारण किसान का बालक है। इसमें अनेक मानवीय दुर्बलताएँ हैं। वह क्रमशः पतन की ओर बढ़ता है किन्तु अन्ततः उसमें सुधार होता है और वह एक आदर्श मित्र सिद्ध होता है। इसे हम एक चरित्रप्रधान उपन्यास कह सकते हैं। **अदभुत प्रायश्चित** (१९०९ ई०), **राजेन्द्र मालती** (१९०९ ई०), **अरण्य बाला** (१९१५ ई०) आदि आपके अन्य उल्लेखनीय उपन्यास हैं।

मन्नन द्विवेदी गजपुरी प्रेमचन्द-पूर्व युग के एक सशक्त उपन्यास लेखक हैं। इनके दो उपन्यासों—**रामलाल** (१९१७ ई०) और **कल्याणी** (१९२० ई०) का उल्लेख मिलता है। कल्याणी प्रेमचन्द युग की रचना है। रामलाल की रचना (१९१४ ई०) में हो गई थी। इसमें पुलिस, अदालत, पटवारी, पोस्टमैन, भगत, साहूकार सभी का बड़ा ही सजीव और व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया गया है। गाँवों से सम्बन्धित कथानक प्रस्तुत करने वाली यह प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति है। लेखक का दृष्टिकोण सुधारवादी है।

प्रेमचन्द-पूर्व युग के उपर्युक्त प्रमुख सामाजिक उपन्यासों के अतिरिक्त देवी प्रसाद शर्मा कृत **सुन्दर सरोजिनी** (सन् १८९३ ई०), मुरलीधर शर्मा कृत **सत्कुलाचरण** (१९०० ई०), कमला प्रसाद कृत **कुल कलंकिनी** (१९०५ ई०), लोचन प्रसाद पाण्डेय कृत **दो मित्र** (१९०६-ई०), रामजी दास वैश्य कृत **फूल में काँटा** (१९०६ ई०), तथा **धोखे की टट्टी** (१९०७ ई०), गया चरण त्रिपाठी कृत **सती** (१९०७ ई०), बलदेव प्रसाद मिश्र कृत **संसार** (१९०७ ई०), ईश्वरी प्रसाद शर्मा कृत **हिरण्यमयी** (१९०८ ई०) तथा **स्वर्णमयी** (१९१० ई०), हर स्वरूप पाठक कृत **भारत माता** (१०१५ ई०), श्रीकृष्णलाल वर्मा कृत **चम्पा** (१९१६ ई०), श्यामकिशोर वर्मा कृत **काशी यात्रा** (१९१६ ई०), गंगा प्रसाद गुप्त कृत **लक्ष्मी देवी** तथा रुद्रदत्त शर्मा कृत **स्वर्ग में महासभा** आदि उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों में भी तज्जुगीन सामाजिक प्रवृत्तियाँ—धर्म की जय, आदर्श आचरण का महत्त्व, नवीनता का समर्थन या विरोध, अन्ध-विश्वासों के परित्याग, सतीत्व की महिमा, ईश्वरीय न्याय में विश्वास, राष्ट्र-प्रेम आदि—का चित्रण किया गया है।

ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार

प्रेमचन्द-पूर्व युग (१८७७-१९१८ ई०) में अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव था। किशोरीलाल गोस्वामी, गंगा प्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त, मथुरा प्रसाद शर्मा, बलदेव प्रसाद मिश्र तथा बाबू व्रजनन्दन सहाय और मिश्र-बन्धुओं ने इस दिशा में यथासाध्य महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

किशोरी लाल गोस्वामी इस युग के अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासकार माने जा सकते हैं। इसके **तारावा क्षात्र कुल कमलिनी** (१९०२ ई०), **कनक कुसुम वा मस्तानी** (१९०३ ई०) **सुल्ताना रजिया बेगम** वा रंग महल में हलाहल (१९०४ ई०) **हृदयहारिणी वा आदर्श-रमणी** (१९०४ ई०), **लवंगलता वा आदर्श** बाला (१९०४ ई०), **माल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी** (१९०५), **सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई** (१९०९-११ ई०), **गुलबहार का आदर्श-भातृ स्नेह** (१९१६ ई०) तथा **लखनऊ की कब्र या शाही महलसरा** (१९१७ ई०) प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। तारा वा चात्र कुल कमलिनी में जोधपुर के महाराज गजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह की पुत्री तारा की कहानी वर्णित है। तारा का व्याह उदयपुर के युवराज राजसिंह के साथ निश्चित हो चुका था। बादशाह शाहजहाँ का खजांची सलावत खाँ इसमें बाधक था। अमरसिंह ने भरे दरबार में सलावत खाँ को कटार भोंककर मार डाला। गोस्वामी जी के इस उपन्यास की बड़ी प्रशंसा हुई थी। उन्होंने इसके लिखने में कर्नल टॉड कृत 'राज-स्थान', फ्रेंच यात्री बर्नियर के यात्रा-विवरण तथा सिगनर म्यानिसी के लिखित विवरण से पर्याप्त सहायता ली है। इतिहास के तथ्य को कल्पना के रंग में रंग कर वांछित वातावरण प्रस्तुत करने में वे पूर्णतः कुशल थे। इस उपन्यास में उन्होंने इतिहास के माध्यम से आर्यों के यथार्थ गौरव का गुणकीर्तन गान किया है। **कनक कुसुम वा मस्तानी** में निज़ाम की भोग्या गक हसीन औरत की पुत्री मस्तानी और पेशवा बाजीराव के प्रणय की रोमांसपूर्ण कहानी वर्णित है। **सुल्ताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल** में सुल्ताना रजिया (१२३६-४० ई०) और उसके अस्तबल के दारोगा हब्शी याकूत की प्रेम-कथा और उसका दुर्भाग्यपूर्ण

अन्त वर्णित है। **हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी** में रंगपुर (बंगाल प्रान्त के अन्तर्गत) के कुमार नरेन्द्र सिंह और कृष्णनगर की राजकन्या कुसुम कुमारी के साहस धैर्य और प्रेम की कथा वर्णित है। इस कथा के माध्यम से लेखक ने नवाब सिराजुद्दौला (सन् १७५६-५७ ई०) के समय के अव्यवस्थित और क्षुब्ध बंगाल का चित्र उपस्थित किया है। **लवंगलता वा आदर्श-बाला** में रंगपुर के कुमार नरेन्द्र सिंह की बहन लवंगलता को अत्याचारी नवाब सिराजुद्दौला पकड़वा कर हीरा झील नामक महल में कैद कर लेता है। लवंगलना का प्रेमी मदन मोहन उसका उद्धार करता है। इसी बीच प्लासी का युद्ध छिड़ता है और सिराजुद्दौला मारा जाता है। इस उपन्यास को हृदयहारिणी का उपसंहार भाग कहा गया है। **मल्लिका देवी वा बंग-सरोजिनी** में गयासुद्दीन बलबन (१२६६-८६ ई०) के बंगाल के सूबेदार तुगरिल खाँ (१२७९-ई०) के अत्याचारों की कहानी वर्णित है। इसमें लेखक ने कल्पना से अधिक काम लिया है। **सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई** में अकबर के खास जौहरी हीराचन्द की पुत्री पन्ना और उसके प्रेमी मानिक की कहानी कही गई है। इस उपन्यास को ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। इसके नायक-नायिका इतिहास प्रसिद्ध नहीं हैं। **गुलबहार वा आदर्श भातृ स्नेह** में बंगाल के अन्तिम नवाब मीर कासिम (१७६०-६५ ई०) की पुत्री गुल और पुत्र **बहार** की करुण कथा कही गई। लेखक को इस उपन्यास की प्रेरणा मुंगेर स्थित 'गुल' और 'बहार' की कब्र, क्लाइव की डायरी तथा जनश्रुतियों से प्राप्त हुई। क्लाइव ने नवाब मीर कासिम के पुत्र बहार और पुत्री गुल को निर्दयतापूर्वक मरवा डाला था। इसके बाद ही उसे इंगलैण्ड से अपने पुत्र और पुत्री की मृत्यु की सूचना मिली थी। लेखक ने इस करुण कहानी के माध्यम से काल की महिमा का प्रतिपापन किया है। **लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा** में लखनऊ के नबावी महल के वैभव-विलास की विस्तृत कथा चित्रित की गई है। यह कृति 'बादशाह के गुप्त-चरित' नामक किसी अँग्रेज़ी पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। लेखक की दृष्टि में नवाबी महल का विलास ही लखनऊ के नवाबों के लिए कब्र बन गया। इसलिए उपन्यास का नाम 'लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा' सार्थक है। इस कृति में आद्योपान्त उर्दू भाषा का प्रयोग किया गया है। वातावरण नवाबी काल की मुसलिम संस्कृति के अनुकूल चित्रित किया गया है। लेखक ने इतिहास समर्थक घटनाओं के उल्लेख के साथ ही अनेक ऐसे रहस्यमय प्रसंगों की कल्पना की है, जिनका इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है।

गंगा प्रसाद गुप्त ने कई ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इनमें **नूरजहाँ** (सन् १९०२-ई०), **वीर पत्नी** (सन् १९०३ ई०), **कुमार सिंह सेनापति** (सन् १९०३ ई०), **हम्मीर** (सन् १९०३ ई०) आदि प्रमुख हैं।

जयरामदास गुप्त ने **'काश्मीर पतन'** (सन् १९०७ ई०), **रंग में भंग** (१९०७ ई०), **मायारानी** (१९०८ ई०), **नवाबी परिस्तान वा वाजिद अली शाह** (१९०९ ई०), **कलावती** (सन् १९०९ ई०) तथा **मल्का चाँदबीबी** (१९०९ ई०) आदि कई ऐतिहासिक परम्परा के उपन्यास लिखे। 'काश्मीर पतन' में रणजीतसिंह द्वारा (१८१८ ई०) में काश्मीर पर जय प्राप्त करने के बाद उसकी हीनावस्था का चित्रण किया गया है। इसे अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में रखा जाता है। **'नवाबी-**

परिस्तान' वा 'वाजिदअली शाह' में लखनऊ के अन्तिम नवाब की विलासपूर्ण दिनचर्या, बेगमों की परस्पर ईर्ष्या, रहस्य गोपन के प्रयत्न में बाँदियों एवं सेवकों की अकारण हत्या, रूपसियों को प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले छल-प्रपंचों आदि का विस्तृत वर्णन है। किशोरीलाल गोस्वामी की भाँति आपने भी ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में कल्पना से अधिक काम लिया है। गुप्त जी के अन्य उपन्यास साधारण कोटि के हैं। कला की दृष्टि से इन उपन्यासों का विशेष महत्त्व नहीं है।

मथुरा प्रसाद सिन्हा का एक ही ऐतिहासिक उपन्यास '**नूरजहाँ बेगम व जहाँगीर**' (सन् १९०५) प्रसिद्ध है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इतिहास अधिक है, कल्पना कम है। वस्तुतः नूरजहाँ का जीवन स्वयं उपन्यास है। लेखक ने नूरजहाँ और जहाँगीर के चिरपरिचित वृत्तान्त को कथाक्रम में ढाल कर उपस्थित किया है।

बलदेव प्रसाद मिश्र ने **अनारकली** (सन् १९०० ई०), **पृथ्वीराज चौहान** (सन्-१९०२ ई०) तथा **पानीपत** (सन् १९०२ ई०) तीन ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। मिश्र जी ने मुग़लकाल के इतिहास से परे जाकर अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज के जीवन पर उपन्यास लिखा। यह उनकी एक विशेषता मानी जायगी। मिश्र जी के उपन्यास प्रारम्भिक युग की कृतियाँ हैं। अतः उनमें कलात्मक सौष्ठव का अभाव स्वाभाविक है।

बाबू व्रजनन्दन सहाय ने '**लाल चीन**' नामक एक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखा। इस उपन्यास में तुर्की गुलामों के सरदार तुग़लचीन और दक्षिण के शासक गयासुद्दीन (सन् १३९७ ई०) के संघर्ष की कहानी कही गई है। तुग़लचीन को ही उपन्यासकार ने लाल चीन बना दिया है। लेखक ने इसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि परिस्थितियाँ मानव चरित्र में आमूल परिवर्तन कर देती हैं।

मिश्र बन्धुओं ने '**वीरमणि**' नामक ऐतिहासिक उपन्यास में नैमिषारण्य के नैमिषनाथ त्रिपाठी के पुत्र वीरमणि त्रिपाठी के माध्यम से कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का भी उल्लेख है। लेखकों ने वर्तमान हिन्दू समाज की समस्याओं की ओर भी संकेत किया है। उनका दृष्टिकोण सुधार-वादी है।

प्रेमचन्द-पूर्व युग के ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि ये सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक उपन्यास नहीं हैं। लेखकों की प्रवृत्ति इतिहास की ओर से हटकर प्रणय कथाओं, विलास लीलाओं, रहस्यपूर्ण प्रसंगों तथा कुतूहलवर्द्धक घटनाचक्रों की कल्पना में लीन हो जाती है। वे कल्पना से अधिक कार्य लेते हैं, ऐतिहासिक छान-बीन कम करते हैं। अतीत उनकी मुक्त कल्पना की उड़ान के लिए सुविधा प्रस्तुत करता है और वे इतिहास की चिन्ता छोड़ कर पाठकों के चित्त को रंजन करनेवाली कथा-धारा में वह जाते हैं। इसीलिए इस युग में उत्तम कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम लिखे गए।

घटनात्मक उपन्यास : तिलस्मी ऐयारी

तिलस्म शब्द यूनानी 'टेलेस्मा' और अरबी 'तिलस्म' का हिन्दी संस्करण है। इसका अर्थ जादू, इन्द्रजाल या अलौकिक रचना या गड़े हुए धन आदि के ऊपर बनाई गई सर्पादि की

भयावनी आकृति है। प्राचीन काल में राजा और धनाधीश लोग तिलस्मी किले और महल बनवाते थे। तिलस्मी इमारत प्रायः किसी बहुत बड़े खजाने के ऊपर बनाई जाती थी। प्रायः खजाना गाड़ने वाले के वंश में होनेवाला कोई प्रतापी पुरुष ही उसे तोड़ कर खजाना प्राप्त करता था। तिलस्म बाँधने में बड़े-बड़े ज्योतिषियों, तान्त्रिकों और गुणियों की सहायता ली जाती थी। सामान्यतः जिन उपन्यासों में नायक द्वारा तिलस्मी इमारतों को तोड़कर खजाना प्राप्त करने की कथा वर्णित होती है, तिलस्मी उपन्यास कहते हैं। इस कार्य में नायक को अपने ऐयारों से बड़ी सहायता मिलती है। ऐयार अरबी भाषा शब्द है जिसका अर्थ तीव्रगामी या चपल व्यक्ति है। देवकी नन्दन खत्री के अनुसार 'ऐयार उसको कहते हैं, जो हरेक फन जानता हो। शक्ल बदलना और दौड़ना उनका मुख्य कार्य है।'[1] तिलस्मी उपन्यासों में ऐयारों का उल्लेख अवश्य होता है क्योंकि इन्हीं पर नायक की सम्पूर्ण कार्य शक्ति केन्द्रित होती है। प्राचीन भारतीय राजनीति के गूढ़ पुरुषों का महत्त्व स्वीकृत है। गूढ़ पुरुष अपने राजा का कार्य सिद्ध करने के लिए हर प्रकार का कौशल प्रयोग में लाते हैं। ऐयार भी एक प्रकार के गूढ़ पुरुष ही होते थे। हिन्दी में 'तिलिस्म' के साथ 'ऐयार' का कुछ इस प्रकार का अनिवार्य-सा सम्बन्ध जुड़ गया है कि दोनों से एक साथ मिलाकर 'तिलस्मी-ऐयारी' उपन्यास कहने की परम्परा चल पड़ी है।

हिन्दी में 'तिलस्मी ऐयारी' उपन्यासों के प्रवर्तक देवकी नन्दन खत्री (सन् १८६१-१९१३ ई०) हैं। आपके पूर्वज लाहौर निवासी थे, किन्तु बाद में काशी में आकर रहने लगे थे। काशी नरेश की कृपा से आपको चकिया और नौगढ़ के जंगलों का ठीका मिल गया था। इन्हीं जंगलों और पहाड़ों में अनेक प्राचीन इमारतों के भग्नावशेषों को देखने से आपकी रहस्यमयी कल्पानशक्ति स्फुरित हुई और आपने 'चन्द्रकान्ता' (सन् १८८८ ई०) लिखकर हिन्दी में 'तिलस्मी ऐयारी उपन्यासों' का प्रवर्तन किया। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार पहले मौलिक उपन्यास लेखक जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण-सी धूम हुई, काशी के बाबू देवकी नन्दन-खत्री थे।[2] खत्री के 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास का हिन्दी संसार में अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उत्साहित होकर आपने **'चन्द्रकान्ता सन्तति'**—२४ भाग (सन् १८९६ ई०) **नरेन्द्र मोहिनी** (१८९३ ई०), **वीरेन्द्र वीर** (१८९५ ई०), **कुसुम कुमारी** (१८९९ ई०) **काजर की-कोठरी** (१९०२ ई०), **गुप्त गोदना** (१९०६ ई०), **अनूठी बेगम** (१९०५ ई०) **भूतनाथ**—प्रथम ६ भाग (१९०६ ई०) आदि अनेक उपन्यासों की रचना की। **'चन्द्रकान्ता'** उपन्यास की नायिका विजयगढ़ की राजकुमारी 'चन्द्रकान्ता' है। नौगढ़ के राजकुमार वीरेन्द्र सिंह उसके प्रेमी और उपन्यास के नायक हैं। 'चन्द्रकान्ता' अपनी सखी चपला के साथ एक तिलिस्म में फँस जाती है। राजकुमार वीरेन्द्र सिंह अपने ऐयारों की सहायता से तिलिस्म तोड़कर राजकुमारी को मुक्त करते हैं। अन्त में दोनों का सौभाग्यपूर्ण मिलन होता है। **'चन्द्रकान्ता सन्तति'** में महारानी चन्द्रकान्ता के दो पुत्रों की कथा वर्णित है। महारानी के दोनों पुत्रों को दो राजकुमारियाँ प्रेम करती हैं, और उन्हें सदा के लिए

१—चन्द्रकान्ता, पृ० २, पाद टिप्पणी

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४९८

अपना बनाने के उद्देश्य से एक रहस्यमय तिलिस्म में बन्द कर देती हैं। अपने ऐयारों की सहायता से दोनों राजकुमार तिलिस्म को तोड़ने में सफल होते हैं। वे न केवल उन रानियों के चंगुल से छूटते हैं, वरन् तिलिस्म में गड़ी हुई अपार धनराशि भी प्राप्त करते हैं। **'नरेन्द्र मोहिनी'** में राजकुमार नरेन्द्र पर एक साथ दो राजकुमारियाँ आसक्त होती हैं। इन राजकुमारियों में एक अत्यन्त धूर्ता एवं कुटिला है। वह राजकुमार को धोखे में डालकर तिलिस्म में फँसा लेती है। अन्ततः राजकुमार मुक्त होता है और दूसरी राजकुमारी (मोहिनी), जो सरल हृदया और राजकुमार की सच्ची अनुरागिनी है, को प्राप्त करता है। **'भूतनाथ'** में चन्द्रकान्ता सन्तति के ही एक अत्यन्त कुशल ऐयार भूतनाथ की दिलचस्प कथा वर्णित है। वस्तुतः इन तिलस्मी ऐयारी उपन्यासों के मूल में राजकुमारों और राजकुमारियों की प्रेम कहानियाँ वर्णित हैं। घटनाओं के विकास क्रम में तिलिस्मों के विस्तृत वर्णन तथा नायकों-खलनायकों एवं उनके ऐयारों के कौशल विस्तार द्वारा कुतूहल उत्पन्न किया गया है।

देवकी नन्दन खत्री के बाद हरेकृष्ण जौहर ने इस क्षेत्र में अपना जौहर दिखाया। उन्होंने 'कुसुम लता' (सन् १८९९ ई०), भयानक भ्रम (१९०० ई०), नारी पिशाच (१९०१ ई०), मयंक मोहिनी या माया महल (१९००१ ई०), जादूगर (सन्- १९०१ ई०), कमल कुमारी (१९०२ ई०), निराला नकाबपोश (१९०२ ई०) तथा भयानक खून (१९०३ ई०) आदि कई तिलिस्मी उपन्यास लिखे।

किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के साथ ही कुछ तिलिस्मी उपन्यास भी लिखे। उनका **तिलिस्मी शीशमहल**। (१९०५ ई०) इसी परम्परा का उपन्यास है।

बाबू देवकीनन्दन खत्री के पुत्र बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री (१८९५ ई०) ने अपने पिता की परम्परा को जीवित रखा। उन्होंने **भूतनाथ** को पूरा किया और **'रोहतास मठ'** नामक मौलिक तिलस्मी उपन्यास लिखा।

स्फुट प्रयत्नों में देवी प्रसाद उपाध्याय का **'सुन्दर सरोजिनी'** (१८९३ ई०), गुलाबदास का **'तिलस्मी बुर्ज'**, विश्वेश्वर प्रसाद वर्मा का **वीरेन्द्र कुमार (१९०६ ई०)**, रामलाल वर्मा का **पुतली का महल** (१९०८) आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः तिलस्मी ऐयारी उपन्यासों के क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता बाबू देवकीनन्दन खत्री को मिली। इनके उपन्यासों का इतना प्रचार हुआ कि ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्मी पुट दिया जाने लगा। इन उपन्यासों को रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य-कोटि में नहीं रखा हैं। माता प्रसाद गुप्त के अनुसार अति प्राकृत भावना के आधार पर लिखे गए इन उपन्यासों की लोकप्रियता के लिए मध्ययुगीन विकृत रुचि ही उत्तरदायी है। कुछ भी हो, हिन्दी के प्रचार-प्रसार में जितना योग इन तिलस्मी उपन्यासों का है, उतना अन्य किसी गद्य-विधा का नहीं। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

घटनात्मक उपन्यास : जासूसी

उन्नीसवीं शती में अंग्रेज़ी में सर आर्थर कानन डॉयल (१८५९-१९३०) के जासूसी उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए थे। अँगरेज़ी के प्रभाव स्वरूप बँगला में भी जासूसी उपन्यास लिखे

जाने लगे। सन् १८६८ ई० में गोपालराम गहमरी (१८६६-१९४६ ई०) ने बंगला से '**हीरे का मोल**' उपन्यास अनूदित कर प्रकाशित कराया। इसे पाठकों ने पसन्द किया। उत्साहित होकर गहमरी जी ने १९०० ई० में गहमर से 'जासूस' नामक मासिक पत्र निकाला। इसके लिए आपको निरन्तर जासूसी उपन्यास लिखने पड़े। आपने लगभग २०० जासूसी उपन्यास लिखे। आपके उपन्यासों में '**अदभुत लाश**' (१८६६ ई०) '**गुप्तचर**' (१८६६ ई०), '**वे कसूर-की फाँसी**' (१९०० ई०), '**सरकती लाश**' (१९०० ई०), '**खूनी कौन**' (१९००), **बेगुनाह** का खून (१९०० ई०), '**जमुना का खून**' (१९०० ई०), '**डबल जासूस**' (१९२० ई०), '**मायाविनी**' (१९०१ ई०), '**चक्करदार चोरी**' (१९०१ ई०), '**जासूस-की भूल** (१९०१ ई०) '**भयंकर चोरी**' (१९०१ ई०), '**जादूगरनी**' 'मनोरमा' (१९०१-ई०), '**माल गोदाम' में चोरी** (१९०२ ई०), '**जासूस की चोरी**' (१९०२ ई०), **अदभुत-खून**' (१९०२ ई०), '**जासूस पर जासूसी**' (१९०४ ई०), '**डाके पर डाका**' (१९०४-ई०), '**जासूस चक्कर में**' (१९०६ ई०), **खूनी का भेद**' (१९१० ई०), '**खूनी की खोज**'-(१९१० ई०) '**इन्द्रजालक जासूस**' (१९१० ई०), '**लाइन पर लाश**' (१९१० ई०), '**किले में खून**' (१९१० ई०), '**भोजपुर की ठगी**' (१९११ ई०) '**गुप्त भेद**' (१९१३-ई०), '**जासूस की ऐयारी**' (१९१४ ई०) आदि प्रसिद्ध हैं। जासूसी उपन्यासों में प्रायः चोरी, डकैती, खून-ठगी आदि से सम्बन्धित कोई भयंकर काण्ड घटित हो जाता है। जासूस उसके सुराग में लग जाता है। क्रमशः उसी प्रकार के अन्य काण्ड घटित होते हैं। कथानक उलझ जाता है। अंततः जासूस की बुद्धि धैर्य साहस और कौशल से घटना का रहस्य उद्घाटित होता है। इसी टेकनीक के आधार पर ये उपन्यास लिखे जाते हैं इन उपन्यासों का उद्देश्य भी हल्के ढंग का मनोरंजन ही है। उद्देश्य की दृष्टि से 'तिलस्मी ऐयारी' उपन्यासों के निकट होते हुए भी ये उपन्यास वस्तुतः उनसे भिन्न कोटि के होते हैं। जासूसी उपन्यासों में घटित होने वाली घटनाएँ जीवन की यथार्थ स्थिति के निकट होती हैं। उनमें कल्पना के साथ ही बुद्धि का भी योग होता है। गोपालराम गहमरी ने अपने उपन्यासों में एक प्रकार का नैतिक दृष्टिकोण भी रखा है। इन्होंने आचरणशील पात्रों के जीवन का अन्तिम परिणाम शुभ दिखाकर युग की आदर्दवादी मनोवृत्ति के साथ अपना मानसिक तादात्म्य दिखाया है। उन्हें हिन्दी का 'कानन डायल' कहा गया है।

बाबू गोपालराम गहमरी के बाद रामलाल वर्मा ने '**चालाक चोर**', '**जासूस के घर खून**' '**जासूसी कुत्ता**', '**अस्सी हजार की चोरी**' आदि कई उपन्यास लिखकर जासूसी उपन्यासों की परम्परा को जीवित रखा। इनके अतिरिक्त किशोरीलाल गोस्वामी कृत '**जिन्दे की लाश**' (१९०६ ई०), **जयरामदास गुप्त** का '**लंगड़ा खूनी**' (१९०७ ई०), तथा '**कालाचांद**', राम-प्रसाद लाल का '**हम्माम का मुर्दा**' (१९०३ ई०) आदि उपन्यास भी जासूसी परम्परा में रखे जा सकते हैं। जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता बाबू गोपालराम गहमरी को ही प्राप्त हुई।

घटनात्मक उपन्यास : अदभुत घटनाप्रधान

प्रेमचन्द-पूर्व युग में कुछ ऐसे घटनात्मक उपन्यास लिखे गए जिनमें चोरी, डकैती,

जाल-फरेब, जुआ, खून आदि से सम्बन्धित अद्भुत काण्डों का जाल रहता था। इस प्रकार के उपन्यासों की प्रेरणा रेनॉल्ड्स कृत 'मिस्ट्रीज़ आफ़ दी कोर्ट ऑफ़ लण्डन' के अनुवाद 'लन्दन-रहस्य' से प्राप्त हुई थी। ये उपन्यास तिलस्मी-ऐयारी और जासूसी उपन्यासों से भिन्न होतेहुए भी मनोरंजन में उनसे किसी प्रकार भी कम न होते थे। रोमांचकारी रहस्य इन उपन्यासों का प्राण होता था। इन उपन्यासों में श्री निहालचन्द वर्मा कृत **प्रेम का फल या मिस जौहरा**' (सन् १९३१), प्रेम विलास वर्मा कृत। '**प्रेम माधुरी**' या अनंग कान्ता (सन् १९१५ ई०), श्री विट्ठलदास नागर कृत 'किस्मत का खेल' (सन् १९०५ ई०), श्री बाँकेलाल चतुर्वेदी का खौफनाक खून (सन्-१९१२ ई०), आदि उल्लेखनीय हैं। इस परम्परा में आगे चलकर श्री दुर्गाप्रसाद खत्री ने वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर रहस्य की सृष्टि करते हुए **प्रतिशोध** (सन् १९२५ ई०), **लालपंजा** (सन् १९२५ ई०), **रक्तमण्डल** (सन् १०२७ ई०) आदि उपन्यासों की रचना की। श्री दुर्गाप्रसाद खत्री के इन उपन्यासों ने रहस्य के साथ ही राष्ट्रीयता एवं सशस्त्र क्रान्ति की भावना का भी सन्निवेश भी किया गया हैं। यद्यपि ये उपन्यास प्रेमचन्द युग के आरम्भ (सन् १९१८ ई०) के बाद लिखे गए हैं किन्तु इनमें मनोरंजन और रहस्यसृष्टि की परम्परा ही विद्यमान है।

अनूदित उपन्यास

भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी में उपन्यासों के अनुवाद की परम्परा आरम्भ हो गई थी। प्रेमचन्द-पूर्व युग में सबसे अधिक अनुवाद बँगला साहित्य से किए गए। मराठी, गुजराती तथा अंग्रेज़ी और उर्दू से भी कुछ अनुवाद हुए। बंगला अनुवादों से हिन्दी उपन्यास साहित्य का स्तर थोड़ा ऊँचा हुआ। उत्तरी भारत में नवीन सामाजिक जागरण का आरम्भ बंग प्रदेश से ही हुआ था। अतः उपन्यासों के अनुवाद के मध्यम से उस नवीन जागृति का विस्तार हिन्दी प्रदेश में भी हुआ। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में बँगला-साहित्य में बंकिम चन्द्र चटर्जी (सन् १८३८-९४ ई०), दामोदर मुकर्जी (सन् १८५३-१९०७ ई०), रमेशचन्द्र दत्त (सन्-१८४८-१९०९ ई०), तारकनाथ गांगुली (सन् १८४५-९१ ई०) तथा स्वर्ण कुमारी (सन्-१८५५-१९३२ ई०) के उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए थे। इसीलिए प्रारम्भ में हिन्दी के अनुवाद प्रकाशित हुए। श्री गदाधर सिंह रमेशचन्द्र दत्त कृत बंग विजेता और बंकिम कृत दुर्गेशनन्दिनी का अनुवाद किया रमेशचन्द्र दत्त कृत 'माधवी कंकण' और 'राजपूत जीवन-संध्या' का अनुवाद जनार्दन झा ने क्रमशः सन् १९१२ ई० और सन् १९१३ ई० में किया। महाराष्ट्र जीवन प्रभात का अनुवाद रुद्र नारायण ने किया। बाबू राधाकृष्ण दास ने तारकनाथ गांगुली के 'स्वर्णलता' का अनुवाद किया। प्रताप नारायण मिश्र ने बंकिमकृत 'राजसिंह' 'इंदिरा', 'राधारानी' और 'युगलांगुरीय' का अनुवाद किया। राधाचरण गोस्वामी ने दामोदर मुकर्जी के 'मृण्मयी' का अनुवाद किया। मुंशी उदित नारायण लाल ने स्वर्णकुमारी कृत 'दीप निर्वाण' का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा' और 'जावित्री' बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'चित्तौर चातकी' (सन् १८९५ ई०), बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री ने 'इला' (सन् .१८९५ ई०) और प्रमिला (१८९६ ई०),' जया' तथा 'मधुमालती' तथा बाबू गोपालराम गहमरी ने 'चतुर चंचला' (१८९३ ई०) 'भानमती' (सन्

(१८९४ ई०), 'नये बाबू' (१८९४ ई०), 'बड़ा भाई' (१९०० ई०), देवरानी जेठानी' (१९०१ ई०) 'दो बहिन' (१९०२ ई०) 'तीन पतोहू' (१९०४ ई०) ग्रादि उपन्यासों का अनुवाद किया । गहमरी जी ने प्रायः भावानुवाद प्रस्तुत किया है । इस युग के अनुवादकों की भाषा परिमार्जित नहीं है । आगे चलकर ईश्वरीप्रसाद शर्मा और रूपनारायण पाण्डेय ने शुद्ध और परिमार्जित हिन्दी में अच्छे अनुवाद प्रस्तुत किए ।

मराठी से 'चन्द्रप्रभा पूर्ण प्रकाश' का अनुवाद श्रीमती मल्लिका देवी ने भारतेन्दु से प्रेरित होकर किया था । बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा अनूदित 'छत्रसाल' की अच्छी प्रसिद्धि हुई थी । गुजराती से लज्जाराम शर्मा ने 'कपटी मित्र' का अनुवाद किया अंग्रेज़ी से रेनॉल्ड्स कृत 'लैला', 'लंडन रहस्य' और 'नर पिशाच' अनूदित हुए । 'नर पिशाच' का अनुवाद हरे कृष्ण-जौहर ने किया । श्रीमती स्टो (stowe) (१८११-९६ ई०) कृत 'टाम काका की कुटिया' का अनुवाद भी उसी समय हुआ । उर्दू से अनुवाद करनेवालों में बाबू रामकृष्ण-वर्मा एवं गंगा प्रसाद गुप्त उल्लेखनीय हैं । वर्मा जी ने कुछ अद्भुत घटनाप्रधान उपन्यासों— 'अमला वृत्तान्त माला', 'कांस्टेबुल, वृत्तान्त माला', 'ठग वृत्तान्त माला', 'पुलिस वृत्तान्त माला' आदि का अनुवाद उर्दू से किया । गंगाप्रसाद गुप्त ने 'पूना में हलचल' का अनुवाद किया ।

प्रेमचन्द-पूर्व युग के उपर्युक्त अनूदित उपन्यासों का हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योग है । इन अनुवादों के माध्यम से हिन्दी लेखकों का मानसिक क्षितिज विस्तृत हुआ और उन्होंने हिन्दी उपन्यास साहित्य को अधिक प्रेरणाप्रद और कलात्मक बनाने की चेष्टा की ।

उपसंहार

प्रेमचन्द-पूर्व युग में उपन्यास साहित्य की रचना नवीन सामाजिक मूल्यों की अभि-व्यक्ति के लिए उपयुक्त काव्य-माध्यम की खोज के परिणाम रूप में आरम्भ हुई थी । पं० श्रद्धा-राम फुल्लौरी ने तत्कालीन नारी समाज में व्याप्त मध्ययुगीन अन्धविश्वासपूर्ण कुरीतियों को मिटाकर उन्हें नवीन युग के अनुकूल आचरण करने में समर्थ बनाने के लिए ही 'भाग्यवती' उपन्यास की रचना की थी । परीक्षा गुरु, नूतन ब्रह्मचारी तथा सौ अजान एक सुजान आदि उपन्यासों की रचना सामाजिक उत्थान की प्रेरणा से ही की गई थी । हिन्दी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना को जन-साधारण तक पहुँचाने का श्रेय आर्य समाज (१८७८ ई०) आन्दोलन को है । इस आन्दोलन का हिन्दी-साहित्य पर व्यापक प्रभाव लक्षित किया जा सकता है । प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यासकारों में रुद्रदत्त शर्मा, श्याम किशोर वर्मा तथा श्रीकृष्णलाल वर्मा आदि आर्य समाज से प्रेरित थे । आर्य समाज आन्दोलन की प्रतिक्रिया स्वरूप सनातन धर्म ने भी नई शक्ति ग्रहण करने की चेष्टा की । प्रेमचन्द-पूर्व युग के प्रमुख सामाजिक उपन्यासकार किशोरी लाल गोस्वामी, लज्जाराम शर्मा, गंगा प्रसाद गुप्त—सनातन धर्म के समर्थक थे । इन दोनों पक्षों के बीच में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा मन्नन द्विवेदी प्रभृति उपन्यास-कार आते हैं जो किसी सुधारवादी आन्दोलन के सदस्य नहीं थे किन्तु हिन्दू धर्म में युगानुकूल परिवर्तन एवं सुधार चाहते थे ।

प्रेमचन्द-पूर्व युग के अर्द्ध शिक्षित पाठकों के संस्कार अधिक उन्नत नहीं थे। उनमें सुरुचि का अभाव था। वे अब भी सो रहे थे। उपन्यासकारों का एक बड़ा समुदाय उन्हें जगाने के बजाय उनके मनोरंजन में ही लग गया। फलस्वरूप प्रेमप्रधान, रोमांचकारी, साहसिक तथा अद्भुत घटना प्रधान उपन्यासों की भरमार हो गई। हिन्दी कथा साहित्य का क्षितिज तिलस्मी-ऐयारी, जासूसी और साहसिक उपन्यासों की रंगीन पतंगों से भर गया। इस युग के सबसे बड़े उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी भी प्रेम, चुहल, रोमांस और कुतूहल के रहस्य-लोक के निर्माण में प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं। पाठकों की मनोतुष्टि के प्रयत्न में प्रायः एक ही स्तर की सस्ती भावुकता और रहस्य-विधायिनी कल्पना को महत्त्व देते हुए उपन्यासकार अपने व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य को खो बैठे। मनोरंजनप्रधान ये उपन्यास आज इतिहास की वस्तु बनकर रह गए हैं।

प्रेमचन्द्र-पूर्व उपन्यास साहित्य की प्रेरक, सशक्त और स्फूर्तिदायिनी परम्परा सामाजिक जागृति के वाहक उपन्यासों की ही मानी जा सकती है। इन्हीं उपन्यासों ने 'सेवा सदन' की रचना की पृष्ठिभूमि प्रस्तुत की। प्रेमचन्द के आगमन के साथ हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक नये युग का आरम्भ हुआ, प्रेमचन्द इस नवीन युगचेतना के अग्रदूत बने।

परिशिष्ट—१

प्रेमचन्द-पूर्व प्रमुख उपन्यासों की सूची

श्रद्धाराम फुल्लौरी—भाग्यवती (सन् १८७७ ई०)

श्रीनिवास दास—परीक्षा गुरु (१८८२ ई०)

बालकृष्ण भट्ट—नूतन ब्रह्मचारी (१८८६ ई०), सौ अजान एक सुजान (१८९२ ई०)

जगमोहन सिंह—श्यामा स्वप्न (१८८८ ई०)

राधा कृष्ण दास—निस्सहाय हिन्दू (१८९० ई०)

लज्जाराम शर्मा—धूर्त रसिक लाल (१८८९ ई०), स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी (१८९९-ई०), आदर्श दम्पति (१९०४ ई०), बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी-(१९०७ ई०), आदर्श हिन्दू (१९१४ ई०), प्रणयिनी परिणय (१८८० ई०), स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम सुन्दरी (१८९९ ई०)

किशोरीलाल गोस्वामी—त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी (१८९० ई०), सुख शर्वरी (१८९१ ई०), लीलावती वा आदर्श सती (१९०१ ई०), प्रेममयी (१९०१ ई०), राजकुमारी-(१९०२ ई०), चपला का नव्य समाज (१९०३-४), चन्द्रावली या कुलटा कुतूहल-(१९०५ ई०), तरुण तपस्विनी या कुटीरवासिनी (१९०६ ई०), तिलस्मी शीश-महल (१९०५ ई०), कटे मूड़ की दो-दो बातें (१९०५ ई०), जिन्दे की लाश-(१९०६ ई०), याकूती तख्ती (१९०६ ई०), इन्दुमती वा वनविहंगिनी (१९०६-ई०), पुनर्जन्म वा सौतिया दाह (१९०७ ई०), माधवी माधव वा मदनमोहिनी (१९०९–१० ई०), गुलबहार वा आदर्श भातृ-स्नेह (१९१६ ई०), लखनऊ की-कब्र वा शाही महलसरा (१९१७ ई०), खूनी औरत का सात खून (१९१६ ई०), अँगूठी का नगीना (१९१२ ई०), तारा वा क्षत्र कुल कमलिनी (१९०२ ई०), कनक कुसुम वा मस्तानी (१९०३ ई०), सुल्ताना रजिया बेगम वा रंग महल में हलाहल (१९०४ ई०), हृदय हारिणी वा आदर्श रमणी (१९०४ ई०), लवंगलता वा आदर्शबाला (१९०४ ई०), मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी (१९०५ ई०), सोना और सुगन्ध वा पन्ना बाई (१९०९–१० ई०)

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—ठेठ हिन्दी का ठाट या देव बाला (१८९९ ई०), अध-खिला फूल (१९०७ ई०)

ब्रजनन्दन सहाय—सौन्दर्योपासक (१९१२ ई०), राधाकान्त (१९१८ ई०), अद्भुत प्रायश्चित (१९०६ ई०), राजेन्द्र मालती (१९०६ ई०) अरण्य बाला (१९१५ ई०)

मन्नन द्विवेदी गजपुरी—रामलाल (१९१७ ई०), कल्याणी (१९२० ई०)

रामजीदास वैश्य—फूल में काँटा (१९०६ ई०), धोखे की टट्टी (१९०७ ई०)

ईश्वरीप्रसाद शर्मा—हिरण्यमयी (१६०८ ई०), स्वर्णमयी (१६१० ई०)
श्रीकृष्ण लाल वर्मा—चम्पा (१६१६ ई०)
श्याम किशोर वर्मा—काशी यात्रा (१६१६ ई०)
गंगाप्रसाद गुप्त—लक्ष्मी देवी, नूरजहाँ (१६०२ ई०); वीरपत्नी (१६०३ ई०), कुमार सिंह सेनापति (१६०३ ई०)
जयरामदास गुप्त—काश्मीर पतन (१६०७ ई०), रंग में भंग (१६०७ ई०), माया रानी (१६०८ ई०), नवाबी परिस्तान वा वाजिदअली शाह (१६०६ ई०), कलावती (१६०६ ई०), मल्का चाँद बीबी (१६०६ ई०)
मथुरा प्रसाद शर्मा—नूरजहाँ बेगम व जहाँगीर (१६०५ ई०)
बलदेव प्रसाद मिश्र—अनारकली (१६०० ई०), पृथ्वीराज चौहान (१६०२ ई०), पानीपत (१६०२ ई०)
व्रजनन्दन सहाय—लालचीन
देवकीनन्दन खत्री—चन्द्रकान्ता (१८८८ ई०), नरेन्द्र मोहिनी (१८६३ ई०), वीरेन्द्र वीर (१८६५ ई०), चन्द्रकान्ता सन्तति (१८६६ ई०), कुसुमकुमारी (१८६६ ई०), काजर की कोठरी (१६०२ ई०), गुप्त गोदना कोठरी (१६०६ ई०), अनूठी बेगम (१६०५ ई०), भूतनाथ (१६०६ ई०)।
हरेकृष्ण जौहर—कुसुमलता (१८६६ ई०), भयानक भ्रम (१६०० ई०), नारी पिशाच (१६०१ ई०), मयंक मोहिनी या माया महल (१६०१ ई०), जादूगर (१६०१ ई०), कमल कुमारी (१६०२ ई०), निराला नकाबपोश, भयानक खून (१६०३ ई०)
गोपालराम गहमरी—अद्भुत लाश (१८६६ ई०), गुप्तचर १८६६ ई०), बेकसूर की फाँसी (१६०० ई०), सरकती लाश (१६०० ई०), खूनी कौन (१६०० ई०) बेगुनाह का खून (१६०० ई०), जमुना का खून (१६०० ई०), डबल जासूस (१६०० ई०), मायाविनी (१६०१ ई०), चक्करदार चोरी (१६०१ ई०), जासूस की भूल (१६०१ ई०), भयंकर चोरी (१६०२ ई०), जादूगरनी मनोरमा (१६०१ ई०), मालगोदाम में चोरी, जासूस की चोरी (१६०२ ई०), अद्भुत खून (१६०२ ई०), जासूस पर जासूसी (१६०४ ई०) डाके पर डाका (१६०४ ई०), जासूस चक्कर में (१६०६ ई०), खूनी का भेद (१६१० ई०), खूनी की खोज (१६१० ई०), इन्द्रजालिक जासूस (१६१० ई०), लाइन पर लाश (१६१० ई०), किले में खून (१६१० ई०), भोजपुर की ठगी (१६११ ई०), गुप्त भेद (१६१३ ई०), जासूस की ऐयारी (१६१४ ई०),

परिशिष्ट--२

सहायक साहित्य

हिन्दी साहित्य का इतिहास (१६४८ ई०), रामचन्द्र शुक्ल
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, श्री कृष्णलाल
हिन्दी पुस्तक साहित्य (१६४५ ई०), माता प्रसाद गुप्त
हिन्दी उपन्यास (१६५६ ई०), शिवनारायण श्रीवास्तव
हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास (१६६१ ई०), रणवीर रांग्रा
हिस्ट्री आफ बेंगाली लिटरेचर (१६६१ ई०), सुकुमार सेन
भारतीय वाङ्मय (१६५८ ई०), नगेन्द्र (सम्पादक)
हिन्दी उपन्यास साहित्य (१६५६ ई०), बाबू ब्रजरत्न दास
हिन्दी साहित्य कोश (भाग २) (१६६३ ई०)
'आलोचना' (उपन्यास विशेषांक)
प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास (१६६२ ई०), कैलाश प्रकाश
आधुनिक हिन्दी-साहित्य, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

उपन्यास : प्रेमचन्द युग

हिन्दी उपन्यास के जिस युग को हमने 'प्रेमचन्द युग' की संज्ञा दी है उसे कुछ विद्वान हिन्दी उपन्यास का 'आधुनिक काल'[1] या 'नवीन उत्थान'[2] या 'विकास युग'[3] या तृतीय उत्थान'[4] या 'युवावस्था'[5] कहते हैं। कुछ विद्वान इस युग में हिन्दी उपन्यास को 'प्रौढ़ता की ओर'[6] जाता देखते हैं, कुछ 'आदर्शोन्मुख यथार्थ की ओर'[7] तथा कुछ मानवतावाद तथा राष्ट्रीयतावाद[8] की ओर। परन्तु इनमें से अधिकांश विवरण उपशीर्षकों की ही भाँति है। बहुमत उस युग को 'प्रेमचन्द युग' कहने के पक्ष में है और जहाँ तक मानने का सम्बन्ध है, विद्वज्जन कोई अन्य नाम देने के बाद और उसके बावजूद उसे 'प्रेमचन्द युग' की मान्यता देकर ही विवेचन करते हैं। अस्तु, हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक युग और उत्तर युग के मध्य में स्थित इस युग को प्रायः सर्वसम्मति के आधार पर 'प्रेमचन्द्र युग' समझ कर आगे बढ़ा जा सकता है।

यही नहीं, हमारे साहियत्य के इतिहास की एक अप्रतिम और अभूतपूर्व विशेषता समझी जानी चाहिए कि कोई एक लेखक जिस काल विशेष में रचना कर रहा था, केवल उसी काल को नहीं, बल्कि उसके पहले और बाद के कालों को भी उसके नाम से संयुक्त कर दिया गया। हिन्दी उपन्यास के विकास की तीन स्थितियों को 'प्रेमचन्द पूर्व' 'प्रेमचन्द' और प्रेम-चन्दोत्तर—युगों का नाम देना, वास्तव में, कथाकार के रूप में प्रेमचन्द के अत्यधिक महत्त्व को स्वीकार करना है।

यह विचित्र बात है कि कविता, कहानी और आलोचना के क्षेत्रों में तो पिछले अनेक वर्षों से नई कविता और नई आलोचना के आन्दोलन न केवल चले, बल्कि प्रतिष्ठित हो चुके हैं, पर 'नया उपन्यास' जैसा कोई व्यवस्थित आन्दोलन सुनने में नहीं आया है। उपन्यास के क्षेत्र में अभी तक प्रेमचन्दोत्तर युग ही चल रहा है, और, इस प्रकार, सन् १८७१ में श्रद्धा

---

१. हिन्दी उपन्यास—शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० ६०।

२. हिन्दी उपन्यास साहित्य—ब्रजरत्नदास, पृ० १५१।

३. हिन्दी का गद्य साहित्य—रामचन्द्र तिवारी, पृ० ६६।

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५३२-५३५।

५. आलोचना : (उपन्यास विशेषांक)—विजय शंकर मल्ल का लेख पृ० ८०।

६. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन—गणेशन पृ० ५८।

७. आलोचना, (उपन्यास विशेषांक)—रामरतन भटनागर का लेख. पृ० ८१।

८. हिन्दी साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी. पृ० २८६,२८७।

राम फुल्लौरी द्वारा लिखित प्रथम हिन्दी उपन्यास 'भाग्यवती' से लेकर अब तक का अर्थात् लगभग पूरी शताब्दी का उपन्यास साहित्य केवल एक लेखक के नाम से और नाम से ही क्यों कृतित्व से भी जुड़ा हुआ है। कभी-कभार किन्हीं लेखकों ने कथा साहित्य के 'प्रेमचन्द से सौ क़दम आगे' पहुँच जाने की घोषणा अवश्य की है, पर प्रेमचन्द के नाम से वे भी छुटकारा नहीं पा सके, न कथा साहित्य ही, विशेषतः प्रेमचन्द से बहुत आगे बढ़ पाया है। इसका बहुत बड़ा कारण यह भी हैं कि प्रेमचन्द मात्र व्यक्ति या लेखक न थे, अपितु एक संस्था भी थे और हम उन्हें साहित्य, समाज तथा जीवन के किन्हीं ऐसे मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिनिधि मानते है, जो आज भी भारत के लिए उपेक्षणीय नहीं कहे जा सकते। 'प्रेमचन्द की परम्परा' नामक प्रसिद्ध मुहावरे का उल्लेख इसी संदर्भ में प्रेमचन्दोत्तर अथवा समसामयिक कथा-साहित्य की चर्चा के दौरान किया जाता रहा है। जो भी हो, हमारी चर्चा का विषय यहाँ सौ वर्ष पहले का या आज का उपन्यास-साहित्य नहीं है—इसका उल्लेख तो केवल प्रसंगवश हो गया है। हम अपने को प्रेमचन्व-युग के उपन्यास तक सीमित रखेंगे।

पर इसके लिए आवश्यक है कि पहले आलोच्य-युग की सीमा निर्धारित कर ली जाए। नामकरण की अपेक्षा इस विषय को लेकर विद्वानों के बीच कुछ अधिक मतभेद दिखाई देता है। दो-एक विद्वान तो सीधे-सीधे बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से प्रेमचन्द-युग का आरम्भ मानते हैं, क्योंकि एक तो बीसवीं शताब्दी उन सभी आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रतीक रही है जो प्रेमचन्द के साहित्य में लक्षित होती हैं, दूसरे इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही प्रेमचन्द अपने उपन्यास उर्दू में लिखने और प्रकाशित करने में लगे थे, तीसरे वह एक सुविधाजनक तिथि भी है।

यह सर्वविदित है कि प्रेमचन्द (सन् १८८०-१९३६) ने पहले उर्दू में लिखना शुरू किया था और 'हम खुर्मा व हम सबाब' (१९०४), 'बाज़ारे हुस्न' (१९०७), 'जलवाए ईसार' (१९१२) आदि उनके उपन्यास आलोच्य काल से पूर्व उर्दू में प्रकाशित हो चुके थे। पर हिन्दी उपन्यास पर प्रेमचन्द का प्रभाव तथा प्रेमचन्द पर हिन्दी उपन्यास का अधिकार १९१८ के उनके उपन्यास 'सेवासदन' के हिन्दी प्रकाशन के उपरान्त ही शुरू हुआ। निस्सन्देह यह उनके पूर्व प्रकाशित उपन्यास 'बाज़ारे हुस्न' का ही हिन्दी रूपान्तर था और यह प्रश्न किया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में प्रेमचन्द-युग का प्रारम्भ १९०७ या और भी पहले १९०१ ई० ('वरदान' नामक उपन्यास के पूर्वरूप 'प्रतापचन्द्र' की प्रकाशन-तिथि) से क्यों न माना जाए। उत्तर में हम कहना चाहेंगे कि एक तो प्रेमचन्द ने बीसवीं सदी के तीसरे दशक के प्रारम्भ होते-होते हिन्दी-लेखन-क्षेत्र में विधिवत् पदार्पण किया, दूसरा हिन्दी उपन्यास का तिलिस्मी-ऐयारी का दौर भी लगभग उसी समय पूरा हुआ था।

कदाचित् सुविधा के ही विचार से कुछ विद्वान प्रेमचन्द-युग की समाप्ति सन् १९३०[1] में मानते हैं। पर कुछ अन्य विद्वान प्रेमचन्द-युग की अवधि (१९००-१९३० ई०) नहीं, बल्कि (१९१६-१९३६ ई०[2]) ठहराते हैं। यह तिथि अपेक्षाकृत तर्कसंगत प्रतीत होती है

१. हिन्दी गद्य-साहित्य रामचन्द्र तिवारी, पृ० ९८

२. आलोचना (पत्रिका)—उपन्यास विशेषांक : रामरतन भटनागर का लेख, पृ० ८१ तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य : नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० १३८।

यद्यपि १६१६ ई० से इस युग के प्रारम्भ होने में कोई तर्कसंगत आधार नहीं ज्ञात होता। वास्तव में, प्रेमचन्द युग की उचित अवधि (१६१८-१६३६[1] ई०) समझी जानी चाहिए। क्योंकि सन् १६१८ में हिन्दी में प्रेमचन्द के प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' का प्रकाशन हुआ था और सन् १६३६ ई० में उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' का। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यास इसी अवधि में प्रकाशित हुए। १६१८ प्रथम महायुद्ध की समाप्ति का वर्ष भी था। इसी प्रकार, सन् १६३६ प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन का और 'प्रगतिवाद' नामक आन्दोलन के प्रारम्भ होने का वर्ष था। इसी वर्ष देश के विभिन्न राज्यों में कांग्रेस ने अपने मंत्रिमंडल भी बनाए थे और इसके तीन वर्षों बाद द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। अस्तु, सामान्य रूप से कह सकते हैं कि प्रेमचन्द युग दो महायुद्धों के बीच का युग था।

सन् १६१८ १६३६ की अवधि मानने का एक कारण यह भी है कि उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द युग के समवर्ती, काव्य-क्षेत्र के छायावाद युग का भी लगभग यही काल समझा जाता छायावाद की प्रतिष्ठापक कृति 'झरना' १६१८ में ही प्रकाशित हुई थी और चरमकृति 'कामायनी' १६३५ में। राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गाँधी के नेतृत्व का यह स्वर्ण युग था और गाँधीवादी सिद्धान्तों के निरूपण एवं प्रतिपादन का वास्तविक काल भी यही था अस्तु, हम कहना चाहेंगे कि राष्ट्रीय, सांस्कृतिक स्तर पर जिसे हमने गांधी युग के नाम से जाना था, वही साहित्यिक स्तर पर छाया युग और प्रेमचन्द युग के रूप में अवतरित हुआ था। पर इसके साथ ही, यह संकेत करना भी आवश्यक होगा कि देश-काल से अनिवार्यतः सम्बद्ध होने के बावजूद, श्रेष्ठ साहित्य का एक अन्य आयाम देश-कालातीत भी होता है और यह तथ्य प्रेमचन्द युगीन उपन्यास पर भलीभाँति लागू होता है।

उपर्युक्त दोनों आयामों की निष्पत्ति प्रेमचन्द युगीन उपन्यास में देखी जा सके, इसके लिए आवश्यक होगा कि हम उस समय के उपन्यासकारों तथा उपन्यासों से थोड़ा परिचित हो लें। समयानुक्रम में प्रकाशित, आलोच्य काल के प्रमुख उपन्यास निम्नलिखित हैं—

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१६१८	सेवासदन	प्रेमचन्द
,,	हृदय की परख	चतुरसेन शास्त्री
,,	चौहानी तलवार	हरिदास मणिक
१६१६	सौन्दर्योपासक	बृजनन्दन सहाय
,,	भड़ाम सिंह शर्मा	जी० पी० श्रीवास्तव
,,	सिंहगढ़ विजय	कृष्णकान्त मालवीय
१६२०	राजपूतों की बहादुरी	हरिदास मणिक
,,	भाग्य	ऋषभ चरण जैन
,,	विचित्र समाजसेवक	चन्द्रशेखर पाठक
,,	कल्याणी	मन्नन द्विवेदी

१. देखिए, प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास : कैलाशप्रकाश, पृ० ७१, तथा हिन्दी-उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा, मक्खनलाल शर्मा, पृ० २६७

सन्	उपयास का नाम	लेखक
१९२१	तरंग	राधिकारमण प्रसाद सिंह
,,	आदर्श दम्पत्ति	जगदीश झा
,,	रामलाल	मन्नन द्विवेदी
१९२२	प्रेमाश्रम	प्रेमचन्द
,,	सूर्यास्त	गोविन्द वल्लभ पंत
,,	वारांगना रहस्य	चन्द्रशेखर पाठक
,,	जीवन-ज्योति	जगदीश झा
,,	निकुंज	प्रताप नारायण श्रीवास्तव
,,	छाया	शिव नारायण द्विवेदी
,,	माता	,,
१९२३	विमाता	अवध नारायण
,,	गुप्त गोदना	किशोरी लाल गोस्वामी
,,	प्राणनाथ	जी० पी० श्रीवास्तव
,,	निर्मला	प्रेमचन्द
१९२४	व्यभिचार	चतुरसेन शास्त्री
,,	सखाराम	मदारी लाल गुप्त
,,	चिन्ता	शिवराम दास गुप्त
१९२४—२८	रंगभूमि (दो भाग)	प्रेमचन्द
१९२५	क्षमा	श्रीनाथ सिंह
,,	तुर्क तरुणी	विश्वम्भरनाथ जिज्जा
,,	अरुणोदय	गिरिजादत्त शुक्ल
१९२६	देहाती दुनिया	शिवपूजन सहाय
,,	मंगल-प्रभात	'हृदयेश'
१९२७	गुदगुदी	जी० पी० श्रीवास्तव
,,	गंगाजमुनी	गंगा प्रसाद श्रीवास्तव
,,	अबलाओं का इन्साफ	स्फुरना देवी
,,	मीठी चुटकी	भगवती प्रसाद बाजपेयी
,,	चन्द हसीनों के खतूत	पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
,,	दिल्ली का दलाल	,,
,,	चाकलेट	,,
,,	अशान्त	विनोद शंकर व्यास
,,	मनोरमा	'हृदयेश'
,,	मास्टर साहब	ऋषभ चरण जैन
,,	पतन	भगवती चरण वर्मा
१९२८	चुम्बन	पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
,,	कायाकल्प	प्रेमचन्द

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९२८	विधवा आश्रम	जमुनादास मेहरा
,,	मंच	राजेश्वर प्रसाद
,,	हृदय का काँटा	तेजरानी दीक्षित
,,	अनाथ पत्नी	भगवती प्रसाद बाजपेयी
,,	अपराधी	यदुनन्दन प्रसाद
,,	विदा	प्रताप नारायण श्रीवास्तव
,,	बुधुवा की बेटी	पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
,,	गढ़ कुंडार	वृन्दावन लाल वर्मा
,,	द्वितीय	शिवनाथ शास्त्री
,,	भँझली बहू	,,
१९२९	प्रत्यागत	वृन्दावनलाल वर्मा
,,	माँ	विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'
,,	भिखारिणी	,,
,,	कंकाल	जयशंकर प्रसाद
,,	प्रतिज्ञा	प्रेमचन्द
,,	मगन रहु चोला	अन्नपूर्णानन्द
,,	वेश्या-पुत्र	ऋषभ चरण जैन
,,	लगन	वृन्दावनलाल वर्मा
,,	निर्वासिता	अनूप लाल मंडल
,,	घृणामयी	इलाचन्द्र जोशी
,,	बीर बादल	जगदीश झा
,,	मुस्कान	भगवती प्रसाद बाजपेयो
,,	परख	जैनेन्द्र कुमार
१९३०	पाप और पुण्य	प्रफुल्ल चन्द ओझा 'मुक्त'
,,	पाप की ओर	प्रताप नारायण श्रीवास्तव
,,	सत्याग्रह	ऋषभ चरण जैन
,,	शराबी	पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
,,	ग़बन	प्रेमचन्द
,,	बहूरानी	शम्भू दयाल सक्सेना
,,	साधु और वेश्या	कृष्ण प्रसाद कौल
१९३०	विराटा की पद्मिनी	वृन्दावन लाल वर्मा
,,	पुनर्मिलन	रामानन्द शर्मा
,,	विधवा की आत्मकथा	प्रियंवदा देवी
१९३१	भाई	ऋषभ चरण जैन
,,	समाज की वेदी पर	अनूप लाल मंडल

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९३१	अप्सरा	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
,,	रहस्यमयी	ऋषभ चरण जैन
,,	प्रेम की भेंट	वृन्दावनलाल वर्मा
,,	बीसवीं सदी	राहुल सांस्कृत्यायन
,,	लतखोरी लाल	जी० पी० श्रीवास्तव
,,	महाकवि चच्चा	अन्नपूर्णानन्द
,,	गोद	सियाराम शरण गुप्त
१९३२	तलाक़	प्रफुल्ल चन्द्र ओझा
,,	मेरी आह	परिपूर्णानन्द 'मुक्त'
,,	त्यागमयी	भगवती प्रसाद वाजपेयी
,,	नारी हृदय	शिवरानी देवी
,,	दिल जले की आत्म-कथा	जी० पी० श्रीवास्तव
,,	कर्मभूमि	प्रेमचन्द्र
,,	ख़वास का ब्याह	चतुरसेन शास्त्री
,,	हृदय की प्यास	,,
,,	कुंडली चक्र	वृन्दावनलाल वर्मा
,,	वेश्या का हृदय	धनीराम 'प्रेम'
,,	तपोभूमि	जैनेंद्र कुमार तथा ऋषभ चरण जैन
,,	मुन्नी की डायरी	आदित्य प्रसन्न राय
१९३३	विधवा के पग	चन्द्रशेखर शास्त्री
,,	हृदय की ज्वाला	'व्यथित हृदय'
,,	अमर अभिलाषा	चतुरसेन शास्त्री
,,	अशांत	विनोद शंकर
,,	अलका	सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'
,,	मधुवन	ज्योतिर्मयी ठाकुर
,,	मेरी हजामत	अन्नपूर्णानन्द
१९३४	प्रेम-निर्वाह	भगवती प्रसाद वाजपेयी
,,	तितली	जय शंकर प्रसाद
,,	अंतिम आकांक्षा	सियाराम शरण गुप्त
,,	प्रतिमा	गोविन्द वल्लभ पंत
,,	चित्रलेखा	भगवती चरण वर्मा
,,	रूपरेखा	अनूप लाल मंडल
,,	लालिमा	भगवती प्रसाद वाजपेयी
,,	उलझन	श्रीनाथ सिंह
,,	ज्योतिर्मयी	अनूप लाल मंडल

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९३५	सुनीता	जैनेन्द्र कुमार
,,	बहता पानी	गिरजा दत्त शुक्ल
१९३६	स्वामी चौपटानन्द	जी० पी० श्रीवास्तव
,,	बुर्दाफ़रोश	ऋषभ चरण जैन
,,	मदारी	गोविन्द वल्लभ पंत
,,	पतिता की साधना	भगवती प्रसाद बाजपेयी
,,	वचन का मोल	उषादेवी मित्रा
,,	आत्म-दाह	चतुरसेन शास्त्री
,,	निरुपमा	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
,,	प्रभावती	,,
,,	प्रेम की प्यास	अमृत लाल नागर
,,	गोदान	प्रेमचन्द[1]

यह विचारणीय है कि लगभग बीस वर्षों की इस अवधि में जो भी उपन्यास लिखे गए या प्रकाशित हुए उनकी ठीक-ठीक तिथि निर्धारित कर पाना अत्यन्त कठिन है। जब बीसवीं शताब्दी में, केवल तीस से लेकर पचास वर्ष पूर्व तक के उपन्यासों के सम्बन्ध में यह स्थिति है, तो और अधिक पहले की कृतियों के विषय में क्या कहा जाय। इस अनिश्चय का दोषी लेखकों को ठहराया जाय या प्रकाशकों, अथवा पुस्तकालयों को ? या एक साथ सबको ? इस प्रश्न के उत्तर का भार पाठकों पर छोड़कर, दोषियों की सूची में हम एक नाम 'शोध-कर्ताओं' या विद्वानों का भी जोड़ना चाहेंगे। अनिश्चित तिथियों पर शोध कार्यों की मोहर लग जाने से स्थिति और भी उलझ जाती है, एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा श्री जयशंकर प्रसाद के उपन्यास 'कंकाल' की तिथि एक शोध-प्रबन्ध में सन् १९१९[2] दी गई है तथा दूसरे में १९२९।[3]

इस प्रकार की भूलें न केवल पाठकों को अपितु अन्य शोधकर्ताओं को भी दिग्भ्रमित कर देती है। अतः प्रामाणिक समझी जाने वाली शोध कृतियों से तो दोहरी—अपेक्षा की जाती है कि उनमें जो सूचना दी जाए, वह ठीक हो। तिथि-निर्धारण की व्यावहारिक कठिनाइयाँ यों भी कुछ कम नहीं हैं। यहाँ तक कि स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यास की लेखन और प्रकाशन तिथियों

---

१. सूची के लिये देखिये—हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन :
—डॉ० गणेशन

हिन्दी तथा मराठी उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन :
—डॉ० शांतिस्वरूप गुप्त;

हिन्दी उपन्यास—डॉ० सुषमा धवन;

हिन्दी-साहित्यकोष भाग–२ आलोचना (पत्रिका) : उपन्यास विशेषांक

२. देखिये—हिन्दी उपन्यास : डॉ० सुषमा धवन, पृ० ९२ और ३९२

३. देखिये—हिन्दी उपन्यास में कथाशिल्प का विकास :
—डॉ० प्रताप नारायण टंडन, पृ० २६५

को लेकर बड़ी गड़बड़ी है। डॉ० गणेशन ने अपने शोध-प्रबन्ध में सात विद्वानों के ग्रन्थों से प्रेमचन्द के उपन्यासों के प्रकाशन-काल की तालिका प्रस्तुत की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "इनके आधार पर 'कर्मभूमि' एवं 'गोदान' के अतिरिक्त किसी उपन्यासों के संबंध में किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना असंभव लगता है।"[1] इसमें हम यह और जोड़ना चाहेंगे कि यदि कुछ अन्य विद्वानों के ग्रन्थ देखे जाएँ तो उक्त दो उपन्यासों की भी तिथि के संबंध में हम भ्रमित हो जाएँगे। उदाहरणार्थ, एक शोध-ग्रन्थ में 'गोदान' की प्रकाशन तिथि सन् १९३५ ई० दी गई है।[2]

साहित्यिक इतिहास के विद्यार्थियों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकृष्ट करने के उपरान्त हम यहाँ आलोच्य काल के प्रमुख उपन्यासों और उपन्यासकारों का संक्षिप्त परिचय देना चाहेंगे।

'सेवासदन' (१९१८) ही वह उपन्यास था, जिसने उपन्यासकार के रूप में प्रेमचन्द को हिन्दी में प्रतिष्ठित कर दिया। यों कहानीकार के रूप में वे पहले ही प्रसिद्ध हो चुके थे और उनके कुछ उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके थे, पर जिन गुणों और विशेषताओं ने प्रेमचन्द को देश की जनता के बीच कालान्तर में इतना लोकप्रिय बना दिया उनकी प्रथम और स्पष्ट झलक इसी उपन्यास में दिखाई देती हैं। सामान्य रूप से प्रेमचन्द की इन विशेषताओं को हम जनता के प्रति उनका प्रेम, यथार्थ जीवन के प्रति उनका आग्रह, आदर्श के प्रति उनकी आस्था आदि कहते रहे हैं, पर अपने समाज और युग की पहचान प्रेमचन्द में इतनी गहरी और इतने विविध स्तरों पर थी कि उन्हें और उनकी कला को मात्र इन थोड़े से वाक्यांशों में नहीं बाँधा जा सकता।

'सेवासदन' में दारोगा कृष्णचन्द्र को अपनी बेटी सुमन के दहेज के लिए घूस लेने पर जेल जाना पड़ता है। सुमन का विवाह एक अपात्र गजाधर से होता है; वह सन्देह के कारण उसे घर से निकाल देता है और सुमन को वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है। इस कलंक के कारण पहले तो सुमन की छोटी बहन का विवाह ही नहीं होता और जब होता भी है तो समाज सुमन को चैन से नहीं रहने देता। वह गंगा में डूबने जाती है पर पछतावे में डूबा हुआ और स्त्रियों के उद्धार में संलग्न गजाधर उसे बचा लेता है। सुमन 'सेवासदन' का काम सँभाल लेती है।

यह उपन्यास भारतीय नारी की दयनीय स्थिति और भद्र समाज के खोखलेपन का पर्दाफ़ाश तो करता ही है। तत्कालीन परिस्थियों में लेखक और देश नायक के पास इन बुराइयों से बचने का जो एकमात्र साधन था—उसकी ओर भी इंगित करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह साधन था—सेवासदन—एक ऐसा साधन जिसकी ओर प्रेमचंद और गाँधी ही नहीं, परवर्ती लेखक और राष्ट्रनायक भी निरन्तर उन्मुख होते रहे और जिसका एक संशोधित तथा आधुनिक रूप है : हमारा धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक, कल्याणकारी राज्य।

---

१. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : —डॉ० गणेशन पृ० ६७
२. हिन्दी तथा मराठी उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन :—शांतिस्वरूप गुप्त पृ० ३८८।

'प्रेमाश्रम' (सन् १९२२) में भी, प्रेमचंद कृषक—जीवन की समस्याओं का सजीव चित्रण करते हुए ज़मीदार वर्ग के एक प्रतिनिधि द्वारा अपने स्वत्वों का परित्याग करके 'प्रेमाश्रम' स्थापित करते हुए दिखाते हैं। यह अनेक विद्वानों की दृष्टि में 'एक काल्पनिक समाधान' है।[1] लखनपुर नामक गाँव इस उपन्यास की पृष्ठभूमि है; ज्ञानशंकर वहाँ का लोभी, कामुक, कपटी, निर्दय और दग़ाबाज़ ज़मींदार है। गौस खाँ, फ़ैज़ुल्लाह, कचहरी, कानून, कारिन्दे और पुलिस उसके अन्यायों को बनाए रखने में मददगार हैं। मनोहर, बलराज, डपट सिंह, रंगी, क़ादिर, सुक्खू, दुखरन, विलासी आदि ग्रामवासी अन्याय और शोषण के विरुद्ध संघर्ष करते हैं, पर शक्ति और संपत्ति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को बदल पाने में वे असमर्थ हैं। अन्त में, प्रेमचन्द किसानों की समस्या को गाँधीवादी ढंग से सुलझाने की कोशिश करते हैं। संघर्ष में हार-जीत को महत्त्व न देकर, वे समाज-सुधारक, देश-सेवक और अहिंसक प्रेमशंकर की प्रेरणा से आदर्श ग्राम हाजीपुर में 'प्रेमाश्रम' की स्थापना कराते हैं। कहना न होगा कि इस तरह के आदर्शवादी हल तत्कालीन आलोचकों को बनावटी मालूम हुए थे, क्योंकि वे संघर्ष के केवल दो परिणामों में विश्वास करते थे—या तो पूर्ण विजय या पूर्ण पराजय बीच की किसी स्थिति को वे अवास्तविक और अग्राह्य समझते थे। पर इस विषय में कोई अतिवादी धारणा व्यक्त करने का अर्थ प्रेमचन्द की जीवन-दृष्टि के साथ अन्याय करना होगा। सामाजिक और व्यक्तिगत धरातल पर हृदय परिवर्तन तथा सन्तुलन उनकी कला और आस्था के मूलाधार थे। स्वाभाविक ही था कि रक्तक्रान्ति और वर्ग संघर्ष के तीव्रतर होते जाने में विश्वास करने वाले समीक्षक प्रेमचन्द इस तथाकथित आदर्शवादी विचारधारा को अपनी सहानुभूति नहीं दे सके। पर अपने देश में सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन जिस गति से और जिस दिशा में हुआ है, उसे देखने पर तो यही मानना पड़ता है कि प्रेमचन्द के मस्तिष्क में न केवल अपने युग की परिस्थितियों के बारे में ही बल्कि आगामी युग के बारे में बहुत गहरी और सच्ची सहानुभूति थी। भारत की समसामयिक सक्रिय तटस्थता, गुट विरोध, विचार स्वातन्त्र्य समानाधिकार, बालिग मताधिकार, धर्म निरपेक्षता आदि की राष्ट्रीय नीतियों का यदि हम कोई वास्तविक और ठोस आधार समझते हैं, तो प्रेमचन्द के समाधानों को भी हमें कुछ-न-कुछ व्यावहारिक मान्यता देनी ही पड़ेगी।

यह अवश्य है कि बुनियादी रूप में मनुष्य के अच्छे होने में प्रेमचन्द को जो भी विश्वास है, वह देश की परिस्थितियों के क्रमशः जटिल होते जाने के साथ और स्वयं उनका यथार्थबोध गहरा होते जाने के साथ, कुछ दुर्बल हो चला था। वही, प्रेमचन्द जो अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में 'सेवासदन' 'प्रेमाश्रय' और 'वनिता भवन' जैसी कल्याण संस्थाओं को सामाजिक व्यक्तियों का सबसे अच्छा उपचार समझते थे, धीरे-धीरे उनके स्थान पर अपने परवर्ती उपन्यासों, में—पात्रों का हृदय-परिवर्तन दिखाकर संतुष्ट होने लगे थे। बिलकुल अन्त के उपन्यासों में, कदाचित्, व्यक्ति-परिवर्तन पर भी उनका आग्रह कम हो चला था। स्पष्ट ही, राष्ट्रीय आन्दोलनों की असफलता, साम्राज्यवादी शक्तियों की निर्ममता और

---

१. प्रेमचन्द और उनका युग : रामविलास शर्मा, पृ० ३३

व्यस्त स्वार्थों की कुटिलता ने प्रेमचन्द को, एक लेखक के रूप में, अधिक सचेत बना दिया था। पहले वे अपने युग की चिन्ताओं के साथ, अपने युग की आशाओं को भी अभिव्यक्त करते थे। लेकिन बाद में उन्होंने 'आशाओं' से अधिक, 'चिन्ताओं' को वाणी देना जरूरी समझा था। इसका यह मतलब कतई नहीं कि वे मनुष्य और मनुष्यता में अपनी आस्था खो बैठे थे। वास्तव में, उन्होंने अपनी कला का विकास किया था और इसे हमें 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद' से 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की दिशा में उनकी प्रगति कह सकते हैं।

'निर्मला' (सन् १९२३) में इस प्रगति का स्पष्ट संकेत मिलता है। उपन्यास का विषय अनमेल विवाह है। शोडषी निर्मला का विवाह तीन लड़कों के पिता, चालीस वर्षीय तोताराम से होता है। वे जवान बनने की हास्यास्पद कोशिशें करते हैं और पत्नी को लेकर स्वयं अपने ही पुत्र मन्साराम से ईर्ष्या करने लगते हैं। फल यह होता है कि मन्साराम टी० बी० का शिकार होकर मर जाता है, दूसरा लड़का भी घर से निकल जाता है, तोताराम उसका पता लगाने के लिए घर छोड़ देते है और निर्मला घुल-घुल कर मर जाती है।

'निर्मला' कदाचित प्रेमचन्द का पहला दुखान्त उपन्यास है, यद्यपि हृदय-परिवर्तन इसको अंतिम पंक्तियों में लेखक ने किया है, जहाँ लोग इस पसोपेश में दिखते हैं कि निर्मला के बाप का दाह कौन करेगा। प्रेमचन्द लिखते हैं, "उसी समय एक बूढ़ा पथिक एक बुकचा लटकाये आकर खड़ा हो गया। यही मुंशी तोताराम थे।"[1] आकार और विषय-विस्तार की दृष्टि से अपेक्षाकृत लाभ होते हुए भी यह उपन्यास प्रेमचन्द की सूक्ष्म और यथार्थभेदी दृष्टि का सम्यक् परिचय देता है।

'रंगभूमि' (१९२४-२८) प्रेमचन्द की सबसे वृहदाकार रचना है। किसान-मज़दूर जागीरदार-पूँजीपति, अंग्रेज़-हाकिम—तत्कालीन भारतीय जीवन का समूचा परिदृष्य इस उपन्यास में एक साथ देखने को मिल जाता है। पाँडेपुर गाँव के सूरदास का जमीन हड़पकर जॉन सेवक मिल खड़ी करता है। बहाना है—देश की औद्योगिक उन्नति, असलियत है—स्वार्थपरता। सूरदास इस अन्याय का विरोध करता है, लेकिन एक तो किसानों-मज़दूरों में एका न होने कारण उनकी शक्ति संगठित नहीं हो पाती; दूसरे राज्य और समाज की तमाम ताकतें उनके खिलाफ लगी हुई हैं। फिर भी, सूरदास को यकीन है कि 'एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी, अवश्य होगी।'

'रंगभूमि' में यों तो सोफ़िया और विनय का प्रेम-प्रसंग और विनय के राजस्थान चले जाने के बाद रियासती जिन्दगी का भी लंबा ब्यौरा मिलता है, पर उसकी योजना, अधिकांशतः प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासों की पद्धति पर दो समानान्तर कथा-प्रसंगों की योजना भर है। 'रंगभूमि' की समस्या वास्तव में ग्रामीण-जनता के शोषण की समस्या है और सूरदास उस आत्मबल का प्रतीक है, जो राष्ट्रीय आन्दोलनों और गाँधीवादी आदर्शों के कारण देशवासियों में प्राप्त होने लगा था।

---

१. निर्मला, प्रेमचन्द पृ० १९०

'कायाकल्प' प्रेमचन्द के अपेक्षाकृत शिथिल उपन्यासों में है। राजा-रानियों, नेताओं और किसानों की इस कथा में जगदीशपुर की रानी देवप्रिया द्वारा भोग-विलास के जीवन का परित्याग दिखाया गया है। यही कायाकल्प है। यह अन्य क्षेत्रों पर भी अपना प्रभाव दिखाता प्रतीत होता है और प्रेमचन्द की चिरपरिचित हृदय परिवर्तन पद्धति का यह एक और प्रमाण है। तथापि राजा विशाल सिंह के आतंक-अत्याचार और चक्रधर जैसे नेताओं के दोहरे चरित्र का सजीव अंकन इसमें हुआ है। साथ ही, प्रेमचन्द ने स्पष्ट कर दिया है जनता पर जोर-जबरदस्ती अधिक समय तक नहीं चल सकती।

'प्रतिज्ञा' (सन् १९२९) और 'गबन' प्रेमचन्द के पूर्व प्रकाशित दो उपन्यासों प्रेमा और कृष्णा के संशोधित रूप थे। कदाचित् इसीलिए और भी उनमें कथा की समाप्ति पर बनिता भवन तथा गंगा के किनारे रह कर शेष जीवन बिताने की सम्भावनाएँ दिखाई गई हैं। दोनों ही उपन्यास नारी जीवन से सम्बद्ध हैं। 'प्रतिज्ञा' में विधवा समस्या पर प्रकाश डाला गया है। प्रतिज्ञा में सुमित्रा के पति कमला प्रसाद की वासना से बचने के उपरान्त विधवा पूर्णा बनिताश्रम में रह कर पूजा-पाठ करने लगती है और गबन में रमानाथ नामक शौकीन मिज़ाज, ढुलमुल और भगोड़े पति का जीवन पत्नी जालपा के अथक प्रयत्नों द्वारा सुधर जाता है। कलात्मक दृष्टि से 'गबन' श्रेष्ठतर रचना है, उसका परिवेश भी अधिक व्यापक है। मध्यवर्गीय प्रदर्शन-प्रियता का परिणाम कितना घातक हो सकता है, यह प्रेमचन्द ने 'गबन' में बखूबी दिखाया है। इस उपन्यास की विशेषता यह भी है कि इसमें एक व्यक्ति-पारिवारिक समस्या को लेखक ने राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि से जोड़ कर प्रभावशाली बना दिया है।

कर्मभूमि (सन् १९३२) में राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि का ही नहीं, कर्मभूमि का भी परिचय मिलता है। प्रेमाश्रम, रंगभूमि और कायाकल्प की अपेक्षा इस उपन्यास में किसान-मज़दूर जनता का मनोबल अधिक बढ़ा हुआ मिलता है। जिन प्रेमचन्द को अनेक वर्ष पहले अपनी एक पुस्तक की प्रतियाँ राजद्रोह के अभियोग में जला डालनी पड़ी थीं, वह इसमें गोरे अँग्रेज़ अत्याचारियों के पीटे बल्कि मार डाले जाने तक का खुला वर्णन करते हैं। पराधीनता, दमन, आतंक, ग़रीबी, बेदखली और छुआछूत के विरुद्ध बाहर और गाँव की जनता का संघर्ष इस उपन्यास का विषय है। अमरकान्त, आत्मानन्द, समरकान्त और सुखदा, नैना, मुन्नी अपनी-अपनी जगह इस संघर्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेकिन प्रेमचन्द जहाँ सलीम जैसे सरकारी अफ़सरों के देश प्रेम को रेखांकित करते हैं, वहीं अमरकान्त जैसे दुर्बल हृदय नेताओं के ढुलमुलपन का चित्रण करने में भी नहीं चूकते। प्रेमचन्द के सम्मुख यह बिलकुल स्पष्ट है कि आज़ादी की लड़ाई जनता की लड़ाई है और वह कितने ही मोर्चों पर एक साथ लड़ी जा रही है।

मंगलसूत्र (सन् १९३६) प्रेमचन्द का अन्तिम किन्तु अपूर्ण उपन्यास है। किन्हीं अंशों में उसे आत्मकथा भी कहा जा सकता है। देवकुमार एक संघर्षरत लेखक और उसके दो पुत्रों तथा एक पुत्री की कथा उपन्यास के चार अध्यायों में मिलती है। पर उस आधार पर कहना कठिन है कि इस उपन्यास में प्रेमचन्द क्या प्रतिपादित करना चाहते थे। देवकुमार को अपने आदर्शों से कुछ विचलित होता हुआ उन्होंने अवश्य दिखाया है।

गोदान (सन् १९३६) प्रेमचन्द का ही नहीं, हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास माना

जाता है। कर्ज में डूबा हुआ किसान किस तरह जमीन से बेदखल हो कर मजदूरी करने के लिए मजबूर है और साम्राज्य शक्तियों की गुटबन्दी के सामने वे कितने असहाय और अकेले हैं—इस बात को उपन्यास के नायक होरी के जीवन में भली-भाँति देखा जा सकता है किन्तु संघर्षरत होरी की तुलना में महाजन, पुरोहित, जमींदार, मिल मालिक आदि अपने-अपने स्वार्थों के प्रति पात्रों को लेखक ने घटिया और तुच्छ सिद्ध किया है। प्रेमचन्द इस उपन्यास में संकेत करते हैं कि भावी समाज के निर्माण में होरी, धनिया, गोबर जैसे गरीब किसान-मजदूर और जागरूक बुद्धिजीवी वर्गों का हाथ होगा। यह अवश्य है कि गोदान लिखे जाने के तीस वर्ष बाद और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बीस वर्ष बाद आज भी समेरी के राय साहब और मिल मालिक मि० खन्ना जैसे सफ़ेदपोश, छद्म राष्ट्रवादियों के हाथों में सत्ता की बागडोर दिखाई देती है और जिस भारत का प्रतीक होरी है, वह आज की आर्थिक विपन्नता, देशी-विदेशी ऋण, प्रादेशिक संकट, सामाजिक गतिरोध, और राजनीतिक दबाव के शिकंजों में जकड़ा हुआ है। प्रेमचन्द साहित्य के एक अध्येता के अनुसार गोदान के बाद अगला कदम यही हो सकता है कि मेहता और होरी जैसे लोग अपना एका मजबूत करके राय साहब और उनके विलायती प्रभुओं को छिन्न-भिन्न कर दे। हिन्दुस्तान का इतिहास आगे कदम उठा रहा है।"[1] हिन्दुस्तान का इतिहास यह कदम उठा रहा है या नहीं, इस बात को लेकर मतभेद हो सकता है, पर सच यह है कि देश में जो कुछ भी हो रहा है—"उसे चित्रित करने के लिए आज प्रेमचन्द नहीं हैं।"[2]

आलोच्य काल के प्रारम्भ में ही प्रकाशित 'हृदय की परख' (सन् १९१८) लेखक श्री चतुरसेन शास्त्री (सन् १८९१-१९६०) के कुछ अन्य उपन्यास 'व्यभिचार (१९२४), हृदय की प्यास, खवास का ब्याह (१९३२), अमर अभिलाषा (१९३२) और आत्मदाह (१९३६) भी इसी अवधि में प्रकाशित हुए। परन्तु ये सामान्य कोटि की कृतियाँ थीं और ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में जो भी प्रतिष्ठा शास्त्री जी को मिली, उसका आधार उपर्युक्त कृतियाँ नहीं बल्कि वैशाली की नगर वधू, सोमनाथ, वयं रक्षामः, सोना और खून आदि उनकी बाद की कृतियाँ थीं। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक होगा कि प्रेमचन्द युग की समाप्ति के बाद ही, उस युग में लेखन प्रारम्भ करने वाले अनेक उपन्यासकारों ने कलात्मक उत्कर्ष अर्जित किया था। इतिहास या कालक्रम की दृष्टि से, यहाँ हम केवल आलोच्य-अवधि में रचित उनकी कृतियों तक अपने को सीमित रखना चाहेंगे, पर इसे भुलाया नहीं जा सकता कि दो विभिन्न युगों में रचित कृतियों का पूरा अर्थ और महत्त्व एक-दूसरे के समुचित सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। बहरहाल अपने उपन्यासों को 'इतिहास' अथवा 'अतीत रस' से विभूषित मानने वाले चतुरसेन शास्त्री के ये प्रारंभिक उपन्यास अधिकतर सामाजिक विषयों से सम्बद्ध हैं, यथा : 'अमर अभिलाषा' में एक विधवाश्रम और भगवती, नारायणी, सुशीला, कुमुद, मालती तथा बसंती नामक छः विधवाओं की कथा कही गई है। इन उपन्यासों में चतुरसेन की भाषा-शैली अनगढ़ है और वे अपने समय के 'उग्र', ऋषभचरण

---

१. प्रेमचन्द और उनका युग : रामविलास शर्मा, पृ० १२४

२. वही

जैन जैसे लेखकों के साथ नग्न यथार्थवाद या प्रकृतवाद के नाम पर लोकप्रिय और चटपटा साहित्य प्रस्तुत करने में प्रवृत्त दीखते हैं।

'भड़ाम सिंह शर्मा' (१९१९) नामक हास्यकृति के लेखक श्री जी० पी० श्रीवास्तव की अन्य रचनाएँ 'प्राणनाथ' (१९२३), 'गुदगुदी' (१९२७) 'लतखोरी लाल' 'दिलजले की आत्मकथा' (१९३२) तथा 'स्वामी चौपटानंद' (१९३६) इस अवधि में प्रकाशित हुई। यह हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य कहा जायगा कि एक तो यों ही इसमें गंभीरता के प्रति आवश्यकता से अधिक गंभीरता दिखाई गई है; दूसरे, जो यत्किंचित् हास्य-लेखक हुए भी हैं, उनकी रचनाएँ प्रायः हास्यास्पद ही सिद्ध हुई हैं। यों, 'लतखोरी लाल' के प्रकाशन के समय अवश्य उसकी कुछ चर्चा हुई थी, अन्यथा श्रीवास्तव जी रचनाओं का विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है; एक जमाने में भले ही वे लोकप्रिय रही हों। उनकी तुलना में श्री अन्नपूर्णानन्द (१८९५-१९६३) की 'मगन रहु चोला' (१९२९), 'महाकवि चच्चा' (१९३१), 'मेरी हजामत' (१९३३) आदि कृतियाँ शिष्ट और साहित्यिक हास्य का उदाहरण हैं।

'मीठी चुटकी' (१९२७), 'अनाथ पत्नी' (१९२८), 'मुस्कान' (१९२९) 'त्यागमयी' (१९३२), 'लालिमा' (१९३४) तथा 'पतिता की साधना' रचयिता श्री भगवती-प्रसाद वाजपेयी प्रेमचन्द युग के प्रारम्भ से ही लेखनरत है : इनकी रचनाओं पर प्रेमचन्द और गाँधी ही नहीं, मार्क्स, फ्रायड आदि आधुनिक जगत् के सभी विचारकों की छाप दिखाई देती है। उनके उपन्यास आम तौर से मध्यवर्गीय के मनोविश्लेषण और विवाह तथा प्रेम की जटिलताओं के बारे में हैं। 'मीठी चुटकी' और 'लालिमा' तो इन्होंने संयुक्त रूप से अन्य [ले]खकों के साथ ही लिखे हो हैं, अन्य उपन्यासों में भी इनकी अपनी भाषा शैली तथा [वि]चारधारा का प्रखर संकेत नहीं मिलता। इनके प्रारम्भिक उपन्यासों में नारी के ही कुमारी, [प]त्नी, विधवा आदि विभिन्न रूपों का अंकन हुआ है। चतुरसेन की ही भाँति, कदाचित् इनकी [वे] कृतियाँ कुछ अधिक प्रौढ़ हों, जो आलोच्य काल के अनन्तर प्रकाश में आईं।

किन्तु, बाजपेयी जी की व्यक्तिपरक भावमय कृतियों से बिल्कुल भिन्न पाण्डेय बेचन-[शर्मा] 'उग्र' (सन् १९००) की सामाजिक यथार्थवादी कृतियाँ 'चन्द हसीनों के खतूत,' 'दिल्ली [का] दलाल,' 'चाकलेट' (१९२७), 'चुम्बन,' 'बुधुआ की बेटी' (१९२८) और 'शराबी' (१९३०) इसी अवधि में प्रकाशित हुई। ऐसा नहीं कि उग्र जी के उपन्यासों में भावमयता है ही [न]हा, पर वे उसे शब्दाडम्बर तथा भाषा-प्रवाह में ढकने की कोकिश करते हैं और समाज के [य]थातथ्य चित्रण का दावा पेश करते हैं। "है कोई माई का लाल जो हमारे समाज को नीचे [से] ऊपर तक देखकर, कलेजे पर हाथ धरकर, सत्य के तेज से मस्तक तानकर इस पुस्तक के [अ]किंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि तुमने जो कुछ लिखा है, समाज में ऐसी घृणित [रो]मांचकारिणी, काजलकाली तस्वीरें नहीं हैं। अगर कोई ऐसा हो तो सोत्साह सामने आवे, [मे]रे कान उमेठे ओर छोटे मुँह पर थप्पड़ मारे, मेरे होश को ठिकाने करे।"[1]

१—हिन्दी उपन्यास में कथाशिल्प का विकास—डॉ० प्रताप नारायण टण्डन, पृष्ठ १०

उग्र जी की रचनाएँ समाज की गन्दगी और दबी ढँकी करतूतों का भंडाफोड़ करती हैं। वेश्यावृत्ति, पंडे-पुजारियों की पाप लीला, स्त्रियों का अवैध व्यापार, व्यभिचार के अड्डे, मदिरालय, राजाओं, सेठों, कुकृत्यों आदि विषयों पर उग्र के साथ-साथ ऋषभचरण जैन (सन् १९१२) ने भी कलम चलाई थी। पर ये प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के पोषक नहीं कहे जा सकते। इनके लेखन में एक ओर तो व्यावसायिकता और दूसरी ओर एक विशेष प्रकार की रुग्णता के भी लक्षण प्राप्त होते हैं। व्यावसायिकता इस विचार से कि नग्न और कटु यथार्थवादी चित्रण के साथ-साथ जैसे लेखक सुधारवाद और आदर्शवाद का भी पल्ला पकड़े रहते हैं, ताकि इनकी पुस्तकें पाठक समुदाय के बीच ग्राह्य हो सकें और रुग्णता इस विचार से कि इनकी निगाह हमेशा एक विशेष प्रकार के ही विषयों की ओर जाती है और लेखक की साहस तथा शक्ति का अर्थ इनके लिए केवल उन्हीं यौन विषयों का प्रतिपादन होता है। अन्ततः इस प्रकार के लेखक रूमानी और भावुक प्रकृति के ही सिद्ध होते हैं। यह संयोग ही था, कि 'घासलेटी' साहित्य के नामकरण ने ऐसे लेखन को बहुत अधिक पनपने नहीं दिया पर यदि उक्त नामकरण न होता तो भी उस लेखन का दीर्घजीवी होना मुश्किल था क्योंकि उसके मूल में जीवन तथा समाज की यथार्थ नहीं बल्कि उत्तेजनापूर्ण कच्ची पकड़ थी। शायद यही कारण है कि उग्र की सबसे महत्वपूर्ण और सशक्त-रचना उनका कोई उपन्यास नहीं अपितु बहुत बाद में लिखी गई आत्म कथ्यात्मक कृति अपनी खबर समझी जाती है।

बहरहाल, यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रेमचन्द के उपन्यासों की तुलना में अन्य समकालीन उपन्यासकार जैसी अनकरणात्मक और साधारण रचनाएँ प्रस्तुत करने लगे थे, उनके बेरे को तोड़ने में 'उग्र' जैसे तेज़ लेखकों का काफी हाथ रहा था। गाँधीवादी फार्मूलों को लेकर लिखे गए उस समय के कितने ही ऐसे उपन्यास आज बिल्कुल भुला दिए गए हैं। जो उपन्यास या उपन्यासकार ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ याद रखे जा सकते हैं, उनमें श्री चंडी प्रसाद 'हृदयेश' (१८९८-१९३६) कृत 'मंगल प्रभात' (१९२६) श्री प्रताप नारायण श्रीवास्तव (१९०४) कृत 'विदा' (१९२८); श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (१८९१-१९४५) कृत 'माँ' और 'भिखारिणी' (१९२९); श्री इलाचन्द्र जोशी (१९०२) कृत 'घृणामयी' (१९२९); श्री सियाराम शरण गुप्त (१८९५-१९६२) कृत 'गोद' (१९३१) और अंतिम आकांक्षा, (१९३४) तथा श्रीमती उषादेवी मित्रा (१८९७) कृत 'वचन का मोल' प्रमुख हैं।

'मंगल प्रभात' बृहत् उपन्यास है। आनन्द स्वामी, राजेन्द्र, सुभद्रा, अन्नपूर्णा आदि पात्रों के माध्यम से, इसमें काव्यात्मक शैली में भारतीयता, त्याग, शील और आदर्श का उपदेश दिया गया है। 'विदा' में यूरोपीय सभ्यता और भारतीयता की टकराहट का और नगरों तथा बंगलों चमक-दमक के भीतर सुरक्षित जातीय भावना का चित्र खींचा गया है। 'माँ' में सुलोचना नामक एक अभाव ग्रस्त माँ तो अपने पुत्र शम्भूनाथ को उचित शिक्षा देकर उसका जीवन और अपना मातृत्व सार्थक करती है, लेकिन संपन्न सावित्री का दत्तक पुत्र (शम्भूनाथ का सगा भाई) श्यामनाथ-बेहद दुलार के कारण वेश्यागामी हो जाता है। अन्त में वह, शम्भूनाथ के प्रयत्न से, सुधरता है। 'भिखारिणी' में जस्सो नामक एक (परिस्थिति जन्य) भिखारिन की उदारता और त्याग की कहानी है। रामनाथ उससे प्रेम करने के

बावजूद सामाजिक बन्धनों के कारण विवाह नहीं कर पाता। घृणामयी या लज्जा की नायिका लज्जा एक डॉक्टर से प्रेम करती है, पर अपने भाई राजू की उपेक्षा नहीं कर पाती। 'गोद' में लोकापवाद ग्रस्त किन्तु निर्दोष किशोरी का विवाहोद्धार शोभाराम द्वारा किए जाने के बाद शोभाराम के भाई दयाराम का हृदय परिवर्तन दिखाया गया है। अन्तिम अकांक्षा में सम्भ्रान्त लोगों की हृदयहीनता और निर्ममता के सम्मुख एक उपेक्षित और लांछित नौकर रामलाल की स्वामिभक्ति और ममता का उल्लेख है। रामलाल की आकांक्षा थी कि स्वामी की पुत्री के विवाह में सम्मिलित हो, पर समाज को यह गवारा नहीं होता। वह कन्या की विदा के समय दो रुपये देकर अपनी अन्तिम आकांक्षा पूरी करता है। 'बचन का मोल' कजरी, सरोज, विनय के त्रिकोणात्मक प्रेम की तथा वचन देने के क्रम में कजरी के अविवाहित रहने की कथा है।

किन्तु इस काल की कुछ अन्य समर्थ कृतियों और कृतिकारों की चर्चा अभी शेष है। प्रेमचन्द युग और उसके बाद के यशस्वी उपन्यासकार श्री वृन्दावन लाल वर्मा (सन् १८८६) ने "सन् १९२७ ने गढ़कुंडार दो महीने में लिखा। उसी वर्ष लगन, संगम, प्रत्यागत, कुंडली चक्र, प्रेम की भेंट तथा हृदय की हिलोर भी लिखा है। सन् १९३० ई० में विराटा की पद्मिनी लिखने के बाद कई वर्षों तक लेखन स्थगित रहा।"[1] इनमें से 'हृदय की हिलोर' निबन्ध छोड़कर शेष उपन्यास इस क्रम में प्रकाशित हुए—गढ़कुंडार, संगम (सन् १९२८), प्रत्यागत, लगन (सन् १९२९), विराटा की पद्मिनी (सन् १९३०), प्रेम की भेंट (सन् १९३१) तथा कुंडली चक्र (सन् १९३२)। वर्मा जी हिन्दी के शीर्षस्थ ऐतिहासिक उपन्यासकार माने जाते हैं। आलोच्य काल में उनकी कृतियों में विराटा की पद्मिनी और गढ़कुंडार विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

गढ़कुंडार हिन्दी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास माना जाता है। प्रथम प्रकाशन के लगभग चालीस वर्ष बाद आज भी पाठक इसे रुचिपूर्वक पढ़ते हैं। कुंडारगढ़ पर खँगारों का आधिपत्य है। हुरमत सिंह खंगार अपने पुत्र नागदेव का विवाह सोहनपाल बुन्देल की लड़की से करना चाहता है पर जातीय अभिमान, प्रतिशोध और विश्वासघात के कुचक्रों के कारण विवाह की जगह संहार होने लगता है और गढ़कुंडार पर बुन्देलों का अधिकार हो जाता है। इस उपन्यास में मध्ययुगीन सामन्ती-वृत्ति का सम्यक् निदर्शन हुआ है।

'विराटा की पद्मिनी' की कथा लालसा तथा सात्विक प्रेम की कथा है। कुमुद नामक सुन्दरी कन्या के प्रति दिलीप नगर के राजा दासी पुत्र कुंजर सिंह का गहन प्रेम है और कुमुद की रक्षा के लिए वह युद्ध में प्राणोत्सर्ग कर देता है। दुर्गा का अवतार समझी जाने वाली कुमुद बेतवा में कूद कर जौहर करती है। इन दोनों के अतिरिक्त राजा, रानी, मन्त्री, सेनापति, नौकर आदि कितने ही पात्रों पर लेखक ने प्रकाश डाला है। राजनीतिक दाँव पेंच, विश्वास-घातों और कुटिलताओं के मध्य मानव-प्रकृति की अनेक रूपता को दिखलाना और वीरता, त्याग, दया, प्रेम, उदारता आदि की प्रतिष्ठा करना वर्मा जी जी लेखनी का धर्म रहा है। बुन्देलखण्ड को अपने उपन्यासों की केन्द्रीय भूमि बना कर मानों उन्होंने सम्पूर्ण देश के अतीत

१–हिन्दी साहित्य कोश–भाग २, पृ० ५४९।

गौरव तथा जातीय स्वाभिमान को मूर्तरूप प्रदान किया है। आलोच्य काल के बाद प्रकाशित 'झाँसी की रानी,' मृगनयनी आदि उपन्यास उनकी कला के निरन्तर विकास के सोपान हैं। यों, उनकी प्रारम्भिक कृतियाँ भी उनकी इतिहास के प्रति अर्न्तदृष्टि और वर्णनक्षमता का अपूर्व परिचय देती हैं।

कंकाल (सन् १९२९) तथा तितली (सन् १९३४) के लेखक जयशंकर प्रसाद (सन् १८८९-१९३७) मुख्यतः कवि और नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हैं, पर कहानी और उपन्यास लेखन में भी उनकी उतनी ही सफलता उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रमाण है। कंकाल अनेक जारज सन्तानों के जारज सम्बन्धों की कथा है। मठाधिकारी देवनिरंजन के साथ श्रीचन्द की पत्नी किशोरी के अवैध सम्बन्ध से उत्पन्न विजय इस उपन्यास का नायक है। श्रीचन्द का भी चन्दा नामक विधवा से सम्बन्ध है। उधर विजय पहले यमुना नामक जारज युवती की ओर आकृष्ट होता है, फिर घंटी और गाला की ओर। यमुना स्वतः मंगलदेव की ओर आकृष्ट है, पर वह इसे दुश्चरित्रता माँ की सन्तान समझ कर छोड़ जाता है, यद्यपि वह स्वयं अवैध से उत्पन्न है। कथा इसी रूप में आगे बढ़ती जाती है और अन्त में अधिकांश पात्र सुधर जाते हैं और विजय हत्या करने और भिखारी हो जाने के बाद कंकाल मात्र रह जाता है। उपन्यास का नाम कंकाल रखकर प्रसाद जी रूढ़िग्रस्त, पाखण्डयुक्त और विषम भारतीय समाज के कंकालवत् रह जाने का अभियोग लगाते हैं। नारी के सम्मान, प्रेम के नैसर्गिक अधिकार और उदार मानवीयता पर आधारित नए समाज का स्वप्न भी इन्होंने इस उपन्यास में देखा है।

'तितली' प्रसाद जी के इसी स्वप्न का विस्तार है। कंकाल की नागरिक पृष्ठभूमि से भिन्न कथानक मुख्यतः गाँव से सम्बद्ध है। यहाँ भारतीय और दर्शन के साक्षात् प्रतीक बाबा रामनाथ के मधुबन (महुआ) और तितली (बंजो) रहते हैं। दोनों का विवाह हो जाता है। मधुबन अपनी बहन को एक महन्त की वासना से बचाने के लिए उसका गला दबा देता है। भाग बचने की कोशिश के बावजूद वह कलकत्ता में पकड़ा जाता है और आठ साल की सज़ा काटकर वापस आता है। तितली लड़कियों को पढ़ाकर अपनी जीविका चलाती है। उपन्यास में एक दूसरी कथा ज़मीदार इन्द्रदेव की भी है, जो विलायत से वौला नामक युवती को साथ लाए हैं। इस कारण उन्हें अपने परिवार वालों का विरोध भी सहना पड़ता है। वौला बाबा रामनाथ से तर्क करती है और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लेती है। इन्द्रदेव और वौला के प्रयत्नों से गाँव की उन्नति की अनेक योजनाएँ कार्यान्वित होती हैं। इस उपन्यास में प्रसाद जी ने सामन्ती व्यवस्था और संयुक्त परिवार के विघटन, देहाती जीवन की दयनीयता और उससे उत्पन्न विद्रोह-भावना का चित्रण किया है। ग्राम-सुधार कार्यक्रमों और बाबा रामनाथ के विचारों द्वारा प्रसाद जी यह प्रतिष्ठित करना चाहते हैं कि पुरातन के पूर्ण विध्वंस के बिना भी नूतन निर्माण सम्भव है।

'अप्सरा' (१९३१), 'अलका' (१९३३), 'प्रभावती' और 'निरुपमा' (१९३६) के लेखक श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (१८९६-१९६१) भी, प्रसाद जी की भाँति कवि के रूप में विख्यात् हैं। कहा जाता है कि ये "उपन्यास उनके अर्थ-संकट के फलस्वरूप प्रणीत हुए।"[१] इसमें सन्देह नहीं कि आलोच्य अवधि के अनन्तर लिखित उनके दो रेखाचित्र 'कुल्ली-

१. हिन्दी साहित्य कोश—भाग २, पृ० ६१७

'भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' अधिक सफल हुए, पर इन कृतियों में भी निराला जी की विशिष्ट लेखन शैली के आरंभिक लक्षण स्पष्ट हैं। ये उपन्यास प्रायः "स्त्री-जीवन की भयंकर पराधीनता और पुरुष की अदाम्य उच्छृंखलता"[1] के बारे में हैं। 'अप्सरा' की कथा एक वेश्या के जीवन को लेकर चलती है। 'अलका' की कथा संकटग्रस्त अलका और उसके प्रति विजय के जीवन-संघर्ष से सम्बद्ध है। एक-दूसरे से बिछुड़ जाने के बाद उनका मिलन चमत्कारिक ढंग से होता है। 'निरुपमा' प्रेम-कथा और 'प्रभावती' ऐतिहासिक उपन्यास है। प्रसाद जी उपन्यासों की तुलना में निराला जी के ये उपन्यास लघु हैं; शायद इसीलिए और भी 'निराला' की गणना हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों में नहीं होती पर गद्य की भाषा का उनमें बहुत निखरा हुआ रूप दिखाई देता है। आगे चलकर हिन्दी उपन्यास ने प्रेमचन्द और 'निराला' की ही भाषा का नमूना अपनाया, 'प्रसाद' और 'हृदयेश' की भाषा का नहीं, पर इसका यह अर्थ यह नहीं है कि प्रकृत काव्यात्मकता का आगामी कथा साहित्य में अभाव रहा।

'पतन' (सन् १९२७) के रचयिता—श्री भगवतीचरण वर्मा (जन्म सन् १९०३) को वास्तविक प्रसिद्धि अनेक वर्षों बाद, आलोच्य-काल की समाप्ति के लगभग प्रकाशित 'चित्रलेखा (१९३४) से मिली। 'चित्रलेखा' की प्रेरणा अनातोले फ्रांस कृत 'थाया' है, पर वर्मा जी ने उसे गुप्तकालीन भारतीय परिवेश में रखकर मौलिक बनाने का प्रयत्न किया है। महाप्रभु रत्नाम्बर के दो शिष्य श्वेतांक और विशालदेव जानना चाहते हैं कि पाप क्या है? गुरु उन्हें सामन्त बीजगुप्त और योगी कुमारगिरि के पास भेज देते हैं। प्रसिद्ध नर्तकी चित्रलेखा बीजगुप्त की प्रणयिनी है। वह अज्ञात आकर्षणवश कुमारगिरि की ओर झुकती है, पर अपने सौंदर्य के सम्मुख योगी के पराजित होते ही उससे विरक्त हो जाती है। इन तीनों प्रमुख पात्रों की कथा उपन्यास में अत्यन्त नाटकीय और प्रभावशाली ढंग से कही गई है। अंत में, श्वेतांक बीजगुप्त को देवता तथा कुमारगिरि को पशु लगता है, जबकि विशाल देव के अनुसार कुमारगिरि अजित है और बीजगुप्त वासना का दास। महाप्रभु रत्नाम्बर का निष्कर्ष यह कि पाप-पुण्य वस्तुतः कुछ नहीं है, भिन्न दृष्टियों से देखने पर इनका स्वरूप भिन्न हो जाता है।

वर्मा जी का यह उपन्यास प्रारम्भ से ही अत्यन्त लोकप्रिय एवं विवादग्रस्त रहा है। लोकप्रियता का प्रभाव यह है कि अंग्रेजी तथा अन्य अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है, इस पर एकाधिक फिल्में भी बन चुकी हैं और पाठक इसे दर्जनों बार पढ़कर भी तृप्त नहीं होते। विवादग्रस्त कहने का कारण यह है कुछ विद्वान इसकी मौलिकता में सन्देह करते हैं। कुछ इसे प्रमाणतः ऐतिहासिक बताते हैं, कुछ दार्शनिक और कुछ समसामयिक, और कोई-कोई तो इसे आत्मकथात्मक भी कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार यह उपन्यास जीवन के नित्य स्वरूप को विषमताओं और उलझनों की मीमांसा में प्रवृत्त हुआ है।[2] दरअसल यह एक ऐसा उपन्यास है—जिसमें खोजनेवाले को बहुत कुछ मिल सकता है। पर यह तो स्पष्ट ही है कि गाँधीवादी या प्रेमचन्दीय नैतिकता, सुधारवाद और पाप-पुण्य निर्णय के सम्मुख इस उपन्यास ने प्रश्न-चिन्ह लगाया था। भारत के तथाकथित 'दार्शनिक जीवन के खोखलेपन

---

१. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन—प्र० गणेशन, पृ० ९०

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५३६

को ओर भी इसने इंगित किया था। 'चित्रलेखा' की इन्हीं सब विशेषताओं के प्रति आकृष्ट कुछ विद्वान इसे प्रेमचन्द युग की नहीं, बल्कि 'प्रेमचन्दोत्तर काल'[1] की कृति मानते हैं!

'सुनीता' की कहानी छोटी-सी है। संतान न होने के कारण श्रीकान्त और—पति-पत्नी का जीवन कुछ नीरस-सा हो गया है। अचानक पुराने मित्र हरिप्रसन्न-क्रांतिकारी—से भेंट होने पर श्रीकान्त उसे घर ले आता है और पति-पत्नी उसी की चिन्ता में लग जाते हैं। हरिप्रसन्न सुनीता की ओर आकर्षित होता है। वह सुनीता को क्रांतकारी दल की एक मीटिंग के लिए निर्जन वन में ले जाता है। वहाँ हरिप्रसन्न से यह सुनकर कि वह उसको—'समूची' चाहता है, सुनीता निरावरण हो जाती है। यह अहिंसक मुद्रा हरिप्रसन्न की आँखें खोल देती है। इस घटना के कारण पति-पत्नी एक-दूसरे के अधिक निकट आ जाते हैं।

जैनेन्द्रकुमार का यह दूसरा, या कहें तीसरा उपन्यास था; इससे पूर्व 'परख' (१९२९) और 'तपोभूमि' (१९३२) नामक संयुक्त रूप से लिखित उपन्यास का प्रकाशन हो चुका था; इसके बाद 'त्यागपत्र' (१९३७) प्रकाशित हुआ, जो अवश्य, काल की दृष्टि से भी प्रेमचन्द युग के बाद की रचना है।

निश्चय ही, 'चित्रलेखा' और 'सुनीता' प्रेमचन्द युग की समाप्ति की उद्घोषणा करने वाली कृतियाँ हैं। लेखन शैली, आकार-प्रकार और कथा-विस्तार आदि कितनी ही विचार-धाराओं से वे तत्कालीन उपन्यासों से भिन्न हैं। पर, सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो वे आलोच्य युग से अनिवार्यतः जुड़ी हुई भी लगेंगी। देखने पर मालूम होगा कि 'चित्रलेखा' में, युग की सीमाओं और संकोचों के कारण, साहस का कुछ अभाव-सा हो गया है, अन्यथा समसामयिक जटिल समस्याओं को अतीत के आवरण में ढंक कर प्रस्तुत करने की आवश्यकता लेखक ने शायद अनुभव न की होती। 'सुनीता' में, नायिका का नंगी हो जाना, ऊपरी तौर पर भले ही सादृश लगे, आज हम उसे 'गाँधी की अहिंसा का साहित्यिक प्रतिपादन'[2] ही मानते हैं और समझते हैं कि इस प्रकार सुनीता की अहिंसा ने हरिप्रसन्न की हिंसा को जीत लिया अस्तु, ये कृतियाँ अपने युग का अतिक्रमण करती प्रतीत अवश्य होती हैं, पर मूलतः वे अपने युग की ही हैं। हाँ, उन्होंने एक प्रक्रिया को निस्सन्देह उभारा, जो 'त्यागपत्र' (१९३७), 'शेखर' (१९४०), 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' और 'दादा कामरेड' (१९४१) में क्रमशः बलवती होती हुई, हिन्दी उपन्यास में युगान्तर लाने में सफल हुई। इन कृतियों का प्रकाशन हिन्दी उपन्यास के एक नए दौर की शुरुआत थी, ठीक उसी तरह जैसे 'गोदान' का प्रकाशन और प्रेमचन्द की—और होरी की भी—मृत्यु एक दौर के पूरे होने की सूचना थी। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि अगले दौर में अक्सर पिछला दौर भी प्रतिबिम्बित होता रहा। कौन नहीं जानता कि पुरानी आदतें देर से छूटती हैं। इसलिए, यहाँ प्रेमचन्द युग की 'आदतों' की थोड़ी चर्चा करना अनुचित न समझा जाएगा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कथावस्तु के स्वरूप और लक्ष्य के अनुसार प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासों के जो भेद किए हैं, उन पर एक निगाह डाल लेना चाहिए—

१. घटना वैचित्र्यप्रधान अर्थात् कुतूहलजनक, जैसे, जासूसी, वैज्ञानिक आविष्कारों

---

१. आलोचना, उपन्यास विशेषांक, लक्ष्मीकान्त वर्मा का लेख, पृष्ठ ९१

२. आलोचना—उपन्यास विशेषांक—श्री शिवनाथ का लेख, पृ० ११५

का चमत्कार दिखाने वाले। इनमें साहित्य का गुण अत्यन्त अल्प होता है—केवल इतना ही होता है कि ये और कुतूहल जगाते हैं।

२. मनुष्य के अनेक पारस्परिक सम्बन्धों की मार्मिकता पर प्रधान लक्ष्य रखनेवाले, जैसे प्रेमचन्द जी का सेवासदन, निर्मला, गोदान, विश्वम्भरनाथ कौशिक का माँ, भिखारिणी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव का विदा, विकास, विजय, चतुरसेन शास्त्री का हृदय की प्यास।

३. समाज के भिन्न वर्गों की पारस्परिक और उनके संस्कार चित्रित करने वाले, जैसे प्रेमचन्द जी का रंगभूमि, कर्मभूमि, प्रसाद जी का कंकाल, तितली।

४. अन्तर्वृत्ति अथवा शील वैचित्र्य और उसका विकास-क्रम अंकित करने वाले, जैसे प्रेमचन्द जी का ग़बन, जैनेन्द्र कुमार का तपोभूमि, सुनीता।

५. भिन्न-भिन्न जातियों और मतानुयायियों के बीच मनुष्यता के व्यापक सम्बन्ध पर जोर देने वाले, जैसे राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का राम-रहीम।

६. समाज के पाखण्डपूर्ण कुत्सित वृत्तियों का उद्‌घाटन करने वाले—जैसे पाण्डेय-बेचन शर्मा उग्र का दिल्ली का दलाल, सरकार तुम्हारी आँखों में, बुधुवा की बेटी।

७. बाह्य और आभ्यान्तर प्रकृति की रमणीकता का समन्वित रूप में चित्रण करने वाले सुन्दर और अलंकृतपद विन्यासयुक्त उपन्यास, जैसे स्वर्गीय चण्डी प्रसाद हृदयेश का मंगल प्रभात।[1]

शुक्ल जी द्वारा बताए गए ये भेद अपनी जगह ठीक हैं। इसी के साथ-साथ कुछ और भेद-प्रभेद कला शिल्प, चरित्रांकन, रचना उद्देश्य, भाषा आदि को आधार बनाकर किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए रचना-उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार के कथानक निर्धारित किए जा सकते हैं। "१—शिक्षानीति २—मनोरंजन ३—कुरीतिनिवारण अथवा समाज सुधार ४—मनोविश्लेषणात्मक ५—आंचलिक चित्रण ६—हास्य"[2]।

इसी प्रकार शैली-शिल्प की दृष्टि से भी वर्णनात्मक, आत्मचरितात्मक, पत्रात्मक, फ्लैश बैक, भावात्मक, नाटकीय विश्लेषणात्मक आदि बीसियों प्रभेद किए जा सकते हैं। इन सबके उदाहरण तत्कालीन उपन्यास में मिल भी जायेंगे।

जो भी हो, मुख्य बात यह है कि इस युग के उपन्यास अधिकांशतः सामाजिक विषयों और समस्याओं से सम्बद्ध रहे। इसे हम उस युग का यथार्थबोध कहना चाहेंगे। उन लेखकों के लिए यथार्थ का मतलब था सामाजिक यथार्थ और सामाजिक यथार्थ का मतलब था, उसे राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में देखना। इसीलिए उस समय की आर्थिक समस्याओं और राजनीतिक आन्दोलनों की साफ़ तस्वीर इन उपन्यासों में देखी जा सकती है। भूमि की उपज या आमदनी पर निर्भर रहने वाले खेतिहार, मज़दूर और जमींदार वर्गों का चित्रण इस युग की उपन्यासों की बड़ी भारी विशेषता है। जमीन और गाँव को आधार बनाकर इतने

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृ० ५४१-५४२

२. हिन्दी साहित्य में कथाशिल्प का विकास—प्रतापनारायण टण्डन, पृ० १६

अधिक उपन्यास इस युग में लिखे गये कि आश्चर्य होता है। अंग्रेज़ी सत्ता तथा विदेशी व्यापार को प्रश्रय देने वाले विशेषत: नगर के दूकानदार, व्यवसायी, बाबू, सूदख़ोर महाजन और पूँजीपति वर्गों को भी प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों ने नहीं छोड़ा। विदेशी सत्ता को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से पुष्ट करने वाले पंडे-पुरोहित, पुलिस, पटवारी, अफ़सर इस युग के उपन्यासों में जगह-जगह मिलते हैं और उन हथकण्डों के परिणाम; वेश्याएँ, कर्जदार, भूमिहीन खेतिहर मज़दूर, अनाथ और भिखारी भी कम नहीं हैं। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, छुआछूत समस्या, आर्थिक असमानता और गाँव नगर की बढ़ती हुई दूरी का चित्रण उपन्यासकारों की इस जानकारी का प्रमाण है कि विदेशी महाप्रभुओं की कूटनीति इनको तीव्रतर बनाने में संलग्न है। अंग्रेज़ी राज्य को मजबूत करने वाली ताकतें, समाज की ठेकेदारी हथियाकर सुधार संस्थाओं को, विधवाश्रमों, सेवासदनों और अनाथालयों को—चकलों और भिक्षालयों का रूप दे रही हैं। प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासकार इन बातों से भली-भाँति परिचित हैं। सम्भव है कि यह परिचय का आधार गहरी बौद्धिकता न होकर उनका सहज ज्ञान हो। यह भी सम्भव है कि उनकी भाषा अनगढ़ तथा शिल्प अटपटा हो लेकिन उनकी दृष्टि की निर्मलता पर अविश्वास नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर, इन उपन्यासों में समाज का निम्नवर्ग और मध्यवर्ग का चित्रण अधिक हुआ; उच्च वर्ग प्राय: लेखकों के व्यंग्य और उपहास का ही विषय बना। स्वदेशी तथा असहयोग आन्दोलनों के प्रभाव में रचित इस साहित्य से अपेक्षित भी यही था। युगीन समस्याओं से उलझे रहने के कारण ही इस अवधि में इससे पहले तथा बाद की तुलना में कहीं कम ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये।

पारिवारिक स्तर पर इस युग के उपन्यासों ने मुख्यत: संयुक्त पारिवार के विघटन, विवाह और नारी को अपना विषय बनाया। परिवार के विघटन का मूलकारण आर्थिक है, यद्यपि वह कभी-कभी मतभेद, विद्रोह या वहिष्कार के रूप में भी व्यक्त होता है, लेकिन संयुक्त परिवार के विघटन से ही समस्या नहीं सुलझती। परिवार तो अब भी शेष है, और उसके मूल में हैं विवाह। अधिकांश प्रेमचन्द्रयुगीन उपन्यासकारों के लिए विवाह का अर्थ है अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, बाल विवाह और उससे सम्बद्ध समस्याएँ हैं : दहेज, दासता-कलह, विद्रोह, विधवा तथा वेश्या। प्रेमचन्द युग के उपन्यास वैवाहिक समस्याओं और उनके अप्रत्यक्ष परिणाम वेश्यागमन या वेश्याजीवन के चित्रण से भरे पड़े हैं।

फलत: व्यक्ति के स्तर पर, ये उपन्यासकार हमारा ध्यान पहले तो पत्नी की समस्याओं की ओर आकर्षित करते हैं, जहाँ, द्वन्द्व आदर्शनिष्ठा या पतिपरायणता और आधुनिकता या स्वतन्त्र चेतना के बीच है। साथ ही, वे यह प्रश्न भी उठाते हैं कि पत्नी की जगह क्या सिर्फ घर में है या बाहर भी। यह बाहर क्या वेश्यालय है और क्या पत्नी के अतिरिक्त नारी का कोई दूसरा रूप समाज में नहीं हो सकता।

जाहिर है कि प्रेम, स्वच्छन्द प्रेम और अवैध प्रेम की समस्याएँ इसी विन्दु से प्रारम्भ होती है और युग के उपन्यासकारों ने इन पर अपने ढंग से विचार किया। कहना न होगा कि

वह ढंग विद्रोह और समझौते अथवा यथार्थ और आदर्श का एक मिला-जुला ढंग है। उसमें शायद बाद के उपन्यासकारों की सी मनोविश्लेषणात्मक गहराई, बौद्धिक चेतना या कलात्मक दक्षता नहीं हैं। पर अपने समय के भारत की, और हम समझते हैं, किन्हीं अंशों में आज भारत की भी सादी, साफ और यथार्थ झलक जरूर है। उस झलक को हम प्रेमचन्द्र युग के किसी एक 'ढंग' या 'मुद्रा' तक सीमित न करें, बल्कि उसे समग्रता में देखने की कोशिश करें। तभी हम प्रेमचन्द की या प्रेमचन्द युग की परम्परा को ठीक-ठीक आत्मसात् कर सकेंगे।

उपन्यास : प्रेमचन्दोत्तर युग

प्रेमचन्द को मील का पत्थर मानकर जब हम हिन्दी उपन्यास के विविध आयामों को नापने की तैयारो करने लगते हैं तो सहसा ही उसके औचित्य-अनौचित्य का प्रश्न हमारे मन में उठता है, खासकर उन दूरियों के सम्बन्ध में जो उसके इर्द-गिर्द अथवा पीछे नहीं छूट गई हैं बल्कि आगे बहुत दूर चलकर कई रास्तों और पगडंडियों में बँट गई हैं। सन् १९३६ का वर्ष इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उस वर्ष प्रेमचन्द की मृत्यु हुई, यह घटना तो केवल संयोग से एक धुरी बन गई है। सच्चाई यह है, कि, इसी वर्ष के आसपास हिन्दी उपन्यासों में गहराइयों और बारीकियों की खोज आरम्भ हो जाती है और व्यापक आयाम के उपन्यास-आदर्शों की काल्पनिक ऊँचाइयों से उतर कर यथार्थ के ठोस धरातल की ओर अग्रसर होने लगते हैं। कहा जाता है कि बहिरंग संसार की चप्पा-चप्पा भूमि प्रेमचन्द ने छान ली थी इसलिए उनके बाद के उपन्यासकारों के लिए कुछ कहने को शेष नहीं रह गया। परन्तु, प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यासकारों की भूमि का पार्थक्य और अलगाव प्रेमचन्द की सिद्धि की चरमता का द्योतक उतना नहीं है जितना उस परिवर्तित युगीन पृष्ठभूमि का जिस पर नये लेखक खड़े हुए। ये युवक क्राँन्तियों, फांसियों, गोलियों और कारावास-दण्डों के बीच पले और बढ़े। रूसी-क्रान्ति उनके लिए आदर्श बन गई, भगतसिंह के मार्ग ने उनकी विचार-दृष्टि को प्रशस्त किया और सच्चाई का आग्रह उन्हें आदर्शों से नीचे यथार्थ की भूमि पर उतार लाया। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क सभी ने अपनी-अपनी निगाहों और अपने-अपने ढंग से उस युग की शक्तियों और सीमाओं को झेला और लिखा। इन तथ्यों को ध्यान में न रख कर प्रायः यह कह दिया जाता है कि प्रेमचन्द के बाद सच्ची समाजोन्मुखता समाप्त हो गई और युग की निराशा के कारण लेखक अन्तर्मुखी हो गए।

प्रेमचन्द के समय में ही मानव-चरित्र के विश्लेषण-व्याख्यान के लिए मनोवैज्ञानिक स्पर्श दिए जाने लगे थे। पर उसका रूप प्रायः सतही था और कभी-कभी ही उसकी झलक मिल पाती थी। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने उपन्यास को अन्तर्मुखी मोड़ दिया और वे मन की गहराइयों में उतरे। परन्तु वहाँ भी जैसे युगीन चेतना क्रान्तिकारी पात्रों की छाया में विद्यमान है। यह बात दूसरी है कि एक ने अभुक्त स्थितियों और पात्रों को औरतों के आंचल में छिपा कर उन पर दर्शन का झिलमिला आच्छादन डाल दिया और दूसरे ने भुक्तभोगी की संवेदना और व्यथाओं को संवारा-संजोया। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि प्रेमचन्द के बाद का उपन्यास विस्तार और व्यापकता को तिलांजलि देकर गहराइयों में नहीं उतरा बल्कि बदलते हुए जीवन और परिवेश की नई भूमि तोड़ने के प्रयास में उस युग के लेखक उभरे।

अनेक आयामी उपन्यासों की यह परम्परा युग के विभिन्न उतारों-चढ़ावों, रुग्णताओं और परिष्कारों के बीच से गुजरती हुई आज भी महत्त्वपूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है ।

राजनीतिक-सामाजिक उपन्यासों के विभिन्न उतार चढ़ाव—(सन् १९३६ से ६६ तक)

(क) प्रेमचन्द-परम्परा का अवशेष

गाँधी युग की व्यापक और अनुशासित राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति प्रेमचन्द और उनके समसामयिक लेखकों के साहित्य में हुई । उस युग के साहित्य की मूल प्रेरणा जागृतिमूलक, राजनीतिक और सांस्कृतिक है और उसके भीतर विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ उतरी हैं, इसीलिए इन उपन्यासों की आत्मा महाकाव्यात्मक है । उनके पात्रों में राष्ट्रीयता के उदात्त तत्त्वों को वहन करने की सामर्थ्य है, तथा राष्ट्रीय महत्त्व के उदात्त कार्य-व्यापारों को यहाँ जीवन की सहज-स्थितियों में से ही बारीकी के साथ उभारा गया है । आवश्यकता-नुसार उनमें जातीय आचार-व्यवहार, परन्तु और परम्पराओं का चित्रण समग्र दृष्टि से हुआ है । जिस प्रकार सन् १९३६ के बाद हिन्दी-कविता में वैयक्तिक तथा समाजवादी दृष्टि ने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक और छायावादी कविता को स्थानापन्न किया, उसी प्रकार प्रेमचन्दयुगीन व्यापक दृष्टि का स्थान भी वैयक्तिक गहराइयों में उतरने वाले मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों तथा मार्क्स प्रेरित समाजवादी उपन्यासों ने ले लिया । प्रेमचन्दयुगीन आदर्शोन्मुखी चेतना का अवशेष भी कुछ लेखकों में दिखाई पड़ता है, लेकिन ये वे लेखक हैं जो बदलती हुई जिन्दगी के नये यथार्थों के साथ आधारभूत समन्वय नहीं कर सके हैं और प्रेमचन्दयुगीन मिट्टी में उगे हुये बिरवों से मोहवश लिपटे हुये हैं, इस बात से बेखबर कि मिट्टी में नये रासायनिक तत्त्वों के मिश्रण के कारण या तो पुराने बिरवे मुरझा जायेंगे अथवा उन्हें अनुपयोगी और पिछड़ा हुआ समझ कर काट दिया जाएगा । आदर्श, आस्था और चिन्तन की पुरानी बागडोर सम्हाले वे अपने कृतित्व-रथ को समय की तेज़ रफ़्तार के प्रति निरपेक्ष धीरे-धीरे चलाते रहे । इस परम्परा के अवशेष को जीवित रखने वाले मुख्य उपन्यासकार हैं, भगवती प्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण-श्रीवास्तव और सियारामशरण गुप्त । प्रथम दो लेखकों की अधिकांश कृतियाँ व्यापक परिवेश पर आधृत हैं । प्रेमचन्द की तरह ही उनका ध्यान मुख्य घटनाओं पर केन्द्रित है और उनके संयोजन में आकस्मिकता का मोह भी वे नहीं छोड़ सके हैं । प्रेमचन्दयुगीन पात्रों का सम्बन्ध प्रायः आदर्शों से जुड़ा रहा, उनके अनुकूल या प्रतिकूल अन्तर्द्वन्द्व उनमें नहीं है और न पात्रों की परिस्थितियों और उनके व्यक्तित्व में द्वन्द्व अथवा द्विविधा है । गोदान में प्रेमचन्द इन सीमाओं से बाहर आये थे और परिस्थितियों के बीच अन्तर्मन को उभारा था । उनके उत्तराधिकारियों ने वह सूत्र यहीं से ग्रहण किया और इस बात के लिए जागरुक हो गए कि उनके पात्र मात्र आदर्शों में ही नहीं यथार्थ में भी ढले और बने । भगवती प्रसाद वाजपेयी ने भी अपने पात्रों को 'टाइप' के घेरे से निकाला परन्तु आदर्शोन्मुखता के प्रति अपनी ज़िद के कारण उनके पात्र खुले मन के विद्रोही नहीं बन सके । उपन्यास में पात्रों की संख्या कम हुई और आत्महत्या

अथवा मृत्यु के द्वारा उन्हें हटाने की प्रवृत्ति भी घटी। फिर भी ये पात्र अधिकतर ध्येयोन्मुखी आदर्शों की डोरी से बँधे हुए हैं। सफर के साथी की तरह वे अनुभूतियों के अस्थायी क्षण दे जाते हैं, जीवनसंगी की तरह रम नहीं पाते। पात्रों के चरित्र के सूत्र उपन्यासकार कठपुतलियों के नट की तरह अपनी उँगलियों में अटकाये रहता है, इसलिए इनके पात्रों में गहराई और जीवनानुभूतियों का अभाव है। आत्म-परीक्षण और विश्लेषण के क्षण वहाँ प्रायः नहीं हैं। उनके पात्र कर्ता अधिक हैं द्रष्टा कम। जहाँ इनके पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व और चिन्तन है वहाँ उनकी विवशता, घृणा, अवसाद और पीड़ा आदि का प्रत्यक्षीकरण है। परन्तु उद्देश्य की प्रधानता के कारण लेखक पुण्यों, आदर्शों और नैतिकता की सराहना करता चलता है समाज और व्यक्ति की टक्कर भी इन उपन्यासों में प्रायः नहीं है। प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी होने के नाते कर्त्तव्यशीलता और मानवतावादी दृष्टि उन्हें विरासत में मिली है, जिसका हनन नहीं हो सकता चाहे व्यक्तित्व टूट कर बिखर जाए। इन तीनों ही उपन्यासकारों ने मानव की अनेकरूपताओं में से कुछ विशिष्टताओं को चुन कर पात्रों के व्यक्तित्व में उनका समावेश किया है परन्तु वे विशिष्टताएँ व्यक्ति की आत्मिक शक्ति का परिचय देने के लिए मन की तहों से सम्बद्ध न होकर वाह्यात्मक हैं।

गाँधीवाद के प्रभाव के कारण इन उपन्यासों में भी शिव और मंगल तत्त्व की प्रधानता है और विद्रोह के तत्त्वों का स्पर्श मात्र है। प्राचीनता और नवीनता के प्रश्न को लेकर उनकी दृष्टि सामंजस्यवादी है। परन्तु उस समय ही नैतिकता सम्बन्धी अनेक प्रश्न वैयक्तिक स्तर पर नये रूप ग्रहण करने लगे थे। द्वितीय विश्वयुद्ध ने अनेक सामाजिक आर्थिक-विषमताओं को जन्म दिया, बेकारी, भुखमरी और अनैतिक व्यापारों की असंख्य निर्मम परिस्थितियाँ जनता को झेलनी पड़ीं जिनके कारण यथार्थ की नग्न विभीषिका का उस युग की आदर्शपरक भावना के ऊपर हावी हो जाना स्वाभाविक था पर गाँधी के अदम्य प्रभाव ने अपनी सीमा को आक्रान्त नहीं होने दिया। फिर भी वैयक्तिक स्तर पर ये लेखक प्रेमचन्द के मार्ग से अलग चले। प्रेमचन्द के पात्र प्रेम की असार्थकता और असफलता में से उन्नयन का मार्ग निकाल लेते थे, आगे आई हुई स्थितियों में ऐसा सम्भव नहीं था इसलिए वैयक्तिक नैतिकता के सामने एक साथ कई प्रश्नचिह्न लग गए। ये सभी लेखक इस ओर से अपनी आँखें नहीं मूँदे रहे। उन्होंने इस अलग स्तर को सुना और समझा पर समाज से विद्रोह का मार्ग उन्होंने नहीं ग्रहण किया—वे प्रवृत्ति से लड़ते हुये उसका समाधान खोजने में ही व्यस्त रहे, उनकी दृष्टि ध्वंसोन्मुखी न होकर आस्थावादी ही रही। इस परम्परा के प्रथम लेखक हैं, प्रतापनारायण श्रीवास्तव। वे अपने युग की नई प्रवृत्तियों और परम्पराओं के प्रति जागरूक हैं। गाँधीवाद उनकी दृष्टि में प्रजातन्त्रवाद और साम्यवाद के बीच का सेतु है, जिसमें दोनों मतवादों के शोषक तत्त्वों का निराकरण और सात्विक तत्त्वों की प्रतिष्ठा की गई है परहित और अद्वैत के मार्ग पर चलते हुए मानव को समर्पित आयु उनकी दृष्टि में सार्थक है उनका ध्येय समाजोन्मुखी है परन्तु उनके पात्रों में हिंसा और प्रतिरोध का भाव नहीं है। प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुखता उन्हें विरासत में मिली है इसलिए उनके पात्र या तो रातोरात सुधर जाते हैं या रंगमंच से हटा दिए जाते हैं। गाँधीवादी अन्तश्चेतनामूलक क्रान्ति उनका

जीवनादर्श है। उनके कथानकों का आधारफलक बृहत् है और उस पर बहुत रंगों से अनेक प्रकार के चित्र खींचे गए हैं। उनकी अधिकांश कथाओं का केन्द्र बुर्जुआ, सम्मानित शिक्षित वर्ग है। उस वर्ग की खोखली, दृष्टि-विलासमयता देश-द्रोह और मर्यादाहीनता की झाँकी उपन्यासकार ने दिखाई हैं। उनके कथानक में अनेक कथासूत्र हैं जिनके एक-एक सूत्र का माइक्रोस्कोपिक अध्ययन किया गया है, जिनके द्वारा हर सूत्र की भीतरी गलन और सड़न के ऊपर का आच्छादन उतारा गया है। कथा आरम्भ और विकास की स्थितियों में से गुजरती हुई कौतूहल की सृष्टि करती है, उसकी प्रक्रिया में उलझाव और वक्रता रहती है, उनके पात्र लक्ष्मण रेखाओं में बंधे हुए हैं। देश की उग्र हलचलों, राजनीतिक घटनाओं और सामाजिक विकृतियों की पृष्ठभूमि में उनकी घटनाएँ और चरित्र उभारे गये हैं। उनका प्रथम उपन्यास विदा १९२७ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद के सभी उपन्यास इस लेख की काल सीमा में आते हैं। पता नहीं, संयोगवश हुआ है अथवा सायास कि उनके सभी उपन्यासों के नाम 'व' अक्षर से आरम्भ होते हैं :—उनका उल्लेख इस प्रकार है। विजय, विकास, विसर्जन, व्यालीस, बेकसी का मजार, विषमुखी, वेदना, विश्वास की वेदी पर, वन्दना, वंचना, विनाश के बादल इत्यादि।

इस परम्परा के दूसरे लेखक हैं, सियारामशरण गुप्त। गोद, अन्तिम आकांक्षा और नारी उनके छोटे-छोटे तीन उपन्यास हैं। इन तीनों पर ही युग की बदलती हुई प्रवृत्तियों और मनोविज्ञान का प्रभाव मिलता है। उनकी दृष्टि में विरोध असंगति और निषेध का अभाव है उन्होंने जीवन को झकझोर देने वाली स्थितियों का सहज और ऋजु चित्रण किया है, जिनमें नैतिक और मंगल तत्त्व प्रधान हैं। चिन्तन और व्यवहार दोनों में गाँधीवादी थे। इसलिए व्यक्तिवादिता के लिए उनके उपन्यासों में भी स्थान नहीं था। उनकी रचनाओं का फोकस चाहे व्यक्ति पर हो पर उनका ध्येय समाजोन्मुखी है। उसमें घृणा, प्रतिहिंसा का स्थान कहीं नहीं है। प्रेमचन्द ने अपने अधिकांश असद् पात्रों को विकृतियों से मुक्ति देकर उन्हें सद् बनाया है जबकि सियारामशरण गुप्त ने परिस्थितिजन्य विकृतियों के घने काले बादलों के बीच सत् के आलोक को सजाया है ? इस ध्येयोन्मुखता के साथ कि मनुष्य मूलतः अच्छा है परिस्थितियाँ उसे बुरा बना देती हैं। उनके उपन्यासों का 'कैनवस' बहुत छोटा है। उनके कथानकों और पात्रों के विषय में कहा गया है कि वे 'छोटी सी कुटिया' में पतली सी दीपशिखा के प्रकाश की तरह आलोकित हैं। उनमें एक पात्र प्रधान है और कथानक के कई सूत्रों से अन्विति के उद्देश्य से ही अन्य पात्रों का अवतरण हुआ है। उपन्यासों की गति धीमी है जिसके कारण कथा में ठहराव आता है पर यही ठहराव कथानक के विभिन्न सूत्रों को जोड़ता है। इसी अन्विति पर आधृत कलात्मक परिणति ही उनके उपन्यासों की प्राण हैं। उनके पात्र आधुनिकता में काफी पीछे हैं। उनमें उलझाव, कृत्रिमता, और ऊहापोह नहीं है पर वे टाइप और प्रतिनिधि नहीं हैं। उनका व्यक्तित्व खुला हुआ पारदर्शी है जो उपन्यासकार की इस मान्यता को दृढ़ करते दिखाई देते हैं कि दैविक, यांत्रिक शक्तियों की झंझाओं और उत्पातों को झेलना और उनसे टक्कर लेना मनुष्य की नियति है।

प्रेमचन्द की औपन्यासिक परम्परा को आगे बढ़ाने वाले तीसरे लेखक हैं, भगवतीप्रसाद-

वाजपेयी। उन्होंने प्रेमचन्द के बाद के युग की आदर्शहीनता और असामाजिकता को अपने उपन्यासों में स्थान दिया है परन्तु वैयक्तिकता को अपनाते हुए भी सामाजिकता का ह्रास नहीं होने दिया है। उनकी जीवन दृष्टि में मानवतावाद की प्रधानता है। व्यक्ति को महत्त्व उनके लिए केवल समाज की इकाई के रूप में है। व्यक्तिवादी समस्याओं का केन्द्र अधिकतर प्रेम और सेक्स है परन्तु व्यक्ति-उन्मुखी होते हुए भी वे बौद्धिक नहीं हैं और न वे आदर्शों की स्थापना के लिए उत्सुक रहे हैं। अपनी औपन्यासिक दृष्टि का स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार किया है—"मैं सत्य के सौन्दर्य का पुजारी हूँ मधुर का नहीं। कटुसत्य में भी सत्य का दर्शन चिन्तन और मन्थन मैं करना और देखना चाहता हूँ। मैं आस्तिक तो हूँ पर ईश्वर में मेरी आस्था नहीं है। मेरा लक्ष्य उन मनोवैज्ञानिक क्षणों में उन असाधारण मनोवेगों को पकड़ना होता है जो हित या अहित की दिशा में बड़े वेग से प्रभावित करते हैं।" उन्होंने यौन-भावना का उदात्तीकरण भारतीय परम्परा की रक्षा करते हुए किया है। वे आदर्शवादिता का पल्ला पकड़े हुए नैतिकता के प्रति अनुदार दृष्टि को बदलने की कोशिश करते रहे हैं। उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में नैतिक मानों के निर्वाह का आग्रह प्रायः सर्वत्र है जिनमें मध्यवर्ग की समस्याओं की पृष्ठभूमि में सद्-असद् का विवेचन हुआ है। उनका कथाविधान प्रेमचन्दयुगीन है कथानक प्रायः द्विसूत्री है। बाद के उपन्यासों में मनोविश्लेषण तत्त्व का आधिक्य हो गया है कहीं-कहीं वही साध्य हो गया है। कामना और कामायनी की तरह कुछ उपन्यासों में व्यक्तियों के नाम भी वृत्तियों के प्रतीक रूप में रखे गए हैं। इन सभी उपन्यासों में नैतिक समस्याओं, सामाजिक सीमाओं और शक्तियों तथा अन्य ज्वलन्त मान्यताओं और आदर्शों का समावेश हुआ है। बंधी-बंधाई रूपरेखाओं में उनके पात्र चलते-फिरते हैं, उनके दर्जनों उपन्यासों में से मुख्य हैं, पतिता की साधना, पिपासा, चलते-चलते, पतवार, यथार्थ से आगे, हिल्लोर, उतार-चढ़ाव, निमंत्रण, गुप्तधन, सूनीराह, विश्वास का बल, रात और प्रभात, उनसे न कहना, मनुष्य और-देवता, भूदान, एक प्रश्न, पाषाण की लोच, दरार और धुंआ, सपना बिक गया, टूटा टी सेट, चंदन और पानी, टूटते बन्धन।

आधारफलक की व्यापकता और शैली की दृष्टि से गुरुदत्त के उपन्यासों को भी इस परम्परा में रखा जा सकता है। गुरुदत्त के उपन्यासों में गाँधीवादी राजनीति के स्थान पर जनसंघी-महासभाई दृष्टिकोण को स्वर मिला है—जैसे उनके विचार प्रगति से विमुख हैं वैसे—ही वे रूढ़िवादी कथाकार भी हैं। उनके विचार से आज की परिस्थितियों में हिन्दू धर्म-भीरु हो गया है और हिन्दू संस्कृति के उन्मूलन के अनेक उपकरण एकत्र हो गए हैं, हिन्दू शास्त्रों और पुराणों में ही वे प्रगति के अनेक तत्त्व निहित मानते हैं। उनके अनुसार कम्युनिस्ट दर्शन की प्रगतिवादिता हिन्दू दृष्टि से अधिक प्रगतिवादी नहीं हैं। वे परलोकवाद, कर्म मीमांसा, पुरोहितवाद द्वारा अनेक समस्याओं का समाधान दे सकते हैं। उन्होंने नैतिक प्रश्नों को वैयक्तिक स्तर पर भी लिया है। सेक्स और प्रेम की समस्याओं से उत्पन्न कुण्ठाओं, वर्जनाओं और मुक्तियों का चित्रण भी उन्होंने खुले रूप किया है। उनका कथाविधान प्रेमचन्द के अनुकरण पर चलता है, पर उसमें संगठन का अभाव है। अनेक प्रासंगिक कथाएँ कुतूहल और भराव के लिए हैं, व्यक्तित्व एक साँचे में ढले हुए वैविध्य और संघर्षहीन हैं। भाषा में पंजाबीपन तथा

तोड़-मरोड़ है, उनकी दृष्टि पूर्वाग्रही और अनुदार है। उनके उपन्यासों में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—भावुकता का मूल्य, प्रवंचना, धरती और धन, विडम्बना, गुण्ठन, विलोम गति, वाम मार्ग, जीवन-ज्वार, न्यायाधिकरण। गोविन्दवल्लभ पन्त के प्रमुख उपन्यास हैं—जूनिया, अमिताभ, एकसूत्र, मुक्ति के बन्धन; तारों के सपने, फारगेट मी नाट। राधिकारमण प्रसाद सिंह भी प्रेमचन्दयुगीन संवेदना और शैली को प्रचार-प्रसार देने में समर्थ उपन्यासकार हैं। उनके मुख्य उपन्यास हैं—रामरहीम, सावनीसमा, टूटा तारा, गांधीटोपी, सूरदास, चुम्बन और काँटा, पुरुष और नारी, पूरब और पश्चिम।

एक परम्परागत दृष्टि के बावजूद इन सभी उपन्यासकारों ने अपने युग की बदलती हुई सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितयों का आकलन किया है और उसी आधार-भूमि पर उस युग के व्यक्ति के उठते-गिरते मूल्यों, बदलते परिवेशों को अपने पूर्व निर्धारित दृष्टिकोणों को यथावश्यकता परिवर्तित करते हुए चित्रित किया है, परन्तु इस परम्परा के लेखकों में अब उतनी ऊर्जा और शक्ति नहीं रह गई थी कि वे बदलती हुई परिस्थितियों के उतारों और चढ़ावों के झोंकों को सम्हाल सकें, इसीलिए ये लेखक युग के प्रभावों को समग्रतः पकड़ने में असमर्थ रहे।

(ख) सामाजिक बोध का कड़ा धरातल और गहरी खोदाई

साहित्य में पूर्वनिर्धारित दृष्टियों की युगानुकूल काट-छांट एक अनिवार्यता है जो परम्परांओं के प्रति विद्रोही युवक अपने साथ लाते हैं, प्रेमचन्द के तत्काल बाद यह विद्रोहात्मक प्रति-क्रिया यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और अमृतलाल नागर जैसे लेखकों के उप-न्यासों में हुई। इन उपन्यासकारों के लिए युगीन चेतना का अर्थ आये दिन की घटनाओं और स्थितियों का वर्णन मात्र नहीं रह गया, बल्कि युग की परिस्थितियों के प्रति उनकी गहरी और तीव्र प्रतिक्रियायें उनके उपन्यासों के कथ्य और पात्रों के चरित्र में अनिवार्यतः निहित रहने लगीं, उनकी सामयिकता जीवन के सतही विस्तार से सम्बद्ध न रह कर जीवन के बहि-र्मुखी तत्त्वों के प्रति गहन सूक्ष्म और सच्ची प्रतिक्रियाओं में से उभरी। इन लेखकों ने यथार्थ की वृहत् भूमियों का उद्‌घाटन किया और विभिन्न सामाजिक भूमियों पर यथार्थ से सीधा और अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ा। प्रेमचन्द और उनकी परम्परा के लेखकों ने सामाजिक यथार्थ के परिवेश में आदर्शपरक दृष्टि का विकास किया था। उपयोगितावाद और सुधारवाद की प्रधा-नता के कारण उनमें सूक्ष्म आदर्शों का पुट है और उनकी दृष्टि लक्ष्यवादी और आदर्शवादी है। उनके पात्रों और कथावस्तु की योजना भी आदर्शों-सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में हुई है, परन्तु इस युग के लेखकों की रचनाओं में यथार्थ आदर्श पर हावी हो गया, और उन्होंने निम्नवर्ग और मध्यवर्ग के दलित वंचित व्यक्तियों वर्गों और समूहों को अपना विषय बनाया और समाज की अदालत के सामने उनकी हिमायत और वकालत की। इन उपन्यासकारों ने सामाजिक विधि-निषेधों कुरीतियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाई। आश्रम और सदन खुलवा कर समस्याओं का समाधान उन्होंने नहीं किया उनका काम केवल प्रश्न उठाना और उसको खोलकर स्पष्ट करना था—काल्पनिक निराकरण खोजने अथवा हल देने के स्थान पर प्रश्न को जोर से उठाकर उसके समाधान अथवा उलझाव की संभावनाओं को ओर इंगित कर

देना ही इनका कर्त्तव्य-कर्म रहा। इस प्रकार युग की राजनीतिक चेतना सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख हुई। इन सभी लेखकों ने यथार्थोन्मुखी सामाजिक दृष्टि के बदलते हुए सन्दर्भों में अपने-अपने ढंग से आगे बढ़ाया और आदर्श की कलई धोकर कड़वी, बदसूरत सच्चाइयों को उभारा। उनकी सामाजिक दृष्टि प्रेमचन्द से भिन्न है, उसका एक नया बौद्धिक आधार है जो व्यापकता में प्रेमचन्द से कम है, गहराई और प्रभावात्मकता में अधिक। वह वर्णनात्मक सर्वेक्षण न होकर तर्क और समस्याओं पर आधृत है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों का कथ्य मध्यवर्गीय समाज की द्वन्द्वात्मक स्थितियों से उभरा है। उन्होंने अनेक विद्रोहात्मक स्थितियों और पात्रों का चित्रण प्रखरता और गहराई से किया। मताग्रहों और बँधे हुए फॉरमूलों का आग्रह वहाँ नहीं है। उन्होंने अपने युग की विभिन्न सामाजिक विचारधाराओं का परीक्षण करके उन्हें तर्क की कसौटी पर कसकर तथा व्यक्तिगत अनुभवों से पुष्ट करके तटस्थभाव से उनके सम्बन्ध में निष्कर्ष दिए हैं। अपने औपन्यासिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण लेखक इस प्रकार करता है—'जो कुछ मैं लिखता हूँ तर्क करने को नहीं लिखता। मैं तो अपने उन निर्णयों को पेश करता हूँ जिन पर अपने उन तर्कों द्वारा पहुँचा हूँ जो अनुभवों और अनुभूतियों पर आश्रित हैं।' उनका दायरा प्रेमचन्द की अपेक्षा सीमित है। सामाजिक वैषम्यों और रूढ़ियों के कारण उत्पन्न समस्याएँ और कुण्ठाएँ उनके उपन्यासों का मूल कथ्य है। रूढ़ सामाजिक परम्पराओं के प्रति उनमें विद्रोह का भाव है, तथा उन्होंने जीवन की विभिन्न विरोधी स्थितियों के बीच मनुष्य को जाना-परखा है।

सन् १९३४ में उनका प्रसिद्ध उपन्यास चित्रलेखा प्रकाशित हुआ था। जिसमें नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना की समस्या को मनोवैज्ञानिक धरातल और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उठाया गया था। इसके बाद से अब तक उनके कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें तीन-वर्ष, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, आखिरी दाँव, भूले बिसरे चित्र, वह फिर नहीं आई, अपने-अपने खिलौने, सामर्थ्य और सीमा तथा रेखा मुख्य हैं। इन उपन्यासों में उनकी औपन्यासिक यात्रा की गति-विधि देखी जा सकती है। तीन वर्ष में प्रेम के आत्मिक और व्यायसायिक रूपों को कई पात्रों और विरोधी पर स्वाभाविक परिस्थितियों के बीच से उभारा गया है। टेढ़े-मेढ़े रास्ते में, अपने युग की भारतीय राजनीति के टेढ़े-मेढ़े रास्तों (गाँधीवाद, साम्यवाद और हिंसक क्रान्ति) का अध्ययन किया गया है। लेखक की दृष्टि सामान्यत: तो तटस्थ रही है पर थोड़ा-सा सुझाव गाँधीवाद की ओर अवश्य हो गया है। आखिरी दाँव की कोई अपनी विशिष्टता नहीं है। उसकी विचार भूमि—अर्थसत्ता और मानवता के संघर्ष पर टिकी है। यथास्थान अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण भी हुआ है पर उसमें गहराई और प्रौढ़ता नहीं आ पाई है। भूले बिसरे चित्र में सन् १८८५ से १९३० का युग पृष्ठभूमि में है। गॉल्र्सवर्दी के मैन ऑफ प्रापर्टी की तरह इसमें भी परिवार की चार पीढ़ियों के माध्यम से बदलते हुए मूल्यों और सन्दर्भों का चित्रण किया गया है। निश्चय ही इसमें सामाजिक विकास के विविध अवस्थानों और पक्षों का चित्रण है। सामाजिक चेतना ऐतिहासिक बोध इतनी विशदता और यथार्थता के साथ पहली बार चित्रित किया गया है। इसमें असाधारण तत्त्वों के नियोजन द्वारा वैचित्र्य में समावेश की चेष्टा नहीं की गई है। इसका आधारफलक व्यापक है और सारे सामाजिक इतिहास को समेटे हुए है।

इसे 'प्रेमचन्द के उपन्यासों का संशोधित और परिमार्जित' संस्करण कहा जा सकता है जिसमें विभिन्न कथा-प्रवाहों की अन्विति है और जिसके वैविध्य में एकत्व है। इसके पात्र समस्या निरूपण के माध्यम हैं और उनका व्यक्तित्व सामाजिक परिवेश में उभरा है। वर्मा-जी व्यक्तिवादी कलाकार नहीं हैं इसलिए उनके पात्र और समस्याएँ समाज से उभरती हैं। वे परिस्थितियों से हार कर भी अपने से नहीं हारते। इस उपन्यास की रचना बौद्धिकता और चिन्तन के ठोस आधार पर हुई है। इसके बाद के उपन्यासों से वर्मा जी 'लोकप्रिय' लेखक चाहे बन गए हों परन्तु उपलब्धियों की दृष्टि से वे बहुत ही साधारण हैं। रेखा की सेक्स सम्बन्धी स्थितियों को देख कर तो यही धारणा बनती है कि वयस्क लेखक यदि युवकों की समस्याओं पर न लिखें तो अच्छा है क्योंकि उनसे सम्बद्ध मानसिक बारीकियों की पकड़ उनकी क्षमता के बाहर हो जाती है।

वृहद् आयामी उपन्यासों के क्षेत्र में नई भूमि खोजने वाले दूसरे उपन्यासकार हैं, उपेन्द्रनाथ-अश्क। प्रेमचन्द के बाद व्यक्ति की समस्याएँ व्यक्तिवाद की पोशाक पहन कर आईं। आत्यंतिक वैयक्तिकता की स्वीकृति के कारण अब तक मानी जाने वाली मर्यादाओं और नैतिकता के प्रति विद्रोह हुआ। उपेन्द्रनाथ अश्क ने मध्यवर्गीय जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन किया। उन्होंने विभिन्न आर्थिक, मानसिक, सामाजिक तथा संस्कारगत समस्याओं को व्यापक सामाजिक परिवेश में देखा और व्यक्ति की नैतिक वर्जनाओं, मानसिक कुण्ठाओं और विकृतियों का चित्रण किया। उनका आदर्श जिन्दगी का यथार्थ है। 'जीवन कूड़े करकट, धुएँ, धुँध, गर्द, गुबार-कीचड़ दलदल से अटा पड़ा है। उसके बाहर की उलझनों का विस्तार अपरिमित है, उसके अन्तर में बेगिनती स्वर हैं, अंधेरी कन्दरायें हैं, जिनकी झाँकी मात्र कंपा देने को काफी है। इन्हीं स्वरों के यथार्थ का चित्रण उनका ध्येय है और अपने इस यथार्थवाद को वे आलोचनात्मक यथार्थवाद का नाम देते हैं। अश्क जी समाज के यथार्थ को उसके उभरेपन के साथ व्यक्त करते हुए व्यंग्य और हास्य के माध्यम से उसकी आलोचना करते हैं। प्रेमचन्द आदर्श आरोपित करते थे, अश्क तटस्थ हैं। काम और अर्थ इनके उपन्यासों की मूल प्रेरणा है। सच्चे प्रेम का प्रमाण आदर्श परिस्थितियों में नहीं यथार्थ की विषम स्थितियों में मिलता है। अश्क जी के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है जिन्दगी—शेष वस्तुएँ तो उसके उन्नयन की साधन मात्र हैं। उनके मुख्य उपन्यास हैं—सितारों के खेल, गिरती दीवारें, गर्म राख, बड़ी-बड़ी आखें, पत्थर अल पत्थर, शहर में घूमता-आईना। अश्क के साहित्य पर देश विदेश के अनेक साहित्यकारों का प्रभाव है, जिनमें मुख्य हैं—तुर्गनेव, गाल्सवर्दी, रोमांरोलां, वर्जीनिया वुल्फ़, शालोखोव और प्रेमचन्द। उन्होंने लिखा है 'मुझे तुर्गनेव का परिष्कृत चुलबुलापन और हास्य मिला, व्यंग्य गाल्सवर्दी का, छोटी-छोटी तफ़सीलों को उजागर करने वाला चरित्र चित्रण—रोमांरोलां के ज्यॉक्रिस्ताफ का फैशन-पैटर्न प्रेमचन्द की जगरूकता और शालोखोव के कथानक का ढीलापन।' प्रेमचन्द की व्यापकता और समग्रता के स्थान पर अश्क समग्रता में से चुनाव करते हैं। प्रेमचन्द व्यापकता को गहनता देते थे, अश्क गहनता को व्यापकता देते हैं।

इन तीनों उपन्यासकारों में प्रेमचन्द के सबसे निकट हैं, अमृतलाल नागर। उनकी संवेदना निश्चय ही प्रेमचन्द से भिन्न हैं, पर यह भिन्नता युगजन्य अधिक है प्रवृत्तिजन्य कम। नागर जी

ने व्यक्ति और समाज में समन्वय की दृष्टि अपनाई है। व्यक्ति और समाज की सापेक्षता में उन्हें अनेक समस्याओं के निराकरण का सूत्र दिखाई देता है। उनके कथ्य में मूल्यों का परम्परागत पिष्टपेषण नहीं है। वे सापेक्ष वस्तुस्थिति द्वारा मूल्यों के प्रति आस्था और विश्वास का बीजारोपण करते हैं। ऊपर से आदर्शों, सिद्धांतों और मूल्यों को लादने के बजाय मानवीय संवेदनाओं की खोज उनका उद्देश्य है। उनकी दृष्टि अति वैयक्तिकता और अति सामूहिकता के बीच कहीं है। उनके मुख्य उपन्यास हैं—कामरेड देवदास (अप्रकाशित १९३८), सेठ बांकेमल १९४१ में लिखित, ५६ में प्रकाशित। नामवर सिंह के शब्दों में 'पढ़िये तो सरशार का फ़िसान-ए-आज़ाद याद आये वही जिन्दादिली वही ताज़गी।' नागर जी व्यंग्य और विनोद के उस्ताद हैं। उनका तीसरा उपन्यास है, महाकाल जिसकी रचना सन्'४४ में हुई और प्रकाशित हुआ सन्'४६ में। इसमें बंगाल के अकाल की प्रामाणिक कहानी कही गई है। दुर्भिक्ष के दौरान में घटी हुई घटनाओं के आधार पर इसे लिखा गया है, जो अमानुषिक होते हुए भी यथार्थ है। पांचवाँ दस्ता एक लघु उपन्यास है जो साम्प्रदायिक और सामाजिक प्रश्नों को लेकर लिखा गया है। 'बूंद और समुद्र' में व्यक्ति और समाज के समन्वय के प्रश्न को मध्यवर्गीय चेतना के विविध स्तरों के प्रतीक पात्रों के माध्यम से सुलझाया गया है। उसका फलक विस्तृत है और इसमें शैली के उपकरणों का सायास समन्वय हुआ है। शतरंज के मोहरे तथा सुहाग के नूपुर नागर जी के ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें मानव की शाश्वत् समस्याओं का निरूपण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुआ है। उनका विवेचन ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रसंग में किया जाएगा। 'बूँद और समुद्र' के बाद अपने नये उपन्यास में उन्होंने सन् १९६२ के निर्वाचन और उसके निकट के देश काल को देखा परखा है। इस उपन्यास के माध्यम से ऐसा थर्मामीटर बनाने की कोशिश की गई है जिससे वह प्रथम राष्ट्रीय चुनाव से लेकर स्वतन्त्र भारत के तीसरे निर्वाचन तक की अगति-प्रगति को भली भाँति जान सके।

(ग) परम्परा की लीकें

राजनीतिक-सामाजिक फलक के उपन्यासों की परम्परा धीरे-धीरे रेंगती रही। राजनीतिक भूमि पर यशपाल ने मार्क्सवाद से अर्जित नई दृष्टि दी। उनके उपन्यासों का विवेचन समाजवादी उपन्यासों के अन्तर्गत किया जाएगा। प्रेमचन्द की परम्परा में जो अन्य उपन्यास लिखे गए वे अधिकतर इतिवृतात्मक है। न उनमें पात्रों के व्यक्तित्व की बारीकियाँ हैं और न समग्रता का उभार। विवरणों और तथ्यों के इतिवृत्तात्मक वर्णन से ही लेखकों ने सन्तोष कर लिया है। एक आकर्षक परिवर्तन चतुरसेन शास्त्री के गोली उपन्यास में मिलता है जिसमें रियासत विलय की घटना से उत्पन्न परिस्थितियों का मार्मिक और यथार्थ चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में सामयिक घटनाओं की पृष्ठभूमि के बावजूद ऐतिहासिकता की ध्वनि सर्वत्र विद्यमान है।

समसामयिक घटना पर आधृत दूसरा उपन्यास वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा लिखित अमरबेल है, जिसमें जमींदारी उन्मूलन के बाद बुन्देलखण्डी ग्रामों में लागू सहकारी कृषि और योजनाओं द्वारा समाज में फैली हुई अमरबेलों का नाश करना है जो कुप्रथाओं, दुराग्रहों और रूढ़ परम्पराओं के रूप में समाज और व्यक्ति को चूस रही हैं। वाह्य कार्यकलापों से भरे इस उपन्यास

में अन्वेषण-विश्लेषण का अभाव है।

मन्मथनाथ गुप्त यों तो प्रगतिवादी लेखक हैं पर उनके उपन्यासों में मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक भूमि का आग्रह नहीं है। उन्होंने समसामयिक परिस्थितियों की समस्याओं के आवरण में प्रस्तुत करके प्रगतिवादी ढंग से उनका मूल्यांकन किया है। सामूहिक प्रभाव उनमें प्रधान है। वैयक्तिकता की गौणता के कारण वह अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक हो गया है। उनके उपन्यासों में कथा-संयोजन का आधार बाह्य घटनाएँ हैं जिनका नियोजन एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हुआ है। गुप्त जी मनोविज्ञान की टेढ़ी मेढ़ी संकरी गलियों में नहीं भटकते, राजमार्ग पर चलते हैं, उनकी चारित्रिक रेखाएँ स्थूल हैं। अपने युग की विभिन्न समस्याओं की प्रेरणा से लिखे गये उनके मुख्य उपन्यास हैं, चक्की-गृह, युद्ध, दो दुनिया, बलि का बकरा, दुश्चरित्र, अंधेर नगरी, ज़िच, रैन अंधेरी, अपराजिता, रंगमंच, होटल डि ताज़।

विष्णुप्रभाकर के उपन्यास निशिकान्त सन् १९२० से १९३९ तक की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। कथानक सामाजिकता और सामूहिकता के बिन्दु पर आरम्भ होकर वैयक्तिक धरातल पर समाप्त हुआ है। उसके संगठन में बिखराब है। उनके दूसरे उपन्यास 'तट के बन्धन' में भी सामाजिक समस्याओं का वैयक्तिक पर्यवसान हुआ है। दहेज, जातिवाद, परम्परागत विवाहप्रथा इत्यादि जर्जर रूढ़ियों से उत्पन्न समस्याओं को उनमें ग्रहण किया गया है। इसमें मुख्य समस्या प्रेम और विवाह की है। उपन्यास में वृत्तों के कई सूत्र हैं, सुधारवादी दृष्टि की प्रधानता के कारण कहीं-कहीं कला-तत्त्व की उपेक्षा हो गई है। उदयशंकर भट्ट के उपन्यासों को भी इसी परम्परा में रखा जा सकता है। वह जो मैंने देखा, डा० शेफाली, लोक परलोक, शेष अशेष, दो अध्याय इस परम्परा के मुख्य उपन्यास हैं। भट्ट जी के उपन्यासों का स्वर मानवतावादी है। व्यक्तिगत स्तर की अन्तर्मुखता की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने मनोविज्ञान का सहारा लिया है। बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी तत्त्वों के संगठन में अन्विति नहीं है, एक बिखराब है, इस विन्यास में पैबन्दों की सिलाई-सफाई से नहीं हुई है।

(घ) समाजवादी उपन्यास (सन् १९३६-६६ तक)

प्रेमचन्द के बाद गांधीवादी राजनीतिक चेतना के स्थान पर हिन्दी साहित्य में मार्क्स-वादी चेतना की एक दम से बाढ़ आ गई। उपन्यास के क्षेत्र में यशपाल ने इसी चेतना से प्रेरित होकर सामाजिक याथार्थवाद की पृष्ठभूमि में व्यक्ति और समाज को नये युगीन परिप्रेक्ष्य में देखा और परखा। उनके उपन्यासों की घटनाएँ तथा पात्र मध्यवर्ग, निम्न मध्यवर्ग तथा निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। यशपाल ने वर्ग-संघर्ष, रूढ़िगत समाज-व्यवस्था, सामाजिक विसंगतियों और रूढ़ परम्पराओं पर आक्रमण तथा वर्गगत और जीवनगत समस्याओं का मूलकारण आर्थिक अव्यवस्थाओं और वैषम्यों में निहित माना। वे स्वयं एक क्रान्तिकारी थे, इस नाते उस युग के उनके अनुभव व्यापक भी थे और गहरे भी। उनके पास एक निर्भ्रान्त परन्तु मताग्रही दृष्टि थी जिसके अनुसार जीवन से ली गई कला ही कला थी। साहित्य और कला की गति पृथ्वी और सर्वसाधारण के समतल और समानान्तर दिशाओं में चलने और बढ़ने में है। 'हमारे यथार्थ का नग्न रूप, क्षुधा और कामजन्य चीत्कार है, वह श्रेणी-संघर्ष के बीच प्रकट होता है, वह जघन्य

चाहे हो पर हमारे समाज की वास्तविकता है। यशपाल ने अपने उपन्यासों में वर्ग संघर्ष की उभरती हुई चेतना को प्रस्तुत किया। उन्होंने समाज के खोखलेपन को उघाड़ा है और द्वैत तथ वैषम्य के विरुद्ध आवाज़ उठाई, जो वर्ग वैषम्य को बढ़ावा देता है और मानव-सम्बन्धों को जटिल कटु और तीखा बनाता है। उनके प्रमुख उपन्यास हैं—दादा कामरेड, देशद्रोही, पार्टी, कामरेड, मनुष्य के रूप और झूठा सच, दिव्या ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया साम्यवादी चेतना का उपन्यास है। देशद्रोही में वर्तमान समाज-व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त हुआ है। उसका आधार फलक विस्तृत और कथानक जटिल है। इन उपन्यासों में गांधीनीति और कांग्रेस की खुली आलोचना करके साम्यवाद का प्रतिपादन किया गया है और द्वितीय विश्वयुद्ध में भारतीय साम्यवादी दल की युद्ध-समर्थक नीति का स्पष्टीकरण करते हुए उसका औचित्य सिद्ध किया गया है। मनुष्य के रूप की सामाजिक भूमि अपेक्षाकृत विस्तृत है। उसमें मनुष्य के बदलते हुये रूपों के साथ आधुनिक जीवन से उत्पन्न समस्याओं की चीर फाड़ की गई है। उसकी जर्जर रूढ़िवादिता और पतनोन्मुखी जीवन के चित्र खींचे गए हैं। 'झूठा सच' मार्क्सवादी आग्रहों से आक्रान्त नहीं है इसलिए उसकी विवेचना यथास्थान की जाएगी।

मार्क्सवाद के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्षों को उपन्यासों में अभिव्यक्ति देने वाले दूसरे उपन्यासकार हैं, रांगेय राघव। उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन के स्तर पर समाजवादी चित्रण किया। कुछ उपन्यासों में भारतीय संस्कृति और इतिहास के विभिन्न युगों के आधार फलक पर तथा इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तित्वों के माध्यम से युग की गति और संघर्षों का चित्रण किया गया है। अन्तिम दो वर्गों के उपन्यासों का परिचय ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्गत दिया जा चुका है। मध्यवर्गीय जन पर आधृत उनके मुख्य उपन्यास हैं, विषाद-मठ, उबाल, पराया, और हुजूर। विषाद मठ में बंगाल के ककाल से कथानक ग्रहण किया गया है। राजनीतिक आक्रोश और पूँजीवादी व्यवस्था की दारुण नग्नता का चित्रण उसमें हुआ है और करुणा की एक आर्द्र छाया आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है। उबाल में आर्थिक वैषम्यों से उत्पन्न नारी की घुटन का वर्णन है। उसके जीवन की तपिश के विभिन्न स्रोतों और कारणों की खोज की गई है। 'पराया' में वर्ग-वैषम्य - वर्ग संघर्ष के साथ व्यक्तिवादी यौन समस्याओं से भी वस्तु ग्रहण की गई है। 'हुजूर' में वर्तमान जीवन के बीस वर्षों का चित्र है जिसकी कहानी कुत्ते के माध्यम से कही गई है। इसमें वर्तमान जीवन की कुत्सित स्थितियों के व्यंग्यपूर्ण सशक्त चित्र खींचे गए हैं।

अमृतराय के उपन्यासों में साम्यवादी सिद्धान्तों का खुला व्याख्यान हुआ है। सामाजिक यथार्थवाद से पोषित उनकी विचारधारा आर्थिक आधार के महत्त्व की स्थापना करती है। सिद्धान्तों की प्रधानता के कारण उनकी रचनाएँ संवेदनशील नहीं बन पाई हैं। उनके उपन्यासों में गांधीनीति की खुली निन्दा और साम्यवादी सिद्धान्तों का खुला प्रतिपादन हुआ है। उनके पात्र भी सिद्धान्तों पर जीने वाले कठपुतलियाँ हैं, न उनका अपना व्यक्तित्व है, न संवेदनशीलता। उनके प्रमुख उपन्यास हैं, बीज, हाथी के दांत और नागफनी का देश। ये सभी उपन्यास सैद्धान्तिक मतवाद से बोझिल हैं। भैरवप्रसाद गुप्त भी मार्क्सवादी सिद्धान्तों की स्थापना के मोह में फंस कर उसी में भटक गए हैं परन्तु औपन्यासिक कला-चेतना की ओर वे तथावत् जागरूक रहे हैं। सामाजिक चेतना के साथ ही व्यक्तिगत के अनेक पक्षों का विश्लेषण भी वे

सामर्थ्य के साथ कर सके हैं। उनके प्रमुख उपन्यास हैं, मशाल, गंगामैया, जंजीरें, नया आदमी और सत्ती मैया का चौरा।

इस परम्परा के उपन्यासों को सैद्धान्तिक और बौद्धिक मीनार से उतार कर जनता के बीच लाने का श्रेय नागार्जुन की प्रखर लेखनी और प्रामाणिक अनुभूति को है। नागार्जुन के उपन्यास अंचल-विशेष की पृष्ठभूमि में लिखे गए हैं, इसलिए उनके उपन्यासों को आंचलिक प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखा जाता है। परन्तु मेरा निर्भ्रान्त मत है, अब तक जो साम्यवादी चेतना साहित्य की बौद्धिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि ही बनाती रही है, मिथिला की समस्याओं और संघर्षों के चित्रण में नागार्जुन ने उन्हें जीवन का अंग बना दिया है। उनके पात्रों को अत्याचार सहने की आदत नहीं है। वे खुलकर सामाजिक विकृतियों और अत्याचारों के विरुद्ध झंडा खड़ा करते हैं। उनके उपन्यास यद्यपि समाजवादी सिद्धान्तों से आच्छादित हैं पर उनमें कोरी सैद्धान्तिकता ही नहीं, व्यावहारिकता भी है। उसमें वर्ग संघर्ष और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह है जो लोकभूमि पर खड़ी हैं। रतिनाथ की चाची में मैथिल गांवों का यथार्थ चित्रण है। कथावस्तु में पर्याप्त विस्तार मोड़ और उलझाव है। कुछ अप्रासंगिक कथ्यों में नग्नताओं और असंयत को उपन्यास में बचाया जा सकता था, परन्तु उनकी सार्थकता यह कि ये प्रसंग हमें सोचने को मजबूर करते हैं। नई पौध की मुख्य वस्तु सामाजिक है जिसमें लोक जीवन के तथ्य निहित हैं, कथा मैथिल जीवन की है। सैद्धान्तिक आग्रह यहाँ भी प्रमुख है। बाबा बटेसर-नाथ उनका सर्वप्रमुख उपन्यास है जिसमें कथा बरगद के वृक्ष के द्वारा कही गई है। घटना स्थल है रूपउली ग्राम, जहाँ की चार पीढ़ियों का वर्णन उपन्यास में हुआ है। अंग्रेज़ी राज्य के आरम्भ से स्वतन्त्रता प्राप्ति तक की स्थितियाँ उसमें हैं, परन्तु अन्त यहाँ भी सिद्धान्तवादिता से ही होता है। अपनी प्रतीकात्मक सार्थकता के कारण उपन्यास सोद्देश्य हो उठा है। बलचनमा आत्मकथात्मक उपन्यास है जिसमें मिथिला के जागरण और विद्रोह की कहानी कही गई है। कथानक सुनियोजित और कौतूहलपूर्ण है। रचना में घनत्व और सुगुम्फन है। सामाजिकता का स्वर यहाँ भी प्रधान है। राजनीतिक चर्चा अधिक है, आंचलिक अंश बहुत कम है। राज-नीतिक विचार सोशलिस्ट आंदोलन का समर्थन करते हुए आरोपित किए गए हैं। उन्होंने संघर्षशील व्यक्तित्व के द्वारा की गई समाजवादी चेतना की ओर इंगित किया गया है, जो उत्पी-ड़ित साधनहीन तथा अधिकारों से वंचित किसानों और मजदूरों में अन्याय के प्रति विद्रोह की ज्वाला सुलगाती है। जमींदारों और राजनीतिक नेताओं के स्वार्थ संघर्षों तथा दूषित कार्यों को भी लक्ष्य बनाया गया है। उनका किसान सर्वहारा वर्ग का विद्रोही और दमदार किसान है। होरी की तरह घुल-घुल कर मरने वाला नहीं। दुखमोचन में टमका कोहली गांव के नवनिर्माण की कथा है। विधा और वस्तु दोनों ही दृष्टि से उपन्यास यांत्रिक है। उसमें प्रखर नागार्जुनीय स्पर्श नहीं है।

(ङ) प्रकृत यथार्थवादी उपन्यास

प्रेमचन्दयुगीन प्रकृत यथार्थवादी उपन्यासों की परम्परा भी प्रेमचन्द के बाद चलती रही है। यह प्रवृत्ति प्रेमचन्दयुगीन आदर्शवादी और रूमानी प्रवृत्तियों के समानान्तर और विरोध में विकृतियों और नकारात्मकता की भूमि पर खड़ी हुई थी जिसमें समाज की गलन

और सड़ाँध तथा मरणोन्मुख तत्त्वों के प्रति प्रतिक्रिया थी। इन उपन्यासकारों ने मनुष्य के मनोरागों और विकृतियों को बिना सँवारे पोंछे, जैसे का तैसा चित्रित किया। सामाजिक और नैतिक बन्धनों की कृत्रिमता का आरोपण उन्होंने नहीं किया। आदिम वासनाओं को सभ्य बाना पहिनाये बिना और समाज की अन्धकारपूर्ण कन्दराओं में आदर्श की टार्चलाइट फेंके बिना ही जीवन के स्वस्थ उपकरणों और निर्धारित परम्पराओं से अलग यह परम्परा चली। प्रेमचन्द युग में इस परम्परा के मुख्य लेखक थे, चतुरसेन शास्त्री और बेचन शर्मा उग्र। लेकिन प्रेमचन्द के बाद उस परम्परा को चलाने वाले एक मात्र उग्र रह गए। युवक लेखक शैलेश मटियानी के उपन्यासों में उग्र जी की नग्न प्रखरता, खुलापन और बेढबी मिलती है, लेकिन उनके प्रमुख उपन्यास अधिकतर आंचलिक आयामों को लेकर ही चले हैं। इसलिए उनका विवेचन आंचलिक उपन्यासों के अन्तर्गत करना ही अधिक समीचीन होगा।

इन उपन्यासों में सामाजिकता का अभाव नहीं है लेकिन उनकी सामाजिक दृष्टि उनकी अपनी है। इन लेखकों ने समाज के नरक-वेश्यालय, गुण्डालय, मदिरालय की सड़ाधों को व्यक्त किया है और उनकी विद्रोहात्मक अनुभूति अन्धकार में गुम रह कर उसके अलग-अलग शेड्स को पहिचानती है। उनका कहना यह है कि जब जीवन के ये क्रूर सत्य समाज को सह्य हैं तो साहित्य को भी उन्हें सहना पड़ेगा, साहित्य उनसे कैसे भाग सकता है। इन उपन्यासों के कथानक समाज के कुरुचिपूर्ण आख्यानों और कार्यों से ग्रहण किए गए हैं। उनमें अन्तर्द्वन्द्व ऊहापोह और विचारों का संघर्ष नहीं है। जिन विकृतियों को उन्होंने उतारना चाहा है वे व्यक्तिमूलक नहीं वर्गमूलक हैं, व्यक्ति की विकृतियाँ नहीं मानव-समाज की सड़न गन्दगी और कुरूपता को इन उपन्यासों में वाणी दी गई है। उग्र जी के इस काल में लिखे गए मुख्य उपन्यास हैं—जीजी जी, सरकार तुम्हारी आंखों में और मनुष्यानन्द। तीनों ही उपन्यासों में समाज के गलित दलदल में उतर कर उसके यथार्थ की थाह लेने की कोशिश की गई है, जिसमें परख और अनुभूति तो है ही वक्र अभिव्यंजना भी है। स्थायित्व के मापदण्ड पर ये उपन्यास पूरे उतरते हैं, यद्यपि उनकी दृष्टि जीवन के बाह्य-व्यापारों पर ही रही है, मानसिक द्वन्द्वों और उथल-पुथल पर नहीं। उनके चरित्र स्थिर हैं और लेखक के इशारे पर कठपुतलियों की तर नाचते हैं।

(च) आयामहीन विराट उपन्यास

जैसा कि पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के तत्काल बाद समष्टि चेतना के उनन्यास प्रायः दो भागों में बंट गए। उसकी व्यापक सामाजिक चेतना का स्थान अश्क और भगवती बाबू के उपन्यासों की मध्यवर्गीय चेतना ने ले लिया तथा देश व्यापी गांधीवादी राजनीतिक दृष्टि को मुठ्ठी भर साम्यवादियों की प्रगतिवादी दृष्टि ने कुछ समय के लिए स्थानापन्न कर दिया। फलस्वरूप विराट जीवन की व्यंजक आयामों के पार जाने वाली औपन्यासिक दृष्टि प्रायः लुप्त हो गई। भारत-विभाजन और स्वतन्त्रता के बाद की घटनाओं की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रेरणा से यह दृष्टि कुछ लेखकों में फिर से उभरी और यशपाल के झूठा सच तथा नरेश नेहता के वह पथ बंधु था और धूमकेतु एक श्रुति जैसे उपन्यासों में व्यक्त हुई।

'झूठा सच' में यशपाल अपने मार्क्सवादी पूर्वाग्रहों से बिल्कुल बाहर आ गये हैं राज-

नैतिक दांवपेंचों, घटनाओं और संघर्षों की स्थूलताओं के बीच में परिस्थितियों से अदम्य संघर्ष करने वाले जीवन चरित्रों की सृष्टि जिस प्रकार की गई है वह पहले के उपन्यासों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रौढ़ दृष्टि की द्योतक है। परन्तु उनकी यथार्थवाद सम्बन्धी धारणाएँ पहले की ही जैसी हैं। उनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं आया है। पहले की ही तरह वे जीवन को आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा ही निर्देशित मानते हैं। उन आन्तरिक कारणों को नहीं जिन्हें वस्तुवादी दृष्टि से समझना-समझाना सम्भव नहीं होता। 'झूठा-सच' के पात्र यद्यपि वैशिष्ट्ययुक्त हैं परन्तु सूक्ष्म आत्मनिरीक्षण के क्षण प्रायः उनमें से किसी के पास नहीं हैं। उनकी समस्याएँ सामाजिक पारिवारिक और आर्थिक क्षेत्रों से ही उत्पन्न होती हैं, जिनसे साहसपूर्ण संघर्ष की प्रेरणा मिलती है, परन्तु उनके जीवन का कोई बड़ा हेतु उभर कर नहीं आता। झूठा सच वास्तव में एक कल्पनामिश्रित यथार्थ है जिनमें स्थितियों और पात्रों दोनों की बहुलता है। इसकी कथायोजना परम्परागत है, अनेक सामाजिक सूत्रों को समेटने के लिए अनेक घटना प्रसंग आये हैं परन्तु उनका संगठन चुस्त और कसा हुआ है। घटनाओं और परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में ये पात्र उभरे हैं। यशपाल की दृष्टि प्रेमचन्द से अधिक प्रखर और तीखी है। जर्जर मान्यताओं और खोखले आदर्शों की चीर-फाड़ वे बड़ी निमर्मता से करते हैं। अपने प्रति मताग्रहों के आक्षेप का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया है—'मैं किसी यांत्रिक चिन्तक का दास नहीं हूँ....यौनवादी तृष्णा, व्यक्तिवाद, प्रगतिवाद किसी के चोले में मैं अपने को यान्त्रिक नहीं बना सकता। मेरे सामने इतिहास है, जीवन और मनुष्य की पीड़ा है, मनुष्य की चेतना है जो निरन्तर अन्धकार से लड़ रही है, इस परम्परा का दूसरा उपन्यास है नरेश मेहता का 'यह पथबन्धु' था। यह एक विराट उपन्यास है। इस उपन्यास में सन् १९२० से १९४५ तक की पृष्ठभूमि में एक निपट साधारण जन की दुःख गाथा कही गई है। 'यह पथ बन्धु था' हिन्दी उपन्यास की यात्रा में एक उल्लेखनीय पदचिह्न है। एक युग विशेष की विशद और प्रामाणिक पृष्ठभूमि में वैयक्तिक जीवन की इतनी संवेदनशील और अर्न्तदृष्टि पूर्ण कथा पहले कभी नहीं कही गई। यह कथा न तो समाज विज्ञान के स्तर पर कही गई है, न मनोविश्लेषण के। वह तो सहज मानवीय स्तर पर गतिमान हुई है। इस उपन्यास में व्यक्ति और परिवेश अलग-अलग नहीं हैं। उनका पारस्परिक संघात् एक दूसरे को उभारता चलता है। बाह्य परि-स्थितियों के बीच पात्रों के जीवन की व्यर्थतायें और सार्थकतायें उभरती हैं तो दूसरी ओर व्यक्तियों के माध्यम से बदलते हुए मानवीय सम्बन्धों, राजनीतिक-सामाजिक संस्थाओं, आर्थिक व्यवस्थाओं का खोखलापन तीव्रता से उभर कर आता है। व्यक्ति और समाज के बीच सन्तुलन बराबर बना रहा है। इसलिए इस उपन्यास में गहराई और विस्तार दोनों हैं, बाह्य-यथार्थ भी और प्रामाणिक अनुभूति भी।

'नरेश मेहता' का दूसरा उपन्यास 'धूमकेतु एक श्रुति' भी इन्हीं विशेषताओं से युक्त है। इस उपन्यास में उन सभी सम्भावनाओं के बीज मिलते हैं जो 'यह पथबन्धु था' में पल्लवित हुई थीं। उपन्यास का मुख्य पात्र है एक अत्यन्त कल्पनाशील बालक उदयन। इस उपन्यास में भी जीवनानुभूतियों और भावनात्मक तीव्रताओं को व्यापकता और गरिमा दी गई है बालक के व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्व रखने वाले तत्त्वों और सूत्रों का सहज विश्लेषण किया गया है जिसके

अन्तर्गत अनेक मर्यादाएँ भावनात्मक तृप्ति, अतृप्ति, परिस्थितिओं का घात-प्रतिघात, परिवेश और व्यक्तिजन्य क्रूरताएँ और आर्द्रताएँ सब सिमट आई हैं। इस कृति की नियोजना एक सम्पूर्ण वृहत् उपन्यास की है। प्रस्तुत कृति उस योजना का समारम्भ मात्र है। नरेश जी के इन दोनों ही उपन्यासों में प्रेमचन्द की समग्रता, जैनेन्द्र और अज्ञेय जैसी गहराई और शरत्‌चन्द्र जैसी कच्ची-नरम आर्द्रता, नये मूल्यों और नये सन्दर्भों के साथ मिलती है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि इन उपन्यासों के साथ हिन्दी उपन्यास अवरोध की जड़ता को फाड़ कर नयी सम्भावनाओं की ओर उन्मुख हुआ है।

(छ) मिट्टी की घुटन और विस्फोट

धर्मवीर भारती के उपन्यास गुनाहों का देवता और सूरज का सातवाँ घोड़ा से मध्य-वर्गीय समाज की आधारभूमि पर लिखे गये उपन्यासों की नई परम्परा आरम्भ होती है। इस परम्परा के युवकों की दृष्टि हर प्रकार के काल्पनिक आग्रह में मुक्त ठोस यथार्थ के धरातल पर आरम्भ से ही सिर उठा कर खड़ी हुई और उन्होंने जीवन की विभिन्न उलझनों और समस्याओं का संप्रेषण यथार्थ संवेदनाओं और स्थितियों की पहिचान रखने वाले पात्रों के द्वारा की। भावुकता और कल्पनाशीलता के झीने आवरण में से उन्होंने जीवन और उसकी समस्याओं को नहीं देखा है। इन नये युवकों का आक्रोश एक ओर नैतिक प्रश्नों से सम्बद्ध परम्परागत मानकों को लेकर है और दूसरी ओर उन सांस्कृतिक सामाजिक मूल्यों को लेकर जो पुराने और असामयिक होते हुए भी चलते रहते हैं। आक्रोश और घुटन भरे की यह मनःस्थिति स्वतन्त्रता के बाद आई हुई अभावमयी शून्यात्मक परिस्थितियों से उत्पन्न हुई है। युवकों ने आज के मनुष्य का उसके वैयक्तिक और सामाजिक सन्दर्भों में समग्र और गतिशील चित्रण किया है। गुनाहों के देवता में एक ओर मध्यवर्गीय समाज की रूढ़िग्रस्तता और विषमताओं का निरूपण हुआ है तो दूसरी ओर व्यक्तिगत स्तर पर भावना और वासना का द्वन्द्व चित्रित है। जिन्दगी के दो स्तरों के द्वन्द्व में कथावस्तु आगे बढ़ती है। दोनों ही सूत्र दो अतिवादों पर आश्रित हैं। मन के भयंकर तूफान और बुद्धि की स्पाती तटस्थता इन दो छोरों के द्वन्द्वों के समन्वय की सम्भावना में उपन्यास समाप्त होता है।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की परम्परा अगर आगे बढ़ती तो कथ्य और शैली दोनों दृष्टियों से इसे इस वर्ग के उपन्यासों को मील का पत्थर माना जा सकता था परन्तु लेखक के रचनात्मक क्षेत्र से सन्यास ले लेने के कारण उसके ऊपर भी धूल की परतें जम गई हैं और सूरज का सातवाँ घोड़ा बन्द कमरों, अंधी गलियों में भटकता फिर रहा है। माणिक कथाचक्र के अन्तर्गत निष्कर्षवादी कथाओं के रूप में कहा गया लघु उपन्यास है—सूरज का सातवाँ घोड़ा। झूठे जीवन मूल्यों को यथार्थ के कई स्तरों और सन्दर्भ को विभिन्न दृष्टि कोणों से उभारा गया है। लेखक ने प्रेम की समस्या को केवल वैयक्तिक और समाज निरपेक्ष न मान कर उसे अर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में देखा है जिसमें देश-काल का प्रसार विम्बित हो सका है, निम्न मध्य-वर्गीय जीवन की संघर्षमयी आर्थिक विषमता टूटते हुए नैतिक मूल्यों और सामाजिक विकृतियों को केन्द्र में रख कर चलता है। सारा उपन्यास यथार्थ परिवेश में लिखा गया है और उसके

अंधेरे में लेखक खो नहीं गया है। मनुष्य की अन्तिम आस्था ही वह आलोक है जिसकी सम्भावना पर यथार्थ के अँधेरे को चीर कर आगे बढ़ने, समाज व्यवस्था को बदलने तथा मानवीय मूल्यों को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। आदिम आस्था और सत्य के प्रति निष्ठा मनुष्य की प्रकाशग्रही आत्मा को उसी तरह आगे ले जा रहे हैं, जिस तरह सात घोड़े सूर्य को ले जाते हैं। सूर्य के रथ को आगे बढ़ना ही है। वस्तुशिल्प की दृष्टि से भी यह एक नया मोड़ था उसमें केवल प्रयोग कौतुक नही है। संकीर्ण आयाम में लम्बी कथा-क्रम को अपनाने के कारण यह रूप-विधान स्वाभाविक बन पड़ा है। तटस्थ यथार्थवादी निरूपण इसकी विशेषता है।

नई परम्परा के दूसरे प्रमुख लेखक हैं, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल जिन्होंने ग्राम और नगर के मध्यवर्गीय जीवन से अपना कथ्य ग्रहण किया है इनके प्रमुख उपन्यास हैं बया का घोंसला और सांप, बड़ी चम्पा-छोटी चम्पा, काले फूल का पौधा, रूपाजीवा, मन वृन्दावन। इन सभी उपन्यासों में जीवन की यथार्थ और मार्मिक झाँकियाँ हैं, कहीं मध्यवर्ग के द्वन्द्व रूप में संस्कृति संघर्ष की कहानी की गई है तो कहीं नई परिस्थितियों और रूढ़ आदर्शों की टक्कर है। बदलते हुए सन्दर्भों में अनेक नई और पुरानी समस्याओं का निरूपण बहिर्मुखी ही नहीं है— मन का स्तर भीनी आर्द्रता के साथ चित्रित है। शैली में लोक जीवन और लोक तत्त्वों के सामवेश के साथ प्रतीकात्मकता का समावेश भी हुआ है।

राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थवाद, मनोविश्लेषण दृष्टि और प्रामाणिक अनुभूति तीनों का संकलन है। एक ओर उनके उपन्यासों में यथार्थ का तीखापन है तो दूसरी ओर मानवीय-संवेदनाओं की तरलता भी है। उनके सभी उपन्यासों में यद्यपि यथार्थ का गहरा घना घटाटोप है पर उसमें निहित सूरज की हल्की पतली किरण भी जो संवेदनाशील पाठक की आँखों से छिपी नहीं रहती। विकृतियों की भयावहता में आस्था की गहरी रेखा भी कभी-कभी झलक जाती है। उनके प्रमुख उपन्यास हैं, प्रेत बोलते हैं, (इसका संशोधित संस्करण 'सारा आकाश' के नाम से प्रकाशित हुआ है) उखड़े हुए लोक, कुलटा, अनदेखे अनजाने पुल, एक इंच मुस्कान (संयुक्त लेखिका मन्नू भण्डारी) यथार्थवादी हैं। इन सभी उपन्यासों का प्रतिपाद्य समस्यामूलक विचारप्रधान है। उखड़े हुए लोक में वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था और रूढ़ियों में पिसते हुए लोगों का चित्रण है। युद्धोत्तर और स्वातन्त्र्योत्तरकालीन स्त्री-पुरुष के बिगड़ते-बनते सम्बन्धों का चित्रण बौद्धिक विचारणा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। राजेन्द्र यादव ने परम्परागत रूप-विधानों के स्थान पर नये प्रयोग किये हैं उनका शिल्प पक्ष बहुत प्रौढ़ हैं। बहुत बार आत्म-विश्लेषण, रेडियो कमेण्टरी और ग्राफ़िक चित्रों द्वारा दृश्यों को उभारा गया है।

गिरिधर गोपाल का चाँदनी के खण्डहर मध्यवर्गीय जीवन पर आधृत शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं। उसमें मध्यवर्ग की विशृंखलित आस्था का चित्रण है। उसकी अवधि चौबीस घंटों की है। इसमें भी युद्धोत्तर कालीन आर्थिक संकट से आक्रान्त भरे पूरे घरों के खंडहरों की कहानी है। जीवन की घुटन, आदर्शों का खण्डन और खोखली परम्परा के साथ तर्कशील बौद्धिक आयामों का संघर्ष इसमें चित्रित है। इस उपन्यास की शैली का सबसे बड़ा गुण है, उसका कसाव और सूत्र बद्धता। सर्वेश्वरदयाल का 'सोया हुआ जल' में भी मध्यवर्गीय जीवन की अतृप्ति, तृष्णा और कुंठाओं को उठाया गया है। रोमांस और सेक्स की भूख, आर्थिक

अभाव, प्रेम की विफलता, वैवाहिक जीवन की विडम्बनाएँ, दैहिक भूख का दमन, वर्जनाएँ और कुंठाएँ प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। यात्रिशाला दुनिया की प्रतीक है, जहाँ सब यात्रियों की आत्माएँ प्यासी हैं। जीवन की विशृंखलताओं की यही प्यास और अतृप्त आकांक्षाएँ हैं। सारा उपन्यास छोटे-छोटे चित्रों द्वारा निर्मित है, जिसका सूत्रधार पहरेदार है। बारह घंटे में समाप्त यह उपन्यास सिनेरियो टेकनिक में लिखा गया है जिसमें अनेक व्यक्तियों के भावों और मनःस्थितियों का समकालवर्तित्व दिखाया जा सकता है। इसके प्रतीकविधान के अन्तर्गत स्वप्न चित्रों का माध्यम भी ग्रहण किया गया है।

कमलेश्वर का उपन्यास एक सड़क सत्तावन गलियाँ लघु आकार का मार्मिक उपन्यास है। इसमें एक कस्बे के छोटे और ओछे स्तरों के जीवन की अनेक संवेदनशील झाँकियाँ हैं। इसमें घटनाओं और पात्रों की विविधता, पर बहुलता है। कलात्मक चयन सूक्ष्म और उपन्यासकार की सौन्दर्यचेता दृष्टि के प्रमाण हैं। पात्रों, परिवेश और घटनाओं के साथ लेखक की पहचान यथार्थ की है। गहरी संवेदनशीलता, प्रामाणिकता और स्वस्थ दृष्टिकोण उनमें निहित है।

नरेश मेहता के दो उपन्यास डूबते मस्तूल और दो एकान्त इसी वर्ग के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। कमल जोशी का बहता तिनका, कृष्ण बल्देव बैद का मेरा बचपन इसी परम्परा में उल्लेखनीय हैं। मोहन राकेश का 'अँधेरे कमरे' बहुचर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास में दिल्ली के उच्च और निम्न मध्यवर्गीय जीवन को पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया गया है। उसमें विघटित जीवन के चित्र हैं। सिगरेट के धुएँ, उदासी और थकान से भरी बेबसी और अकेलेपन, नींद की गोलियाँ, शराब ट्रैंन्कुलाइज़र, क्षण की अनुभूति और अनुभूति के क्षण पर लम्बी बहसों के सारा वातावरण के बीच उपन्यास आगे बढ़ता है। शैली सहज, सुबोध और स्वाभाविक है। आकार की वृद्धता के बावजूद आधार फलक विस्तृत नहीं है। दो-चार व्यक्ति घने कुहासे से घिरे हुए हैं। सामाजिक पार्श्व में मानसिक ऊहापोहों की समर्थ सृष्टि हुई है। वैज्ञानिक की तटस्थता और कलाकार की प्रामाणिकता दोनों का समन्वय इसमें हुआ है। उपन्यास में छाये हुए खोखलेपन और घुटन के बावजूद उसके पात्र सामाजिक रूप में सचेत हैं। जीवन के विविध स्तरों को उसकी समग्रता में देख सकना काफी कठिन काम है। राकेश की अन्तर्दृष्टि इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में खो नहीं गई है।

आज के जीवन की मूल्यहीनता और अगति को चित्रित करने वाले कुछ नए उपन्यासों में मुख्य हैं, नागार्जुन का हीरक जयन्ती, केशव चन्द्र वर्मा का 'आँसू की मशीन' और डॉक्टर रघुवंश का 'अर्थ हीन'। 'अर्थ हीन' में संवेदनशील युवक की प्रतिक्रियों के माध्यम से युग चेतना के कई स्तरों का उद्घाटन किया गया है और अतीत के मूल्यों को निरर्थक माना गया है। उपन्यास में वैचारिकता सचेष्ट है। आज के जीवन में सोद्देश्यता खोजने का सचेत प्रयत्न और मन के द्वन्द्वों की तीखी अभिव्यक्ति इस उपन्यास में हुई है जो अनिश्चित मूल्यों के कारण उत्पन्न होती है। प्रभाकर माचवे के उपन्यास 'द्वाभा' और 'जो' में आधुनिक जीवन की जटिलताओं, विवशताओं और घुटन की अभिव्यक्ति संकेतिक और मानवीय स्तर पर हुई है। मनुष्य का चिन्तनशील मस्तिष्क अपनी आदिम प्रवृत्तियों से जूझता रहा है। समाज के सामने

वह एक मुखौटा पहन कर आता है, जिसके नीचे वे आदिम प्रवृत्तियाँ छिपी रहती हैं, जिनको वह आदर्शों की प्रेरणा से नकारता रहता है। आर्थिक अस्तव्यस्तता और आदर्शों के स्खलन के कारण मध्यवर्ग में लगे हुए घुन की ओर लेखक ने इंगित किया है। उसकी पकड़ बौद्धिक है, जो पाठक को सोचने पर मजबूर करती है, परन्तु उसके उपन्यासों का चतुर्थांश उद्धरणों अथवा उनके सारांशों से भरा रहता है।

इतना सब होते हुए भी ये लेखक कुंठित उत्तेजनात्मक भावुकताओं और बनावटी नाटकीयता से बचे हुए हैं। मानव स्वभाव के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ न तो भ्रमात्मक मोह से आच्छादित हैं और न आकांक्षापूर्ण चिन्तन से। इन सभी उपन्यासों में आज के सन्दर्भ संस्कृति के भूठे पड़े हुए उपादानों के प्रति मोहभंग तो है ही। बुद्धिजीवियों का गिरता हुआ स्तर, भूठे समाजवाद की नारेबाजी, औद्योगिक क्रान्तियों के नाम पर आंशिक और अधकचरी योजनाएँ, इनसे उत्पन्न स्थितियाँ और प्रतिक्रियाएँ इन उपन्यासों में चित्रित हैं। परन्तु पहले के उपन्यासकारों और इन युवक लेखकों में आधारभूत अन्तर यह है कि वे अपने उपन्यासों में कथावाचक का काम नहीं करते। उनके निष्कर्ष अनिवार्यतः कथ्य में से उभर कर आते हैं। वे अपनी रचनाओं में ईश्वर की तरह अदृश्य रहते हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि ये लेखक जैसे जीवन के निषेधात्मक मूल्यों के प्रति असाधारण और असन्तुलित रूप में प्रतिबद्ध हैं।

(ज) आंचलिक उपन्यास (१६५०-६५)

आंचलिक उपन्यास स्वतन्त्रता के बाद तत्काल उत्पन्न स्थितियों की देन हैं। इसलिए उनका उत्स बदलते हुए सामाजिक और राष्ट्रीय सन्दर्भों में ही है। इन उपन्यासों की रचना पूर्ववर्ती उपन्यासों की प्रतिक्रिया में नहीं हुई बल्कि इन्हें विशिष्ट युग और परिस्थितियों की देन माना जाना चाहिए जिनमें एक भूमि-अंचल की सम्पूर्णता को ग्रहण करके वहाँ के जन-जीवन का समग्र चित्रण किया गया है। इन उपन्यासों का अस्तित्व पहले के राजनीतिक और सामाजिक उपन्यासों से बिल्कुल अलग है क्योंकि उनकी रचना गांधीयुगीन राष्ट्रीयता के व्यापक परिवेश में नहीं हुई है। उपन्यासों में ग्रहण किए गए अंचल कहीं देहात हैं, कहीं नगर और कहीं आदिम-जीवन अथवा बन। इन उपन्यासों में स्थानीय परिवेश और लोक तत्त्वों की सजीवता का आग्रह है। इसीलिए उन पर हार्डी और मार्कट्वेन जैसे उपन्यासकारों की संवेदना और शैली के अनुकरण का आक्षेप लगाया जाता है, परन्तु इनका प्रादुर्भाव यदि अनुकरण से ही होना था तो पहले क्यों नहीं हुआ? ये उपन्यास देश की मिट्टी फोड़ कर उपजे हैं। अगर उन पर कोई विदेशी प्रभाव है भी तो वह प्रभाव रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, अनुकरण के रूप में नहीं। इन उपन्यासों में अंचल विशेष की भौगोलिक स्थिति वहाँ के जीवन के चित्रण और भाषा के प्रयोग पर बल दिया जाता है। स्वतन्त्रता के बाद समाजवादी समाज से सम्बद्ध रचनात्मक कार्यों का आरम्भ गांवों और अंचलों में ही हुआ जिसके फलस्वरूप नई सांस्कृतिक सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना सीमित घेरों में अलग-अलग जागी। ग्राम जीवन का चित्रण करते समय प्रेमचन्द युग के व्यापक परिवेश में आंचलिकता का स्पर्श मात्र दिया गया था, परन्तु फणीश्वर और नागार्जुन जैसे लेखकों के लिए वह स्वयं साध्य बन गई, घटना, चरित्र वर्णन और परिवेश इसी

आंचलिक तत्त्व की प्रतिष्ठा के साधन बन गए। इसके साथ ही, लेखकों के व्यक्तित्व और परिवेश के अनुसार उनमें ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और स्थानीय रंगों का पुट दिया गया। अंचल विशेष की धरती, वहाँ की लोक संस्कृति, परम्पराओं, धार्मिक विश्वासों, बोली, वाणी, वेशभूषा सबके जीवन्त और सजीव चित्र खींचे गए। जनपद विशेष में प्रचलित, कथाओं, गीतों, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी हुआ। इन उपन्यासकारों ने सीमित विशिष्टताओं में ही समग्रता को समेटना चाहा जिसके कारण उनका कथासूत्र क्षीण है और उनमें जीवन-वैविध्य अधिक है। उनमें पात्रों की बहुलता है और कथा का परम्परागत रूपविधान भी उनमें नहीं मिलता। नागार्जुन के उपन्यासों की चर्चा समाजवादी उपन्यासों के प्रसंग में की जा चुकी है। उनके उपन्यासों में मिथिला का देहाती जीवन चित्रित हुआ है। वस्तु और रूप की दृष्टि से बलचनमा और बाबा बटेसरनाथ विशेष महत्त्व रखते हैं। भाषा शैली की दृष्टि से नार्गाजुन के उपन्यास नये प्रयोग हैं।

इस परम्परा में मूर्धन्य स्थान है, फणीश्वरनाथ रेणु का, जिनकी मैला आंचल सन् १९५४ में तथा परती परिकथा १९५७ में प्रकाशित हुई। किसी भी लेखक की पहली रचना का इतना स्वागत नहीं हुआ जितना रेणु की 'मैला आंचल' का हुआ। 'पूर्णिया गांव के' शूल और फूल, कीचड़ और चन्दन, धूल और गुलाल सभी के रंग इसके आंचल में हैं। उसकी सांस्कृतिक-भौगोलिक विशेषता की पृष्ठभूमि में जनवादी दृष्टि से अंचल के अनेकमुखी चित्र खींचे गये हैं, जो एक ओर सूक्ष्म संश्लिष्ट और क्षिप्र हैं, दूसरी ओर विविध और बहुमुखी। उपन्यास का विन्यास बिल्कुल अपना और नया है। परम्परागत दृष्टि से कहा जाएगा कि इन उपन्यासों में सुनियोजित, सुगठित कथा नहीं है और न अन्विति है, पर यह कसौटी आंचलिक उपन्यासों के लिए ठीक नहीं है उसमें तो लघु कथा प्रसंगों और छोटी-छोटी स्थितियों के आभास द्वारा ज़िन्दगी का अलबम तैयार किया है। इसी कारण उसमें चरित्र-चित्रण का परम्परागत रूप भी नहीं मिलता। यहाँ तो व्यक्ति के स्थान पर समूह की प्रतिष्ठा हुई है। एक खण्ड की विविध गति-विधियों को समेटने के लिए रिपोर्ताज़, फ्लैश बैक, डाकुमेण्टरी शैलियों का प्रयोग किया गया है। जिनके द्वारा विविध घटनाओं और प्रसंगों को लिपिबद्ध किया जाता है। अतीत की घटनाओं, स्मृतियों और अनुभूतियों को फ्लैश बैक द्वारा उतारा जाता है। चित्रमय विम्ब देने के लिए लोक भाषा, लोकगीत और नृत्यों की ध्वनियों को भाषा की ध्वनियों में बांधने का प्रयत्न किया जाता है। व्यक्तिगत रूप से मेरी धारणा है कि 'परती परिकथा', मैला आंचल से अधिक प्रौढ़ और परिपक्व रचना है। इसमें परानपुर की बन्ध्या धरती की कहानी कही गई है—लघुकथा प्रसंगों और जीवन-स्थितियों से कथानक का ताना बाना बुना गया है। कथा की समग्रता खण्डचित्रों का जोड़ कर बैठानी पड़ती है। 'मैला आंचल' की कला का परिकथा में निखार हुआ है। नागार्जुन की तरह रेणु के उपन्यासों में समकालीन राजनीति की पृष्ठभूमि भी है पर पहले की तरह यह उनका साध्य नहीं है। उन्होंने जनजीवन के यथार्थ में से प्रगति की भविष्योन्मुखता का चित्रण किया। इन उपन्यासों में लोकभाषा की स्थानीयता पर आक्षेप किया जाता है। हिन्दी के रूपनिर्माण और व्यापकता की उपयोगितावादी दृष्टि से इसके विरुद्ध चाहे जो तर्क दिया जाए पर कला वैशिष्ट्य की दृष्टिसे, इस प्रकार की भाषा की सार्थकता असंदिग्ध

है। एक अंचल विशेष के विभिन्न फैलावों को रेणु ने जिस कुशलता से समेटा है उसको देखते हुए यह कहना गलत है कि इन उपन्यासों के पीछे 'कोई चालक मस्तिष्क नहीं है उसमें कोई केन्द्रीय मेधा नहीं है जो उसके सारे अंतरंग को सुव्यवस्थित और सुनिश्चित रूप प्रदान करे।' निश्चय ही ऐसा आक्षेप प्रेमचन्दयुगीन कथा-विधान के पूर्वाग्रह के कारण ही लगाया गया है। कथापक्ष की क्षीणता जैसे लेखक स्वीकार करके चलता है वैसे ही, पाठक और आलोचक को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। घटनाओं और विचारों की मांसलता का अभाव भी परम्परागत विधान के दिमागी चौखटे के कारण ही अधिक दिखाई देता है। रेणु की अन्य औपन्यासिक कृतियाँ हैं, दीर्घतपा और जुलूस जो पहली कृतियों से भिन्न होते हुये भी प्रभावात्मक हैं।

इस परम्परा का एक विशिष्ट उपन्यास है, उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' जिसमें बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे हुये बारसोवा के मछेरों का जीवन प्रस्तुत किया गया है। उसमें 'मैला आंचल' का सा विधान नहीं है, कथा आत्मकथात्मक ढंग से कही गई है और कथावस्तु में टिकाव नहीं आ पाया है। आदर्शवादी स्पर्शों के कारण उसमें यथार्थ से पलायन की वृत्ति मिलती है, यह प्रकृति आंचलिकता की प्रवृत्ति की विरोधी भी पड़ती है। इससे मानवीयता और मंगलभावना का तत्त्व प्रधान हो उठता है। इसका दायित्व भट्ट जी के संस्कारों पर है जिससे मुक्त होना लेखक के अपने वश की बात नहीं होती।

देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' करंजिया गांव में आदिवासियों के जागरण से सम्बद्ध है। उसमें राष्ट्रीयता के प्रादेशिक रूप की झलक मिलती है। डायरी के उद्धरणों और लोकगीतों से उपन्यास भरा हुआ है, इसका टोन भी आदर्शवादी हो गया है।

शिवप्रसाद रुद्र के उपन्यास 'बहती गंगा' में बनारस के मस्ती भरे जीवन के चित्र ऐतिसिक पृष्ठभूमि में खींचे गए हैं। उसमें अनेक तरंगे हैं प्रत्येक तरंगों का आधार कोई न कोई ऐतिहासिक घटना है। बनारस की मस्ती, निर्द्वंद्वता, स्वतन्त्रता, प्रेम-परम्परावादिता, फक्कड़पन, सभी की झलक उसमें मिलती है। उसकी भाषा विशिष्ट झूमती इठलाती हुई है। तरंगें एक दूसरे से अलग भी हैं और धारा-तरंग न्याय से आपस में बंधी हुई भी हैं। रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' में गोरा और राप्ती नदियों से घिरे अभावग्रस्त प्रदेश की कहानी कही गई है। अनुभूति की प्रामाणिकता के साथ ही उसमें कला-परिष्कार की सजग साधना भी है। शैलेश मटियानी के उपन्यासों में नग्न यथार्थ कहीं-कहीं बड़े कुरूप और वीभत्स रूप में चित्रित है, और उन्हें पढ़ कर पहली प्रतिक्रिया होती है कि वे उग्र के उत्तराधिकारी हैं क्या ? उनके उपन्यासों के दो मुख्य क्षेत्र हैं, बम्बई की गन्दी बस्तियाँ और कुमायूँ अंचल। प्रथम वर्ग के मुख्य उपन्यास हैं, बोरीवली से बोरीबन्दर तक, कबूतरखाना, किस्सा नर्मदा बेन गंगूबाई। दूसरे वर्ग के उपन्यास हैं, चिट्ठीरसैन, हौलदार, मुख सरोवर के हंस। शैलेश के उपन्यासों की सबसे बड़ी खासियत है उनकी प्रामाणिकता और यथार्थवादिता। यथार्थ को झुठला कर सुन्दरता और आदर्श की उपासना वे नहीं करते। सम्बन्धित क्षेत्र को उभारने के लिए उनकी लेखनी छुरी का काम करती है। पर उनकी अश्लीलता भूखी पीढ़ी की विकृत और अस्वस्थ मनःस्थितियों में नहीं घुमड़ती। वीभत्स और कुरूप को चीर फाड़ कर समाज से विकृतियों को सदा के लिये मिटाना चाहती हैं। यथार्थ की कड़ुवाहट उनके लिए रोग नहीं, कुनैन है। मुख्यतः समाजोन्मुखी

साहित्यकार होने के कारण ही वे कुमायू प्रदेश की लहराती प्रकृति और नैसर्गिक सौन्दर्य के घेरे में भी दबे हुए दर्दों को उभार लेते हैं।

आंचलिक परम्परा के उपन्यास अभी भी लिखे जा रहे हैं पर रेणु की समग्र कला और नागार्जुन की शक्ति का जैसे अब अवशेष ही रह गया है, शायद इसका कारण यह हो कि जिन उत्साहभरी परिस्थितियों में उसका आरम्भ हुआ था, हमारे देखते-देखते ही वे दिन पर दिन विघटन की ओर बढ़ रही हैं। कटु-कर्कश समाजिक-आर्थिक यथार्थ और स्वप्न रंजक सांस्कृतिक ऐतिहासिक तथा लोकधर्मी परम्पराओं का जो गंगा जमुनी मेल रेणु और नागार्जुन ने किया उनमें से कटुता, ककर्शता तो शेष रह गई है परन्तु आशामूलक सम्भावनाएँ ढह गई हैं, जबकि स्वतन्त्रता के तत्काल बाद सोचा यह जाता था कि विभिन्न अंचलों का बिलगाव योजनाओं की सफलता के बाद आर्थिक प्रगति के द्वारा समाप्त हो जाएगा। अनिश्चित और विघटित मूल्यों तथा आक्रोश की स्थितियों के राजनीतिक सामजिक उपन्यासों की परम्परा वास्तव में उस उच्च-भूमि का अगला गिराव था, जिस पर आंचलिक उपन्यासों की रचना हुई थी। ऐतिहासिकता तथा आधुनिकता दोनों का समन्वय करके उपन्यास की एक नई दिशा को विकसित करने की चेष्ट की गई। इसके माध्यम से जिस परम्परा को आरम्भ किया गया, उसमें कई नई संस्थितियाँ सम्मिलित थीं। राहुल, याशपाल और रांगेय राघव ने इतिहास पर मार्क्सवादी दृष्टि का आरोपण किया और उसी के प्रकाश में उसका व्याख्यान किया। दूसरे लेखकों ने इतिहास में निहित क्षीण आलोक रेखाओं को उभारा और आज के जीवन की समस्याओं, विकृतियों, स्थितियों, पात्रों और मनोभूमियों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रख कर उन्हें नई गरिमा दी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चेतना की दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में वृन्दावनलाल वर्मा प्रेमचन्द के समकक्ष हैं। अपने युग के घोषित आदर्शों और संस्कारों को अपनी चेतना पर ओढ़ कर उसी की प्रेरणा से उन्होंने बुन्देलखण्डी मिट्टी की अनेक मूर्तियाँ गढ़ी हैं जो सद् और असद् के बीच नियमित और बंधे बंधाये प्रतिमानों पर सफल या असफल होती हैं। वर्मा जी के पात्रों को प्रेमचन्द के पात्रों का ऐतिहासिक प्रतिरूप माना जा सकता है। उनके अधिकतर उपन्यासों की मुख्य घटनाएँ ख्यातिप्राप्त हैं और किम्वदंतियों, जनश्रुतियों और परम्पराओं के सूत्रों से जुड़ी हुई हैं। इतिहास के साथ उनमें रोमांस का समावेश भी है जिसके कारण उनमें साहस, भावना, वीरता, प्रेम और प्रकृति का चित्रण बहुलता से हुआ है। वर्मा जी के उपन्यासों में स्वस्थ ग्राम्य छवियों की अभिव्यक्ति हुई है। उनमें घटनाओं और पात्रों की सापेक्षता है। अधिकांश उपन्यास नायिकाप्रधान हैं, जिनमें कोमलता, भावुकता, शक्ति, साहस, आत्मबल और त्याग का सामंजस्य है। उनकी दृष्टि आदर्शवादी है जिसके कारण अतीतकालीन समाज की भीतरी चेतना और बाह्य रूपरेखाएँ उभरी हैं। जन-जीवन, युगीन समस्याओं, पत-नोन्मुख वैचारिक और मानसिक धरातलों के विस्तारोंके बीच रोमांस की रेखाएँ उनके उपन्यासों के प्रभाव को क्षिप्र और तीव्र कर देती हैं। इतिहास के प्रति अत्यधिक झुकाव के कारण कभी-कभी वे उपन्यासकार के दायित्वों की ओर से आंखें बन्द कर लेते हैं। सन् १९३६ और ६६ की दीर्घ अवधि में छपे उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं—झांसी की-

रानी, मुसाहिबजू, कचनार, टूटे कांटे, अहल्याबाई, माधोजी सिन्धिया, भुवन विक्रम, उदय-किरण, आहत, रामगढ़ की रानी इत्यादि।

इसी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के दूसरे उपन्यासकार हैं, अमृतलाल नागर। जिस प्रकार उनके बूंद और समुद्र में प्रेमचन्दयुगीन सामाजिक, राजनीतिक प्रवृत्तियों का युगानुकूल संशोधित रूप मिलता है, उसी प्रकार उनके ऐतिहासिक उपन्यास 'सुहाग के नूपुर' और 'शतरंज के मोहरे' में वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा स्थापित परम्पराओं का संशोधन हुआ है। 'शतरंज के मोहरे' लखनऊ के इतिहास की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। उसमें अवध की नवाबी के इतिहास के एक पृष्ठ की कहानी है। सन् १९५७ की पृष्ठभूमि में लिखे गए इस उपन्यास में गाज़िउद्दीन हैदर और नासिरुद्दीन हैदर के राज्यकाल की घटनाओं का चित्रण है। इस काल पर लिखे गए अब तक के उपन्यास ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं थे। चण्डी चरण सेन कृत 'एइ कि रामेर अयोध्या' अवश्य प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर लिखा गया था। नागर जी का यह उपन्यास ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित और गवेषणापूर्ण सामग्री के आधार पर लिखा गया है। यह सामग्री सम्बद्ध युग में और उसके बाद लिखी गई विभिन्न कृतियों के अध्ययन के बाद लिखी गई है और उसमें काल्पनिक तत्त्वों का समावेश इतिहास की रक्षा करते हुए किया गया है। ऐतिहासिक प्रामाणिकता और साहित्यिक रोचकता का सामंजस्य नागर जैसे लेखक ही कर सकते थे। उनका दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है, 'सुहाग के नूपुर' जो तमिल कवि इलगोवन के महाकाव्य 'शिलप्पदि-कारम्' पर आधारित है। इसमें एक सामाजिक समस्या को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रख कर वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्वों की गहराई में पैठ कर उभारा गया है। सुहाग के नूपुरों और घुँघरुओं का संघर्ष कुलवधू और नगरवधू का संघर्ष है। एक ओर पत्नी कन्नगी का मूक समर्पण नायक कोवलन को पराभूत करता है, दूसरी ओर नगरवधू माधवी का प्रखर व्यक्तित्व समाज की परम्पराओं से टक्कर लेने के लिए छटपटा रहा है। वह सती होकर भी सती होने का गौरव नहीं प्राप्त करती। इस बात के प्रति उसके मन में विद्रोह और आक्रोश है परन्तु उससे और किसी का कुछ नहीं बिगड़ता। स्वयं अपने आप में वह भस्म होती है। नारी के मायावी और माया-रहित रूपों के संघर्ष के कारण कोवलन का तेज तिरोहित होता जाता है। इन अन्तर्द्वन्द्वों की इस छटपटाहट में सामाजिक वैषम्य का टोन सारे उपन्यास में विद्यमान है। जब तक महाजनी सभ्यता शेष है, तब तक वेश्यावृत्ति भी किसी-न-किसी रूप में चलती रहेगी और संवेदनशील कलाकार इस दुरंगी नैतिकता का पर्दाफ़ाश करते रहेंगे। इस उपन्यास में जैनेन्द्र का मनः-विश्लेषण प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना के साथ अपने में समाहित करती जान पड़ता है। बहिर्मुखता और मनस्तत्त्वों का यह समानुपातिक संयोजन एक कुशल शिल्पी और द्रष्टा ही कर सकता है।

चतुरसेन शास्त्री के ऐतिहासिक उपन्यासों को इसी परम्परा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। उनके मुख्य ऐतिहासिक उपन्यास हैं—वैशाली की नगरवधू, वयं रक्षामः, सोना और खून तथा सोमनाथ। वैशाली की नगरवधू में ई० पू० पांचवी शती की धर्म नीति, राजनीति और समाज-नीति के रेखाचित्र मिलते हैं परन्तु ऐतिहासिक तथ्य उनमें बहुत विरल हैं। वर्मा जी के उपन्यासों की तरह इसमें इतिहास-सत्य का अन्वेषण नहीं किया जा सकता। उनकी मान्यता है कि

ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के तथ्यों की उपेक्षा की जा सकती है। तात्कालिक समाज-प्रवाह का वेग दिखाना उसका लक्ष्य होता है। उनके उपन्यास के परिवेश में ऐतिहासिक सीमाओं और काल का व्यतिक्रम मिलता है। उपन्यासों में घटनाओं की प्रधानता है और तथाकथित इतिहास रस के आस्वादन की जगह हमें अविश्वसनीय ऐन्द्रजालिक चमत्कारों की आश्चर्यजनक अनुभूति होती है। इन स्थलों की वैज्ञानिक व्याख्या कठिन है। भोग-विलास और नारी सम्बन्धी प्रसंगों की अनुपातहीनता के कारण कथा शृंखला विच्छिन्न हो गई है। पात्रों की काल-परिधि की अवहेलना करके उनकी वैयक्तिकता की रक्षा की गई है। वयं रक्षामः का अधारफलक बहुत विस्तृत है। पात्रों का वैविध्य प्रागैतिहासिक काल के देवों, दैत्यों, दानवों और असुरों, किन्नर, गन्धर्व, आर्य और अनार्यों तक फैला हुआ है और स्थान-विस्तार भारत, मध्यएशिया, अफ्रीका, पूर्वी द्वीपसमूह तक है। इसे उन्होंने अतीत रस का मौलिक उपन्यास माना है और उसी के नाम पर अनेक अतर्कित और अनुमान पर आधृत स्थितियों की सम्भावनाएँ देखी हैं जो निवर्सन, मुक्त-सहवास, नर-मांस भक्षण और 'शिश्न देव' की उपासना जैसे जुगुप्सा भरे वातावरण में विकसित होती हैं, लिंगोपासना में धर्मतत्त्व का आरोपण करके उसे उपासना का प्राचीनतम रूप सिद्ध किया गया है। उपन्यास का कैन्वास इतना बड़ा है कि कथानक पात्रों और घटनाओं से भरा भानुमती का पिटारा बन गया है।

'सोना और खून' का कथानक उस समय के भारत से लिया गया है जब मुग़ल साम्राज्य का सूर्य धीरे-धीरे अस्त हो रहा था। अँग्रेज़ों ने किस प्रकार देश की सम्पूर्ण बड़ी-बड़ी शक्तियों को एक के बाद एक करके ध्वस्त कर दिया। उसी से सम्बद्ध उनके धोखों और फरेबों का भण्डाफोड़ इस उपन्यास में किया गया है। वेलेज़ली, मैकाले की दुष्टतापूर्ण नीतियाँ, मराठों और पिंडारियों का आतंक तथा हिन्दुस्तान की अनेक अन्दरूनी कमजोरियाँ इस उपन्यास की विषय-वस्तु के अन्तर्गत आती हैं। ऐतिहासिक तथ्यों की बहुलता के कारण उपन्यास कहीं-कहीं शिथिल हो गया है परन्तु उस युग के राजनीतिक षड्यन्त्रों और भोग-विलास के सरस चित्रों के कारण हमारी रुचि उपन्यास में बनी रहती है। यशपाल ने इतिहास को स्वर्णिम कल्पना की वस्तु ही मान कर स्वीकार नहीं किया बल्कि इतिहास के भीतर से वर्गमूलक समाज व्यवस्था के वैषम्यों को उभारना उनका उद्देश्य रहा है। दिव्या शुद्ध ऐतिहासिक नहीं इतिहासाश्रित उपन्यास है। वह इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है परन्तु यशपाल के पास इतिहास का विवेक है, इसलिए उसके माध्यम से आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ यथार्थ रूप से उभरी हैं।

अमिता यशपाल का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें कलिंगविजय की कथा को नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्रीय संघर्ष के क्षेत्र में तो यशपाल क्रान्तिकारी ही रहे, पर जब विश्व-स्तर पर शान्त और युद्ध की वरेण्यता का प्रश्न आया तो उन्हें कुछ समय के लिए गांधी की बात मानने को विवश होना पड़ा है। कई बार उनका क्रान्तिकारी मन हठ करता है। आततायी के सम्मुख सिर झुका कर अपना स्वत्व छोड़ देना मनुष्य का धर्म नहीं हैं, पर अन्तिम तर्क उनका यही होता है कि हिंसा की प्रतिद्वन्द्विता में हिंसा करना धर्म नहीं अधर्म है। कलिंग विजय के ऐतिहासिक ध्वंस की कल्पना की करुणा ने उन्हें कुछ समय के लिए दूसरे मार्ग पर

मोड़ दिया पर जल्दी ही भारत-विभाजन की यथार्थ-नग्न विभीषिकाओं में फिर उनका यथार्थ रूप पहले की अपेक्षा बहुत विराट और उदार होकर सामने आया।

हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अपने ढंग का एक ही उपन्यास है। जैसा कि नाम से भ्रम होता है, यह बाणभट्ट की आत्मकथा नहीं लेखक की शैली मात्र है। भगवतशरण उपाध्याय जैसे छिद्रान्वेषी आलोचक भी उसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो गए हैं। वे कहते हैं 'अनावरत रन्ध्रान्वेषण के बाद भी उसकी ऐतिहासिकता में दोष नहीं निकाला जा सकता।' यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें इतिहास की परिधि लक्ष्मण रेखा की भाँति है। उसमें छोटी-छोटी असंगतियाँ चाहे हों फिर भी ऐतिहासिक विरोध प्रायः नहीं है। व्यर्थ की घटनाओं से उपन्यास को बचाया गया है। उसमें हर्षकालीन समाज व्यवस्था का साकार निरूपण हुआ है। लेखक ने बाण की आत्मा में पैठकर कलाकार बाण और आचार्य बाण के अन्तर्द्वन्द्व का चित्र खींचा है और उनकी मूल प्रेरणा के स्रोत का चित्रण किया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्कृत की तथा स्वयं बाणभट्ट की कृतियों में उपलब्ध सामग्री के सार रूप में ग्रहण किया गया है। उपन्यास में सम्पूर्ण युगजीवन को समेट लिया गया है और एक सांस्कृतिक वातावरण की पीठिका पर गत्यात्मक चरित्रों की सृष्टि हुई है। विषयवस्तु की दृष्टि से उपन्यास नया प्रयोग है जिसमें आत्म कथात्मक शैली को ऐतिहासिक पात्रों से सम्बद्ध किया गया है। इसे हर्षचरित और कादम्बरी की शैली को ध्यान में रखकर लिखा गया है जिसमें भामह द्वारा निर्देशित आख्यायिका के लक्षणों का निर्वाह हुआ है। आध्यात्मिक कलेवर में विशेष प्रकार की सघनता, आलंकारिकता और ऐतिहासिक तथा सामाजिक आयामों के फैलावों का समन्वय कुशलता के साथ हुआ है।

द्विवेदी जी का दूसरा चर्चित ऐतिहासिक उपन्यास है, चारु चन्द्रलेख। आत्मकथा की प्रभावोत्पादक शैली का प्रयोग वहाँ भी हुआ है। उपन्यास में कथा मुख के अनुसार अघोरनाथ ने चन्द्रदीप की उपत्यका में चन्द्र गुहा के हिस्से में उट्टंकित वृत्त की जो प्रतिलिपि प्राप्त हुई है उसका सम्बन्ध है, तेरहवीं शती से और घटनास्थल हैं, आर्यावर्त। समाज की विशृंखलता, अन्धविश्वास, मुसलमानों के आक्रमणों से उत्पन्न कुंठाओं और हीन भावना आदि क्षेत्रों में व्यापक प्रसार तथा कथा विस्तार के कारण उपन्यास आयामहीन हो गया है। वस्तुतः इसी कारण से प्रस्तुत उपन्यास का कथानक कहीं-कहीं शिथिल भी हो गया है। इस उपन्यास की कथा सामग्री जिस काल से ली गई है वह साहित्य और संस्कृति का संकटकाल है। इसलिए ऐतिहासिक तथा काल्पनिक तत्त्वों को अलग कर देने की स्थिति वहाँ नहीं है। इस दृष्टि से कथा में जीवन्त ऐक्य है। कथाकार ने विभिन्न स्रोतों से बिखरी हुई सामग्री को समेटा है। ये स्रोत हैं, कुछ प्राचीन ग्रन्थों में मिलने वाली कथाएँ, कुछ साधना ग्रन्थों के कर्मकाण्ड विषयक श्लोक और दर्शन की चर्चा करने वाले ग्रन्थों में निहित विचार। कथा के तन्तु अत्यन्त विरल हैं परन्तु इस क्षीणता की क्षतिपूर्ति आयामों की विविधता और समृद्धि द्वारा की गई है। उपन्यास का दुखद अन्त उस पूरे युग की व्यर्थता संकेतित कर जाता है जहाँ क्रियाशक्ति (मैना) मृतप्राय है। इच्छाशक्ति (रानी) चलने में पंगु है और बोध शक्ति (बोधा) भयभीत और पलायनशील है।

रांगेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यास दो प्रकार के हैं। एक, जिनमें ऐतिहासिक पात्र

और ऐतिहासिक युग चित्रित हैं किन्तु कथानक की दृष्टि से लेखक ने स्वतन्त्रता ली है, जैसे मुर्दों-का टीला, चीवर, प्रतिदान, पक्षी और आकाश इत्यादि और दूसरे, वे उपन्यास, जिन्हें स्वयं लेखक ने औपन्यासिक जीवनी कहा है, जैसे—देवकी का बेटा, रत्ना की बात, लोई का ताना, यशोधरा जीत गई, लखिमा की आखें इत्यादि। इन सभी उपन्यासों में लेखक की कल्पना ने पूरी छूट ली है। ऐतिहासिक परिप्रेक्षण में तटस्थता और वैज्ञानिकता तो है पर उपयोगितावाद के खुले और प्रचार तत्त्व के लुके-छिपे प्रयोगों का मताग्रह कहीं-कहीं उभर ही आता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के निषेध के बावजूद बहुत बार लेखक उसी स्वर में बोलता हुआ प्रधान हो उठा है। काम और अर्थ सम्बन्धी तत्त्वों और मूल्यों की स्थापना मार्क्सवादी दृष्टिकोण से ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुई है। कला की दृष्टि से ये उपन्यास राहुल जी के ऐतिहासिक उपन्यासों से आगे और ऐतिहासिकता की दृष्टि से यशपाल के उपन्यासों से अधिक वास्तविक हैं।

(३) अन्तर्मुखी मोड़—मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास (१९३६-६५)

प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासकार वस्तुपरक और बहिरंग यथार्थ से जुड़े हुए थे। यद्यपि उनकी रचनाओं में आत्मपरकता का अभाव नहीं था, अन्तर्द्वन्द्व और स्मृतियों के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति भी होती थी, परन्तु, पहले इन तत्त्वों को व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार ढाल लिया जाता था। उस युग के लेखक औपचारिक कथा और चरित्र निरूपण के द्वारा जीवन पर सामंजस्यपूर्ण और सतर्क ढांचा आरोपित करते थे परन्तु नया उपन्यास वस्तु तत्त्व और रूप-विधान दोनों ही क्षेत्रों में अत्यधिक नवीनता का आग्रह लेकर आया, उसके लिए वस्तुपरकता का अस्तित्व बिल्कुल गौण हो गया, और कथा-सर्जना भी अब केवल आत्मपरकता को सघनता देने के माध्यम रूप में ही शेष रह गई। बहिरंग यथार्थ उन्हें उतनी ही सीमा तक ग्राह्य हुआ जहाँ तक वह मन की गहराई में उतरने के लिए सहारा बन सके।

जिस प्रकार मार्क्स की क्रान्तिवादी चेतना से प्रभावित होकर हिन्दी लेखकों ने सामाजिक यथार्थ के विभिन्न स्तरों को अपना लक्ष्य बनाया, उसी प्रकार यूरोप के मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धान्तों ने भी हिन्दी उपन्यास की गतिविधि को प्रभावित किया। सबसे अधिक प्रभाव पड़ा फ्रायड का जिसके मनोविश्लेषण ने हमें सम्पूर्ण चरित्र-अध्ययन और यथार्थवादी व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा के लिए नई-नई पद्धतियाँ दीं। जिनके द्वारा मनुष्य के बाह्य कार्यव्यापारों, सम्भाषणों, भंगिमाओं और कर्म-प्रेरणाओं द्वारा उनके अन्तर्जगत के संश्लिष्ट विन्यास का विश्लेषण किया जा सके, और उसके असंख्या उलझे हुए सूत्रों को सुलझाने के मार्ग खुले। इन पद्धतियों का आधार लेकर उपन्यासकार समाज सपेक्षता से व्यक्ति की ओर मुड़ा। वह मनुष्य के अन्तर्मन की गहराइयों में उतरा और अपनी तटस्थ तथा वैज्ञानिक दृष्टि के द्वारा अन्तर तथा बाह्य जगत के छोटे बड़े संघर्षों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर देख सका। इस प्रकार ये नये उपन्यासकार नये मूल्यों और नैतिकता के नये प्रतिमानों को लेकर हिन्दी जगत में प्रविष्ट हुए।

जिस प्रकार के मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की परम्परा फ्रांस, रूस और अमरीका में उन्नीसवीं शती के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ में शुरू हुई हिन्दी में उनकी परम्परा बीसवीं सदी के चौथे दशक में आरम्भ हुई। लेकिन यह समझना भूल होगी कि इसके मूल में कोरा विदेशी प्रभाव था। यह प्रवृत्ति बाहर से आकर भी देश की मिट्टी में ही फूट कर

उभरी। बीसवीं सदी के आरम्भ में एक और फ्रांसीसी और रूसी उपन्यास ने प्रकृतवाद की भूमि पर नई उपलब्धियाँ प्राप्त की। दूसरी ओर रूस के उपन्यासकार टालस्टॉय, दोस्तोवस्की, तुर्गनेव, चेखव आदि की कृतियों को सार्वभौम स्वीकृति मिली। इसी बीच अचेतन-अवचेतन सम्बन्धी नई खोजों की धूम मच गई और साहित्यकारों के बीच भी मन के विभिन्न स्तरों की व्याख्या के लिए मनोविश्लेषनात्मक पद्धति मान्य हो गई। नये उपन्यासकारों का ध्यान समष्टि से हट कर व्यक्ति पर केन्द्रित हो गया और मन की अंतरंग परतों को उघारने के लिए मनोवैज्ञानिक स्थितियों का अध्ययन किया गया। असम्बद्ध दृश्यों, विश्रृंखलित और असम्बद्ध घटनाओं और कार्यों का सहारा लेकर यौन भावना, प्रेम, घृणा, कुण्ठा, तृष्णा-वितृष्णा असामाजिकता आदि का मनोवैज्ञानिक धरातल पर सविस्तार चित्रण हुआ। जेम्स ज्वॉयस, वर्जीनिया वुल्फ़, हक्सले, डी०एच० लारेन्स आदि का साहित्य इसी मनोविश्लेषणात्मक भूमि पर लिखा गया। इन सभी लेखकों के उपन्यासों में अन्तश्चेतना को प्रवाहों अथवा उसके ज्वार-भाटे के प्रतीक में बांधा गया है। ये उपन्यास पहले के उपन्यासों से सर्वथा भिन्न थे, उनका सम्बन्ध शरीर से कम आत्मा से अधिक हो गया, फलस्वरूप उनकी जीवन दृष्टि भी समग्र और व्यापक न रह कर खण्डित, परन्तु गहरी हो उठी। हिन्दी में इस धरातल को स्वीकार करने वाले पहले उपन्यासकार थे, जैनेन्द्र कुमार परन्तु उनकी एकाग्रता में अचेतन अवचेन के साथ दर्शन-चिन्तन भी जुड़ा हुआ था। उनके उपन्यासों के केन्द्र में एक विचार-विन्दु और चिन्तनपरक दृष्टि थी और पात्र तथा कथानक उसी विचार-दर्शन की प्रतिष्ठा के माध्यम थे। जैनेन्द्र की दृष्टि में 'उपन्यासकार निर्वैक्तिक जीवन आदर्शों में तिल-तिल अपने को तपाने वाला ऋषि है। तटस्थता ही ऋषि-दृष्टि है।' जैनेन्द्र अपने को आदर्शवादी कलाकार मानते हैं जो स्वप्न, सम्भावना, कल्पना और सूक्ष्म यथार्थ के गठबन्धन में विश्वास करता है। यथार्थ उनके लिए सत्य नहीं है क्योंकि आदर्श-यथार्थ में नहीं उसके बाहर होकर ही है। अहम् का विगलन उनके पात्रों की साधना है जिसकी प्राप्ति आत्म व्यथा द्वारा होती है। यह साधना मूलतः अन्तर्मुखी है जो मन की व्यथा की खराद पर चढ़ कर सत्य की ओर उन्मुख होती है। उन्होंने बहिर्जगत के सत्य की अवहेलना करके भावजगत के सत्य को पकड़ना चाहा है। इसलिए उनके उपन्यासों में बाह्य-जगत की उथल-पुथल का स्थान अन्तर्द्वन्द्वों और अन्तर्संघर्षों ने और घटनाओं का स्थान वेदना और व्यथा ने ले लिया है। मन की गहराइयों और उलझनों की थाह लेने के लिए मनोविज्ञान का, तथा मनस्तत्व और अन्तर्द्वन्द्वों के विश्लेषण के लिए स्वप्नों, निराधार प्रत्यक्षीकरणों और प्रतीकों आदि का सहारा लिया गया है। मनस्तत्त्व पर ही ध्यान केन्द्रित होने के कारण बहुत बार उनकी दृष्टि एकान्तिक, काल्पनिक होकर जिन्दगी से कट गई है। जैनेन्द्र ने परम्परागत मूल्यों का निषेध तो किया है पर नये मूल्य उनके बड़े अस्पष्ट और उलझे हुए हैं। समाज-विरोधी तत्त्वों का दार्शनिकता द्वारा समर्थन बुद्धिग्राह्य नहीं होता। और मनोविश्लेषण का समंजन जैनेन्द्र के उपन्यासों में नहीं हो पाया है—'मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और दार्शनिक चिन्तन उनमें अलग-अलग चलते हैं, अगर कहीं साथ हुये भी तो वह किसी हृदयगम्य प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर पाते।' जैनेन्द्र के पात्र क्रियाशील और कर्मठ भी नहीं हैं। उनकी आत्मव्यथा और करुणा का प्रयोजन और कारण क्या है? अनेक सामाजिक प्रश्न उनके माध्यम से उभरते हैं पर अन्त

तक पहुँचते-पहुँचते हमें वैयक्तिकता और आध्यात्मिकता में उलझा देते हैं। सामाजिक प्रश्न जैनेन्द्र की दार्शनिकता से टकरा कर शक्तिहीन हो जाते हैं—और सारे उपन्यास पर ऐसे दर्शन का आच्छादन आ जाता है जो न सुनिश्चित है और न स्पष्ट, जो चित्त पर निर्माल्य नहीं बल्कि उद्वेलन के बाद जड़ता का प्रभाव छोड़ जाता है। उनके उपन्यास हैं—परख, कल्याणी, सुनीता, त्यागपत्र, सुखदा, व्यतीत, विवर्त, जयवर्धन और मुक्तिबोध।

इस परम्परा के दूसरे उपन्यासकार हैं, इलाचन्द्र जोशी। उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में शत-प्रतिशत विदेशी प्रेरणाओं का प्रभाव है। उनमें अन्तर्जीवन और अज्ञात चेतना के सिद्धांतों को आधाररूप में ग्रहण किया गया है। मानव मन की गहराई में एक गहन, रहस्यमय और अपरिमित जगत विद्यमान है, जिसकी अपनी पृथक् सत्ता है। जोशी जी ने इसी अज्ञात चेतना-लोक के भीतर दबी छिपी कामनाओं, वासनाओं, कुण्ठित प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति दी है। इन आधारों के लिए उन पर फ्रायड और युंग का ऋण है। मनुष्य के अचेतन की दो तहें हैं, व्यक्तिगत अचेतन, जिसमें बाल्यकाल की दमित मनोवृत्तियाँ छिपी रहती हैं और सामूहिक अचेतन, जिनमें आदिम दमित वृत्तियाँ अन्तर्निहित रहती हैं। काम भावना मन की गति को नये-नये रूपों में उलटा-पलटा करती हैं। सामाजिक नियमों और प्रतिबन्धों के कारण काम भावना को सहज गति और अभिव्यक्ति नहीं मिलती। इसी दमन से उत्पन्न अतृप्ति के कारण अनेक विरोधी प्रवृत्तियों अस्वाभाविकताओं और असंगतियों का जन्म होता है। स्वप्न भी दमित इच्छाओं के प्रतीक हैं। इन्हीं स्थितियों से उत्पन्न मनोग्रंथियाँ ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, निराशा, संशय आदि का कारण बनती हैं जिनसे मानसिक स्वास्थ्य और संतुलन नष्ट हो जाता है और व्यक्ति अस्वस्थ अहम्मन्यता, आत्मरति, परपीड़न, बौद्धिक यन्त्रणा, मानसिक विकृति, सन्देह, बेतुकी दौड़ धूप आदि से ग्रस्त हो जाता है। अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए जोशी जी ने कहा है कि अपने उपन्यासों में उनका ध्येय अहंभाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करना रहा है। आज की परिस्थिति में अहंतत्त्व असंतुलित रूप में प्रखर हो गया है। अहंवादी आत्मघाती भी होता है और समाजघाती भी। वह अपना नाश भी करता है और परिवेश को भी दूषित करता है। इसके कारण सबसे अधिक शोषण हुआ है नारी का, जिसमें, पुरुष के अहं के प्रति एकान्त समर्पण नहीं विद्रोह का स्वर है।

इस प्रकार की अवस्थाएँ, स्थितियों और पात्रों से सम्बद्ध होने के कारण जोशी जी के कथानक क्लिनिकल कथानक बन गये हैं और उनके पात्र न्यूरॉटिक। प्रेत और छाया, पर्दे की-रानी, लज्जा, जिप्सी, घृणामयी सबमें अचेतन की गांठों को खोलने का प्रयास किया गया है। प्रायः इन सभी उपन्यासों के पात्रों के अवचेतन की गाठें उनसे घृणित और असामाजिक कार्य करवाती हैं। उनकी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियाँ उनसे वही सब करवाती हैं जिन्हें वे करना नहीं चाहते। जब तक यह ग्रन्थि अचेतन से चेतन में नहीं आती तब तक यह मानसिक असंतुलन नहीं मिटता। कहीं वह ग्रन्थि हीनभावजन्य है, कहीं यौन वर्जनाओं से उत्पन्न है। इन उपन्यासों के कथा-विकास का आधार है चरित्रगत विकृतियाँ जो अधिकतर कुण्ठाग्रस्त, आत्मरत, पाशवबुद्धि, अहंवादिता और पलायनवादिता को अपने में समेटे हैं। उनके पात्र भी मन के रोगी होने के कारण मनोवैज्ञानिक केस हैं। उनका एक बाहरी मुखौटा है। परन्तु उस मुखौटे के नीचे एक

विषैला व्यक्तित्व है जो साँप की तरह कुण्डली मारे बैठा है। बहुत बार इन मानसिक स्थितियों-की अभिव्यक्ति स्वप्न-नियोजन के द्वारा की गई है। जटिल मनोवृत्तियों और अनुभूतियों के व्यक्तीकरण के लिए दिवास्वप्नों और हिल्यूसिनेशन्स का प्रयोग भी किया गया है। पात्रों की अचेतन प्रवृत्तियों के खोलने के लिए स्वप्नयोजना की गई है। और अचेतन मन की गांठों को खोलने के लिए हिल्यूसिनोशन का प्रयोग किया गया है। सम्मोहन प्रक्रिया का प्रयोग भी कई बार किया गया है। चरित्र-विश्लेषण की उनकी पद्धति जैनेन्द्र से अलग है। कथा-संगठन की दृष्टि से उसकी वस्तुमुखी प्रकृति के कारण वे प्रेमचन्द के निकट पड़ते हैं। उनके पात्रों में जैनेन्द्र की सी अन्र्तदृष्टि और गहराई नहीं है। केवल मनोविश्लेषण की तार्किक बौद्धिकता का आग्रह है, यह बात ध्यान में रखने की है। इलाचन्द्र के परवर्ती उपन्यासों में अस्वस्थता और मानसिक रुग्णता का इतना आग्रह नहीं है। सुबह के भूले, मुक्तिपथ और जहाज का पंछी इन तीनों उपन्यासों में ही वे स्वस्थ स्थितियों की ओर झुके हैं। कुण्ठा, वासना की अतृप्ति और उससे उत्पन्न विकृतियाँ ही उनका साध्य विषय नहीं हैं। मनोविश्लेषण इन उपन्यासों में साध्य नहीं केवल साधन है। सुबह के भूले उस स्वस्थ परम्परा की पहली कड़ी है। बाद के उपन्यासों में इसका विकास हुआ है। मुक्तिपथ का स्वर तो कहीं-कहीं आदर्शवादी हो उठा है। जहाज का पंछी में अहं और परिस्थितियों से पीड़ित छटपटाती मानव चेतना का विश्लेषण व्यक्ति और समाज दोनों के स्तर पर हुआ। उनकी दृष्टि निर्मम और तटस्थ करीब-करीब वैसी है, जिसे जैनेन्द्र ने ऋषि दृष्टि कहा है।

अज्ञेय हिन्दी उपन्यास में नये धरातल और नये क्षितिज लेकर आये। जैनेन्द्र में दार्शनिकता का आग्रह था और जोशी में मनोविश्लेषण शास्त्र का, पर अज्ञेय जीवन के आग्रह के साथ इस क्षेत्र में शेखर को लेकर उतरे जिसमें घटनाएँ बाहर की कम अन्तर्जगत की अधिक थीं। 'शेखर' की चेतना के सूक्ष्मतम स्पन्दनों और बाह्य जगत के प्रति उसकी रागात्मक प्रतिक्रियाओं को अज्ञेय ने बड़ी खूबसूरती-सादगी लेकिन गहराई से व्यंजित किया। घटनाओं की असंगति, असम्वद्धता और क्रमहीनता के द्वारा काल-प्रवाह का आभास देते हुए उन्होंने हिन्दी जगत को शेखर की अद्वितीयता से स्तम्भित कर दिया। 'शेखर' में नायक के भोगे हुये जीवन को अस्तव्यस्त, विशृंखल, मानवीय संवेदनाओं के माध्यम से देखा गया है। अन्तश्चेतना की गहराइयों और यथार्थ को जीवन के स्तर पर बिना किसी सैद्धान्तिक आग्रह के उभारने वाले वे ही एक मात्र उपन्यासकार हैं। बौद्धिक स्तर की प्रधानता के कारण उनमें पात्रों और घटनाओं का प्रतिघात-घात परम्परागत रूप में नहीं मिलता। इस प्रकार अज्ञेय ने शेखर में जीवन सम्बन्धी नई संवेदना दी। हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों की प्रतिक्रिया इस सम्बन्ध में दो प्रकार की हुई। एक वर्ग के आलोचकों ने उसे प्रतिक्रियावादी, आत्मकेन्द्रित-व्यक्तिवादी, असामाजिक कृति करार दिया और दूसरे वर्ग ने उसे आने वाले उपन्यास के लिए प्रकाशस्तम्भ माना।

शेखर में अज्ञेय के दृष्टिकोण का मूल धरातल व्यक्ति है, पर उनका व्यक्ति समाज का उलटा नहीं है। उसी में आविर्भूत एक इकाई है। सामाजिक अव्यवस्था अनिश्चय और जटिलता के इस युग में एक व्यक्ति के भीतर अनेक बहुमुखी व्यक्तित्व उभर आये हैं, उसके कारण उसके अन्तर में जो सतत् द्वन्द्व और संघर्ष चलता रहता है। मानवता के सच्चे अनुभव के प्रकाश में उसे पहचानने की कोशिश करना ही उनके उपन्यासों का ध्येय है। उनके शब्द हैं—'मेरी रुचि

तक पहुँचते-पहुँचते हमें वैयक्तिकता और आध्यात्मिकता में उलझा देते हैं। सामाजिक प्रश्न जैनेन्द्र की दार्शनिकता से टकरा कर शक्तिहीन हो जाते हैं—और सारे उपन्यास पर ऐसे दर्शन का आच्छादन आ जाता है जो न सुनिश्चित है और न स्पष्ट, जो चित्त पर निर्माल्य नहीं बल्कि उद्वेलन के बाद जड़ता का प्रभाव छोड़ जाता है। उनके उपन्यास हैं—परख, कल्याणी, सुनीता, त्यागपत्र, सुखदा, व्यतीत, विवर्त, जयवर्धन और मुक्तिबोध।

इस परम्परा के दूसरे उपन्यासकार हैं, इलाचन्द्र जोशी। उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में शत-प्रतिशत विदेशी प्रेरणाओं का प्रभाव है। उनमें अन्तर्जीवन और अज्ञात चेतना के सिद्धांतों को आधाररूप में ग्रहण किया गया है। मानव मन की गहराई में एक गहन, रहस्यमय और अपरिमित जगत विद्यमान है, जिसकी अपनी पृथक् सत्ता है। जोशी जी ने इसी अज्ञात चेतना-लोक के भीतर दबी छिपी कामनाओं, वासनाओं, कुण्ठित प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति दी है। इन आधारों के लिए उन पर फ्रायड और युंग का ऋण है। मनुष्य के अचेतन की दो तहें हैं, व्यक्तिगत अचेतन, जिसमें बाल्यकाल की दमित मनोवृत्तियाँ छिपी रहती हैं और सामूहिक अचेतन, जिनमें आदिम दमित वृत्तियाँ अन्तर्निहित रहती हैं। काम भावना मन की गति को नये-नये रूपों में उलटा-पलटा करती हैं। सामाजिक नियमों और प्रतिबन्धों के कारण काम भावना को सहज गति और अभिव्यक्ति नहीं मिलती। इसी दमन से उत्पन्न अतृप्ति के कारण अनेक विरोधी प्रवृत्तियों अस्वाभाविकताओं और असंगतियों का जन्म होता है। स्वप्न भी दमित इच्छाओं के प्रतीक हैं। इन्हीं स्थितियों से उत्पन्न मनोग्रंथियाँ ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, निराशा, संशय आदि का कारण बनती हैं जिनसे मानसिक स्वास्थ्य और संतुलन नष्ट हो जाता है और व्यक्ति अस्वस्थ अहम्मन्यता, आत्मरति, परपीड़न, बौद्धिक यन्त्रणा, मानसिक विकृति, सन्देह, बेतुकी दौड़ धूप आदि से ग्रस्त हो जाता है। अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए जोशी जी ने कहा है कि अपने उपन्यासों में उनका ध्येय अहंभाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करना रहा है। आज की परिस्थिति में अहंतत्त्व असंतुलित रूप में प्रखर हो गया है। अहंवादी आत्मघाती भी होता है और समाजघाती भी। वह अपना नाश भी करता है और परिवेश को भी दूषित करता है। इसके कारण सबसे अधिक शोषण हुआ है नारी का, जिसमें, पुरुष के अहं के प्रति एकान्त समर्पण नहीं विद्रोह का स्वर है।

इस प्रकार की अवस्थाएँ, स्थितियों और पात्रों से सम्बद्ध होने के कारण जोशी जी के कथानक क्लिनिकल कथानक बन गये हैं और उनके पात्र न्यूरॉटिक। प्रेत और छाया, पर्दे की-रानी, लज्जा, जिप्सी, घृणामयी सबमें अचेतन की गांठों को खोलने का प्रयास किया गया है। प्रायः इन सभी उपन्यासों के पात्रों के अवचेतन की गाठें उनसे घृणित और असामाजिक कार्य करवाती हैं। उनकी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियाँ उनसे वही सब करवाती हैं जिन्हें वे करना नहीं चाहते। जब तक यह ग्रन्थि अचेतन से चेतन में नहीं आती तब तक यह मानसिक असंतुलन नहीं मिटता। कहीं वह ग्रन्थि हीनभावजन्य है, कहीं यौन वर्जनाओं से उत्पन्न है। इन उपन्यासों के कथा-विकास का आधार है चरित्रगत विकृतियाँ जो अधिकतर कुण्ठाग्रस्त, आत्मरत, पाशवबुद्धि, अहंवादिता और पलायनवादिता को अपने में समेटे हैं। उनके पात्र भी मन के रोगी होने के कारण मनोवैज्ञानिक केस हैं। उनका एक बाहरी मुखौटा है। परन्तु उस मुखौटे के नीचे एक

विषैला व्यक्तित्व है जो साँप की तरह कुण्डली मारे बैठा है। बहुत बार इन मानसिक स्थितियों-की अभिव्यक्ति स्वप्न-नियोजन के द्वारा की गई है। जटिल मनोवृत्तियों और अनुभूतियों के व्यक्तीकरण के लिए दिवास्वप्नों और हिल्यूसिनेशन्स का प्रयोग भी किया गया है। पात्रों की अचेतन प्रवृत्तियों के खोलने के लिए स्वप्नयोजना की गई है। और अचेतन मन की गांठों को खोलने के लिए हिल्यूसिनोशन का प्रयोग किया गया है। सम्मोहन प्रक्रिया का प्रयोग भी कई बार किया गया है। चरित्र-विश्लेषण की उनकी पद्धति जैनेन्द्र से अलग है। कथा-संगठन की दृष्टि से उसकी वस्तुमुखी प्रकृति के कारण वे प्रेमचन्द के निकट पड़ते हैं। उनके पात्रों में जैनेन्द्र की सी अन्तर्दृष्टि और गहराई नहीं है। केवल मनोविश्लेषण की तार्किक बौद्धिकता का आग्रह है, यह बात ध्यान में रखने की है। इलाचन्द्र के परवर्ती उपन्यासों में अस्वस्थता और मानसिक रुग्णता का इतना आग्रह नहीं है। सुबह के भूले, मुक्तिपथ और जहाज का पंछी इन तीनों उपन्यासों में ही वे स्वस्थ स्थितियों की ओर झुके हैं। कुण्ठा, वासना की अतृप्ति और उससे उत्पन्न विकृतियाँ ही उनका साध्य विषय नहीं हैं। मनोविश्लेषण इन उपन्यासों में साध्य नहीं केवल साधन है। सुबह के भूले उस स्वस्थ परम्परा की पहली कड़ी है। बाद के उपन्यासों में इसका विकास हुआ है। मुक्तिपथ का स्वर तो कहीं-कहीं आदर्शवादी हो उठा है। जहाज का पंछी में अहं और परिस्थितियों से पीड़ित छटपटाती मानव चेतना का विश्लेषण व्यक्ति और समाज दोनों के स्तर पर हुआ। उनकी दृष्टि निर्मम और तटस्थ करीब-करीब वैसी है, जिसे जैनेन्द्र ने ऋषि दृष्टि कहा है।

अज्ञेय हिन्दी उपन्यास में नये धरातल और नये क्षितिज लेकर आये। जैनेन्द्र में दार्शनिकता का आग्रह था और जोशी में मनोविश्लेषण शास्त्र का, पर अज्ञेय जीवन के आग्रह के साथ इस क्षेत्र में शेखर को लेकर उतरे जिसमें घटनाएँ बाहर की कम अन्तर्जगत की अधिक थीं। 'शेखर' की चेतना के सूक्ष्मतम स्पन्दनों और बाह्य जगत के प्रति उसकी रागात्मक प्रतिक्रियाओं को अज्ञेय ने बड़ी खूबसूरती-सादगी लेकिन गहराई से व्यंजित किया। घटनाओं की असंगति, असम्वद्धता और क्रमहीनता के द्वारा काल-प्रवाह का आभास देते हुए उन्होंने हिन्दी जगत को शेखर की अद्वितीयता से स्तम्भित कर दिया। 'शेखर' में नायक के भोगे हुये जीवन को अस्तव्यस्त, विश्रृंखल, मानवीय संवेदनाओं के माध्यम से देखा गया है। अन्तश्चेतना की गहराइयों और यथार्थ को जीवन के स्तर पर बिना किसी सैद्धान्तिक आग्रह के उभारने वाले वे ही एक मात्र उपन्यासकार हैं। बौद्धिक स्तर की प्रधानता के कारण उनमें पात्रों और घटनाओं का प्रतिघात-घात परम्परागत रूप में नहीं मिलता। इस प्रकार अज्ञेय ने शेखर में जीवन सम्बन्धी नई संवेदना दी। हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों की प्रतिक्रिया इस सम्बन्ध में दो प्रकार की हुई। एक वर्ग के आलोचकों ने उसे प्रतिक्रियावादी, आत्मकेन्द्रित-व्यक्तिवादी, असामाजिक कृति करार दिया और दूसरे वर्ग ने उसे आने वाले उपन्यास के लिए प्रकाशस्तम्भ माना।

शेखर में अज्ञेय के दृष्टिकोण का मूल धरातल व्यक्ति है, पर उनका व्यक्ति समाज का उलटा नहीं है। उसी में आविर्भूत एक इकाई है। सामाजिक अव्यवस्था अनिश्चय और जटिलता के इस युग में एक व्यक्ति के भीतर अनेक बहुमुखी व्यक्तित्व उभर आये हैं, उसके कारण उसके अन्तर में जो सतत् द्वन्द्व और संघर्ष चलता रहता है। मानवता के सच्चे अनुभव के प्रकाश में उसे पहचानने की कोशिश करना ही उनके उपन्यासों का ध्येय है। उनके शब्द हैं—'मेरी रुचि

व्यक्ति में रही है और है।' उनके पात्र समाज से विच्छन्न होकर भी समाज के अंग हैं। उपन्यास पूरे समाज का चित्र हो, यह माँग बिल्कुल गलत है। सुनिर्मित विश्वास्य व्यक्ति चरित्र हो, जीवन्त हो, यही मेरा विश्वास है। व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज है। प्रतिबिम्ब भी है और पुतला भी। इसी तरह वह जैविक परम्पराओं का भी पुतला है। जैविक सामाजिक का विरोधी नहीं है। वह निरा पुतला निरा जीव नहीं है। वह व्यक्ति है। बुद्धि विवेक सम्पन्न व्यक्ति को दबाकर मामले का जो निर्णय किया जावेगा, वह गलत होगा।

'शेखर' में घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे गए 'विजन' को शब्दबद्ध किया गया है। यातना की शक्ति दृष्टि देती है। अपनी पीड़ा के ही कारण वह द्रष्टा बन जाता है। शेखर में 'अहम्' है जिससे उत्पन्न विद्रोह या तो प्रबल होकर सब पर हावी रहना चाहता है या सिमट कर आत्म केन्द्रित हो जाता है। उसके सारे असाधारण कार्य अहम् के आहत होने पर ही होते हैं। उसकी मूलभूत प्रेरणा 'अहम्' के विद्रोह में निहित रहती है। वह प्रत्येक वस्तु-स्थिति, व्यवस्था और संस्था के प्रति विद्रोह करता है। उसका विद्रोह किसी और एक विशेष के प्रति नहीं सबके प्रति-सारी स्थितियों के प्रति होता है। शेखर एक प्रखर व्यक्तित्व के विद्रोह की कहानी है। रूप विन्यास की भी दृष्टि से शेखर का विशेष महत्त्व है। उसमें आत्मकथा और आत्म समूहों के संकलन की मिश्रित शैली का प्रयोग किया गया है। उपन्यास की रचना मृत्यु की अनिवार्यता के बोध की पृष्ठभूमि में हुई है, जहाँ स्मृतियों के खण्ड चित्रों के रूप में तटस्थ निर्भयता के साथ स्थितियों का विश्लेषण हुआ है। स्मृत्यालोक और आत्मविश्लेषण के सहारे चेतना-प्रवाह के विभिन्न स्तरों को उभारा गया है, जिस स्तर पर शेखर अपना अतीत फिर से जी लेता है। अनेक छोटी-छोटी स्मृतियाँ उस समग्र प्रवाह की अंग हैं यद्यपि उसमें कार्य कारण या पूर्वापर शृंखलाएँ नहीं हैं, लेकिन स्मृतियों की असम्बद्धता और विशृंखलता ही अधिक स्वाभाविक होती है। सम्बद्धता और सुगुम्फलता तो आम साध्य होती है। उपन्यास में भावों, विचारों और स्थितियों की अन्विति है।

'नदी के द्वीप' अज्ञेय का दूसरा बहुचर्चित उपन्यास है जिसमें व्यक्त मन की भावनाओं और संवेदनाओं के साथ उनकी बौद्धिक प्रतिक्रियाओं की बारीकियों का विश्लेषण किया गया है। कथा चार पात्रों की चेतनास्तर पर विकसित होती है, जिनकी संवेदनाएँ एक दूसरे से भिन्न और परस्पर विरोधी हैं, इसके कथा-खण्ड पात्रों के आधार पर निर्मित हैं। अंतराल अध्याय में कथा खण्डों को शृंखलित किया गया है। रचना शिल्प की दृष्टि से यह भी नवीन प्रयोग है। मानसिक स्थितियों के निरूपण में पूर्वदीप्ति और विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग भी किया गया है। नदी के द्वीप प्रतीकात्मक है। प्रत्येक क्षण द्वीप हैं, खास कर व्यक्ति और व्यक्ति के सम्पर्क का। काँटेक्ट का प्रत्येक क्षण परिचय के महासागर में एक छोटा परन्तु मूल्यवान द्वीप। क्षण सनातन हैं, छोटे-छोटे ओएसिस सम्यक् क्षण....नदी के द्वीप....जो काल-परम्परा नहीं मानता। मानसिक प्रक्रिया के विश्लेषण में टी० एस० इलियट, डी० एच० लारेन्स आदि के उद्धरणों का प्रयोग किया गया है। परन्तु इसके कारण पाठक स्थितियों को भोग नहीं पाता। वह श्रोता और दर्शक ही रह जाता है। 'अज्ञेय' की ये दोनों ही रचनाएँ वस्तु और शिल्प की दृष्टि से अद्वितीय हैं। उनके कवि व्यक्तित्व के सान्निध्य में चाहे किन्हीं दूसरे व्यक्तियों को खड़ा भी किया जा सके

परन्तु हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में उनका स्थान अपना और अलग है। (ज्याँ क्रिस्ताफ़ की प्रति-रूपता के आक्षेपों के बावजूद)

'अपने-अपने अजनबी' की रचना अज्ञेय ने अस्तित्ववादी दृष्टि के आग्रह से हुई है। अज्ञेय जैसे कुशल शिल्पी और सारग्राहक साहित्यकार के हाथों अस्तित्ववाद का विश्वसनीय न हो सकना इस बात का प्रमाण है कि वह विचारदृष्टि यहाँ की मिट्टी के लिए विदेशी है। जिस अजनबीपन को अज्ञेय उभारना चाहते थे, वह उभरा ही नहीं है। मानवीय प्रेम और घृणा का निर्धारण करने वाली स्थितियों और वस्तु तत्त्वों को जैसे लेखक ने ऊपर ही ऊपर छू लिया है कोई गहरी और नयी दृष्टि देने में अथवा किसी नये महत्त्वपूर्ण सत्य की स्थापना अज्ञेय नहीं कर पाए हैं। उसका चिन्तन मुक्त और प्रामाणिक नहीं अर्जित और आरोपित है। अभिप्राय और प्रभाव की अन्विति भी उसमें नहीं है। पहले दो उपन्यासों की तुलना में यह कृति पासंग भर भी नहीं बैठती।

अज्ञेय के बाद इस परम्परा के प्रमुख उपन्यासकार हैं, डॉ० देवराज। उनके चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, 'पथ की खोज' (दो भाग) 'बाहर भीतर', 'रोड़े और पत्थर' तथा 'अजय की-डायरी'। पथ की खोज में उन्होंने पात्रों और उनसे सम्बद्ध परिवेश के माध्यम से कई सार्थक प्रश्न उठाये हैं जो बौद्धिक और व्यक्तिवादी चिन्तन के परिणाम होते हुए भी सामाजिक सन्दर्भों और मूल्यों के भीतर से सामने आते हैं, आदर्श और यथार्थ-परम्परा और नई चेतना के संघर्ष एक साथ कई दृष्टिकोण उभर कर आते हैं, जिनके उलझावों में फँसा हुआ व्यक्ति अपना निभ्रन्ति पथ नहीं खोज पाता।

उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, अजय की डायरी। उपन्यास का केन्द्र है व्यक्ति का अन्तर्मन। इसमें स्त्री और पुरुष के सहज आकर्षण और प्रेम के घातप्रतिघातों की बारीकियों को लेखक ने बाँधना चाहा है। वाह्य घटनाओं और सामाजिक पक्षों का उपयोग केवल व्यक्तियों के परिवेश का निर्माण करने के उद्देश्य से हुआ है। उपन्यास का सबसे बड़ा आकर्षण है, मन को गहरे छू लेने वाली घनीभूत संवेदना, जो बुद्धि संस्पर्शित होकर बहुत तीव्र हो गई है। संस्कृति, दर्शन और साहित्य के विवाहित विद्वान् और एक अविवाहित छात्रा के प्रेम के उहा-पोहों का इसमें चित्रण हैं। भावनाओं का ज्वार-भाटा, उनकी ऊष्मा और उत्ताप उससे सम्बद्ध क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का चित्रण बड़े संयम और सूक्ष्मता के साथ किया गया है।

इन लेखकों की दृष्टि में जिन्दगी कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिस पर हम अपनी कल्पना की व्यवस्थाओं और सम्भावनाओं को आरोपित कर दें, वह तो अपने अर्ध पारदर्शी वृत्त में हमारी चेतना को घेरे रहती हैं और उस पर अपने असंख्य प्रभाव अंकित कर जाती हैं, जिनके कारण मानसिक उलझावों और जटिलताओं का जन्म होता है। इनकी क्षण-क्षण उठती गिरती और बदलती प्रतिक्रियाओं की असम्बद्ध शृङ्खलाओं को इन लेखकों ने पकड़ने की कोशिश की है। इन शृङ्खलाओं पर व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति के अनुशासन से हावी रहता है, परन्तु उस अनुशासन के ज़रा भी ढीले होने पर, हम मानसिक उलझावों के घेरे में अपने को बंधा हुआ पाते हैं। इन मनोविश्लेषक उपन्यासकारों ने इन्हीं अहम् केन्द्रित वैयक्तिक चेतनाओं को स्मृतियों, ऐन्द्रिय बोधों और कल्पना के आधार पर ढालने की कोशिश की है। इन अमूर्त सूक्ष्म मनः-

स्थितियों को बोधगम्य बनाने के लिए बहुत बार उन्हें व्याख्यात्मक संकेत भी देने पड़े हैं। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्हें लाक्षणिक भाषा और व्यंजना-पुष्ट तथा वैयक्तिक प्रतीकों और बिम्बों का प्रयोग भी करना पड़ा है।

ये उपन्यास देशकाल के बन्धनों की कठोरता से मुक्त हैं। पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का विवेक द्वारा नियन्त्रित होना यहाँ अनिवार्य नहीं है। इसलिए कालक्रम का अनुसरण उनके लिए आवश्यक नहीं है। उनकी वैयक्तिक चेतना देशकाल में उन्मुक्त आन्दोलित होती है, पर काल के आयाम में बंधना उनके लिए सम्भव नहीं है। इन उपन्यासों को पढ़ते हुए कहीं हम काल के प्रसार में खड़े रहते हैं और विविध वहिर्मुखी घटनाओं और तत्त्वों पर विचार करने के लिए बाध्य होते हैं, कहीं एक या अनेक व्यक्तियों की चेतना-स्तरों पर घूमते हुए उनका लेखाजोखा ले सकते हैं। इन उपन्यासों में वर्णन, आत्मकथा, आत्मविश्लेषण, दिवास्वप्न, प्रत्यक्ष और परोक्ष अतरंग आलापों की शैली प्रयुक्त होती है जिनका उद्देश्य चरित्र के मानसिक अस्तित्वों और प्रक्रियाओं को निरूपित करना होता है।

मानसिक स्तर की घटनाओं और स्थितियों की प्रधानता के कारण इस परम्परा के उपन्यासकारों को शिल्प के प्रति बहुत जागरूक रहना पड़ा है, और काल तथा स्थान की अन्विति के प्रति उन्हें समाजोन्मुखी उपन्यासकारों की अपेक्षा बहुत अधिक सतर्क रहना पड़ता है। इसीलिए जहाँ कहीं भी उनकी दृष्टि में ढीलापन आ गया है, उनमें एक बिखराव आ गया है, और संवेदनाओं और संसर्गों के व्यवस्थाहीन घात-प्रतिघातों में खोई हुई चेतना अपनी वास्तविकताओं के साथ रूपायित नहीं हो पाई है।

उपन्यास लेखिकाएँ

इस काल के उपन्यास के क्षेत्र में नारी लेखिकाओं का कृतित्व-गुण और महत्त्व दोनों ही दृष्टि से अत्यन्त साधारण है, ऐतिहासिक क्रम में पहला नाम आता है श्रीमती उषा मित्रा का। पिया, वचन का मोल, आवाज तथा जीवन की मुस्कान उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। रजनी-पनिकर के उपन्यास मोम के मोती, पानी की दीवार और काली लड़की में नारी-जीवन की समस्याओं को पहले की अपेक्षा खुली और यथार्थवादी दृष्टि से देखा गया है। चन्द्रकिरण-सौनरिक्सा की कृति चंदन चांदनी में भी सार्थक और यथार्थ प्रश्न उठाए गए हैं। नवीनतम लेखिकाओं में प्रमुख नाम हैं, शिवानी, उषा प्रियम्वदा और मन्नू भण्डारी। शिवानी के 'चौदह-फेरे' शायद इन सबमें अधिक चर्चित उपन्यास है। मानसिक ऊहापोहों का खरा धरातल, यथार्थ-परिवेश, कटुता और माधुर्य की तटस्थ परन्तु संतुलित, स्वीकृति, गम्भीर भावुकता तथा सजीव आंचलिक स्पर्शों ने इस उपन्यास को अपने ढंग का एक बना दिया है। उषा प्रियम्वदा के उपन्यास पचपन खम्भे लाल दीवारें में औपन्यासिक संयोजनाओं की अनेक सम्भावनाएँ थीं जिस पर लेखिका की दृष्टि नहीं गई है और उपन्यास पात्रों और स्थितियों के प्रति पूर्वाग्रहों और मताग्रहों से भर गया है। उनकी कहानियों की तुलना में यह उपन्यास अत्यन्त साधारण ठहरता है। मन्नू भंडारी द्वारा लिखित एक इंच मुस्कान के अंश उनकी प्रखर क्षमता और दृष्टि का परिचय देते हैं। इन लेखिकाओं का कृतित्व समग्र रूप में अत्यन्त साधारण है। जैनेन्द्र, अज्ञेय अथवा नयी पीढ़ी के समर्थ लेखकों के समकक्ष खड़े होने की तो बात ही क्या, उनके कमर तक

पहुँचने वाला व्यक्तित्व भी कोई नहीं है। हिन्दी में जेन ग्रास्टिन, ब्रान्टे बहनें, जार्ज इलियट, वर्जिनियर वुल्फ़ ग्रौर पर्ल बक जैसे व्यक्तित्वों की ग्रभी कहीं सम्भावना नहीं दिखाई देती।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास ने महाकाव्य की स्थानापन्न विधा के रूप में ग्रपना दायित्व पूर्ण रूप से निभाया है। जिन्दगी की ग्रायाम-हीन दिशाग्रों, ग्रनेक ग्रायामी राहों ग्रौर विविध ग्रनेक रूपताग्रों को तो उसने समेटा ही है, मन की परतों ग्रौर बौद्धिक गहराइयों में भी वह सूक्ष्मचेता की तरह उतरा है, ग्रौर ग्रादमी की एक-एक रग को पहिचानने तथा उसकी नब्ज़ की ग्रावाज़ समझने की कोशिश की है, ग्राज जिस स्थिति पर वह टिका है, वहाँ से सम्भावनाग्रों की नई ऊँचाइयाँ ग्रौर गहराइयाँ साफ़ दिखाई दे रही हैं।

कहानी : उद्भव तथा विकास

कविता आदि साहित्य-रूपों की तुलना में कहानी नयी विधा है और हिन्दी में उसके जन्म और विकास को 'बीसवीं शती की घटना'[1] माना जा सकता है। पर कथा-कहानी कहने की प्रवृत्ति मानव-प्रकृति के साथ जुड़ी है। इस विकास के क्रम में कहानी की वस्तु और शैली कितनी ही बार बदली है। भारतीय कथा साहित्य का अतीत ऋग्वेद से लेकर धर्म सूत्रों, जातक कथाओं, पौराणिक आख्यानों तक और संस्कृत के प्रसिद्ध 'कथा सरित्सागर' से लेकर पाली, प्राकृत, अपभ्रंश की कथाओं तक फैला हुआ है। भारतीय कथा, आख्यान, आख्यायिका, वार्त्ता की परम्परा प्रमाण है कि हिन्दी कहानी परम्पराविहीन नहीं है, यद्यपि उसका जन्म और विकास पश्चिम की कथा-दिशा से प्रभावित है। दूसरी ओर यह भी सच है कि हिन्दी कहानी का शिल्प बीसवीं शती में आगे चल कर जिस रूप में विकसित हुआ है, उसे गुणाढ्य की बृहत्कथा, सुबन्धु की वासवदत्ता, दण्डी के दशकुमार और बाणभट्ट की कादम्बरी की शैली से नहीं जोड़ा जा सकता।

भारतेन्दु से पहले

भारतेन्दु से पहले 'ब्रजभाषा गद्य' का जो रूप मिलता है, उसका उदाहरण है, गोकुलनाथ का वार्त्ता साहित्य। ऐतिहासिक महत्त्व की ही दृष्टि से यहाँ राजस्थानी और खड़ी बोली गद्य की स्फुट साहित्यिक परम्पराओं का स्मरण किया जा सकता है, जिन्हें छोड़ कर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खड़ी बोली गद्य ने कथा-शैली के विकास की नयी दिशा चुनी। भारतेन्दु से पहले के समय को इतिहास लेखकों ने आविर्भाव या आरम्भिक काल माना है। १८०० ई० से १८५८ ई० तक की अवधि में तीन ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जो हिन्दी कहानी के आरम्भिक प्रयोगों के रूप में सर्वाधिक उल्लेख्य हैं : लल्लूलाल का प्रेमसागर (१८०३-१८०९), दूसरा सदलमिश्र का नासिकेतोपाख्यान (१८०३ ई०) और तीसरा सैयद इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहनी' (१८००ई० से १८१० ई० के बीच)। पौराणिक आख्यानों पर या अतिरंजित कल्पना पर आधारित भारतेन्दु से पहले का कथा साहित्य जिन प्रवृत्तियों का बोध कराता है, वे प्रधानतः उपर्युक्त इन रचनाओं में देखी जा सकती हैं। इनके परिचय की सहायता से प्राचीन कहानी की मूल अर्थात् आरम्भिक प्रवृत्तियों को सहज ही समझा जा सकता है।

लल्लूलाल कृत प्रेमसागर (१८०३—१८०९)

लल्लूलाल की कृतियों में 'प्रेमसागर' ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनके अन्य ग्रन्थ 'सिंहासन बत्तीसी' 'बैताल पच्चीसी' 'माधोनल' आदि संस्कृत कथा साहित्य के भावानुवाद ही हैं। प्रेमसागर के रूपात्मक गठन को देखते हुए उसे 'श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का उल्था मात्र' कहा गया है पर सर्वथा ऐसा मानने का कोई आधार नहीं है। वस्तुतः इस कृति में लेखक ने

---

१. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति—भूमिका—डॉ० देवीशंकर अवस्थी

श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर कृष्ण के लीलामय रूप का निदर्शन करना चाहा है। रचनाकार के मन्तव्य के मूल में पौराणिक भाव दृष्टि तो है ही अन्यथा वह रचना के अधिक जटिल संकल्प की ओर क्यों नहीं बढ़ता।

लल्लूलाल की प्रस्तुत रचना के संयोजन को देखने से ज्ञात होता है कि इसमें ९१ अध्याय हैं और इसमें कृष्ण के आविर्भाव से लेकर कंस बध तथा महाभारत के नायक अर्जुन से भेंट तक का वृत्तान्त वर्णित है। इस कथा ग्रन्थ का रचना विधान अत्यन्त स्थूल है जिसके अन्तर्गत एक कहानी स्थूल वर्णनात्मक रीति से कही जाती है और शेष कहानियाँ इस कहानी के सन्दर्भ को जोड़ती हुई उसे आगे बढ़ाने का उपक्रम करती हैं। पुराण-शैली के अनुसार ये कहानियाँ श्री शुकदेव जी द्वारा राजा परीक्षित के प्रति कही गयी हैं।[1] इतना ही नहीं, इस कहानी की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति—पद्धति पर पौराणिक शिल्प की स्पष्ट छाप है। भाषा की दुर्बलता यहाँ शैली की सीमा से जुड़ी हुई है जो रचना को सार्थक संयम से वञ्चित रखती है। इस कहानी में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे 'काव्याभास गद्य' कहा है, उसका एक उदाहरण यह है—

'इतनी बात के सुनते ही कृष्ण ने कदम्ब पर चढ़ ऊँचे सुर से ज्यों वंशी बजाई तो सुन ग्वाल बाल और सब गायें मूंज वन को फाड़ कर ऐसे आनि मिलीं जैसे सावन भादों की नदी तुंग तुरंग को चीर समुद्र में जा मिले।'[2]

लल्लूलाल की रचना की सीमा अकेले भाषा की सीमा नहीं है, वह वस्तु की सीमा भी है, दृष्टिबोध की सीमा है जो रचनाकार को पौराणिक विषयों की परिधि से आगे बढ़ने नहीं देती और पौराणिक वस्तु को नया अर्थ देने की क्षमता का विकास भी नहीं होने देती।

सदल मिश्र: नासिकेतोपाख्यान (सन् १८०३)

संस्कृत में वर्णित नचिकेता की कथा के आधार पर रचित सदल मिश्र की यह कृति शुद्ध रूप से घटनात्मक या वर्णनात्मक है। वैशम्पायन और जनमेजय के संवाद-रूप में वर्णित यह कथा पहले खंड में नासिकेत की उत्पत्ति और दूसरे खण्ड में उसकी यमलोक यात्रा का वर्णन करती है। सदल मिश्र की इस रचना पर पौराणिक शिल्प की स्पष्ट छाप है। इस कहानी में नासिकेत के जन्म से लेकर उनके यमलोक से प्रत्यावर्त्तन की समस्त घटनाएँ आकस्मिक संयोग पर आधारित हैं। यह परम्परागत कहानी की रूढ़ि है जिसने साहित्यिक उद्देश्य से लिखी गयी कहानियों को भी प्रभावित किया है। सदल मिश्र ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा का महत्त्व बताकर कहानी को धार्मिक अर्थ भी देना चाहते हैं, यह इस कहानी की दूसरी सीमा है। भाषा की शिथिलता, शैली की इतिवृत्तात्मकता और उसकी विलम्बित लय—लल्लूलाल की

१—"इतनी कथा सुनाय श्री शुकदेव जी ने राजा परीक्षित से कहा, हे महाराज! कंस तो इस अनीति से मथुरा में राज करने लगा और उग्रसेन दुख भरने, देवक जो कंस का चाचा था, उसकी कन्या देवकी जब ब्याहन योग हुई तब चिन्तेजा कंस से कहा कि यह लड़की किसको दें।" प्रेमसागर—लल्लूलाल

२—प्रेमसागर

ही भाँति सदल मिश्र के कथा-शिल्प की बड़ी सीमाएँ हैं। यह होते हुए भी 'प्रेमसागर' की तुलना में 'नासिकेतोपाख्यान' अधिक संगठित है।

सैयद इन्शा अल्ला खां की **'रानी केतकी की कहानी'** (सन् १८००—१८१०)

अनुमानतः इंशा ने अपनी यह कहानी १८००—१८१० के बीच लिखी। जो लोग इसे हिन्दी की पहली कहानी की संज्ञा देते हैं वे इसके शिल्पगत विकास और धार्मिकतारहित प्रयोजन को ही लक्ष्य करना चाहते हैं। इस कहानी की रचना करते हुए इंशा एक साहित्यिक उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते थे, ऐसा उन्हीं के संकेत से प्रत्यक्ष है—

'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले। तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके बीच में न हो....हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।'

यह संकेत लेखक के भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण को ही सामने नहीं लाता, उसकी रचना प्रक्रिया का भी आभास देता है।

'रानी केतकी की कहानी' कुल इतनी ही है कि किसी देश के राजकुमार उदैभान एक एक बार शिकार में किसी हिरनी का पीछा करते-करते वहाँ पहुँचे जहाँ चालीस-पचास रंडियाँ[1] झूला झूल रही थीं। उनमें से एक थी, रानी केतकी, जिसके प्रति राजकुमार आसक्त हो उठे। फिर राजा की ओर से एक ब्राह्मण दूत सम्बन्ध का प्रस्ताव लेकर रानी केतकी के पिता के यहाँ पहुँचा, जो स्वीकृत नहीं हुआ। परिणामतः लड़ाई हुई। रानी केतकी के पिता ने जोगी महेन्दर की सहायता से राजकुमार और उनके माता-पिता को हिरनी बना दिया। इधर रानी केतकी ने योग क्रिया के प्रभाव से राजकुमार की सहायता की और वह विजयी हुआ। इसके बाद वे विवाह सूत्र में बँधे। कहा गया है कि इस कहानी के रचनाकार इन्शा एक नई धारा का प्रवर्तन कर सके हैं[2] और उनकी यह कहानी हिन्दी की पहली है। कुछ आलोचकों ने इसे कहानी स्वीकार करने से ही असहमति प्रगट की है। उनके अनुसार मसनवियों और आख्यानक काव्यों की प्रेम कहानी के समीप पड़ने वाली इस कहानी को कथा से अधिक महत्त्व देना व्यर्थ है। यदि हम निर्णय की यह दृष्टि अपना लें, तो पहले चर्चित कथाकृतियों के महत्त्व को भी अस्वीकार करना होगा। महत्त्व की बात तो यह है कि कहानी-परम्परा की सीमाएँ आरम्भिक कथा प्रयोगों या सविशेष रूप से कहानियों की सीमाएँ हैं। उनमें रचना के एक प्रकार को मिलते-जुलते दूसरे प्रकार से अलग करके देखने का विवेक नहीं है।

---

१. "कहानी में एक शब्द अवश्य ऐसा आया है, जो पाठकों को कुरुचिपूर्ण ज्ञात हो सकता है।" विचार-दर्शन : रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ३२

२. "इन्शा की कहानी को हम कहानी कला की दृष्टि से देखें तो यहाँ भी हम उनको नवीन धारा के प्रवर्तक के रूप में देखते हैं।'

साहित्य चिन्तन, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

संयोग तत्त्व की प्रधानता इंशा की कहानी में भी है। विषयवस्तु की दृष्टि से यह कहानी इसी अर्थ में विकास मानी जा सकती है कि इसमें पौराणिक या धार्मिक वक्तव्य के स्थान पर लौकिक शृंगार की प्रतिष्ठा है। इसमें भी इस समय की दूसरी कहानियों की तरह 'चमत्कारपूर्ण और विस्मयादिबोधक प्रणाली' का ही उपयोग किया गया है।

बाद के कुछ वर्षों तक हिन्दी कहानी का विकास नहीं हो सका। इसके पीछे पाठकों की रुचि और समय आदि बहुत-से कारण हो सकते हैं। यह एक अधूरा ही कारण होगा कि "उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के अंतिम पन्द्रह-बीस वर्षों की स्थिति साहित्य-अवतारणा के बिल्कुल विरुद्ध थी।"[1] जिस राजनीतिक असन्तोष को लक्ष्य कर यह बात कही गयी है उसी ने आगे चलकर कहानियों की वस्तु और पद्धति को अधिक सूक्ष्म और अर्थपूर्ण बना दिया। भारतेन्दु-युग में आकर जिन निबन्धात्मक कहानियों या कथात्मक निबन्धों की रचना हुई उनकी केन्द्रीय प्रेरणा अंग्रेज़ी शासन और सभ्यता के प्रति असन्तोष की भावना ही थी।

भारतेन्दुयुग में कहानी

भारतेन्दुयुग के गद्य-लेखकों ने कहानी की शिल्पविधि की दिशा में सार्थक प्रयोग किया और उसे समय की चेतना की अभिव्यक्ति का शक्तिशाली माध्यम बनाने का प्रयास किया। यद्यपि रचना-प्रक्रिया के प्रति आधुनिक कथाकारों जैसी जागरूकता इन लेखकों में नहीं मिलती पर इन्होंने देश की स्थिति और समस्याओं को समझने और चित्रित करने की चेष्टा असन्दिग्ध रूप से की। इस दृष्टि से कहानी के विकास का यह एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जिस पर रुक कर विचार करना आवश्यक है। साथ ही, इस युग की कहानियों का इसी मूल्यांकन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिदृश्य में ही किया जा सकता है। जिनकी छाप इन कहानियों पर अनिवार्य रूप से है।

भारतेन्दुयुग की साहित्यिक शक्तियों को जिन आन्दोलनों से उत्तेजना एवं प्रेरणा मिली उनमें दयानन्द का आर्य समाज आन्दोलन, ब्राह्म समाज का आन्दोलन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ द्वारा प्रवर्तित धार्मिक आन्दोलन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। साथ ही, श्रीमती एनीबेसेन्ट की थियोसोफिकल सोसायटी का महत्त्व युग की सामाजिक शिक्षा-चेतना के निर्माण में प्रमुख है। इन आन्दोलनों की प्रेरणा से राष्ट्रीय भावना का विकास तो हुआ ही, व्यक्तित्व की चेतना और क्रान्ति की साहसिकता का विकास भी हुआ।

साथ ही, राजनीतिक क्षेत्र में १८५७ की व्यापक क्रान्ति, विश्वविद्यालयीय स्तर पर अँग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार, १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का संगठन, अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं जिन्होंने तत्कालीन कृतिकारों के मानस को आन्दोलित किया और समय की नई चेतना से उन्हें प्रतिबद्ध किया। भारतेन्दु-युग की पत्र-पत्रिकाओं (कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण, सारसुधानिधि, क्षत्रिय पत्रिका, भारतमित्र आदि) में निबन्ध, व्यंगचित्र, हास्यकथा, स्वप्नकथा आदि विभिन्न गद्य शैलियों के उदाहरण बिखरे हुए हैं। यह युग पत्रकारिता के विकास का युग था और इस युग में 'कहानी' जैसी विधा के विकास की अपरिसीम सम्भावनाएँ थीं।

---

१. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

इस युग के कुछ महत्त्वपूर्ण लेखक हैं—बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, किशोरीलाल गोस्वामी, गिरिजादत्त बाजपेयी, कार्तिक प्रसाद-खत्री, रामचन्द्र शुक्ल, बंग महिला, यशोदानन्दन अखौरी, पार्वतीनन्दन, सूर्यनारायण दीक्षित आदि जिन्होंने कहानियाँ या कहानियों के ढंग की 'चीजें'[1] लिखीं। इन लेखकों की प्रेरणाओं के स्रोत लल्लूलाल, सदल मिश्र या इंशा की प्रेरणाओं के स्रोतों से भिन्न हैं। यही कारण है कि इनकी कहानियाँ आगे की कहानियों के निकट पड़ती हैं यद्यपि उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं।

१९०० के बाद : सरस्वती का प्रकाशन

आगे चलकर 'सरस्वती' के प्रकाशन (१९०० ई०) से हिन्दी कहानी के विकास की गति में त्वरा आयी। साहित्यिक महत्त्व की प्रारम्भिक कहानियाँ 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई थीं। इन्हीं कहानियों में 'आख्यायिक' और 'गल्प' से हटकर 'कहानी' तक आने का संकेत छिपा हुआ है। संज्ञा का परिवर्तन वस्तु के परिवर्तन का ही संकेत है या उसे ऐसा ही होना चाहिए। परिवर्तन के इन लक्षणों के होते हुए भी प्रेमचन्द के उदय से पहले कम कहानियाँ हैं जो वस्तु या शैली में सीधे और स्पष्ट परिवर्तन को दिखा सकें। आर्धसंख्य कहानियों के कथानक स्थूल वर्णनात्मक हैं और घटनाओं के कुतूहलपूर्ण चमत्कार पर आधारित हैं और उनके शिल्प में कलात्मक संयम की कमी है। १९०० के बाद की कुछ महत्त्वपूर्ण कहानियों (—जैसे रामचंद्र-शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती') को ध्यान में रखकर भी यही बात कही जा सकती है।

इस समय की कहानियों में अनेक भाव प्रतिक्रियाएँ जगाने वाली घटनाओं का विधान है पर इनका कथानक इतना सपाट है कि उसे बड़ी सरलता से किसी कथा सूत्र के रूप में निःशेष किया जा सकता है। घटनाओं के बीच का सम्बन्ध जो 'आदर्श कथानक' कहला सकता है, इन कहानी की अतिस्थूल वर्णनात्मकता में खो जाता है। यहाँ तक कि इन कहानियों के कुछ मार्मिक स्थल इस वर्णनात्मकता में अपनी अर्थवत्ता नष्ट कर देते हैं।

किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' की सीमाओं को समझने में उसका कथात्मक ढाँचा ही सहायक हो सकता है। इस कहानी में पिता के साथ विन्ध्याचल के घने जंगल में रहती हुई अकेली कन्या का अपने जीवन के प्रथम पुरुष के प्रति आकर्षित होना और आकस्मिक संयोग से विवाहित होना वर्णित है। वह रहस्यात्मक भंगिमा जो प्रतिपाद्य की प्रेरणा को अवृत्त नहीं करती, एक कौंध के साथ प्रकाशित करती है इस कहानी में नहीं दिखाई देती। कहानी के कथानक को रहस्यात्मक घटनाओं से भर देना एक बात हैं, पर उसमें निहित रहस्य सन्दर्भ को किसी नुकीले विन्दु पर सजीव कर देना कहानी के विकसित शिल्प पर निर्भर है। इस स्थिति और सीमा का दूसरा उदाहरण है—रामचन्द्र शुक्ल की कहानी "ग्यारह वर्ष का समय।" कहानी किस प्रकार आगे बढ़ती है, एक रहस्य से दूसरे रहस्य की ओर यह देखने

---

१. **हिन्दी प्रदीप में व्यंग कहानियों को यही संज्ञा दी गयी है।**

योग्य है क्योंकि यही इस बीच लिखी कहानियों का स्वभाव बन गया है। 'ग्यारह वर्ष का समय' कहानी में लेखक (या एक पात्र) एक दिन अपने मित्र के साथ घूमने जाता है। वे लोग नगर के पूर्व की ओर प्रकृति की शोभा के बीच बढ़ते हैं। देखते हैं कि सामने एक ऊँची पहाड़ी है। कहानी का लेखक (या पात्र) सोचता है कि क्या यह वही खंडहर है जिसके विषय में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं।' वहीं एक देवमन्दिर दीख पड़ता है। वहाँ घर के भीतर रंगबिरंगी चूड़ियों के टुकड़े दीख पड़ते हैं। तभी वहाँ के ज्योत्स्नालोक में कोई श्वेत परिच्छद धारिणी स्त्री जल का पात्र लिए खंडहर के एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर निकलती दिखाई देती है। मित्र का आग्रह सही स्थिति ज्ञात करने की प्रेरणा जगाता है। लेखक (या पात्र) बढ़ता ही है कि वह अपने को एक स्त्री छाया के सामने पाता है। बहुत आग्रह करने पर और विश्वास दिलाने पर कि यह परिचय-प्रसंग गोपन रहस्य ही बना रहेगा, स्त्री अपना परिचय देती है। वह विस्तार से बताती है कि कैसे जल दुर्घटना ने घेर लिया। पतिदेव कहीं गायब हो गए, विपत्तियों ने मायके में भी साथ न छोड़ा और वह यहाँ आ गयी। परिचय की कथा का वृत्त-शेष लेखक (या उस पात्र) के मित्र ही पूरा करते हैं और यह कहते हुए—'कदाचित तुम पूछोगी कि इस समय अब वह कहाँ है? यह वही अभागा मनुष्य तुम्हारे सम्मुख बैठा है'—रहस्य की सुखद समाप्ति करते हैं।

उपर्युक्त कथानक की विकास प्रक्रिया को देखने से स्पष्ट है कि कहानीकार ने रचना को घटनाचक्रों की अप्रत्याशित रहस्यमयता से भरने की चेष्टा की है। कहानी यदि इससे आगे नहीं बढ़ पाती तो इसका मुख्य कारण है—कहानी के सुनिश्चित रचना धर्मिता के बोध की कमी। इतना अवश्य है कि इस कहानी में ही पहली बार इस ओर उन्मुख होने का प्रयत्न भी है जिसके आधार पर इसे कुछ लोगों ने हिन्दी की पहली मौलिक कहानी माना है।[1]

यही रहस्यमयता जब इस समय की स्वप्न दशा पर आधारित कहानियों में घटित होती है तो कहानी का गुण बनती है। इसका रोचक उदाहरण है—केशवप्रसाद सिंह की कहानी, आपत्तियों का पर्वत। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कथात्मक निबन्ध 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' का भी उल्लेख इसी वर्ग की कहानियों में किया जा सकता है। गल्प की भूमि को छूने वाली इस कहानी में एक ऐसा सोद्देश्य साभिप्राय व्यंग्य है—जो सीधे प्रभावित करता है। केशव प्रसाद सिंह की यात्रा कथा 'चन्द्रलोक की यात्रा' दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है—जिसकी कल्पित अवतारणाएँ अधिक कलात्मक अर्थ को वहन करती हैं। स्वप्न कहानियों में शिव प्रसाद सितारे-हिन्द की कहानी 'राजा भोज का सपना' अधिक प्रभावोत्पादक होती, यदि वह सीधे चोबदार के प्रवेश से आरम्भ होती।

आत्मकथा शैली में लिखी गई इधर की कहानियों में कार्तिक प्रसाद खत्री की 'दामोदर-राव की आत्म कहानी' यशोदानन्दन अखौरी की 'इत्यादि की आत्म कहानी' का उल्लेख भी किया जा सकता है। वंग महिला की कहानियों में 'दुलाई वाली' के अतिरिक्त कुम्भ में छोटी-बहू और दान-प्रतिदान छायानूदित कहानियाँ हैं। वृन्दावन लाल वर्मा की ऐतिहासिक कहा-

१....सरस्वती के तीसरे ही वर्ष मौलिक हिन्दी कहानी का आरम्भ हुआ। शिल्प की दृष्टि से प्रथम हिन्दी की मौलिक कहानी है—रामचन्द्र शुक्ल कृत "ग्यारह वर्ष का समय"। हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—**लक्ष्मी नारायण लाल**

नियों; राखी बन्द भाई, तातार और एक वीर राजपूत आदि का उल्लेख अलग से आवश्यक है।

इस युग की एकाध कहानियों में यह प्रयोग भी आवश्यक किया गया है कि कैसे कुतूहल तथा संघर्ष का आग्रह छोड़कर किसी मार्मिक वक्तव्य को कहानी की वस्तु का रूप दिया जा सकता है। गिरिजादत्त वाजपेई की कहानी पंडित और पंडितानी कुतूहल और संघर्ष के विधान से अलग रहकर भी एक सार्थक कहानी है। लेख की निर्विघ्न समाप्ति की कामना करते हुए पंडित जी का पंडितानी जी को यह आश्वासन देना कि वे एक नहीं छः तोते लाकर देंगे, व्यंग्य की ओर संकेत करता है। कहानी में इस अर्थ की कल्पना की जा सकती है कि तोता पंडित जी की अतृप्त कामनाओं का प्रतीक है और तब इसका व्यंग्य अधिक तीखा हो जाता है। लेखक ने पंडित और पंडितानी की वय-विषमता का उल्लेख आवश्यक समझकर ही किया है। कला की दृष्टि से सूक्ष्म व्यंग शैली की ऐसी कहानियाँ हमारी दृष्टि में अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सन् १६०६ : इन्दु का प्रकाशन—इन्दु के प्रकाशन से हिन्दी कहानी के विकास का महत्त्वपूर्ण युग आरम्भ होता है। जयशंकर प्रसाद और उनके साथ आने वाले लेखकों ने बड़ी संख्या में अपनी कहानियाँ इन्दु में प्रकाशित की। बंगला कहानियाँ बड़ी संख्या में अनूदित होकर इन्दु में प्रकाशित हुईं। कहानी के विकास में कहानी की पत्रिकाओं का कितना महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है, महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। प्रसाद जी की पहली कहानी ग्राम इन्दु में ही प्रकाशित हुई थी। प्रसाद जी की चन्दा, गुलाम और विश्वम्भरनाथ जिज्जा की विदीर्ण-हृदय आदि कहानियाँ इन्दु से ही प्रकाश में आईं।

हिन्दी कहानी को विकास और गति देने में 'हिन्दी गल्प माला' के भी प्रकाशन का योगदान है। जी० पी० श्रीवास्तव और इलाचन्द्र जोशी की प्रारम्भिक कहानियाँ इसी में प्रकाशित हुईं। कहानी की बड़ी प्रतिभाओं में जयशंकर प्रसाद इन्दु के माध्यम से आए और चन्द्रधरशर्मा 'गुलेरी' सरस्वती के माध्यम से, प्रेमचन्द अपने संग्रह सप्त सरोज के साथ। गुलेरी जी की पहली कहानी 'सुखमय जीवन' भारत मित्र में प्रकाशित हुई थी।

प्रेमचन्द से पहले की कहानियाँ अनेक रहस्यपूर्ण प्रसंगों का विवरण तो देती हैं, पर वह विन्दु अंकित नहीं कर पातीं जिसमें कहानी की रचना की सम्भावना है। इन कहानियों में चरित्रों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व निर्मित नहीं हो सका है। इन कहानियों में उद्भावित 'वातावरण' प्रायः अर्थहीन प्रस्तावनाओं की तरह है। कुल मिलाकर प्रेमचन्द से पहले की कहानी के घटना-बहुल इतिवृत्तात्मक ढाँचे में उस आधुनिक संवेदना का विकास नहीं हो पाया है जो प्रेमचन्द के उदय के साथ आगामी युग की कहानी में मूर्त होती है।

हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक युग (सुविधा के लिए ही नहीं साभिप्राय रूप से पूर्व-प्रेमचन्द-युग) की सीमाओं के होते हुए भी उसकी विशेषताएँ विविध विषयों के चुनाव और विभिन्न पद्धतियों के व्यावहारिक प्रयोग में निहित हैं।

प्रेमचन्द युग की हिन्दी कहानी

प्रेमचन्द युग में आकर हिन्दी कहानी पहली बार मानव व्यवहार को और स्वभाव को

अधिक समीप से चित्रित करने का प्रयत्न करती है और नए सहानुभूतिपूर्ण विवेक से आदर्श और वास्तविकता के द्वन्द्व को परिभाषित करना चाहती है। प्रेमचन्द युग हमारे देश के राजनीतिक एवं सामाजिक उथल-पुथल का युग है। प्रेमचन्द जब जीवन के यथार्थ के स्वाभाविक चित्रण को आख्यायिका का ध्येय बताते हैं[1] तो उनकी दृष्टि देश की परिस्थिति पर असन्दिग्ध रूप से रहती है।

समय की दृष्टि से तो प्रत्यक्ष ही है कि यह युग प्रथम महायुग के बाद का युग है। ऐतिहासिक परिस्थितियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यद्यपि भारतवर्ष की जनता सीधे इस युग में सम्मिलित नहीं थी, पर उस पर इस युद्ध का आर्थिक प्रभाव बहुत गहरा पड़ा क्योंकि भारत जिस साम्राज्यवादी शासक के आधीन था, वह युद्ध के परिणामों से अछूता न था। भयानक आर्थिक मन्दी ने भारतीय जनता को अत्यधिक प्रभावित किया था और वह निराश हो चली थी। अच्छा ही हुआ कि हिन्दू राष्ट्रीयता व्यापक राष्ट्रीयता में परिणत हो गई। तिलक जेल जा चुके थे और जब वे जून, १९१४ में छूटे, पुनः होम रूल का आन्दोलन लेकर संघर्ष-पथ में आ गए। गोखले की 'नरमदलीय नीति' सन् १९१५ में उनकी मृत्यु के साथ समाप्त हो गई और इसी वर्ष के ही काँग्रेस अधिवेशन में ऐसे वैज्ञानिक संशोधन हुए कि तिलक के लिए काँग्रेस के नेतृत्व का द्वार खुल गया।

तिलक की मृत्यु (सन् १९२०) के बाद काँग्रेस का नेतृत्व जब गान्धी जी के हाथ में आया, तब एक व्यापक परिवर्तन भारतीय जनमानस में लक्षित हुआ। काँग्रेस में निम्नमध्यम-वर्ग का प्रतिनिधित्व हुआ और राष्ट्रीय जागरण का नया अध्याय खुला। साहित्य को वास्तविक स्थितियों और सन्दर्भों के निकट आने का अवसर मिला। सन् १९१९ में रौलट ऐक्ट के प्रस्तुत होते ही गान्धी जी तिलमिला उठे थे और सत्याग्रह की घोषणा कर चुके थे। फिर, व्यापक जन-आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ। सरकारी नौकरी से त्याग, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, काँउसिल और चुनावों का बहिष्कार इन आन्दोलनों के कई पक्ष थे। सन् १९२२-२३ में साम्प्रदायिक दंगों के बाद सन् १९२८ में साइमन कमीशन आने से फिर राष्ट्रीय आन्दोलन उग्रतर हुआ। अँग्रेज़ों ने नृशंस दमन नीति का सहारा लिया। पण्डित नेहरू तब तक राजनीति में आ चुके थे। अँग्रेज़ी साम्राज्यवादी शोषण की पद्धतियाँ अधिक सूक्ष्म हो चली थीं। सन् १९३० में पूर्ण स्वाधीनता की माँग की गई। परिणाम कुछ भी नहीं निकला। तभी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन हुआ। काँग्रेस से काँग्रेस-समाजवादी और समाज-वादी दल अलग हुए। दमन की प्रतिक्रिया गहरी हुई। सन् १९३० में नेहरू और गाँधी गिरफ्तार हुए। सन् १९३१ में पूर्ण स्वाधीनता की पहली बार माँग हुई। गाँधी-इरविन समझौते की बात चली, किन्तु निष्फल हुई। गाँधी जी ने यरवदा जेल में आमरण अनशन प्रारम्भ

---

१. **वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।** साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द, पृष्ठ ४१

किया। सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई और प्रेमचन्द उसके सभापति बने।

मानसिक परिस्थितियाँ

प्रेमचन्दयुग की मनोभूमि का अध्ययन करने से यह सहज ही ज्ञात होता है कि गाँधीवाद की असंगतियाँ रचना में सीधे घटित हो रही थीं। इस समय के कहानीकारों के मन में भी यह असंगति प्रत्यक्ष है कि एक ओर वे परम्परागत नैतिक तथा सुधारवादी मूल्य-मर्यादाओं से अनुशासित होते हैं और दूसरी ओर नये मानवीय विवेक के आधार पर परिस्थितियों के मोह-भंग के प्रकाश में व्यक्ति के सुख-दुख के भीतरी कारणों की खोज करना चाहते हैं। प्रेमचन्द यदि कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते और चाहते हैं कि पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे तो[1] समझना चाहिए कहानी के रूप और अर्थ (प्रयोजन) के बारे में दृष्टि बदल गयी है। आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयत्न और उसे पाने की निरंतर चेष्टा इस समय के कहानीकारों में मिलती है।

प्रमुख कृतित्व :

प्रेमचन्दयुग के अग्रणी लेखक स्वयं प्रेमचन्द एवं प्रसाद हैं। सम्पूर्ण युग पर इन दोनों लेखकों के कृतित्व का प्रभाव है, यद्यपि इन दोनों लेखकों की चिन्ताधारा और रचना पद्धति एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। इसी अन्तर को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परम्परा का प्रतीक और प्रसाद को भावमूलक परम्परा का अधिष्ठाता कहा गया है।[2] इस अन्तर को आत्यन्तिक महत्त्व न दिया जाय, यह आवश्यक है क्योंकि युग की समान प्रेरणाएँ भी दोनों लेखकों के कृतित्व में देखी जा सकती हैं।

विकासक्रम से हिन्दी कहानी का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' (१९११) और प्रेमचन्द की पहली (हिन्दी में प्रकाशित होने वाली) कहानी पंचपरमेश्वर (१९१६) के बीच की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं—'कानों में कँगना' (राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह), 'रक्षाबन्धन' (विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक) तथा 'उसने कहा था' (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी)।

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द का स्थान हिन्दी कहानीकारों में सर्वोपरि है। उनकी रचनात्मक चेतना का विकास जहाँ देश के स्वाधीनता-संघर्ष की प्रेरणा के फलस्वरूप हुआ, वहीं उनके निजी जीवन-संघर्ष का प्रभाव भी उस पर कम नहीं पड़ा। प्रेमचद की मनोभूमि व्यक्ति और राष्ट्र के संघर्ष और हलचलों से पूरी तरह सम्पृक्त थी। 'कजाकी' कहानी में अपनी ही बात बच्चे के मुँह से से कहलाते हुए उन्होंने संकेत किया है कि उनकी अकाल प्रौढ़ता परिस्थितियों के तीखे संघर्ष का ही परिणाम थी।

१. मानसरोवर : भाग १ : भूमिका—प्रेमचन्द पृष्ठ ११
२. हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास पृष्ठ ७१

—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

प्रेमचन्द ने कहानी के प्रति सारा दृष्किोण ही बदल दिया। उनसे पहले की कहानी में कल्पना का अतिरंजित विलास होता था या नीति-उपदेश का स्वर। प्रेमचन्द ने एक ओर यदि कहानी में मनोरंजन और मानसिक तृप्ति की आवश्यकता बतायी तो दूसरी ओर उससे चरित्र निरूपण की संभावना की ओर संकेत किया। अन्ततः उन्होंने कहानी का आधार अनुभूति को बनाया, घटना को नहीं।

प्रेमचन्द की मान्यता को उनकी कहानियों के प्रकाश में ही देखना उचित होगा। कहानियों में उनके रचनात्मक विकास के तीन स्तर दिखाई देते हैं। प्रथम चरण की कहानियाँ १९१६ और १९२० के बीच की कहानियाँ हैं। सप्तसरोज और प्रेम पचीसी में संकलित उनकी कहानियाँ आदर्श-सिद्धान्तों से परिचालित कहानियाँ हैं। सौत, पंचपरमेश्वर, नमक का दारोगा, बड़े घर की बेटी, रानी सारन्धा आदि कहानियाँ इसी वर्ग की हैं।

प्रेमचन्द के दूसरे विकास स्तर की कहानियाँ १९२० और ३० के बीच की कहानियाँ हैं। इस बीच की कुछ कहानियाँ प्रमाणित करती हैं कि प्रेमचन्द की रचना-पद्धति और किसी अर्थ में उनके पूरे रचनात्मक दृष्टिकोण में कितना तेज परिवर्तन हुआ। वज्रपात, शतरंज के खिलाड़ी, मुक्ति का मार्ग, माता का हृदय आदि कहानियों में कथानक संगठित हैं और वे आरोपित आदर्श से हट कर यथार्थ का साक्षात्कार करते हैं।

प्रेमचन्द के तीसरे विकास-काल की कहानियाँ मनोविश्लेषणात्मक हैं। समय की दृष्टि से ये कहानियाँ ३० और ३६ के बीच की हैं। पूस की रात, कफ़न, नशा, कुसुम, मिस पद्मा, अलग्योझा आदि कहानियाँ इसी विकास-स्तर की हैं। इन कहानियों में प्रेमचन्द अनुभव की प्रौढ़ता, और संवेदनात्मक ज्ञान की ओर बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। घटना से मनोविज्ञान और मनोविज्ञान से यथार्थ की ओर प्रस्थान—प्रेमचन्द के विकास की यही दिशा है। उनकी कहानियाँ कहानी काल के रूप-पक्ष का निरन्तर विकास दिखाती हैं।

सब मिलाकार अपनी कहानियों द्वारा प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानी को ऐसी स्थिति में ला दिया है कि वह गम्भीर अध्ययन एवं मूल्यांकन का विषय जान पड़े और उसकी संभावनाएँ प्रत्यक्ष दीख सकें।

जयशंकर प्रसाद

प्रेम सौन्दर्य की जो भावात्मक चेतना प्रसाद जी के व्यक्तित्व का अंग थी, वही उनकी कहानियों का अंग भी है। उसे मनोवैज्ञानिक अन्तस्संघर्ष की समानान्तरता में रख कर अपनी कहानियों को एक वैशिष्ट्य देने का प्रयत्न प्रसाद में स्पष्ट है।

प्रसाद की कहानियाँ मूलतः भाव मूलक और आदर्शवादी हैं। उदात्त मानवी मूल्यों के प्रति आग्रह उनकी आर्धसंख्य कहानियों के मूल में है। कुछ कहानियों में सामाजिक और नैतिक मूल्यों के प्रति विद्रोह का भाव भी है। भावुकता के आग्रह से प्रसाद की कहानियों में वातावरण के भाव पूर्ण चित्रण पर जोर है।

'सामने जल राशि का रजत शृंगार था। वरुण वालिकाओं के लिए लहरों से नीलम की क्रीड़ा शैल मालाएँ बना रही थीं और वे मायाविन छलना अपनी हँसी का कलनाद छोड़ कर

छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों की वंशी की झनकार उनके संगीत-सी मुखरित हो रहों थी।'[1]

'विसाती' कहानी का प्रारम्भ एक ही रमणीक प्रकृति चित्र से होता है। 'दासी' कहानी में 'बसन्त की चाँदनी रात अपनी उज्ज्वलता के महल में मीनारों गुम्बजों तथा वृक्ष की छाया में लड़खड़ाती' दिखाई देती है और 'व्रत भंग' कहानी में 'उपवन के सौध मन्दिर में अगरु, कस्तूरी और केसर की चहल-पहल के बीच वीणा, वंशी, मृदंग स्निग्ध ध्वनि बिखरती है। परन्तु प्रसाद की सभी कहानियाँ प्रेम सौन्दर्य की उष्ण गन्ध तक ही सीमित नहीं हैं।

प्रसाद के विकास की कहानियों में चरित्र में निहित घात-प्रति-घात् तीव्र नाटकीयता की सृष्टि करते हैं। आकाशदीप, पुरस्कार इस धरातल की कहानियाँ हैं, जिनकी संवेदना का निर्माण चरित्रों का सम्बन्ध या संबंधों के संघर्ष विन्दु से हुआ है। 'आकाशदीप' में चम्पा और 'बुद्ध-गुप्त' दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति गहरा आकर्षण है। तभी कहीं से आकर यह शंका चम्पा के मन में आकार वश जाती है कि बुद्धगुप्त ही सम्भवतः उसके पिता का घातक है और फिर वह अपने मन के संघर्ष से कभी मुक्त नहीं होती। बुद्ध गुप्त के कहने पर 'मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ, चम्पा वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।' वह कहती है: 'यदि मैं इसका विश्वास कर सकती ? बुद्ध गुप्त ! वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना सरहणीय ? आह ? तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान होते।'[2]

कुतूहल, संघर्ष, चरम सीमा की तीव्रता और संवादों के कलात्मक विधान द्वारा प्रसाद अपनी कहानियों में नाटकीयता का समावेश कर सके हैं। नाटकों की तरह उनकी कहानियाँ भी बीज, विकास और फलागम—इन अवस्थाओं के क्रम से विकसित होती हैं। उदाहरण के लिए 'आकाशदीप' कहानी अपने इसी गुण के कारण एकांकी की संवेदना के निकट जान पड़ती है।[3]

हिन्दी कहानी के विकास में प्रसाद का योग अपनी कहानियों के लिए तो है ही, इस-लिए भी है कि उन्होंने समकालीन और परवर्ती कहानीकारों को भी प्रभावित किया। इतिहास-कारों ने प्रसाद का 'स्कूल' माना है तो इसी आधार पर कि इस समय के कई महत्त्वपूर्ण कृतिकारों ने सीधे प्रसाद के प्रभाव में कहानियाँ लिखी हैं।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

प्रेमचन्द और प्रसाद के साथ ही गुलेरी जी का आगमन हिन्दी कहानी क्षेत्र में हुआ। पर इनकी स्थिति समकालीन कहानीकारों की तुलना में भिन्न है कि उन्होंने कुछ तीन कहानियों की रचना की और उनमें भी उनकी कीर्ति बहुत कुछ एक ही कहानी 'उसने कहा-था' पर टिकी हुई। उनकी शेष दो कहानियाँ, 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा' साधारण महत्त्व की हैं।

'उसने कहा था' कहानी में गुलेरी जी ने जिस संयम से वर्षों की एक चरित्र गाथा को को विखरे हुए सूत्रों में स्मृत्याभास की शैली में व्यक्त किया है वह उनकी विकसित दृष्टि और

१—आकाशदीप, पृष्ठ ७

२—वही, १४

३. कहानी का रचना विधान : डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : पृ० १००

प्रौढ़ शिल्प का उदाहरण है। कथानक निर्माण और सम्पूर्ण प्रभाव की सांकेतिक व्यंजना के विशेष उपयोग के कारण यह कहानी आश्चर्यजनक रूप से पहले की कहानी से अलग है। यह प्रमाण है कि कहानी की रूपगत विशेषताओं में प्रवेश करने की क्षमता लेखक में थी। इस कहानी में नायक लहनासिंह के चरित्र व्यवहार को दिखाते हुए लेखक ने प्रतिक्रियाओं का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। लेखक की स्थानीय भाषा परिस्थिति का सजीव चित्रण करती है।

'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा'—इन कहानियों में प्रेम के हल्के प्रसंग हैं और इनका शिल्प भी कमजोर है। यह एक रोचक तथ्य है और आश्चर्यजनक भी कि एक ही लेखक की एक कहानी उसकी अन्य कहानियों से सर्वथा अलग और आगे है।

प्रेमचन्द से प्रभावित कुछ कहानीकार

विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक : प्रेमचन्द की रचना-पद्धति और सृजनात्मक चेतना से प्रभावित लेखकों में कौशिक का नाम पहले लिया जा सकता है। प्रेमचन्द की भाँति वे भी पहले उर्दू में कहानियाँ लिखा करते थे। उनकी पहली हिन्दी कहानी रक्षाबन्धन सन् १९१३ में प्रकाशित हुई थी। उनकी प्रमुख कहानियाँ ताई, इक्केवाला, वह प्रतिमा, 'अशिक्षित का हृदय' आदि हैं। ये कहानियाँ रूप गठन में कथानक प्रधान कहानियाँ हैं, जिनकी श्रेणी कलात्मक कहानियों से घट कर साधारण मानी जाती है। कौशिक उन कहानी लेखकों में हैं जो कहानी में वर्णित कथा प्रसंगों एव सम्बद्ध घटना-सूत्रों को अपर्याप्त मान कर स्वयं बीच-बीच में टिप्पणी देते चलते हैं। अनावश्यक विवरणों से भरी हुई 'ताई' कहानी उदाहरण है कि हृदय परिवर्तन की यह कहानी आरोपित सत्य की कहानी है। इन विवरणों को काट कर कहानी को अधिक विश्वसनीय बनाया जा सकता था। कौशिक चरित्रों के माध्यम से समस्याओं को चुनते हुए या उठाते हुए उसके व्यक्त व्यवहार का वर्णन तो कर लेते हैं पर उनके पीछे छिपी हुई मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं को स्वाभाविक रूप से चित्रित नहीं कर पाते। वातावरण-सृजन का भी उद्दीपनात्मक उपयोग तो वे कर लेते हैं, उसे परिस्थितियों के भोक्ता चरित्रों के अनुभवों का सहजीवी आश्रय नहीं बना पाते।

सुदर्शन : सुदर्शन प्रेमचन्द की रचना पद्धति से प्रभावित अन्य प्रमुख कहानीकार हैं जिन्होंने आदर्शों में विश्वास या निष्ठा को भी प्रेमचन्द से ही अर्जित किया है। उर्दू से ही हिन्दी कहानी-क्षेत्र में आने के कारण उनकी कहानियों में प्रवाह या गति है। 'हार की जीत' जैसी दृश्य परिवर्तन की ही कहानी में वे कौशिक की अपेक्षा अधिक कलात्मक संयम का परिचय देते हैं। पर समस्याओं के सम्बन्ध में जब वे वक्तव्य देने लगते हैं तो उनकी कहानी प्रभाव की स्वाभाविकता के आदर्श से गिर जाती है। सुदर्शन की कहानियाँ इस अर्थ में घटना प्रधान कही गयी हैं कि उनके भीतर 'लम्बे समय की योजना' रहती है पर वे सम्पूर्ण प्रभाव की दृष्टि से भावात्मक ही हैं।

ज्वालादत्त शर्मा : ज्वालादत्त शर्मा की कहानियों में संयोगात्मक पद्धति के उपयोग द्वारा कथानक को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है। सुदर्शन और कौशिक की भाँति शर्मा जी भी मनुष्य का हृदय परिवर्तन दिखाना चाहते हैं। इनकी कहानियाँ

मानव-व्यवहार के आभ्यंतर जटिल संघर्ष को नहीं दिखा पाती । वे उद्देश्य से परिचालित जान पड़ती हैं । यही इनका कमजोर पक्ष है ।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी : वाजपेयी जी ने प्रेमचन्द की कहानी कला सम्बन्धी विशेषताओं का प्रभाव ग्रहण करते हुए कहानी में मानसिक प्रवृत्तियों का अंकन करने का प्रयत्न किया है । शरत् का प्रभाव भी इन पर है पर उतना व्यापक नहीं, जितना प्रेमचन्द का । ख़ाली बोतल, अंधेरी रात, मैना, हारजीत, इन्द्रजाल आदि कहानियां वाजपेयी जी की कहानी-कला का सही उदाहरण प्रस्तुत करती हैं । इन कहानियों में रोमान्टिक कल्पना का आग्रह स्पष्टतया दिखाई देता है और वही लेखक की रचनात्मक प्रेरणा का आधार प्रतीत होता है । मानव चरित्र के मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व का निरुपण इनका लक्ष्य है । यद्यपि उसे इनकी रचना प्रक्रिया में आवश्यक प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी है । प्राचीन रचना-शिल्प की अन्तर्बाधाओं से मुक्ति का प्रयत्न वाजपेयी जी की कहानियों में नहीं दिखाई पड़ता ।

अन्य लेखक : प्रेमचन्द की रचना प्रक्रिया से प्रभावित अन्य कहानी लेखक हैं— विश्वम्भर नाथ जिज्जा, जी० पी० श्रीवास्तव, राजाराधिकारमण प्रसाद सिंह, गोविन्द वल्लभ पन्त आदि विश्वम्भर नाथ जिज्जा । भाव पक्ष की दृष्टि से यद्यपि प्रसाद की परम्परा के निकट प्रतीत होते हैं, फिर भी सम्पूर्ण रचनात्मक प्रक्रिया की दृष्टि से वे प्रेमचन्द के निकट ही हैं । इनकी कहानियाँ स्वभाविक वर्णन शैली में लिखी गई हैं और इनकी परिसमाप्ति आकस्मिक संयोगात्मक घटनाओं में होती है । उनकी कहानी 'विदीर्ण हृदय' संयोगात्मक अन्त की कहानी है । 'पिकनिक' 'झूठ-मूठ' आदि कहानियों में जी० पी० श्रीवास्तव घटनात्मक संयोग द्वारा हास्य की सृष्टि करते हैं । राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह इतिवृत्तों के प्रति मोहमग्न हैं और गोविन्द वल्लभ पन्त सोद्देश्यपूर्ण आदर्श के प्रति समर्पित हैं । पर कई महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं जो कहानी को अनुभव की प्रामाणिकता से सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करते हैं ।

जैनेन्द्र कुमार : जैनेन्द्र ने अपनी कहानियाँ दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक भूमि से ग्रहण की हैं । जैनेन्द्र का दर्शन उनका अपना दर्शन है और मनोविज्ञान अपना मनोविज्ञान । वे आत्म-प्रक्षेपण के लेखक कहे जा सकते हैं तो इसी अर्थ में । वे दुनिया के समानान्तर एक काल्पनिक दुनिया रचते हैं और फिर बाहर और भीतर के द्वन्द्व की नयी मौलिक व्याख्या देते हैं । उनकी कहानियों की यही दिशा है । जैनेन्द्र अपनी कहानियों में सम्बन्धों का ऐसा विरोधाभास रचते हैं कि पाठक चमत्कृत होकर रह जाय 'अपना-अपना भाग्य' और 'पाजेब' इसका उदाहरण प्रस्तुत करती है । परिस्थितियों का विरोधासाभ रचने में जैनेन्द्र अपनी असाधारण प्रतिभा का उपयोग करते हैं । असाधारणता ही उनका गुण है । उनकी कहानी 'पाजेब' एक साधारण कहानी होती यदि बालक ने पाजेब ली होती और भास और भय के बीच अपना अपराध स्वीकार करने की दिशा में आत्मसम्मान की ही बाधा का अनुभव करता रहता । पर यह कहानी इस सन्दर्भ को पाकर 'विशेष' हो उठी है कि पाजेब न लेने पर भी बालक भास और भय की स्थिति में पड़ कर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है जब कि अपराधी वह नहीं है । यहाँ जैनेन्द्र का प्रयत्न केवल भ्रम खड़ा करना नही है, मनुष्य के अन्तरंग की एक अपरिचित वृत्ति को अधिक सजीव करना

है। इसके विपरीत 'नीलम देश की राजकन्या' में भ्रम रचने का ही प्रयत्न है और वह कहानी की मार्मिकता को हानि पहुँचाता है।

जैनेन्द्र की कहानियों में एक प्रकार के असतर्क शिल्प का उपयोग है। 'जाह्नवी' नामक कहानी को उदाहरण मानकर हम कह सकते हैं कि असतर्कता ही जैनेन्द्र का सतर्क शिल्प है। जिन मनोवैज्ञानिक कहानियों में वे सिद्धान्तों की सहायता लेते हैं (उदाहरण, 'एक रात', 'मास्टर जी' आदि) उनमें भी शिल्प की असावधानी का साभिप्राय प्रयोग करने में वे सफल हैं। कहा गया है कि जैनेन्द्र 'उक्ति के माहिर'[1] हैं, पर भाषा वाला अंग उनका कच्चा है और इसके लिए उनकी 'बौद्धिक मिथ्या धारणा ही उत्तरदायी है।'[2]

उपलब्धियाँ और सीमाएँ : प्रेमचन्द युग की हिन्दी कहानी की प्रमुख उपलब्धि है : आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का विकास। प्रेमचन्द से पूर्व भी हिन्दी कहानी में एक प्रकार का आदर्शवाद विकसित हुआ था, पर वह बहुत कुछ सुधारवाद तक ही सीमित था। कथानक और चरित्र-चित्रण, वातावरण और संवेदना के क्षेत्र में उसका सूक्ष्म और कलात्मक उपयोग नहीं हो सका था। प्रेमचन्द युग के समर्थ कहानी लेखकों ने आगे आकर आदर्श एवं यथार्थ के बीच सामंजस्य खोजने का उपक्रम किया। प्रेमचन्द ने अपने दृष्टिकोण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की संज्ञा दी। हिन्दी कहानी का उद्‌भव जिन समस्याओं के साथ हुआ उनमें प्रमुख थीं—अनमेल विवाह, दहेज, संयुक्त परिवार, वेश्यागमन, आभूषण-प्रेम, जातीय विद्वेष, वर्ग-विषमता, स्वच्छन्द प्रेम, सामाजिक अनाचार आदि। प्रेमचन्द और उनसे प्रभावित कहानीकारों ने रुचि-पूर्वक इन समस्याओं पर कहानियाँ लिखी हैं। इसके विपरीत प्रसाद और उनसे प्रभावित कहानी लेखकों ने मानव चरित्र के अन्तःसंघर्ष को और मूल वृत्तियों के संघर्ष को कथात्मक अभिव्यक्ति दी है।

प्रेमचन्द युग की सर्वोपरि महत्त्व की उपलब्धि यह है कि कहानी को कथा परम्परा की रूढ़ि, अतिरंजना और कोरी भावुकता से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया गया और अन्तर्जगत् की समस्याओं को महत्त्व दिया गया। अधिक कहानियाँ इस उपलब्धि को चरितार्थ नहीं करतीं, तो इसके पीछे कुछ निश्चित सीमाएँ भी हैं जिनसे कहानी सम्पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो पायी है—जैसे अतिशय वर्णनात्मकता, घटना का आकर्षण, चरित्रों की वर्गों में सीमित होने की नियति, लक्ष्यात्मक आदर्शवाद। पर इस युग की कहानी की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को ये सीमाएँ ढँक नहीं सकतीं। यदि छायावाद युग की कविता नैतिक धरातल पर जनतांत्रिक समत्व भावना और व्यक्ति की महत्त्व घोषणा का काव्य[3] है, तो प्रेमचन्द युग की कहानी साधारण मनुष्य की साधारण आकांक्षाओं की कहानी है। रानी केतकी की कहानी से 'हल्कू' और 'मधुवा' की कहानी तक का विकास हिन्दी कहानी का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक विकास है। प्रेमचन्द ने मानसरोवर, पहले भाग की भूमिका में इस युग की कहानी की विशेषताओं का

---

१. विचार और विश्लेषण—डॉ नगेन्द्र, पृष्ठ १५४

२. वही

३. हिन्दी समीक्षा : एक दृष्टि : डॉ० देवराज, आलोचना, अप्रैल १९५२, पृष्ठ १०

उल्लेख करते हुए उचित ही संकेत किया है कि ज़मीन उतनी लम्बी चौड़ी नहीं है, पर कहानी जीवन के अधिकाधिक निकट आ गयी है। कहानी का आधार अब घटना नहीं रह गयी है—उसका आधार मनोविज्ञान की अनुभूति है। आगामी विकास की कहानी में यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रधानता है तो इसकी प्रेरणा इस युग में ही लक्षित होती है। सब मिलाकर प्रेमचन्द युग में चरित्रप्रधान, वातावरण प्रधान, कार्य और कथानक प्रधान, प्रतीक-प्रधान, इतिहास प्रधान, प्रकृतवादी, संलापात्मक आदि विभिन्न शैलियों की कहानियाँ बहुत बड़ी संख्या में लिखी गयी और वृहत्तर सामाजिक संवेदना को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया गया।

प्रेमचन्दोत्तर युग की कहानी—प्रेमचन्दोत्तर युग की कहानी में प्रतिबिम्बित प्रवृत्तियों के विश्लेषण से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि इस युग की रचना-प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है जिसके निर्माण में दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीति आदि—बोध के विभिन्न पक्षों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस युग के कहानीकार के लिए घटना या वस्तु अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है। जीवन के गूढ़ रहस्यमय सत्य की अभिव्यक्ति करने वाले इस युग के कहानीकारों के लिए सत्य की खोज की ही सार्थकता है—समाधान इसका इष्ट नहीं है।

मनोवैश्लेषिक पद्धति का प्रभाव इस युग की कहानी के भावबोध एवं रूपविधि में प्रत्यक्ष है। मनुष्य का एक अंतर्जगत् है जो उसके समस्त क्रियाकलापों और जीवन पद्धतियों को प्रभावित करता है। मन की दमित इच्छाएँ रचनात्मक व्यवहार में अपना उदात्तीकरण चाहती हैं। 'हीन भावना' मानवीय आचरण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। सृजनात्मक आकांक्षाओं में मनुष्य उसकी क्षतिपूर्ति चाहता है। इन मान्यताओं ने कहानी लेखकों को चरित्र विश्लेषण की एक सर्वथा नयी पद्धति दी। अन्तर्जीवन चक्र पर आधारित वाह्य जीवन-चित्रण ही सफल हो सकता है, इस प्रकार की धारणा इस युग के हिन्दी कहनी लेखकों ने ही पहली बार व्यक्त की। इससे बहुत पहले ही पश्चिम के मनोवैज्ञानिक कथाकारों ने मानसिक जगत् के चेतन-अचेतन व्यापारों को रचनात्मक स्तर पर अनुभव और अभिव्यक्ति का विषय बनाया था। कथा में समय और स्थान की स्थूल अवधारणा के प्रति विद्रोह करके उन्होंने युग की अधिक गहरी और अन्वेषणशील आभ्यन्तरता का आभास दिया था। इनका प्रभाव भी प्रेमचन्दोत्तर कहानीकारों ने ही वस्तु के चुनाव और अभिव्यक्ति की खोज—दोनों दिशाओं में पहली बार ग्रहण किया।

मार्क्सवादी या समाजवादी दृष्टिकोण के विचार क्षेत्र में समाविष्ट होने के फलस्वरूप पूरे कथा साहित्य में एक विचारोत्तेजक संवेदना का विकास हुआ और सामाजिक शोषण, दरिद्रता, नग्नता, परवशता, मूल्यहीनता आदि समस्याओं के चित्रण के लिए नया आधार मिला। इन समस्याओं के समग्र चित्रण के लिए उपयुक्त भूमि उपन्यास में ही मिल सकती थी पर कहानी इनसे अछूती नहीं रह सकी। इन समस्याओं के प्रति जागरूक कहानीकारों ने सामाजिक व्यंग्य के लिए कहानी को फिर एक बार शक्तिशाला माध्यम बनाने का प्रयत्न किया।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के प्रकाश में ही हम इस युग की कहानी के विकास का मूल्यांकन कर सकते हैं, पर समग्र मूल्यांकन से पहले प्रमुख कृतिकारों के वैशिष्ट्य से परिचित होना आवश्यक है। प्रेमचन्द की तरह सम्पूर्ण यथार्थ पर आधारित रह पाना इस युग में सम्भव नहीं।

प्रसाद से प्रभावित

चतुरसेन शास्त्री—इतिहास का रोमान्टिक धरातल प्रसाद की ही भाँति चतुरसेन-शास्त्री को प्रिय रहा है। उनकी अधिसंख्य कहानियों की रचना इसी भूमि से हुई है। चतुरसेन-शास्त्री की विशेषता यह है कि वे अपनी कहानी के साथ बहुत काल तक रहते हैं। कहानी से वे अभिन्न हो जाते हैं। शास्त्री जी की मानसिक चेतना पर टूटती हुई सामन्ती संस्कृति के अवशेषों की स्पष्ट छाप है। यह छाप उनकी कहानियों पर भी है।

विनोद शंकर व्यास—प्रसाद के साहित्यिक व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप विनोदशंकर-व्यास की कहानियों पर है। १९३२ तक लिखी गई अपनी पचास कहानियों का संग्रह प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है, 'कल्पना की विशाल भूमि पर कहानियों की अगणित रेखाएँ अंकित की जा सकती हैं।'[1] उनके अनुसार 'मनुष्य के मस्तिष्क की गुप्त-से-गुप्त बातें और उसकी उमंग, अभिलाषा तथा रहस्य कहानियों के विषय हैं। भूत-प्रेत, पशु-पक्षी, समुद्र, पहाड़, वायु और वृक्ष—सभी जड़-चेतन कहानियों के उत्पत्ति-स्थान हैं। निद्रित अवस्था के अज्ञात स्वप्नों के डोर में कहानियाँ बाँधी जाती हैं।'[2] व्यास की कहानियाँ प्रसाद की कहानियों की भाँति प्रेमप्रधान है, पर संवेदनाओं का वह संघर्ष उनकी कहानियों में अलभ्य है जो प्रसाद की कहानियों का स्वभाव है, मुख्य गुण है।

राय कृष्णदास—राय कृष्णदास की कहानियाँ भावप्रवण एवं कल्पनाप्रधान हैं। उनकी कहानियों में प्रतीकात्मक वक्तव्य काव्योचित ढंग से ही व्यक्त हुए हैं। इस दृष्टि से उनकी कहानियाँ प्रसाद की संवेदनाओं के निकट पड़ती हैं। गहुला, प्रसन्नता की प्राप्ति, अन्तःपुर का आरम्भ, कला और कृत्रिमता आदि कहानियों में काव्योचित अभिव्यक्ति पद्धति का व्यवहार किया गया है। चित्रात्मक भाषा का व्यवहार भी राय कृष्णदास कवि की ही भाँति करते हैं—बहुत कुछ छायावादी कवि की भाँति।

स्वतन्त्र रचना-प्रवृत्ति के लेखक

बेचन शर्मा उग्र—हिन्दी के प्रथम और प्रमुख राजनीतिक कहानी लेखक निजी और सार्वजनिक परिस्थितियों की आरंभिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न हीन भावना ने सन्दर्भ को तीव्रतर बनाने में योग दिया।

अज्ञेय—अज्ञेय विशुद्ध मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के कहानीकार माने जाते हैं। परिस्थिति और वातावरण की सीधी और तीखी मनोवैज्ञानिक चेतना उनकी कहानियों में व्यक्त हुई हैं। इस मनोवैज्ञानिक चेतना की एक दार्शनिक भूमि भी है और अज्ञेय की रचना-प्रक्रिया को उससे अलग नहीं किया जा सकता। परिस्थिति के प्रति जिज्ञासा की तीखी तात्कालिकता अज्ञेय के चिन्तन को अस्तित्ववादियों के निकट लाती है।

विषय की दृष्टि से अज्ञेय की कहानियाँ तीन प्रकार की, क्रान्तिकारी जीवन से सम्बन्धित, प्रेम सम्बन्धी और मनोवैज्ञानिक संघर्ष पर आधारित, बतायी जा सकती हैं।

१—पचास कहानियाँ : विनोदशंकर व्यास, पृ० १

२—वही, पृष्ठ १

अधिक सच तो यह है कि इस प्रकार की सभी प्रेरणाएँ उनकी कहानियों में एक दूसरे को छूती हुई जान पड़ती हैं। रोप, पगोडा वृक्ष, पुरुष का भाग्य, पठार का धीरज, साँप, कोठरी-की बात आदि कहानियाँ विभिन्न विषयों से सम्बन्धित होकर भी एक मनोवैज्ञानिक संवेदना से सम्पृक्त हैं।

अज्ञेय की कहानियों में अनेक शैलियों का व्यवहार है। ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक, नाटकीय, पत्रात्मक आदि विभिन्न पद्धतियों का उपयोग करते हुए अज्ञेय अपने रचनात्मक लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। अज्ञेय की कहानियों की परिणति प्रायः एक गहन अनुभूति की गूंज के रूप में प्राप्त की जा सकती है। वस्तु, चरित्र, वातावरण और संवेदना आदि तत्त्व परस्पर मिल कर उनकी कहानियों में इसी गूंज को तीव्र करने में सहायक होते हैं।

'कहानी' से अधिक कहने के लिए उत्सुक अज्ञेय की कहानियाँ जीवन की गहरी एषणा का पक्ष लेती हैं। जीने की प्रक्रिया के प्रति सजगता अज्ञेय की कहानियों का ख़ास गुण है। उनकी कहानी में ही यह संकेत देखा जा सकता है—'हम तो स्वयं जीने वाले हैं, जीवन के प्रति समर्पित होकर, क्योंकि जीवन का एक अपना तर्क है....।' अज्ञेय की कहानियाँ विश्लेषणशील हैं तो इसी अर्थ में कि वे अस्तित्व और यथार्थ के विविध स्तरों की व्याख्या करती हैं। 'पठार का धीरज' कहानी इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण है। अज्ञेय की कहानियों में प्रायः एक रचनाधर्मी संश्लिष्टता दिखाई देती है।

सब मिलाकर अज्ञेय की कहानियाँ प्रतीक शैली में जीवन के बुनियादी प्रश्नों का विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। समाधान की चिन्ता अज्ञेय को नहीं है। यही कारण है कि सरलीकृत परिणामों की कहानियाँ अज्ञेय ने नहीं लिखी हैं। अज्ञेय की कहानियाँ यथार्थ की खोज करती हैं। उनकी कहानियों का आस्वाद निःसन्देह बौद्धिक है, वह पाठक को जिज्ञासु भी बनाता है, संवेदनशील भी।

इलाचन्द्र जोशी—फ्रायड के मनोवैश्लेषिक चिन्तन और उनके उत्तराधिकारियों की मानसिक अवचेतन सम्बन्धी मान्यताओं का प्रभाव यदि उत्तर प्रेमचन्द युग के किसी कथाकार पर सर्वथा स्पष्ट रूप में है तो, इलाचन्द्र जोशी पर। जोशी जी ने अपनी कहानियों की सृजन-प्रक्रिया में मनोविश्लेषण शास्त्र की पद्धतियों का उपयोग करना चाहा है।

इलाचन्द्र जोशी की कहानियों में असाधारण रूप से अन्तर्मुखी चरित्रों की जटिलताओं का चित्रण है। यही कारण है कि उद्देश्यपूर्ण मनोवैज्ञानिक चिन्तन उनकी अधिकांश कहानियों में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जोशी जो की कहानियों के वस्तुविधान के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे मुख्यतः दो प्रकार की हैं: एक, वे, जिनमें मध्य वर्ग की कुण्ठा और ह्रासोन्मुखता का विश्लेषण है और दूसरी वे, जिनमें व्यक्ति के अहं और उससे उत्पन्न ग्रन्थियों का चित्रण है। पहले प्रकार की कहानियों में 'रोगी' 'परित्यक्ता' तथा 'दुष्कर्मी' जैसी कहानियाँ आती हैं और दूसरे प्रकार की कहानियों में 'डायरी के नीरस पृष्ठ' जैसी कहानी का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें मानसिक संघर्ष एवं तनाव का चित्रण है। कला और प्रभाव की दृष्टि से दूसरे प्रकार की कहानियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

इलाचन्द्र जोशी की आत्मपरक कहानियों में असाधारण घटना चक्रों का रहस्य

वर्णन और सन्देह, भय, ईर्ष्या, आत्मग्लानि आदि मनोवृत्तियों का विश्लेषण पाया जाता है। आत्मजनित भय आदि मनोविकारों का प्रक्षेपण जोशी जी की कहानियों में प्रत्यक्ष है।

स्त्री पुरुषों के सम्बन्धों पर लिखी गयी कहानियों में भी जोशी जी नैतिक आत्मपीड़ा और अपराध भावना को ही अभिव्यक्ति कर सके हैं। पतिव्रता या पिशाची नामक कहानी जोशी जी की उपर्युक्त सीमा का प्रतिनिधि उदाहरण है। जिस भावना से प्रेरित होकर सूरज-प्रसाद की पत्नी इस कहानी में अपने नवजात शिशु का गला मरोड़ डालती है, वैसी आत्मघाती भावना प्राय: जोशी जी की कहानियों का वर्ण्यविषय है। गूढ़ मनोवैज्ञानिक स्थितियों की जटिलता में प्रवेश करके भी जोशी जी ने जिन चरित्रों की प्राप्ति की है, वे साधारण ही है— प्रभाव और व्यक्तित्व की दृष्टि से।

यशपाल—यशपाल की कहानियाँ हमारे सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विषम संघर्ष और सूक्ष्म मर्यादाओं के खोकलेपन का उद्‌घाटन करती हैं। व्यक्ति और व्यक्ति के परिवेश की क्षुद्रता, नग्नता, अनैतिकता का उद्‌घाटन करते हुए वे समाज के वास्तविक सत्य का ढांचा खड़ा करना चाहते हैं। इस दृष्टि से वे सच्चे 'यथार्थवाद' कहानी लेखक हैं।

यशपाल ने अपनी कहानियों को सामाजिक वस्तु के रूप में पाया और स्थापित किया है। कहानी को सीधे और सोद्देश्य व्यंग का शक्तिशाली माध्यम बनाते हुए यशपाल ने उसे अधिक लोकप्रिय बनाया है। सामाजिक मूल्यहीनता का शिकार मनुष्य यशपाल की कहानियों के द्वारा अपने को अधिक पहचानता है। 'पाँव तले की डाल' तथा 'फूल की चोरी' आदि कहानियों में उद्देश्यपूर्ण सामाजिक व्यंग का उदाहरण देखा जा सकता है। यशपाल की कहानियाँ अन्तिम प्रभाव की दृष्टि से लक्ष्यात्मक कही जा सकती हैं।

यशपाल की कहानियों के मुख्य विषय आर्थिक विषमता, नैतिकता और यौन भावना है। 'कर्मफल', 'अभिशप्त', 'फूल की चोरी', 'चार आने' आदि कहानियों में आर्थिक विषमता के दोष उद्‌घाटित करने का प्रयत्न है। अपनी कुछ कहानियों में यशपाल ने आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न सामाजिक वर्ग विषमता की समस्या को समथ कटुता के साथ उपस्थित किया है। ऐसी कहानियों द्वारा यशपाल अभिजात्य वर्ग के प्रति गहरी घृणा जगाना चाहते हैं। 'आदमी का बच्चा' इसी प्रकार की कहानी है।

यशपाल की राजनीतिक या नैतिक व्यंगप्रधान कहानियाँ कहीं-कहीं प्रतीकोन्मुख भी हैं। यशपाल की ही व्याख्या के अनुसार 'फूलों का कुरता' में कुरता प्रतीक है—झूठी नैतिकता के खोखलेपन का और यशपाल इस परिच्छेद को हटा ही देना चाहते हैं। यशपाल की कहानियों की सीमा वहाँ है जहाँ वे सांकेतिकता के अर्थपूर्ण उपयोग की उपेक्षा करते हैं। दूसरे शब्दों में यशपाल की कमज़ोर कहानियाँ वे ही जिनमें वे जीवन की वास्तविकता के व्याख्याता मात्र हैं। कथा समीक्षकों की राय में यशपाल की सीमा यह भी है कि वे 'हर पात्र के पीछे तैनात' हैं। पात्र का कोई निजी अन्तरंग भी हो सकता है, किन्तु यशपाल इस दिशा में सचेत नहीं हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क—उपेन्द्रनाथ अश्क के ही अनुसार उनकी रचनात्मक प्रेरणाओं का

स्रोत उनका निजी जीवन है जिसमें काल्पनिक कहानियों के निर्माण की न प्रेरणा थी न संभावना। व्यक्ति और समाज के सबन्ध, शील और संघर्ष की कहानियों की रचना करके अश्क ने यथार्थ मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलुओं का साक्षात्कार किया है।

अश्क की कहानियों के चरित्र विभिन्न सामाजिक वर्गों से लिए गए हैं। इस दृष्टि से उनकी कहानियों में एकरसता नहीं मिलती। कभी-कभी हेतु के अस्पष्ट होने से उनकी कहानियों का व्यंग-सन्दर्भ अस्पष्ट और अनुद्घाटित रह जाता है।

शिल्प के प्रति अतिशय सतर्कता बरतनेवाले कहानीकार अश्क ने हेतु को छिपाकर अपनी कुछ कहानियों को नयी अर्थवत्ता देने की चेष्टा की है। 'कहानी लेखिका और जेहलम के-सात पुल' कहानी इस दृष्टि से एक प्रयोगधर्मी कहानी है। इस कहानी में कहानी लेखिका की सोची हुई कहानी अयथार्थ है, उसका यथार्थ से कोई सम्बन्ध है ही नहीं। अतः वे विवरण बचा जाती है जिनकी प्रतिष्ठा कोई यथार्थवादी कहानी लेखक अपनी रचना में अनिवार्य रूप से करता। अश्क ने स्वयं संकेत दिया है कि काल्पनिक और यथार्थमूलक कहानियों के भेद को प्रत्यक्ष करने के उद्देश्य से ही इस प्रकार की प्रयोगशीलता का आश्रय वे ग्रहण करते हैं।

अश्क की कहानियों में वातावरण की सजीव परिकल्पना है। वे अपनी कहानियों में वातावरण की रचना करते हुए विभिन्न कलात्मक माध्यमों में सुलभ उपकरणों का उपयोग करते हैं। कहीं अश्क की भाषा विम्बबहुल है और कहीं लययुक्त।

अश्क की कला में आयास का तत्त्व भी है पर वह कहानी के स्वाभाविक मर्म को बाधित नहीं करता। वस्तु और रूप दोनों दृष्टियों से अश्क के कहानी साहित्य में वैविध्य है, और विविधता के लिए उनकी कहानियाँ अलग से याद की जा सकती हैं।

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कहानी लेखक—पहले से लिखते आ रहे लेखकों में **भगवतीचरण-वर्मा** की सार्थक व्यंग शैली की कहानियों का उल्लेख आवश्यक है 'मुगलों ने सल्तनत बख्श-दी' और 'दो बांके' हिन्दी की सर्वोत्तम व्यंग कहानियों में गिनी जा सकती है। तीव्र वस्तु की ग्रहणशीलता और शिल्प की ऋजुता के क्षेत्र में वर्मा जी अपने ढंग के अकेले लेखक हैं।

समस्या का यथार्थ विश्लेषण **विष्णु प्रभाकर** की कहानियों का उद्देश्य है। उनकी विशेषता यह है कि वे उपर्युक्त विश्लेषण एक नैतिक सहानुभूति से प्रेरित होकर करते हैं, और परिणाम की कल्पना एक मनोहर स्वप्न के रूप में करते हैं। 'धरती अब भी घूम रही है जैसी विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ संवेदनात्मक हेतु पर आधारित है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार—'कहानी' में कहानी के परम्परागत गुणों का ही विकास दिखाना चाहते हैं। सहज मानवीय संवेदना को वे कहानियों के लिए महत्त्वपूर्ण साधन मानते हैं और कहानियों की निर्माण-प्रक्रिया में केन्द्रीय भाव का अनुशासन मानकर चलते हैं।

जीवन को आंचलिक वातावरण में सीमित कर पात्रों के निजी अन्तरंग में आत्मीयता के साथ प्रवेश करना **अमृतलाल नागर** की कहानियों का प्रयोजन है। चुभती हुई स्थितियों के लिए खास चुटीली भाषा की खोज के प्रति नागर जी अत्यन्त सर्तक जान पड़ते है।

रांगेय राघव (स्वर्गीय) 'गदल' जैसी सामाजिक आलोचना पर आधारित तीखी संवेदना की कहानियों के लिए अवश्य ही स्मरण किए जा सकते हैं।

धर्मवीर भारती—की कहानियाँ मानवीय करुणा की गहरी अभिव्यक्ति करती हैं। 'गुल की बन्नो' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। वस्तु को व्यंग की ऊँचाई तक ले जाकर भारती अपनी कहानियों का अधिक सार्थक उपयोग करते हैं। **फणीश्वर नाथरेणु** की कहानियाँ उन्हीं की भाषा में 'ठुमरी धर्मा' हैं क्योंकि उनका अन्तर्मार्ग एक ही है। 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए-गुलफाम' उनकी कहानी कला का प्रतिनिधि उदाहरण है।

अन्य कहानी लेखकों में चन्द्रकिरण सोनरिक्सा, भैरवप्रसाद गुप्त, कमल जोशी, अमृत-राय, द्विजेन्द्रनाथ निर्गुण, कृष्ण सोवती, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, अमरकान्त, शेखर जोशी, कमलेश्वर, परसाई, रामकुमार, मन्नू भण्डारी, भीष्म सहानी आदि के नाम लिए जा सकते हैं, जिन्होंने आधुनिक कहानी को विविधता और सम्पन्नता दी है। प्रस्तुत युग का व्यक्तित्व प्रयत्नों की समग्रता से निर्मित हुआ है, किसी एक लेखक के प्रयत्न से नहीं। उपर्युक्त कहानीकार नगर संस्कृति के जटिल सम्बन्धों के लेखक हों या ग्रामीण जीवन की नयी अनुभूत वास्तविकता के, इनकी कहानियों में एक खुली हुई दृष्टि मिलती है। कहानी के शिल्प की धारणा इनकी कहानियों में कितनी ही बार बदली है। सब मिलाकर प्रेमचन्द के बाद के युग की कहानी की प्रगति का विवरण प्रवृत्तियों में समाहित नहीं किया जा सकता, अधिक-से-अधिक इस प्रगति के विभिन्न पहलुओं को रेखांकित किया जा सकता है।

कथानक की परम्परागत धारणा के प्रति असहमति और असन्तोष

उत्तर प्रेमचन्द युग की हिन्दी कहानी की प्रगति का मूल्यांकन करते हुए हम अनुभव करते हैं कि इस युग का कहानीकार कहानी के 'कथानक' की परम्परागत मान्यता को छोड़कर ही आगे बढ़ता है। इस युग की कहानी रचनाधर्मी कही जा सकती है तो इसी अर्थ में कि वह शास्त्रीय कथा-संगठन के ढाँचे को तोड़कर ही लिखी जाती है। इस युग की आर्धसंख्य कहानियों के कथानक प्रायः परम्परागत घटना-चक्र से हटकर यथार्थ की किसी आभ्यन्तर संवेदना पर आधारित होते हैं। जहाँ पहले की कहानियों में कथा-सन्दर्भ निश्चित और लक्ष्यात्मक होते थे वहाँ आधुनिक कहानियों के कथा सन्दर्भ असम्बद्ध और अनिश्चित से हैं। अज्ञेय की कहानी मेजर चौधरी की वापसी कथानक में कथासूत्रों की अनिश्चित असम्बद्धता के सार्थक का उपयोग उत्कृष्ट उदाहरण है।

चरित्रविधान : जटिल स्थितियों में—आधुनिक कहानियों में चरित्र चित्रण की रूढ़िबद्ध पद्धति छोड़कर साधारण या असाधारण चरित्रों के मनोगत व्यापारों और क्रियात्मक आचरण को अधिक गहराई से देखने की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। हिन्दी कहानी में चरित्रविधान की समस्या को जटिलतर स्थितियों में सुलझाने का प्रयत्न किया गया था। 'हंस' में प्रकाशित शमशेर और भुवनेश्वर की कहानियों में यह आन्तरिक जटिलता सन् १९३६ के ठीक बाद लक्षित की जा सकी। अज्ञेय की कहानी 'वे दूसरे' जैनेन्द्र की कहानी 'रत्नप्रभा' यशपाल की कहानी 'पराया सुख' इलाचन्द्र जोशी की कहानी 'डायरी के नीरस पृष्ठ' अश्क की कहानी 'चट्टान' आदि के चरित्र प्रमाण हैं कि वे या तो आत्मावलोकन करते प्रतीत होते

हैं या किसी तटस्थ पात्र की प्रतिक्रियाओं का आलम्बन बनते हैं या नैतिक या मानसिक स्थिति की व्याख्या का साधन बनते हैं। चरित्र चित्रण की नई प्रणालियों के आविष्कृत हो जाने से आधुनिक कहानियों में कभी कभी चरित्र इतने पारदर्शी हो जाते हैं कि मानवीय स्थिति के हर उतार चढ़ाव को व्यक्त कर सकें और कभी उनके व्यक्तित्व आकार और स्वभाव को व्याख्या या समीक्षा की आवश्यकता का अनुभव होता है। आधुनिक कहानी में चरित्र को स्थान और काल की सीमाओं से उठाकर देखने और चित्रित करने का प्रयत्न भी किया गया है।

वातावरण—सजीवता का रहस्य—आधुनिक कहानियों में स्थितियों की सजीवता का रहस्य यह है कि वे उस वातावरण में घटित होती हैं जिन्हें कहानीकार जीता है। आधुनिक कहानियों में वातावरण अपने सहजीवी चरित्रों के जटिल अनुभवों का सहचर होता है, निरा उद्दीपन नहीं होता। पुरानी कहानियों में वातावरण अलंकृत होता था या असाधारण। आधुनिक कहानियों में वह साधारण, सहज और मानवीय अर्थ से संयुक्त होता है। प्रसाद से अज्ञेय तक की कहानियों की तुलना वातावरण चित्रण के उदाहरणों के तर्क से की जाय तो विकास का सही अनुमान लगाया जा सकता है।

सम्वेदना—कहा जा सकता है कि आधुनिक कहानी की सम्वेदना जिसने कथा, चरित्र, वातावरण, प्रभाव की पद्धति को समूल बदल दिया, इन्द्रिय बोध की सूक्ष्म चेतना से संगठित है। यथार्थ के प्रत्यक्ष और प्रामाणिक दबाव की अनुभूति जिस सीमा तक इस सम्वेदना का अंग है, उससे कहीं अधिक मनोवैज्ञानिक चेतना का प्रभाव इस सम्वेदना पर देखा जा सकता है।

जागरूकता के विविध स्तर और चेतना के विभिन्न लक्षण उपर्युक्त संवेदना के निर्माण में कितने सहायक होते हैं, इसे उत्तर प्रेमचन्द युग की कहानियों के अध्ययन से ही जाना जा सकता है।

यथार्थ की चेतना—प्रसिद्ध कथाकार भगवतीचरण वर्मा के अनुसार कहानी को 'कला' में स्थापित होने की क्षमता यथार्थवाद के कारण ही मिली। यथार्थ को सामाजिक और मनोवैज्ञानिक या सामूहिक और व्यक्तिगत इस स्थूल अन्तर के आधार पर विभाजित करना ठीक नहीं।

आधुनिक कहानीकार यथार्थ की व्यापक चेतना को स्वीकार करते हुए सामाजिक जीवन में नित्य बनने तथा बदलने वाले सम्बन्धों को स्मृति और कल्पना द्वारा रचना में रूपान्तरित करता है। अज्ञेय की कहानी 'पठार की धीरज' में यह प्रक्रिया देखी जा सकती है।

शिल्प : प्रयोग का शील—प्रेमचन्दोत्तर युग की कहानी ने शिल्प की दृष्टि से जो दिशाएँ ग्रहण की उनमें अप्रत्याशित मौलिकता दिखाई पड़ी। यह मौलिकता कथा-निर्माण की विधि, चरित्र निदर्शन, वातावरण के संयोजन सभी दिशाओं में लक्षित होती है। कहानी एक ही साथ निबन्ध, रेखाचित्र, नाटक, रिपोतार्ज, यहाँ तक कि कविता आदि विभिन्न साहित्यिक रूपों की विशेषताओं को आत्मसात् कर सकी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति और उसके बाद : आज की कहानी—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय को प्रेमचन्दोत्तर कहानी और उसके नये विकास 'नयी कहानी' के बीच की विभाजक-रेखा मानना चाहिए। इसके निश्चित कारण हैं कि स्वतन्त्रता से पहले की कहानी में व्यक्त कहानीकार की

निजी समस्या मानव-समस्या नहीं बन पाती। कहानीकार का आत्मविभाजन मानव के समग्र विश्वास को अपनी रचना प्रक्रिया में आत्मसात् नहीं कर पाता। जीवन के वृहत्तर सन्दर्भों के संवेदनात्मक ज्ञान के अभाव में ही स्वतन्त्रता से पहले के कुछ कहानीकार सामाजिक समस्याओं की प्रतिक्रिया को अपनी रचनात्मक चेतना का अंग नहीं बना सके हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ठीक बाद तो शिक्षित मध्यवर्ग में अवसरवादी चेतना ही दिखाई पड़ती है पर १९५० तक आते-आते हम अनेक कठिनाइयों और अन्तर्बाधाओं के होते हुए भी एक स्वाभाविक आस्था का उन्मेष देखते हैं। विश्व राष्ट्रों के बीच भारत के बढ़ते हुए विश्वास युक्त सम्बन्धों के कारण स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार में रचना प्रक्रिया की दृष्टि से त्रिमुखी संवर्ष का बोध प्रत्यक्षतः दिखाई पड़ता है। इसमें पहला संघर्ष अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष है। दूसरा निजी चेतना को मानवीय संवेदना से सम्बद्ध करने के लिए आत्मसंघर्ष है। तीसरा संघर्ष मानव समस्याओं की अनुभूति प्राप्त करते हुए अपने जीवनानुभव को व्यापक और तीव्रतर बनाने के लिए है।

आज की कहानी में द्वन्द्वात्मकता और सन्देह, आत्मविकृति और आत्मविभाजन से मुक्त जिस 'मनुष्यता' की अनुभूति दिखाई देती है, वह स्वातन्त्र्योत्तर अनुभूति है। देश की परिवर्तित व्यवस्था, चेतना और सबके फलस्वरूप विकसित आस्था के साथ इस अनुभूति का ग्रहण कारण-कार्य सम्बन्ध है। सन् १९४७ में हमने जो राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त की, उसके फलस्वरूप रचना के क्षेत्र में सांस्कृतिक विकास के प्रति सजग एक जाती उदार चेतना का उदय हुआ। राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् विकसित होने वाली इस चेतना के साथ नये कहानीकार में जिस 'आत्म-सजगता' का विकास हुआ है 'वह सामाजिकता के विरोधी तत्त्व के रूप में नहीं है।

आज की कहानी के रचनाकार के अनुभव सीमित परिवेश में समाप्त नहीं हो जाते बल्कि विम्ब-रचना के धरातल पर समूची ऐतिहासिक परम्परा और दृष्टिक्षेत्र के अंग होते हैं। प्रेम-चन्दोत्तर हिन्दी कहानी की सीमित व्यक्तिचेतना को आज की कहानी वृहत्तर और सामाजिक बना रही है अतः उसकी उपलब्धि की नयी सार्थकता को समझने और उसे ऐतिहासिक भूमिका में रखकर उसकी नवीनता की दिशाओं को पहचानने की आवश्यकता निरन्तर बनी हुई है। मानवीय सम्बन्धों से प्रतिबद्धता आज के कहानीकार के रचनात्मक मानस की सबसे महत्त्वपूर्ण चेतना है और उसे नवीन जनतान्त्रिक संस्कृति के विकास से बड़ा बल मिला है।

आज की कहानी में समाज और व्यक्ति के बदलते हुए सम्बन्धों को उस विवेक से देखा जाता है जो 'मनुष्य' और 'मनुष्य' नामक यन्त्र का अन्तर स्पष्ट करता है। आज का कहानीकार यथार्थ को नामक विभक्त करके नहीं देखता, सम्पूर्णता में देखता है। अनुभव के प्रामाणिक स्तर पर वह यथार्थ के विभिन्न पहलुओं की मार्मिक समीक्षा अवश्य करता है। आज की कहानी में कथानक, चरित्र, वातावरण और प्रयोजन की सार्थक सांकेतिक अभिव्यक्ति केवल कलात्मक निपुणता या विशिष्टता के कारण नहीं है बल्कि एक नयी संवेदन-शीलता और यथार्थ दृष्टि से उत्पन्न है।

आज की कहानी में अनेक अनुभवों का, बल्कि जीवन के समस्त सन्दर्भों का सामंजस्य एक ही विन्दु पर दिखाई देता है, जिस प्रकार स्वतन्त्रता के बाद की सभी समस्याएँ किसी केन्द्रीय विन्दु पर एक दूसरे को छूती हैं। आज का कहानी लेखक जिस प्रक्रिया से अपने अनुभव को संश्लिष्टता को मानवीय सत्य की सीमा तक पहुँचा देता है, उसका अध्ययन स्वातन्त्र्योत्तर मनो-

दृष्टि के विकास के सन्दर्भ में किया जा सकता हैं। जब हम स्वातन्त्र्योत्तर कहानी को इस दृष्टि-क्रम में देखते हैं तो कहानी के रचनात्मक क्षेत्र में होने वाले नये प्रयोगों का वास्तविक महत्त्व समझ में आता है और कहानी के 'नवीन' होने की आवश्यकता समझ में आती है। आज के कहानी लेखक के सामने प्रेमचन्द की उस स्वस्थ सामाजिक (मानवीय सहानुभूति पर टिकी हुई) दृष्टि को नवीन सन्दर्भ प्रदान करने का प्रश्न था जो बीच के समय में नष्ट हो चली थी। दूसरी ओर आज के कहानी लेखक के सामने कहानी को हल्के एकरस रूमान से मुक्त करने का प्रश्न था और कहानी को उस अति-सैद्धान्तिक मनोविश्लेषण से पृथक् करने की आवश्यकता थी, जिसके फलस्वरूप कहानी स्नायविक रोगों का विश्लेषण बन कर रह गयी थी। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कहानी को अपनी कलात्मक रचना विधि में नयी विशेषताओं को स्थान देना पड़ा। यही कारण है कि आज की कहानी ने वस्तु या वक्तव्य को अधिक से-अधिक यथार्थ-ग्राही बनाने के लिए कहीं कविता की वातावरण-निर्माण क्षमता ग्रहण की है और कहीं चित्रकला की बिम्बवादी पद्धति का उपयोग किया है।

यथार्थ की नयी पहचान : स्वातन्त्र्योत्तर या अधिक स्पष्ट रूप में आज की कहानी में व्यक्त होने वाला यह यथार्थ बोध विज्ञान का सत्यान्वेषण नहीं है। यह यथार्थ बोध 'अनुभव' की प्रामाणिकता पर आधारित है जो हमें मानव स्थिति के ठीक सामने रख देता है। यह यथार्थ बोध वह अनुभव है 'जो विशेष मानवीय परिस्थिति में लक्षित होने वाले और पहले से बदले हुए सम्बन्धों को ठीक-ठीक समझने की दृष्टि देता है। यथार्थ की दृष्टि कहानी की गहरी अनुभूति और उसकी रागात्मक संवेदनाओं को निरन्तर परिष्कृत करती रहती है और सम-सामयिक जीवन-सन्दर्भों को एक विस्तृत ऐतिहासिक परिदृश्य के बीच देख सकने के लिए अपेक्षित चेतना प्रदान करती है।

सन् '५० के बाद की कहानी यथार्थबोध की जटिलतम समस्याओं से निरन्तर अनुप्राणित है, और उसके अनुसार कहानी के कलात्मक विधान में पयप्ति गतिशीलता भी दिखाई देती है। यथार्थ के अति बौद्धिकीकरण से कहानी की रसग्राहिता में बाधा पड़ सकती है[1]। इस दिशा में कहानीकार भी सचेत है। नये कहानीकार की यथार्थ संवेद्यता आत्मचेतना से उत्पन्न है। भीष्म सहानी की कहानी 'बात की बात' के बसाखा सिंह, शिव प्रसाद सिंह की कहानी 'आंखें, की गुलाबो' निर्मल वर्मा की कहानी 'तीसरा गवाह' की नीरजा आदि चरित्रों का निर्माण यथार्थ संवेद्यता के विभिन्न स्तरों का उद्‌घाटन करता है। बदलती हुई वास्तविकता के दबाव से ही आज की कहानी में नये नैतिक बोध का उदय हुआ। रघुबीर सहाय की कहानी 'मेरे और-नंगी औरत के बीच' इसका उदाहरण है।

सांकेतिकता

अधिक सार्थक उपयोग—सांकेतिकता आज की कहानी में उस वस्तुभेदी दृष्टि को

१. **"मैं बार-बार सोचता हूँ कि हमारा साहित्य, हमारा सम्पूर्ण कला-कृतित्व यथार्थ के इस बौद्धिकीकरण से आक्रान्त है। यथार्थ को यथार्थवत् ग्रहण कर सकने की क्षमता को वह कुंठित कर रहा है।"**

—आत्मनेपद, अज्ञेय, पृष्ठ ४

जन्म देती है जो वस्तु को ही नहीं, उसकी प्रतिक्रियाओं को भी मूल स्रोत तक जाकर देखने का प्रयत्न करती है।

सांकेतिक व्यंजना के लिए उपयुक्त माध्यम की खोज में आज का कहानीकार नये और सार्थक प्रतीकों का अन्वेषण करता है। युग की जटिलतर मानसिक स्थितियों को व्यक्त करने के लिए वह बिम्बों के अर्थपूर्ण उपयोग पर अधिक बल देता है। समसामयिक यथार्थ की जटिलता और परिवर्तनशीलता की पृष्ठभूमि में बिम्बरचना की अर्थपूर्ण प्रक्रिया को ग्रहण करने की पर्युत्सुकता आज के कहानीकारों की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। सांकेतिकता के ही आग्रह से एक नयी सृजनात्मक भाषा की खोज भी आज की कहानी में की गयी है। रघुवीर सहाय और निर्मल वर्मा की कहानियाँ सृजनात्मक भाषा का समर्थ उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

सन् '६० तक आते-आते हिन्दी कहानी मानव-नियति के बुनियादी प्रश्नों को यदि उठा रही है तो इसके पीछे निरन्तर विकास की ओर उन्मुख एक लम्बी प्रयत्न-शृंखला है। युद्धोत्तर मानवीय सम्बन्धों की अमानवीयता को समूची तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करने की सफलता आज की कहानी में असंदिग्ध रूप से है।

नाट्य-साहित्य

भारतेन्दु युग से प्रसाद युग तक (सन् १८६८ से १६१० तक)

रीतिकाल तक हमने काव्य शैली एवं जन प्रवृत्तियों को महत्त्व दिया था किन्तु आधुनिक युग में व्यक्तित्व इतना प्रधान बन गया है कि हमने युगों का नामकरण व्यक्ति के आधार पर कर डाला है। काव्य के क्षेत्र में प्रसाद, पंत और निराला के व्यक्तित्व ने हिन्दी को आच्छादित किया, किन्तु इन महारथियों के नाम पर युग ने अपनी सत्ता नहीं पाई है। युगों को सत्ता देनेवाले हैं, भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमचन्द, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल। नाटक के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और जयशंकर प्रसाद ने नाटकों एवं नाटककारों को सर्वाधिक प्रभावित किया है और अपने नाटकों को सबसे ऊँचे आसन पर बिठाया। फलतः दोनों नाटक-कारों के नाम पर युगों का नामकरण हुआ।

भारतेन्दु को आधुनिक हिन्दी नाटक का जनक कहा जाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी नाटक का क्षेत्र निर्जन और शून्य था। भारतेन्दु से पूर्व ब्रजभाषा के अनूदित और मौलिक काव्य-नाटक थे। किन्तु इन नाटकों को हम नाट्य-कला की कसौटी पर बहुत ऊँचा स्थान नहीं देते हैं। हम यह तो नहीं कहते कि ये नाटक नहीं हैं। ये नाटक हैं, किन्तु काव्य नाटक हैं, जिनमें हनुमन्नाटक, मराठी-नाटक और भारतीय भाषाओं के जन नाटकों की प्रबन्धात्मक या कथात्मक शैली मिलती है। अवश्य ही, ये शिशु नाटक हैं जिनमें शिशुओं की निर्बलता और हीनता है। इनका ऐतिहासिक महत्त्व है, कला सम्बन्धी गौरव नहीं। भारतेन्दु ने ही सबसे पहले नाट्य कला के सभी अंगों को अपना कर साहित्यिक नाटक लिखे जो अभिनेय हैं। अतः हम उन्हें आधुनिक हिन्दी नाटक का जनक कहते हैं। उनसे पूर्व के नाटक बाल-प्रयास से लगते हैं।

भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभा के महापुरुष थे। उन्होंने काव्य ग्रन्थ, निबन्ध, उपाख्यान, इतिहास और नाटक लिखे। प्रधानतः वे कवि थे और प्राचीन काल में पश्चिम और पूर्व में कवि ही नाटककार बन सकता था। भारतेन्दु इसी परम्परा के नाटककार हैं। नाट्य क्षेत्र में उनकी प्रतिभा सबसे अधिक चमकी। अतः वे नाटक के जनक कहे गये। काव्य क्षेत्र में भारतेन्दु से पूर्व अनेक समर्थशाली कवि हो चुके थे, अतः काव्य जगत् में वे अपना प्रभाव उतना नहीं दिखा सके, यद्यपि वे समर्थ कवि थे। भारतेन्दु ने अनूदित और मौलिक नाटक मिलाकर ३२ वर्ष में की आयु १८ नाटक लिखे। यदि उन्हें और आयु मिली होती तो वे हिन्दी नाट्य-क्षेत्र को और भरते।

भारतेन्दु की नाट्य कला

महान व्यक्तित्व आँख मूंदकर अनुगमन नहीं करता, वरन् वह समय की शिलाओं पर अपने पद-चिन्ह खींचता आगे बढ़ा करता है। प्रथम बार भारतेन्दु ने नाट्य-सिद्धान्तों को

सामने रखकर नाटकों का निर्माण किया और उनके आधार पर नाट्यकला का परिचायक 'नाटक' नामक शोध-निबन्ध हिन्दी जगत् के सम्मुख रखा। भारतेन्दु ने आँख मूंदकर पश्चिमी या पूर्वी नाट्य कला का अनुसरण नहीं किया है। वे सजग कलाकार थे और सावधान होकर कदम आगे रख रहे थे। उनके समय में एक ओर पश्चिमी नाट्य-कला बावनी डग रख रही थी तो दूसरी ओर संस्कृत-नाट्य-कला का द्वार खुला पड़ा था। भारतेन्दु बाबू ने सावधानी से दोनों नाट्य कलाओं को परखा और अपने नाटकों में उनका उपयोग किया। उन्होंने निर्भीकता से अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि हमें अपनी आँखें खोलकर चलना चाहिए और जहाँ जो अच्छाई हो उसे अपनाना चाहिए। प्राचीनता को हम गहें किन्तु अनावश्यक बातों को पीठ पर ढोते फिरें, यह उचित नहीं है। न सारी प्राचीनता ही ग्राह्य है और न सम्पूर्ण नवीनता ही। वे अपना मत देते हुए कहते हैं—"प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक मण्डली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्यकाव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गए हैं। किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति प्राचीन मत का अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्ति-संगत नहीं वोध होता।"[१] तब क्या प्राचीन सभी बातें त्याज्य हैं? भारतेन्दु कहते हैं—कदापि नहीं। उनका कथन है—"नाटकादि दृश्य-काव्य का प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें। यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति या पद्धति आधुनिक लोगों की मत पोषिका होगी, वह सब अवश्य ग्रहण होंगी।"[२] भारतेन्दु बाबू ने इसी मौलिक एवं सामंजस्यवादी दृष्टिकोण को अपना कर प्राचीन परिपाटी के भी नाटक लिखे,[3] और नवीन परिपाटी के भी[4]।

भारतेन्दु के नाटकों की विशेषताएँ

१—कविता और गीति बहुलता

भारतेन्दु नाटक को दृश्य-काव्य मानते हैं।[५] अतः कविता का नाटकों में अनिवार्य स्थान हो, वे इसके पक्ष में हैं संस्कृत और अंग्रेज़ी नाटकों की उस परम्परा में वे खड़े हैं जहाँ कविता के कारण नाटक को ऊँचा माना जाता था। वे प्रधानतः कवि हैं। अतः उनके नाटकों में कविता को बड़ा ऊँचा स्थान प्राप्त है। ब्रजभाषा काव्य-नाटकों की शृङ्खला उनके ही हाथों में आकर समाप्त होती है। उनके पिता का "नहुष" नाटक भी ब्रजभाषा काव्य नाटक का अन्तिम छोर पकड़े है। यह नाटक भी काव्य बहुल है। नाटकों में काव्य की अनिवार्यता का

१—भारतेन्दु-ग्रन्थावली, प्र० भाग—सं० ब्रजरत्नदास, प्र० सं०, पृ० ७२१

२—वही

३—चन्द्रावली, सत्य हरिश्चन्द्र, विषस्यविषमौषधम्

४—भारत दुर्दशा, नील देवी, भारत जननी, प्रेम जोगिनी

५—भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्र० भाग, पृ० सं० ७१५

पत्त लेते हुए वे कहते हैं—"काव्य के सर्वगुण संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं।"[1] काव्य के साथ-साथ गीतों को जो महत्त्व मिला है वह भारतेन्दु जी एवं अन्य तत्कालीन कालों की नवीन विशेषता है। ब्रजभाषा नाटकों में से आनंद रघुनन्दन में कुछ गीतों का प्रयोग मिलता है, अन्यथा अन्य नाटकों में छन्द-बद्ध कविता हैं। भारतेन्दु कालीन नाटकों में गीतों को बड़ा महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हो गया। "आनन्द कादम्बिनी" (१-२, सन् १८८१, पृ० १४) में पं० बद्री नारायण चौधरी प्रेमघन ने "शकुन्तला", "प्रबोध चन्द्रोदय" इत्यादि कुछ नाटकों की आलोचना करते हुए लिखा था—"इन नाटकों का सबसे बड़ा दोष है गीतों का न होना। बहुतेरे ऐसे हैं कि जिनमें पथ के नाते केवल छन्द-मात्र है न कि गान जो नाटक में जीव हैं।" इससे नाटकों की तत्कालीन गीत-प्रवृत्ति का पूरा पता चलता है। भारतेन्दु नाटक और गीति रूपक के भेद को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि नाटक में "गीत रूपक" से कम गीत होंगे।[2] भारतेन्दु के नाटकों से भी यह सिद्ध होता है कि नाटकों में कविता के साथ गीतों का प्रयोग आवश्यक है। इन्द्र सभा एवं पारसी थियेट्रीकल नाटकों की लोकप्रियताा भी इसमें हाथ बटाए थी।

२—व्यंग विनोद

भारतेन्दु बड़े विनोदी थे, यह उनके सभी जीवनीकार बताते हैं। होली और प्रथम अप्रेल को उनकी विनोद-वृत्ति अधिक मुखर हो उठती थी। जो स्वयं विनोद एवं व्यंग्य को जीवन में पकड़े हुए हो, भला वह नाटकों में उसे क्यों स्थान न देगा? व्यंग्य और विनोद से नाटकों में सरसता आ जाती है। तभी तो विदूषक प्रयोग की आवश्यकता का आविष्कार संस्कृत नाटककारों को करना पड़ा। भारतेन्दु ने नाटकीय पात्रों को ही विनोद एवं व्यंग्य में रंग दिया है, सभी नाटक इसके प्रमाण हैं। कहीं-कहीं यह विनोद अश्लील भी हो गया है।

३—सामाजिक और राष्ट्रीय स्वर

ये दोनों स्वर भारतेन्दु के नाटकों में सुने जा सकते हैं। भारतेन्दु काल का नारा था—हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान।[3] भारतेन्दु इसमें भी अगुआ थे। हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के चित्र ही उनके नाटकों में अंकित हैं। हिन्दी के तो ये नाटक ही हैं। हिन्दुओं की सामाजिक दशा का अंकन उन्होंने बार-बार किया है। वे एक ओर प्राचीन हिन्दुत्व का स्मरण दिलाते है तो दूसरी ओर हिन्दुओं की तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों का पर्दाफ़ाश करते हैं। बाल-विवाह, छूत-छात, विलायत-गमन-निषेध, मद्यपान, अशिक्षा, जन्मपत्री मिलान, भूत-प्रेत विश्वास इत्यादि पर उन्होंने प्रहार किये हैं।[4] उनकी राष्ट्रीयता भी हिन्दू राष्ट्रीयता है। उन्होंने नाटकों में मुस्लिम आक्रान्ताओं के क्रूर रूप को सामने रक्खा है क्योंकि इन्होंने हिन्दुओं को पीड़ा पहुँचाई थी। अंग्रेज़ों की उन्होंने प्रशंसा भी की है और निन्दा भी। कर का उन्होंने विरोध किया है। देश के नेताओं की धर पकड़ की उन्होंने निन्दा की है।[5] किन्तु अंग्रेज़ों में विद्या है, वे मुसलमानों

१—वही; पृ० ७१६
२—वही पृ० ७२०
३—'भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य' प्र० सं०, पृ० २०३
४—'भारत दुर्दशा' 'अंधेर नगरी', विषस्यविषमौषधन्
५—'भारत दुर्दशा' अंक पाँचवाँ

से अच्छे हैं, क्योंकि विचारशील हैं और मन्दिर को ध्वंस नहीं करते हैं। अतः अंग्रेज़ों की प्रशंसा भी की है। साथ ही, वे राज-भक्त थे, इसीलिए भी प्रशंसा की गई है। तत्कालीन देश-प्रेमी पुरुष ऐसा ही कर रहे थे। कांग्रेस के सभापति भी एक ओर अंग्रेज़ों की प्रशंसा करते थे दूसरी ओर विरोध भी। भारतेन्दु भी इसी प्रकार के राष्ट्र प्रेमी थे।

४—आदर्शवादिता

भारतेन्दु जी आदर्शवादी कलाकार हैं। फलतः वे प्राचीन-भारत का उज्ज्वल चित्र उपस्थित करते हैं और वर्तमान का काला। वर्तमान की दुर्व्यवस्था और दोषों को सामने लाकर वे उपदेश देते हैं कि ऐसे बनो। उपदेश का यह स्वर उनके नाटकों में सर्वत्र सुनाई देता है। नाटक-रचना के सिद्धान्तों में वे यह भी मानते हैं कि नाटक से कोई अच्छा उपदेश प्राप्त हो। वे कहते हैं—"आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक रचना में उद्देश्य फल उत्तम निकालना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्य, शिष्टगण ग्रन्थ का तादृश आदर नहीं करते अर्थात् नाटक पढ़ने व देखने से कोई शिक्षा मिले।[1]

भारतेन्दु के नाटक

भारतेन्दु के नाटक तीन प्रकार के हैं—अनूदित, मौलिक और अर्द्ध मौलिक या छाया-नुवाद। भारतेन्दु ने नाटक जगत् में अनुवाद के साथ प्रवेश किया। 'रत्नावली' और 'प्रवास' उनके अनूदित नाटक हैं, जिन्हें उन्होंने पहले लिखा (१८६८ ई०)। ये दोनों संस्कृत से संस्कृत से अन्य अनूदित नाटक हैं—पाखण्ड विडम्बन, मुद्राराक्षस और 'धनंजय-विजय'। 'कर्पूर-मंजरी' प्राकृत से अनूदित है। बंगला और अंग्रेज़ी से अनुवाद किये नाटक हैं—'भारत-जननी' और 'दुर्लभ-बन्धु' (मरचेण्ट आफ़ वेनिस का अनुवाद)। मौलिक नाटकों के नाम हैं—वैदिकी हिंसा, प्रेम जोगनी (अपूर्ण), विषस्य विषमौषधम्', चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नील देवी, अँधेर नगरी और सती-प्रताप (अपूर्ण)। भारतेन्दु के छायानुवाद हैं, विद्यासुन्दर और सत्य हरिश्चन्द्र। कालक्रम से मुद्रित उनके नाटकों की सूची यह हैं—[2]

१८६८—प्रवास, रत्नावली और विद्यासुन्दर
१८७२—पाखण्ड-विडम्बन
१८७३—वैदिकी हिसा हिंसा न भवति, धनंजय-विजय
१८७५—मुद्राराक्षस, सत्य-हरिश्चन्द्र, प्रेम-जोगिनी
१८७६—विषस्य विषमौषधम्, कर्पूरमंजरी, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा
१८७७—भारत-जननी
१८८०—नील देवी, दुर्लभ बन्धु
१८८१—अँधेर नगरी, सती प्रताप

तत्त्व-विवेचन

कथावस्तु भारतेन्दु ने हिन्दी नाटक कोष को अनेक प्रकार के नाटकों से विभूषित

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्र० भाग, पृ० ७४०
२—वही, विषय सूची

किया। उन्होंने पौराणिक,[1] सामाजिक,[2] राजनीतिक,[3] ऐतिहासिक,[4] प्रेम-सम्बन्धी,[5] नाटकों की रचना की और हिन्दी नाटककारों का मार्ग प्रशस्त किया। अपने नाटक नामक निबन्ध में उन्होंने नाटकों के दो प्रकार बताये हैं—संस्कृत परम्परा के नाटक या प्राचीन नाटक और पश्चिमी शैली के नवीन नाटक। भारतेन्दु ने ध्यान रखा है कि दोनों वर्गों के नाटकों में तत्सम्बन्धी नाट्यशास्त्र का अनुगमन किया जाय।

परिणामतः चन्द्रावली, सत्य हरिश्चन्द्र, विषमौषधम् में जो पूर्वी परम्परा के नाटक हैं संस्कृत नाट्य शास्त्र की कथावस्तु के अंग प्राप्त होते हैं तो नील देवी, भारत दुर्दशा और विद्या-सुन्दर में पश्चिमी नाट्य कला के। अंकों के साथ गर्भांकों का प्रयोग पश्चिमी नाट्य कला का वस्तु प्रयोग है। पश्चिमी शैली के नाटकों में युद्ध, बध, आत्महत्या, भोजन इत्यादि के दृश्य चित्रित हैं, किन्तु संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार लिखे नाटकों में इनका प्रत्यक्ष अंकन नहीं है, क्योंकि प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार कुछ दृश्य निषिद्ध हैं, जैसे दूर से बुलाना, बध, युद्ध, राष्ट्र या देश में अराजकता, विवाह, भोजन, शाप, मल मूत्र त्यागन, मृत्यु, दाँत कुरेदना, नख काटना, सोना, नगर अवरोध, स्नान, तैल इत्यादि का मलना, आलिंगन इत्यादि। ऐसे दृश्य वीभत्स एवं लज्जा दिलानेवाले होते हैं। अतः आदर्शवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध पड़ते हैं। भारतेन्दु के नाटकों का कथानक बड़ा शृंखलित है और उनमें अनावश्यक दृश्य योजना नहीं हुई है। प्रासंगिक कथाओं का प्रयोग मुख्य कथा को प्रवाहित करने के लिए हुआ है।

पात्र

पात्रों के चरित्र चित्रण में भारतेन्दु ने भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टिकोणों को अपनाया है। सुखान्त नाटकों में उन्होंने भारतीय आदर्शवादिता को स्थान दिया है तो दुःखान्त नाटकों में पश्चिमी यथार्थवादिता को अपनाया है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र ने चार प्रकार के नायक माने हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत। हरिश्चन्द्र धीरोदात्त नायक हैं तो चन्द्रावली के कृष्ण और विद्या सुन्दर धीरललित हैं। वैदिकी हिंसा का वैष्णव धीरप्रशान्त है। उन्होंने ध्यान रखा है कि अन्त में सज्जन सुख प्राप्त करें और दुर्जन दुःख उठावें। फलतः राजा हरिश्चन्द्र एक के बाद दूसरा कष्ट उठाने पर भी अन्त में सब प्रकार का सुख पाता है तो विषमौषधम् का राजा सिंहासन से हटाया जाता है। दुखान्त नाटकों में नायक अपनी निर्बलता या दुर्विपाक से कष्ट भोगता है। नील देवी के राजा में व्यावहारिकता का अभाव, है, अपनी हठ पर अड़ कर असावधान रहता है, अतः बन्दी बनाया जाता है। 'भारत' दुर्विपाक से कष्ट उठाता है, अपनी संतानों के अज्ञान और फूट का फल भोगता है।

भारतेन्दु ने पात्रों में कुछ विशिष्ट पात्रों पर अधिक ध्यान दिया है, जो वर्ग पात्र

१—सत्य हरिश्चन्द्र सती प्रताप

२—वैदिकीहिंसा, प्रेम जोगिनी

३—विषस्य विषमौषधम्, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी

४—नील देवी

५—विद्यासुन्दर, चन्द्रावली

हैं। उनका ब्राह्मण रूढ़ियों से समाज को जकड़ता है और पेट को सर्वोपरि मानता है। अतः वह भारतेन्दु की निन्दा, व्यंग्य और छीटों का शिकार होता है। वैदिकी हिंसा का पुरोहित, प्रेमयोगिनी के गोसाईं गंगापुत्र और दीक्षित इत्यादि, अंधेर नगरी का जात बेचू ब्राह्मण इसके उदाहरण हैं। भारतेन्दु ने प्राचीन काल के क्षात्रियों को भव्य रंगों से रंगा है। जब स्थान मिला है, नाटककार ने प्राचीन क्षात्रियों की प्रशंसा की है। सत्य हरिश्चन्द्र आदर्श क्षत्रिय हैं। नाटककार तत्कालीन क्षत्रिय राजाओं के पतन से दुखी हैं, जिसका उदाहरण विषमौषधम् का राजा है। वैश्य का चित्रण केवल प्रेम योगिनी में हुआ है जो आधुनिक वैश्य है, और यथार्थवादी है। छक्कूमल, माखनदास, धनदास, बनितादास के रूप में वैश्य पात्र गर्हित रूप में उपस्थित हुआ है। प्रेमयोगिनी का नायक रामचन्द्र संभवतः आदर्श रूप में चित्रित होता, यदि नाटक सम्पूर्ण हो जाता। निम्नवर्गीय पात्रों का चित्रण कम है किन्तु जो है, वह यथार्थवादी है। विद्या-सुन्दर का घूस लेने वाला पहरेदार और हीरा मालिन निम्नवर्गीय पात्र हैं। भारतेन्दु ने एक और पात्र को विस्तार से चित्रित किया है जिसके विरुद्ध उन्हें स्वाभाविक आक्रोश है और वह है मुसलमान आक्रान्ता जिसने भारत को पददलित किया, उसके धर्म कर्म को ध्वंस किया, भारतीय क्षत्रियत्व को धोखे से बन्दी किया और भारत की दुर्दशा की।[१] अंग्रेज़ पात्र की भारतेन्दु ने निंदा भी की है किन्तु प्रशंसा अधिक। इन मूर्त पात्रों के अतिरिक्त मूर्त पात्र भी उनके नाटकों में हैं। संस्कृत नाट्य-परम्परा में अमूर्त पात्र केवल अध्यात्म के क्षेत्र में कल्पित हुए थे। प्रबोध-चन्द्रोदय इस प्रकार का प्रसिद्ध नाटक है। भारतेन्दु का इसका आंशिक अनुवाद प्राप्त होता है जिसका नाम है 'पाखण्ड—बिडम्बन'। भारतेन्दु जी की प्रतिभा ने राष्ट्रीय क्षेत्र में अमूर्त पात्रों की कल्पना की और 'भारत दुर्दशा' एवं भारत जननी में उन्हें अवतरित कराया।[२]

संवाद—नाटककार की नाटकीय कुशलता संवादों से ही व्यक्त होती है। नाटक है ही संवाद प्रणाली। जो नाटककार सुन्दर संवाद दे सकता है, उसके नाटकों में चार चाँद लग जाते हैं। संवाद ही वह साधन है जिससे वह कथा को खोलता है, पात्रों को सामने खड़ा करता है, अपने विचारों एवं भावों को पात्रों के माध्यम से प्रकट करता है एवं अन्य वर्णन देता है। ये संवाद गद्यात्मक और पद्यात्मक होते हैं। भारतेन्दु ने दोनों प्रकार के संवादों का प्रयोग किया है। संवाद तीन प्रकार के होते हैं—भावात्मक या काव्यात्मक, बौद्धिक और साधारण। भावात्मक कथनों में नाटककार काव्य रस भरता है। चन्द्रावली में इसी प्रकार के संवाद हैं। बौद्धिक संवाद आज के नाटकों में अधिक दिखाई देते हैं। इनमें तर्क की प्रधानता होती है। विषमौष-धम् और वैदिकी हिंसा (अंक–१–२) के कथन तर्क प्रधान हैं। साधरण संवादों द्वारा कथा कही जाती है या पात्र-परिचय कराया जाता है। संवाद इसी प्रकार के हैं। भारतेन्दु ने लघु और दीर्घ दोनों प्रकार के संवाद लिखे हैं जिस प्रणाली को प्रसाद ने आगे अपनाया। संवादों के

१—भारत दुर्दशा एवं नील देवी

२—भारत-दुर्दैव, सत्यानाश, आशा, निर्लज्जता, अन्धकार, रोग, मदिरा, आलस्य डिस लायल्टी (भा० दु०) लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती भारत माता (भारत जननी)

बीच-बीच में कविता एवं गीत भारतेन्दु के सभी नाटकों में हैं। पद्यात्मक संवाद भी सर्वत्र मिलते हैं।

भाषा शैली—संस्कृत नाट्य परम्परा में पात्रानुसार भाषा का प्रयोग मिलता है। वहाँ स्त्रियाँ एवं सेवक कई प्रकार की प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं, जबकि देवता, ब्राह्मण एवं क्षत्रिय पात्र संस्कृत बोलते हैं। भारतेन्दु ने भी पात्रानुसार भाषा का प्रयोग कराया है। ब्रज-भाषा एवं खड़ी बोली के अतिरिक्त बंगला, मराठी, उर्दू, संस्कृत, फारसी, वैसवारी और भोज-पुरी के भी दर्शन होते हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, भारतेन्दु ने प्राचीन एवं नवीन सभी शैलियों का प्रयोग किया है। जिस प्रकार तुलसीदास ने रामगान तत्कालीनसभी शैलियों में किया, उसी प्रकार भारतेन्दु ने नाटक की सभी शैलियों को अपनाया। एक ओर संस्कृत नाट्य शास्त्र की शैलियों में भाण (विषमौषधम्), नाटिका (चन्द्रावली), नाटक (सत्य हरिश्चन्द्र) लिखे तो पाश्चात्य शैली के दुखान्त नाटकों (भारत दुर्दशा, नील देवी) का भी प्रणयन किया। साथ ही ऑपरा (भारत-जननी), गीतिरूपक (नील देवी) लास्य रूपक (भारत दुर्दशा) की नवीन शैलियों को हिन्दी जगत् के सामने रखा। प्रहसन के रूप में उनकी प्राचीन शैली नहीं दिखाई देती है, नवीन शैली का मिश्रित रूप प्राप्त होता है।

देश काल—भारतेन्दु जी के नाटकों का सर्वाधिक महत्त्व देश काल दिग्दर्शन में है। भारतेन्दु ने अपने विचार जो उस युग के थे बड़े विस्तार से दिए हैं। युग के वास्तविक सुन्दर चित्र उनके नाटकों में भरे पड़े हैं। अंग्रेज़ी राज्य मुस्लिम शासन से अच्छा था, अतः उन्होंने अंग्रेज़ी राज्य, विशेषतः महारानी विक्टोरिया, की प्रशंसा किन्तु साथ ही अंग्रेज़ी राज्य की त्रुटियों और दोषों को भी दिखलाया—

भारत दुर्दशा

सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई (अंक १)
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी (वही)
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी (वही)
धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची,
समुद्र के पार ही शरण मिली। (अंक ३)।
चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हज़म कर जाते (अंधेर नगरी)
चूरन अमले सब जो खावें। दूनी रिश्वत तुरत पचावें। (वही)

हिन्दू समाज में फैली तत्कालीन बुराइयों की ओर भी नाटककार की सजग दृष्टि थी, विशेषतः समाज के ठेकेदार ब्राह्मणों की ओर, जिनकी नाटककार ने खूब खबर ली है—

जाति अनेकन करी नीच औ ऊँच बनायो।
खान पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो।
बालकपन में व्याहि प्रीति बल नास कियो सब
करि कुलीन के बहु ब्याह बल बीरज मारयो।
विधवा विवाह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो (भा० दु० अंक ३)

"टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाये और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच कर दें।"

"अंधेर नगरी" (अंक २)

ब्राह्मण सब छिपि-छिपि पियत जामैं जानि न जाय
पोथी के चोंगान भरि बोलत बगल छिपाय। (वैदिकी हिंसा, अङ्क ३)

हिन्दू और मुसलमानों के संघर्ष का चित्रण भारत दुर्दशा में स्पष्टतया चित्रित है। भारत की दुर्दशा का कारण मुस्लिम आक्रान्ता थे, इसको नाटककार बार-बार प्रकट करता है—

जहाँ बिसेसर सोमनाथ माधव के मंदिर
तहँ महजिद बन गई होत अल्ला अकबर।

(भारत जननी)

"मेरे शरीर का तो अब रक्त भी शेष नहीं है, यवन सब चूस ले गये।"

(भारत जननी)

"रामपुर में दुरन्त यवन हिन्दुओं को इतना दुःख देते हैं, पूजा नहीं करने देते हैं, शंख नहीं बजता ?" (विषमौषधम्)

उद्देश्य

भारतेन्दु का नाटक प्रणयन स्वान्तःसुखाय नहीं हुआ था। इसके पीछे दो उद्देश्य थे जिनका प्रकाशन उन्होंने अपने "नाटक" नामक निबन्ध में किया है—

१—**उत्तम शिक्षा**—भारतेन्दु बाबू का कथन है "आज-कल की सभ्यता के अनुसार नाटक रचना में उद्देश्य फल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्य शिष्टगण ग्रन्थ का तादृश आदर नहीं करते, अर्थात् नाटक पढ़ने वा देखने से कोई शिक्षा मिले, जैसे "सत्य हरिश्चन्द्र" देखने से आर्य जाति की सत्य-प्रतिज्ञा, "नीलदेवी" से देश स्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती है।"[1] उनके नाटकों की भूमिकाएँ एवं प्रस्तावनाएँ इस दृष्टिकोण पर पर्याप्त प्रकाश प्रक्षिप्त करती हैं।

नीलदेवी की भूमिका में लेखक का कथन है—

"जब मुझे अङ्गरेजी रमणी लोग भेद सिंचित केशराशि, कृत्रिम कुन्तल जूट, मिथ्या-रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से विभूषित, क्षीण कटि देश कसे, निज-निज पतिगण के साथ प्रसन्न वदन इधर-से-उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सीधी स्त्रियों की हीनावस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण है—उन्नति पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल परम्परा मात्र है और कुछ नहीं है। आर्य्य जन मात्र का विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा स्त्रीगण इस अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने के ही हेतु यह ग्रन्थ विरचित होकर आप लोगों के कोमल कर कमलों में समर्पित होता है। निवेदन यही है कि आप लोग इन्हीं पुण्य रूप स्त्रियों के चरित्र को पढ़ें-सुनें और क्रम से यथाशक्ति अपनी वृद्धि करें।"

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्र० भाग, पृ० ७४

इसी प्रकार नाटकों के आमुखों या प्रस्तावनाओं में नाटककार ने निर्माण का उद्देश्य स्पष्ट किया है :—

सू०—"हाँ जो लोग मांस-लीला करते हैं उनकी लीला करेंगे" (आमुख—वैदिकी हिंसा)

परि०—"वह उनके और इस घोर काल के बड़ा ही अनुरूप है। उसके खेलने से लोगों को वर्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा।"

(आमुख—प्रेमयोगिनी)

२—नाटक-रचना में भारतेन्दु का दूसरा उद्देश्य वही है जो संस्कृत नाटककारों का था और जिसे संस्कृत नाट्य-शास्त्र ने बड़ी प्रमुखता दी है, वह है—'रस-प्रवाह'। भारतेन्दु का मत है कि नाटकों में रस प्रवाह की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। भारतेन्दु कहते हैं—"प्रसंग-क्रम से नाटक में कितनी भी शाखा, प्रशाखा विस्तृत हों और गर्भांक के द्वारा आख्यायिका के अतिरिक्त और कोई विषय वर्णित हो किन्तु मूल प्रस्ताव निष्कर्ष रहे तो उसकी रस पुष्टि करने को मुख्य उद्देश्य कहा जाता है।"[1] नवीन नाटकों की रचना का उद्देश्य वे शृङ्गार, हास्य, कौतुक, समाज संस्कार, देश-वत्सलता को बताते है।[2] इसमें भारतेन्दु ने शृङ्गार और हास्य रस की गणना की है। शृङ्गार रस के उदाहरण हैं, विद्यासुन्दर एवं चन्द्रावली तो हास्य-रस अन्धेर नगरी और वैदिकी हिंसा में प्रवाहित है। इनके अतिरिक्त वीररस की दृष्टि से उन्होंने सत्य हरिश्चन्द्र नाटक लिखा एवं धनंजय विजय एवं मुद्राराक्षस का अनुवाद किया।

नाटक साहित्य

भारतेन्दु ने जो मार्ग प्रदर्शन किया, प्रसाद के आगमन तक हिन्दी नाट्य-जगत में वही प्रकाश दिखाता रहा है। उस काल में नाटक वृक्ष ने शाखा—प्रशाखाओं के रूप में विस्तार किया। नाटकों के ये प्रकार दिखलाई पड़ते हैं—पौराणिक, प्रेम नाटक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, रंगमंचीय एवं अनूदित।

प्राचीन महापुरुषों के प्रति सदा आदर रहा है और रहेगा। भारतेन्दु के समय में नवोन्मेष हो रहा था, अतः स्वभावतः प्राचीन के प्रति अधिक दृष्टि गई। इसका फल यह हुआ कि पौराणिक नाटकों का प्रणयन अधिक हुआ जिनमें आदर्श की पताका फहराई गई। प्रसाद तक पौराणिक नाटकों का प्रणयन प्रमुख धारा के रूप में होता रहा। सत्य हरिश्चन्द्र (सन्-१८७५), सती प्रताप (१८८३) भारतेन्दु के पौराणिक नाटक हैं, जिसने इस धारा को आगे बढ़ाया। राम और कृष्ण भारतीय पुराणों के सबसे प्रौढ़ महापुरुष हैं जिनके अलौकिकता सम्पन्न कार्य-कलापों का चित्रण नाटककारों का प्रिय विषय था। राम धारा के नाटकों में रामलीला को दृष्टि में रखकर अधिकांश नाटकों की रचना हुई। राम के सम्पूर्ण या आंशिक जीवन को अपना कर नाटककारों ने राम का गुणगान किया। शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत जानकी-मगल, अन्नाजी इनामदार कृत सीता हरण (सन् १८७७), देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत सीताहरण-

---

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, प्र० सं०, पृ० ७३०

२—वही पृ० ७२०

(१८७६) एवं रामलीला (१८७९), बालकृष्ण भट्ट कृत सीता वनवास (१८८२), भवदेव-उपाध्याय कृत सुलोचना सती (१८८३), दामोदर शास्त्री लिखित रामलीला नाटक (७ काण्ड-१८८२ से १८८७ तक), काशीनाथ खत्री कृत लव जी का स्वप्न (१८८४), बलदेव जी, कृत "रामलीला-विजय" नाटक (१८८७), शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत रामचरितावली (१८८७) एवं जानकी मंगल, शिव शंकर लाल कृत रामयश दर्पण नाटक (१८९२-९३) बाल कृष्ण-भट्ट कृत मेघनाद वध (१८९४), जयगोविन्द मालवीय कृत रामचरित नाटक (१८९४), ज्वाला प्रसाद मिश्र कृत सीता-वनवास नाटक (१८९५) एवं रामलीला रामायण (१९०४), वन्दो दीन दीक्षित कृत सीता हरण नाटक (१८९५) एवं सीता स्वयंवर नाटक-(१८९९ ई०), कैलाशनाथ वाजपेयी कृत विश्वामित्र नाटक (१८९७), अज्ञात नामा बालक-द्वारा लिखित पग पखारन लीला (१९०१), प्रेमधन कृत प्रयाग रामागमन नाटक-(१९०४), वामनाचार्य गिरि कृत बारिधवध व्यायोग (१९०४), रामनारायण मिश्र कृत जनक बाड़ा (१९०६), ब्रजचन्द वल्लभ कृत रामलीला नाटक (१९०८), गिरिधर लाल कृत रामवन यात्रा नाटक (१९१०) एवं गंगाप्रसाद झा कृत रामाभिषेक नाटक-(१९१०)।

राम जीवन सम्बन्धी ये नाटक, केवल रामलीला को ध्यान में रखने के कारण कला-पूर्ण नहीं हैं। इनमें अलौकिकता, रामभक्ति एवं घटना-बाहुल्य का बोलबाला है।

कृष्ण एवं कृष्ण संतति से सम्बन्धित नाटक राम की अपेक्षा संख्या में अधिक हैं। और रामनाटकों की अपेक्षा कुछ अच्छे हैं। ऐसी बात नहीं है कि कृष्ण लीला या रासलीला को ध्यान में रख कर नाटक नहीं लिखे गये हैं। पर वे संख्या में कम हैं। कृष्ण जीवन सम्बन्धी सबसे पहला नाटक शिवनन्दन सहाय कृत 'कृष्ण सुदामा' है (सन् १८७०)। भारतेन्दु कृत चन्द्रावली (१८७६ ई०) इसके बाद कृति है। कृष्ण पौराणिक पुरुष अवश्य हैं किन्तु चन्द्रावली में अलौकिकता का समावेश नगण्य है। इस धारा के अन्य नाटक हैं देवकी नन्दन त्रिपाठी कृत 'रुक्मणी हरण (१८७६), कंस वध (१८७९) एवं नन्दोत्सव—(१८८०), अम्बिकादत्त व्यास कृत ललिता नाटिका (१८८३), हरिदत्त दुबे कृत महारास (१८८४), खड्ग बहादुर मल्ल कृत महारास (१८८५), एवं कल्पवृक्ष (१८८६), गजराज सिंह कृत द्रौपदी वस्त्र हरण (१८८५), चन्द्र शर्मा कृत उषा हरण (१८८७), विद्याधर त्रिपाठी कृत उद्धव वसीठिका नाटक (१८८७), गोवर्धन कृत उद्धव नाटक (१८८९), कार्तिक प्रसाद-खत्री कृत उषा हरण (१८९१), हरिऔध जी कृत प्रद्युम्न-विजय व्यायोग (१८९७) और रुक्मिणी परिणय (१८९४) राजेन्द्र सिंह कृत प्रेम मंजरी (१८९४), कृष्ण दत्त मिश्र कृत 'युगल-विहार' (१८९६), ब्रजजीवनदास कृत प्रेम बेल नाटक (१८९७), रघुवर दयाल पाण्डेय कृत कृष्णानुराग नाटक नाटक (१८९७), सूर्यनारायण सिंह कृत श्यामानुराग नाटिका-(१८९९), बलदेव प्रसाद मिश्र कृत नन्द बिदा (१९००), बालकृष्ण भट्ट कृत शिशुपाल वध (१९०३), राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (१९०४), शिवनन्दन सहाय कृत सुदामा-(१९०७) वनवारी कृत कृष्ण-कथा या कंस वध (१९०९), रामनारायण मिश्र कृत कंस वध-(१९१०), वामनाचार्य गिरि कृत कंस वध, बाबू लक्ष्मी प्रसाद कृत द्रौपदी, शालिग्राम कृत

'रुक्मिणी-अभिनय' कृष्ण जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नाटक हैं इनमें रास एवं भक्ति को विशेष स्थान मिला है। सुदामा कृष्ण मिलन, महारास, द्रौपदी-चीरहरण, कंस वध, रुक्मिणी-विवाह की ओर नाटककारों का विशेष ध्यान गया है। कृष्ण का रास विलास, कृष्ण की भक्तों को सहायता, कृष्ण का दुष्ट संहार और सख्यभाव कृष्ण जीवन के विशिष्ट अंग हैं, जिन पर ध्यान जाना चाहिए ही था।

महाभारत एवं अन्य पौराणिक उपाख्यानों से सम्बन्धित नाटकों की संख्या भी पर्याप्त है, यद्यपि राम और कृष्ण नाटकों से कम। महाभारत, भारत का सबसे महान् राष्ट्रीय ग्रन्थ है। यह ठीक ही कहा गया है कि जो महाभारत में नहीं है वह कहीं नहीं है। भारत के साहित्य पर महाभारत के पात्रों ने अपनी अमिट छाप छोड़ी है। नाटककारों ने बड़े चाव से महाभारत के उपाख्यानों को ग्रहण किया और पौराणिक नाटक लिखे। अरणाजी इनामदार ने १८६६ ई० में गोपीचन्द नाटक लिखा। श्री निवासदास का तप्तासंवरण एवं मोहनलाल विष्णु-लाल पंड्या का प्रह्लाद नाटक १८७४ ई० में निर्मित हुए। श्यामसुन्दर लाल दीक्षित कृत महाराजा भर्तृहरि नाटक १८७८ का है और विष्णु गोविन्द, शिर्वादेकर का कर्णपर्व १८७६ का। भारतेन्दु कृत अधूरा नाटक सती प्रताप एवं सखाराम बालकृष्ण सरनायक का गोपीचन्द १८८३ में बने तो १८८५ ई० में राजराज सिंह कृत द्रौपदी वस्त्रहरण एवं देवकी-नन्दन त्रिपाठी कृत लखमी सरस्वती मिलन सामने आए। श्रीनिवास दास कृत प्रह्लाद चरित्र एवं शालिग्राम वैश्य कृत मोरध्वज १८८८ ई० के हैं। १८८९ ई० के दामोदर शास्त्री कृत बाल खेल, ध्रुव चरित्र और चुन्नीलाल कृत सत्य हरिश्चन्द्र नाटक हैं। मंसाराम कृत ध्रुव-तपस्या १८९५ ई० में रचित है तो राय प्रभुलाल कृत द्रौपदी वस्त्र हरण, शालिग्राम वैश्य कृत अभिमन्यु वध, सुदर्शनाचार्य कृत अनर्थ नल चरित्र और श्रीमतीलाली कृत गोपीचन्द १८९६ में रचे गये एवं प्रकाशित हुए। सन् १८९७ ई० के नाटक हैं—कन्हैया लाल कृत शील सावित्री नाटक, बालकृष्ण भट्ट कृत नल दमयन्ती एवं कैलाशनाथ वाजपेयी कृत विश्वामित्र नाटक। १८९९ ई० में कन्हैया लाल का अंजना सुन्दरी और बालकृष्ण भट्ट के किरातार्जुनीय सामने आये। जगन्नाथशरण कृत प्रह्लाद चरित्रामृत, महाराजदीन दीक्षित कृत प्रह्लाद चरित्र एवं देवराज कृत सावित्री नाटक १९०९ ई० के हैं। महावीर सिंह वर्मा कृत नल दमयन्ती १९०५ का, गौरचरण गोस्वामी कृत अभिमन्यु वध (१९०६) का और बाँके बिहारी कृत सावित्री नाटक १९०८ का है। बालकृष्ण भट्ट का पृथु चरित या वेणु संहार और विन्ध्येश्वरी-दत्त शुक्ल कृत शिवाशिव १९०९ ई० के हैं। लक्ष्मीप्रसाद कृत उर्वशी एवं गोविन्द शास्त्री-दुर्गवेकर कृत सुभद्रा हरण नाटक १९१० के हैं। अन्य पौराणिक नाटक हैं। लक्ष्मी प्रसाद कृत द्रौपदी नाटक, शालिग्राम वैश्य कृत अर्जुनमद मर्दन नाटक, वालकृष्ण भट्ट कृत वृहन्नला, रामभजन लाल स्वतंत्र कृत हरिश्चन्द्र नाटक एवं ललन पिया कृत हरिश्चन्द्र नाटक।

पौराणिक नाटकों से स्पष्ट है कि नाटककारों का ध्यान कुछ विशिष्ट पुरुषों एवं स्त्रियों के चरित्र पर अधिक गया है। ये हैं—हरिश्चन्द्र, अर्जुन, प्रह्लाद, ध्रुव, मोरध्वज, गोपीचन्द, राजा नल, अभिमन्यु, कर्ण और विश्वामित्र।

पतिव्रता स्त्रियों ने नाटककारों का ध्यान आकृष्ट किया है। इनमें सावित्री की अडि-

गता नाटककारों को बहुत भाई है। अंजना एवं सुलोचना को भी अपने पतिव्रत के लिए नाटकों में स्थान मिला है। द्रौपदी की पुकार को भी नाटककारों ने स्थान दिया है।

ऐतिहासिक नाटक—

संस्कृत एवं ब्रजभाषा में पौराणिक नाटक ही लिखे गए, ऐतिहासिक नहीं। इसका कारण है कि पुराणों को विशेषतया महाभारत एवं रामायण को इतिहास माना गया है।[1] किन्तु शुद्ध ऐतिहासिक नाटक जिनमें अलौकिकता के जादू का समावेश न हो, नहीं लिखे गए। केवल मुद्राराक्षस इस प्रकार का ले देकर एक नाटक है। आधुनिक हिन्दी नाटकों का यह नवीन प्रयास था, जो पश्चिम से प्रभावित था। अतः हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों की धारा बालकृष्ण भट्ट एवं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ हुई और जो बराबर गतिवान रही। यही धारा आगे प्रसाद में प्रौढ़ता के साथ प्रगट हुई। ऐतिहासिक नाटकों में नायक तथा नायिक-प्रधान नाटक हैं और सुखान्त दुखान्त भी। प्रारम्भिक ऐतिहासिक नाटक बालकृष्ण भट्ट कृत चन्द्रसेन (सन् १८७७) एवं भारतेन्दु कृत नील देवी (सन् १८८०) है। पद्मावती को नायिका बना कर राधाकृष्ण दास ने भी सन् १८८२ में 'महारानी पद्मावती' नाटक लिखा। बैजनाथ-विद्यार्थी कृत वीर वामा (सन् १८८३) भी नायिकाप्रधान नाटक है। काशीनाथ खत्री ने सन् १८८४ में तीन ऐतिहासिक लघु रूपक या एकांकी लिखे—ये हैं 'सिन्धु प्रदेश की राजकुमारियाँ', 'गन्नौर की रानी' एवं 'लवजी का स्वप्न'। हिन्दी का सर्वप्रथम एकांकीकार है, काशीनाथ खत्री और हिन्दी का सर्वप्रथम एकांकी है, गुन्नौर की रानी जो एकांकी की कसौटी पर खरा उतरा है।[2] बैकुण्ठनाथ दुग्गल ने सन् १८८४ ई० में 'श्री हर्ष' नाटक लिखा। पृथ्वीराज-संयोगिता के विवाह प्रसंग पर श्री निवासदास का नाटक 'संयोगिता स्वयम्बर' (सन् १८८५) प्रकाश में आया। मुस्लिम काल की हिन्दु ललनाओं पर अत्याचार की प्रवृत्ति को लेकर लिखा गया नाटक है—सती चन्द्रावली (सन् १८८९) एवं गोपालराम गहमरी कृत यौवन योगिनी (सन् १८९३)। पद्मावती, नील देवी, महारानी पद्मावती, सिन्धु देश की-राजकुमारियाँ, गुन्नौर की रानी, सती चन्द्रावली एवं यौवन योगिनी —दुःखान्त तथा नायिका-प्रधान नाटक है। बलदेव प्रसाद मिश्र ने मीराबाई नाटक सन् १८९० में लिखा। प्रसिद्ध वीर अमरसिंह राठौर के जीवन पर राधाचरण गोस्वामी ने अमरसिंह राठौर (सन् १८९५ ई०) लिखा और इसी वर्ष शालिग्राम के पुरुविक्रम नाटक की रचना हुई, जिसमें राजा पुरु के साहस का चित्रण है। रामनरेश शर्मा ने सन् १८९६ में 'सिंहल विजय' की रचना की। राजस्थान-केशरी महाराणा प्रताप की वीरता को ग्रहण कर राधाकृष्ण दास ने प्रताप सिंह सन् १८९७ में रचा तो प्रताप नारायण मिश्र ने हमीर की दृढ़ता पर हठी हमीर नाटक लिखा, जिसका रचना-काल अज्ञात है। सन् १८९७ ई० में सैयद शेर अली ने क़त्ल हकीकतराय का प्रणयन किया। १९०२ ई० में महेन्द्रनाथ ने बुद्धदेव चरित लिखा तो सी० एल० सिन्हा ने विषया-चन्द्र हास।[3] गंगा प्रसाद गुप्त ने जयमल की वीरता पर वीर जयमल नाटक १९०३ ई० में

१—भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, प्र० सं०, पृष्ठ १३५

२—वही— पृष्ट संख्या, ३४४-४५

३—हिन्दी पुस्तक साहित्य, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २५९

रचा।[1] हरिहर प्रसाद ने १९०६ ई० में राजसिंह नाटक रचा। वृन्दावन लाल वर्मा का सेनापति उदाल (१९०९) उनका प्रारम्भिक ऐतिहासिक नाटक है।

सामाजिक नाटक

नाटक अपने समय का प्रतिविम्ब होता है, यह उक्ति सामाजिक एवं राजनीतिक नाटकों में अधिक चरितार्थ होती है। आधुनिक हिन्दी नाटककारों की सबसे बड़ी देन है, सामाजिक एवं राजनीतिक नाटकों का प्रणयन। सामाजिक एवं राजनीतिक नाटकों की दो प्रबल धाराएँ भारतेन्दु काल में प्रथम बार उपजीं और आज तक प्रवाहित हैं। सामाजिक नाटको में नाटककारों ने अपने समय की सामाजिक समस्याओं को पूरी ईमानदारी से चित्रित किया। हिन्दू समाज रूढ़ियों और कुसंस्कारों में ग्रस्त था जिनके कारण वह गिरा था। नाटककारों ने इन रूढ़ियों एवं संस्कारों का यथार्थ अंकन किया और इनके कारणों की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया। बाल विवाह, अनमेल विवाह, अंध विश्वास, समुद्र यात्रा निषेध, जन्मपत्री मिलान, मांसाहार, छुआछूत, सामाजिक विद्वेष पर इन नाटककारों का विशेष ध्यान गया। धर्म की आड़ में मास खानेवालों की खिल्ली भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने वैदिकी हिंसा (१८७३) में उड़ाई। शरण ने बाल विवाह नाटक (१८७४) में बचपन के विवाह के दोषों का चित्रण किया। देवकी नन्दन-त्रिपाठी ने बाल विवाह (१८८१), देवी प्रसाद शर्मा ने बाल्य विवाह नाटक (१८८८), देवदत्त-मिश्र ने बाल विवाह दूषक (१८८५) और छुट्टनलाल स्वामी ने बाल विवाह नाटक (१८९८) में बालकों के विवाह के दोष दिखाए। अन्य नाटकों में भी प्रसंगवश बाल विवाह की चर्चा हुई। बाल विवाह से सम्बद्ध बाल-विधवाओं का भी चित्रण किया गया। राधाकृष्णदास ने दुःखिनी बाला रूपक (१८८०) में इसका करुण चित्र खींचा तो काशीनाथ खत्री ने बाल-विधवा संताप नाटक (१८८१) में। विद्याविलासी सुखबंधनी (ले० श्रीकृष्ण टकरू) नामक नाटक (१८८४) में दोनों नायिकाएँ विधवा हो जाती हैं, किन्तु नाटक पुनः सुखान्त बना दिया जाता है और नायक लौट आते हैं। वृद्धावस्था में पुरुष का विवाह पत्नी के लिए घातक है इसका भी चित्रण किया गया। घनश्यामदास कृत वृद्धावस्था विवाह (दूसरा संस्करण, १८८८-ई०), गोपाल राम गहमरी कृत विद्याविनोद (१८९२), भगवती प्रसाद कृत वृद्ध विवाह नाटक-(१९०५) में भी इसी कुरीति की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया गया है। शिक्षित और अशिक्षित को, एवं व्यभिचारी पुरुष या व्यभिचारी स्त्री का अनमेल विवाह भी एक सामाजिक दोष है जो पति पत्नी के जीवन को कष्टप्रद बना देता है। देवीदत्त शर्मा कृत बाल विवाह नाटक (१८९०) में प्रथम दोष का चित्रण है तो बालकृष्ण भट्ट कृत शिक्षादान (१८७७ ई०) एवं निद्धिलाल कृत विवाहिता विलाप (१८९८) में दूसरे दोष को दिखलाया गया है। समाज में पुरुषों की लम्पट प्रवृत्ति पर खूब प्रकाश डाला गया। इससे सम्बन्धित नाटक हैं, राधाचरण-गोस्वामी कृत बूढ़े मुँह मुँहासे (१८८७), बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन कृत वारांगना रहस्य महानाटक (अपूर्ण १८८५), कृष्ण बिहार मिश्र कृत आनन्दोद्भव नाटक (१८८९) और पं०-जगन्नाथ प्रसाद शर्मा कृत कुन्दकली नाटक (१८९०)। लम्पट स्त्री की ओर तो केवल पं० प्रताप-नारायण मिश्र का ध्यान गया जिसका चित्रण उन्होंने कलिकौतुक रूपक (१८८६) में किया।

१—हिन्दी पुस्तक साहित्य, डॉ० माता प्रसाद गुप्त, पृ० २५९

नहीं तो नाटककारों ने स्त्रियों के सामने आदर्शनारियों के उदाहरण प्रस्तुत किये। हनुमंत सिंह रघुवंशी कृत सती चरित्र नाटक (१८९०), रघुवीर सिंह वर्मा कृत मनोरंजनी नाटक (१८९०), किशोरी लाल गोस्वामी कृत चौपट चपेट (१८९१), दुर्गाप्रसाद मिश्र कृत सरस्वती नाटक १८८७ एवं जैनेन्द्र किशोर कृत सोमासती १९०० ई० में पतिव्रताओं का गुणगान हुआ है। हिन्दू समाज अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों में फँस कर पतित हो गया है। इनका चित्रण बड़े चाव से नाटकों में किया गया। प्रेम जोगिनी (१८७५) भारतेन्दु ने एवं बालकृष्ण भट्ट ने आचार-विडंबन (१८९९) में भोजन भट्ट ब्राह्मणों की पोल खोली है तो देवकीनन्दन त्रिपाठी ने जयनार-सिंह की (१८७६) नामक लघु रूपक में ओझाओं पर अंध विश्वास का कुफल दिखाया है। जिन सामाजिक कुरीतियों पर नाटकों में प्रहार किया गया है वे हैं—जुआ खेलना, समुद्र यात्रा न करना, वर्णव्यवस्था की भेदभावना, विवाह में अपव्यय[1] इत्यादि। अन्य सामाजिक नाटक हैं—रुद्रदत्त शर्मा कृत अबला विलाप (१८८४), पाखंड मूर्ति (१८८८) एवं कंठी जनेऊ का विवाह (१९०६) कमलाचरण मिश्र कृत अद्भुत नाटक (१८८५) कामता प्रसाद कृत कन्या संबोधिनी नाटक (१८८८), खंग बहादुर मल्ल कृत भारत ललना (१८८८), कृष्ण बिहारी शुक्ल कृत आनन्दोद्भव (१८८९), देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत कलियुगी विवाह (१८९२), राजवंश सहाय कृत ोली विलास (१८९३), शिवराम पांडे कृत होली दर्पण (१८९५), राजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय कृत दुखिया (१९०८)।

त्योहार एवं धार्मिक मत-मतांतरों के सम्बन्ध में भी कुछ नाटक लिखे गये हैं। ये हैं—खंग बहादुर मल्ल कृत हरितालिका नाटक (१८८७), समुद्रदत्त शर्मा कृत आर्यमत मार्तण्ड-नाटक (१८९५), जगन्नाथ भारतीय कृत नवीन वेदान्त नाटक (१८९०) स्वामी शंकरानन्द कृत विज्ञान नाटक (१८१९) एवं जैनेन्द्र किशोर कृत सोमा सती नाटक (१९००)।

राजनीतिक नाटक

सामाजिक नाटकों में नाटककारों ने हिन्दू समाज की दुर्बलताओं का अंकन किया तो राजनीतिक नाटकों में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का यथार्थ चित्रण दिया। भारत की दुर्दशा एवं सुदशा, जय एवं पराजय को दर्शानेवाले नाटकों का पथ प्रदर्शन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक भारत दुर्दशा (१८७६) एवं भारत जननी (१८७७) ने किया जिसमें भारत की राजनीतिक दुर्दशा का अंकन हुआ है। फिर तो इस प्रकार के नाटकों के प्रणयन की परम्परा बँध गई एवं अनेक नाटक निर्मित हुए। ये हैं—शरत्कुमार मुखर्जी कृत भारतोद्धार (१८८३), खँग बहादुर मल्ल कृत भारत आरत (१८८५), अंबिकादत्त व्यास कृत भारत भाग्य (१८८७) बद्रीनारायण-चौधरी प्रेमघन कृत भारत सौभाग्य (१८८९), दुर्गादत्त व्यास कृत वर्तमान दशा (१८९०), गोपालराम गहमरी कृत देश दशा नाटक (१८९२), जगत् नारायण कृत भारत दुर्दिन (१८९५), गोपालराम गहमरी कृत जन्मभूमि नाटक, प्रताप नारायण मिश्र कृत भारत दुर्दशा नाटक-(१९०२), जीवानन्द शर्मा कृत भारत विजय (१९०६) और हरिहर प्रसाद कृत भारत पराजय-(१९०८)। इसी प्रकार के लघु नाटक हैं 'अंधेर नगरी' नाम वाले जिनमें तत्कालीन देश की

१—तोताराम कृत विवाह विडंबन (१८८९), गौरीदत्त सर्राफी नाटक (१८९०)

राजनीतिक दुर्दशा का चित्रण है । इस दुर्दशा के अन्तर्गत आंतरिक (आपसी द्वेष, फूट इत्यादि) एवं वाह्य (अँग्रेज़ी एवं मुस्लिम शासन) कारण स्पष्ट किये गये हैं । इस प्रकार के व्यंग्यात्मक नाटकों का सूत्रापात भारतेन्दु बाबू के प्रहसन अंधेर नगरी (१८८१) से हुआ । इसी पंक्ति में बैठने वाले नाटक हैं—विजयानन्द त्रिपाठी कृत महा अंधेर नगरी (१८८७), पं० देवदत्त शर्मा कृत अति अंधेर नगरी (१८९५) एवं गुरुमुख सिंह कृत नूतन अंधेर नगरी (१९११) ।

हिन्दी के पक्ष में भी नाटक लिखे गये ।[१] गोरक्षण भी उस काल में हिन्दुओं के लिए एक सामाजिक एवं राजनीतिक समस्या बन गया था । अतः गोरक्षण के पक्ष में भी नाटकों का निर्माण नाटककारों ने बड़े चाव से किया । ये नाटक हैं—देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत गोवध-निषेध (१८८१) एवं प्रचण्ड गोरक्षण (१८८१), अम्बिका दत्त व्यास कृत गो संकट (१८८३), प्रतापनारायण मिश्र कृत गोसंकट (१८८६); जगत नारायण कृत अकबर गोरक्षा न्याय नाटक (१८८९) एवं भारत डिमडिमा नाटक, रामधारी कायस्थ कृत गोरक्षण प्रहसन एवं सन्नूलाल गुप्त कृत सुरभि संताप नाटक ।

अन्य राजनीतिक समस्याओं पर भी नाटकों द्वारा प्रकाश प्रक्षिप्त किया गया । हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष[२] शिक्षक की दुर्दशा[३] अफसरों की ज्यादती,[४] ठगी,[५] कृषक दुर्दशा,[६] नवीन सभ्यता,[७] काँग्रेस विरोध,[८] इत्यादि सामयिक प्रश्नों पर विचार किया गया । इन नाटकों में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से नाटककारों ने अपनी यथार्थवादिता दिखाई है । इन सामाजिक एवं राजनीतिक नाटकों से स्पष्ट है कि वे अपने समय की समस्याओं के प्रति कितने जागरूक थे । हिन्दी जगत् को उनकी यह नवीन देन थी ।

---

१. नन्हेमल कृत सत्योदय (१८८३), रविदत्त शुक्ल कृत देवाक्षर चरित्र (१८८४), रामगरीब-चतुर्वेदी कृत नागरी विलाप (१८८५), रत्नचन्द्र वकील कृत हिन्दी उर्दू नाटक (१८९०), गौरीदत्त कृत सर्राफी नाटक (१८९०) एवं राधाचरण गोस्वामी कृत देसी-कुत्ता विलायती बोल (१८९०)

२. बलदेव प्रसाद कृत रामलीला विजय नाटक (१८८७), रत्नचन्द्र वकील कृत न्याय-सभा नाटक (१८८७)

३. काशीनाथ खत्री, ग्राम पाठशाला (१८८३)

४. काशीनाथ खत्री, निकृष्ट नौकरी (१८८३)
मूलचन्द, पुलिस नाटक (१८८३)

५. देवकीनन्दन त्रिपाठी, बैल छैटके को
हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ, ठगी की चपेट (१८८४)

६. देवकीनन्दन त्रिपाठी, एक-एक के तीन-तीन (१८७९)

७. बालकृष्ण भट्ट नई रोशनी का विष (१८८४)

८. बालकृष्ण भट्ट पतित पंचम (१८८८)

प्रहसन

इस युग की विशेष उपज "प्रहसन" है। सामाजिक एवं राजनीतिक नाटकों में से अनेक नाटक इस शैली के अन्तर्गत आते हैं। भारतेन्दु जी ने प्रहसन की परिभाषा देते हुए कहा है—"हास्यरस का मुख्य खेल। नायक, राजा या धनी या ब्राह्मण या धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिये, किन्तु अब अनेक दृश्य दिए बिना नहीं लिखे जाते।"[1] भारतेन्दु ने दो प्रहसन लिखे–वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७३) जो सामाजिक प्रहसन है और दूसरा, अंधेर नगरी (१८८१) जो राजनीतिक प्रहसन है। इनके अतिरिक्त पीछे अन्य अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक प्रहसनों की चर्चा हो चुकी है। देवकीनन्दन त्रिपाठी ने सात प्रहसन लिखे जिनके नाम हैं, जयनारसिंह की (१८७६), एक-एक के तीन-तीन (१८७९), कलियुगी जनेऊ (१८८६), बैल छैटके को, सैकड़ों में दस-दस, कलियुगी विवाह, एवं वेश्या विलास प्रहसन। पं० बालकृष्ण भट्ट ने चार प्रहसन लिखे, नई रोशनी का विष (१८८४), पतित पंचम (१८८८), शिक्षादान या जैसा काम वैसा परिणाम (१८९६) एवं आचार विडम्बन (१८९९) अन्य प्रहसन हैं—हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ कृत ठगी की चपेट (१८८४), प्रताप नारायणमिश्र कृत कलिकौतुक रूपक (१८८६), विजयानन्द त्रिपाठी कृत महा अंधेर नगरी (१८८७), राधाचरण गोस्वामी कृत बूढ़े मुँह मुहाँसे (१८८७), तन-मन-धन गोसाई जी के अर्पण (१८९०) एवं भंग तरंग (१८९२), माधव प्रसाद कृत हास्यार्णव (एक भाग) १८९१, किशोरीलाल गोस्वामी कृत चौपट चपेट १८९१, गोपालराम गहमरी कृत दादा और मैं (१८९३) तथा जैसे को तैसा, वचनेश मिश्र कृत हास्य (१८९३), देवदत्त शर्मा कृत अति अंधेर नगरी (१८९५), राधाकान्त लाल कृत देशी कुत्ता विलायती बोल (१८९८), बलदेव मिश्र कृत लल्ला बाबू (१९००), गुमुरुख सिंह कृत नूतन अंधेर नगरी (१९११).

प्रेम नाटक

हिन्दी में प्रेम नाटकों की परम्परा संस्कृत काल से अविच्छिन्न है। इस युग में प्रेम नाटक भी लिखे गये किन्तु वे पौराणिक, सामाजिक एवं राजनीतिक नाटकों से मात्रा में अल्प हैं। ये सुखान्त और दुखान्त दोनों हैं। सुखान्त प्रेम नाटकों में भारतेन्दु कृत विद्या सुन्दर (सन्-१८६८) को प्रसिद्ध प्राप्ति हुई तो दुःखान्त नाटकों में श्री निवासदास कृत रणधीर प्रेम मोहिनी (१८७७) की। इस काल के अन्य प्रेम नाटक हैं—मोतीलाल, जौहरी कृत मनमोहिनी (१८८०) श्रीनिवासदास कृत तप्ता संवरण (१८८३), नानक चन्द कृत चन्द्रकला (१८८३), महादेव प्रसाद कृत चन्द्रप्रभा मनस्वी (१८८४), अमान सिंह गोठिया एवं जोगेश्वर दयाल कृत मदन मंजरी (१८८४), खंग बहादुर मल्ल कृत रतिकुसुमायुध (१८८५), विन्ध्येश्वरी प्रसाद त्रिपाठी कृत मिथिलेश कुमारी (१८८८), कृष्णदेव शरणसिंह कृत माधुरी रूपक (१८८८), शालिग्राम वैश्य कृत माधवानल काम कंदला (१८८६) एवं लावण्यमती सुदर्शन (१८९०), किशोरी लाल-गोस्वामी, प्रणयिनी परिणय (१८९१) एवं मयंक मंजरी (१८९१), खिलावन लाल कृत प्रेम-सुन्दर (१८९२), गोकुल चन्द्र औदीच्य कृत पुष्यवती (१८९८), कालिक प्रसाद अग्निहोत्री

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्र० भाग, प्र० सं०, पृ० ७१८

कृत प्रफुल्ल (१८९५), जवाहरलाल वैद्य कृत कमल मोहिनी भंवरसिंह (१८९६), बाल मुकुन्द-पाण्डेय कृत गंगोत्री (१८९७) बजरंग प्रसाद कृत मालती बसन्त (१८९९), ज्ञानानन्द कृत प्रेम कुसुम (१८९९), सूर्यभानु कृत रूप बसन्त (१९०१), बलदेव प्रसाद कृत नवीन तपस्विनी (१९०२), देवीप्रसाद राय कृत चन्द्रकला भानु कुमार (१९०४) हरिहर प्रसाद निर्ज्जल कृत कामिनी मदन, हरनारायण चौबे कृत कामिनी कुसुम (१९०७), कन्हैयालाल कृत रत्नरोज (१९०९) और लक्ष्मीप्रसाद कृत उर्वशी (१९१०)।

इन नाटकों का नामकरण अधिकांशतः नायक और नायिकाओं के नाम पर किया गया है। प्रतिनायक भी नाटकों में उपस्थित हैं जो प्रेम मार्ग में बाधा डालते हैं।

रंगमंचीय नाटक

इस काल में रंगमंचीय जन नाटकों का बड़ा जोर था। ये तीन प्रकार के थे—कृष्ण एवं रामलीला नाटक, स्वांग नाटक और पारसी शैली के नाटक। रामलीला एवं कृष्णलीला नाटक विशिष्ट अवसरों पर खेले जाते थे। रामलीला नाटक क्वार के रामलीला के अवसरों पर अभिनयार्थ रचे गए थे। रामयश दर्पण, राम बन यात्रा नाटक, पग पखारन लीला,[1] उद्धव नाटक, महारास ऐसे ही नाटक हैं। स्वांगनाटकों में श्री शालिग्राम कृत इश्क चमन (१८५०) इन्दर कृत संगीत गोपीचन्द (१८६८) लछमन कृत नौटंकी, कुंवर सेन कृत सांगीत नागलीला (१८७४) खुशीराम कृत सांग राजा सरवण नाथ (१८७९), प्रताप नारायण मिश्र कृत सांगीत शाकुंतल (१८९१), नरोत्तमदास कृत सुदामा जी का सांग (१८९१), महाराजदीन दीक्षित कृत प्रह्लादो चरित्र नाटक (१९००)।[2]

किन्तु जनता को मोहनेवाले रंगमंचीय नाटक थे, पारसी शैली के जननाटक। अनेक नाटक कम्पनियाँ घूम-घूम कर पैसा बटोर रही थीं, जिनमें से प्रमुख हैं—ओरिजिनल थियेट्रीकल कम्पनी, विक्टोरिया थियेट्रीकल कम्पनी, एल्फ्रेड थियेट्रीकल कम्पनी, न्यु अल्फ्रेड कम्पनी, इत्यादि। प्रत्येक कम्पनी विशेष नाटककारों को साथ रखती थी। अतः अनेक नाटककार प्रकाश में आये। इनमें से अधिकांश उर्दू नाटककार थे जो कभी-कभी हिन्दी के नाटक भी रच देते थे। इनकी हिन्दी भी उर्दू मिश्रित थी। हिन्दी नाटककार भी इन कम्पनियों के लिए लिखते समय उर्दू की चाशनी देते थे।

हाफ़िज मुहम्मद अब्दुल्ला, मिर्जा नजीर बेग, तालिब, अहसान, बेताब, रौनक, जरीफ, इत्यादि अनेक नाटककारों ने पारसी शैली के नाटकों की रचना की। रौनक एवं जरीफ की अपेक्षा हाफ़िज अब्दुल्ला के नाटकों में हिन्दी को अधिक स्थान मिला है। हाफ़िज अब्दुल्ला के शकुन्तला नाटक ने बड़ी ख्याति पाई थी। नजीर बेग के कई नाटक हिन्दी के हैं—रामलीला नाटक (१८९०), नाटक राजा सखी कृष्ण औतार, सत् हरिश्चन्द्र नाटक (१८९१), नई-चन्द्रावली लासानी (१८९६)। तालिब के नाटक गोपीचन्द, हरिश्चन्द्र, रामायण एवं कनक तारा में हिन्दी का प्रयोग है। अहसान साहब के नाटक चन्द्रावती, बकावली इत्यादि प्रसिद्ध हुए।

---

१. पीछे पौराणिक नाटक

२. भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य, पृ० २४७-२४९

बेताब की हिन्दी रचनाएँ हैं—महाभारत, रामायण, गोरखधन्धा, पत्निप्रलाप, कृष्ण सुदामा जिन्होंने अर्थ और यश लूटा। नगरों में भी कुछ नाटक मंडलियाँ विशेष अवसरों पर नाटकों का अभिनय करती थीं।

संस्कृत से अनूदित नाटक

अनूदित नाटकों का भी महत्त्व है। प्रत्येक भाषा, प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में अनूदित साहित्य प्राप्त होता है। इस काल में भी नाटकों के अनुवाद हुए। संस्कृत और बँगला के अनुवादों की परम्परा भारतेन्दु ने प्रारम्भ की जो गतिमान रही। जिन नाटकों को अनूदित होने का सौभाग्य मिला है, वे हैं—हर्ष कृत रत्नावली[1], कृष्ण मिश्र कृत प्रबोध-चन्द्रोदय[2], कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तलम्[3], विक्रमोर्वशी[4] एवं मालविकाग्निमित्र[5], शूद्रक कृत मृच्छकटिक[6], भवभूतिकृत उत्तर रामचरितम्[7], मालती माधव[8], एवं महावीर चरितम्[9] हर्ष कृत नागानन्द[10], भट्ट नारायण कृत वेणीसंहार[11]। हनुमन्नाटक[12], विशाख-कृत मुद्राराक्षस[13], काँचन पंडित कृत धनंजय विजय[14], बाणभट्ट कृत पार्वती परिणय[15], प्राकृत के कर्पूर मंजरी नाटक का अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया (१८७६)।

---

१. अनुवादक-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८६८), देवदत्त तिवारी (१८७२), रामेश्वर भट्ट-(१८१५), बालमुकुन्द गुप्त (१८९८)

२. अनुवादक-भारतेन्दु जी (पाखंड विडम्बन नाम से १८७२), सीतला प्रसाद (१८७९) अनाथदास (१८८३), अयोध्या प्रसाद चौधरी (१८८५), देवीदीन (१८८५), भवदेव दुबे (१८९६), गुलाब सिंह (१९०५)

३. राजा लक्ष्मण सिंह (१८८८ दूसरा अनुवाद) नन्दलाल विश्वनाथ (१८८७), ज्वाला-प्रसाद मिश्र (१९०१)

४. अनुवादक—गदाधर मालवीय

५. अनुवादक—ला० सीताराम (१८९९), गौरी शंकर व्यास (१९०९)

६. अनुवादक—बालकृष्ण भट्ट, दामोदर शास्त्री, गदाधर भट्ट (१८८०), दयाल सिंह, ठाकुर, ला० सीताराम (१८९९)

७. अनुवादक—देवदत्त तिवारी, १८७१, नन्दलाल विश्वनाथ दूबे (१८९६), ला० सीता-राम (१८९७), बलदेव प्रसाद मिश्र

८. अनुवादक—सालिग्राम १८८१, ला० सीताराम १८९८

९. अनुवादक—ला० सीताराम (१८९८), बल्देव प्रसाद मिश्र

१०. अनुवादक—ला० सीताराम १९०७

११. अनुवादक—अम्बिकादत्त व्यास, ज्वाला प्रसाद मिश्र १८७२, गंगाधर मालवीय-(१८७३)

१२. अनुवादक—रामनाथ कायस्थ

१३. अनुवादक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८७२)

२४. अनुवादक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८७३)

१५. अनुवादक—रामदहिन शर्मा (१९१०), (हिन्दी पुस्तक साहित्य पृ० ५२०)

बँगला से अनूदित नाटक :—

बँगला के नाटक भारतमाता का हिन्दी अनुवाद 'भारत-जननी' नाम से भारतेन्दु के किसी मित्र ने किया। भारतेन्दु ने संशोधन करने में इसे पर्याप्त परिवर्तित कर दिया और १८७२ ई० में प्रकाशित किया। माइकेल मधुसूदन दत्त के कई नाटकों का अनुवाद हुआ। रामकृष्ण वर्मा ने इनके कृष्ण कुमारी का अनुवाद १८८८ ई० में किया। पद्मावती का अनुवाद बालकृष्ण भट्ट एवं रामकृष्ण वर्मा (१८८९ ई०) ने किया। माइकेल का एक प्रसिद्ध प्रहसन है 'एई कि बोले सभ्यता।' इसका अनुवाद व्रजनाथ ने 'क्या इसी को सभ्यता कहते-हैं', नाम से १८८४ ई० में किया। शर्मिष्ठा का अनुवाद बालकृष्ट भट्ट ने १८८० ई० में किया। बिहारीलाल चट्टोपाध्याय के बँगला नाटक 'प्रभास यज्ञ' का अनुवाद प्रभास मिलन नाम से मधुसूदन लाल, कालीकृष्ण मुखोपाध्याय एवँ बलदेव प्रसाद मिश्र ने क्रमशः १८९९, १९०० एवं १९०३ में किया। उपेन्द्रनाथ दास (छद्मनाम दुर्गादास) के दो नाटक हैं—शरत सरोजिनी एवं सुरेन्द्र विनोदिनी इन दोनों का छायानुवाद पर्याप्त परिवर्तन के साथ केशवराम भट्ट ने किया जिनके नाम हैं, सज्जाद संबुल (१८७४), शमसाद सौसन (१८७५)। रामकृष्ण वर्मा ने द्वारकानाथ गांगुली कृत वीर नारी का अनुवाद १८८९ में किया। बँगला के प्रहसन बूढ़ोशालीकेर वाहन का अनुवाद गोकुल चन्द ने "बूढ़े मुँह मुहासे लोग देखें तमासे" नाम से किया, एवं राधाचरण गोस्वामी ने "बूढ़े मुँह मुहासे" नाम से किया। दूसरा अनुवाद परिवर्तित है। मुंशी उदित नारायण लाल ने मनमोहन वसु कृत सती नाटक का अनुवाद १८८९ ई० में और 'ज्योतिन्द्र नाथ ठाकुर के अश्रुमति का अनुवाद १७९५ ई० में किया। उन्होंने दीप निर्वाण को भी अनूदित किया। श्री शिवनन्दन त्रिपाठी ने लक्ष्मीनारायण चक्रवर्ती के नाटक नवाब सिराजुद्दौला का अनुवाद १८९६ ई० में किया। रामगोपाल विद्यान्त ने मनमोहन बोस के रामाभिषेक नाटक का अनुवाद किया। व्रजनन्दन सहाय ने सप्तमप्रतिमा और बूढ़ा वर के अनुवाद क्रमशः १९०६ ई० एवं १९०९ ई० में प्रस्तुत किये।

अंग्रेजी से अनूदित नाटक

शेक्सपियर के नाटकों की ओर अधिक ध्यान आकृष्ट होने से शेक्सपियर के कई नाटकों का अनुवाद हुआ। शेक्सपियर के मर्चेण्ट ऑफ़ बेनिस,[1] मैकेबेथ,[2] किंगलियर,[3] ऐज़ यू लाइक-इट,[4] रोमियो जूलियट,[5] औथेलो,[6] कामेडी ऑफ़ ऐरर्स[7] के अनुवाद हुए। जोसेफ़ एडीसन के नाटक केटो का तोताराम ने केटो वृत्तान्त नाम से अनुवाद १८७९ ई० में किया।

---

१. भारतेन्दु कृत दुर्लभ बन्धु, १८८०, आर्य महिला कृत वेनिस नगर का व्यापारी १८८७, बालेश्वर प्रसाद का बेनिस का सौदागर, दयाल सिंह ठाकुर कृत बेनिस का सौदागर, गोकुलचन्द्र शर्मा कृत बेनिस का बांका, १८८८
२ मथुरा प्रसाद शर्मा कृत साहसेन्द्र साहस, १८९३
३. अनुवादक, बद्री नारायण
४. पुरोहित गोपीनाथ कृत मनभावन, १८९६
५. पुरोहित गोपीनाथ कृत प्रेमलीला, १८८९
६. गदाधर सिंह कृत, १८९६
७. रत्नचन्द कृत भ्रमजालक, १८८९

प्रतिनिधि नाटककार :—

बालकृष्ण भट्ट

भट्ट जी अपने निबन्धों के लिए तो प्रसिद्ध हैं ही, नाटकों का प्रणयन भी उन्होंने कम मात्रा में नहीं किया। इनके नाटक सरल हैं। भट्ट जी ने पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक प्रहसन लिखे। इनके पौराणिक नाटक हैं—दमयंती स्वयंवर १८८५ ई०, किरातार्जुनीय १८९९ ई०, नल दमयन्ती १८९७ ई०, पृथुचरित एवं वेणुसंहार १९०९ ई० एवं वृहन्नला १९१४ ई०। तीन और नाटकों-शिशुपाल वध १९०३ ई०, सीतावनवास १८८२ ई० एवं मेघनाद वध १८९४ ई० का उल्लेख अनेक विद्वानों ने किया है। किन्तु डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा के मतानुसार ये तीनों नाटक भट्ट जी के नहीं हैं। भट्ट जी का ऐतिहासिक नाटक है—चन्द्रसेन १८७७ ई०। दो बंगला नाटकों—पद्मावती एवं शर्मिष्ठा का अनुवाद भी भट्ट जी ने किया, जो अच्छा है। भट्ट जी के सामाजिक प्रहसन हैं, नई रोशनी का विष १८८४ ई०,पतित पंचम १८८८ ई०, शिक्षा दान या जैसा काम वैसा परिणाम १८९६ ई० एवं आचार विडम्बन १८९९ ई०।

दमयन्ती स्वयंवर भट्ट जी का एक पुष्ट नायक है जिसमें संस्कृत प्रणाली को अपनाया गया है। इसमें गद्य का प्रयोग है और केवल एक गीत है। भाषा काव्यमय है 'इसमें १० अंक हैं और अंत में भरत वाक्य नहीं है। आकाशवाणी का प्रयोग बहुत हुआ है। वृहन्नला में देशकाल दोष आ गये हैं। दूसरे दृश्य का प्रथम गर्भांक केवल हास्योत्पादनार्थ ही लिखा गया है' जहाँ एक पेटू ब्राह्मण अपनी उदर ज्वाला से पीड़ित है और स्त्री का रूप धारण कर लेता है।

भट्ट जी के प्रहसन तीखे हैं। आचार विडम्बन में पाखंडी पेटू पंडितों की पोल खोली गई है और वाल विवाह की प्रथा पर प्रहार किया गया है। पतित पंचम में कांग्रेस विरोधियों को आड़े हाथों लिया गया है। नाटककार का मत है कि कांग्रेस की मीटिंग का विरोध करने वाले भारतीय अंग्रेजों के गुलाम है। नई रोशनी का विष में नवीन सभ्यता का विरोध किया गया है। चन्द्रसेन, नाम मात्र को ऐतिहासिक है। यह नाटक लोकगाथा पर आधारित है। इसमें केवल ऐतिहासिक पात्र अलाउद्दीन का नाम आया है।

राधाकृष्ण दास

बाबू राधाकृष्णदास जी भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई थे और भारतेन्दु के साथ रहते थे। फलतः राधाकृष्णदास जी भी साहित्य रचना की ओर झुके और उन्होंने तीन नाटकों की रचना की जिनके नाम हैं—महाराणा प्रताप सिंह १८९७ ई०, महारानी पद्मावती १८८२ ई० एवं दुखिनी बालारूपक १८८० ई०। बाबू राधाकृष्ण दास जी के महाराणा प्रतापसिंह ने बड़ी ख्याति पाई थी। नाटक की भूमिका में नाटककार ने इतिहास दिया है। नाटककार कहता है कि इस नाटक की रचना में जिन ऐतिहासिक पुस्तकों से सहायता ली गई है, वे हैं—टॉड राजस्थान, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उदयपुरोदय', कुँवर योधासिंह मेहता कृत मेवाड़ का संक्षिप्त इतिहास, मुँशी देवी प्रसाद मुँसिफ़ का महाराजा प्रतापसिंह का जीवन चरित्र एवं कवि गण पति राम राजाराम का

१. हिन्दी गद्य के निर्माता-बालकृष्ण भट्ट, प्र० सं०

गुजराती नाटक प्रताप-नाटक। इस प्रकार ऐतिहासिक नाटक की इतिहास वस्तु की छानबीन करने की प्रणाली भारतेन्दु के मुद्राराक्षस के समान यहाँ भी प्राप्त होती है। महाराणा प्रतापसिंह वीररस का एक अच्छा नाटक है। वीररस अँगी है और करुण, रौद्र एवं शृंगार अँग बन कर आए हैं। गुलाब एवं मालती की कथा पताका कथा है। ये दोनों कल्पित पात्र हैं। नाटक सुखान्त है। दूसरे ऐतिहासिक नाटक महारानी पद्मावती के प्राम्भभ में भी नाटककार ने इतिहास सामग्री दी है। नायिकाप्रधान दुःखान्त नाटक है। बाबू राधाकृष्ण दास का लघु रूपक 'दुखिनीं बाला-रूपक' एक सामाजिक व्यंग्य है जिसमें जन्मपत्री मिल जाने पर भी बाला विधवा हो जाती है और विष पान कर लेती है।

देवकीनन्दन तिवारी

संख्या की दृष्टि से देवकीनन्दन तिवारी भारतेन्दु एवं बालकृष्ण भट्ट से आगे बढ़ गए हैं। इन्होंने सभी प्रकार के नाटक लिखे। इनके पौराणिक नाटक हैं—(१) सीता हरण १८७६ई०, (२) रुक्मणी हरण, (३) राम लीला १८७६ ई०, (४) कंस वध १८७६ ई०, (५) नन्दोत्सव १८८० ई० एवं (६) लखमी सरस्वती मिलन लखमी सरस्वती मिलन कल्पना की अधिक पुट लिए हैं। सामाजिक नाटक हैं, (७) बाल विवाह, (८) स्त्री चरित्र, (९) रक्षा बन्धन (१०) कलियुगी जनेऊ, (१८८६ ई०), (११) कलियुगी विवाह, (१८९१ ई०), (१२) जयनारसिंह की (१८७६ई०) एवं (१३) वेश्या प्रहसन। तिवारी जी के राजनीतिक नाटक हैं—(१४) भारती हरण (१८९८ ई०), (१५) बैल-छै टके को, (१६) सैकड़ों में दस-दस, (१७) एक-एक के तीन-तीन तीनों व्यंग्यात्मक लघु रूपक हैं और तत्कालीन दशा का अँकन करते हैं। गोरक्षण पर तिवारी जी ने दो नाटक लिखे—(१८) गोवध निषेध और (१९) प्रचंड गोरक्षण नाटक। मिश्र बंधुओं ने मिश्र ब्रन्धु विनोद में इनके दो और नाटक बताये हैं—होली खगेश और चक्षुदान।

रुक्मणी हरण संस्कृत शैली पर लिखा नाटक है। कथोपकथनों में संस्कृत श्लोकों का प्रयोग किया गया है। कविता की अधिकता है। नाटक में नवीनता भी है। ब्राह्मण पुरोहित, भँगेड़ी-गँजेड़ी साधु एवं लुटेरे—बहेलियों की भीख बरली गई है। प्रधान रस शृंगार है और सहायक हैं, रौद्र, वीर रस। एक-एक के तीन-तीन में कृषक समस्या को उठाया है तो वेश्या-प्रहसन में धनिकों के पुत्रों का पतन दिखाया गया है। भारती-हरण प्रतीकात्मक शैली का राजनीतिक नाटक है। इसमें संस्कृत भाषा और साहित्य का पक्ष ग्रहण किया गया है। सीता-हरण पाँच अँकों का पौराणिक नाटक है जिसमें नवीन विचारों का भी समावेश किया गया है। स्त्री के समानाधिकार की इसमें चर्चा है। 'जयनारसिंह की' नामक प्रहसन और नाटकों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध हुआ था। इसमें ओझाओं की धूर्तता चित्रित की गई है। इस प्रहसन में दो अँक हैं। तिवारी जी साधारण नाटककार हैं।

श्री निवासदास

लाला श्री निवास दास के रणधीर प्रेम मोहिनी (१९७७) नामक दुःखान्त नाटक ने उस युग में बड़ी ख्याति पाई थी। यह जगह-जगह खेला गया था और इसके अनुकरण पर शालिग्राम-वैश्य ने लावण्यवती-सुदर्शन (१८९०) एवं जवाहरलाल वैश्य ने कमल मोहिनी-भँवर सिंह

(१८६६) दुःखान्त नाटकों की रचना की। रणधीर प्रेममोहिनी के उर्दू और गुजराती में अनुवाद भी हुए। नायक रणधीर एक आदर्श प्रेमी है। वह वीर और धैर्यवान है। श्रीनिवासदास के अन्य नाटकों ने इतनी प्रसिद्धि नहीं पाई। संयोगिता स्वयंवर १८८५ एक ऐतिहासिक नाटक है। तप्तासंवरण (१८८३) प्रेम नाटक है, जिसमें गौतम से श्राप दिलाकर पौराणिकता लाई गई है। दो गीत हैं एवं दो दोहे हैं, शेष सब गद्यात्मक है। प्रह्लाद चरित्र (१८७७) ११ दृश्यों का गद्यात्मक पौराणिक नाटक है। इसमें तेरह गीत हैं। श्रीनिवासदास अपने नाटकों में पश्चिमी नाट्य शैली से प्रभावित हैं।

काशीनाथ खत्री

काशीनाथ खत्री ने अपना क्षेत्र लघु रूपक एकांकियों को बनाया और उनमें पटुता प्राप्त की। इनके नाटक हैं—बाल विधवा संताप नाटक १८८२, ग्राम पाठशाला सन् १८८३, निकृष्ट-नौकरी १८८३, सिन्धु देश की राजकुमारियाँ १८८४, लवजी का स्वप्न १८८४। इन छओं लघुरूपकों में गुन्नौर की रानी पश्चिमी शैली का एक सुन्दर एकांकी है, जिसमें तीनों ऐक्यों का प्रयोग मिलता है। यह दुःखान्त नाटक है और इसके रंग निर्देश विस्तृत हैं। अतः हिन्दी के सर्वप्रथम एकांकीकार काशीनाथ खत्री हैं और सर्वप्रथम एकांकी हैं गुन्नार की रानी।[1] सिन्धु देश की राजकुमारियाँ भी दुःखान्त नाटक है। इसमें तीनों ऐक्यों का प्रयोग नहीं हुआ है, स्थल एवं समय ऐक्य नहीं हैं। यह भी एक सुन्दर एकांकी है। बाल विधवा संताप नाटक तीन दृश्यों का लघु रूपक है। यह भी दुःखान्त नाटक है। लव जी का स्वप्न में कथा-गति नहीं है। ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी एक-एक दृश्य के लघु रूपक हैं। ग्राम पाठशाला में एक अध्यापक की दुर्दशा चित्रित है। पाठशाला के अध्यापक के साथ अफ़सर दुर्व्यवहार करते हैं एवं अफ़सरों के नौकर उसे दुहते हैं। निकृष्ट नौकरी में अधीनस्थ नौकरों की दुर्दशा दिखाई गई है। दोनों यथार्थवादी राजनीतिक लघु रूपक हैं।

प्रतापनारायण मिश्र

पं० प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बड़े प्रशंसक, एक प्रसिद्ध पत्रकार एवं निबन्धकार थे। मिश्र जी ने कई नाटक लिखे। ये नाटक हैं—हठी हमीर, गौ संकट नाटक, कलि कौतुक रूपक (१८८६), कलि प्रभाव नाटक, जुआरी खुआरी प्रहसन, संगीत शाकुन्तल। मिश्र जी का हठी हमीर वीररस का नाटक है। गोरक्षण के प्रश्न को लेकर गौ संकट नाटक आपने रचा। कलिकौतुक रूपक चार दृश्यों का यथार्थवादी देशकालप्रधान नाटक है। कथानक विशृंखल है। कलिकौतुक रूपक तत्कालीन दशा पर अच्छा प्रकाश डालता है। कहीं-कहीं अश्लील भी हो गया है। कलि प्रभाव में सामाजिक पतन का चित्रण है। जुआरी खुआरी में द्युत-क्रीड़ा का कुप्रभाव अंकित है। संगीत शाकुन्तल महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् का संगीत शैली पर अनुवाद है। नाटकों के इतिहासों में मिश्र जी का एक और नाटक

१—भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य—प्र० सं०, पृ० २४४-२४५

ारत दुर्दशा' बताया गया है ।[२] मिश्र जी के नाटक साधारण श्रेणी के नाटक हैं ।

ालिग्राम वैश्य

शालिग्राम वैश्य ने सब मिलाकर नौ नाटक लिखे जो कई प्रकार के हैं । उनके पौराणिक टक हैं, मोरध्वज १८६०, अर्जुन मद मर्दन एवं अभिमन्यु १८६६ । एक ऐतिहासिक नाटक है, ः विक्रम (१८०६) । उनके प्रेम नाटक हैं, लावण्यवती सुदर्शन १८६२ एवं माधवानल काम-दला (१६०४) । स्वांग नाटक है, इश्क चमक अथवा विसमिल परिवार का स्वांग (१६११) वं अनूदित (मालती माधव) है । अभिमन्यु एक दुःखान्त पौराणिक नाटक है जो सुन्दर बन का है । पुरु विक्रम राष्ट्रीयता से युक्त वीर रस का नाटक है । यह चरित्रप्रधान नाटक है ासमें पुरु की वीरता का लावण्यवती सुदर्शन, श्रीनिवासदास के रणधीर प्रेम मोहिनी के अनु-रण पर लिखा हुआ पश्चिमी शैली का दुःखान्त नाटक है । माधवानल कामकंदला १० अंकों ा सुखान्त नाटक है । भूमिका में लेखक ने कहा है कि यह रस की दृष्टि से लिखा गया है । ह पढ़ने के लिए निर्मित हुआ है । नाटककार ने इसमें सभी वस्तुओं को भरने की कोशिक की , नायिका पत्र लिखती है, प्रथम दर्शन का प्रेम यहाँ है, सुन्दर कविता भी है, नायिका भेद है, मर और मेघ दूत बनते हैं, विरह की अवस्थाएँ चित्रित हैं, देवता, दैत्य और दानव उपस्थित , पात्र वेश बदलते हैं, बारहमासा भी बैठा है, तोता मैना की वार्ता है, लम्बा शिवस्तोत्र है, िहारी के शृङ्गारिक दोहे, सेनापति का प्रकृति वर्णन, रहीम के नीति दोहे, सूर के पद सभी छ तो यहाँ हैं । फलतः यह भानुमती का पिटारा बन गया है । नाट्यकला की दृष्टि से इन ाटकों का महत्त्व नहीं है । शालिग्राम वैश्य ने सामाजिक एवं राजनीतिक प्रहसन नहीं लिखे ।

ाधाचरण गोस्वामी

राधाचरण गोस्वामी ने भी कई नाटक लिखे । बूढ़े मुँह मुँहासे (१८८७), तन-मन-धन-ोसाईं जी के अर्पण १८६० एवं भंगतरंग-तीन सामाजिक एवं राजनीतिक प्रहसन हैं । श्री-ामा १६०४ पौराणिक नाटक है तो अमरसिंह राठौर १८६४ ऐतिहासिक । सतीचन्द्रावली-८८६ लोकगीत पर आधारित एक अर्द्ध ऐतिहासिक लघु रूपक है जो दुःखान्त है । इसमें काल थान एवं कार्य ऐक्यों का प्रयोग हुआ है । हिन्दू नारी का धर्मपरायणता का चित्रण है । अमर-िह राठौर देश प्रेम समन्वित एक वीररसपूर्ण ऐतिहासिक नाटक हैं । अमरसिंह राठौर का ाभिमान एवं साहस ओज के साथ विचित्र हैं । बूढ़े मुँह मुँहासे एक सुन्दर यथार्थवादी प्रहसन । तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण भी व्यंग्यात्मक प्रहसन है । सरोजनी बंगला से अनूदित है ।

ंग बहादुर मल्ल

खंग विलास प्रेस के स्थापक खंग बहादुर मल्ल ने भी कई नाटकों का निर्माण किया । नके नाटक हैं—महारास नाटक १८८२ और कल्पवृक्ष १८८८ पौराणिक नाटक हैं । महा-

---

२—हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० वेदपाल खन्ना, प्र०-० पृ० ७३ एवं हिन्दी नाटक उद्भव एवं विकास, ले०, डॉ० दशरथ ओझा, प्र० सं०, पृ० ६४ । संग्रहालय, प्रयाग में भी प्राप्त भारत दुर्दशा रूपक है । वह २२ परिच्छेदों का उप-ास है और विधवा विवाह के पक्ष में लिखा गया है ।

रास की कथा श्रीमद्भागवत एवं हरिवंश पुराण से ली गई है। कल्पवृक्ष का प्रसंग भी हरिवंश पुराण से उठाया गया है। यह सुखान्त नाटक हैं जिसमें कृष्ण अपनी पत्नी सत्यभामा के कहने से कल्पवृक्ष लाये। रतिकुसुमायुध १८८५ एक सुखान्त प्रेम नाटक है। भारत आरत-१८८२ चार दृश्यों का व्यंग्यात्मक राजनीतिक लघु रूपक है जिसमें दिखाया गया है कि अंग्रेज़ी राज्य तो अच्छा है परन्तु कर्मचारी बुरे हैं। हरितालिका नाटक (१८८७) सामाजिक नाटक है। स्त्रियों का एक धार्मिक पर्व है हरितालिका जिस दिन स्त्रियाँ व्रत रखती हैं। हरितालिका नाटक इसी व्रत की कथा को ध्यान में रख कर लिखा गया है। खंग बहादुर मल्ल का भारत ललना (१८८८) भी सामाजिक नाटक है।

●

नाट्य साहित्य : प्रसाद युग

भारतेन्दु के नाटकों में जो राष्ट्रीय चेतना दिखाई पड़ती है, उसका सम्यक् विकास प्रसाद के नाटकों में हुआ। भारतेन्दु के नाटकों में जिस भारतीय तथा पाश्चात्य शैली का प्रयोग किया गया है, उसे भी प्रसाद ने अपने ढंग से अपनाया। नाटक के क्षेत्र में प्रसाद का आविर्भाव कई दृष्टियों से नई घटना है। भारतेन्दु के नाटकों में राष्ट्रीय चेतना का सुसंगठित रूप नहीं मिलता, पर प्रसाद ने उसे ठोस रूप में अपने नाटकों के माध्यम से साकार किया। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ एक समय तक एक ठोस राष्ट्र चेतना भी जागृत हो चुकी थी। भारतेन्दु युग में यह चेतना कतिपय जागरूक विद्वानों तक ही केन्द्रित थी। किन्तु, प्रसाद के समय से यह जन जीवन का अंग बन चुकी थी।

इस प्रकार का राष्ट्रीय आन्दोलन राष्ट्र के इतिहास, अतीत की महत्त्वपूर्ण घटनाओं, राष्ट्रीय जीवन के उत्थानपूर्ण अध्यायों तथा उसके मानापमान के चरणों को उद्वेलित करने में बहुत कुछ योग देता है। भारतीय जीवन के इस आन्दोलन का महत्त्व अनेक दृष्टियों से है। इसने मानवतावाद के सम्बन्ध में एक नई विचारधारा का जन्म दिया। इसके फलस्वरूप इतिहास सम्बन्धी धारणा में परिवर्तन आया। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास के नए बोध को देखा जा सकता है। 'विशाख' नाटक की भूमिका में उन्होंने लिखा है—इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संघटित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है। हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बताने का बहुत अधिक प्रयत्न किया है। विशाख की रचना से (विशाख का प्रकाशन सन् १९२१) में हुआ, लगता है कि इतिहास सम्बन्धी यह नई धारणा इसी समय बनी। इनके प्रारम्भिक नाटकों में इसी धारणा की पुष्टि मिलती है। यह काल प्रसाद के नाटकों का प्रयोगकाल कहा जाना चाहिए। 'सज्जन' सन् १९१०-११ में लिखा गया। प्रायश्चित का रचनाकाल सन् १९११ है। उसी वर्ष 'कल्याणी-परिणय' भी लिखा गया है। 'करुणालय' सन् १९१३ की रचना है। 'राज्यश्री' १९१५ में लिखी गई। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से इन नाटकों का कोई विशेष महत्त्व नहीं आंका जा सकता। हाँ, प्रसाद के रचनाक्रम की जाँच-पड़ताल में इनका लेखा-जोखा आवश्यक होगा। इन नाटकों से इतना पता लगता है कि आरम्भ से ही उनकी दृष्टि भारतीय इतिहास की ओर रही है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उनके इतिहास सम्बन्धी नए दृष्टिकोण का निर्माण 'विशाख' से प्रारम्भ होता है।

सन् १९२१ से ३३ तक उनके नाटकों के लिखने का क्रम बराबर चलता रहा। विशाख (सन् १९२१), अजात शत्रु (१९२२), जनमेजय का नागयज्ञ (१९२३), कामना (१९२३-२४),

स्कन्तगुप्त (१९२८), चन्द्रगुप्त (१९२८), एक घूंट (१९२९), और ध्रुवस्वामिनी (१९३३) प्रायः उनके विकासक्रम के सूचक हैं। 'कामना' अन्यापदेशिक है और 'एक घूंट' हिन्दी का पहला एकांकी। 'जनमेजय का नागयज्ञ' पौराणिक नाटक है और शेष सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। इन सभी ऐतिहासिक नाटकों में उनकी इतिहास सम्बन्धी धारणा का प्रतिफलन हुआ है।

प्रसाद रोमाण्टिक नाटककार थे। इसीलिए नाटकों के वाह्य पक्ष सँवारने में उनका मन उतना न रम सका, जितना जीवन की उलझनपूर्ण गहन समस्याओं के विश्लेषण में। मूलतः रोमांटिक होने के कारण वाह्योपचार की उपेक्षा करना उनके लिए स्वाभाविक था। परन्तु भारतीय संस्कृति के प्रति गहन आस्था ने उनकी रोमाण्टिक प्रकृति को बहुत संयमित और नियंत्रित भी किया। इसीलिए प्रसाद की नाट्यकाल का विवेचन और आकलन करने के लिए उनकी इतिहास सम्बन्धी धारणा तथा उनके रोमाण्टिक दृष्टिकोण दोनों को ध्यान में रखना होगा।

नई राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप प्रसाद की दृष्टि अतीत के उन महत्त्वपूर्ण दृश्यों की ओर गई जिनमें एक ओर तो हमें अपने गौरव का बोध होता है, दूसरी ओर वर्तमान से उनका गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उनकी ऐतिहासिक नाट्य कृतियों में एकस्तर विशेष तक इतिहास की घटनाओं को तोड़ा-मरोड़ा गया है किन्तु जहाँ तक हो सका है उन्होंने इतिहास के तथ्यों की रक्षा ही की है। एक रचनात्मक साहित्यकार के लिए कथा की कड़ियाँ मिलाने अथवा उसे अपेक्षित मोड़ देने के लिए उसे यथास्थान परिवर्तन करना पड़ता ही है। प्रसाद जी ने भी इस छूट का भी पूरा उपयोग किया है। उन्होंने इतिहास का गहरा अनुशीलन किया था, यदि उनके नाटकों की भूमिकाओं का उचित मूल्यांकन किया जाए तो कहना न होगा कि उन्होंने इतिहास में कुछ नया जोड़ा है। जिस किसी भी व्यक्ति का इतिहास सम्बन्धी ज्ञान गहन होगा, वह अपने विषय का विवेचन उतनी ही स्वतन्त्रता से कर सकेगा। जहाँ तक ऐतिहासिक आँकड़ों की उपेक्षा का प्रश्न है, वह उसे भी कर सकता है। इतिहास के आधार पर लिखे जाने वाले उपन्यास तथा नाटक में भेद होता है। उपन्यास अपनी समसामयिक परिस्थितियों का सन्निवेश अधिक सुगमतापूर्वक कर सकता है किन्तु नाटककार के लिए यह सम्भव नहीं है। रूप (form) सम्बन्धी अपनी विशेषता के कारण नाटककार की अपनी सीमाएँ होती हैं। वह जीवन की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर ही अपने को केन्द्रित कर पाता है कदाचित् इसीलिए नाटक सभी कलाओं में सर्वाधिक सम्पूर्ण माना जाता है।

इतिहास बराबर गतिशील होता है। प्रत्यावर्तन के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। इसी परिवर्तनशील को ध्यान में रखते हुए प्रसाद के एक पात्र महर्षि व्यास ने एक स्थान पर कहा है—यह ब्रह्म चक्र आपही अपना कार्य करता रहता है, मैंने कहा था कि यज्ञ में विघ्न होगा, फिर भी तुमने यज्ञ किया ही। किन्तु, जानते हो मानवता के साथ-ही-साथ धर्म का भी कर्म-विकास है। यज्ञों का कार्य हो चुका, बालक सृष्टि खेल चुकी। यह इतिहास की अप्रतिहत परिवर्तनशीलता में अटूट विस्वास व्यक्त करने वाला स्वर है। स्पष्ट है, प्रसाद जी इस पर विश्वास करते थे कि इतिहास आगे बढ़ता है, वह मुड़कर पीछे नहीं देखता।

इतिहास सम्बन्धी इस धारणा के फलस्वरूप उनके नाटकों की परिदृश्य-रचना तथा रूप-

विन्यास में नवीनता आई। प्रसाद के पूर्व भी ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई थी, किन्तु उन नाटकों में पात्रों का कैरीकेचर खींचा गया है। इन नाटककारों की इतिहास सम्बन्धी कोई स्पष्ट धारणा नहीं व्यक्त होती। प्रसाद ने अपनी मर्मस्पर्शिनी प्रतिभा द्वारा इस बात को ठीक समझ लिया कि उनके समय में अनेक अन्तर्विरोधी राजकीय सत्ता, सामन्तीय परिपाटी एवं साम्राज्यवाद की दीवारें टूट रही हैं। नए आदर्श उग रहे हैं। नवीन मानवतावादी भावनाएँ उभर रही हैं। अपने नाटकों में प्रसाद ने इनका चित्रण अत्यन्त मनोवेगपूर्वक किया है। इनके सम्पूर्ण नाटकों का अनुशीलन करने पर हमें पता लगता है कि प्रसाद प्रभुसत्ता वर्ग के ह्रास के प्रति पूर्णतः सतर्क थे, क्योंकि यह एक ऐतिहासिक सचाई थी।

उनके नाटकों के नायकों का अध्ययन उपर्युक्त तथ्य पर पूरा प्रकाश डालता है। प्रत्येक ऐतिहासिक नाटक का नायक राजन्य वर्ग का व्यक्ति है। इन राजाओं को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है, पहली कोटि में वे आते हैं, जो क्रूर कर्मी और प्रजा द्विवेषी हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत उनकी गणना की जावेगी, जो न्यायप्रिय और जन हितैषी हैं। दूसरे वर्ग के प्रति प्रसाद की पूर्ण सहानुभूति है, किन्तु उनकी भी ह्रासोन्मुखी स्थिति से वे अवगत थे। स्कन्दगुप्त इसका जीता-जागता उदाहरण है।

अजातशत्रु प्रथम कोटि में आने वाला व्यक्ति है। वह अतिशय उच्छृंखल तथा क्रूर-कर्मी है। काशी की प्रजा की विरोध-वार्ता सुनकर वह बौखला पड़ता है—'प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है। चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है। राज-कर मैं न दूँगा। यह बात जिस जिह्वा से निकली बात के साथ वह भी क्यों न निकाल ली गई।' अजातशत्रु के सन्दर्भ में इसके सच होने की सम्भावना है परन्तु अँग्रेज़ शासकों के सन्दर्भ में इसकी सचाई का सबूत स्वतन्त्रता-आन्दोलन के इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर मिल जायगा। अनजाने ही प्रसाद ने यह सिद्ध कर दिया कि इतिहास समसामयिक होता है। राज्यभार ग्रहण करने के अनन्तर वह अपने पूज्यजनों का तिरस्कार करने लगता है। एकतन्त्र में कितनी अव्यवस्था हो सकती है, अजातशत्रु इसका प्रमाण है। विम्बसार को तो सम्राट् शब्द से घृणा हो गई है। इन समस्त अभिव्यक्तियों में साम्राज्यवाद के प्रति, सम्राट् के प्रति जो अवज्ञा, अवहेलना या घृणा का भाव व्यक्त किया गया है वह प्रसादकालीन सशक्त युगचेतना का प्रतिफलन है। 'विशाख' का नरदेव ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अत्याचारों की याद दिलाता है। ये सब-के-सब सम्राट् अन्ततोगत्वा पराभूत होते हैं।

हर्ष, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि दूसरी कोटि के राजाओं में आते हैं। हर्ष एक स्थान पर कहता है—'मगध के सम्राटों की दुर्बलता से उत्तराखण्ड अरक्षित था, आपाततः मुझे युद्ध करना ही पड़ा। मैं अकारण ही दूसरों की भूमि हड़पने वाला दस्यु नहीं हूँ।' हर्ष का युद्ध सम्बन्धी या वक्तव्य भारतीय आदर्श को पूर्णरूपेण व्यंजित करता है। उसे धर्मराज्य का शासन करने के लिए राजमुकुट धारण करना पड़ता है। चन्द्रगुप्त चाणक्य द्वारा बहुत कुछ अनुशासित होता है फिर भी राजमद का प्रमाद पड़ता ही है। नन्द के पराभव में प्रजा के विद्रोह का पूरा-पूरा योग है। स्कन्दगुप्त मूलतः राष्ट्र का सैनिक और रक्षक है। उसे गुप्त साम्राज्य के नष्ट होने की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी आर्यराष्ट्र के ध्वस्त होने की। स्कन्दगुप्त के समस्त आयोजनों,

क्रिया प्रणालियों और संघर्षों में साम्राज्य की रक्षा का उतना प्रयास नहीं है, जितना आर्य राष्ट्र की रक्षा का प्रयास। स्कन्दगुप्त में तो साम्राज्यवाद लगभग ध्वस्त हो जाता है।

प्रसाद ने जहाँ एक ओर एकतन्त्र तथा साम्राज्यवाद की ह्रासोन्मुखता की ओर संकेत किया क्षुद्रकों के गणतन्त्र का सम्मानपूर्वक उल्लेख हुआ है, किन्तु सारी घटनाओं का संचालन न तो अलग-अलग गणतन्त्रों का विश्वासी है, और न लघु-लघु राज्यों का। उसका पूर्व विश्वास है कि इस महादेश के लिए एक केन्द्रीय तन्त्र अत्यन्त आवश्यक है। मालवों के स्कन्धार में जो युद्ध परिषद् हो रही थी, उसमें नागदत्त ने साम्राज्यवाद के प्रति घोर आदेश व्यक्त किया है। मालवों और क्षुद्रकों की सम्मिलित सेना के मोननीत सेनापति के रूप में चन्द्रगुप्त का नाम आने पर वह उबल पड़ा—'मगध एक साम्राज्य है। लिच्छिवि और बिज्जि गणतन्त्र को कुचलने वाले मगध के निवासी, यह अन्याय है। मैं इसका विरोध करता हूँ।' गणतन्त्रों के प्रति यह आस्था पुरानी होते हुए भी सर्वथा नवीन है। आगे चल कर चाणक्य भी इसी गणतन्त्र का समर्थन करता है।

साम्राज्यवाद चाहे आर्य जाति का रहा हो, या अनार्य जाति का, प्रसाद दोनों के विपक्ष में थे। कुछ आलोचको ने प्रसाद पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने आर्येतर संस्कृति का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया है कि हमारे अतीत का आदर्श उत्कृष्ट रूप में उभर नहीं पाता। यह आरोप, विशेष रूप से, 'जन्मेजय का नाग यज्ञ' पर लगाया जाता है। 'जन्मेजय का नागयज्ञ' में नाग संस्कृति का बड़ा ही उत्कृष्ट चित्र उभारा गया है। आत्म संस्कृति की उच्चता का जितना अभिमान आर्यों को है, उससे कम नाग जाति को नहीं है। नागों की संस्कृति किसी अर्थ में भी आर्यों की संस्कृति से कम उन्नत नहीं है। प्रसाद इन दोनों संस्कृतियों का समन्वय चाहते थे। इस समन्वय का आधार नाग जाति को बलि वेदी पर चढ़ाना नहीं है। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर नाग संस्कृति की उदात्तता को सिद्ध किया जा सकता है। प्रत्येक स्थिति में आर्य संस्कृति की श्रेष्ठता का जयघोष प्रसाद की सन्तुलित बुद्धि के अनुकूल नहीं था। खांडव-वन दाह और नाग यज्ञ का कोई भी समझदार व्यक्ति समर्थन नहीं कर सकता।

प्रसाद बौद्ध दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे। 'राज्यश्री' के अन्तर्गत बौद्ध धर्म की व्यापक उपयुक्तता पर उन्होंने प्रकाश डाला है। फिर भी, निष्क्रिय बौद्ध धर्म एवं दर्शन के प्रति उनमें अन्धास्था नहीं मिलती। अपने नाटकों के अन्तर्गत समसामयिकता तथा राष्ट्रीयता इन दो तत्त्वों को उन्होंने विशेष महत्त्व दिया। प्रसाद के उदात्त नायकों ने बार-बार विदेशी आक्रमण-कारियों को पदमर्दित किया है। मात्र इतना ही नहीं, प्रसाद ने यह भी आवश्यक समझा कि वाह्य आक्रमणकारियों को निष्कासित करने के साथ-साथ अपनी आन्तरिक कमजोरियों को दूर करना देश का धर्म है। इनकी राष्ट्रीयता राजाओं, सरदारों तक ही सीमित नहीं है। वह ऐसी राष्ट्रव्यापी चेतना है, जो देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपने में समाहित कर लेती है। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी में इसे व्यापक रूप में देखा जा सकता है।

इस राष्ट्रीयता का तात्पर्य उस अन्धराष्ट्रीयता से नहीं है कि जो देश को फ़ॉसिस्ट मनो-वृत्ति का बना दे। इसके विपरीत वे स्थान-स्थान पर मानव मात्र की मैत्री का उद्घोष करते

रहते हैं। विश्वमैत्री को राष्ट्रीयता के साथ समन्वित करने वाले व्यास, गौतम आदि की कल्पना भी प्रसाद जी ने की है।

राष्ट्रीयता तथा विश्वमैत्री की स्थापना में सबसे बड़ा ध्येय देशगत तथा जातिगत विषमताओं का है। इनकी ओर भी प्रसाद जी ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। विदेशियों से रक्तगत सम्बन्ध स्थापित करना देश की सीमाओं को तोड़ना है। उसके अलग-अलग कटघरों को नष्ट करना है। चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह इस जाति का प्रमाण है। जातिभेद की संकीर्णताओं के भी वे विश्वासी नहीं थे। कर्म के आधार पर किसी को भी किसी जाति में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय बनाकर मूर्धाभिषक्त करना चाणक्य जैसे ब्राह्मण का कार्य था।

नवीन मानववादी धारणाओं का सन्निवेश भी उन्होंने स्थल-स्थल पर अपने नाटकों में किया है। मानव-मानव की समस्या को सर्वत्र देखा जा सकता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में बदली हुई धारणाओं का चित्रण तो उनके नाटकों में बार-बार हुआ है। उनके अन्तिम नाटक ध्रुव-स्वामिनी का तो यह वर्ण्यविषय है। प्रसाद की दृष्टि में नारी तथा पुरुष दोनों में से कोई छोटा-बड़ा नहीं है। किन्हीं अर्थों में नारी पुरुष की अपेक्षा अधिक महनीय और श्रद्धामयी है। स्त्री को गुड़िया के रूप में देखना प्रसाद को अभीष्ट नहीं था। इनके पूर्व भी लेखकों ने स्त्रियों के चित्रण में उदारता दिखाई है, लेकिन उस समय तक स्त्री दया का पात्र समझी जा रही थीं। सन् १६१८ में प्रकाशित प्रेमचन्द के उपन्यास सेवासदन में नारी गुड़िया की गुड़िया ही बनी रही। प्रसाद की नारियाँ किसी भी दया और दक्षिणा पर निर्भर नहीं करतीं। उन्होंने नारी को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया है। जनमेजय के नागयज्ञ में जब वासुकि रम्भा से पूछता है—'क्या पति होने के कारण तुम पर मेरा कोई भी अधिकार नहीं है।' इसका उत्तर देती हुई सरमा कहती है—'आपको सब अधिकार है पर मेरी सहज स्वतन्त्रता का अपहरण करने का नहीं....!'

उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नए विश्वासों के फलस्वरूप स्त्री को दासी नहीं बनाया जा सकता। वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो चुकी है। स्त्री को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करते हुए भी प्रसाद उसके प्रकृत स्वरूप को नहीं विस्मृत करते। अजातशत्रु में नारायण के माध्यम से वह कहता है—'कठोरता का उदाहरण है, पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है, स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा, जो मानव अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है। रमणी का रूप संगठन और आधार भी वैसे ही हैं।' यह है, प्रसाद की नारी की आन्तरिक प्रकृति का विवेचन। वह सचमुच में स्नेह, त्याग, दया, करुणा और क्षमा की प्रतिमूर्ति होती है।

इस पर आपत्ति उठाई जा सकती है कि प्रसाद ने नारियों में उपर्युक्त गुणों का आरोप किया है। जहाँ उन्होंने गौरव की प्रतिष्ठा दी है, वहाँ उन्हें मध्ययुग में भी ढकेल दिया है—लेकिन यह आरोप निराधार है। यह तो नारी जाति का मूलभूत तत्त्व है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। नारी के स्वाभिमान, उसकी नवीन चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति ध्रुवस्वामिनी

में हुई है। ध्रुवस्वामिनी अपने को पति कहने वाले पुरुष के प्रति आक्रोश व्यक्त करती हुई कहती है—"पुरुष ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो।" ध्रुवस्वामिनी के रूप में नए युग की नारी अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रक्षा के लिए तन कर खड़ी दिखाई देती है। ध्रुवस्वामिनी में तो आज की तलाक प्रथा को ही उतार दिया गया है। अपने अनार्य, पतित और क्लीव पति से मुक्त होकर वह चन्द्रगुप्त से विवाह सूत्र में बँध जाती है।

प्रसाद की इस विचारधारा के मूल में मुख्यतः उनकी रोमांटिक भावना है लेकिन जिस समय प्रसाद का आविर्भाव हुआ था, उस समय रोमांटिक भावना एक प्रगतिशील तत्त्व के रूप में गृहीत होती थी। यह तो हुई प्रसाद की दृष्टि जिसके आधार पर उन्होंने अपने ऐतिहाहिक नाटकों में प्राण-प्रतिष्ठा की है। चरित्रगत विशेषताओं का उद्घाटन भी उन्होंने नवीन ढंग से किया। अब तक हिन्दी नाटकों के चरित्रों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व तक नहीं मिल सका था, वे नाटककार के व्यक्तित्वों से लिपटे हुए थे। प्रसाद ने पहली बार उन्हें व्यक्तित्व प्रदान किया। उन्होंने अपने पात्रों को अधिक-से-अधिक सहानुभूति दी और उनके अन्तर्द्वन्द्वों तथा वाह्य संघर्षों को अत्यन्त मार्मिक ढंग मे चित्रित किया। अधिकांश मुख्य चरित्रों में एक प्रकार की विश्वजनीनता (यूनीवर्सिलिटी) तथा वैयक्तिकता दोनों पाई जाती है। उनके नाटकों के पात्रों को धीरोदात्त या धीरोधत्त के बँधे बँधाए स्थूल मापों से नहीं मापा जा सकता और न मानव दानव आदि के कटघरे में ही रखा जा सकता है। अतः उनका उचित स्थान निर्धारित करने के लिए उनकी परिस्थितियों तथा उनके प्रति उनकी मनोवैज्ञानिक-प्रतिक्रियाओं की जाँच करनी पड़ेगी।

उनके नाटकीय पात्रों की सामान्य विशेषताओं को देखते हुए सुविधा की दृष्टि से उन्हें, कतिपय श्रेणियों में रखा जा सकता है—१. महत्वाकांक्षी पात्र, २. राष्ट्रीय एकता और स्वतन्त्रता के लिए सब कुछ उत्सर्ग कर देने वाले स्त्री-पुरुष, ३. कूटनीति के आचार्य, ४. भारतीय आध्यात्मिकता के प्रतिनिधि महात्मा और ऋषि ५. भारतीय नारीत्व का प्रतिनिधित्व करने वाली करुणा, तितिक्षा की जीवन्त मूर्ति नारियाँ, ६. अनेक गुण-समन्वित अपनी परिस्थिति पर नियन्त्रण कर सकने वाला पात्र, ७. संगीत की अन्तिम लहरदार तान छोड़ जाने वाली गीतिमयी नारी पात्र।

प्रसाद की रचनात्मक शक्ति का प्रस्फुरण चरित्र चित्रण में दिखाई पड़ता है। उनके नाटकों के अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं और कुछ काल्पनिक। किन्तु दोनों प्रकार के पात्र अंशों में नहीं समग्रता में जीवन्त हैं। आदि से अन्त तक उनके व्यक्तित्व का निरालापन देखा जा सकता है। उनके कुछ प्रमुख पात्र आगे चलकर विकसित और जटिल हो गए हैं। प्रायः सभी पात्रों में वैयक्तिकता का अदभुत सन्निवेश हुआ है। ऋषि, पुरोहित, सेनापति, सम्राट्, कूटनीतिज्ञ, देश सेविकाएँ सभी व्यक्तित्व की गरिमा से अभिमंडित हैं। कोई पात्र बड़ी भूमिका अदा करता है तो कोई छोटी। किन्तु वे अपनी जीवन्तमयता और सचाई के कारण अविस्मरणीय हो गए हैं।

'राज्यश्री' का विकट घोष, 'अजातशत्रु' का कुणीक और विरुद्धक, स्कन्दगुप्त का भटार्क—सभी महत्त्वाकांक्षी पात्र हैं। ये सभी जीवन में ऐश्वर्य, वैभव, शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं। उनके लिए समस्त सम्बन्धों, उपकारों और नैतिक मानों की अवहेलना करने में कुछ भी संकोच नहीं है। महत्त्वाकांक्षा इनके जीवन का साध्य नहीं है। इसको प्राप्त करने के लिए वे किसी भी साधन का उपयोग कर सकते है। ये मनोवैज्ञानिक अर्थ में अहम्वादी (इगोइस्ट) नहीं हैं। महत्त्वाकांक्षा की मृगतृष्णा उन्हें एक के बाद दूसरे षड्यन्त्रों और साहस-पूर्ण कार्यों में संलग्न रखती है।

उपर्युक्त पात्रों को महत्त्वाकांक्षा युक्त बनाने का बहुत कुछ दायित्व उनकी वैयक्तिक और सामाजिक स्थितियों पर है। बुद्धि तथा अवस्था की अपरिपक्वावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण करने के कारण शान्तिदेव (विकट घोष) अपनी ऐहिक कामनाओं से विरक्त नहीं हो सका। अजात-शत्रु को इस दिशा में ले जाने का श्रेय उसकी माता छलना को है। स्कन्दगुप्त में भटार्क के ऊपर को व्यंग्य बाण बरसाए गए उन्हीं से प्रतिहिंसा की कृत्या उत्पन्न हुई। इन ठोस वाह्य परिस्थितियों के विरुद्ध उनकी प्रतिक्रियाएँ उन्हें आवेगमयता से भर देती हैं। इन महत्त्वाकांक्षी पात्रों के कारण नाटकीय संघर्ष को पर्याप्त बल मिलता है।

अनन्तदेवी की महत्त्वाकांक्षा, स्कन्दगुप्त के सारे घटना चक्रों, षड्यन्त्रों और कथानक विकास का केन्द्र विन्दु है। विजया की महत्त्वाकांक्षा दूसरे प्रकार की है। स्कन्दगुप्त ऐसे उदा-सीन और कर्मठ राष्ट्रसेवी को भी आकृष्ट करने वाला रूप और यौवन उसे प्राप्त है। प्रकृति ने उसे अपार सौन्दर्य और पिता ने अतुल धन दिया है। वह श्रेष्ठ कन्या है। उसका चित्रण करते समय प्रसाद आधुनिक युग के अर्थ के महत्त्व को विस्मृत नहीं कर सके हैं। आज मानवीय सम्बन्धों का मापक पैसा रह गया है। उच्चतर मानवीय मूल्यों के लिए कोई भी स्थान नहीं है। विजया की अतुल धनराशि के आधार पर स्कन्दगुप्त के ऐश्वर्य से प्रेम करती है। विजया का चरित्र अच्छा है, या बुरा यह उतने महत्त्व का नहीं है, जितने महत्त्व का यह कि वह अतिशय जीवन्त है।

प्रसाद राष्ट्र की प्रत्येक धड़कन को पहचानते थे और उसके अर्थ को ठीक ढंग से व्यक्त करने के लिए उन्होंने उत्कर्षमूलक ऐतिहासिक चरित्रों का विधान किया है। ये चरित्र राष्ट्र की आत्मा तथा उसकी आकांक्षाओं और मनोवृत्तियों को अभिव्यक्त करते हैं। इतने बड़े कार्य का दायित्व होते हुए भी उनकी वैयक्तिकता सर्वत्र अक्षुण्ण है। स्कन्दगुप्त, चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि इसी प्रकार के पात्र हैं। स्कन्दगुप्त को तो महत्त्वाकांक्षा छू तक नहीं गई है। वह भटार्क से एक स्थान पर कहता है—'यदि कोई साथ न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं, जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा।' पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसाद ने प्रकारान्तर से साम्राज्यवाद का विरोध किया है। वह स्कन्दगुप्त के इस वक्तव्य से भी स्पष्ट है। स्कन्दगुप्त के साथियों में गुप्त साम्राज्य का वृद्ध सेनापति पर्णदत्त बिजली की भाँति चमक कर अपनी कौंध की अमिट छाप छोड़ जाता है। यह साहसी सेनापति जनबल से अच्छी तरह परिचित है। इसीलिए वह जय का उत्सुक नहीं है बल्कि प्राणों की भीख का उत्सुक है और प्राणों की यह

भीख उसे जनता से ही चाहिए। पर्णदत्त यद्यपि इस दिशा में बहुत बड़ी भूमिका नहीं अदा कर पाता, फिर भी उसकी प्राणमयता में कहीं भी कमी नहीं आ पायी है।

चाणक्य का चरित्र प्रसाद की सर्वतोत्कृष्ट सृष्टि है। इतना सशक्त व्यक्तित्व, दृढ़ इच्छाशक्ति, अदम्य उत्साह और प्राणवत्ता अन्यत्र नहीं मिलेगी। चाणक्य जीवन भर अपने परिवेश से जूझता रहा। एक शक्तिशाली केन्द्रीय राजसत्ता की स्थापना के लिए उसने अपना सब कुछ बलिदान कर दिया—अपने अध्ययन—अध्यापन को, अपने व्यक्तिगत प्रेम को। सिकन्दर जैसे आक्रामक के समक्ष देश में एक सूत्रता की स्थापना, चाणक्य का असाधारण व्यक्तित्व ही कर सकता था। वस्तुतः वह लौह स्तम्भ के समक्ष अप्रणत, अनबूझ पहेली के समान रहस्यमय, विपक्षियों के लिए यमराज के समान क्रूर और निर्दय है। निरीह कल्याणी की आत्महत्या पर उसका यह कहना है कि 'चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कंटक हुए।' निष्ठुरता की चरम सीमा है। चाणक्य मूलतः बुद्धि और विवेक में विश्वास करने वाला व्यक्ति है, यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त के संवेगों को भी वह बार-बार चोट पहुँचाता है लेकिन सुवासिनी के प्रति उसकी कमजोरी स्पष्ट परिलक्षित होती है। परन्तु अपनी इस कमजोरी के कारण ही वह आदमी दिखाई देता है। राष्ट्र के लिए वह जो कुछ भी बलिदान करता है, वह अनुकरणीय है। केवल सुवासिनी के प्रति उसका गहन अनुराग ही उसकी वैयक्तिकता को ही नहीं उभारता अपितु उसके समस्त क्रिया-कलापों में उसके इस अंश का महत्त्वपूर्ण योग है।

चन्द्रगुप्त मौर्य चाणक्य की सहायता से देश भर में परिभ्रमण करता है। लगता है कि उस पर चाणक्य के व्यक्तित्व की अत्यधिक गहरी छाया है। फिर भी, नाटक में प्रसाद ने उसको स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया है। द्विजेन्द्र लाल राय के चन्द्रगुप्त को स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं मिल पाया है, वह बहुत कुछ चाणक्य अनुवर्ती बन गया है।

स्त्री पात्रों में कुछ स्त्रियाँ ऐसी आई हैं जो अपनी परिस्थितियों में या तो टूट जाती हैं या उनसे अलग होकर अपना व्यक्तित्व निर्मित कर लेती हैं। कल्याणी अपनी परिस्थिति में टूट जाने वाली नारी है। वह अपनी वेदना को अपने अन्तस्थल में दबाए मूकभाव से संसार से विदा हो जाती है। नन्द की राजकुमारी के साथ मौखिक सहानुभूति प्रगट करने वाला कोई व्यक्ति नहीं है—कोई नहीं है, उसका आराध्य चन्द्रगुप्त भी नहीं है। स्त्री पात्रों में ध्रुवस्वामिनी सबसे अधिक शक्तिशाली तथा परिस्थितियों को अपने अनुकूल मोड़ लेने वाली नारी है। वह समस्त रूढ़ियों को साहसपूर्वक तोड़ देती है। इससे उसका व्यक्तित्व अत्यन्त गरिमामय हो उठता है।

देवसेना, मालविका और कोमा के माध्यम से प्रसाद ने अपने व्यक्तित्व की एकान्त गीतिमयता को मूर्त किया है। प्रणय वेदना में इनके रोम तारों में जो कंपन बंधा, वह छूटा नहीं। इनकी जीवन रागिनी में आदि-से-अन्त तक प्रणय एवं प्रेम की एक कसक भरी गूँज सुनाई पड़ती है। प्रेम के जीवन्त प्रतीक इन नारियों की नैराश्य भावना ने इन्हें बहुत कुछ दार्शनिक भी बना दिया है। फिर भी, व्यापक सामाजिक हितों की इन्होंने उपेक्षा नहीं की है।

देवसेना ने स्कन्द के लिए बहुत कुछ किया—तन, मन और धन से, किन्तु बदले में उसे दर्द मिला, वेदना मिली—'आह वेदना मिली बिदाई' उसके जीवन को अत्यन्त संक्षेप में चित्रित

कर देता है। मालविका का मूक उत्सर्ग अनौपचारिक प्रेम का आदर्श है। चन्द्रगुप्त की शय्या पर बैठने मात्र से उसमें जो मादकता जागृत होती है, वह कितनी सहज और कितनी मनोवैज्ञानिक है। कोमा का प्रेम थोड़ा-बहुत सामी (सेमेटिक) है। वह देवसेना की तरह अतिशय गम्भीर और रहस्यमयी नहीं है और न मालविका की तरह अतिशय भावुक। वह अपने मनोभावों को छिपाना नहीं जानती। देवसेना को उसका स्कन्दगुप्त मिलकर भी अपनी ग्रन्थियों के कारण नहीं मिल पाता। मालविका के उत्सर्ग में एक प्रकार की शान्ति दिखाई पड़ती है लेकिन सरल कोमा को अपने प्रिय का शव मिला, वह भी अपमानित होकर। इन तीनों प्रेमिकाओं में कोमा का उच्छ्वास अधिक निरीह, करुण और उपेक्षामय है।

प्रसाद के नारी पात्रों की सर्जना प्रसाद के रोमांटिक व्यक्तित्व के सर्वथा अनुकूल है। ये स्त्रियाँ एकान्तवासिनी प्रेमिकाएँ हैं। इनके समस्त क्रिया-कलाप प्रिय में ही केन्द्रित हैं, फिर भी वे सामाजिक महत्त्व के कार्यों से असमपृक्त नहीं हैं। प्रिय के प्रति आत्म समर्पित होते हुए भी उनके व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता कहीं भी कुंठित नहीं हुई है। चाहे देवसेना हो या मालविका, चाहे कल्याणी हो, चाहे कोमा, सभी का पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व है जो नाटकीय गतिशीलता और परिवेश निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देता है।

कथोपकन नाटक का प्रमुख उपजीव्य है। कथानक को विशृंखल अथवा सुशृंखल, गतिशील अथवा अगतिशील बनाने का बहुत कुछ दायित्व कथोपकथन पर ही है। क्रिया व्यापार और चरित्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं को कथोपकथन द्वारा ही उद्घाटित किया जा सकता है। प्रसाद के कथोपकथनों में उपर्युक्त दोनों विशेषताएँ एक सीमा तक दिखाई देती हैं। प्रसाद के व्यक्तित्व की दार्शनिकता और काव्यात्मक भावुकता उनके कथोपकथनों में प्रायः मिलती है। उनकी दार्शनिकता के कारण कथोपकथन जहाँ-तहाँ दुर्बोध और अस्पष्ट हो गए हैं, लेकिन उनकी काव्यात्मक भावुकता से कथोपकथनों की सारी रुक्षता धुल जाती है। और उसके स्थान पर एक ताज़गी, स्निग्धता और तरलता दिखाई पड़ती है ! वे यथार्थवादियों की गद्यात्मक कर्कशता से सहज ही बच जाते हैं।

रोमाँटिक होने के नाते उनके संवादों में संवेगात्मकता का सन्निवेश मिलता है फिर भी परिस्थितियों की विभिन्नता और मानसिक स्थितियों के विभेद को इनमें स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इनकी कथोपकथन की शैली अनेक रूप रंग देती है ! राष्ट्रीयता के प्रति उल्लास और मन के भीतर चलने वाले ऊहापोहों को चित्रित करने के लिए आवेगमयता का पुट आवश्यक हो गया है। चाणक्य जैसे बुद्धि जीवी पात्र के संवादों में भी उसका हृदय लिपटा हुआ दिखाई देता है। इन उदाहरणों से इसे स्पष्टतापूर्वक देखा सकता है—

'सो कैसे होगा, अविश्वासी क्षत्रिय ! इसी से दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे और आर्य जाति पतन के कगारों पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।'

●

'महाराज ! उसे सीखने के लिए मैं तक्षशिला गया था और मगध का सिर ऊँचा करके उसी गुरुकुल में मैंने अध्यापन का कार्य भी किया है, इसीलिए मेरा हृदय नहीं मान सकता कि मैं मूर्ख हूँ।'

इस तरह अन्य स्थलों पर आए हुए चाणक्य के संवादों में भावावेग उभर कर सामने आया है।

प्रसाद की गीतिमयी नारियों के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है—जो पात्र जितने ही भावाकुल हैं, वे उतने ही एकान्त प्रिय एवं मौन हैं। कल्याणी तथा मालविका का मूक बलिदान ड्राइडेन की इन पंक्तियों की याद दिलाता है—

But my own expenence I can tell.
Those who love truely do not argue well.

इनके संवादों में उनकी मूकता बहुत ही अच्छी तरह से मुखर हुई है। व्यंग्य, विनोद, वाक् वैदग्ध्य, व्युत्पन्नमतित्व आदि संवाद के शोभन तत्त्व हैं। प्रसाद के गम्भीर नाटकीय वातावरण में इनके लिए क्रम अवकाश रहा है, फिर भी इनके संवादों में व्यंगादि का एकान्त अभाव नहीं है। उदाहरणार्थ, आंभीक के पूछने पर सिंहरण उत्तर देता हैं—'हाँ। हाँ। रहस्य है। आक्रमणवादियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर आर्यावर्त की सुख रजनी की शांत निद्रा में उत्तरा पथ की अर्गला खोल देने का रहस्य है। क्यों राजकुमार ! सम्भवत: तक्षशिलाधीश से वाह्लीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गए थे।'

प्रसाद ने स्त्री पात्रों के संवादों में कटूक्तियों को विशेष स्थान दिया है। यह उनके नारी मनोविज्ञान का पूर्ण परिचायक है। विशेषत: पुरुषों की अपेक्षा ये गुण नारियों में अधिक पाए जाते हैं। छलना, शक्तिमती, आनन्ददेवी ऐसी ही नारियाँ हैं।

प्रसाद के संवादों की कमजोरी उनकी गहन दार्शनिकता है। उनके पात्र जहाँ तत्त्व-चिन्तन में उलझ जाते हैं, वहाँ उनकी वक्तृता अत्यन्त दुर्बोध और जटिल हो जाती है। लम्बे-लम्बे कथोपकथन कथा की गति को अवरुद्ध करते हैं, चरित्रों को निर्जीव सैद्धान्तिक आच्छादन से ढक लेते हैं और सामाजिकों की रसमग्नता में विक्षेप डालते हैं।

प्रसाद के इन महत्त्वपूर्ण नाटकों की वस्तु व्यवस्था के सम्बन्ध में प्राय: विवाद उठ खड़ा होता है। आलोचकों ने इनके नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसमें अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और पंचसन्धियों को ढूंढ़ने का प्रयास किया है। संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों ने नाटकीय वस्तुविन्यास करते हुए उसे कुछ रूढ़ नियमों में बाँध दिया है। लेकिन स्वयं संस्कृत के नाटककारों ने इन बन्धनों में बँधना स्वीकार नहीं किया। किसी एक नाटक में इन प्रकृतियों, अवस्थाओं और सन्धियों को न प्राप्त करने के कारण भिन्न-भिन्न नाटकों से भिन्न-भिन्न उदाहरण ढूंढ़ निकाले गए। इस सम्बन्ध में उपलब्ध सारे-के-सारे शास्त्रीय उदाहरण ले देकर 'रत्नावली और वेणी संहार' के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई श्रेष्ठ नाटककार इन बन्धनों को स्वीकार नहीं कर सका और न कर सकता है। जब संस्कृत के नाटक इस साँचे में अपने को नहीं ढाल सके तो हिन्दी नाटकों पर यह आरोपण अनुचित नहीं तो और क्या है ?

वस्तुयोजना नाटक का वाह्य ढाँचा अथवा यांत्रिक विधान नहीं है। यह नाटक की सम्पूर्ण बौद्धिक प्रक्रिया का अविच्छेद्य अंग है। इसके द्वारा नाटक की सारी घटनाओं, क्रिया व्यापारों, नाटकीय स्थितियों (ड्रैमेटिक सिचुएशन) को इस प्रकार नियोजित करना पड़ता है कि

उसकी प्रभावान्विति में प्रकार का विक्षेप न पड़े। नाटकों के चरित्रों का वस्तुविन्यास से बड़ा घना सम्बन्ध है। एक ओर जहाँ पात्रों की क्रियात्मक प्रतिभा से कथावस्तु गतिशील होती है, वहाँ दूसरी ओर वस्तुजन्य स्थितियों से पात्रों का चरित्र निर्मित होता है। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर वस्तु को ठीक ढंग से नियोजित नहीं किया जाएगा तो नाटक बहुत कुछ शिथिल और बिखरा-बिखरा दिखाई पड़ेगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर 'जनमेजय का नागयज्ञ' को त्रुटिपूर्ण कहा जावेगा। जातीय संघर्ष का विस्तार उपन्यास की ही निर्बन्धसीमा के अधिक उपयुक्त है। अज्ञातशत्रु की कथावस्तु भी अपेक्षित ढंग से गुम्फित नहीं हो पाई है। अपनी कतिपय त्रुटियों के बावजूद 'स्कन्दगुप्त' का वस्तुविन्यास बड़े नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक संगठित और सुसम्बद्ध है पर अपने कथानक के विस्तार भार से बोझिल चन्द्रगुप्त सुसम्बद्ध नहीं हो पाया है। वस्तुविन्यास की दृष्टि से प्रसाद की अन्तिम नाट्य रचना अच्छी बन पड़ी है। ध्रुवस्वामिनी के तीनों अंक अपने में पूर्ण और गतिशील तो है ही, एक दूसरे के कारण और कार्य के रूप में भी जुड़े हुए हैं। प्रथम अंक की प्रतिक्रिया के रूप में द्वितीय अंक और द्वितीय अंक की प्रतिक्रिया में तृतीय अंक की योजना नाटक को गतिपूर्ण बना देती है।

वस्तुविन्यास सम्बन्धी इन त्रुटियों के बावजूद प्रसाद के नाटकों की श्रेष्ठता में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आता। शेक्सपियर के नाटकों की वस्तुयोजनापरक त्रुटियों का कम उल्लेख नहीं हुआ। प्रसाद की सहज गंभीरता से अभिमण्डित नाटकीय परिवेश, अपूर्व रसग्राही चेतना का सन्निवेश तथा गुणदोष समन्वित आरोह-अवरोह, पूर्ण मांसल चरित्र चित्रण उनके नाटकों को आज भी अप्रतिभ बनाए हुए हैं। रोमांटिक नाट्यकार होने के कारण वे शास्त्रीय बन्धनों में नहीं बाँध सकते थे। उन्होंने जिस प्रकार काव्य क्षेत्र में रूढ़ियों का अतिक्रमण किया उसी प्रसार नाटकों की परम्परागत मान्यताओं को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। भारतीय नाट्य-शास्त्र की मान्यताओं को न स्वीकार करना उनकी मनोवृत्ति और विचारधारा के अनुकूल था। यदि प्रसाद ने नाट्यशास्त्रीय रूढ़ियों को स्वीकार किया होता तो वस्तु, नेता, रस तथा अन्य अर्थप्रकृतियों आदि की भूलभुलैया में नई मानवतावादी विचारधारा को वे गूँथ न पाते। इसलिए यह तो उनके अनुकूल ही था कि वे पश्चिम और पूर्व की अपेक्षित नाट्यविधियों को समन्वित कर उन्हें अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाते।

अभिनेयता की दृष्टि से भी प्रसाद के नाटकों पर आरोप किया जाता है। घटना-विस्तार, लम्बे दार्शनिक भाषण, भाषा की क्लिष्टता, स्वगत-कथन की अस्वाभाविकता आदि अनेक ऐसी बातें है, जो अभिनय और सामाजिक इन दोनों के बीच खाई का—सा कार्य करती हैं।

आज रंगमंचीय नाटक बहुत अच्छे अर्थ में नहीं प्रयुक्त होता। प्रसाद के नाटकों का गांभीर्य और औदात्य हिन्दी के किसी अन्य नाटककारों में नहीं मिलता। केवल रंगमंच की दृष्टि से नाटक लिखने वालों की तो बात ही छोड़ दीजिए। जिन लोगों ने नाटकीय औदात्य और रंगमंचीयता के समन्वय को दृष्टि में रखकर नाट्य रचना की है, वे भी समग्रत: प्रसाद के समकक्ष नहीं उठ पाए। यदि पूर्वाग्रह को छोड़कर विचार किया जाए, तो कहना होगा कि

प्रसाद के नाटकों में जो गांभीर्य आया है, उसके मूल में रूढ़िग्रस्त रंगमंच की अवहेलना का बहुत कुछ योग है। यों, प्रसाद के नाटकों का रंगमंच की दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक परीक्षण भी नहीं किया गया है। यदि थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ उनको रंगमंच पर उतारने की कोशिश की जाए तो सहज ही उनकी त्रुटियों का परिमार्जन हो सकता है।

प्रसाद के नाटकों की सफलता उनके गहन जीवन दर्शन और व्यापक दृष्टिकोण में निहित है। वे अपने युग के प्रति अत्यधिक सचेत कलाकार थे। इतिहास के माध्यम से आधुनिक जीवन चेतना को रूपायित करना प्रसाद का उद्देश्य रहा है। उद्देश्य की यह महानता नाटककार को उच्चतर भूमिका पर स्वयं प्रतिष्ठित कर देती है। इसके भीतर बहने वाली काव्य की अन्तःसलिला प्रसाद की सफलता का मूल रहस्य है। कालिदास और शेक्सपियर की सफलता का रहस्य भी यही है। वस्तुचयन, चरित्र-चित्रण, नाटकीय परिस्थितियाँ सभी में काव्य रागिनी की मधुर प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। उनके नाटकों में गीतों की संख्या काफी मिलेगी। वे गीत कवि की अशेष तन्मयता के भावोच्छ्वास हैं। अधिकांश पात्रों के जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्यों के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व के कोमल पक्ष का रंगीन चित्र भी खींचा गया है। कहीं-कहीं प्रेम का कसकपूर्ण चित्र नाटक का अनिवार्य अंग नहीं हो सका है। किन्तु चरित्र के वैयक्तिक पक्ष के भावाकुल क्षणों को व्यक्त करने में पूर्ण सफल हुए हैं। समग्र रूप से उनके नाटकों में प्रेम के अनेक पक्षों को अत्यन्त कुशलतापूर्वक अंकित किया गया है। यदि कहीं प्रेम में उद्दाम विलास और यौवन की ऊष्ण गन्ध है तो कहीं अनुभूतिमयी प्रेयसी की उपेक्षापूर्ण तीव्र कसक। यदि कहीं अनियंत्रित वासनामूलक प्रेम की घोर प्रतिक्रिया है तो कहीं प्रिय के लिए प्राण सौरभ लुटा कर सर्वथा के लिए मिट्टी में लीन हो जाने वाला नर्गिसी रूप और यौवन है।

वस्तुतः उनके नाटकों की मार्मिकता उनके रंगमय काव्यतत्त्व में ही दिखाई पड़ती है। वह पाठकों को काफी दूर तक अनुभूतिमय बना देता है। नाटकीय दृष्टि से यह उनकी सबसे बड़ी कमजोरी भी है। लेकिन इन्हीं कमजोरियों में उनकी महत्ता अनुस्यूत है। विभिन्न नाटकीय परिस्थितियों में मनोजगत के उल्लास और रुदन की, वीर और शृंगार की, करुणा और शान्ति की अनेक मनोरम झाँकियाँ चित्रित हुई हैं। कठोर-से-कठोर और कोमल-से-कोमल भावाभिव्यंजना लेकिन,प्रायः इनका अतिरेक नहीं हो पाया है।

प्रसाद जीवन के अद्भुत द्रष्टा और चिन्तन के एकान्त अभ्यासी थे। उनकी नियति, दार्शनिकता, कर्मयोग इस तथ्य के द्योतक हैं। उनके प्रायः सभी नाटक, रूप और आत्मा में— भारतीय संस्कृति के गहरे रंग में डूबे हुए हैं। लेकिन वे किसी अर्थ में पुनरुत्थानवादी नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने सांस्कृतिक पृष्ठिभूमि पर भारतीय संस्कृति के चित्रों को उभार कर प्रस्तुत किया है किन्तु ह्रासोन्मुखी रूढ़ियों को यथास्थान अंकित करने का उनका प्रयास कम स्तुत्य नहीं है। उनके ऐतिहासिक सांस्कृतिक चित्रों में वर्तमान और भविष्य के लिए जीवन सन्देश भरे पड़े हैं। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का भी उनके नाटकों में पर्याप्त समावेश हुआ है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय जागरण तथा उसकी कमजोरियों को अंकित करने के लिए उन्होंने इतिहास का आच्छादन ग्रहण किया है। विभिन्न संस्कृतियों के

पारस्परिक संघर्ष तथा अवान्तर संस्कृतियों के वैषम्य को दिखाते हुए वे मूल परिवर्तनीय सांस्कृतिक चेतना को बनाए रखने में पूर्ण समर्थ हैं।

जिस सांस्कृतिक वातावरण को प्रसाद ने अपने नाटकों में अंकित किया है, उसमें आधुनिक समस्याओं को दूध-मिश्री की भाँति मिला दिया है। राष्ट्रीय एकता के सबसे बड़े ध्वंसात्मक तत्त्व—भेदभाव को करारी ठोकर दी है। मागध-मालव में जिस प्रान्तीयता की गन्ध मिलती है, ब्राह्मण-बौद्ध में जो कट्टर साम्प्रदायिकता परिलक्षित होती है, उन पर प्रसाद का तीखा प्रहार उनके नवीन दृष्टिकोण का द्योतक है।

राष्ट्रीय भावना के कट्टर हिमायती होते हुए भी वे उसे कभी अतिवादिता की सीमा तक नहीं ले जाते। उनके नाटकों में एक ओर "वसुधैव कुटम्बकम्" का स्वर मुखरित होता है, दूसरी ओर युग चेतना को बल मिलता है। अपने दो नाटकों—स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त में जब जनबल तथा जनमत की वास्तविकता को पहचान कर उन्होंने जनता को एक महत्त्वपूर्ण निर्णयात्मक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। पर्णदत्त जनता के जीवन की भीख माँगता है। चाणक्य नन्द को क्षमादान देने के लिए नागरिकों का मुँह देखता है। 'स्कन्दगुप्त' के वृद्ध सेनानी पर्णदत्त के मुख के आज की साम्यवादी विचारधारा फूट पड़ती है—"देवसेना! अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व हैं देशवासियों का। प्रकृति ने हमारे लिए हम भूखों को रख छोड़ा है। वह थाती है। उसे लौटाने में इतनी कुटिलता....।" इसी प्रकार 'विशाख' में बड़ी-बड़ी ज़मीदारियों का उपभोग करने वाले महन्तों और भिक्षुओं को भी आड़े हाथों लिया गया है। महापिंगल कहता है—'महाराज! अब तो मैं तपस्या करूँगा कि यदि पुर्नजन्म हो तो मैं किसी बिहार का महन्त होऊँ। राजकर से मुक्त, अच्छी खासी ज़मींदारी, बड़े-बड़े लोग सिर झुकावें और चेली लोग पैर दबावें....।' नारी जीवन को भी प्रसाद जी ने कई कोणो से परखा है। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी अटूट आस्था उन्हें कहीं भी पंगु (स्टैगनेन्ट) बनाकर सड़ाती नहीं बल्कि उन्हें युगान्त रूप गत्यात्मकता प्रदान करती है। एक ओर भारतीय नारी का आदर्श उपस्थित करने वाली महिमामयी मल्लिका है तो दूसरी ओर नई परिस्थितियों में अपने पति से सम्बन्ध विच्छेद करने वाली ध्रुवस्वामिनी। इस युग की माँग को प्रसाद ऐसे स्रष्टा ने शास्त्रानुमोदित सिद्ध कर इसे और भी अधिक बल प्रदान किया है। "देवि, माँ, सहचरि, प्राण" को अनेक नारी पात्रों में देखा जा सकता है। मल्लिका साक्षात् देवी, देवकी ममतामयी माँ, और मालविका, कल्याणी तथा कोमा 'प्राण' हैं। 'सहचरि' का भाव आंशिक रूप से मल्लिका में और कुछ अलका में मिल जाता है।

इस प्रकार प्रसाद ने आधुनिक जीवन और समस्याओं का कहीं हल्का किन्तु भावमय और कहीं ऊँचा और दार्शनिक संस्पर्श किया है। उनके ऐसे गहन अध्ययन, व्यापक जीवन द्रष्टा की विचार प्रवणता और रसानुभूति ने जीवन की कर्कशता में एक कोमलतम आर्द्रता घोल दी है।

गीति नाट्य—आजकल जिस गीति नाट्य को अधिक संख्या में लिखा जाने लगा है, उसके पुरस्कर्त्ता होने का श्रेय प्रसाद जी को प्राप्त है। कुछ लोग निराला के पंचवटी प्रसंग को भी गीति नाट्य की संज्ञा देते हैं, पर यह नाट्य काव्य है।

'करुणालय' का कथानक एक पौराणिक कथा के आधार पर निर्मित हुआ है। इस गीति नाट्य में प्रसाद के विकास के अनेक सूत्र खोजे जा सकते हैं। आगे चल कर, इनकी कृतियों में जिस आनन्दवाद, जीवन के प्रति एक अडिग आस्था, आसुरी आचार के प्रति घृणा, प्रेम की शुभ्र ज्योति आदि के जो रमणीय चित्र मिलते हैं, उनका आदि उत्स इसी रचना में देखा जा सकता है। परन्तु गीति नाट्य का मूल तत्त्व मानसिक संघर्ष—इसमें कम ही चित्रित हो सका है, यद्यपि कथा में इसकी काफी गुंजायश थी। अभी प्रसाद के साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास प्रारम्भिक स्थिति में था। अतः इस गीतिनाट्य से बहुत आशा नहीं की जा सकती।

मैथिलीशरण गुप्त के अनघ का रूपशिल्प 'गीति नाट्य' का है, पर आत्मा संवादात्मक काव्य की। 'मुझे है इष्ट जन सेवा' से अनुप्राणित यह गीति नाट्य गांधीवादी जीवन दर्शन के स्थूल आदर्शों से आगे बढ़कर आन्तरिक संघर्षों के सूक्ष्म स्तरों तक नहीं उतर पाया है। केवल एक पात्र सुरभि में थोड़ा-बहुत अन्तःसंघर्ष दिखाई देता है। शेष, पात्रों को अपना व्यक्तित्व नहीं मिल पाया है। पूर्व निर्धारित होने के कारण कथावस्तु यान्त्रिक हो गई है। सियाराम शरण गुप्त का 'अनघ' और प्रेमी का 'स्वर्ण विहान' अनघ की परम्परा में आते हैं।

भगवती चरण वर्मा के गीति नाट्य की समस्या चित्रलेखा के ही सदृश पाप-पुण्य के दृष्टिकोण से परिचालित है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि इसमें 'इदम्' के आगे नैतिक मन की पराजय होती है। साधना की अतिशयता और जीवन के स्वाभाविक धर्मों की उपेक्षा की चरम परिणति इसी रूप में दिखाई पड़ती है। इसमें अन्तःसंघर्ष का यथोचित् सन्निवेश हुआ है किन्तु क्रियात्मकता के अभाव में यह मंचीय नहीं बन पड़ा है।

हिन्दी के गीति नाट्यों में उदयशंकर भट्ट की देन का विशेष महत्त्व है। अपने तीन 'गीति नाट्यों'—विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा और राधा में उन्होंने जो भाव सृष्टि की है, वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा एकतान हैं। उनके पौराणिक और निजंधरी पात्र अपनी रंगीनियों के कारण मूल्यवान नहीं हैं, बल्कि लेखक के व्यक्तित्व और नवीन कल्पना द्वारा पुनर्सजित होकर मूल्यवान हुए हैं।

इनके तीनों नाटकों में मुख्यतः आन्तरिक द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई है, जो गीति नाट्य के प्राण तत्त्व हैं। यह संघर्ष नारी में है, पुरुष में है और दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी है। मेनका, मत्स्यगन्धा और राधा तीनों यौवन की मदिर आकांक्षा प्रेम की अनुवर्तिनी हैं, जो नारी जीवन का मधुर स्वप्न और संघर्ष है। किन्तु तीनों की यौवन-जन्य अभिलाषाओं में गुणात्मक अन्तर है। मत्स्यगन्धा में यौवन की अदम्य लालसा इस सीमा तक पहुँच गई है कि स्वयं यौवन उसका साध्य हो गया है। मेनका में नारीत्व की सहज कोमलता, स्निग्धता, स्फूर्ति और प्रेरणा है, लेकिन वह भी रूप की प्यास का आश्रय पुरुष में खोजती है। राधा में यह वासना—उद्दाम और असन्तुलित वासना—सात्त्विक और प्रतिदान-शून्य प्रेम में परिणत हो गई है। यह प्रेम का सर्वोच्च शिखर है। इस तरह इन तीनों नाटकों में एक ही भाव के विविध स्तरों को ही खोजा जा सकता है। साथ ही, एक सूत्र में उन्हें बाँधना, परखना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। विश्वामित्र में जीवन के निषेधात्मक और

स्वीकृत्यात्मक मूल्यों का संघर्ष है। सांसारिक सुख भोग से विरक्त, आनन्द से विमुख, कठोर तपस्या में लीन, जीवन के निषेधात्मक मूल्यों के प्रतीक और लौकिक सुख तथा आनन्द में विश्वास रखने वाली मेनका जीवन के स्वीकृत्यात्मक मूल्यों की प्रतीक है। विश्वामित्र पुरुषत्व के चरम अहंकार और रुक्ष विवेक बुद्धि का प्रतिनिधित्व करते हैं। अभिनेयता की दृष्टि से मत्स्यगन्धा की अपेक्षा इसकी आवयविक अन्विति अधिक निखरी हुई है, पर कोरस के अभाव में मत्स्यगधा की तरह इसमें भी संगीत समाविष्ट नहीं हो सका है।

नर नारी की चिरन्तर समस्या प्रेम का जो समाधान भट्ट जी को उपर्युक्त दोनों नाटकों में नहीं मिला, वह राधा में मिल गया। राधा उपचार निरपेक्ष और प्रतिदान शून्य प्रेम की प्रतीक है। राधा में न तो मत्स्यगन्धा के अतृप्त यौवन का आवेश है, और न मेनका की अस्थिरता का। उसमें निष्काम प्रेम भावना है, जो अन्त में चल कर कर्तव्यपराण कृष्ण को प्रणत होने के लिए बाध्य करती है।

मध्यकालीन भक्तों में अनेक ने राधा को परकीया के रूप में चित्रित किया है, विशेषतः गौड़ीय वैष्णवों ने। मर्यादा के आच्छादनों में लपेट कर राधा को स्वकीया सिद्ध करने की कोशिश भले ही की जाए, लेकिन उनकी प्रेम पद्धति परकीया की ही हैं। भक्ति भावना की सान्द्रता जितनी परकीया भाव में दिखाई पड़ती है, उतनी स्वकीया में नहीं हो सकती, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। भागवत में जार भाव से उपासना का प्रतिपादन किया गया है। भट्ट जी ने राधा को इसी रूप में ग्रहण किया है। राधा की साधना का महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए वृन्दावन के कृष्ण को भी गीता के दार्शनिक कृष्ण के रूप में अवतरित किया गया है, जो इन्द्रियजित् और असंग हैं। इस नाट्य में भट्ट जी ने विवाह में कन्या की इच्छा, समानोन्नति, उन्नति और राष्ट्र उन्नति धर्म के विविध रूपों को प्रसंगात् समाविष्ट कर लिया है।

इस गीति नाट्य में नारद की अवतारणा दुहरे उद्देश्य की पूर्ति करती है। एक तो वे उद्धव की भक्ति और ज्ञान गरिमा का प्रतिनिधित्व करते हुए उन्हीं की भाँति परास्त होते हैं, दूसरे राधा की प्रेम भावना में अवरोध डालकर उसे और भी प्रगाढ़ और राधाकृष्णमय बना देते हैं। मत्स्यगन्धा की टेकनीक को कुछ हद तक इसमें भी अपनाया गया है। जैसे प्राकृतिक सेटिंग, कोरस, वंशीवादन की स्वर माधुरी सारे वातावरण में एक करुण अनुभूति भर देती है। पर मत्स्यगन्धा की अपेक्षा मानसिक आरोह-अवरोह के क्षण कम हैं। अन्त में श्रीकृष्ण का लम्बा प्रवचन नाटकीय प्रभावान्वित को बहुत कुछ क्षीण बना देता है।

प्रसाद के समसामयिक नाटककार

प्रसाद के समसामयिक नाटककारों में मुख्यरूप से ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की रचना की। सुदर्शन का दयानन्द (सन् १९१७), बल्देव प्रसाद मिश्र —मीराबाई (१९१८), उग्र—महात्मा ईसा (१९२२), प्रेमचन्द-कर्बला (१९२४), बद्रीनाथ भट्ट—दुर्गावती (१९२६), मिलिन्द ,प्रताप प्रतिज्ञा, वियोगी हरि—प्रबुद्ध यमुना (१९२९), उदयशंकर भट्ट—चन्द्रगुप्त मौर्य (१९३१) और विक्रमादित्य तथा सेठ गोविन्ददास का हर्ष (१९३५) आदि ऐतिहासिक नाटकों की कोटि में आते हैं। पौराणिक नाटक भी इन्हीं लेखकों ने लिखे हैं। मैथिलीशरण गुप्त का

तिलोत्तमा (१९१६), चन्द्रहास (१९१६), अनघ (१९२५), कौशिक महिम, बद्रीनाथ भट्ट—बेन-चरित्र (१९२१), मिश्र बन्धु—पूर्वभारत (१९२२) और उत्तर भारत (१९२३), सुदर्शन-अंजना (१९२२), गोविन्द वल्लभ पन्त—वरमाला आदि पौराणिक नाटकों की श्रेणी में आते हैं।

उपर्युक्त सूची को देखते हुए यह स्पष्ट है कि उनमें से अधिकांश लेखकों ने नाटक-लेखन को गम्भीरता पूर्वक नहीं अपनाया। किसी ने एक और किसी ने दो-तीन नाटक लिखकर इस कार्य से विश्राम ले लिया। केवल बद्रीनाथ भट्ट, गोविन्द वल्लभ पन्त, गोविन्ददास और उदयशंकर भट्ट ने नाट्य रचना को अपना प्रधान साहित्यिक कार्य माना। लगे हाथ नाटक लिखने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अधिकांश नाटक अति सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ सके।

प्रेमचन्द ने तो 'कर्बला' और 'संग्राम' में नाहक फँसे। हिन्दू-मुस्लिम एकता आन्दोलन के कारण कदाचित् मुसलमानों के धार्मिक विषय की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ हो। अनावश्यक विस्तार, अत्यधिक शिथिल वस्तुविन्यास तथा मेलो ड्रैमेटिक तत्त्वों के अतिरेक के कारण ये उपन्यास अधिक और नाटक कम हैं। उनका दूसरा सामाजिक औपन्यासिक नाटक 'संग्राम' पूर्वनिश्चित योजना का अनुसारी और ऊबड़-खाबड़ है। मैथिलीशरण गुप्त के नाटकों का भी विशेष महत्त्व नहीं है। 'अनघ और चन्द्रहास' में गाँधीवादी दर्शन का पुट जरूर है। प्रसिद्ध कथाकार सुदर्शन कृत 'अंजना' नाटक कथा की दृष्टि से रोचक अवश्य है किन्तु नाट्य-विधान के विचार से उनका महत्त्व नहीं आंका जा सकता। हाँ, पौराणिकता को मानवीय भूमि पर उतारने का प्रयास अवश्य किया गया है। कौशिक कृत ईसा द्वंद्वरहित और निर्जीव है। इसमें उग्र की शैली, जिन्दादिली और भावमयता का अच्छा चमत्कार दिखाई देगा। रंगमंच की शोखी और गांधीवादी युग की सुधार भावना दोनों को एक साथ ही देखा जा सकता है। अब यहाँ उन नाटककारों की कृतियों पर विचार किया जायगा, जिन्होंने नाट्य रचना को अपना प्रधान साहित्यिक कार्य माना है। भट्ट जी का दुर्गावती ऐतिहासिक नाटक है। नाट्य-कला के विचार से इसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं है। लेखक के संग्रह-त्याग पर विशेष बल न देने के कारण कथा कहीं पर अत्यन्त संक्षिप्त और कहीं अनावश्यक रूप से विस्तृत हो गई है लेकिन राष्ट्रीय जागरण में चित्रित करने का अवकाश लेखक ने निकाल लिया है। बेचन शर्मा उग्र के पौराणिक नाटक में युग चेतना खूब उभर कर आई है परन्तु नाटकीय परिस्थिति की कमी और कार्य व्यापार की न्यूनता इसके नाटकीय महत्त्व को बहुत कुछ हल्का कर देती है। गोविन्द-वल्लभ पन्त, गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट के नाटकों की चर्चा आगे की जाएगी। इन नाटक-कारों का विकास कम समझने के लिए इनके नाटकों पर समग्र रूप से विचार करना अपेक्षित होगा।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने प्रसाद के समय में ही नाटक लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इनके नाटक 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर' और 'मुक्ति का रहस्य' अब तक प्रकाशित हो चुके थे। ये मुख्य रूप से प्रसाद के परवर्ती नाटककारों में ही आते हैं। अतः इनके नाटकों का मूल्यांकन भी बाद में ही होगा।

इस समय कुछ उल्लेखनीय प्रहसन भी लिखे गए। ये प्रसहन प्रसाद के पूर्व के प्रहसनों

से कथावस्तु एवं शैली से बहुत कुछ भिन्न हो गए। भारतेन्दु युग से प्रसाद के आगमन तक के प्रहसन के प्रमुख आलम्बन हुए ढोंगी, पंडे, पुरोहित, वेश्यागामी पुरुष आदि। द्विवेदी युग में जिस तरह उत्थानमयी नारी के चित्रों को नाटकों में अंकित किया गया है, उसी तरह प्रसहनों में नारी पर अत्याचार करने वाले वेश्यागामी पुरुषों पर व्यंग्य किया गया है। तत्कालीन अंधविश्वासों की सीमा भी उस समय जादू-टोना तक ही थी। अब राष्ट्रीय जागरण को देखते हुए कौंसिल की मेंबरी करने वाले लोगों को 'वैशाख नन्दन' की उपाधि दी गई तथा ऑनरेरी मैजिस्ट्रेटों के रूप में सरकारी पिट्ठुओं को आड़े हाथों लिया। इस रूप में मध्यवर्गीय स्थिति को भी सामने ले आया गया है। बद्रीनाथ भट्ट के 'मिस अमेरिका' में दुहरे व्यक्तित्व वाले सेठ जी को खूब बेवकूफ बनाया गया है। इसमें सेठ जी के साथ-साथ पाश्चात्य कृत्रिम साज-सज्जा (मेक अप) और रूप पर व्यंग्य है। पति को जूते से पिटवाकर लेखक अपने स्तर को बहुत कुछ गिरा देता है। फिर भी, प्रहसन बहुत सुन्दर बन पड़ा है। 'मिस अमेरिका' भट्ट जी का दूसरा प्रहसन है। मिस अमेरिका, योरोपीय सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं। उसके जीवन का एकान्त लक्ष्य है, धन। उसके माता-पिता पूर्वी आध्यात्मिकता को केवल वायवी वस्तु समझते हैं। रंगभेद की नीति में उनकी अटूट आस्था है। आज भी मिस अमेरिका का कथानक पश्चिम के अधिकांश देशों विशेष रूप से अमेरिका का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रहसन में प्रकारान्तर से रीतिकालीन कविताओं पर भी व्यंग्य किया गया है। जी० पी० श्रीवास्तव के प्रसहनों में फूहड़ हास्य की सृष्टि होती है। पात्रों के बेढब नामों से हास्य उत्पन्न करना उनकी प्रमुख टेकनीक है। इनके प्रहसन सामान्य स्तर से भी नीचे हैं।

अनुवाद की परम्परा इस समय भी जारी रही। संस्कृत से कालिदास, भास आदि के कुछ नाटकों के अनुवाद किए गए। शेक्सपियर के कई नाटकों के अनुवाद लाला सीताराम ने किए। टालस्टॉय, मोलियर, गाल्सवर्दी, मेररलिंक के नाटकों के भी हिन्दी रूपान्तर किए। बँगला के द्विजेन्द्र लाल राय एवं रवीन्द्र के कई नाटक हिन्दी में अनूदित हुए। द्विजेन्द्रलाल राय के अनुवादों ने हिन्दी नाटकों को प्रभावित किया। प्रभाव की दृष्टि से अन्य अनुवादों का कोई विशेष मूल्य नहीं है।

प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली हिन्दी में नाटक लिखना शुरू किया तो हिन्दी भाषी क्षेत्र में रंगमंच के विविध रूप शताब्दियों से प्रचलित होने पर भी नियमित लिखित नाटक हिन्दी के लिए और स्वयम् भारतेन्दु के लिए एक नया साहित्य-प्रकार था। उनसे पहले जो छिटपुट अनूदित अथवा मौलिक नाटक मिलते हैं उनका कोई कलात्मक महत्त्व नहीं। यह भारतेन्दु की असाधारण प्रतिभा का ही चमत्कार है उन्होंने इस नई विधा को न केवल प्रारम्भ करके स्वरूप दिया, बल्कि उसे सर्वथा अद्वितीय सर्जनात्मक स्तर पर भी स्थापित किया। यही नहीं, भारतेन्दु के अलग-अलग नाटक उस समय प्रचलित रंग-मंच की प्रायः सभी परम्पराओं और शैलियों को एक नया रूप और स्तर देने का प्रयास करते हैं, जो इस प्रक्रिया में ऐसे अभिव्यंजनापूर्ण नाटकीय गद्य का निर्माण करते हैं, जो बोलचाल की भाषा के समीप भी है और गहरे भाव स्तर को अभिव्यक्त करने में समर्थ भी। उनकी नाटक रचना रंगमंचीय माध्यम तथा एक नए और सार्थक जीवन बोध को प्रस्तुत करने की शिक्षा थी, विशुद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक अन्य प्रकार मात्र नहीं। अपने इस कार्य में भारतेन्दु ने जो सर्जनात्मक स्तर प्राप्त किया था, वह किसी भी विधा के प्रारम्भिक रचनाकार की प्रतिभा और कृतित्व के लिए गौरव का कारण हो सकता है।

भारतेन्दु के परवर्ती नाटककार किसी हद तक प्रतिभा के अभाव में, और किसी हद तक व्यावसायिक पारसी रंगमंच के बढ़ते हुए प्रभाव के फलस्वरूप रंगमंचीय अभिव्यक्ति के अधिक सहज और मौलिक नाट्य रूपों से सम्पर्क शिथिल हो जाने के कारण, नाटक का वैसा सर्जनात्मक स्तर बनाए नहीं रह सके। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि भारतेन्दु के बाद की तीन-चार दशाब्दियों में हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक तथा सर्जनात्मक प्रतिभा अपना वास्तविक परिचय खोजने के लिए उन्मुख हुई और उसी में उलझी रही। इसीलिए इस शती की दूसरी शताब्दी तक नाटक और रंगमंच ही नहीं, साहित्य में भी कोई विशेष सार्थक रचनात्मक उपलब्धि नहीं होती।

देश के मानस के वास्तविक परिचय का यह सर्जनात्मक अन्वेषण सबसे पहले उस युग में अभिव्यक्ति पा सका, जिसे हिन्दी साहित्य का छायावाद काल कहा जाता है। भारतेन्दु के बाद जयशंकर प्रसाद ही हिन्दी के पहले ऐसे महत्त्वपूर्ण नाटककार हैं, जिन्होंने नाटक की विधा का एक गहरी सांस्कृतिक तलाश के लिए उपयोग किया। इसीलिए उनकी रचनाओं में हिन्दी नाटक एक ऐसी सर्जनात्मक ऊँचाई भी प्राप्त करता है।

नव जागरण युग की तीव्र आत्मसजगता के फलस्वरूप प्रसाद देश के अतीत में समकालीन भारत का आत्म परिचय ढूंढ़ने और युग व्यापी गहरी मानवीय उथल-पुथल को अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं। शायद यह गहरी तलाश और युग से सम्वाद की कामना ही प्रसाद को नाटक की ओर खींच लेती है और उनके नाटक साहित्य को सभी पूर्ववर्तियों

से अधिक गहराई का आयाम प्रदान करती है। अपनी इस विशेषयुगीन स्थिति और उससे उत्पन्न भाव तीव्रता में निस्सन्देह प्रसाद भारतेन्दु से आगे हैं। किन्तु इस प्रेरणा के अनुरूप एक समर्थ रंगमंच की तलाश के विषय में प्रसाद को यह सुविधा नहीं थी, जो भारतेन्दु को मिली थी। भारतेन्दु ने विभिन्न रंग परम्पराओं को लेकर अपने कथ्य के अनुरूप उनका संस्कार करने का प्रयास किया था, कोई पहले से निश्चित, सर्वथा प्रतिष्ठित स्वीकृत रंगमंचीय रूप उनके आगे न था। पर जब प्रसाद ने नाटक लिखना प्रारम्भ किया तब तक पारसी नाटक मंडलियाँ रंगमंच का एक विदेशी खिचड़ी रूप प्रतिष्ठित कर चुकी थी जो अपनी चरम विकृतियों की स्थिति में पहुँचकर अब प्रायः विघटन की दशा में था। किन्तु, फिर भी रंगमंच का कोई नया रूप सामने नही था। शेक्सपियर के और बंगला में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक भी प्रायः उसी रंगमंचीय रूप की ओर इंगित करते जान पड़ते थे, जो पारसी रंगमंच ने अपनाया था। यह दिलचस्प बात है, इस दृष्टि से संस्कृत रंगमंच भी शेक्सपियर के रंगमंच के समीप पड़ता था, और उनका अनुशीलन भी प्रसाद को रंगमंच के किसी सर्वथा भिन्न या नवीन प्रकार या रूप की खोज की प्रेरणा नहीं दे सकता था। फलस्वरूप प्रसाद के नाटकों का रंगमंचीय अधार और स्वरूप थोड़े-बहुत परिवर्तनों एवं संशोधनों के साथ पारसी रंगमंच ही रहा, और वे उसी रंगमंच की रूढ़ियों और अन्य सीमाओं तथा परिस्थितियों से निर्धारित एवं सीमित हैं। उनकी विषय-वस्तु उसी प्रकार से रोमैण्टिक, घटनाबहुल तथा बहुमुखी है और रूपबन्ध भी उसी प्रकार शिथिल, बहुपात्रीय, बहुदृश्यीय तथा वर्णनात्मक है। प्रसाद के नाटकों में कार्य व्यापार की एक-सूत्रता नहीं है, बल्कि बहुत से सूत्रों को प्रभाव की समग्रता और व्यापक दृष्टि के साथ नियोजित किया गया है। उनमें पात्रों की विविधता वर्तमान है। निस्सन्देह उनका प्रदर्शन उसी तरह के विभिन्न साधनों तथा प्रतिभाशाली अभिनेताओं वाली बड़ी-बड़ी मंडलियाँ ही कर सकती थीं, जैसी पारसी मंडलियाँ हुआ करती थीं। भारतेन्दु के नाटकों का रूप जहाँ सहज ही गम्भीर किन्तु अव्यवसायी मंडलियों के प्रयोग के उपयुक्त भी था, वहीं प्रसाद के नाटक व्यावसायिक स्तर पर संगठित मंडलियों की अपेक्षा रखते थे। इसीलिए न तो वे किसी मंडली द्वारा सफलता-पूर्वक खेले गए और न उन्होंने किसी रंगमंचीय आन्दोलन को प्रेरणा ही दी। इस दृष्टि से प्रसाद के उस नाट्य साहित्य की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि को समझने के लिए पारसी मंडलियों द्वारा स्थापित रंगमंच के वास्तविक स्वरूप को समझना आवश्यक है क्योंकि प्रसादोत्तर नाटक का विकास प्रसाद के नाटकों की इन विशेषताओं से जुड़ा हुआ है और उन्हीं के सन्दर्भ में ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

प्रसाद के युग में ही बहुत कुछ, और उनके परवर्ती काल में सम्पूर्ण रूप से पारसी रंगमंच का विघटन हो गया था। अव्यवसायी कलात्मक रंगमंच का तो पहले से ही प्रायः अभाव था। फलस्वरूप रंगमंच के विघटन के साथ ही एक प्रकार से हिन्दी नाटक भी प्रायः विघटन की स्थिति तक जा पहुँचा। रंगमंच के सम्पूर्ण अभाव में न तो नाटक की कोई तात्कालिक सार्थकता ही बची और न उसका कोई अपना निजी स्वरूप ही उभर सका। अधिक-से-अधिक अब उसकी उपयोगिता पाठ्य पुस्तकों के लिए ही रह गई किन्तु एक जीवन्त तथा सार्थक अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में उसका कोई आधार न बचा। इन दिनों रंगमंचीय गतिविधि

थोड़ी-बहुत स्कूल कालेजों एवं विश्वविद्यालयों में शुरू होने लगी थी, पर वहाँ गम्भीर या पूर्णकालिक नाटकों के लिए गुंजाइश न थी। उनके लिए तथा सद्य स्थापित रेडियो के लिए, एकांकियों की माँग बढ़ी और इस प्रकार क्रमशः समस्त नाटक लेखन एकांकियों तथा पाठ्क्रमोपयोगी नाटकों तक ही सीमित रह गए। प्रायः पाँचवी दशाब्दी के अन्त तक हिन्दी नाटक इसी दायरे में चक्कर करता रहा है और किसी प्रकार की सर्जनात्मक सार्थकता प्राप्त नहीं कर पाता।

नाटक की यह स्थिति हिन्दी के अन्य साहित्य रूपों की तुलना में और अधिक तीव्रता से स्पष्ट हो जाती है। प्रसादोत्तर युग रोमैंटिक अभावों के उत्तरोत्तर ह्रास और यथार्थवादी जीवनदृष्टि के अधिकाधिक विस्तार का युग है। इस युग के काव्य और कथा साहित्य में व्यापक बौद्धिक उथल-पुथल और जीवन के मूल्यों के प्रति सजगता सर्वत्र परिलक्षित होती है जिसके फलस्वरूप काव्य और कथा के कथ्य, साथ ही, रूप एवं शिल्प में व्यापक परिवर्तन सम्भव हुए। ये परिवर्तन किसी हद तक बौद्धिक और आरोपित होने पर भी, मूलतः बदलते हुए परिवेश और रचनाकारों की दृष्टि की उपज थे और कथ्य और रूप दोनों ही स्तरों पर आत्यन्तिक रूप में उस युग की अपनी विशिष्ट काव्य परम्परा से संबद्ध थे।

किन्तु, नाटक के क्षेत्र में इस बौद्धिक उथल-पुथल और परिवेश तथा मूल्यगत परिवर्तनों की छाप बड़ी सतही, कृत्रिम, बल्कि प्रायः निराधार और मिथ्या रही। प्रसाद के बाद, बल्कि उनके ही युग में, शेक्सपियर के नाटकों का प्रभाव तो कम होता गया पर इब्सन, बर्नार्ड शा तथा योरप के अन्य यथार्थवादी नाटककारों का जो प्रभाव बढ़ा वह बड़ा सतही रहा क्योंकि बौद्धिक और भावात्मक धरातल पर किसी हद तक स्वीकृत होने पर भी वह मूलतः आंतरिक सामाजिक, भौतिक परिस्थितियों की उपज न था। योरपीय यथार्थवाद यंत्र और जीवविज्ञान की प्रगति और औद्योगिक समाज तथा उसके बदले हुए संबंधों पर आधारित है और वह सम्पूर्ण योरपीय सभ्यता तथा संस्कृत में प्रकट होने वाले नये जीवन मूल्यों और जीवन दृष्टि का सूचक था। इब्सन के नाटकों में उस बदलते हुए समाज की गहरी आत्मिक पीड़ा की अभिव्यक्ति है। भारतीय रचनाकार विशेषकर, हिन्दी लेखक के लिए न तो वह सामाजिक परिवेश ही यथार्थ था, न वह बौद्धिक आलोड़न ही। उसकी चेतना यथार्थवादिता की ओर उन्मुख होते हुए भी अभी उसका स्तर ऐसा न था कि नाटकीय अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक स्पष्टता, तीव्रता और प्रखरता संभव हो सके।

इसलिए काव्य और कथा साहित्य में जहाँ यह छद्म यथार्थवाद, जो यथार्थवादी शब्दावली में रोमैंटिक दृष्टिकोण का ही एक निरंतरण था, किसी हद तक चल गया और इतना कृत्रिम तथा आरोपित न जान पड़ा, वहीं नाटक में, उसकी रूपगत विशिष्टता के कारण, वह सर्वथा प्रभावहीन और कृत्रिम सिद्ध हुआ। योरप के यथार्थवादी नाटककार ने मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और समाजविज्ञान के नये आलोक में व्यक्ति के वाह्य और आंतरिक यथार्थ को यथासंभव प्रामाणिकता, सूक्ष्मता और संपूर्णता में रंगमंच पर उपस्थित करने का यत्न किया था और इस प्रकार मनुष्य के भावजगत तथा सामाजिक संबंधों का नये सिरे से अनुसंधान

किया था। किन्तु उपयुक्त वाह्य तथा आंतरिक परिस्थितियों के अभाव में हिंदी नाटककार के लिए यह संभव न था, वह यथार्थवादिता का केवल नाम भर ले सकता था।

नाटक के विशेष संदर्भ में इस स्थिति का एक कारण यह भी था हिन्दी के पास अब कोई भी रंगमंच नहीं रहा था जो अपनी आंतरिक आवश्यकताओं से नाटक के बदलते हुए स्वरूप को निर्धारित कर सके। इब्सन और शा के नाटक यथार्थवादी रंचमंच के लिए ही लिखे गये थे, और बहुत हद तक वे रगमंच के अपने विशिष्ट आंतरिक विकास के परिणाम भी थे और उसके सूचक भी। यथार्थवादी नाटक और यथार्थवादी रंगमंच न केवल एक सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति की अभिव्यक्ति है, बल्कि एक-दूसरे को मूलभूत रूप में प्रभावित और निर्धारित भी करते हैं। हिन्दी में प्रसाद के तुरन्त बाद का तथाकथित यथार्थवादी नाटक (जो कुछ भी थोड़ा-बहुत लिखा गया) अधर में लटका हुआ था और एकदम अयथार्थ था क्योंकि वह किसी भी प्रकार के रंगमंच से संबद्ध या अनुशासित नहीं था। इस प्रकार इस काल का नाटक साहित्य आन्तरिक अथवा बाह्य किसी भी प्रकार के प्रभावों अथवा आवश्यकताओं की परिणति न था।

योरपीय यथार्थवादी नाटक का उल्लेख प्रसाद के तुरन्त बाद के नाटक के सन्दर्भ में इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि इस समय तक हिन्दी नाटक अपनी निजी रंगमंचीय परम्परा या प्रेरणा से भी पूरी तरह कट चुका था और भारतेन्दु या प्रसाद की तुलना में कहीं अधिक योरपीय नाटक का अनुकरण करने लगा था। देश के किसी भी रंगमंचीय रूप से कोई भी संबंध न होने के कारण उसका और भी अधिक कृत्रिम और अयथार्थ हो जाना अनिवार्य था। किसो जीवित रंगमंच से संपर्क के अभाव में नाटक का एक प्रकार के अवास्तोवक भावविलास, रूपहीनता और निरर्थकता के दलदल में फँस जाना बहुत अस्वाभाविक नहीं। प्रसाद के बाद चौथी दशाब्दो का हिन्दी नाटक इसी निरर्थकता और रूपहीनता का ज्वलन्त उदाहरण है।

इस दौर के सबसे चर्चित नाटककार हैं, लक्ष्मीनारायण मिश्र जिनके नाटकों में यह स्थिति पूरी तरह प्रतिफलित है। मिश्र जी एक प्रकार से प्रसाद तथा अपने युग के अन्य रोमैन्टिक लेखकों के विरुद्ध बुद्धिवाद का आग्रह लेकर सामने आये थे। अपने नाटक 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में उन्होंने कहा था 'बुद्धिवाद किसी तरह का हो, किसी कोटि का हो—समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता, वे इब्सन और बर्नार्ड शा से प्रभावित थे और मानते थे कि जिन्दगी की कोई भी संकीर्ण परिपाटी धर्म या सदाचार की कोई भी निश्चित कसौटी, साहित्य और कला की कोई भी प्रभावशालिनी व्याख्या आँख मूँद कर स्वीकार कर लेना, यही नहीं कि व्यक्तिगत विकास में बाधा डालेगी, एक प्रकार से घातक भी होगी। प्रसाद के नाटक के सुदूर ऐतिहासिक और काल्पनिक वातावरण के बजाय उन्होंने घोषित रूप से समसामयिक जीवन के यथार्थ को नाटकों में प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाया। अपने नाटक राक्षस के मंदिर की भूमिका में वे कहते हैं; लेकिन यह तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम जिन्दगी को सब ओर से, भीतर और बाहर से प्रवृत्तियों के चढ़ाव और उतार को, दैवी और राक्षसी द्वन्द्व को, आशा और निराशा के सम्मिलन को, लालसाओं और इच्छाओं के मरुस्थल को होती और अनहोनी की रंगशाला को देख न ले, समझ न ले। अपने नाटक 'मनुष्य की सारी जिन्दगी को

प्रकाशित' करने के लिए लिख रहे हैं। यदि पाठकों को उनकी रचना 'अश्लील या संहारक' लगे तो इसका उत्तरदायित्व उन पर नहीं, समाज के उसी अधिकांश भाग पर है, जिसके मुख्य उपकरण मेरे नाटकों के चरित्र हैं। इस प्रकार मिश्र जी नाटक में यथार्थ की स्थापना के लिए ही कृत संकल्प होकर आए हैं।

मिश्र जी के दृष्टिकोण की इतने विस्तार से चर्चा इसलिए आवश्यक है कि एक प्रकार से वह हिन्दी नाटक के क्षेत्र में एक नए दौर के प्रारम्भ का सूचक था। कुछ तो, इस दृष्टिकोण और भारतीय परिस्थितियों के अपने अर्न्तविरोध के कारण, कुछ यथार्थवादी रंगमंच या नाटक के उपयुक्त परिस्थितियों के अभाव में, और कुछ मिश्र जी की अपनी सीमाओं के कारण, उनके नाटक किसी कलात्मक सार्थकता को प्राप्त न कर सके। उनका पहला नाटक 'सन्यासी' (सन् १९२९) उसी वर्ष प्रकाशित हुआ, जिस वर्ष प्रसाद का 'स्कन्दगुप्त'। उसकी विषयवस्तु ऐतिहासिक नहीं, आधुनिक शिक्षा और उसके कारण रोमैण्टिक प्रेम की बुराइयों से सम्बन्धित है। इसके बाद सन् १९३७ तक मिश्र जी ने पाँच नाटक और लिखे जिन सबमें वे बदलते हुए भारतीय समाज में स्त्री पुरुष के नए संबंधों की जाँच पड़ताल करते रहे। किन्तु इस बदलती हुई स्थिति के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर देखने वाली पैनी दृष्टि मिश्र जी के पास नहीं थी। इसीलिए उनके कथानक बनावटी हैं, स्थितियाँ अधिकांशतया आरोपित, काल्पनिक और चरित्र निर्जीव, निरे विचार मात्र, ऐसी अन्तहीन बहस में लगे हुए, जो लेखक के खोखले, थोथे आदर्शवाद के कारण अवास्तव ही नहीं, एक भंगिमा मात्र लगते हैं। 'राक्षस के मन्दिर' की भूमिका में उनका दावा है कि उसमें उन्होंने अपना लैन्सेट बेदर्दी के साथ इस्तेमाल किया है। पर वास्तव में यदि कोई लैन्सेट है भी तो वह डान-क्विज़ोट की तलवार की भाँति वह हवा में घूमती रहती है, वह कभी किसी यथार्थ स्थिति का स्पर्श नहीं करता।

मिश्र जी के इस नाटक में एक आतंकवादी अपनी विवाहिता पत्नी से उदासीन होकर एक वेश्या से प्रेम करता है और बाद में उस वेश्या के संरक्षक अपने वकील मित्र से उसका सारा रुपया वेश्या सुधार में हड़प लेता है और एक ऐसा आश्रम खोलता है जिसकी आड़ में वह अपनी वासनाओं को तृप्त करता है। उधर वेश्या के हृदय का परिवर्तन होता है और वह भंडाफोड़ करने का भय दिखाकर उस आश्रम का अर्थात् राक्षस के मन्दिर का सारा प्रबन्ध अपने कब्जे में ले लेती है। 'मुक्ति का रहस्य' में एक स्त्री किसी विवाहित पुरुष से प्रेम करती है और एक डॉक्टर की सहायता से उसकी पत्नी को ज़हर दिलवाकर मरवा डालती है। किन्तु उसके बाद, डॉक्टर उसका रहस्य खोल देने की धमकी देकर उसे समर्पण के लिए बाध्य करता है पर उसे करने को तैयार नहीं होती। इसी परिस्थिति से दुखी होकर वह आत्महत्या करने का प्रयत्न करती है पर बच जाती है और सारी बात अपने प्रेमी को बता देती है जो डॉक्टर को पिस्तौल लेकर मारने चलता है। उधर डॉक्टर का हृदय बदल जाता है और वह स्त्री भी अब अपने प्रेमी से नहीं डॉक्टर से ही विवाह करना चाहती है, आदि। 'राजयोग' में एक प्रेम में तिरस्कृत व्यक्ति योगी बनकर वापस आता है और आत्मिक शक्ति से अपनी भूतपूर्व प्रेमिका के—जो अब विवाहित है, नौकर को हिप्नोटाइज़ करके बेहोशी की दशा में प्रेमिका के जन्म से

सम्बन्धित कुछ अप्रिय स्थितियों का भेद खुलवा देता है। इससे प्रेमिका और उसके पति के बीच सम्बन्ध टूटने की स्थिति आ जाती है और अन्त में वह स्वयं स्वार्थ त्यागकर राजयोगी से कर्मयोगी बनकर चला जाता है। 'सिन्दूर की होली' में एक घूसखोर डिप्टी कलक्टर की बेटी ऐसे विवाहित पुरुष से प्रेम करने लगती है जिसकी, उसके पिता को घूस कर देकर, हत्या कर दी गई है। पिता के विरोध के बावजूद भी वह लड़की अस्पताल में जाकर उसके मरने से पहले उसके हाथों से अपनी माँग में सिन्दूर भर लेती है। 'आधी रात' में इंगलैण्ड में शिक्षा प्राप्त मायावती नामक 'स्त्री' की घटना चित्रित है। उसके दो प्रेमी हैं। उनमें एक-एक दूसरे की हत्या कर देता है तो उसे काले पानी की सजा होती है। मायावती इस स्थिति से दुखी होकर भारतीय आदर्श की खोज में एक कवि से विवाह कर लेती है और वर्षों तक उसके साथ इतना आदर्श एवं सात्विक जीवन व्यतीत करती है कि दोनों में कभी शारीरिक सम्बन्ध नहीं होता। कुछ दिनों बाद उसका मृत प्रेमी प्रेत बनकर और हत्यारा छूटकर आ जाता है, और उसे इस प्रकार तीन पुरुषों का सामना करना पड़ता है। अन्त में, वह नदी में डूबकर आत्महत्या कर लेती है।

मिश्र जी के नाटकों के कथा सूत्रों के इस अत्यन्त संक्षिप्त विवरण से इतना तो स्पष्ट प्रकट होता है कि उनमें से कई एक में पर्याप्त नाटकीय सम्भावनाएँ हैं। विशेषकर 'मुक्ति का रहस्य', 'सिन्दूर की होली' और 'आधी रात' में मूलभूत मानवीय स्थितियों में नाटकीय संघात् का एक चौखटा मौजूद है। परन्तु उसके नाटकीय अथवा किसी भी प्रकार के कलात्मक रूपायन के लिए जैसी प्रखर, निर्मम और निस्संग अन्तर्दृष्टि चाहिए, वह मिश्र जी के पास नहीं है। मिश्र जी अपने पूर्वाग्रहों की भावुकता और इतिवृत्त चिन्तन में बह जाते हैं, तथा किसी सार्थक और विश्वसनीय संघात् की सृष्टि नहीं कर पाते। प्रत्येक नाटक में घटना विन्यास सतही, कृत्रिम और आरोपित बना रहता है। बहुत बार तो घटनाओं और उनकी परिणति का कहीं सिर पैर नहीं मिलता। कार्य व्यापार में न तो कोई यथार्थपरक वाह्य संगति का निभाव दूर तक हो पाता है और न किसी आन्तरिक संगति का ही। इसीलिए अधिकांश पात्र यांत्रिक और आन्तरिक गति तथा संगति से शून्य हैं। शा के अनुकरण में वे अपने नाटकों में पात्रों से बड़ी बहसें और चर्चाएँ करवाते हैं, और 'शा' की प्रखर बुद्धि और सुनिश्चित आधुनिक जीवन दृष्टि के अभाव में मिश्र जी के विचार तारतम्यहीन, छिछले और दम्भपूर्ण लगते हैं और लम्बी-लम्बी चर्चाएँ निरी वाचालता मात्र। विषयवस्तु में न भावगत तीव्रता है, न बौद्धिकता और न काव्यात्मक गहनता ही।

इसीलिए इन तथाकथित नाटकों की दुर्बलता और भी तीव्रता से प्रकट होती है। वास्तव में वे अधिकांशतः भावुक संवादात्मक कथाएँ भर हैं, नाटक नहीं। रूप और गठन की उनमें इतनी भयंकर शिथिलता मिलती है, कि आश्चर्य होता है। 'सिन्दूर की होली' तक में जो उनकी सबसे कम दुर्बल रचना है, नाटकीय दृश्य नियोजन की सामान्य बातों का, रंगमंच की साधारण-से-साधारण आवश्यकताओं का भी अज्ञान अभाव है। इतना तक निश्चित नहीं कि दृश्य कमरे के अन्दर है या बाहर। यथार्थवादी नाट्यरूप और शिल्प का भी ज्ञान उन्हें अधिक नहीं जान पड़ता। उन वास्तविक रंगमंचीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं की

चेतना की बात ही क्या, जिन्होंने यथार्थवादी नाटक का रूप निर्धारित किया। मूलतः उनकी रंगमंचीय कल्पना पारसी रंगमंच पर प्रचलित लिपटवाँ पर्दों की है, यथार्थ का भ्रम उत्पन्न कर दे, ऐसे दृश्य विन्यास की नहीं। इसीलिए उनके नाटकों में एक अंक के भीतर कई-कई दृश्य होते हैं, और प्रायः एक ही दृश्य के भीतर एकाधिक परिवर्तन। 'राक्षस का मंदिर' के तीसरे अंक के एक दृश्य में नगर की सड़क, फिर पर्दा उठने पर मातृ मन्दिर का भवन। फिर उसी में, 'ऊपर का बड़ा कमरा' आदि स्थलों में कार्य व्यापार घटित होता है। 'मुक्ति का रहस्य' में कार्य व्यापार एक ही अंक-दृश्य में सड़क के किनारे दुमंज़िला मकान के पहले मंज़िल के कमरे में, उसके सामने छत पर, उसके नीचे लॉन पर, सड़क पर घटित होता जाता है। मिश्र जी में दृश्य की कल्पना का नितान्त अभाव है और जिसके बिना किसी रचना को नाटक कहना निरा 'शब्दजाल' मात्र है। 'राक्षस का मन्दिर' के तीसरे अंक के मंच निर्देश का एक उदाहरण है—'सामने आगे का निकला हुआ चबूतरा, उसके नीचे सपाट मैदान, हरी घास-चबूतरे से लेकर कुछ दूर तक, ऊपर शामियाना चबूतरे पर शामियाने के नीचे एक बड़ी गोल मेज़ और कुर्सियों की कई कतारें, नीचे भी कई कतारों में कुर्सियाँ। सामने से प्रवेश का रास्ता, नीचे की कुछ कुर्सियों के बीच से होता हुआ चबूतरे तक' इत्यादि। और कुछ देर बाद इसी दृश्य में कार्य व्यापार नीचे से होता हुआ ऊपर के बड़े कमरे में पहुँच जाता है। किसी यथार्थ-वादी निर्देशक के लिए दृश्य सम्बन्धी कल्पना बहुत आसानी से नहीं की जा सकती। 'आधी रात' में मिश्र जी एक प्रेतात्मा को पात्र बनाते हैं और नाटक के वातावरण में भी एक प्रकार की अकृत्रिमता वर्तमान है। यथार्थवादी नहीं तो एक प्रकार की काव्यात्मक नाट्य सम्भावना इस नाटक में बड़ी गहरी है, परन्तु मिश्र जी उसका कोई उपयोग नहीं कर पाते और नाटक नितान्त अनाटकीय संवादों और बेसिर पैर की परिणतियों में खो जाता है। वास्तव में छाया-वादी रोमैण्टिक दृष्टिकोण को ठुकरा कर बुद्धिवाद के ध्वजाधारी होने के दावे के बावजूद मिश्र जी मूलतः रोमैण्टिक ही बने रहते हैं, बल्कि रोमैण्टिक दृष्टिकोण के उच्छिष्ट से पीड़ित हैं। और इस खींचतान में न रोमैण्टिक दृष्टि ही उनके हाथ लगती है, न यथार्थवादी दृष्टि की वस्तुनिष्ठ प्रखरता।

इस अयथार्थ दृष्टि का बड़ा ज्वलन्त रूप इन नाटकों की भाषा में है। वह गतिहीन, कृत्रिम और बोझिल है। न उसमें प्रसाद की सी काव्यात्मकता है, न बोलचाल की प्रवाहमयता। वास्तव में, वह भाषा है ही नहीं, शब्दों का समुच्चय भर है या फिर, रोमैण्टिक काव्य और कथा साहित्य की भाव-सघन भाषा का प्रभावहीन अवशेष मात्र। मिश्र जी संवादों में नाटकीयता लाने के लिए अधूरे वाक्यों का और उन्हें बीच में बिन्दियाँ लगाकर जोड़ने की उक्ति का बहुत उपयोग करते हैं, जिससे भाषा का रहा-सहा प्रवाह भी नष्ट हो जाता है।

यह स्थिति मिश्र जी के तथाकथित 'सामाजिक' या 'समस्या' नाटकों की है। सन् १९३७ के बाद तो फिर उन्होंने समसामयिक प्रश्नों को लेकर नहीं, केवल ऐतिहासिक, पौराणिक और सांस्कृतिक कथानकों को लेकर बहुत से नाटक लिखे। वे सब संवादात्मक इतिवृत्त मात्र हैं, जिनमें न महत्त्वपूर्ण कथा की विशेषताएँ हैं, न नाटक की। वास्तव में मिश्र जी में नाटकीय कल्पना का अभाव है। फलस्वरूप उनके नाटकों की रंगमंचीय पुनर्सृष्टि के लिए अधिक

गुंजाइश नहीं और, इसी कारण रचना, शैली या भाषा किसी भी दृष्टि से समकालीन अथवा परवर्ती नाटक लेखन या रंगमंच पर उनका कोई प्रभाव न पड़ सका। दुर्भाग्यवश मिश्र जी ने उस समय लिखना शुरू किया जब पारसी रंगमंच तक प्रायः विघटित हो चुका था और रंगमंचीय गतिविधि थोड़ी-बहुत थी वह स्कूल-कालेजों और विश्वविद्यालयों तक ही सीमित रह गयी थी। वहाँ केवल एकांकियों की ही खपत हो सकती थी। वैसे भी स्त्री-पुरुष संबंधों के विश्लेषण-जैसे विस्फोटक विषय पर लिखे गये नाटक हमारी दकियानूसी शिक्षण संस्थाओं द्वारा नहीं खेले जा सकते। फलस्वरूप एक जीवन्त रंगमंच की व्यावहारिक और सर्जनशील आलोचना का लाभ भी मिश्र जी को नहीं मिल सका और वे अपनी दृष्टि और अपने रूपविधान को सार्थक तथा सक्षम बनाने का अवसर न पा सके। पिछले दस पंद्रह वर्षों में जब हिन्दी में रंगमंच नये सिरे से सक्रिय और सजीव हुआ, तब भी वे उसके साथ कोई सम्बन्ध न स्थापित कर सके और उनके नाटकों की कोई दिशा नहीं बन पायी।

इस दौर के अन्य नाटककार हैं, हरिकृष्ण प्रेमी, रामकुमार वर्मा, सेठ गोविंददास, गोविंद-वल्लभ पन्त, वृंदावनलाल वर्मा, उदयशंकर भट्ट आदि जो प्रायः सभी तीसरी या चौथी से छठीं शती तक के नाटक लिखते रहे है। इन लोगों की रचनाओं में नाटक के विघटन की अभिव्यक्ति और भी सम्पूर्ण है। संवादात्मक इतिवृत्ति की अनिवार्यता, आरोपित घटना विन्यास, सरलीकृत स्थितियाँ, आकस्मिक परिवर्तन, कृत्रिमता, गहनता और नाटकीय काव्यात्मकता का पूर्णतः अभाव आदि बातें इन लेखकों के प्रायः सभी नाटकों में समान भाव से वर्तमान हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के 'रक्षा बंधन', 'प्रतिशोध', 'स्वप्नभंग', 'आहुति', 'उद्धार', 'कीर्तिस्तम्भ' आदि अधिकतर नाटक मुग़ल राजपूत काल के ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित हैं। पर वे इतिहास का बड़ा यांत्रिक सतही संवादात्मक विवरण प्रस्तुत करते हैं, किसी यथार्थ और सार्थक गहन मानवीय स्थिति या चरित्र से उनमें साक्षात्कार नहीं होता। उनमें हिंदू-मुस्लिम एकता, देशभक्ति, आत्मवलिदान आदि भावनाओं का बड़ा आरोपित और भावुकतापूर्ण समावेश है, एक प्रकार का मिथ्या अवास्तव आदर्शवाद है, जो पाठ्यक्रमों में स्वीकृति के लिए भले ही उपयुक्त हो, उसमें कोई कलात्मक उपलब्धि नहीं होती। प्रेमी जी के नाटक द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों की बड़ी बदरंग-सी अनुकृति भर हैं। पर जहाँ राय के नाटकमूलतः रंगमंच के लिए लिखे गये थे और उसकी आवश्यकताओं से किसी हद तक अनुशासित थे, वहाँ, राय से तीस-चालीस वर्ष बाद, प्रेमी के नाटक अभिनय-प्रदर्शन के लिए नहीं, मुख्यतः स्कूलों में पढ़ाये जाने के लिए लिखे गये जान पड़ते हैं। उनमें रंगमंच के अभाव की छाप एकदम स्पष्ट है और इसलिए उनकी व्यर्थता राय के नाटकों से कहीं ज्यादा है। उनकी भाषा भी या तो फीकी भावहीन है, या भावुकतापूर्ण, अतिरंजित और उद्‌बोधनात्मक। उसमें नाटकीय सक्षमता या सहजता बहुत कम है।

गोविंद वल्लभ पन्त के 'राजमुकुट' और 'अंगूर की बेटी' पारसी रंगमंचीय शैली में लिखे गये हैं और यद्यपि उस हद तक उनमें सामान्य नाटकीय विन्यास इस दौर के अन्य नाटककारों की अपेक्षा अधिक है, उनकी मूल भाववस्तु में न तो कोई मौलिकता या नवीनता है, न कोई कलात्मक गहनता या सार्थकता। वे अत्यन्त वाह्य स्तर पर नाटकीय स्थितियों का संयोजन मात्र हैं, कलाकृतियाँ नहीं।

रामकुमार वर्मा ने अधिकतर एकांकी नाटक ही लिखे हैं, जिनका विश्वविद्यालयों और कालेजों में हिन्दी विभागों द्वारा प्रदर्शन होता रहता है। उनके दो अपेक्षाकृत और पूर्णकालिक नाटक 'शिवाजी' और 'कौमुदी महोत्सव' किसी रचनात्मक उपलब्धि के स्तर तक नहीं पहुँचते, न कथ्य की गहनता या सार्थकता में और न शिल्पविधान में। दोनों की कथावस्तु अतीत पर आधारित है और चेतना के किसी नये स्तर का उद्घाटन नहीं करती, बल्कि घिसे-पिटे आदर्शवादी उद्देश्यों और रोमैंटिक अभिप्रायों से आक्रान्त होने के कारण अत्यन्त छिछली और प्राणहीन रचना भर प्रस्तुत करती है।

सेठ गोविंददास एक अन्य नाटककार हैं जो पिछले तीस वर्षों से निरन्तर नाटक लिखे जा रहे हैं। कहा जाता है कि वे छोटे-बड़े मिलाकर सौ से अधिक नाटक लिख चुके हैं। यह बड़ी करुण और हास्यास्पद स्थिति ही है कि कलात्मक दृष्टि से उनमें से एक भी न तो उल्लेखनीय है, न विचारणीय। वे हिन्दी की इस अन्तर्विरोधपूर्ण स्थिति के सबसे ज्वलन्त प्रमाण हैं कि रंगमंच के बिना ही केवल पढ़ने के लिए, छपने या और पाठ्यक्रमों में सम्मिलित होने के लिए, सार्थकताहीन संवादात्मक कथाओं को नाटक कह कर प्रचारित किया जाता रहता है। इस दृष्टि से हिन्दी के ये तथाकथित नाटक बंगला मराठी आदि भाषाओं के नाटकों से कितने भिन्न हैं। बंगला-मराठी आदि भाषाओं के नाटक अपने-अपने रंगमंचों पर प्रयोग के लिए लिखे जाने के कारण, कलात्मक दृष्टि से अधिकांशतः भावकुतापूर्ण, अयथार्थ, छिछले और इसीलिए सार्थकताहीन होने पर भी, रंगमंच पर किसी हद तक जीवित रहे हैं, और नाटक लेखन की परंपरा को भी जीवित तथा सक्रिय रखने में सहायक हुए हैं। किन्तु इस दौर के हिन्दी के नाटक हर दृष्टि से अनुल्लेखनीय और निरर्थक हैं। उनकी किसी लिखित प्रकार की रचना के रूप में भी कोई कलात्मक सार्थकता नहीं है, रंगमंच की दृष्टि से तो सर्वथा अप्रासंगिक वे हैं ही। उनका उल्लेख केवल हिन्दी के शोध ग्रंथों में ही होता या हो सकता है, अन्यथा कलात्मक अभिव्यक्ति की किसी भी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता को वे पूरा नहीं करते और नाटक संबंधी किसी चर्चा में वास्तव में उल्लेखनीय नहीं हैं।

हिन्दी नाटक के अपेक्षाकृत अधिक सार्थक दौर का आरम्भ द्वितीय महायुद्ध के दिनों में, विशेषकर युद्धोत्तरकालीन बौद्धिक और सामाजिक राजनैतिक जागरूकता में से हुआ। और यह आकस्मिक नहीं है। यह ऐसा काल है जिसमें पारसी रंगमंच का सम्पूर्ण विघटन हो जाने के बाद रंगमंच संबंधी एक नयी चेतना का उदय हुआ। इसका एक छोर दीख पड़ता है व्यवसायी स्तर पर संगठित पृथ्वी थिएटर में, और दूसरा जन नाट्य संघ के सर्वथा अव्यवसायी किन्तु तीव्र उद्देश्यपरक प्रदर्शनों में। दोनों ही के प्रभाव के अंतर्गत रंगमंच को पहले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। नाटक और उसका प्रदर्शन पारसी रंगमंच के उच्छृङ्खल और नैतिक रूप में भ्रष्ट वातावरण से निकल आया। अब एक ओर उसे सामाजिक सार्थकता मिली, और दूसरी ओर कलात्मक अभिव्यक्ति के एक प्रकार के रूप में भी उसकी तरफ ध्यान गया। साथ ही, नाटक प्रदर्शन स्कूल कालेजों के सीमित वातावरण से निकल कर अधिक व्यापक धरातल पर खड़ा हो सका।

नाटक रचना की दृष्टि से एक मूलभूत परिवर्तन का प्रारम्भ इस दौर में हुआ। अब

इस बात की प्रवृत्ति बढ़ी कि नाटक रंगमंच के लिए ही लिखे जाएँ और उसी की कसौटी पर उन्हें देखा-परखा और समझा जाए। नाटक रचना का संबंध केवल पाठ्यक्रमों और स्कूल-कालेज़ों तक सीमित न रहा, और अपने प्रकृत मूलभूत आधार रंगमंच से बनना फिर से प्रारम्भ हुआ। निस्संदेह पृथ्वी थिएटर और जननाट्य संघ के प्रभाव में लिखे और खेले गये नाटकों का कलात्मक स्तर बहुत नीचा है, बल्कि नहीं के बराबर है। उनकी अपील मुख्यतः या तो राजनैतिक है, या उद्देश्यपरक मनोरंजन प्रधान। मानव जीवन या स्वभाव या स्थिति के किसी गहरे और सार्थक आयाम की कोई तलाश उनमें न हो सकती थी और न है। फिर भी हिन्दी नाटक में फिर से प्राण प्रतिष्ठा होने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं दोनों घटनाओं को है, क्योंकि उन्होंने नाटक को रंगमंच से जोड़ा और उसे निरे मनोरंजन के प्रकार से उठा कर एक सामाजिक सार्थकता प्रदान की।

इसी बीच यों भी देश के बौद्धिक-मानसिक जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। योरुप की विभिन्न राजनैतिक, दार्शनिक और साहित्य संबंधी विचारधाराओं ने, विशेषकर यथार्थवादी विचारधाराओं ने, देश के बुद्धिजीवियों और लेखकों को अधिक गहराई के साथ हुआ। दूसरे महायुद्ध ने बहुत-सी स्वीकृत स्थापित मान्यताओं को ध्वस्त कर दिया, या कम-से-कम उन पर बड़ा-सा प्रश्न चिह्न लगा दिया, और संवेदनशील भारतीय बुद्धिजीवी, लेखक, सर्जनात्मक कभी अपने आपको और कभी अपने परिवेश को, तथा दोनों के बीच संबंध को, नयी दृष्टि से देखने की ओर उन्मुख हुआ। जीवन का रोमैंटिक काल्पनिक अथवा अमूर्त भाववादी प्रस्तुतीकरण साहित्यकार और उसके पाठक को अपर्याप्त लगने लगा। महायुद्धकालीन और परवर्ती हिन्दी काव्य तथा कथा साहित्य में इस उथल-पुथल के चिह्न पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं जिन पर सभी का ध्यान जाता है और जाता रहा है। नाटक के क्षेत्र में भी इस उथल-पुथल का निश्चित प्रभाव पड़ा परन्तु वहाँ यह परिवर्तन इतना धीमा और अटकता हुआ सा रहा और सक्रिय जीवन रंगमंच के अभाव में मात्रा और गुण दोनों ही दृष्टियों से इतना अपर्याप्त रहा कि तुरन्त ही उसकी ओर ध्यान न जा सका।

नाटक के विषय में इस बदलती हुई चेतना की सबसे पहली उल्लेखनीय अभिव्यक्ति उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों में मिलती है। अश्क हिन्दी के पहले नाटककार हैं जिनके नाटकों में यथार्थवादी रंगमंच की चेतना सुस्पष्ट है। अश्क का पहला पूर्णकालिक नाटक 'जय पराजय' सन् १९३७ में प्रकाशित हुआ। वह कथावस्तु इतिहास से लेने में एक प्रकार से द्विजेन्द्रलाल-राय और जयशंकर प्रसाद से प्रभावित होकर भी अपने रूप में यथार्थवादी थे। यद्यपि मूलतः वह शायद किसी पाठ्यक्रम में स्वीकृत होने के लिए लिखा गया था। वह निश्चित ही उन दिनों की प्रवृति के अनुकूल था किन्तु अश्क जो शीघ्र ही पाठ्यक्रमोपयोगिता की चहारदीवारी से निकल आए और जीवन की साधारण दैनन्दिन परिस्थिति को नाटकों में खोजने की ओर प्रवृत्त हुए। सन् १९३९ में प्रकाशित 'स्वर्ग की झलक' में उच्च शिक्षित युवक-युवतियों के विवाह का प्रश्न है। एक पत्रकार प्रारम्भ में किसी उच्च शिक्षा प्राप्त आधुनिका से विवाह करने के स्वप्न देखता है पर ऐसे कुछ परिचित दम्पतियों के विवाहित जीवन के 'स्वर्ग की-झलक' देखकर अन्ततः एक साधारण पढ़ी-लिखी लड़की से विवाह करना निश्चित करता है।

नाटक में मध्यवर्गीय जीवन की धुरीहीनता और दम्भ पर हल्का फुल्का व्यंग्य है, हास्य है, भाषा में बोलचाल की रवानी है और स्थितियों में किसी हद तक नाटकीयता भी है। पर कुल मिलाकर कार्य व्यापार साधारण ही है, और चरित्र प्रायः सीधे, रूढ़ और एक आयामी हैं। साथ ही, यथार्थवादी नाटक की दृष्टि से इसकी दृश्य योजना बहुत उलझी हुई है। उसमें पाँच विभिन्न दृश्यबंध हैं और चौथे अंक में ही तीन विभिन्न दृश्य हैं, जिनमें से एक में पहले अंक की पुनरावृत्ति है। पात्रों की संख्या भी बहुत है, पुरुष ६, स्त्री ५, शिक्षक और थियेटर हाल की भीड़।

'छठा बेटा' (सन् १९४०) में स्वार्थी बेटों की हृदयहीनता के कारण एक शराबी पिता की स्थिति का चित्र है। उसका 'छठा बेटा' घर छोड़ कर भाग गया है और बाकी पाँच में से कोई उसे अपने साथ रखने को तैयार नहीं है। इसमें स्थिति बड़ी सम्भावनापूर्ण है, पर उसका निर्वहण उखड़ा हुआ है और घटनाएँ खींचतान कर जमाई गई लगती हैं। चरित्र इसके भी एक आयामी, कृत्रिम और रोमांचहीन हैं, 'कैरीकेचर' जैसे। उनका मानवीय रूप बड़ा क्षीण है। इस नाटक के चार दृश्यों में से दूसरे, तीसरे और चौथे के अधिकांश में पिता की स्वप्नावस्था को चित्रित किया गया है। यह निस्सन्देह अत्यन्त ही सार्थक और अभिव्यंजनापूर्ण नाटकीय उक्ति हो सकती थी; पर नाटक में यह अंश अत्यधिक अतिरंजित है। वह बहुत अधिक जागृति की स्थिति जैसा ही लगता है, स्वप्नावस्था का वातावरण प्रायः नहीं के बराबर है। इसमें भी पात्रों की संख्या अधिक है, पुरुष ११, स्त्रियाँ २। इसमें रंगनिर्देश बड़े-बड़े, किसी कहानी के वर्णनात्मक अंशों जैसे, हैं।

अश्क के अगले दो नाटक 'क़ैद' (सन् १९४५) और 'उड़ान' (सन् १९४६) में विषयवस्तु में अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्मता है। 'क़ैद' में पप्पी नामक एक सुन्दर, चंचल युवती, जो कवि दिलीप से प्रेम करती है, अपने विधुर जीजा से विवाह के लिए वाध्य होती है और पति के साथ चिनाब नदी के किनारे एक एकान्त जगह में जीवन बिताती है। नाटक उसके जीवन की नीरसता, प्राणहीनता और व्यर्थता को प्रस्तुत करता है। दिलचस्प बात यह है कि नाटक के हर पात्र की अपनी अपनी क़ैद है। अप्पी की, उसके पति की, प्रेमी कवि दिलीप की और उसकी वर्तमान प्रेयसि वाणी की। मानवीय स्थिति की ऐसी परिणति की प्रतीति, कम-से-कम सम्भावना के स्तर पर हिन्दी नाटक को नया स्तर देती है। पर अश्क इस सम्भावना का पर्याप्त सूक्ष्म, गहरा और संवेदनशील उपयोग नहीं कर सके हैं। अप्पी और दिलीप की अपनी-अपनी कैद और उनके अन्तः संघर्ष में पर्याप्त प्रखरता और सार्थकता नहीं है। कुल मिलाकर चरित्रों में संघर्ष और परिणति की, और घटनाओं तथा संघर्ष के साथ चरित्रों की, पर्याप्त और अनिवार्य संगति नहीं है। नाटक की चरम-परिणति आकस्मिक वाह्य स्थिति पर आधारित है। उसमें आन्तरिक अनिवार्यरता का अभाव है। उसका दिलीप के चरित्र से भी मूलभूत और गहरा सम्बन्ध नहीं। वह दिलीप के चरित्र को अस्पष्ट, सतही और निरर्थक कर देती है और नाटक की सारी समस्या बेमानी हो जाती है। कुल मिलाकर, नाटक का मूल संघर्ष अन्त तक कृत्रिम, निराधार और सार्थकताहीन बना रहता है। चरित्र सभी एक आयामी हैं। वाणी ही सबसे अधिक विश्वसनीय, रोचक और सम्भावनापूर्ण है, बहुत कुछ इसलिए कि वह इतनी

कम खुलती है। अश्क हर बात को इतना साफ और खोलकर कहते तथा दुहराते हैं कि उनके नाटकों की निहित सम्भावनाएँ प्रायः नष्ट हो जाती हैं।

रूपबन्ध के स्तर पर 'क़ैद' में एक और भी बड़ा भारी दोष है। उसमें प्रत्येक नाटकीय स्थिति में बच्चों के संवादों और कार्य का इतना अधिक उपयोग है कि स्थितियाँ प्रायः अनभिनेय हो जाती हैं और समूची रखना एक लंबी संवादात्मक कहानी जैसी लग उठती है।

'उड़ान' में स्त्री के प्रति पुरुष के तीन दृष्टिकोणों को—उसे दासी, देवी या खिलौना मानने की प्रवृत्ति को—प्रस्तुत किया गया है। पर उसमें मूल वातावरण और स्थिति असामान्यता और कृत्रिमता उसकी अनिवार्यता को नष्ट कर देती है और अन्त में एक सरलीकृत कथा का प्रभाव मात्र ही बच रहता है। 'पेंतरे' (सन् १९५०) में फिल्मी दुनिया की स्वार्थपरता, कृत्रिमता और पेंतरेबाजी पर व्यंग है। उसकी स्थितियों में स्वाभाविकता और रोचकता तो है, पर किसी गहरी अथवा स्थायी मानवीय संवेदना का अभाव होने के कारण, और मानव स्वभाव की ऊपरी सतही क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति के कारण, उसकी अपील बंबई-जैसे शहर के लिए उपयुक्त और स्थानीय अधिक है। इसमें बीस पुरुष और सात स्त्री पात्र हैं और तीन अंकों में तीन दृश्यबंध।

सन् १९५० के आस-पास ही लिखा गया 'भँवर' शायद अश्क का सबसे सूक्ष्म विषयवस्तु का नाटक है। उसमें उच्च वर्ग की अत्यधिक शिक्षित 'बौद्धिक' युवती प्रतिभा के कुंठित व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया गया है। वह विद्यार्थी जीवन में दर्शन के अध्यापक नीलाभ से प्रेम करती थी पर उसका प्रतिदान नहीं मिला। बाद में, कोई पुरुष उसे संतोषजनक नहीं जान पड़ता और वह सदा नीलाभ की ही कामना करती रहती है—उस बच्ची की भाँति 'जो चाँद को चाहती है और खिलौनों से जिसकी तसल्ली नहीं होती। लेकिन चाँद तो बहुत ऊँचा है—।' निस्संदेह यहाँ मानवीय स्थिति की गहराई में नाटक की खोज है। पर दुर्भाग्यवश अश्क उसकी अभिव्यक्ति के लिए जिस संघर्ष को प्रस्तुत करते हैं वह अत्यधिक वाह्य और स्थूल है। पूरे नाटक में कोई गहन भावात्मक स्थिति नहीं है, घटनाएँ, पात्र, परिणतियाँ सभी हलकी-फुलकी, सतही और सामाजिक परिस्थितियों तक सीमित रहती हैं। नाटक के अन्त में प्रतिभा का एक प्रेमी हरदत्त उसे बाहों में कस लेता है तो वह अलग छूटकर उत्तेजित आवेश भरे स्वर में उससे चले जाने को कहती है, और उसके जाने के बाद नीलाभ की याद करके सिसकने लगती है। यह परिणति किसी गहरी विस्फोटक वाह्य या आंतरिक स्थिति को प्रस्तुत नहीं करती, केवल भावुकतापूर्ण, बनावटी और अतिनाटकीय लगती है।

वास्तव में इस नाटक के पात्रों की परिकल्पना में जो एक जटिलता है, वह रंगमंच के कार्य-व्यापार द्वारा नहीं प्रकट हो पातीं, एक कथा की भाँति निर्देशों के वर्णनों की स्थिति अधिक मिलती है। कार्य व्यापार बड़े सतही और साधारण स्तर पर चलते हैं। स्थितियों में कोई भी नाटकीय घुमाव नहीं है जो प्रतिभा के व्यक्तित्व को और उस संघर्ष को एक साथ कई स्तरों पर रंगमंच पर मूर्त कर सके।

'अलग-अलग रास्ते' (सन् १९५३) तीन-चार वर्ष पहले लिखे गए 'आदि मानव' का परिवर्धित रूप है। इसमें रानी और राजी नामक दो बहनों के अलग-अलग रास्ते की कथा है।

दोनों का विवाह असफल सिद्ध होता है। रानी का पति प्रत्याशित दहेज न मिलने के कारण दुर्व्यवहार करता है और वह पिता के घर लौट आती है। राजी का पति पहले से ही किसी और लड़की से प्रेम करता था और राजी से उसका विवाह विरोध के बावजूद कर दिया गया था। अब वह अवसर पाकर अपनी प्रेमिका से भी विवाह कर लेता है तो राजी भी पिता के यहाँ लौट आती है। किन्तु अन्त में राजी को सपत्नी के साथ रहना स्वीकार करके पति के घर लौट जाती है किन्तु रानी किसी तरह अपने पति के यहाँ लौटने को राजी नहीं होती और इस कारण पिता के क्रुद्ध होने पर आत्म-निर्भर होने के उद्देश्य से घर छोड़कर भाई पूरन के साथ रहना शुरू कर देती है। इस कथावस्तु में भी मानवीय और नाटकीय दोनों ही सम्भावनाएँ पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं किन्तु अश्क यहाँ भी स्थिति को बहुत ही सतही ढंग से, उसका कुरीतिमूलक स्थूल सामाजिक पक्ष ही प्रस्तुत कर सके हैं। वैयक्तिक स्तर पर कोई गहराई का आभास ही नहीं प्रगट होता।

इसके दो कारण हैं। एक तो राजी और रानी दोनों में किसी को भी परिस्थिति से असन्तोष अपने पति से प्रेम के कारण या किसी तीव्र मानवीय भावना के कारण, नहीं, बल्कि, एक-न-एक प्रकार के दुर्व्यवहार के कारण है। किसी प्रकार के गहरे आन्तरिक सम्बन्ध का प्रश्न ही सामने नहीं आता। इसीलिए किसी तीखी मानसिक यातना, नाटकीय अन्तर्संघर्ष का कोई स्पर्श नहीं मिलता। दूसरे, लेखक का निर्वहण कुछ इस प्रकार का है कि सहानुभूति एवं परिस्थिति को स्वीकार कर लेने वाली राजी और उससे भी अधिक पति मदन के प्रति होती है, रानी के प्रति नहीं। कुल मिलाकर, राजी का व्यवहार और मार्ग अधिक प्रभावशाली लगता है, उसमें मानवीय करुणा तथा गरिमा कहीं अधिक है। अश्क प्रस्तुत नाटक में जो प्रश्न उठाते हैं, उनका कोई तर्कसंगत तथा सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता और नाटक का मूल स्वर बिखर जाता है। कुल मिलाकर नाटक में एक आयामी चारित्रिकता तथा सतही क्रान्तिकारिता और निरी शब्द स्थितियों की प्रधानता है, इसीलिए यह सतही सामाजिक आलोचना का नाटक रह जाता है, मानवीय भाव-ऊष्मा का नाटक नहीं बन पाता।

'अंजो दीदी' (सन् १९५४) को भी एक एकांकी से बढ़ाकर पूर्णकालिक बनाया गया है। इसमें यान्त्रिक नियमबद्धता के प्रति विद्रोह प्रस्तुत किया गया है। ज़िन्दगी को मशीन की तरह चलाने से कभी-न-कभी उसमें चाबी ज़्यादा लग ही जाती है जिससे मशीन का रुकना अनिवार्य है। दो दृश्यों के इस नाटक में दूसरे दृश्य में पहले दृश्य की सम्पूर्ण स्थिति की बड़े विस्तार से सचेष्ट पुनरावृत्ति है और उस पुनरावृत्ति द्वारा यान्त्रिकता के एक अन्य आयाम का प्रभाव सम्प्रेषित करने का प्रयास है। जहाँ पर पहला दृश्य एक सघन भावस्थिति को प्रस्तुत करता है, वहाँ दूसरा कृत्रिम और गढ़ा हुआ लगता है। सम्पूर्ण चरित्रों में अश्कीय सरलीकरण और एक आयामिता है ही, अन्त में अनावश्यक रूप से भावुकतापूर्ण हो गया है। कुल मिलाकर एक रोचक स्थिति का प्रस्तुतीकरण ही है, परन्तु गहराई का कोई आभास नहीं होता।

अपने नाटक अंधी गली (सन् १९५६) को अश्क एक नया नाट्य प्रयोग कहते हैं। उनका कहना है कि यह सात अंकों का नाटक है जिसमें प्रत्येक अंक अलग-अलग एकांकी भी हैं और वे सब मिलकर समग्र रूप से एक गली के जीवन का चित्र भी प्रस्तुत करते हैं, पर इस

दावे में कोई सार नहीं है। 'अंधी गली' शिथिल रूप से सम्बद्ध सात एकांकियों का संग्रह मात्र है, एक पूरा नाटक नहीं। केवल रूप-बन्ध की दृष्टि से लें तो इन सात अंकों को चार घंटे से कम में नहीं खेला जा सकता, शायद कुछ अधिक समय ही लगे। उसमें १० स्त्री पात्र, १६ पुरुष पात्र, १ बच्चा, १ लड़का और भीड़ चाहिए। चार दृश्य बन्ध होंगे जिनमें से पहले और दूसरे-तीसरे की अन्त में पुनरावृत्ति भी होती है। ये सब बातें इसके रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण पर प्रश्न-चिह्न लगा देती हैं। आन्तरिक दृष्टि से भी कोई केन्द्रीय संघर्ष या कार्य-व्यापार का सूत्र उसमें नहीं उभरता। किसी एकाग्रता की ओर समन्वित चरम विन्दु की ओर, गति नहीं, एक ही सीमा में एक ही स्तर पर जीवन के कई रूप प्रस्तुत हैं। शुरू से आख़ीर तक कोई गहराई का क्षण नहीं। दृश्यात्मकता बड़ी क्षीण है। नाटक का विन्यास और रूप-बन्ध एक लम्बी कथा या छोटे उपन्यास जैसा है।

अश्क के नाटकों के इस विस्तृत विश्लेषण से सम्भवतः स्पष्ट हो जाता है कि उनके नाटकों ने हिन्दी को निरी पाठ्यक्रमीय स्थिति से उबार कर उसे यथार्थवादी रंगमंच के साथ घनिष्ट रूप से सम्बद्ध किया, वहीं दूसरी ओर वे यथार्थ के बाह्य, सतही और एक आयामी रूप को ही प्रस्तुत कर पाये। उनके नाटकों में न तो कोई तीव्र सघन मानवीय स्थिति है न कोई स्मरणीय व्यक्तित्व, और न जीवन के बुनियादी घात-प्रतिघातों का विस्फोटक सार्थक साक्षात्कार। मूलतः अश्क एकांकीकार हैं, जिनमें विभिन्न सामाजिक और वैयक्तिक स्थितियाँ अपने क्षणिक और प्रायः सतही रूप में कुशलता और रोचकता के साथ प्रस्तुत हो सकी हैं। किन्तु उनकी कुशलता या रोचकता इतनी पर्याप्त नहीं कि किसी उल्लेखनीय रंगमंचीय गतिविधि को सहारा दे सके। यही कारण है कि 'अश्क' मुख्यतः स्कूलों और कालेजों में ही लोकप्रिय हैं जहाँ रोचक और हलके-फुलके एकांकियों की ही माँग होती है, किसी गहरे नाटकीय प्रयास की नहीं। हिन्दी में नाटकों की इतनी कमी होने के बावजूद, देश की गम्भीर नाट्य-मण्डलियाँ अश्क के नाटकों को प्रदर्शन के लिए नहीं उठातीं, क्योंकि उनकी समस्त 'अभिनेयता' और कई शिल्पगत नवीनताओं के बावजूद, उनमें इतनी गम्भीरता नहीं है कि किसी गम्भीर अभिनेता को अपना प्रयास सार्थक जान पड़े। वे एक-दो प्रदर्शन के लिए ही यथेष्ट हैं, बार-बार प्रस्तुत करने लायक गहराई और बहुविधता उनमें नहीं है। अश्क के नाटक न तो इतने छिछले हैं कि निरे मनोरंजन की तलाश करने वाली मण्डलियों को आकर्षित करें और न इतने गहरे कि गम्भीर मण्डली को नाट्य प्रदर्शन के लिए आवश्यक परिश्रम और प्रयास के उपयुक्त जान पड़ें। अश्क के नाटकों में कथा का तत्त्व भी बहुत अधिक है : वे व्यक्तियों और घटनाओं को उनके बुनियादी और गहरे संघात में घटित होते नहीं दिखा पाते, अधिक से अधिक पृष्ठभूमि के रूप में उसका वर्णन भर कर पाते हैं। किन्तु एक बात में 'अश्क' का योगदान बड़ा महत्त्वपूर्ण है—नाटकोपयोगी भाषा तैयार करने में। उनके नाटकों की भाषा में बोलचाल की सहजता है, प्रवाह है, नाटकीय क्षण को मूर्त कर सकने की क्षमता है। पर प्रायः वह अभिधा से ऊपर नहीं उठ पाती। उसमें काव्यात्मक व्यंजना की और संयम की कमी है, यद्यपि नाटक की भाषा को रोमैंटिक अस्पष्टता तथा धुंधलेपन से और मिथ्या ओजप्रियता, भाषणात्मकता आदि से मुक्त करने में उसका निश्चित योग है। कुल मिलाकर अश्क नाटक को उसकी कृत्रिम सीमा से निकाल कर उसके प्रकृत परिवेश में, रंगमंच के साथ

संबद्ध सरके, प्रस्तुत करते हैं, जो नाटक के विकास में अपने आप में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण चरण है।

नाटक को रंगमंच से जोड़ने और उसे सार्थक रचनाशीलता के स्तर पर प्रस्तुत करने का जो प्रारम्भ अश्क ने किया उसको एक और चरण आगे जगदीशचन्द्र माथुर ने बढ़ाया। अश्क की भाँति ही वे भी चौथी दशाब्दी के उत्तरार्द्ध से ही एकांकी लिखते रहे थे, जिनमें नाटकीय अभिव्यक्ति के कई-एक रोचक और महत्त्वपूर्ण उपादानों का प्रयोग था। १९१५ में जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' प्रकाशित हुआ जो हिन्दी नाटक साहित्य के विकास की महत्त्वपूर्ण मंज़िल है। उसमें एक बीते हुए युग के सन्दर्भ में एक समकालीन जीवन्त भावस्थिति का अन्वेषण किया गया है, जिससे घटनाओं, पात्रों और भाषा को एक-से अधिक स्तर और आयाम प्राप्त होता है और संभाव्य निहित नाटकीय अर्थों का महत्त्व बढ़ जाता है। साथ ही, वह अभिनेता के लिए निरी अभिधा को छोड़कर व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करने का अवसर प्रस्तुत करता है। 'कोणार्क' की मुख्य विषयवस्तु भी अधिक सूक्ष्म और व्यापक है। स्थापित सत्ता तथा कलाशिल्पी के बीच और कलाकार की सृजन प्रेरणा की विभिन्न स्थितियों के बीच अन्तःसंघर्ष है। इस प्रकार न केवल कोणार्क की स्थूल कथावस्तु का सम्बन्ध कलासर्जन की मूल प्रेरणा और कलाकार के सर्जनशील व्यक्तित्व के अन्वेषण से है, बल्कि वह नाटक और रंगमंच को सर्जनात्मक सार्थकता के अन्वेषण का माध्यम बना देता है, जो वह अभी तक हिन्दी में प्रायः नहीं था। कोणार्क का उद्देश्य मनोरंजन नहीं है और न किसी तात्कालिक सामाजिक कुरीति का उद्‌घाटन अथवा कोई अन्य नैतिक-उपदेशात्मक या सुधारवादी निष्कर्ष ही है। इस बात में, जगदीशचन्द्र माथुर के नाटक अश्क के मूलभूत रूप से भिन्न हैं। अश्क के नाटक मुख्यतः वाह्य सामाजिक स्थितियों के प्रस्तुतीकरण तक सीमित हैं और उनमें कोई गहरा मानवीय तत्त्व उभर नहीं पाता। किन्तु माथुर के पहले नाटक में ही नाटकीय विषयवस्तु और उसका निर्वहण कहीं अधिक गहन और काव्यात्मक है।

कोणार्क में कोई स्त्री पात्र नहीं। १२ पुरुष पात्र हैं और दो दृश्यबन्ध। इस दृष्टि से हिन्दी की सद्यः स्थापित अथवा अन्य नाटक मण्डलियों के लिए उसका प्रदर्शन अपेक्षाकृत सुविधा-जनक है। सम्भवतः कोणार्क आधुनिक हिन्दी का सबसे अधिक प्रदर्शित नाटक है, यद्यपि उसकी वेशभूषा में युगानुकूलता की माँग के कारण, और अन्तिम अंक में भवन का ध्वस्त होना दिखाने की आवश्यकता के कारण वह कई एक टेकनिकल और साधनगत समस्याएँ प्रस्तुत करता है। नाटक के सम्बन्ध में भी जहाँ भावना का तीव्र संघात् और चरित्रों में आत्म मंथन की स्थितियाँ पर्याप्त हैं, वहीं घटना बहुलता और अन्तिम परिणति में अतिनाटकीयता का तत्त्व भी है ही। आहत धर्मपद की परिचर्या के समय विशु के आत्मप्रकाश में भी अतिरिक्त भावुकतापूर्ण स्थिति और अतिरंजना की सम्भावना है। किन्तु प्रसाद के नाटकों के बाद 'कोणार्क' पहला नाटक है, जिसमें गहरी प्रबल भावनाओं का संघात् भी है और विषयवस्तु में सार्थकता भी है। उसमें सुपरिचित नाटकीय युक्तियों और रूढ़ियों का भी प्रयोग है जैसे धर्मपद का विशु की परित्यक्ता पत्नी से उत्पन्न होने का उद्‌घाटन आदि। पर उनसे नाटकीय स्थिति को तीव्र बनाने का काम लिया गया है। नाटक में उपक्रम और उपसंहार को अयथार्थवादी उक्तियों द्वारा सुदृढ़ करने

का प्रयत्न किया गया है दूसरी ओर उसमें वस्तु को अधिक सघन और प्रखर बनाने का प्रयास भी है जो हिन्दी नाटक रचना के क्षेत्र में दिशा का सूचक है।

जगदीशचन्द्र माथुर का दूसरा नाटक 'शारदीया' १९५९ में प्रकाशित हुआ। इसकी पृष्ठभूमि १९वीं शताब्दी में मराठा इतिहास से संबद्ध है, पर इसकी भी मूल भाववस्तु कलाकार और उसके प्रेरणास्रोतों का परिवेश के साथ सम्बन्ध ही है। कलाकार और उसके विभिन्न बाह्य तथा आन्तरिक सम्बन्धों से उलझाव इस नाटक को समकालीन हिन्दी साहित्य की अन्य सर्जनात्मक विधाओं से तो जोड़ता ही है, साथ ही नाटक को मनोरंजन का साधन मात्र मानने की बजाय उसे एक गहरे स्तर पर महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक कार्य कलाप का दर्जा प्रदान करता है। कई बातों में 'शारदीया' 'कोणार्क' से आगे का चरण सूचित करता है। उसके विभिन्न दृश्यों में गति और लय की विविधता, शिल्पगत कसाव और तीव्रता अधिक है, उसकी भाषा में भी अधिक नाटकीयता है, बोलचाल के साथ काव्यात्मक तथा अभिव्यंजनापूर्ण भाषा का अधिक सहज समन्वय है, संगीत तथा नृत्य के तत्त्वों का स्थितिमूलक संयोजन है, पात्रों की परिकल्पना और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में तीव्रता, विविधता तथा संयम अधिक है और अनावश्यक पक्षों में उलझाव कम है। इसके अतिरिक्त उसमें नाट्य वस्तु के सम्प्रेषण में विभिन्न बिम्बों का बड़ा महत्त्वपूर्ण उपयोग है। किन्तु दूसरी ओर इस नाटक में दो विभिन्न वस्तुओं को एक साथ सँजोने के प्रयत्न में प्रभाव की तीव्रता ही कम नहीं हुई है, मुख्य विषयवस्तु गौण पड़ गयी है। मराठा इतिहास की जिन घटनाओं को लेखक ने केवल पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करना चाहा है, अपनी प्रबलता और तीव्र नाटकीय सम्भावनाओं के कारण वे ही प्रधान हो गयी हैं। विशेषकर शर्जेराव के चरित्र में इतनी शक्ति और गति है कि नरसिंह राव उसके पीछे घिसटता-सा जान पड़ने लगता है। नरसिंह राव को, बल्कि पँचतोलिया साड़ी के उस अज्ञात स्रष्टा और उसकी समस्या को, अपेक्षाकृत किसी कम नाटकीय पृष्ठभूमि में रख कर ही उसका ठीक-ठीक अन्वेषण हो सकता था। इसी कारण नाटक के रूप-बंध में भी असन्तुलन उत्पन्न हो गया है। फिर भी कुल मिला कर 'शारदीया' आधुनिक नाटक की उल्लेखनीय कृतियों में है, इसमें सन्देह नहीं।

जगदीशचन्द्र माथुर के इन दोनों नाटकों के बीच का काल, अर्थात् छठी दशाब्दी, हिन्दी नाटक के लिए कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जैसे, इसी दौर की एक अन्य महत्त्वपूर्ण नाट्योपलब्धि है धर्मवीर भारती का काव्य नाटक 'अंधा युग' (१९५५)। यद्यपि प्रारम्भ में इसे मान्यता और प्रशंसा काव्य के रूप में ही प्राप्त हुई थी, फिर भी हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए इस कृति का महत्त्व बहुत बड़ा है। इसने पहली बार हिन्दी नाटक में यह स्थापित किया कि काव्य और नाटक का बड़ा गहरा सम्बन्ध है, बल्कि श्रेष्ठ नाट्यकृति काव्य का ही एक अन्य प्रकार है। 'अंधा युग' का सफल प्रदर्शन निस्सन्देह उसके प्रकाशन के कई वर्ष बाद हुआ, पर उसने अंततः मनोरंजनवादी पारसी शैली से अथवा यथार्थवाद से प्रभावित नाट्यकर्मियों की और हिन्दी के विश्वविद्यालयी शैक्षिक समालोचकों की, इस प्रकट-अप्रकट मूढ़तापूर्ण धारणा को तोड़ दिया कि रंगमंच काव्य नाटक का उचित और उपयुक्त स्थान नहीं। 'अंधा युग' ने हिन्दी नाटक ही नहीं हिन्दी रंगमंच को गहरी कलात्मक सार्थकता दी है और दोनों के

अभिन्न सम्बन्ध को बड़ी तीव्रता से स्थापित किया है। 'अंधा युग' सहज ही युद्धोत्तर हिन्दी कविता का सबसे महत्त्वपूर्ण, गहन और सार्थक वक्तव्य है और यह सर्वथा आकस्मिक नहीं कि वह वक्तव्य नाटक के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

'अंधा युग' महाभारत संग्राम के बाद की स्थिति के अन्वेषण के माध्यम से दूसरे महायुद्ध के बाद की, बल्कि युद्ध मात्र से उत्पन्न होने वाली, मूल्यहीनता, अमानवीयता, विकृति और सामूहिक तथा वैयक्तिक विघटन का उद्घाटन करता है। आनुषंगिक रूप से वह देश के विभाजन में निहित आंतरिक-गृह-कलह को परिणतियों की ओर भी इंगित करता है। इस नाटक के सभी पात्र मूल्यांधता के किसी न किसी स्तर, रूप या पक्ष के प्रतीक हैं : अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र, गांधारी, विदुर, कृपाचार्य, युयुत्सु, संजय, युधिष्ठिर तथा अन्य पाण्डव और अन्ततः स्वयं कृष्ण। प्रहरियों के रूप में जनसाधारण की कल्पित निर्लिप्तता भी उसी अंधता का एक रूप है। इस सर्वव्यापी ज्योतिहीनता के कारण 'प्रभु' भी अंततः उसी असहाय और करुण स्थिति में मृत्यु को प्राप्त होते हैं और उनकी मृत्यु के साथ व्यक्ति के लिए अपनी नैतिक ज़िम्मेदारी किसी बाह्य शक्ति या सत्ता पर डालने का अन्तिम आधार भी नष्ट हो जाता है। आज या सदा ही हमारा अपना विवेक और नैतिक आचरण ही हमें बचा सकता है, और कुछ नहीं। 'अंधों के माध्यम से' 'ज्योति' की यह तलाश, और अंततः प्रतिष्ठा—कम से कम उसकी प्रतिष्ठा की इच्छा—इस नाटक को अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक उपलब्धि बनाती है। उसमें पहली बार नाटक के माध्यम से मानवीय नियति के मूलभूत प्रश्नों और उनके उत्तरों को तलाश प्रस्तुत की गयी है, किसी क्षणिक या सामयिक, सामाजिक या वैयक्तिक, स्थिति का प्रस्तुतीकरण मात्र नहीं।

निस्संदेह 'अंधायुग' की भाववस्तु के अपने अंतर्विरोध हैं। पूरा नाटक पढ़ चुकने पर ऐसा लगता है कि भारती अंधों के माध्यम से ज्योति की कथा कहने के प्रयास में अंधकार में ही उलझे रह गये हैं। पूरे नाटक में ऐसा गहरा निराशा और विवशता का, चतुर्दिक लगभग समान मर्यादाहीनता और अनैतिकता का, दम घोंटने वाला वातावरण है कि अन्त में वृद्ध याचक और कथागायक का आशावाद आरोपित लगने लगता है। अश्वत्थामा और कृष्ण या प्रभु को लेखक ने कुछ इस प्रकार से आमने-सामने और बराबरी के साथ रक्खा है कि यदि गांधारी के श्राप के बाद कृष्ण की स्वीकृति की प्रतिक्रिया न होती तो ज्योति का शायद एक क्षण भी नाटक में न रह जाता। इसके अतिरिक्त दूसरे महायुद्ध के प्रमुख प्रतिस्पर्धियों—मित्र राष्ट्रों और फ़ासिस्ट देशों—की सैद्धान्तिक और नैतिक समानता पर लेखक का कुछ अतिरिक्त आग्रह भी उसे स्थितियों के सरलीकरण की ओर ले जाता जान पड़ता है। नाटक में पाश्चात्य रोमन कथलिक तथा अस्तित्ववादी विचारों का भी किसी कदर ऐसा अनावश्यक मोह है कि कृष्ण के शब्द जीसस के शब्दों जैसे सुनाई पड़ते हैं और एक सीमा के बाद 'अंधा युग' का स्वर अवास्तविक प्रतीत होने लगता है। किन्तु फिर भी, इन अंतर्विरोधों के बावजूद 'अंधा युग' के कथ्य में कई स्तरों पर ऐसी बेजोड़ तीव्रता, सघनता और एकाग्रता है जो उसे एक अद्वितीय और श्रेष्ठ नाटक ही नहीं, समर्थ और सार्थक कलाकृति का दर्जा प्रदान करती है।

नाट्य शिल्प के स्तर पर भी 'अंधा युग' की कई उपलब्धियाँ हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है उसकी भाषा जिसमें बिम्ब-प्रधानता और भाव-तीव्रता के साथ बोलचाल की सहजता

और प्रवाह है, गति और लय की विविधता है। इसके कारण भी 'अंधा युग' एक महत्त्वपूर्ण अनुभव का सार्थक भावात्मक वक्तव्य बन सकता है। भाषा के अतिरिक्त नाटक में कार्य-व्यापार की निरन्तरता को विभिन्न रंग युक्तियों द्वारा निभाया गया है। पूर्वावलोकन और सामानान्तर कार्य व्यापार का संयोजन, कार्यस्थल में अंतःपुर और वनपथ के बीच सहज और अबाध परिवर्तन, कथावस्तु के उद्घाटन और सूत्रान्वयन के लिए कथागायन का उपयोग, प्रहरियों और वृद्ध याचक के माध्यम से कार्य-व्यापार पर निरन्तर टिप्पणी के साथ स्थिति में नये आयामों का उद्घाटन और उनका समन्वीकरण, स्थापना और समापन की प्राचीन नाट्य रूढ़ियों का नया उपयोग आदि, अनेक शिल्पगत विशिष्टताएँ हिन्दी नाटक के लिए नया पथ-निर्देश करती हैं। दूसरी ओर यह बात भी असंदिग्ध है कि 'अंधा युग' में निहित रंगमंच भारती के आगे पूरी तरह स्पष्ट नहीं था। उनकी रंगमंचीय योजना बहुत कुछ लिपटवाँ परदों वाली ही है। रंग-मंचीय आधार की इस अनिश्चितता के कारण ही उन्होंने बहुत-सी युक्तियों का प्रयोग करना चाहा है जो बहुत बार अतिरिक्त और अनावश्यक भी लगती हैं। बीच-बीच में वर्णनात्मकता अधिक हो जाती है और कार्य-व्यापार प्रायः सूचित अधिक, रंगमंच पर घटित कम होता है। शैली में भी निरन्तरता का अभाव दिखाई पड़ता है और उसमें बीच-बीच में परिवर्तन नाट्य रूप को सुस्पष्ट नहीं होने देता। फिर भी 'अंधा युग' का नाट्य रूप अपने आप में एक उपलब्धि तो है ही, साथ ही वह हिन्दी नाटक के लिए नयी संभावनाओं को भी सूचित करता है, विशेषकर, हमारे प्राचीन संस्कृत तथा लोक नाटकों के अयथार्थवादी नाट्य व्यवहारों के नयी दृष्टि से अन्वेषण और प्रयोग की सार्थक सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है।

सम्भवतः 'अंधा युग' की सफलता से प्रेरित होकर ही दुष्यन्त कुमार ने भी एक काव्य नाटक 'एक कंठ विषपायी' (सन् १९६३) लिखा। उसकी भी विषय वस्तु है युद्ध की व्यर्थता, हेतुहीनता और अमानवीयता, और उसका कथानक दक्ष यज्ञ, सतीदाह और फलस्वरूप शंकर के क्रोध और देवताओं के युद्ध को लेकर है। शंकर के आक्रमण के विरुद्ध इंद्र युद्ध करना चाहते हैं पर ब्रह्मा अनुमति नहीं देते क्योंकि उनके विचार में इंद्र के भी पक्ष में सत्य नहीं। प्रजाजन इस अकर्मण्यता से क्षुब्ध और विद्रोही होने लगते हैं, पर ब्रह्मा नहीं तैयार होते। तभी विष्णु आते हैं और किसी प्रकार ऐसा रास्ता निकालते हैं कि शंकर बिना युद्ध किये ही अपनी सेना लौटा ले जाते हैं।

इस नाटक में 'अंधा युग' की अनुगूँज के अतिरिक्त स्थितियाँ मूलतः अतिरंजित हैं, और विवाद तथा बहस अधिक है कोई मूलभूत गहरा मानवीय आयाम नहीं। शंकर के व्यवहार से इंद्र का उत्तेजित होना तो स्वाभाविक लगता है, पर विष्णु और ब्रह्मा की दार्शनिकता सतही और अप्रासंगिक जान पड़ती है। सबसे अधिक अविश्वसनीय और अनाटकीय है सर्वहत। वह अनावश्यक रूप से भावुकतापूर्ण तो है ही, उसका व्यक्तित्व आधारहीन है, उसकी कोई अनि-वार्यता नहीं, नाटक की मूल स्थिति से उसका कोई आत्यन्तिक सम्बन्ध नहीं। इसलिए वह बेहद अतिरन्जित, कृत्रिम और आरोपित लगता है।

सबसे दुर्भाग्य की बात है कि नाटक न तो किसी तीव्रतापूर्ण मानवीय स्थिति या व्यक्तित्व के रूप का उद्घाटन करता है और न अन्त तक किसी तीव्र नाटकीय परिणति तक पहुँचता है। इसलिए कोई गहरा, संघातपूर्ण, विस्फोटक प्रभाव किसी भी स्थल पर पैदा करने

में असमर्थ रहता है। नितान्त वर्णनात्मक स्तर पर एक प्रकार की मिथ्या दार्शनिकता और वैचारिकता धुंध की तरह छायी रहती है और किसी गहरे संकट और उसके तीव्र द्वन्द्व से साक्षात्कार नहीं होता। यही नीरस भावहीनता और इतिवृत्तात्मक वर्णन प्रधानता भाषा में भी मौजूद है। न केवल भाववस्तु में नाटकीय संयोजन नहीं है, प्रायः बिम्बहीन, रंगहीन, सपाट भाषा और अभिव्यक्ति के कारण भी कोई काव्यात्मक स्तर नहीं स्थापित हो पाता। सम्भावना और प्रयास के रूप में उल्लेखनीय होने पर भी 'एक कंठ विषपायी' की नाटकीय या काव्यात्मक उपलब्धि बड़ी सीमित है।

'अंधा युग' सन् १९५४ में लिखा गया था और सन् १९५५ में प्रकाशित हुआ पर उसका प्रदर्शन सफलतापूर्वक सात-आठ वर्ष बाद ही हो सका। इस बीच देश के रंगमंच आन्दोलन ने कई दिशाओं में प्रगति की। सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी रंगमंच की, मनोरन्जन के साधन की बजाय, एक अत्यन्त ही समर्थ किन्तु जटिल और परिश्रम तथा शिक्षण साध्य कला माध्यम के रूप में क्रमिक स्वीकृति। रंगमंचीय कार्य-कलाप के एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और सर्जनात्मक कार्य का दर्जा मिलने में ही यह निहित था कि न केवल नाट्यकर्मियों में अधिक जागरूकता, संवेदनशीलता और कलात्मक गम्भीरता की अपेक्षा हो, बल्कि साथ ही नाटक में भी जीवन के साथ गहरे साक्षात्कार की माँग हो। फलस्वरूप एक ओर रंग मण्डलियों को विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन मिले, रंगकर्मियों के काम में अधिक गम्भीरता और दायित्व भावना आयी, उनके प्रशिक्षण की समस्याएँ उठने लगीं, रंगमंच के विकास के लिए उपयुक्त नाटकघरों तथा अन्य शिल्पिक साधनों के विकास पर ध्यान गया। दूसरी ओर, प्रतिभावान लेखकों के ऊपर नाटक लिखने का, नाटक के माध्यम से जीवन के सार्थक अनुभव को अभिव्यक्त करने का, बाह्य और आन्तरिक दबाव बढ़ने लगा। छठी दशाब्दी देश भर में नाट्य आन्दोलन के विभिन्न दिशाओं में, चाहे जितने धीमे ही सही, अग्रसर और आत्म सजग होने का काल है। निस्सन्देह देश की विभिन्न भाषाओं के रंगमंचों में इस प्रक्रिया की गति और स्तर की पर्याप्त भिन्नता है, पर उसका प्रभाव अनिवार्य रूप से सभी क्षेत्रों पर पड़ा। किसी व्यवस्थित रंगमंच के अभाव में हिन्दी में यह प्रक्रिया कुछ अतिरिक्त तेजी और स्पष्टता के साथ सामने आयी है। सन् १९५८ में संगीत नाटक अकादेमी द्वारा हिन्दी नाटक और प्रदर्शन प्रतियोगिताओं में मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' को नाटक के लिए और कलकत्ते की अनामिका मण्डली को सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए पुरस्कार मिला, जिसने निस्सन्देह हिन्दी नाटक को एक नया बल और सहारा दिया। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि नाटक और नाटक मण्डली दोनों की ही दृष्टि से इन पुरस्कारों ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को अधिक ऊँचे, सार्थक और महत्त्वपूर्ण स्तर पर स्थापित किया। इसके बाद सन् १९५९ में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना और उसमें नाट्य प्रदर्शनों की भाषा के रूप में हिन्दी की स्वीकृति ने भी हिन्दी नाटक को कई प्रकार से समृद्ध किया—शिक्षित हिन्दी भाषा अभिनेता तैयार करने की दृष्टि से, रंग शिल्पों के ज्ञान के प्रसार की दृष्टि से, नाटक को कलात्मक अभिव्यक्ति के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से, और इन सबसे अधिक हिन्दी के मौलिक तथा विश्व तथा भारत की अन्य भाषाओं के अनूदित श्रेष्ठ नाटकों के प्रदर्शन की दृष्टि से। हिन्दी नाटक के सामने इससे नयी संभावनाएँ भी खुलीं और एक नयी चुनौती भी सामने

आयी। इन दोनों ही बातों की कुछ न कुछ छाप १९५८ के आसपास के और परवर्ती हिन्दी नाटक साहित्य पर दिखाई पड़ती है।

किन्तु इसका सबसे विशिष्ट और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' (सन् १९५८) जो आधुनिक हिन्दी नाटक की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में गणनीय है। एक प्रकार से उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और जगदीशचन्द्र माथुर ने, विशेष कर जगदीशचन्द्र माथुर ने, नाटक में सहज स्वाभाविकता और नाटकीयता के, यथार्थपरकता और काव्यात्मकता के, जिस मिश्रण का सूत्रपात किया उसकी महत्त्वपूर्ण परिणति 'आषाढ़ का एक दिन' में हुई है। अवश्य ही 'अंधा युग' इसके पहले लिखा जा चुका था, पर उसका प्रभाव नाटक और रंगमंच पर बहुत कम पड़ा और पड़ा भी तो कुछ बाद में ही दृष्टिगोचर हुआ—अपने विशेष रूपबन्ध और शैली के कारण उसका इतना व्यापक होना सम्भव भी न था।

'आषाढ़ का एक दिन' की प्रत्यक्ष विषयवस्तु कवि कालिदास के जीवन से सम्बन्धित है। किन्तु मूलतः वह उसकी प्रसिद्ध होने के पहले की प्रेयसी मल्लिका का नाटक है—एक सीधी-सादी समर्पित लड़की की नियति का चित्र जो एक कवि से प्रेम ही नहीं करती, उसे महान् होते भी देखना चाहती है। महान् वह अवश्य बनता है, पर इसका मूल्य मल्लिका अपना सर्वस्व देकर चुकाती है। अन्त में कालिदास भी अधिक से अधिक उसे अपनी सहानुभूति ही दे पाता है और चुपके से छोड़कर चले जाने के अतिरिक्त उससे कुछ नहीं बन पड़ता। मल्लिका के लिए कालिदास उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के, जीवन के साथ एकाकार सुदूर स्वप्न की भाँति है; कालिदास के लिए मल्लिका उसके प्रेरणादायक परिवेश का एक अत्यन्त जीवप्त तत्त्व मात्र। अनन्यता और आत्मकेन्द्रिता की इस विसदृशता में पर्याप्त नाटकीयता है और मोहन राकेश जिस एकाग्रता, तीव्रता और गहराई के साथ उसे खोजने और व्यक्त करने में सफल हुए हैं वह हिन्दी नाटक के लिए सर्वथा अपरिचित है। इसके साथ ही समकालीन अनुभव के और भी कई आयाम इस नाटक में हैं जो उसे एकाधिक स्तर पर एक ओर रोचक बनाते हैं। उसका नाटकीय संघर्ष कला और प्रेम, सर्जनशील व्यक्ति और परिवेश, भावना और मर्म कलाकार और राज्य आदि कई स्तरों को छूता है। इस प्रकार के आयाम को बड़ी रोचक तीव्रता के साथ नाटक में प्रस्तुत किया गया है—लगभग एक पात्र के रूप में। मल्लिका और उसके परिवेश और उसकी परिणति में तो वह मौजूद है ही, स्वयं कालिदास भी उसके विघटनकारी रूप का अनुभव करता है। अपनी समस्त आत्मकेन्द्रिकता के बावजूद उसे लगता है कि अपने परिवेश से टूट कर वह स्वयं भी भीतर कहीं टूट गया है।

किन्तु, कालिदास शायद, इस नाटक का कमजोर अंश है। क्योंकि अन्ततः में उद्‌घाटित उसका व्यक्तित्व न तो किसी मूल्यवान और सार्थक स्तर पर स्थापित ही हो पाता है, न इतिहास प्रसिद्ध कवि कालिदास को, और इस प्रकार उसके माध्यम से समस्त भारतीय सर्जनात्मक प्रतिभा को कोई गहरा विश्वसनीय आयाम ही दे पाता है। नाटक में प्रस्तुत कालिदास बड़ा क्षुद्र और आत्मकेन्द्रित, बल्कि स्वार्थी व्यक्ति है, और साथ ही उसके व्यक्तित्व में कोई तत्त्व ऐसा नहीं दीख पड़ता जो उसकी महानता का, उसकी असाधारण सर्जनात्मक प्रतिभा का स्रोत समझा जा सके या उसका औचित्य सिद्ध कर सके। राज्य की ओर से सम्मान और निमन्त्रण पर वह 'नहीं नहीं' करता हुआ भी अन्त में उज्जैन चला जाता है। कश्मीर का शासक बनने

पर भी वह गाँव में आकर भी मल्लिका से मिलने नहीं आता, अन्त में मल्लिका के जीवन की उतनी करुण दुखद परिणति देख कर भी उसे छोड़ कर कायरतापूर्वक चुपचाप खिसक जाना सम्भव पाता है ये सभी उसके व्यक्तित्व के ऐसे पक्ष हैं जो उसको एक महान् मानव के रूप में ही सूचित करते हैं। निस्सन्देह, किसी महान् सर्जनात्मक व्यक्तित्व में महानता तथा नीचता के दो छोरों का अन्तर्गथित होना सम्भव है, किन्तु 'आषाढ़ का एक दिन' में उसका हीन रूप ही प्रगट हो सका है। महानता को छूने वाले सूत्र का छोर कहीं नहीं दीख पड़ता। लेखक उसके भीतर ऐसे तीव्र विरोधी तत्त्वों का कोई संघर्ष भी नहीं दिखा सका है, जो इस क्षुद्रता के साथ-साथ उसकी असाधारण सर्जनशीलता को विश्वसनीय बना सके। कालिदास की यह स्थिति नाटक को किसी हद तक भावुकतापूर्ण स्तर पर उतार देती है, और मल्लिका के जीवन की ट्रैजेडी को भी किसी गहराई के साथ व्यंजित नहीं होने देती।

नाट्य रूप की दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' सुगठित यर्थाथवादी नाटक है जिसमें बाह्य ब्यौरे की बातों से अधिक परिस्थिति के काव्य को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है और इस दृष्टि से शायद हिन्दी का यह पहला यर्थाथवादी नाटक है जो बाह्य और आन्तरिक यथार्थ को उनकी समन्विति में, उनके अन्तर्द्वन्द्व में, देखता और प्रस्तुत करता है। उसमें कार्य-व्यापार के संयोजन में गति पर्याप्त तीव्र ही नहीं है, उस तीव्रता के भीतर विविधता भी है; विभिन्न भावों और स्थितियों को, विभिन्न पात्रों को इस प्रकार आमने-सामने रक्खा गया है कि वे अपने आप में नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करते हैं और परवर्ती परिणति को भी यथासम्भव अनिवार्य और विश्वसनीय बनाते हैं। फिर भी तीसरे अंक में मल्लिका के स्वगत-भाषण और कालिदास के लम्बे एकालाप में गति का संयोजन ठीक नहीं रहता। बल्कि कालिदास का प्रवेश जितना नाटकीय है उसका परवर्ती भाषण उतना ही उद्घाटनमूलक होने के कारण तीव्रता को कम करता है। चरम-बिन्दु के इतने समीप पहुँच कर भाषण द्वारा स्थिति का उद्घाटन बहुत अच्छी नाटकीय युक्ति नहीं, विशेषकर जबकि बाकी नाटक में राकेश कार्य-व्यापार के द्वारा ही सफलतापूर्वक उद्घाटन करते रहे हैं। पर तीसरे अंक की यह दुर्बलता शीघ्र ही नियन्त्रण में आ जाती है और द्वार खटखटाया जाने के वाद से नाटक बड़ी दुर्दम्य और तीव्र गति से चरम परिणति की ओर अनिवार्यतापूर्वक चलता जाता है।

निस्सन्देह हिन्दी नाटक के परिप्रेक्ष्य में, और भाववस्तु और रूपबन्ध दोनों के स्तर पर, 'आषाढ़ का एक दिन' ऐसा पर्याप्त सघन, तीव्र और भावोद्दीप्त लेखन प्रस्तुत करता है जैसा हिन्दी नाटक में बहुत कम ही हुआ है। उसमें भाव और स्थिति की गहराई में जाने का प्रयास है और पूरा नाटक एक साथ कई स्तरों पर प्रभावकारी है। बिम्बों के बड़े प्रभावी नाटकीय प्रयोग के साथ-साथ उसमें शब्दों की अपूर्व मितव्ययिता भी है और भाषा में ऐसा नाटकीय काव्य है जो हिन्दी नाटकीय गद्य के लिए एकदम अभूतपूर्व है और अचानक ही हिन्दी नाटक का वयस्क होना सूचित करता है।

राकेश का अगला नाटक 'लहरों के राजहंस' (१९६३) कुछ अंशों में 'आषाढ़ का एक दिन' की उपलब्धियों को अधिक सक्षम और गहरा करता है, यद्यपि रूपबन्ध के स्तर पर, उसका तीसरा अंक अधिक दुर्बल है और पर्याप्त स्पष्टता और तीव्रता के साथ अभिव्यञ्जित नहीं होता। इसमें भी सुदूर अतीत के एक कथानक (सौन्दरानन्द) के आधार पर आज के मनुष्य की बेचैनी

और आन्तरिक संघर्ष सम्प्रेषित है। हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति का पथ स्वयं ही तलाश करना है। दूसरों के द्वारा खोजा गया पथ चाहे जितना श्रद्धास्पद हो (जैसा गौतम बुद्ध का) या चाहे जितना आकर्षक और मोहक हो (जैसा सुन्दरी का), किसी संवेदनशील व्यक्ति का समाधान नहीं कर सकता। इसीलिए नाटक में अन्त में नन्द न केवल बुद्ध द्वारा बलपूर्वक थोपा गया भिक्षुत्व अस्वीकार कर देता है, बल्कि सुन्दरी के आत्मसन्तुष्ट और छोटे वृत्त में आबद्ध किन्तु आकर्षक जीवन को भी त्याग कर चला जाता है। अपनी मुक्ति का मार्ग उसे स्वयं ही रचना होगा।

इस रचना में भी राकेश नाटक को दैनन्दिन निरर्थक क्रियाकलाप से उठाकर एक सार्थक अनुभूति और उसके भीतर किसी अर्थ की खोज के स्तर पर ले जा सके हैं। किन्तु इसकी विषयवस्तु पर्याप्त तीव्रता और स्पष्टता से अन्त तक स्थापित नहीं होती। पहला अंक सुन्दरी पर केन्द्रित जान पड़ता है, जिसमें नन्द एक लुब्ध-मुग्ध, किन्तु किसी हद तक संयमित और सन्तुलनयुक्त, पति मात्र लगता है। किन्तु दूसरे अंक से नाटक स्वयं उसके अन्तःसंघर्ष पर केन्द्रित होने लगता है, यद्यपि अभी इस संघर्ष की रूपरेखा अस्पष्ट है। तीसरे अंक में संघर्ष की आकृति तो स्पष्ट होने लगती है, पर वह किसी तीव्रता या गहराई का आयाम प्राप्त करने के बजाय अकस्मात ही नन्द और सुन्दरी के बीच एक प्रकार की ग़लत-फ़हमी में खो जाता है। दोनों एक-दूसरे के संघर्ष का, व्यक्तित्वों के विस्फोट का, सामना ही नहीं करते और नन्द बड़ी विचित्र-सी कायरता से चुपचाप घर छोड़कर चला जाता है। न केवल उसके इस पलायन की अनिवार्यता नाटक में नहीं है, बल्कि एक अन्य स्तर पर वह 'आषाढ़ के एक दिन' में कालिदास के भी इसी प्रकार भाग निकलने की याद दिलाता है। कुल मिलाकर तीनों अंक अलग-अलग से लगते हैं, जिनमें सामग्रिक अन्विति की रक्षा न हो पाने पर भी पहले और दूसरे अत्यन्त सावधानी से गठित और अपने आप में अत्यन्त कलापूर्ण हैं। विशेषकर दूसरे अंक में नन्द और सुन्दरी के बीच दो अलग-अलग स्तरों पर चलने वाले पारस्परिक आकर्षण और आन्तरिक उद्वेग और उसके तनाव को बड़ी सूक्ष्मता, संवेदनशीलता और कुशलता के साथ प्रतुस्त किया गया है।

इस नाटक में भी नाटकीय बिम्ब-योजनाओं का प्रयोग है पर वे सभी समान रूप से प्रभावकारी नहीं हैं। जहाँ घायल हिरन, व्याघ्र से युद्ध और दर्पण का टूटना जैसे बिम्ब भाव-वस्तु का एक नया आयाम प्रस्तुत करते हैं, वहीं राजहंसों का प्रसंग नाटकीय एकाग्रता को तोड़ता है। श्यामांग का प्रसंग भी अतिरंजित और अन्ततः अवान्तर बल्कि व्याघातकारी-जैसा जान पड़ने लगता है। उसके प्रलाप का अत्यधिक उपयोग गहरी नाटकीयता के बजाय भावुकता की सृष्टि करता है। हाल ही में मोहन राकेश ने इस नाटक को फिर से संशोधित करके लिखा है जिसमें रूपबन्ध सम्बन्धी दुर्बलताएँ बहुत कम हो गयी हैं।

छठी दशाब्दी में रंगमंचीय आन्दोलन के जिस उभार का उल्लेख किया गया उसने और भी कई सम्भावनापूर्ण नाटककारों को जन्म दिया। लक्ष्मी नारायण लाल ने अपना पहला नाटक 'अंधा कुआँ' सन् १९५५ में ही लिखा था। उसके बाद से वे न केवल निरन्तर नाटक लिखते रहे हैं बल्कि इलाहाबाद में एक नाट्य केन्द्र भी चलाते रहे जिसमें उन्होंने बहुत ही

सीमित साधनों से नाट्य प्रशिक्षण और प्रदर्शन दोनों का प्रयास किया। उनके नाटकों में साधारण जीवन के अनुभवों को किसी गहरे या महत्त्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास तो होता है पर आवश्यक कलात्मक संयम, नाटकीय एकाग्रता तथा संवेदनशीलता के अभाव में वे इधर-उधर बिखर जाते हैं। उनके 'मादा कैक्टस' (सन् १९५९) में चित्रकार अरविन्द के आत्मकेन्द्रित व्यक्तित्व के कारण आनन्दा क्षयग्रस्त हो जाती है, जैसे 'मादा कैक्टस' का पौधा सूख जाता है। दिलचस्प नाटकीय बिम्ब के बावजूद इस नाटक के मानसिक सूत्र तथा हेतु पर्याप्त और विश्वसनोय नहीं हो पाते और चरित्रों की परिकल्पना अनिश्चित और असंगत लगती है। 'तीन आँखों वाली मछली' (सन् १९६०) में एडवोकेट श्याम बिहारीदास को किसी ज्योतिषी ने बताया है कि एक महीने बाद उनकी मृत्यु होगी। निस्सन्देह इस स्थिति में मानवीय व्यवहार को उसकी समस्त संगतिहीनता, हास्यास्पद व्यर्थता और करुणा में प्रस्तुत करने की गुंजाइश है। परन्तु नाटक का कार्य-व्यापार क्षीण है उसमें तर्क संगति का अभाव है और वह किसी नाटकीय स्तर तक नहीं उठता। 'सूखा सरोवर' (सन् १९६०) छन्दबद्ध नाटक है जिसमें एक लोककथा के आधार पर आधुनिक संवेदना के सम्प्रेषण का प्रयास है, परन्तु इसमें न लोक कथा का वातावरण बनता है, न आधुनिक नाटक का। तीव्रता और छन्दलय में सहजता नहीं है।

प्रतीकात्मक नाटक 'तोता मैना' (सन् १९६२) कुछ अधिक दिलचस्प है। उसमें लोक-मंचीय रंगविधि में मुखौटे, सूत्रधार और नटी, सत्कर्म और प्रेरणा जैसे पात्र तथा संगीत एवं लयबद्ध संवाद—जैसे अयथार्थवादी व्यवहारों के द्वारा किसी नए नाट्य रूप की खोज का प्रयास है। किन्तु, रंगविधि दिलचस्प होने पर भी वह निरर्थक लगती है, क्योंकि कहीं पहुँचाती नहीं। ऐसा कथासूत्र तीव्र लाक्षणिकता के बिना रोचक या सार्थक नहीं हो सकता। नाटक में घटनाओं की बहुलता है, परन्तु उनके भीतर आन्तरिक अनिवार्यता और संगति नहीं है। इसी-लिए, किसी कलात्मक समग्रता के बजाय छिछली भावुकता उभर आती है। कोई भी मूल्य, भाव, अथवा पात्र अपनी पूर्णता अभिव्यक्त नहीं कर पाता। कुछ-कुछ स्थल सन्दर्भ से अलग बड़े नाटकीय और सफल हैं, विशेषकर प्रेतात्मा और राजा की भेंट का दृश्य। संगीत और नृत्य की योजना भी दिलचस्प है और उसमें रंगमंचीयता है, परन्तु कुल मिलाकर नाटक कोई तीव्र तथा सुस्पष्ट प्रभाव नहीं छोड़ता। भावात्मक एकता पर लिखे गए 'रक्त कमल' (सन् १९६२) में भी अयर्थाथवादी शैली और शिल्प का प्रयोग है, साथ ही, उसमें आज के जीवन की खण्डता को नए रूप में प्रस्तुत करने और गतानुगतिकता से बचने का प्रयास भी है। परन्तु रंगमंचीय जीवन्तता और मूल नाट्य संघर्ष की एकाग्रता और स्पष्टता के अभाव में वह भी सम्भावनापूर्ण एवं असफल रह जाता है।

रात रानी (सन् १९६२) में अपेक्षाकृत अधिक संयम है और नाट्य-व्यापार को अधिक सुस्पष्ट करने और उसे नाटकीय परिणति देने का प्रयास है। इसकी विषयवस्तु है अर्थ और आदर्श के बीच संघर्ष की पृष्ठभूमि में पति-पत्नी के परस्पर सम्बन्धों का विश्लेषण। इसके कथा-सूत्र में अपेक्षाकृत अधिक अन्विति, प्रवाह और आन्तरिक गति है। नाटकीय युक्तियों एवं रूढ़ियों का प्रयोग चमत्कार होने के बजाय अधिक संगत भी है। परन्तु नाटक का चरम विन्दु

उतना अनिवार्य, सहज और बहुमुखी नहीं है, जितना होना चाहिए था या जितनी प्रारम्भ में आशा होने लगती है। यह अंश नाटक के अन्य अंशों की अपेक्षा उतरा हुआ है और अधिक भावुकतापूर्ण होने के कारण किसी सार्थकता की उपलब्धि नहीं हो पाती।

लक्ष्मीनारायण लाल का सबसे सफल नाटक शायद 'दर्पन' (सन् १९६३) ही है, विशेषकर अपने नए संशोधित रूप (सन् १९६६) में। इसमें आत्मोपलब्धि के लिए व्याकुल एक नारी का करुणापूर्ण चित्र है जो सोचती है कि अपना नाम बदलकर अपने व्यक्तित्व के मूलभूत रूप से छुटकारा पा जाएगी, और जिस परिपूर्णता की उसे तलाश है, उसे पा सकेगी। नाटक का पूरा कार्य-व्यापार एक गहरी लाक्षणिकता और व्यंजना से युक्त है और अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक भी। नाटकीय बिम्बात्मकता के कारण सम्प्रेषण एक-से अधिक स्तरों पर होता है। नाटकीय व्यंजना (ड्रैमेटिक आयरनी) का उपयोग भी कई स्थलों पर प्रभावकारी है। परन्तु इसमें भी निवर्हण की असमानता है और बहुत-सी अतिरिक्त बातों और घटनाओं से लेखक पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सका है। ऐसा निरन्तर लगता है कि नाटककार को नाटकीय स्थिति का बोध तो है परन्तु उसका शिल्प उसके रूपायन के लिए अपर्याप्त है। बोध के अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण लाल में रंगमंच में गहरी दिलचस्पी के साथ-साथ निरन्तर परिष्कार करने की प्रवृत्ति और अटूट अध्यवसाय भी है। इसीलिए असम्भव नहीं कि वे अपनी भावुकता और सब कुछ कह डालने की प्रवृत्ति पर काबू पा सकें और उनके नाटकों में आवश्यक एकाग्रता आ जाय।

इस दृष्टि से उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और लक्ष्मीनारायण लाल की तुलना दिलचस्प है। अश्क के नाटक भी सम्भावनाओं के सूचक हैं, पर सतही अनुभव में उलझे रहने के कारण वे अधिकाधिक अप्रर्याप्त और अधूरे ही रह जाते हैं। लाल के नाटक अधूरे और अपर्याप्त तथा इसीलिए मूलतः असफल रहने पर भी, अनुभव की गहराई में जाने की तीव्र प्रवृत्ति के कारण प्रायः लगता है कि सम्भवतः अगली बार यह नाटककार उस क्षण की उपलब्धि कर सके जिसमें एक सार्थक अनुभूति को अनिवार्य अद्वितीय रूप और अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

रंगमंच के बढ़ते हुए आन्दोलन से प्रभावित एक अन्य नाटककार हैं विष्णु प्रभाकर। उन्होंने मौलिक नाटक 'डाक्टर' (सन् १९५८) के अतिरिक्त प्रेमचन्द के 'गबन' और 'गोदान' 'चंद्रहार और 'होरी' नाम से नाट्यान्तर किये हैं। हाल ही में प्रभातकुमार मुखोपाध्याय की बँगला कहानी 'देवी' का भी नाट्यान्तर उन्होंने किया है। 'डाक्टर' में अनीला नामक स्त्री का अन्तःसंघर्ष प्रस्तुत है जिसे उसका अफ़सर-इंजीनियर पति उसके अशिक्षित और अपने पद के अनुपयुक्त होने के कारण त्याग देता है। वह अपने परिश्रम से शिक्षा प्राप्त करके प्रसिद्ध डाक्टर बनती है और अपना निजी नर्सिंग होम खोलती है, जहाँ अनजान ही उसका पति अपनी दूसरी पत्नी को आपरेशन के लिए लाता है। अनीला उसे पहचान जाती है और पहले तो आपरेशन करना नहीं चाहती, फिर प्रतिहिंसावश उसे मार डालने का विचार करती है, और अन्त में अपनी आन्तरिक कर्तव्य प्रेरणा से परिचालित होकर सफलतापूर्वक आपरेशन करके उसे बचा लेती है। स्थिति में निस्सन्देह पर्याप्त नाटकीय कार्य-व्यापार की सम्भावना है, और किसी हद तक विष्णु जी इसमें सफल भी हुए हैं। पर नाटक में भाववस्तु की एकाग्रता नहीं है। कुछ विसदृशता के लिए, कुछ तथाकथित वातावरण के निर्माण के लिए और कुछ शायद कार्य-व्यापार को लम्बा करने के लिए

अतिरिक्त चरित्र और संवाद तो रक्खे गये हैं, किंतु मूल कार्य-व्यापार और अनीला के अंतः-संघर्ष को ही विभिन्न स्तरों या पक्षों से प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। इसीलिए नीरू, रामू और काकी तीनों ही अतिरिक्त या अतिरंजित पात्र लगते हैं। दादा के व्यवहार में भी पर्याप्त तर्क-संगति नहीं है। स्वयं अनीला का संघर्ष किसी गहरे स्तर तक नहीं जाता। नाटक में 'अंतर' की आवाज का प्रयोग भी उसके यथार्थवादी शिल्प और वातावरण में आरोपित और फ़िल्मी लगता है। कुछ मिलाकर समग्र प्रभाव किसी तीव्र या सशक्त नाटकीय अनुभूति का नहीं पड़ता और लेखक में नाटकीय कल्पनाशीलता की क्षीणता खटकती है। विष्णु जी की भाषा में भी नाटकीय तनाव और तीव्रता का अभाव है, वह आवश्यकता से अधिक अभिधाप्रधान है और उसमें भावसघनता की कमी है। उनके नाट्यान्तरों में उनकी दृष्टि और शिल्प की ये दुर्बलताएँ और भी तीव्र हो जाती हैं। 'होरी' में स्थितियों और संवादों को मूल उपन्यास के यथावत् रखने के प्रयास में नाटक का रूपबन्ध शिथिल और एकाग्रताहीन हो गया है। 'देवी' में कार्य-व्यापार की गति किसी क्रमिक तीव्रता में से चरमबिन्दु की ओर नहीं जाती और अन्त ठीक अपने विस्फोटक रूप में स्थापित नहीं हो पाता। भाषा की अपर्याप्तता 'देवी' में सबसे अधिक खटकती है।

अन्य नाटककारों और नाटकों में कुछेक नाम और भी लिये जा सकते हैं। जैसे विनोद रस्तोगी का 'नये हाथ' (सन् १९५८), जिसके अनामिका द्वारा प्रदर्शन को संगीत नाटक अकादेमी की प्रदर्शन प्रतियोगिता में पुरस्कार मिला, एक रोचक कामदी नाटक शिथिल रूपबन्ध के बावजूद समाज के बदलते हुए मूल्यों को प्रस्तुत करता है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'न्याय की रात' (सन् १९५८) सर्वव्यापी भ्रष्टाचार का चित्र प्रस्तुत करता है, पर उसका निर्वहण सतही तथा रहस्यात्मक और अन्त आदर्शवादी तथा कृत्रिम हो जाने के कारण कोई गहरा मानवीय प्रभाव नहीं छोड़ता। सन्तोष नारायण नौटियाल का 'चाय पार्टियाँ' (सन् १९६३) आधुनिक शहरी जीवन की कृत्रिमता और ढोंग को उघाड़ता है, जो रोचक अधिक है यथार्थ का गहरा या चुटीला उद्घाटन कम। नरेश मेहता के दो नाटक 'सुबह के घंटे' (सन् १९५६) और 'खंडित यात्राएँ (सन् १९६२) सम्भावनाओं और कुछेक तीव्रतापूर्ण नाट्य-स्थलों के बावजूद उनके प्रारम्भिक लेखन की अराजकताओं और अनियन्त्रित कल्पनाशीलता के कारण, कोई उल्लेखनीय सार्थकता नहीं प्राप्त करते। 'खंडित यात्राएँ' में एक बीतती हुई पीढ़ी की हास्यास्पदता और करुणा की हल्की-सी पहचान अवश्य है, पर मूलतः उसका कोई सार्थक नाटकीय प्रक्षेपण नहीं हो सका है। फलस्वरूप, और लेखक की कृत्रिम अनाटकीय भाषा के कारण भी, वह एक निरर्थक और अतिरिक्त भावुकता के आवेश में खो जाता है। मन्नू भण्डारी के 'बिना दीवारों का घर' (सन् १९६५) में एक पढ़ी-लिखी पत्नी की बढ़ती हुई लोकप्रियता और प्रमुखता से पति की ईर्ष्या, खीझ और अन्ततः पत्नी के गृहत्याग का बड़ा आत्मीयतापूर्ण प्रस्तुतीकरण है। यदि उसके निर्वहण में नाटकीय संयोजन और अन्त में विस्फोटक तत्त्व कुछ और अधिक होता तो वह निस्सन्देह बहुत-ही महत्वपूर्ण कृति बन जाता।

इनके अतिरिक्त चीनी आक्रमण की पृष्ठभूमि पर लिखा गया शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियाँ गूँजती हैं' (सन् १९६५), भावात्मक एकता के लिए कृष्णकिशोर श्रीवास्तव का 'नींव की दरारें'

(सन् १९६३), चिरंजीत के 'तस्वीर उसकी' (सन् १९६४) और 'अभिमन्यु चक्रव्यूह में' (सन् १९६४), रेवतीशरण शर्मा के 'चिराग की लौ' (सन् १९६०), 'रंग और खून' (सन् १९६२), 'अपनी धरती' (सन् १९६३) और 'टूटे सपने' (सन् १९६४), विमला रैना के 'खंडहर', 'तीन युग' (सन् १९५८), 'सबेरा' (सन् १९५९), ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'नेफ़ा की एक शाम' आदि में भाववस्तु इतने सरलीकृत और सतही रूप में प्रस्तुत है कि उनकी कलात्मक उपलब्धि नहीं के बराबर है; और यद्यपि इनमें से अधिकांश का रंगमंच पर प्रदर्शन हो चुका है, उनमें रूपबन्ध प्रायः शिथिल और स्थितियों तथा चरित्रों की परिकल्पना प्रायः फ़िल्मी ढंग की भावुकता या आदर्शवादिता से आक्रान्त है। अपनी कलात्मक सार्थकता में वे रमेश मेहता के सरलीकृत प्रहसनों से, जो सभी रंगमंच पर साधारण दर्शक वर्ग में सदा बड़े सफल होते हैं, अधिक या मूलतः भिन्न नहीं हैं। उनसे न तो नाट्य साहित्य के स्तर में कोई वृद्धि होती है न रंगमंच के। वे उन बहुसंख्यक रोचक या भावुकतापूर्ण कहानियों और उपन्यासों की भाँति हैं जिनका कोई कलात्मक या सर्जनात्मक महत्त्व नहीं होता।

विभिन्न नाटककारों के सम्पूर्ण कृतित्व के अथवा स्वतन्त्र नाटकों के इस विश्लेषण के सन्दर्भ में यदि पिछले तीस-पैंतीस वर्षों के नाटक साहित्य पर समग्रतः विचार करें तो इस निष्कर्ष से कोई छुटकारा नहीं कि जहाँ पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलात्मक हीनता के घेरे को तोड़ कर उल्लेखनीय सर्जनात्मक स्तर प्राप्त करने की दिशा में क़दम बढ़ाया है, वहीं अभी तक परिमाण और स्तर दोनों ही दृष्टियों से वह बहुत ही अपर्याप्त है। अधिकांश नाटक लेखन अब भी सतही सामाजिकता अथवा उद्देश्यपरकता के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहता है, गहरी या मूलभूत मानवीय अनुभूतियों या स्थितियों का अन्वेषण नहीं करता। दूसरी ओर, उसमें नाटक के लिए आवश्यक समकालीन की बहुत कमी है। 'अंधा युग', 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'कोणार्क', 'शारदीया' जैसे सार्थक नाटक आधुनिक संवेदना और भाववस्तु को प्रस्तुत करते हुए भी बिना अपवाद के किसी न किसी दूरवर्ती युग में प्रक्षेपित हैं। रूप में समकालीन स्थितियों, व्यक्तियों और परिवेश से अलगाव समस्त कलात्मकता के बावजूद उनकी सम्प्रेषणीयता को सीमित करता है। नाटक का मुख्यतः और अधिकांशतः न केवल भाववस्तु में, बल्कि उस भाववस्तु के परिवेश में, उसके रूपायन में, समकालीन होना बहुत आवश्यक है। इसके अभाव में वह अपने मुख्य सम्प्रेषण माध्यम रंगमंच से सही सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता। अब तक हिन्दी नाटक व्यापकतम समकालीन सामाजिक परिवेश और उसके भीतर जीने वाले अधिकाधिक व्यक्तियों और उनकी बहुविध जीवन स्थितियों को गहराई से नहीं प्रस्तुत करता, तब तक वह सजीव सक्रिय कला विधा के रूप में समर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि तब तक वह न तो किसी सशक्त रंगमंच का निर्माण कर सकता है, न मौजूदा रंगमंच को पुष्ट कर सकता है, जिसके बिना नाटक की कोई गति नहीं।

वर्तमान हिन्दी नाटक की इसी अपर्याप्तता का एक अन्य रूप है उसमें हास्य का अभाव। सार्थक और कलात्मक कामदी या सुखान्त नाटक हिन्दी में नहीं के बराबर हैं। उनके बिना भी नाटक का रंगमंच के साथ अविच्छिन्न सजीव सम्बन्ध जुड़ना बड़ा दुष्कर है जो अन्ततः स्वयं नाटक लेखन की प्रगति में बाधक बन जाता है। कुल मिलाकर अभी तक हिन्दी

नाटकों में विषयवस्तु और परिवेश की, स्थितियों और व्यक्तियों की, रूप और शिल्प की विविधता नहीं है और वे विभिन्न स्तरों, रुचियों और साधनों वाली नाट्य मण्डलियों और दर्शक वर्ग के लिए पर्याप्त नहीं सिद्ध होते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस दिशा में कुछ प्रगति हुए बिना हिन्दी नाटक पूरी तरह अपने स्वाभाविक कलात्मक रूप में प्रतिष्ठित न हो सकेगा।

हिन्दी नाटक की एक अन्य बुनियादी समस्या रही है भाषा। हिन्दी-उर्दू के झगड़े और द्विवेदी तथा छायावादी युगों की भावहीन अथवा कृत्रिम भाषा ने तथाकथित साहित्यिक और बोलचाल की भाषा के बीच जो दूरी पैदा की उसका सबसे घातक प्रभाव नाटक पर ही पड़ा। लोकप्रिय पारसी शैली के नाटकों की सौष्ठवहीन और फूहड़ भाषा से प्रतिक्रिया ने भी नाटकीय भाषा के सही विकास को रोके रक्खा। प्रसादोत्तर, विशेषकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, नाटक की एक बड़ी उपलब्धि है नाटकीय भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण प्रगति। इस दौर में उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश आदि नाटककार धीरे-धीरे ऐसी भाषा को रूप देने में समर्थ हुए हैं जो काव्यात्मक, अभिव्यंजनापूर्ण और शैलीनिष्ठ होकर भी बोलचाल के रूप और ढंग के समीप है। हिन्दी नाटककार अब भाषा के मामले में पहले जैसा असहाय नहीं रह गया है, यद्यपि भाषा की इस सक्षमता को अभी और बहुत-से स्तरों तक, अनुभूति के बेशुमार रूपों और पक्षों तक, व्यापक करने की आवश्यकता है।

वास्तव में हिन्दी नाटक के विकास का सबसे आशाप्रद तत्त्व है हिन्दी क्षेत्र में रंगमंचीय गतिविधि का व्यापक प्रसार और लगभग हर शहर में नयी-नयी मण्डलियों का उदय। इन मण्डलियों को निरन्तर हर सम्भव विषय पर, वैयक्तिक और सामाजिक अनुभव के हर सम्भव स्तर पर, नये-नये नाटक चाहिये। साथ ही हिन्दी क्षेत्र में भी निर्देशक का उदय, अभिनेताओं में प्रशिक्षण और कलात्मक अभिरुचि का प्रसार और स्वयं नाटककारों का रंगमंच से बढ़ता हुआ सम्बन्ध, आदि तत्व ऐसी परिस्थितियों के सूचक हैं, जो हिन्दी नाटक में आसन्न नव-जागरण की सम्भावना प्रस्तुत करती हैं।

रंगमंच पर संवेदनशील सूक्ष्म और सार्थक नाटक प्रस्तुत करने की इस आवश्यकता ने ही पिछले दिनों विभिन्न भारतीय भाषाओं से तथा अँग्रेज़ी से नाटकों के अनुवादों या रूपान्तरों को बहुत प्रेरणा दी है। इनमें बँगला से रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कई नाटकों के एकाधिक अनुवादों के अतिरिक्त शम्भु मित्र एवं अमित मैत्र का 'कांचनरंग', धनंजय वैरागी का 'रजनीगंधा', कन्नड़ से आद्य रंगाचार्य का 'सुनो जनमेजय', तेलुगु से पी० वी० राजमन्नार का 'मनोरमा', मलयालम से तोप्पिल भासी के 'पूंजी' और 'उत्थान', गुजराती से कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के अतिरिक्त शिवकुमार जोशी का 'सुवर्ण रेखा', मराठी से मामा वरेरकर के दस-बारह नाटकों के अतिरिक्त बसन्त कानेटकर के 'धूप के साये में', 'ढाई आखर प्रेम का' और 'जाग उठा है रायगढ़', विजय तेंडुलकर का 'अमीर', पुरुषोत्तम लक्ष्मण देशपांडे का 'कस्तूरी मृग', पंजाबी से परितोष गार्गी के 'छलावा', 'मोहिनी' इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों के कलात्मक स्तर की असमानता के बावजूद उनसे निस्सन्देह हिन्दी नाटक लेखन और रंगमंच को दृष्टि और शैली की विविधता और खुलेपन की प्रेरणा मिली है। इस बीच बहुत से पुराने और आधुनिक पश्चिमी नाटकों के भी अनुवाद और रूपान्तर हुए हैं जिनमें शेक्सपियर के 'मैकबैथ' और

'ग्रॉथेलो' के हरिवंशराय बच्चन द्वारा ग्रौर 'हैमलेट' का ग्रमृतराय द्वारा ग्रनुवाद ग्रपनी बेशुमार ग्रपर्याप्तताग्रों के बावजूद उल्लेखनीय है। इनके ग्रतिरिक्त मोलियर, इब्सन, चेखब, बर्नार्ड शॉ के नाटकों के ग्रनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं; पर ग्रधिकांश के ग्रनुवादक ऐसे लोग हैं जिनका रंगमंच से सम्बन्ध नहीं के बराबर है। फलतः ग्रनुवाद शाब्दिक, सतही ग्रौर इसीलिए प्रायः बेकार है। किन्तु बहुत से ग्रनुवाद ग्रौर रूपान्तर ऐसे भी हैं जो ग्रप्रकाशित होने पर भी देश के विभिन्न नगरों में विभिन्न मंडलियों द्वारा ग्रभिनीत होते रहे हैं। उनमें से कई एक बड़े संवेदनशील ग्रौर सफल हैं ग्रौर प्रकाशित होने पर हिन्दी के नाट्य-साहित्य के भाण्डार को समृद्ध करेंगे।

इसी प्रकार इस बीच जैसे-जैसे संस्कृत नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति ग्रौर इच्छा बढ़ी है, वैसे ही वैसे विभिन्न संस्कृत नाटकों के भावानुवादों या टीकामूलक ग्रथवा शब्दार्थपरक ग्रनुवादों की बजाय उनके कलात्मक ग्रनुवाद या रूपान्तर किए गये हैं जिनमें से कुछेक प्रकाशित भी हुए हैं।

इस प्रकार इस नये दौर में हिन्दी नाटक को एक ग्रोर क्रमशः महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक साहित्य का दर्जा प्राप्त हुग्रा है, दूसरी ग्रोर साहित्य से प्रायः स्वतन्त्र विधा के रूप में, ग्रालेख के ग्रतिरिक्त ग्रभिनय चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य ग्रादि कलाग्रों के संयुक्त ग्रभिव्यक्ति माध्यम के रूप में, स्वीकृति बढ़ी है। यह बात भी ग्रब पहले से ग्रधिक सुनी, समझी ग्रौर मानी जाने लगी है कि नाटक एक जटिल, मिश्रित ग्रौर संश्लिष्ट माध्यम है जो ग्रपनी सर्जन ग्रौर सम्प्रेषण की प्रक्रिया में, ग्रौर साथ ही दर्शक वर्ग द्वारा ग्रहण, ग्रास्वाद ग्रौर उपभोग की प्रक्रिया में, ग्रन्य माध्यमों से भिन्न है ग्रौर इसलिए उसका शीघ्र से शीघ्र साहित्य की छत्रछाया से मुक्त होना ग्रावश्यक है। नाटक रचना लिखित शब्द की ग्रन्य विधाग्रों की भाँति स्वायत्त ग्रौर स्वतः संपूर्ण नहीं है, वह ग्रविच्छिन्न रूप से रंगमंच के किसी न किसी, पर मुख्यतः तत्कालीन स्वीकृत-प्रचलित, रूप के साथ, उसकी तत्कालीन विकास-स्थिति, रूढ़ियाँ ग्रौर व्यवहारों के साथ, जुड़ी हुई है—यह बात हिन्दी की शैक्षिक साहित्य समालोचना को रूढ़ ग्रौर जड़ दृष्टि के बावजूद, क्रमशः ग्रधिकाधिक नाटककारों ग्रौर साधारण नाटक-प्रेमियों ग्रौर रंगकर्मियों के सामने स्पष्टतर होती गयी है जिसने नाटक रचना को निर्जीव सिद्धान्तों ग्रौर मान्यताग्रों की जकड़ से मुक्त कर दिया है। वास्तव में हिन्दी नाटक के ग्रवरुद्ध विकास का एक कारण हिन्दी के नाट्यालोचन में स्पष्टता ग्रौर निश्चित चिन्तन का घोर ग्रभाव भी रहा है। हिन्दी नाट्य समालोचना संस्कृत नाट्यशास्त्र ग्रथवा पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों की यान्त्रिक पुनरावृत्ति में लगी रही। उसे हिन्दी नाटक को रंगमंच की किसी सजीव परम्परा से सम्बद्ध करके देखने का ग्रवसर नहीं मिला। पिछले दिनों में इस स्थिति में भी पर्याप्त परिवर्तन हुग्रा है ग्रौर नाट्य समालोचना साहित्य समालोचना से स्वतन्त्र होकर ग्रपनी विशिष्ट ग्रावश्यकताग्रों, मान्यताग्रों ग्रौर कसौटियों के ग्रनुसंधान की दिशा में उन्मुख हो सकी है। हिन्दी रंगमंच की बहुमुखी प्रगति ग्रौर हिन्दी नाट्य समालोचना के स्वतन्त्र विकास से भी ग्राने वाले वर्षों में हिन्दी नाटक को ग्रपने सही रूप का ग्रन्वेषण करने में सहायता मिलेगी ग्रौर वह समकालीन सार्थक ग्रनुभूति को ग्रधिक प्रामाणिकता ग्रौर तीव्रता के साथ ग्रभिव्यक्त करने में सक्षम हो सकेगा, यह बात ग्रब ग्रधिक विश्वास के साथ कही जा सकती है।

हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास

एकांकी, एक अंक की नाटकीय रचना है। एक अंक का बन्धन, इस साहित्यिक रूप को, बड़े नाटकों से, जो अनेकांकी होते हैं, अलग करता है, और इसका नाटकीय संविधान, कहानी, निबन्ध, सूचनिका आदि विधाओं से इसकी पृथकता स्थापित करता है। एक अंक की सीमा को स्वीकार करके यह साहित्यिक विधा, इस जगत के जीवन प्रवाह की किसी एक धारा, मानव चरित्र की किसी एक विशेषता, एक उत्तेजक प्रसंग, एक मर्मस्पर्शी घटना अथवा एक जीवन्त क्षण की चित्रावली प्रस्तुत करती है। एकांकी, इस प्रकार, जीवन का व्यापक नहीं वरन् सीमित और अपेक्षाकृत पूर्ण होते हुए भी खंड चित्र है। उसका नाटकीय संविधान, उसके संवादात्मक स्वरूप के साथ-साथ, उसमें घटनाक्रम के द्रुतगतिक परिवर्तनशील प्रवाह की प्रतिष्ठा करता है। एकांकी को इस प्रकार हम, जीवन के किसी एक पक्ष का, अपने में पूर्ण जगत के द्रुतगतिक प्रवाह का, सम्भाषण के संविधान में अभिनेय चित्रण कह सकते हैं। इस संविधान में एकांकी की कथावस्तु का स्वरूप, बड़ा सीमित, एक विशिष्ट घटना से आबद्ध होता है; चरित्र-चित्रण में थोड़े से चरित्रों की ही अवतारणा तथा उनके भी एक-आध पक्षों का ही उद्घाटन होता है, संवाद योजना में 'अर्थ बहुत अरु आखर थोरे' के आदर्श का उपयोग किया जाता है; देशकाल का संश्लेषण, संकलित होता है अथवा प्रभावान्वित; रचना शैली में यथार्थवाद, स्वच्छन्दतावाद, अभिव्यञ्जनावाद आदि में से किसी का भी प्रयोग किया जा सकता है; और उसका उद्देश्य जीवन का खंड चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ, हमारी अनुभूति के क्षेत्र का प्रसाद, मनोरञ्जन, अन्तःसंस्कार, लोक मंगल की व्यवस्था आदि कोई भी हो सकता है।

एकांकी, अपने इस निश्चित संविधान को लेकर, एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा के रूप में, विश्व साहित्य में आधुनिक काल में ही प्रतिष्ठित हुआ है; किन्तु उससे पर्याप्त समान अनेक नाटकीय रूप, देश विदेश के साहित्यों में पूर्वकालों में भी मिल जाते हैं। पाश्चात्य साहित्य में में भी, जहाँ आधुनिक काल में एकांकी स्वरूप का उद्भव हुआ है, इस साहित्यिक विधा की परम्परा रहस्यांकियों (मिस्ट्रीज़), आचारांकियों (मॉरैलिटीज़), प्रासंगिकाओं (इंटर्ल्यूड्स) आदि से आरम्भ होती हुई मानी जाने लगी है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में भी प्राचीन काल से ही, रूपक और उपरूपक दोनों नाटकीय विधाओं में अनेक एकांकी प्रकार मिलते हैं। रूपक में नाट्य तत्त्व की प्रधानता होती है; और उसके दस नाटकीय प्रकारों में पाँच—व्यायोग, उत्सृष्टांक, प्रहसन, भाण और वीथी—एकांकी हैं। उपरूपकों में नृत्य और संगीत का प्राधान्य होता है; और उसके अठारह भेदों में दस—रासक, नाट्य रासक, हल्लीस, उल्लाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका, गोष्ठी, भाणिका और प्रेङ्खण एक ही अंक के हैं। संस्कृत में, एकांकी संविधान के इन सभी प्रकारों के उदाहरण मिल जाते हैं, और आधुनिक काल के आरम्भ में, हिन्दी नाटक के अभ्युदय की वेला में, भारतेन्दु एवं उनके समकालीन अन्य लेखकों ने, उन्हीं के अनुकरण में

अनेक एक अंक की नाटकीय रचनाएँ प्रस्तुत कीं। हिन्दी की इन प्रारम्भिक एकांकी रचनाओं पर, बंगला के माध्यम से, पश्चिम के रहस्यांकियों, आचारांकियों, प्रासंगिकाओं आदि का भी कुछ प्रभाव है। इसी प्रकार, इन रचनाओं पर भारतीय लोक नाट्य के एकांकी प्रयोगों की भी छाया है। किन्तु पश्चिम के आधुनिक एकांकी और हिन्दी की भी आज की इस विधा की रचनाएँ, पश्चिम अथवा पूर्व की पुरानी साहित्यिक या लोक नाट्य की कृतियों की सन्तान नहीं हैं। आज एकांकी एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा के रूप में स्वीकृत है। नाटक से उसकी अपनी पृथक् परिभाषा है, अपना अलग संविधान, अपना मौलिक रचना शिल्प। हिन्दी में इस साहित्यिक विधा की प्रतिष्ठा पाश्चात्य प्रयोगों की प्रेरणा से ही हुई है। फिर भी हिन्दी एकांकी के उद्भव और विकास की कथा तो हिन्दी के आदिम एवं मध्ययुगीन एक अंकीय नाटकीय प्रयोगों से ही आरम्भ होगी; और यह पूर्णतः उस विचार परम्परा के अनुरूप होगा, जिसके आधार पर पाश्चात्य आलोचक, पश्चिम के एकांकियों का इतिवृत्त रहस्यांकियों, आचारांकियों आदि से प्रारम्भ करते हैं।

हिन्दी में एक अंक के संविधान की नाटकीय रचनाओं का क्रम, तेरहवीं शताब्दी में राजस्थान में राजाश्रय में रहने वाले जैनाचार्यों के लघु रास ग्रन्थों से मान सकते हैं। लघु रास ग्रन्थों का विन्यास जो पाठ्य काव्य जैसा है, किन्तु अनुसन्धान से ज्ञात हुआ है कि उनके नाटकीय प्रदर्शन भी हुआ करते थे, इसलिए एकांकी का अभिनीत स्वरूप, उन्हीं से आरम्भ होता हुआ स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार के रास ग्रन्थों में 'गयसुकुमार रास', 'भरतेश्वर-बाहुबली रास', 'लकुट रास', 'ताल रास' आदि उल्लेखनीय हैं। इन मूलतः पाठ्य-काव्यों, किन्तु नाटकीय रूप में अभिनीत रास ग्रन्थों के अनन्तर, मध्ययुग में वृन्दावन में स्थापित विभिन्न कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों द्वारा एकांकी अभिनयों के उदाहरण उपस्थित किये गये। वल्लभ-सम्प्रदाय के नन्ददास जी ने सर्वप्रथम 'गोवर्धन लीला' का निर्माण करके लीला नाटकों अथवा एकांकियों की परम्परा चलायी। उनके बाद राधावल्लभी सम्प्रदाय के ध्रुवदास जी ने 'बयालीस-लीला' लिखी, जिसमें कृष्ण के ललित जीवन की अनेक क्रीड़ाओं को नाटकीय रूप प्रदान किया गया। इसी परम्परा में चाचा वृन्दावनदास जी ने चालीस लीलाएँ लिखीं। कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित इन अभिनेय काव्यों को देखकर अन्य ईश्वरावतारों एवं लौकिक महापुरुषों को लेकर भी लीला नाटक लिखे जाने लगे, 'नरसिंह लीला', 'भगीरथ लीला', 'प्रह्लाद लीला' आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। राम भक्तों ने भी अपने इष्टदेव के चरित्र को लेकर अनेक लीला ग्रन्थों का निर्माण किया। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक एवं मध्ययुगों के इन एकांकी प्रयोगों के अतिरिक्त लोक मंच पर भी कुछ इसी कोटि की कृतियाँ उपस्थित की जाती रहीं। इन सभी प्रयासों को, उनके नाटकीय संविधान में जीवन के किसी एक पक्ष का उद्घाटन होने के कारण, एकांकी स्वीकार करना अनुपयुक्त नहीं है।

हिन्दी साहित्य के आदि तथा मध्ययुगों के ये सभी एकांकी प्रयोग कुछ ऐसे वातावरण में हुए थे, जब नाट्याभिनय के लिए विशेष अवकाश नहीं था; तथा राज्य की ओर से भी इस प्रकार के प्रदर्शनों का निषेध था। आधुनिककाल के आरम्भ में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के संस्पर्श ने हमें बड़ी ज़ोर से झकझोर कर मध्यकाल की मोह-निद्रा से जगा दिया और

हम नवीन विचारों एवं जीवन के नूतन आदर्शों के ग्रहण की ओर गतिशील हो उठे। अँग्रेज़ी साहित्य और उसके माध्यम से अन्य यूरोपीय देशों के नाट्य साहित्य से परिचय प्राप्त कर, हमारे मन में नयी दिशा और नये क्षेत्रों की ओर अग्रसर होने की तीव्र आकांक्षा उठी। नवीन के प्रति इस आकर्षण के साथ, इस काल में, प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का पुनरुत्थान भी हुआ, और संस्कृति की अनेक नाटकीय रचनाएँ एवं नाट्यशास्त्र के ग्रन्थ, बड़ी रुचि से पढ़े गये, अनुवादित हुए एवं गृहीत रूप से सम्मुख आये। भारतीय और यूरोपीय नाट्य साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन को लेकर हिन्दी नाट्य कला का अभ्युदय हुआ; और बड़ी नाटकीय कृतियों के साथ कुछ एकांकी रचनाएँ भी प्रकाश में आईं।

आधुनिक काल में हिन्दी नाटकों के निर्माण का क्रम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आरम्भ होता है। भारतेन्दु जी ने अनेक एकांकी रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। इनकी कुछ एकांकी रचनाएँ संस्कृत तथा बँगला से अनूदित हैं; कुछ में संस्कृत की शास्त्रीय तथा बँगला की भावुकता पूर्ण नाट्य पद्धतियों का समन्वित प्रयोग है; तथा कुछ में उनकी मौलिक नाट्य प्रतिभा की अभिव्यञ्जना है। संस्कृत से अनूदित कांचन पंडित का 'धनञ्जय विजय' व्यायोग है। 'भारत-जननी', ऑधरा अर्थात् गीति नाट्य, बँगला के रूपक 'भारतमाता' का ग्रहण है। भारतेन्दु ने इस रूपांतरण में, पश्चिम को गीतिनाट्य शैली के साथ, सद् और असद् भावों के मानवीकरण की पाश्चात्य आचारांकियों की भी शैली अपनाई है। उन्होंने ये दोनों प्रभाव बँगला के माध्यम से ग्रहण किये हैं। मौलिक रचनाओं में 'भारत दुर्दशा' में संस्कृत के नाट्य रासक का संविधान है। सद् और असद् वृत्तियों के मानवीकरण की पाश्चात्य नाट्य पद्धति का उपयोग इसमें भी है। पाश्चात्य प्रभाव सबसे अधिक इसके दुखान्तकी स्वरूप पर है। भारतेन्दु के राजनीतिक एकांकियों में 'विषस्य विषमौषधम्, भाण है; और अपने इस स्वरूप में, आकाश-भाषित संवादों से समन्वित, भारतीय पद्धति का, हिन्दी का पहला स्वोक्ति एकांकी है। 'अँधेर-नगरी', जिसमें किसी राज्य की मूर्खतापूर्ण व्यवस्था का मज़ाक बनाया गया है, छः दृश्यों का प्रहसन है। दूसरे नाटकीय विधा का प्रयोग, सामाजिक दुर्बलताओं का चित्रण करते हुए 'वैदिकी-हिंसा हिंसा न भवति' में भी है। 'नीलदेवी' एक ऐतिहासिक प्रसंग को लेकर, पाश्चात्य दुखान्तकी प्रणाली की रचना है। उसका वाह्य विधान भी गीतिनाट्य पद्धति का है। दस दृश्य में विभाजित होतें हुए भी, कथा के संक्षिप्त स्वरूप और सीमित विस्तार के कारण, इसे एकांकी ही कहना चाहिए। भारतेन्दु ने कथा-बद्ध इन एकांकी रचनाओं के अतिरिक्त कुछ विचारात्मक एक अंकीय नाटकीय कृतियाँ भी प्रस्तुत कीं : 'सबै जाति गोपाल की', 'ज्ञान-विवेकिनी सभा' और 'बसन्त पूजा'—इन सभी में व्यंग समन्वित हास्य की अवतारणा है।

भारतेन्दु की इन एकांकी रचनाओं से प्रेरणा लेकर, उनके कुछ समकालीन लेखकों ने भी इस दिशा में प्रयोग किये। बालकृष्ण भट्ट (सन् १८४४-१९१४ ई०) ने 'शिक्षा दान', 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल' और 'बाल विवाह', पाँच एकांकी कृतियाँ प्रस्तुत कीं। इन सभी की वाह्य व्यवस्था तो संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुरूप है; किन्तु अन्तर्धारा में रस निष्पत्ति के स्थान पर लोक परिष्कार की भावना है। राधाचरण गोस्वामी (सन् १८५८-१९२५ ई०) ने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक, सभी प्रकार के इतिवृत्त

लिये। 'सती चन्द्रावली' (सन् १८९८) एवं 'श्रीदामा' (सन् १९०४), 'अमर सिंह राठौर' (सन्१८९४),'बूढ़े मुँहमुहाँसे' (सन् १८८७), 'तन मन धन गुसाईं जी के अर्पण' (सन् १८९९) और 'भंग तरंग' (सन् १८९२)। सामाजिक एकांकी सभी प्रहसन हैं; ऐतिहासिक एकांकी 'अमरसिंह राठौड़' वैतालिक के गान से आरम्भ होकर स्वच्छन्द विधान का है; और दोनों की पौराणिक रचनाएँ संस्कृत नाट्य पद्धति में हैं। प्रताप नारायण मिश्र (सन् १८५६-९५) की एकांकी रचनाएँ 'प्रेम पुष्पावली', 'भारत दुर्दशा' 'मन की लहर', 'श्रृंगार विलास' और 'कलि कौतुक रूपक' हैं: अन्तिम सबसे सशक्त रचना है और उसमें समाज के उच्चवर्ग के लोगों का सम्पूर्ण मन से मज़ाक बनाया गया है। भारतेन्दु युग के एकांकीकारों में, इनके अतिरिक्त किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन त्रिपाठी, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', काशीनाथ खत्री, कार्तिक प्रसाद खत्री आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

भारतेन्दु एवं उनके समकालीनों की एकांकी रचनाओं का यह अनुशीलन, यह स्पष्ट कर देता है कि उस काल में इस साहित्यिक विधा में बहुत बड़ी संख्या में रचनाएँ प्रस्तुत की गयी थीं। यह एकांकी साहित्य भारतीय एवं पाश्चात्य नाटकीय रचनाओं की प्रेरणा से लिखा गया था। बंगाल में इन दोनों प्रेरणाओं से एकांकी रचनाओं का निर्माण पहले ही आरम्भ हो चुका था। हिन्दी के एकांकीकारों ने इसलिए संस्कृत, अँग्रेज़ी और बँगला के नाट्य साहित्य के समन्वित प्रभाव को लेकर इस विधा का सम्पोषण किया। यद्यपि भारतेन्दु जी का देहावसान सन् १८८७ में हो गया था, तथापि उनके द्वारा प्रारम्भित साहित्यिक प्रवृत्तियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के शेष वर्षों में भी चलती रहीं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में साहित्यिक क्षेत्र का नेतृत्व आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ग्रहण कर लिया; और हिन्दी एकांकी के विकास पर भी उनके व्यक्तित्व की छाया पड़ी।

आचार्य द्विवेदी ने 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना करके अपने समकालीन साहित्यकारों का ध्यान नाटक लेखन की ओर आकृष्ट किया। किन्तु वे जिस प्रकार भाषा को परिष्कृत, परिमार्जित और व्याकरण सम्मत बनाना चाहते थे, उसी प्रकार व्यावहारिक जीवन में भी नीति, आचार और आदर्श के सम्पोषक थे; तथा साहित्यिक कृतियों से भी इसी भूमिका का निर्वाह चाहते थे। इसीलिए उनका युग एक ओर तो भाषा के परिष्कार का रहा; और दूसरी ओर उसमें अपरिपक्व मौलिक रचनाओं के स्थान पर, अन्य भाषाओं की उत्कृष्ट कृतियों के अनुवाद को प्रश्रय मिला। भारतेन्दु युग की अधिकांश नाटकीय रचनाएँ हास्यपरक थीं और उनमें सामाजिक विकृतियों का व्यापक चित्रण था। द्विवेदी जी अपने मर्यादावादी दृष्टिकोण को लेकर, इस प्रकार की कृतियों को कैसे प्रोत्साहित कर सकते थे। इसीलिए उनके अनुशासन के युग में नाटकीय रचनाएँ थोड़ी ही लिखी गयीं, और एकांकियों की संख्या भी सीमित ही रही। उनके युग के एकांकीकार दो कोटियों में रखे जा सकते हैं। एक साहित्यकार और दूसरे रंगमंच के प्रयोक्ता। प्रथम में हम बद्रीनाथ भट्ट और द्वितीय में राधेश्याम कथावाचक, तुलसीदत्त शैदा आदि के नाम ले सकते हैं। जी० पी० श्रीवास्तव और जयशंकर प्रसाद के नाटकीय प्रयोग भी इसी काल में आरम्भ हो गये थे; और वे सभी एकांकी संविधान के ही थे।

आचार्य द्विवेदी के युग के एकांकीकारों में सर्वप्रथम बद्रीनाथ भट्ट का नाम आता है।

भट्ट जी की एकांकी रचनाएँ 'पुराने हकीम साहब का नया नौकर', 'आयुर्वेद कसेरू', 'ठाकुर-दानीसिंह', 'हिन्दी की खींचातानी', 'रेगड़ समाचार के एडिटर की धूल दच्छिना', 'घोंघा बसन्त-विद्यार्थी' आदि हैं। इनमें, जैसा कि इन शीर्षकों से ही स्पष्ट है, समाज के विभिन्न वर्गों की दुर्बलताओं का चित्रण करके, उनका मज़ाक बनाकर, उन्हें दूर करने का प्रयास है। राधेश्याम-कथावाचक ने दो प्रकार के एकांकियों की रचना की। एक तो अपने बड़े नाटकों के साथ उसके विभिन्न दृश्यों के बीच, अनेक दृश्यों में विभाजित प्रहसन, जैसे 'परिवर्तन' में 'गोल्डेन गोली' जो मूल नाटक से पूर्णतः स्वतन्त्र है; और दूसरे पौराणिक कथाओं पर स्वतन्त्र एकांकी, जैसे 'कृष्ण-सुदामा', 'शान्ति के दूत भगवान कृष्ण' आदि। जी० पी० श्रीवास्तव ने मोलियर के हास्य नाटकों के ग्रहण से आरम्भ करके मौलिक एकांकी रचनाएँ 'गड़बड़ झाला' (सन् १९१२), 'दुमदार आदमी' (सन् १९१७) आदि प्रस्तुत कीं। उनका अनेकांकी नाटकों के साथ एकांकी रचनाओं के निर्माण का क्रम अब तक चल रहा है, और उनमें वे किसी सामाजिक या व्यक्तिगत विकृति का मज़ाक बनाकर उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। प्रसाद जी की नाट्यकला का विकास एकांकियों की रचना में ही आरम्भ हुआ। सर्वप्रथम उन्होंने महाभारत के एक प्रसंग, दुर्योधन के गंधर्वों द्वारा बन्दी किये जाने, और पांडवों के प्रयत्न से मुक्त होने की कथा को, 'सज्जन' (सन् १९१०-११) के रूप में प्रस्तुत किया। 'कल्याणी परिणय' (सन् १९१२) में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के सेल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया के साथ ऐतिहासिक विवाह का इतिवृत्त एकांकी रूप में है। 'करुणालय' में वैदिक युग की पृष्ठभूमि पर बलि निषेध का प्रसंग है। 'प्रायश्चित' में कन्नौज सम्राट जयचन्द की देशद्रोह की आत्मग्लानि से आत्मघात् की कथा है; और इस प्रकार एकांकी के संविधान में यह दुखान्तकी रचना है। इन एकांकी रचनाओं के अनन्तर प्रसाद जी अनेकांकी नाटकों के निर्माण में संलग्न हो गये। सन् १९२९ में उन्होंने फिर एक अंक की नाटकीय रचना 'एक घूंट' प्रस्तुत की, जो बौद्धिक विचार विमर्ष को प्रश्रय देने के कारण आधुनिक बुद्धिवादी नाटकों जैसी है; और अपनी इसी नवीनता के कारण पाश्चात्य प्रणाली का पहला एकांकी स्वीकार की जाती है। इसीलिए इस एकांकी के विस्तृत विवेचन की अपेक्षा है; किन्तु पहले हमें इसके पूर्वलिखित कुछ अन्य एकांकी रचनाओं पर विचार कर लेना चाहिए। सन् १९२०-२१ में ब्रजलाल शास्त्री ने जालंधर की 'भारती' पत्रिका में ऐतिहासिक एकांकी प्रकाशित किये। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने भी कई एकांकी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उनका 'चार बेचारे' संग्रह उल्लेखनीय है, जिसमें सम्पादक, अध्यापक, सुधारक और प्रचारक की दयनीय जीवन स्थितियों का चित्रण है। इसी काल में तुलसीदत्त शैदा, मंगला प्रसाद विश्वकर्मा, सुदर्शन आदि की भी कुछ एकांकी कृतियाँ प्रकाशित हुईं।

प्रसाद जी के 'एक घूंट' से पाश्चात्य एकांकी प्रभावित एक अंकीय नाटकीय रचनाओं का क्रम आरम्भ होता है; इसलिए यहाँ हमें पश्चिम में इस साहित्यिक विधा के विकास के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहिए। पश्चिम में एकांकी रूपरेखा की नाटकीय रचनाओं का आरम्भ तो, जैसा हम पहले कह आए हैं, दसवीं शती के रहस्यांकियों, आचारांकियों एवं प्रासंगिकाओं से माना जाता है; किन्तु आधुनिक काल में इसका विकास विशेष रूप से लघु रंगमंच आन्दोलन से सम्बन्धित रहा है। इस आन्दोलन का प्रारम्भ सर्वप्रथम पेरिस (सन् १८८७)

हुआ; और उसके बाद वह बर्लिन सन् १८८९, लन्दन सन् १८८१, डबलिन सन् १९०४ और फिर
ıकागो सन् १९०६ तक पहुँच गया। यह आन्दोलन व्यावसायिक रंगमंच का नहीं वरन् नाट्य-
द्दर्शनों में रुचि लेने वाली जनता का आन्दोलन था, और इसके फलस्वरूप अनेकांकी रचनाओं
स्थान पर प्रदर्शक की सुविधा की दृष्टि से एकांकी रचनाओं को प्रश्रय मिला। जब रंगमंच
: इस साहित्यिक विधा की सफलता को देखकर व्यावसायिक रंगमंच ने भी इसे पट-उन्नायकों
र्टेन रेज़र्स) एवं पश्चातभिननयों (आफ्टर पीसेज़) के रूप में ग्रहण किया। पट-उन्नायकों
ı योजना तो पश्चिम में अभिजात् वर्ग के लोगों के देर से खाना खाने की आदत के फल-
रूप, विलम्ब से रंगशाला पहुँचने के कारण, ठीक समय पर पहुँच जाने वाली सामान्य जनता
लिए करनी पड़ी। प्रारम्भ में ये पट-उन्नायक हल्की-फुल्की मनोवृत्ति के प्रहसन हुआ करते
; किन्तु फिर गम्भीर नाटक भी खेले जाने लगे। तभी अक्टूबर सन् १९०३ में लन्दन के वेस्ट
ıड थियेटर में एक ऐसी घटना घटी जिससे एकांकी अभिनय व्यावसायिक रंगमंच से निर्वासित
ı गये। इस थियेटर के व्यवस्थापकों ने डब्ल्यू० डब्ल्यू० जेकब की कहानी 'दि मंकीज़ पॉ'
न्दर का पंजा) को पट-उन्नायक के रूप में प्रस्तुत किया। जब उसका अभिनय समाप्त हुआ तो
र्शक इतने प्रभावित हुए कि बाद का बड़ा नाटक बिना देखे ही रंगशाला के बाहर चले गये। यह
ı वस्तुतः इस नवीन नाट्य रूप के अद्भुत प्रभाव का परिचय था, किन्तु व्यवस्थापकों को यह
य हो गया कि इससे बड़े नाटकों का प्रदर्शन बन्द हो जायेगा और इसी आशंका से उन्होंने
ट-उन्नायकों का प्रयोग समाप्त कर दिया। किन्तु व्यावसायिक रंगमंच से निर्वासित होकर यह
ाट्य रूप जब रंगमंच, लघु रंचमंच आन्दोलन के सहारे विकसित होता रहा। इसी आन्दोलन
फलस्वरूप इंग्लैंड में जे० एम बैरी, जी० बी० शॉ, लार्ड इनसेनी, जॉन गाल्सवर्दी, रूस में
न्टन चेखॉव; जर्मनी में हाप्टमैन, शिन्टज़्लर; अमरीका में यूज़ीन ओ नील आदि की रचनाएँ
काश में आईं। अंग्रेज़ी में इस साहित्यिक विधा के विकास को सन् १९२६ से ब्रिटिश ड्रामा
ीग और सन् १९२७ से स्कॉटिश कम्युनिटी ड्रामा एसोशियेशन द्वारा आयोजित एकांकी
तियोगिताओं से विशेष प्रोत्साहन मिला। इन प्रतियोगिताओं ने एकांकी के स्वरूप-व्यवस्थापन में
ो पर्याप्त योग दिया। इनका एक नियम तो यह था कि एकांकी रचना बीस से चालीस
िनट तक की होनी चाहिए। पात्र भी चार-पाँच अपेक्षित थे तथा यह भी निर्देश था कि यथा
ंभव दृश्य न परिवर्तित करके एक ही बार यवनिका पतन से नाटक की समाप्ति हो। इंग्लैंड
उन दिनों पुरुष अभिनेता पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं थे, इसलिए एकांकियों में स्त्री पात्रों
ो संख्या विशेष रहती भी। इन प्रतियोगिताओं ने अंग्रेज़ी एकांकी के विकास में कितना योग
दया, इसका कुछ अनुमान विभिन्न वर्षों में परीक्षण के लिए प्राप्त रचनाओं की संख्या से
गाया जा सकता है, ब्रिटिश ड्रामा लीग द्वारा आयोजित प्रतियोगिताओं में सन् १९२६ में ७,
न् १९२७ में १५०, सन् १९३० में ४००; सन् १९३२ में ६०० और सन् १९३६ में ६४७
कांकी सम्मिलित हुए। पश्चिम में एकांकी कला का विकास इस प्रकार लघु रंगमंच आन्दो-
न के फलस्वरूप सम्भव हुआ है; और अंग्रेज़ी एकांकी के विकास में इन प्रतियोगिताओं का
ो समुचित योग रहा है। हिन्दी में भो यह साहित्यिक विधा अंग्रेज़ी और उसके माध्यम से
न्य यूरोपीय भाषाओं की एकांकी रचनाओं के अध्ययन-अनुशीलन, अव्यावसायिक रंगमंच के

विकास, विशेष रूप से शिक्षा संस्थाओं में समय-समय पर होने वाले अभिनय के आयोजनों, जन नाट्य संस्थाओं के प्रदर्शनों एवं आकाशवाणी के सहयोग से विकसित हुई है।

पाश्चात्य प्रभाव से ओतप्रोत हिन्दी का आधुनिक एकांकी, संस्कृत नाट्य परम्परा से अनुप्राणित भारतेन्दुयुगीन एक अंकीय नाटकीय कृतियों से पर्याप्त भिन्न है। यह अन्तर मूलतः तो वही है जो संस्कृत एवं पाश्चात्य भाषाओं के अनेकांकी नाटकों का है, रस और संघर्ष का। संस्कृत एकांकी का आत्म तत्त्व रस है; और पाश्चात्य एकांकी का संघर्ष। आत्म-तत्त्व की इस विभिन्नता के साथ दोनों के वाह्य रूप में भी विभेद है। प्रथम में जीवन का आदर्शीकृत चित्रण है और द्वितीय में उसके यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति। संस्कृत एकांकी में भाव तत्त्व की प्रधानता है; और पाश्चात्य एकांकी में बौद्धिक विश्लेषण को प्रमुखता मिली है। पश्चिम की लोकोन्मुख, संघर्ष प्रधान एवं यथार्थवादी नाट्य कला का प्रभाव भारतेन्दु युग में हो हिन्दी नाटक में आना आरम्भ हो गया था और उस काल की एकांकी रचनाओं में भी उसकी छाप है; किन्तु उनका संविधान, पश्चिम के आधुनिक एकांकी साहित्य की प्रेरणा से लिखित आज की सुसंगठित एकांकी रचनाओं की तुलना में बड़ा शिथिल है। प्रसाद जी के 'एक घूंट' में संस्कृत की रसवादी नाट्य दृष्टि, भारतेन्दु युग की एकांकी कला के शिथिल संविधान और पाश्चात्य बौद्धिक विश्लेषण की प्रवृत्ति का समन्वय है। भारतीय नाट्य परम्परा से अनुप्राणित होते हुए भी इस रचना में पश्चिम की आधुनिक नाट्य कला की छाप बहुत स्पष्ट है, इसीलिए इसे पाश्चात्य प्रणाली की प्रथम एकांकी रचना कहा जाता है।

प्रसाद जी अपनी भावुक और कल्पनाशील मनोवृत्ति को लेकर प्रधानतः स्वच्छन्दता-वादी नाट्यकला के विकास की ओर अग्रसर रहे, किन्तु 'एक घूंट' में उन्होंने पश्चिम के बुद्धि-वादी नाटकों का संविधान अपनाया है। यह उनकी पहली नाटकीय रचना है, जिसमें पश्चिम के यथार्थवादी नाटकों एवं एकांकियों जैसा रंगनिर्देश है। इसके साथ ही इसमें पश्चिम के समस्यामूलक एवं बौद्धिक विश्लेषणवादी नाटक अथवा एकांकी जैसा वाद-प्रतिवाद की शैली में, स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न पर विचार-विमर्ष है। अरुणाचल पहाड़ी की छाया में प्रकृति की रमणीय गोद में एक आश्रम है। रसाल, वनलता, मुकुल, प्रेमलता आदि वहाँ निवास करते हैं, सरलता, स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य के महान आदर्शों को लेकर। वनलता के सम्मुख समस्या है कि उसका भावुक, कल्पनाशील एवं स्वच्छन्द प्रकृति पति कवि रसाल किस प्रकार उसके प्रति उन्मुख और व्यावहारिक जीवन के प्रति सचेष्ट हो। स्वच्छन्द प्रेम के प्रचारक आनन्द के आगमन से समस्या और घनीभूत हो जाती है; किन्तु जागरूक व्यक्तित्व की वनलता अपनी वाणी के कौशल एवं तर्क बुद्धि से इस समस्या को सुलझा लेती है। उसके प्रयास से केवल उसका पति रसाल ही उसके प्रति पूर्णतः अनुरक्त नहीं हो उठा है, आनन्द भी स्वछन्द प्रेम के अपने वायवी आदर्श को छोड़कर, प्रेमलता को स्वीकार करके प्रत्यक्ष जीवन में आ गये हैं। प्रसाद जी की इस रचना में स्वच्छन्दतावादी नाट्य तत्त्व, प्रकृति के रमणीय वाता-वरण, भावुक मनोवृत्ति के चरित्रों की सृष्टि, गीति-योजना आदि हैं, किन्तु अन्त में विजय यथार्थवादी जीवन दर्शन को ही मिली है, और यह विजय पश्चिम के आधुनिक बौद्धिक विश्लेषण

वादी एकांकी रचनाओं की वाद-विवाद की पद्धति से उपलब्ध हुई है। इसीलिए यह पाश्चात्य पद्धति का पहला एकांकी है।

प्रसादजी के इस प्रयोग के अनन्तर डॉ० रामकुमार वर्मा की पश्चिम के आधुनिक एकांकी-पद्धति की रचनाएँ आती हैं। वर्मा जी ने हिन्दी एकांकी को पाश्चात्य प्रभाव की देन कहा है, और उनका पाश्चात्य नाटकारों का अध्ययन भी विस्तृत एवं गंभीर है। शॉ, मैतरलिंक और सिंज की प्रेरणा, उन्होंने अपनी एकांकी रचनाओं के लिए स्वयं स्वीकार की है। शा की संवाद सौष्ठव पर स्थित अगतिक नाट्य शैली, मैतरलिंक की प्रतीकवादी अभिव्यञ्जना प्रणाली और सिंज का जीवन के दुखान्तकी स्वरूप का उद्घाटन उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर दर्शनीय हैं। शॉ की अगतिक नाट्य शैली का तो उन्होंने व्यापक प्रयोग किया है, किन्तु वह प्रतिभा सम्पन्न कलाकार के रूप में है। शॉ के नाटकों का सौन्दर्य उनके संवादों में अभिव्यक्त अपार पांडित्य, मर्मस्पर्शी वाग्वैदग्ध्य एवं गम्भीर चोट करने वाले व्यंग में हैं; किन्तु वर्माजी के एकांकियों की शोभा उनके काव्यात्मक संवादों में है, जो हमें भाव विभोर ही नहीं करते, आनन्द-मग्न भी कर देते हैं। उन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक सभी प्रकार के प्रसंगों को लेकर एकांकी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें से कुछ विशेष रूप से गंभीर हैं, कुछ में जीवन के सहज प्रवाह का चित्रण है, और कुछ में मानव चरित्र के अतिरंजित रूप की अवतारणा है। वर्माजी के कुछ एकांकी पूर्णतः रंगमंचीय हैं; कुछ आकाशवाणी से प्रसाद योग्य अर्थात् श्रुति ग्राह्य; और कुछ केवल एकान्त कक्ष में पाठ्य हैं।

डॉ० वर्मा की प्रथम एकांकी रचना 'बादल की मृत्यु' वस्तुतः मैतरलिंक की प्रतीकवादी शैली का संवादात्मक गद्यकाव्य है। किन्तु इस प्रयोग के अनन्तर वर्मा जी पश्चिम की यथार्थ-वादी शैली में एकाकी रचनाएँ प्रस्तुत करने लगे। 'चम्पक' में यथार्थवादी और प्रतीकवादी शैलियों का समन्वित प्रयोग तथा लोकमंगल के आदर्श की प्रतिष्ठा है। 'दस मिनट' पूर्णतः यथार्थवादी रचना है। उद्देश्य, समार्पित जीवन के आदर्श का प्रदर्शन है। 'ऐक्ट्रस' में अभिनेत्री प्रभा, अपने पूर्व पति अनंगकुमार और उनकी नवपरिणता पत्नी कमलकुमारी के जीवन पर दुःख की छाया न पड़े, इसलिए आत्मघात कर लेती है। 'नहीं का रहस्य' में विषाद की गहरी छाया है : एक प्रोफ़ेसर अपने छात्रों के आगे अपनी संकोचशील मनोवृत्ति के कारण अविवाहित रह जाने के रहस्य का उद्घाटन करता है। 'पृथ्वीराज की आखें' में पृथ्वीराज के हाथों शब्दवेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन गोरी के निधन का लोकप्रसिद्ध प्रसंग है। डॉ वर्मा के प्रारंभिक एकांकियों में इस प्रकार भारतीय परम्परा के आदर्शवाद के साथ पाश्चात्य एकांकियों की यथार्थवादी शैली का समन्वय है।

डॉ० वर्मा ने, इसके अनन्तर, पश्चिम के बुद्धिवादी नाटककारों के प्रभाव को लेकर समस्यामूलक एकांकी लिखना आरम्भ किया। 'रेशमी टाई' के सभी एकांकी इसी कोटि के हैं। प्रथम एकांकी 'परीक्षा' में एक बीस वर्षीया नवयुवती की, जो पचास वर्षीय अपने प्रोफ़ेसर से विवाह कर लेती है, मनोवैज्ञानिक परीक्षा द्वारा यह जानने का प्रयास है कि वह अपने पति के प्रति कितनी अनुरक्ता है। 'रूप की बीमारी' में एक धनी परिवार के नवयुवक रूपचंद की रूप के प्रति आकर्षण की कथा है, जो डॉक्टर की सहायता से सुखान्त की ओर अग्रसर होती

है। 'अठारह जुलाई की शाम' में एक स्त्री और दो पुरुषों की अनादि काल से चली आ रही समस्या है, नवीनता है, निर्णय पुरुषों ने तलवार से नहीं, वरन् सुमेधा से सम्पन्न नारी ने स्वयं ही किया है। 'एक तोले अफ़ीम की कीमत' में एक युवती और एक नवयुवक, स्वेच्छानुसार विवाह के लिए दुःखान्त की भावना से आशावाद की ओर अग्रसर दिखाये गये हैं। 'रेशमी टाई' में आचरण में सत्यता के प्रति आग्रह है।

डॉ० वर्मा का सामाजिक एकांकियों के निर्माण का श्रम इसके बाद भी चलता रहा। 'रजनी की रात' में एक आधुनिक बुद्धिवादी नारी का अध्ययन है, जो प्रारम्भ में तो बड़ी आत्मविश्वास से पूर्ण है, किन्तु परिस्थितियों की प्रेरणा से ओतप्रोत हो उठती है। 'पुरस्कार' की नलिनी में भी जागरूक व्यक्तित्व की बुद्धिवादी नारी का ही चित्र है। 'प्रेम की आँखें, 'छोटी-सी बात' और 'आँखों का आकाश' में नवदम्पति के स्नेह, कलह और पुनः स्नेह विभोर हो उठने के प्रसंग हैं। 'पृथ्वी का स्वर्ग' में कृपण और उदार दो परस्पर विरोधी प्रकृति के चरित्रों का तुलनात्मक चित्रण है। वर्मा जी के इन सामाजिक एकांकियों में हास्य और विनोद का भी पुट है।

डॉ वर्मा ने अपनी इन रचनाओं में यथार्थ दर्शन की प्रवृत्ति अपना तो अवश्य ली थी; किन्तु वास्तविकता का बन्धन उनके भावुक और कल्पनाशील व्यक्तित्व को कुण्ठित करता था। इसीलिए वे शीघ्र ऐतिहासिक कथानकों को लेकर एकांकी लिखने लगे। उनका प्रथम ऐतिहासिक एकांकी 'पृथ्वीराज की आँखें' था, जिसकी चर्चा हो चुकी है। इस मध्ययुगीन ऐतिहासिक इतिवृत्त पर आधारित एकांकी के अतिरिक्त 'तैमूर की हार' 'ध्रुवतारिका' 'कलंकरेखा' आदि में भी उन्होंने इसी काल से सामग्री ली है। 'तैमूर की हार' में एक बालक के प्रबल आत्मविश्वास के आगे प्रसिद्ध आक्रामक तैमूर के हतप्रभ होने की कथा है। 'ध्रुवतारिका' में मारवाड़ के राजकुमार अजीतसिंह के एक मुग़ल राजकुमारी सफ़ीयत-उन्निसा के प्रति अनुरक्त होने, किन्तु राजस्थान की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए वीरवर दुर्गादास की प्रेरणा से प्रणय-निवेदन को अस्वीकार कर, सफ़ीयत के उसको अपना भाई घोषित करने का प्रसंग है। 'कलंक रेखा' में जीवन के उज्ज्वल और कलुषित दोनों ही पक्षों का चित्रण है। उज्ज्वल पक्ष, उदयपुर की राजकुमारी कृष्णा का स्वदेश एवं आत्मगौरव की रक्षा के लिए, आत्म बलिदान है, और कलुषित पक्ष, पिता द्वारा अपने को अशक्त अनुभव करके अपनी पुत्री से विषपान का आग्रह है। 'शिवाजी' में छत्रपति शिवाजी के सम्मुख, आबाजी सोनदेव द्वारा कल्याण के सूबेदार मुल्ला अहमद की पुत्रवधू अपूर्व सुन्दरी गौहर बानू के समपर्ण एवं पूर्ण सम्मान के साथ उसके घर वापस भिजवा दिये जाने की कथा है। 'दुर्गावती' में गढ़ा माँडला की महारानी दुर्गावती, उनके पुत्र वीरनारायण और दीवान धारासिंह के अतुल पराक्रम का प्रसंग है, 'वाजिदअली शाह' में अवध के इसी नाम के नवाब के विलासी चरित्र एवं कलाभिरुचि का प्रदर्शन है। 'औरंगजेब की-आख़िरी रात' डॉ० वर्मा का सबसे सशक्त, मध्यकालीन ऐतिहासिक एकांकी है। इसमें उन्होंने औरंगज़ेब के अंतिम क्षणों के मनोविज्ञान को, अपने गुनाहों की स्वीकरोक्ति की भावना से अनुप्राणित करके प्रस्तुत किया है। इस एकांकी का रंगमंचीय विधान भी प्रतीकात्मक है, और

इतिहास ग्रंथों में प्राप्त सामग्री, यहाँ तक कि औरंगज़ेब के उपलब्ध पत्रों का भी इसमें समुचित उपयोग किया गया है।

डॉ० वर्मा ने प्राचीन इतिहास का आधार लेकर भी कुछ एकांकी रचनाएँ लिखी हैं। 'चारुमित्रा' में कलिंग विजय के अन्तर अशोक के बदलते हुए मनोविज्ञान के साथ कलिंग कन्या चारुमित्रा के स्वदेशाभिमान एवं स्वामिभक्ति की सम्मिलित भावनाओं को लेकर आत्म-बलिदान का प्रसंग है। 'समुद्रगुप्त पराक्रमांक' में समुद्रगुप्त ने अपने वाक्‌कौशल एवं व्यावहारिक बुद्धि से राजनर्तकी रत्नप्रभा और सिंहल के राजदूत धवलकीर्ति से अपना अपराध स्वीकार करा लिया है। इसी प्रकार 'कौमुदी महोत्सव' में हम आचार्य चाणक्य के अपार बुद्धि वैभव के सम्मुख राजनर्तकी अलका और समाहर्ता वसुगुप्त को अपना अपराध स्वीकार करते देखते हैं। 'विक्रमादित्य' में भी उज्जयिनी के सम्राट विक्रमादित्य के सम्मुख स्त्री रूप में आए हुए शक राजकुमार भूमक को यह स्वीकार करना पड़ा है कि वह पुरुष है। 'वासवदत्ता' में एक जनपद कल्याणी नर्तकी, यौवन में आनंद एवं विलास का जीवन व्यतीत करने के अनन्तर, परिणत वय में, बौद्ध आचार्य उपगुप्त से दीक्षा ग्रहण करती है। 'स्वर्ण श्री' अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ के स्वेच्छाचारी शासन का उसके लोकप्रिय सेनापति एवं पुरोहित पुष्यमित्र द्वारा समाप्त करने का प्रसंग है। 'कादम्ब या विष' में अनन्तदेवी द्वारा कादम्ब पिलाये जाने के फलस्वरूप कुमारगुप्त के निधन एवं पुरगुप्त के शासक घोषित किए जाने की कथा है। 'उदयन' में वत्सराज उदयन को प्रारम्भ में गौतम का विरोधी और फिर घटनाओं के प्रवाह में, अनुयायी दिखाया गया है। 'राज्यश्री' में विषम परिस्थितियों के आघात् से विक्षुब्ध राज्यश्री आत्महत्या करने को तत्पर होती है, किन्तु अपने भाई हर्षवर्द्धन के आग्रह पर बौद्धधर्म की दीक्षा ग्रहण कर लेती है।

वर्मा जी ने कुछ पौराणिक एकांकियों की भी रचना की है। 'राजरानी सीता' में अशोकवाटिका में बन्दिनी सीता से रावण की प्रणय याचना, अस्वीकार, प्रबल क्रोध, एक मास की अवधि, हनुमान का मुद्रिका-प्रदान आदि हैं। 'भरत का भाग्य' में राम के चौदह वर्ष के बाद अयोध्या वापस आने के अवसर पर भरत के मनोविज्ञान का अनुशीलन है। 'प्रतिशोध' में महाकवि भारवि के अपने पिता के कटुवचनों से विक्षुब्ध होकर उनका वध करने का निश्चय करके, किन्तु यह ज्ञात होने पर कि उनका यह व्यवहार उसे और अधिक उन्नति की प्रेरणा देने के लिए है, वे उनके चरणों पर गिर पड़ते हैं। सम्पूर्ण कथा यहीं समाप्त हो जाती है।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस प्रकार पुराण, इतिहास और वर्तमान जीवन धारा के अतिरिक्त, अपने एकांकियों के लिए कल्पना जगत से भी सामग्री संकलित की है। इस दृष्टि विस्तार के कारण उनका जीवन का ग्रहण भी बहुत व्यापक है; और उनका रचना कौशल भी उत्तरोत्तर विकसित होता गया है। प्रारम्भ में उनके रंग निर्देश बड़े तथ्यपरक होते थे, फिर उन्होंने उन्हें प्रतीकात्मक बनाया और अब वे गद्य काव्यात्मक होकर सुछन्द भी हो गये हैं तथा कथावस्तु की मूल संवेदना की ओर भी संकेत करते हैं। कथा संगठन में उदीप्त क्षण से आरम्भ करके प्रतीतोद्‌घाटन की शैली का प्रयोग वर्माजी के अधिकांश एकांकियों में है; इसलिए संकलन त्रय का निर्वाह अनायास हो गया है। चरित्र चित्रण में आरम्भ में आदर्शवादी भावना को लेकर उज्ज्वल पक्ष पर आलोक केन्द्रित होता था, किन्तु धीरे-धीरे सद् और असद् दोनों ही पक्षों के

उद्‌घाटन की प्रवृत्ति विकसित हुई। संवादों में प्रारम्भिक रचनाओं में स्वाभाविकता पर बल रहता था; फिर काव्यात्मकता का समावेश हुआ, और अब हास्य एवं व्यंग्य के भी स्पर्श रहते हैं। उनके प्रारम्भिक एकांकियों का उद्देश्य आदर्श की ओर इंगित करना था। अब मानव चरित्र की विविधता का उद्‌घाटन, व्यक्ति एवं लोक परिष्कार भी है। उनका भावुक, अनुभूति प्रधान, और कल्पनाशील व्यक्तित्व ऐतिहासिक प्रसंगों में भली प्रकार निखरा है; और उनमें आज भी हम उन्हें यथार्थ के निर्वाह में सजग, काव्य प्रतिभा के स्वच्छन्द प्रकाशन में संलग्न और सूक्ष्म कलात्मक संविधान की प्रतिष्ठा में तत्पर देखते हैं।

पश्चिम के एकांकी शिल्प का वर्मा जी से भी अधिक ग्रहण, भुवनेश्वर में है, भुवनेश्वर का प्रथम एकांकी 'श्यामा—एक वैवाहिक विडम्बना' 'हंस' में दिसम्बर सत् १९३३ में प्रकाशित हुआ। उसके बाद 'प्रतिभा का विवाह' (सन् १९३३), 'शैतान' (सन् १९३४), 'एक साम्यहीन साम्यवादी' (मार्च, सन् १९३५), 'रोमांसा रोमांच' (सन् १९३५) और 'लाटरी' (सन्१९३५) प्रकाश में आये। इन सभी में एक स्त्री को लेकर उसके पति और प्रेमी के बीच संघर्ष है। यह रम्परागत त्रिकोण अपनी समस्या का समाधान शस्त्र बल से नहीं वरन् सुमेधा के सहारे वाक् कौशल से करता है। भुवनेश्वर ने स्वयं कहा है 'प्रायः समस्त नाटककार जो पेटीकोट की शरण लेते हैं, दो पुरुषों को एक स्त्री के लिए आमने-सामने खड़ा कर संघर्ष उत्पन्न करते हैं। मैंने भी यही किया है। केवल बुलडॉग कुत्ते के मुख से हड्डी निकालकर अलग फेंक दी हैं' यही भुवनेश्वरीजी के प्रारंभिक एकांकियों का अन्तर्दर्शन है। इन एकांकियों में जिस विचारधारा को अभिव्यक्ति मिली है, उसका स्वरूप उपसंहार में संगृहीत सूत्र वाक्यों से प्रकट है, जो शॉ, डी० एच० लारेन्स और फ्रायड का स्मरण दिलाते हैं।

इन एकांकी रचनाओं के अनन्तर भुवनेश्वर की नाट्य कला में व्यवस्था आई और उनका क्रान्तिकारी समाजदर्शन भी कुछ और परिपक्व हुआ। 'हम अकेले नहीं हैं' 'सवा आठ-बजे,' 'स्ट्राइक' तथा 'ऊसर' में हम उन्हें सेक्स की समस्या के साथ-साथ अन्य सामाजिक प्रश्नों की ओर भी उन्मुख देखते हैं। किन्तु समस्याओं के चित्रण के विषय में उनकी धारणा है : 'एक समस्या को सुलझाना कई समस्याओं का सृजन करना है।' इसलिए उनकी दृष्टि में 'समस्या-नाटककार का उद्देश्य 'किसी समस्या को एक हास्यास्पद तुच्छता बना देना है।' इसीलिए उन्होंने समस्याएँ अनेक उठाई हैं, किन्तु उनका कोई समाधान उपस्थित नहीं किया। 'ऊसर' उनकी इस काल की सर्वाधिक सशक्त रचना है। इसमें उन्होंने बड़े सूक्ष्म रंग संकेतों, व्यञ्जनापूर्ण संवादों और व्यावहारिक मनोविज्ञान के प्रयोग के सहारे आधुनिक महाजनी सभ्यता के तथा कथित उच्चवर्ग के जीवन के खोखलेपन का उद्‌घाटन किया है।

भुवनेश्वर के एकांकियों में इसके अनन्तर हम प्रतीकवादी शैली का ग्रहण देखते हैं। 'रोशनी और आग' (सन् १९४१), 'कठपुतलियाँ' (सन् १९४२), फोटोग्राफ़र के सामने' और 'ताँबे के कीड़े' (सन् १९४६) इसी शैली की रचनाएँ हैं। इनमें अभिजात-वर्ग के जीवन की रिक्तता एवं ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन है। 'रोशनी और आग' में यूनानी नाटकों की वृन्दगान (कोरस) पद्धति के पूर्वालाप (प्रोलॉग) का प्रयोग है। 'ताँबे के कीड़े' समाज के उच्चवर्ग के स्वागत कक्ष (ड्राइंग रूम) में प्रदर्शन के लिए लिखित है और उसी के ऊपर बड़ा तीखा व्यंग है।

भुवनेश्वर ने अब तक अपने समय के कथानकों को लेकर ही एकांकियों की रचना की थी, किन्तु 'इतिहास की केंचुल (१९४७-४८) की रचना से वे ऐतिहासिक कथाओं में रुचि लेने लगे, 'जेरूसलम' 'सिकदर' 'अकबर और 'चंगेज खाँ' में उनके नाट्यशिल्प का परिपक्व स्वरूप है और रचना शैली में तो नहीं, विचारतत्व में राष्ट्रीय भावना भी अभिव्यक्त हुई है। उनकी लेखनी में प्रारम्भ में सामाजिक एवं व्यक्तिगत दुर्बलताओं के प्रति प्रबल आक्रोश तथा विध्वंसात्मक क्रान्ति का स्वर था, किन्तु अब उसमें निर्माण का पक्ष सजग हो उठा है। फिर भी, हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भुवनेश्वर के अधिकांश एकांकियों में मानव चरित्र की कुरूपता एवं विद्रूपता का ही चित्रण है, सहज प्रसन्न मुख की झलक वे भली प्रकार नहीं उपस्थित कर पाये हैं।

भुवनेश्वर ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में पाश्चात्य नाट्य शिल्प के साथ पश्चिम का जीवन दर्शन भी ग्रहण कर लिया था; गणेश प्रसाद द्विवेदी को हम यूरोप के आधुनिक नाट्य-कौशल के साथ भारत के अपने, पुरातन नहीं, नवीन जीवनदर्शन का समन्वय करते देखते हैं। हिन्दी में आधुनिक नाट्य पद्धति की रचनाओं का अभाव देखकर वे एकांकी की ओर अग्रसर हुए। यद्यपि उन्होंने अपने एकांकियों में सामाजिक समस्याओं को लिया है, तथापि उनका उद्देश्य समाज परिष्कार नहीं, वरन् नाटक के रूप में सुन्दर वस्तु के निर्माण का रहा है। प्रारंभिक एकांकी 'सुहागबिन्दी' (सन् १९३५) में संगृहीत है। प्रथम एकांकी 'सुहागबिन्दी' में हम एक नवपरिणीता पत्नी को अपने पति के रसहीन व्यक्तित्व और वातावरण की शुष्कता के कारण तिलतिल होम होते देखते हैं। 'वह फिर आई थी' में एक आत्मविभोर कवि अपनी प्रेयसी के प्रति भी पूर्णतः उन्मुख नहीं हो पाता; उसके बुलाने पर भी उसके पास न जाकर अपने सम्मान के एक आयोजन में चला जाता है। 'पर्दे का अपर पार्श्व' में दो मित्रों की वार्ता में समस्या उठती है कि क्या घृणा भी स्नेह का ही एक रूप है? लेखक ने इसके आगे उनमें से एक के जीवन के प्रणय-प्रसंग को कई दृश्यों में उपस्थित किया है, जिनमें वह अपनी प्रेयसी के दूसरे से विवाह कर लेने पर, उसको अंतिम चरण में बुलावा आने पर भी पहले तो जाता नहीं और जब जाता है तब उसकी मृत्यु हो चुकी होती है। 'शर्मा जी' में भी एक असफल प्रणय की कथा है। शर्मा, एक आई० सी० एस० अधिकारी, अपनी पत्नी को फूहड़ देखकर अपनी पूर्व प्रेयसी से फोन पर बातचीत करता है। प्रेयसी के पति से भी उसकी वार्ता होती है, जिसमें प्रेयसी के विषय में अनेक शिकायतें की जाती हैं। इस प्रयास में 'अंगूर खट्टे हैं' की भावना अन्तर्निहित है। 'दूसरा उपाय ही क्या है' में एक प्रेमी अपनी प्रेयसी के दूसरे से विवाह कर लेने पर भी उससे मिलने जाता है और तभी उसका पति भी जाता है। परिस्थिति का बोध होने पर पति पत्नी से घूमने का आग्रह करता है, किन्तु वह उसके मन की शंका का अनुमान लगाकर अपने पिता के घर जाने की बात कहती है। 'सर्वस्व समर्पण' में एक पुरुष के साथ दो स्त्रियों के सम्बन्ध की समस्या है। विनोद की पत्नी उमा को यह सन्देह है कि उसका पति अपने मामा की लड़की निर्मला से प्रेम करता है। उमा अपने इसी सन्देह को लेकर बीमार पड़ती है और फिर मृत्यु का वरण कर लेती है, किन्तु यह सब सन्देहमात्र को लेकर हुआ है। 'रपट' में हम एक ईसाई परिवार के कुछ सदस्यों को बड़े दिन के अपने धार्मिक पर्व पर

एक प्रहसन का आयोजन करते देखते हैं, जिसमें हँसी-मजाक में वे दारोगा के समक्ष जाकर उल्टी-सीधी रपट लिखाने का अभिनय करते हैं। द्विवेदी जी की एकांकी रचनाओं में इसके अनन्तर यौन समस्या को छोड़कर व्यापक जीवन के ग्रहण की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, 'कामरेड', 'गोष्ठी', 'दग़ा', 'परीक्षा', 'रिहर्सल' और 'धरती माता' में जीवन का यही व्यापक दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है।

सेठ गोविन्ददासजी पश्चिम के अनेकांकी और एकांकी दोनों प्रकार की नाटकीय रचनाओं के अध्ययन, अनुशीलन के अनन्तर, मौलिक एकांकियों के निर्माण की ओर अग्रसर हुए। इस दिशा में उनका पहला प्रयास 'स्पर्धा' (सन् १९२६) एक समस्यामूलक रचना थी। इसके अनन्तर उन्होंने समकालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनेक प्रकार की समस्याओं को लेकर एकांकी रचनाएँ लिखीं, । स्वदेशाभिमान से ओतप्रोत से ठजी ने अपने देश की अनेक गौरवगाथाओं को लेकर भी एकांकी रचनायें प्रस्तुत कीं। काश्मीर के प्राचीन इतिहास एवं दक्षिण भारत के जीवन-प्रवाह से भी सामग्री लेकर उन्होंने एकांकियों की रचना की है। सेठजी की एकांकी कला के सम्यक् मूल्यांकन के लिए इस समस्त सामग्री के परीक्षण की आवश्यकता है। सर्वप्रथम हम उनके सामाजिक एकांकियों को ले रहे हैं।

सेठ जी के सामाजिक एकांकियों का क्रम 'स्पर्धा' से आरम्भ होता है जिसमें एक क्लब में, स्त्री और पुरुष दोनों ही जिसके सदस्य हैं, नारी के सम्मान की रक्षा के प्रश्न पर वाद-प्रतिवाद है। अन्त में, एक सुशिक्षिता नारी इस प्रकरण को यह कहकर समाप्त करती है कि स्त्री को अपनी सम्मान की रक्षा के लिए, पुरुष पर नहीं, वरन् स्वयं अपने ऊपर विश्वास करना चाहिए। 'मानव-मन' में दो दम्पतियों के जीवन-प्रवाह को लेकर यह दिखाया गया है कि एक दूसरे के प्रति पूर्णतः अनुरक्त होते हुए भी, कष्ट का आधिक्य हो जाने पर, समवेदना के सजग रहते हुए भी, मन बदलने की आकांक्षा से उनमें कुछ समय के लिए अलग होने की इच्छा हो सकती है। 'निर्माण का आनन्द' में प्रकाशवती निर्माण के सुख का अनुभव करने के लिए अपने प्रोफ़ेसर से नहीं, वरन् अपने सहपाठी से, जिसे वह वर्षों तक पढ़ाती रही है, विवाह का निर्णय करती है। 'मैत्री' में दो अभिन्न मित्र नगरपालिका के अध्यक्ष पद के लिए प्रत्याशी होते हैं, किन्तु यह देखकर कि इससे उनकी मित्रता टूट रही है, वे इस प्रतिद्वन्द्विता से अलग हो जाते हैं। 'कंगाल नहीं', में महारानी दुर्गावती के आधुनिक वंशजों को दुर्भाग्य से ग्रस्त होने पर राजवंश का होने के कारण साधारण सा कार्य भी न मिल पाने की मर्मस्पर्शी कथा है। 'ईद और होली' में हमीदा और राम, दो बच्चों को साथ-साथ खाते देखकर पहिले तो उनके पिता-माता में संघर्ष होता है; किन्तु जब हमीदा का पिता, राम की प्राण रक्षा करता है, तो दोनों में मानव-मानव की समानता की अनुभूति से परस्पर मेल हो जाता है।

सेठ जी ने इन सामाजिक एकांकियों में मानव मन से कुछ ऐसे स्तरों का उद्घाटन किया है जो स्थायी महत्त्व के है। किंतु कभी-कभी उन्होंने मनुष्य को मन की क्षणिक उत्तेजना को भी वाणी दी है। 'धोखेबाज़' एक ऐसे व्यवसायी की कथा है जो उत्कट अर्थ लालसा के कारण अपना कारोबार बढ़ाने के लिए अनेक व्यक्तियों को अग्रिम तिथि के चैक दे देता है और जब उसके ऊपर मुकदमा चलता है तो न्यायालय में अपना वक्तव्य देते हुये ही हृदयगति रुक

जाने से मर जाता है, 'अधिकार लिप्सा' में एक वयोवृद्ध रईस अपने परिवार के लोगों पर अपना रोब पुनः गालिब करने के लिए अस्वस्थता का स्वाँग रचता है, किंतु उसके उपचार के लिए जो विस्तृत व्यवस्था की जाती है, उससे उसका निधन हो जाता है। 'बूढ़े की जीभ' भी इसी प्रकार के एक जिह्वा लोलुप रईस का प्रसंग है, 'व्यवहार' में जनवादी विचारधारा को लेकर एक नवयुवक जमींदार पहले किसानों को ऋणमुक्त करता है फिर बिना नज़राने के ही उन्हें नये खेत दे देता है और अन्त में अपनी समस्त भूमि उन्हें ही समर्पित कर देता है। 'बंद-नोट' में आज के समाज में पूर्णतः सत्यनिष्ठ व्यक्ति को भी किस प्रकार असत्य का आश्रय लेना पड़ता है इसका प्रदर्शन है। 'उठाओ खाओ खाना' 'विटामिन' 'महाराज' आदि में मनुष्य की कुछ समयगत दुर्बलताओं का मज़ाक बनाकर परिहास का प्रयास है। 'सुदामा के तंदुल', 'आई-सी', 'यू नो', 'अर्द्धजाग्रत', 'सच्चा कांग्रेसी कौन', 'हंगर स्ट्राइक' आदि में अधिकार मद में विह्वल कांग्रेस नेताओं की चरित्रगत विकृतियों का चित्रण है। 'फाँसी' में एक सौन्दर्यद्रष्टा कवि एक पूंजीपति एवं एक मज़दूर की नृशंस हत्याओं के लिए प्राणदण्ड सुना दिए जाने पर अपनी-अपनी स्वीकारोक्तियाँ हैं।

सेठ जी के ऐतिहासिक एकांकियों में सर्वप्रथम उनकी प्रागैतिहासिक इतिवृत्तों पर आधारित रचनाओं को ले सकते हैं। 'रैक्व' और 'जनश्रुति' में छान्दोग्य उपनिषद् से ग्रहीत कथा है जिसमें समस्त चराचर जगत को एक तत्त्व समझकर सबके प्रति आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करते हुए जीवन यापन के आदर्श का प्रतिपादन है। 'जाबाल-सत्यकाम' में सत्यकथन के महत्त्व निरूपण के साथ कर्म को ही सच्चा धर्म बताया गया है। 'कृषि यज्ञ' में वाल्मीकि रामायण के एक प्रसंग को लेकर एक वेदनिष्ठ ब्राह्मण को कृषिविषयक अनुसन्धान में तत्पर और अनेक विघ्न बाधाओं का अतिक्रमण करके अपने चारों ओर की सामाजिक व्यवस्था को आदर्शरूप देते हुए प्रदर्शित किया गया है। 'महावीर का मौन भंग' में जैन तीर्थंकर महाबीर का एक अहंवादी किन्तु प्रतिभा सम्पन्न नवयुवक इन्द्रभूति के आगे प्रथम प्रवचन है। 'बुद्ध की एक शिष्या में' विशाखा बौद्ध दर्शन में पूर्व आस्था रखते हुए भी अपनी व्यापक धर्मबुद्धि, व्यावहारिक कौशल, 'सजग व्यक्तित्व एवं तर्कक्षमता से एक जैन परिवार में बधू के रूप में पहुँचकर उसे भी अपने अनुकूल बना लेती है।' 'बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन' बुद्ध की इस घोषणा पर कि वे चार मास में निर्वाण ले लेंगे। उनके अनेक शिष्य विचलित हो उठे हैं किन्तु शिष्य और धर्माराम स्थिर मन के साथ उनके उपदेशों के अनुरूप अपने जीवन को ढालने में और अधिक तत्पर दिखाए गए हैं। बुद्ध ने उन्हें ही अपना सच्चा अनुयायी स्वीकार किया है।

सेठ जी में विशाल भारत के इन प्रागैतिहासिक प्रसंगों के अतिरिक्त काश्मीर के पुरातन इतिहास सन्दर्भों को लेकर एकांकियों की रचना की है। 'जालौक और 'भिखारिणी' में महाराज जालौक एक भिखारिणी के नरमांसभक्षण की इच्छा प्रकट करने पर स्वयं अपने शरीर के मांस से उसे तृप्त करने के लिए तत्पर हो उठे हैं। किन्तु तभी उसने उनका हाथ पकड़ लिया है। 'चन्द्रापीड़ और चर्मकार' में एक चर्मकार रैदास अभिजात वर्ग के लिए निर्मित होने वाले त्रिभुवन स्वामिन के मंदिर के लिए तभी अपनी झोपड़ी को गिराने की

स्वीकृति देता है जब महाराज यह स्वीकार कर लेते हैं कि वह मंदिर सब के लिए खुला रहेगा, 'सहित या रहित' और 'अट्ठानवे किसे' में काश्मीर नरेश यशस्कर की न्यायबुद्धि का परिचय है। उनकी इस धारणा को चरितार्थ किया गया है कि न्यायाधीश में साक्षियों आदि के अवलोकन के साथ मनुष्य के अन्तर्तम में प्रवेश की भी क्षमता होनी चाहिए ; तभी यह जाना जा सकता है कि कौन वास्तव में अपराधी है।

सेठ जी ने इन प्राग्-ऐतिहासिक एकांकियों में आदर्शवादी भावना को प्रतिष्ठित करने-वाले इतिवृत्त ही लिए हैं। मध्ययुगीन इतिहास से भी हम उन्हें इसी दृष्टिकोण से धार्मिक क्षेत्र के महापुरुषों के जीवन के विशिष्ट प्रसंगों का उपयोग करते देखते हैं। 'शंकराचार्य की-प्रतिज्ञा' में दक्षिण का यह महान दार्शनिक बाल्यावस्था में ही संन्यास ग्रहण कर समस्त भारत को एकसूत्र में बाँधने का निश्चय करता है। इसी अवसर पर उसने वह आश्वासन दिया है कि वह अपनी माँ की मृत्यु के समय उनके पास होगा और स्वयं ही उनका संस्कार करेगा। अन्तिम दृश्य में हम उसे आपके बंधु बाँधवों एवं ग्रामीणजनों के विरोध के होते हुए भी अपने इस वचन का निर्वाह करते देखते हैं। 'चैतन्य का संन्यास' महाप्रभु चैतन्य द्वारा अपनी माता और पत्नी को भली प्रकार समझा बुझाकर संन्यास ग्रहण की कथा है। 'नानक की नमाज़' में सिक्ख सम्प्रदाय के प्रतिस्थापक गुरु नानक द्वारा सुल्तानपुर के नवाब के साथ नमाज़ पढ़ने की कथा है जिसमें स्वयं नवाब और उनके साथी काज़ी के मन का हाल बताकर वे दोनों को चमत्कृत कर देते हैं। 'अपरिग्रह की पराकाष्ठा' में कुम्भनदास जी के मुग़ल सेनापति महाराज मानसिंह के अपने यहाँ आने पर उनसे कुछ भी लेना अस्वीकार कर देने का प्रसंग है।

सेठ ज़ी मध्यकालीन इतिहास के इन धार्मिक वृत्तों के अतिरिक्त कुछ राजनीतिक कथाएँ भी ली हैं। 'शिवा जी का सच्चा स्वरूप' में आबा जी सोनदेव द्वारा कल्याण के सूबे-दार अहमद की पुत्रवधू गौहरबानू को तोहफे के रूप में प्रस्तुत किए जाने पर शिवाजी के उदात्त एवं धर्म निरपेक्ष महामहिम चरित्र का उद्‌घाटन है। 'सच्चा धर्म' में दिल्ली का एक महाराष्ट्र ब्राह्मण शिवा जी के पुत्र शम्भा जी को आश्रय देने के अनन्तर धर्मान्धता से ऊपर उठकर मुग़ल-सरदारों के आगे यह सिद्ध करने के लिए कि वह उसका भतीजा है, एक ही थाली में खाना खा लेता है। 'केरल के सुदामा' में त्रावनकोर के महाराज मार्तण्ड वर्मा द्वारा एक कवि का सुदामा की भाँति सम्मानित करने का प्रसंग है। 'निर्दोष की रक्षा' में एक मुग़ल सर-दार साम्प्रदायिकता की भावना से ऊपर उठकर एक निर्दोष हिन्दू की रक्षा के लिए अपने प्राणों को भी संकटग्रस्त कर देता है। 'पतन की पराकाष्ठा' में नादिरशाह के आक्रमण के समय मुग़ल हरम की बेगमों का भीरुता का चित्रण है।

सेठ जी ने अंग्रेज़ों के आगमन और उसके बाद के ऐतिहासिक प्रसंगों को लेकर भी कुछ एकांकी लिखे हैं। 'गुरु तेगबहादुर की भविष्यवाणी, में औरंगजेब के द्वारा शूली दिए जाने के सवसर पर सिक्ख गुरु का यह कथन है कि अकबर महान की धर्म निरपेक्ष नीति को छोड़ देने के कारण मुग़ल वंश का पतन होगा और शासन सत्ता अंग्रेज़ों के हाथ में चली जायगी। 'कृष्णकुमारी' में राणा सांगा और महाराणा प्रताप के वंशजों की उस शक्तिहीनता का विवरण है जिसके कारण राजकुमारी कृष्णा को अपने सम्मान एवं मातृभूमि की रक्षा के

लिए विषपान करना पड़ता है। अंग्रेज़ों की राज्यशक्ति के प्रसार के दिनों राजपूतों की ही नहीं मरहठों की भी यही स्थिति हो गई थी। सेठ जी ने 'पाश्चाताप' में पेशवा रघुनाथराव को अधिकार लालसा से अपने भतीजे पेशवा नारायण राव का वध कराते हुए प्रदर्शित किया है और फिर वह स्वयं इस अपराध से शोक विह्वल होकर मर जाता है। 'मन का भूत' में पेशवा बाजीराव द्वितीय एक गाँव में विश्राम ग्रहण करने के अनन्तर केवल यह सुनकर कि अंग्रेज़ आ रहे हैं, भाग खड़े होते हैं। 'वे आँसू' में टीपू सुलतान द्वारा त्रावनकोर पर आक्रमण के प्रसंग को लेकर विदेशी शक्तियों के प्रसाद को देखकर भी हमारे शासकों के गृह द्वन्द्व खड़ा करने की नीति का प्रदर्शन है। 'बाजीराव की तस्वीर' और 'सच्ची पूजा' में उस युग के दो ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे लगता है कि द्रुत गतिक ह्रास के वातावरण में भी भारतीय आत्मा, एक दो व्यक्तियों में ही सही, सजग अवश्य थी। 'अज़ीबोगरीब मुलाकात' में एक अंग्रेज़ सैनिक अधिकारी के अपनी पत्नी के साथ अवध के एक नवाब के यहाँ आने का प्रसंग प्रहसनात्मक शैली में है : इसमें भी नवाब के जागरूक व्यक्तित्व की झलक है। भारतीय आत्मा के इसी जागरूक स्वरूप का चित्र 'अज़ीज़न' में भी है। सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के समय कानपुर की एक वेश्या अपना समस्त ऐश्वर्य बेचकर आजादी के दीवानों को समर्पित कर देती है। 'महर्षि की महत्ता' में आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द जी द्वारा अपनी हत्या का उद्योग करने वाले व्यक्ति को भी क्षमा करने का प्रसंग है। 'परमहंस का पत्नी प्रेम' में स्वामी रामकृष्ण का अपनी पत्नी शारदा देवी के साथ प्रथम रात्रि का सम्भाषण है, जिसमें उन्होंने उन्हें मां स्वीकार किया था और शारदा देवी के भी रामकृष्ण जी को अपना पुत्र मान लिया था। 'सूखे संतरे' में गाँधी जी का एक हरिजन विद्यार्थी से कथन है कि वे उसी के 'संतरों' से अनशन तोड़ेंगे और उपवास-समाप्ति पर वे और लोगों द्वारा लाये गए ताजे संतरों को अस्वीकार कर उसी के सूखे संतरों का रस ग्रहण करते हैं! 'जब मां रो पड़ी' में अमर शहीद रामप्रसाद 'विस्मिल' की माता की, आज देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद भी, दयनीय दशा का चित्रण है।

सेठ जी ने कुछ वैदेशिक कथाओं को लेकर भी एकांकी रचनाएँ लिखी हैं! 'मुकदेन', 'गुलबीबी या इस्लामी दुनिया में पर्दे की साफ़, 'परों वाले कारखाने', 'इस्तख़ानेफ या छोटे से छोटे से बड़े से बड़ा, और दो मूर्तियाँ' इनमें भी उन्होंने जीवन के आदर्शवादी भावना से अनुप्राणित चित्र प्रस्तुत किये हैं, जो हमें व्यक्ति एवं समाज दोनों ही दृष्टियों से ऊपर उठाते हैं।

सेठ जी ने एकांकी के स्वरूप में कुछ एक-पात्रीय प्रयोग भी प्रस्तुत किये हैं। 'शाप और-वर' में दाम्पत्य जीवन के अत्यधिक दुःखमय और अत्यधिक सुखमय दोनों ही प्रकार के चित्र हैं, पूर्वार्द्ध में एक सामान्य घर से आई हुई विशेष रूप से सम्पन्न परिवार की पुत्रवधू का अपने पति के सम्मुख विस्तृत स्वगत कथन है, जिसमें उसने अपने जीवन के एक एक दुःख एक एक दर्द और एक एक पीड़ा का वर्णन करने के अनन्तर शाप दिया है कि वह निर्वंश हो जाय। उत्तरार्द्ध में एक ग्रामीण अपने अंतिम क्षणों में अपने पति के साथ व्यतीत जीवन के सुखद प्रसंगों को स्मरण करती है, तथा यह वरदान माँगती है कि उसका पति उसके चले जाने के

बाद, उसके आत्मतोष के लिए, किसी को अपना जीवन साथी बना ले। 'प्रलय और सृष्टि, में एक चिन्तनशील भावुक एवं लोकनिष्ठ व्यक्ति का सशब्द चिन्तन है जिसमें वह अपने चश्मा, नोटबुक, कलम, लाइट हाउस टॉवर, घन्टा, चिमनी, बादल और धरती को सम्बोधित करता हुआ जीवन के वर्तमान स्वरूप पर अपने विचार प्रकट करता है : वह पूंजीवाद का विरोधी है और साम्यवाद के आधार पर समाज की पुनर्रचना चाहता है। किन्तु जब भूकम्प आता है और वह चिमनी को गिरते हुए देखता है तथा उसका घर भी ढहने लगता है तो उसे लगता है कि उसका जीवन दर्शन भी अभी एकाङ्गी है और उसके आधार पर वह वर्तमान व्यवस्था को पूर्णतः नहीं बदल सकेगा। 'अलबेला' में एक साहसिक अपने घोड़े को सम्बोधित करते हुए कहता है कि वह तो इसीलिए धनिकों को लूटता और निर्धनों को धन बाँटता रहा है, जिससे साम्यवाद की स्थापना हो जाय। किन्तु उसका यह वक्तव्य सुन कर लगता है जैसे शैतान धर्म ग्रन्थों से उद्धरण दे रहा हो। 'सच्चा जीवन' में एक चिन्तनशील नवयुवक का जीवन के वास्तविक आनन्द की उपलब्धि के लिए सस्वर विचार है। वह सोचता है कि सुख शायद रुपये में है या अधिकार प्राप्ति में है या मनोवाँछित नारी को पाने में है, किन्तु अंत में उसका निष्कर्ष है कि उचित मार्ग पर चलकर ही मनुष्य सच्ची सुख शान्ति पा सकता है। 'षट् दर्शन' में भारतीय नारी की बाल्यकाल से वृद्धावस्था तक हर्ष-पुलक, अश्रु-स्वेद समन्वित कथा है और अन्त में वह अनन्त के पथ पर अध्यात्म की दिशा में अग्रसर दिखाई गई है।

सेठजी ने इस प्रकार अपनी एकांकी रचनाओं के लिए स्थान और काल दोनों ही दृष्टियों से बड़ा विस्तृत क्षेत्र लिया है। उनकी प्रत्येक एकांकी रचनाओं में कोई-न-कोई विचार उभर कर उठता है। एकांकी संविधान के सभी तत्त्व कथावस्तु, चरित्र, संवाद, देश काल आदि उसी को उभारने में संलग्न हैं। उनके एकांकियों के कथानक बड़े स्पष्ट हैं : किसी प्रकार की उलझन—एक विचारगत को छोड़कर—उनमें है ही नहीं। इसीलिए कलात्मकता की प्रतिष्ठा के लिए उन्हें उपक्रम और उपसंहार की योजना करनी पड़ी है। उपक्रम में विचार बीज रूप में प्रकट होता है और फिर घटना प्रवाह में हम उसे पौधे का रूप ग्रहण करते हुए देखते हैं; और उपसंहार में उस पौधे में एक फूल केवल एक फूल दृष्टिगत होता है। चरित्र संख्या अधिकांश में सेठजी ने थोड़ी ही रखी है किन्तु उनके चरित्रचित्रण में विविधता है। अपने एक प्रकार के चरित्र की उन्होंने आवृत्ति नहीं की। फिर भी उनके चरित्रों को अत्यधिक महान् और विशेष रूप से दुर्बल दो कोटियों में रखा जा सकता है। कुछ ऐसे भी चरित्र हैं जिनमें दुर्बलता और सबलता दोनों हैं, किन्तु उनकी संख्या कम है। संवादों में स्वाभाविकता का निर्वाह है : सभी चरित्रों में स्पष्ट-कथन की प्रवृत्ति है। चरित्रविशेष की विशिष्ट मनोदशा के उद्घाटन के लिए एकपात्रीय एकांकियों के अतिरिक्त अन्य एकांकियों में भी उन्होंने विस्तृत स्वगत कथनों की योजना की है। भाषण की पद्धति का भी प्रचुर उपयोग है। स्थान काल की व्यवस्था में रंगनिर्देश स्थान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिचय देते हैं; समय का भी बोध कराते हैं तथा पात्रों की रूपरेखा, वेशभूषा, विचारधारा और कभी-कभी पूर्ववृत्त का विवरण भी उपस्थित करते हैं। स्थान संकलन पर सेठजी का विशेष बल नहीं है। काल संकलन उन्होंने एकांकी के लिए नितान्त अपेक्षित माना है; किन्तु यदा-कदा उनके एकांकियों

में उसकी उपेक्षा भी है। अभिव्यंजना प्रणाली स्वाभाविक एवं सहज बोधगम्य है। भाषा का संविधान अधिकांश में अभिधात्मक है; लाक्षणिक एवं ध्वन्यात्मक नहीं। इसी प्रकार बाह्य जगत उनकी रचनाओं में जितना उभरा है उतना अधिक मनुष्य के अन्तर्जगत को, वे अपने चरित्रों के विस्तृत स्वगत कथनों में भी, नहीं प्रकट कर सके हैं। फिर भी उनकी रचनाएँ हमें जीवन के आदर्श स्वरूप की ओर अग्रसर करती हैं और यही उनका उद्देश्य है।

सेठ गोविन्ददास जी की भाँति हिन्दी एकांकी के विकास में उदयशंकर भट्ट का भी पर्याप्त योग रहा है। उन्होंने सर्वप्रथम असहयोग आन्दोलन की प्रेरणा से 'असहयोग और स्वराज्य' (१९२१) और उसके बाद 'चित्तरंजनदास' (१९२२) एकांकियों की रचना की। पाश्चात्य एकांकी कला से परिचय प्राप्त करके इस दिशा में उनके प्रयोग सन् १९३६ से प्रारम्भ हुए, भट्टजी ने प्रारम्भ में सामाजिक विषयों को लेकर एकांकियों की रचना की। उसके बाद वे हास्य-व्यंग्य-परक एवं प्रतीकात्मक रचनाओं की ओर अग्रसर हुए, काव्यप्रतिभा से समन्वित होने के कारण उन्होंने पद्य संविधान में भी कुछ एकांकियों की रचना की और उसके अनन्तर पौराणिक कथाओं को लेकर गद्य में कुछ रचनाएँ उपस्थित कीं। इसके बाद हम उन्हें कालिदास और गोस्वामी तुलसीदास की साहित्यिक प्रतिभा का अभिनन्दन करते हुए, अन्य एकांकियों की रचना करते देखते हैं। उनकी नवीन एकांकी रचनाओं में अन्तर्विश्लेषण की प्रक्रिया का उपयोग है। भट्टजी के एकांकी-साहित्य में इस प्रकार हम विषय की दृष्टि से तो नहीं, किन्तु अभिव्यंजना प्रणाली में विविधता लक्षित करते हैं।

भट्ट जी के प्रारंभिक एकांकियों 'असहयोग और स्वराज्य' तथा 'चित्तरंजनदास' में स्वाधीनता-आन्दोलन की अनुगूंज है। पाश्चात्य एकांकी-कला से अनुप्राणित उनकी पहली रचना 'एक ही कब्र में' (१९३६) में साम्प्रदायिक भावनाओं से ग्रस्त एक व्यक्ति प्रकृति के भयंकर प्रकोप—क्वेटा के भूकम्प—की छाया में मनुष्य-मनुष्य की समानता को स्वीकार करता है। 'दस हजार' में एक ऐसे कंजूस के मनोविज्ञान का उद्घाटन है जिसे अपने पुत्र के काबुलियों से उद्धार के लिए एक हजार रुपये देने होते हैं और इसीलिए वह उसकी मुक्ति पर प्रसन्न नहीं वरन् बेहोश हो जाता है। 'नेता' में एक समाज सुधारक का चित्रण है जो जाति-पाँति की भावना से ऊपर उठकर एक नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहता है। किन्तु जब उसका अपना भतीजा एक निम्न जाति की कन्या से विवाह करना चाहता है तो वह उसका विरोध करके अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर देता है, '१९३५' में एक ऐसे नवयुवक के मनोभावों को उपस्थित किया है जिसने एक विज्ञापन देखकर आवेदन-पत्र भेज दिया है और वह स्थान उसे मिल जायगा इस आशा से अपने परिवार के लोगों के बीच खयाली-पुलाव बनाने लगा है : किन्तु अन्त में यह ज्ञात होता है कि यह विज्ञापन तो आज का नहीं सन् १९३५ ई० का है, 'कर-निर्वाचन' में एक प्रतिष्ठित वकील की पुत्री अपने पिता के एक मुवक्किल को उसके आकर्षक एवं मोहक व्यक्तित्व के कारण अपने को देखने आया हुआ आई० सी० एस० अधिकारी समझ लेती है; और फिर अन्त में रहस्योद्घाटन होता है। 'सेठ लालचन्द' एक ऐसे लोभी धनिक का अध्ययन है जो जरूरतमंदों को तो कुछ देता नहीं, किन्तु धोखेबाजों के हाथों लूटा जाता है, 'स्त्री का हृदय' में एक नारी अपने पति के द्वारा प्रताड़ित

होने पर भी जिसके कारण पति को जेल जाना पड़ता है, संयोगवश उसे कैदी के वेश में देखकर अपने पुत्र के मना करने पर भी उसे अपना पति स्वीकार कर लेती है। 'नकली और असली' में प्रारम्भ में एक कलाकार के घर की दयनीय स्थिति का चित्र है और उसके बाद एक रंगशाला में रंगमंच पर एक नाटक में उसका एक सुन्दरी से प्रणय निवेदन है। तभी उसकी पत्नी आकर रंग में भंग कर देती है और रंगमंच का नाटक वास्तविक नाटक के आगे रुक जाता है। 'बड़े आदमी की मृत्यु' में प्रहसनात्मक शैली में जीवन के उस दुखद स्वरूप का उद्‌घाटन है जिसमें एक प्रतिष्ठित व्यक्ति का निधन हो जाने पर उसके परिवार के सदस्य, बधु-बांधव, इष्ट-मित्रादि दुखी होने के स्थान पर उसके धन के लिए झगड़ने लगते हैं। 'विष की पुड़िया' में एक विमाता की अपनी सौत की बच्ची को जहर देकर मार डालने की कथा है, जिसकी सूचना उसके अपने छोटे बच्चे ने पिता को दी है। 'मुंशी अनोखेलाल' एक ऐसे मूर्ख व्यक्ति को लेकर प्रहसन है जो यह समाचार पाकर दुखी हो उठा है कि उसकी पत्नी विधवा हो गई है।

भट्ट जी इन सामाजिक एकांकियों के अनन्तर पौराणिक प्रसंगों की ओर अग्रसर हुए, 'आदिम-युग' में उन्होंने श्रीमद्‌भागवत की पौराणिक पद्धति के साथ डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त का समन्वय करते हुए मानवीय सभ्यता के प्रारम्भ की कथा प्रस्तुत की है। 'प्रथम विवाह' में आर्य जाति में विवाह प्रथा के सूत्रपात का प्रसंग है। इसी आदिम-सभ्यता का चित्र 'समस्या का अंत' एकाँकी में भी है, जिसमें शेक्सपियर के 'रोमियो और जूलियट' की भाँति का दुखान्तकी आख्यान है, और अंत में दोनों परिवारों में मेल हो गया है।

भट्ट जी गद्य के संविधान में पौराणिक एकांकियों की रचना के अनन्तर पद्य-एकांकी अथवा भावनाट्यों की रचना की। 'विश्वामित्र' में हम मेनका को नारी की अपार शक्ति के प्रदर्शन की दृष्टि से साधना-निरत महर्षि विश्वामित्र का व्रत भंग करते हुए देखते हैं, 'मत्स्यगंधा' में वयोवृद्ध ऋषि पराशर का धीवर कन्या सत्यवती से प्रणय निवेदन है, वह उनके साथ बहुत ही तर्क-वितर्क करती है, किन्तु फिर उसे आत्मसमर्पण करना ही पड़ता है। ऋषि कुछ समय उसके साथ रहने के बाद चले जाते हैं और वह पश्चात्ताप करती रह जाती है। इस प्रकार इस पद्य एकांकी में नारी की विवशता का प्रसंग है। 'राधा' में भक्तिसाहित्य के इस दिव्य चरित्र के परम्परागत स्वरूप का ही निर्वाह है : स्नेह में समर्पण ही जीवन की उच्चतम अनुभूति है और विरह में उसका उत्कृष्ट रूप प्रदर्शित होता है। इन पद्य एकांकियों में प्रतीकात्मकता भी है, विश्वामित्र मानव के दम्भ के प्रतीक हैं। उर्वशी मानव के प्रति नारी की उपेक्षा वृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है, मेनका सौन्दर्य, स्त्रीत्व एवं मातृत्व की प्रतिमा है, किन्तु अंत में वह मुक्त सौन्दर्य चेतना के रूप में प्रकट होती है। 'मत्स्यगंधा' में सत्यवती—यौवन, अनंग-शृंगार चेतना, शुभ्रु-सांसारिक बुद्धि और पाराशर-वासना के उद्दाम वेग के प्रतीक हैं, 'राधा' में राधा स्त्रीत्व, रूप, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास एवं भक्ति का समन्वित स्वरूप है। नारद भक्ति का अहं है और कृष्ण अनिर्वचनीय रस-स्रष्टा। भट्टजी ने इस रूपकात्मक शैली के दो गद्य-एकांकी 'जवानी' और 'जीवन' भी प्रस्तुत किये हैं, 'जवानी' में एक अधेड़ अवस्था का व्यक्ति बीमारी, शोक और विषाद की मूर्ति के रूप में हमारे आगे उपस्थित होता है। उसके

सम्मुख आगन्तुक (विचारक), वृद्धावस्था (स्मृति), युवती (जवानी), दो युवा, थानेदार, सिपाही आदि आते हैं। वह अपने पूर्व जीवन का विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यौवन को अनुशासित न कर पाने के कारण ही उसका यह दुष्परिणाम हुआ है।

भट्ट जी इन पद्य-एकांकियों के साथ, सामाजिक एकांकियों की रचना भी करते रहे। 'गिरती दीवारें' में पुस्तक के प्रति जड़-श्रद्धा में खोए हुए एक परिवार का चित्र है नवीनता का सहज प्रवाह जिसमें दुखान्तकी की सृष्टि करता है, 'पिशाचों के नाच' में एक गाँव पर गुण्डों के आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न समस्या भ्रष्ट स्त्रियों की क्या स्थिति हो, का प्रगतिशील समाधान है। 'बीमार का इलाज' में एक नवयुवक के अपने मित्र के घर पर अस्वस्थ होने और परिवार के विभिन्न लोगों द्वारा अलग-अलग प्रकार की चिकित्सा व्यवस्था की कथा है, जिससे घबड़ा कर वह स्वस्थ हो जाता है, 'आत्मदान' में समस्या है एक परिवार में पति-पत्नी दोनों ही स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करते हैं, किंतु इससे वे प्रसन्न नहीं हो पाते : घटनाक्रम एवं सत्परामर्श से उनमें आत्मसमर्पण की भावना जागती है, 'वापसी' में एक सम्पन्न व्यक्ति को मृत समझकर उसके सम्बन्धी उसकी सम्पत्ति के लिए झगड़ने लगते हैं; किन्तु जब उनका संघर्ष चरम सीमा पर पहुँचता है तभी वह आँखें खोल देता है और कहता है कि वह अभी जिन्दा है और उन सभी से दूर रहेगा, 'मन्दिर के द्वार पर' अछूतों के मन्दिर प्रवेश के अधिकार को स्वीकार करने का प्रसंग उपस्थित करता है, 'दो अतिथि' में मेहमानों की सर्वग्रासी बुभुक्षा का चित्र है।

भट्ट जी के एकांकी-संग्रह 'धूमशिखा' (सन् १९५९) में भी सामाजिक प्रसंग ही लिए गये हैं। पहले एकांकी 'धूमशिखा' में एक ऐसी युवती का मर्मस्पर्शी चित्र है जो अपने प्रेमी से उपेक्षा पाकर क्षयग्रस्त हो गई है और फिर प्रेमी के आने पर यह जानकर भी कि यह सब किसी और के कारण भ्रमवश हो गया है, उसके साथ जाना स्वीकार नहीं करती। 'विस्फोट' में एक साहित्यिक गोष्ठी का विवरण है, जिसमें एक लब्धप्रतिष्ठ कवि की रचना को बिना भली प्रकार समझे हुए ही विभिन्न कोटि के आलोचकों, छायावादी, गांधीवादी, प्रगतिवादी आदि में तनाव तत्त्व का वातावरण खड़ा हो जाता है और तभी इस पत्रिका का आलोचक जिसने वह रचना छापी थी उपस्थित होकर यह विस्फोट करता है कि वह कविता तो निरर्थक है। 'नया नाटक' में एक नाटककार के घर की उस दयनीय स्थिति का चित्र है, जिसमें उसके लिए साहित्यसृजन असम्भव हो गया है। 'नये मेहमान' में एक सामान्य परिवार में दो अपरिचित व्यक्तियों के आ जाने से उत्पन्न स्थिति का चित्र है, उन्हें किसी प्रकार बिदा किया जाता है, तभी एक परिचित सज्जन बच्चों के मामाजी आ जाते हैं और उनके लिए स्वागत-सत्कार की व्यवस्था होने लगती हैं। 'अंधकार और प्रकाश' में एक व्यक्ति भ्रमवश अपने घर आकर एक सज्जन का वध कर डालता है : वास्तविकता से परिचित होने पर वह उस व्यक्ति के घर जाता है और अपने स्वागत के विशेष आयोजन के बीच यह सूचना देता है कि उसने उस व्यक्ति का वध कर डाला है। इस अन्धकार के वातावरण में सहसा प्रकाश फूटता है जब मृत व्यक्ति का पिता कहता है। "दण्ड, दण्ड क्या हो सकता है? तुम मेरे दूसरे गोविन्द हो, उठो," 'अघटित' में देश के स्वतंत्र होने के अन्तर एक रियासत का चित्र है, जिसमें महाराज, दीवान आदि पहले तो अर्थलोलुप दिखाए गये हैं किंतु फिर उनमें नवचेतना जागती है।

भट्ट जी की सामाजिक एकांकी रचनाओं का एक और संग्रह 'पर्दे के पीछे' प्रकाशित हुआ है। प्रथम एकांकी 'नई बात' में समाज के उच्चतम अधिकारी वर्ग के बीच कवि के महत्त्व की प्रतिष्ठा है। 'बाबू जी' में एक मध्यवित्त परिवार के वरिष्ठतम व्यक्ति की शेक्सपियर के सम्राट् लियर जैसी दुर्दशा की कथा है। 'यह स्वतंत्रता का युग' में एक स्वच्छन्द प्रकृति की नारी का प्रसंग है जो अपने पति के मना करने और अपने बच्चे के अत्यधिक बीमार होते हुए भी एक अन्य व्यक्ति के साथ पहाड़ पर सैर के लिए चली जाती है। 'मायोपिया' में एक सुशिक्षिता युवती की बौद्धिक दृष्टिहीनता का प्रसंग है जो अहं भावना से ओत-प्रोत होकर विवाह न करने का निश्चय कर बैठी है। 'अपनी-अपनी खाट पर' दो नशेबाजों की अनर्गल वार्ता है। जिसमें उलझकर वे अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों का भी निर्वाह नहीं कर पाते। 'बारगेन' में उच्छृंखल प्रकृति के एक ऐसे नवयुवक का प्रसंग है जो एक लड़की को गर्भवती करके; फिर उससे गर्भपात कराना चाहता है; दूसरी से विवाह करने के लिए कहता है; और फिर उसके चले जाने पर अपने पिता के कहने पर तीसरी से विवाह का वादा कर लेता है। 'गृहदशा' में एक वयोवृद्ध दम्पति अपनी लड़की से शादी के लिए आनेवाली एक नवयुवक की माता और फिर उसके पिता से लड़ बैठते हैं तथा अन्त में अपनी इस मूर्खता का दोष अपनी गृहदशा पर डालते हैं। 'पर्दे के पीछे' में धनिक वर्ग के उस पापमय जीवन का उद्‌घाटन है जो हर प्रकार के दुष्कर्म करता है और पैसों से न्याय खरीदता है।

भट्ट जी ने इधर पुनः कुछ पद्य-एकांकियों की रचना की है। 'कालिदास' में संस्कृत के इस प्रसिद्ध कवि की साहित्यिक प्रतिभा का ध्वनि रूपक की शैली में अभिनन्दन है, 'मेघदूत' में अमित्राक्षर छंद में कालिदास के मेघदूत, और 'विक्रमोर्वशी' में कालिदास के इसी नाम के नाटक की कथाएं हैं। 'अशोकवन-बन्दिनी' में सीता का अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग तर्कशील और भविष्य के प्रति आस्थावान नारी का स्वरूप है, जिसके आगे प्रबल पराक्रम रावण हतप्रभ और मन्दोदरी नतशिर हो गयी है। 'सन्त तुलसीदास' में हिन्दी के इस लब्धप्रतिष्ठ कवि के इस आत्मबोध का ध्वनिरूपक है। 'गुरु द्रोणाचार्य' का अन्तर्निरीक्षण और 'अश्वत्थामा' में महाभारत के इन दो चरित्रों का परिणत-वय में आत्मविश्लेषण, अपनी भूलों की स्वीकृति एवं पश्चात्ताप है।

भट्ट जी की एकांकी कला निरन्तर विकासशील रही है। प्रारम्भिक एकांकियों में दो दृश्यों का विधान है और अन्त में रहस्योद्‌घाटन होता है। किन्तु उसके बाद वे एक ही दृश्य के संविधान में, किसी सामाजिक प्रश्न को उपस्थित करके उसका समाधान प्रस्तुत करने लगे। उनके सामाजिक एकांकियों में हम इस जगत की कटु-वास्तविकताओं का उद्‌घाटन एवं कभी-कभी जीवन के आदर्श स्वरूप की प्रतिष्ठा देखते हैं। पद्य-एकांकियों में मनुष्य के अन्तर्जगत की अनेक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास है तथा उनमें विभिन्न भावनाओं के भी मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित किये गये हैं। उनकी नवीनतम कृतियों में हम अन्तर्विश्लेषण की प्रवृत्ति देखते हैं। उनके हास्य एकांकियों में बड़े परिष्कृत और परिमार्जित परिहास के प्रसंगों की अवतारणा की गई है। प्रतीक-पद्धति की एकांकी रचनाएँ मानव मन की दुर्बलताओं की ओर संकेत करने के साथ-साथ हमें प्रगति का मूलमन्त्र भी प्रदान करती हैं। उत्तिष्ठ, जाग्रत का स्वर उनकी सभी रचनाओं में है।

भट्ट जी की भाँति हिन्दी एकांकी के कलात्मक विकास में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का भी पर्याप्त योग रहा है। सर्वप्रथम वे जीवन में चारों ओर फैले हुए दुख दर्द, अनाचार-अत्याचार के उद्घाटन की ओर अग्रसर हुए। उसके बाद हम उन्हें प्रतीकात्मक संविधान को ग्रहण कर समाज की दुर्बल कृतियों एवं व्यक्तियों के ढँके हुए भावों और विचारों पर उँगली रखते-देखते हैं। इसके अनन्तर उन्होंने हास्य और व्यंग्य के तीखे अस्त्रों को अपनाकर व्यक्ति और समाज दोनों की विकृतियों की ओर संकेत करने के साथ-साथ निर्माण का स्वर भी मुखरित करना प्रारम्भ किया। इस बदलते हुए वस्तुतत्त्व के साथ उनकी रचनाओं के शिल्प विधान में भी निरन्तर विकास की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

अश्क जी के एकांकियों के प्रथम संग्रह 'देवताओं की छाया में' (१९४० ई०) प्रारम्भ में इसी संज्ञा को एक दुखान्तकी रचना है। इस एकांकी में नगर के समीपस्थ एक गाँव के नागरिकों की सर्वग्रासी बुभुक्षा के कारण, साधारण स्त्री-पुरुषों की दयनीय स्थिति का वर्ग संघर्ष की भावना को लेकर चित्रण है। समाज के उच्च वर्ग की सुख सुविधा के लिए भिन्न वर्ग के लोगों को अपने जीवन की आहुति देते हुए प्रदर्शित किया गया है। 'लक्ष्मी का स्वागत' एक मध्यवर्गीय परिवार का दुखान्त प्रसंग है, जिसमें वयोवृद्ध माता-पिता अपने पौत्र की मृत्यु शय्या में होते हुए भी अन्धस्नेह और अर्थ-लोलुपता के फलस्वरूप अपने विधुर पुत्र के लिए नई बहू लाने के लिए प्रयत्नशील दिखाये गये हैं। 'अधिकार का रक्षक में' समाज के तथाकथित जन सेवकों के चरित्रों के विरोधाभास का उद्घाटन है जिनके विचार और आचरण विषम हैं। 'विवाह के दिन' भारतीय समाज में होने वाले विवाहों के अवसर पर नववधू को वर के सम्मुख बहुत ढँका-मुँदा रखने की प्रथा पर तीव्र व्यंग्य है। 'पहेली' में आर्थिक कठिनाई का अनुभव करता हुआ एक नवयुवक पहेलियाँ भरने के माध्यम से सम्पन्न होने का स्वप्न देखता है किन्तु वह पूरा नहीं होता। 'जोंक' में बुलाये मेहमान को लेकर, जो किसी प्रकार निकलने का नाम ही नहीं लेता, उत्पन्न हास्यात्मक परिस्थितियों का चित्र है, 'आपस का समझौता' में इसी प्रकार की हास्यपूर्ण शैली को लेकर आज के चिकित्सा व्यवसाय पर तो तीखा व्यंग्य है ही, साथ ही यह दिखाया गया है कि आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक सुरक्षा की खोज में मनुष्य किस प्रकार की हीन वृत्तियों से ग्रस्त होता जा रहा है।

अश्क जी की एकांकी रचनाओं के दूसरे संग्रह 'चरवाहे' (सन् १९४७) में हम प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग देखते हैं। अश्क अपने इन एकांकियों में बाह्य जगत के स्थूल प्रसंगों के चित्रण के स्थान पर मानव मन की किन्हीं गुत्थियों को उभार कर रखने की ओर अग्रसर हुए हैं। स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होने की इस प्रवृत्ति के कारण स्वभावतः उनके एकांकियों में गाम्भीर्य आ गया है। प्रथम एकांकी 'चरवाहे' में हम रूढ़िबद्ध और प्रगतिशील जीवन-दर्शनों का संघर्ष देखते हैं। रत्नी अपने परिवार के प्राचीन संस्कारों से ग्रस्त वातावरण में अपने को पग-पग पर प्रताड़ित और कुण्ठित अनुभव करती है। चरवाहों का स्वच्छन्दता की भावना से ओतप्रोत गीत उसके मन में उन्मुक्त जीवन के प्रति आकर्षण की भावना जगा जाता है और एक दिन वह एक चरवाहे गोविन्द के साथ स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने के लिए भाग खड़ी होती है। 'चिलमन' में एक मध्यवर्गीय परिवार की रोगशैय्या में पड़ी

हुई नारी के अपने पति की तीव्र उपेक्षा के कारण दुःखद अन्त का प्रसंग है। 'मैमूना' एक ऐसी नारी की कथा है जो निरन्तर अपने प्यार का एक नया प्रतीक खोजने में तत्पर रहती है। किन्तु उसमें उससे अधिक उसकी भोली-भाली निरीह बालिका का चरित्र उभरा है, जो अपनी माता से उपेक्षित होकर, अपने सौतेले पिता में, सच्ची पितृव्य भावना जगाने में समर्थ हुई है। 'चुम्बक' में एक मोहक व्यक्तित्व के कवि को लेकर दो युवतियों के साथ उनके स्नेह सम्बन्ध की कथा है। इस रहस्य को जानकर गम्भीर प्रकृति की गोपा तो विषाद मग्न हो गई है; किन्तु सरिता अपनी अत्यधिक भावुकता को लेकर अपने स्वप्नों में ही विहार करती रह जाती है, 'खिड़की' में भी एक नारी का ही प्रसंग है जो एकनिष्ठ स्नेह की भावना को लेकर अपने दूर चले गए प्रेमी के प्रति निरन्तर अनुरक्त बनीं रहती है किन्तु सहज प्रकृति के एक नवयुवक को अपने प्रति पूर्णतः अनुरक्त पाकर भी किसी प्रकार उसे स्वीकार करने को तत्पर नहीं होती, 'सूखी डाली' में प्रसंग तो जागरूक व्यक्तित्व की एक नववधू का है जो कि एक सम्मिलित कुटुम्ब के गृहस्वामी के कठोर अनुशासन में अपने को शुष्क एवं जड़ अनुभव करने लगती है। किन्तु वस्तुतः उसमें तानाशाही व्यवस्था में मनुष्य का व्यक्तित्व किस प्रकार कुण्ठित हो जाता है, इसका चित्र उपस्थित किया गया है, 'चमत्कार' मनुष्य के धार्मिक अन्धविश्वास का हास्य व्यंग्यपूर्ण चित्र है। इसमें विभिन्न धर्मों के अन्धविश्वास से ग्रस्त धर्माधीशों पर एक मजमुए की व्यावहारिक बुद्धि की विजय दिखाई गई है। इस एकांकी में दोहरा व्यंग्य है। एक ओर तो वह हमारे धार्मिक अन्धविश्वास पर चोट करता है दूसरी ओर मजमुओं की धूर्ततापूर्ण व्यवहार-कुशलता पर।

अश्क जी इन प्रतीकात्मक एकांकियों के अनन्तर पुनः जीवन की व्यापक परिस्थितियों के कुत्सित और विकृत रूपों के उद्‌घाटन में संलग्न हो गए। साथ ही साथ उनमें नवनिर्माण की भावना भी मुखरित हो उठी, उनके एकांकी रचनाओं के तीसरे संग्रह 'तूफान से पहले' के इसी संज्ञा के प्रथम एकांकी में हम साम्प्रदायिक संघर्ष का नृशंसतापूर्ण चित्र देखते हैं; किन्तु साथ ही उसमें घीसू का उदात्त चरित्र भी है, जो मरते हुए अपनी पत्नी से अपने विधर्मी पड़ोसी के बच्चे को अपनी ही सन्तान की तरह पालने की प्रतिज्ञा करा जाता है, 'पापी' का कथासूत्र 'चिलमन' जैसा ही है : इसमें भी मध्यवर्ग की एक नारी का अपने पति की उपेक्षा के कारण त्रासपूर्ण अंत है, 'बहनें' में आधुनिक बुद्धिवादी नारी के उग्र अहं एवं अत्यधिक आश्वस्त प्रकृति पर तीव्र व्यंग्य है। 'वेश्या' में एक वयोवृद्ध वारविलासिनी की अर्थ-लोलुप प्रकृति के विरोध में उसकी सजग व्यक्तित्व की पुत्री और एक आदर्शवादी नवयुवक के चरित्रों को प्रस्तुत किया गया है। 'तौलिए' में सफाई की सनक से ग्रस्त एक मध्यमवर्गीय नवयुवक गृहस्वामी का परिहासपूर्ण चित्रण है। 'पक्का गाना' में फिल्मी जीवन में परिव्याप्त छल-प्रवञ्चना एवं अन्य हीन प्रवृत्तियों को अनावृत किया गया है। 'नया पुराना' में धूर्त्त प्रकृति के रविदत्त पर सात्विक शील के देव-चन्द की विजय दिखाई गई है।

अश्क जी के चौथे और पाँचवें एकांकी संग्रहों 'पर्दा उठाओ। पर्दा गिराओ!' तथा 'साहब को जुकाम है' में हम हास्य और व्यंग्य के तीखे अस्त्रों का व्यक्ति और समाज के परिष्कार के लिए सशक्त प्रयोग देखते हैं। 'पर्दा उठाओ! पर्दा गिराओ!' एकांकी में एक अव्यावसायिक नाटकीय संस्था के नाट्याभ्यास का परिहासपूर्ण चित्र है। इसमें अभिनेताओं,

निर्देशकों आदि की त्रुटियों का तो मजाक बनाया ही गया है, जननाट्य संस्थाओं की कठिनाइयों की ओर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है। 'कइसा साब कइसी आया' में आया की प्रदर्शन मनोवृत्ति और साहब की हल्की रोमानी प्रवृत्ति दोनों ही पर चोट की गई है। 'मश्केबाजों का स्वर्ग' में 'पक्का गाना' की भाँति फिल्मी जीवन की धूर्ततापूर्ण पैंतरेबाजी एवं अन्य दुष्प्रवृत्तियों का हास्य व्यंग्यपूर्ण विवरण है। 'सयाना मालिक' में घरेलू नौकरों के प्रति समाज में प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों को विनोदपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है। 'कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन' में हमारी आज की अनेक प्रकार के उद्घाटनों का आयोजन करने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य है। 'किसकी बात में ?' एकांकी में, भाषा को अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ बनाने की प्रवृत्ति का मज़ाक बनाया गया है। 'फादर्ज़' में ईसाई प्रचारकों की शिक्षण पद्धति और उसके दुष्परिणामों पर तीव्र व्यंग्य है। 'कुसुम का सपना' में एक नव परिणीता युवती अपनी दिवंगता सौत के पुत्र के पालन-पोषण का निश्चय करती है; किन्तु आत्मीयता के अभाव एवं प्रदर्शन वृत्ति के कारण असफल होती है। 'घपले' में आकाशवाणी के एक केन्द्र में अनायास हो जाने वाले व्यतिक्रमों का हास्यपूर्ण विवरण है। 'साहब को जुकाम है' एकांकी में समाज के उच्च वर्ग की झूठी कलाभिरुचि, ईर्ष्या-बुद्धि एवं उग्र अहं पर गहरी चोट है।

अश्क जी ने रंगमंच की दृष्टि से विशेष रूप से सफल एकांकियों की रचना की है; और साथ ही उनकी रचनाएँ सुपाठ्य भी हैं। उनके एकांकी पाठ्य रूप में ही अपने सशक्त, सूक्ष्म निर्देशनात्मक और प्रतीकात्मक रंग संकेतों से हमें पकड़ लेते हैं। उनके कथानक घटनाओं के घात-प्रतिघात, त्वरा पूर्ण परिवर्तन एवं कलात्मक सुसंगठन से हमारी कौतूहल और जिज्ञासा की प्रवृत्तियों को निरन्तर जागरुक रखते हैं, तथा एक गंभीर प्रभाव छोड़ जाते हैं। उनके चरित्र सहज स्वाभाविक होते हुए भी अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करते हैं। संवादों में अभिनयोचित भंगिमाओं के जागरण की पूर्ण सामर्थ्य है : वे कहीं वाग्वैदग्ध्य, कहीं नाटकीय व्यंग्य और कहीं-कहीं काव्यतत्त्व से भी ओत-प्रोत हैं। वातावरण का संयोजन उन्होंने प्रतीकात्मक पद्धति से किया है, जो अभीष्ट प्रभाव को सरलता से जगा देता है। संकलन-त्रय का भी उनके एकांकियों में निर्वाह है। प्रारम्भ में उन्होंने यथार्थवादी शैली अपनाई थी। उसके बाद प्रतीकात्मक संविधान ग्रहण किया। और अब व्यंग्यात्मक अभिव्यञ्जना प्रणाली का उपयोग करते हैं। प्रारम्भिक रचनाओं में उनका उद्देश्य हमारे मानस को झकझोर कर जीवन की कुरूपताओं को मिटाने की प्रेरणा देना था; उसके बाद उन्होंने स्वाधीन चिन्तन और व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए सचेष्ट किया, और अब व्यक्ति और समाज की दुर्बलताओं पर गहरे कुशाघात कर रहे हैं। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अश्क जी के एकांकियों में विध्वंस पर जितना बल है, उतना निर्माण पर नहीं।

अश्क जी की एकांकी कला के मुक्त-कंठ से प्रशंसक श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने स्वयं भी एकांकियों की रचना की है। अनुभूति प्रयण, 'रीढ़ की हड्डी' में विवाह सम्बन्ध के लिए कन्या-दर्शन का प्रश्न है, जिसमें पुरुष के साथ कन्या के अपनी रुचि प्रकट करने के अधिकार की सम्पूर्ण बल के साथ प्रतिष्ठा है। 'मकड़ी का जाल' में एक स्वच्छन्द प्रकृति और स्वाधीन चेता नवयुवक को जीवन के लिए मजबूर होकर महाजनी सभ्यता की लौह शृंखलाओं में फँसते हुए

दिखलाया गया है। 'खंडहर' में यौवन की अनुभूति शील, भावना प्रवण और सौन्दर्यवादी दृष्टि से परिणत वय के यथार्थोन्मुख, व्यावसायिक एवं कुंठाग्रस्त वृत्तियों का संघर्ष है; प्रकृति का मधुर मादक वातावारण वयोवृद्धि में भी यौवन का उद्दाम वेग जगा जाता है, किन्तु जब मनुष्य उस इंगित की दिशा में बढ़ता है तो वह अपने को पीड़ित, प्रताड़ित और पददलित अनुभव करता है।

माथुर जी इन रचनाओं के अनन्तर आधुनिक जीवन के अतिरंजनापूर्ण, हास्यास्पद और व्यंग्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत करने लगे। 'घोसले' में हम उन्हें विद्यार्थी काल की स्वच्छन्द प्रकृति के साथ गृहस्थ जीवन की कठोर वास्तविकताओं के सम्मुख दमित और कुंठित मानव प्रवृत्ति का तुलनात्मक चित्रण प्रस्तुत करते देखते हैं। 'खिड़की की राह' में एक सुशिक्षिता नवयुवती प्रदर्शन वृत्ति से ओत-प्रोत अपने धनी प्रेमी को छोड़कर एक जागरुक बुद्धि, कलानुरक्त एवं स्वाभिमानी नवयुवक का वरण करती है। 'कबूतरखाना' में एक चिट्ठी-पत्री रखने के काष्ठ पात्र को लेकर एक नवदम्पत्ति के प्रणय-कलह का चित्रण है। 'भाषण' में एक बालिका विद्यालय में बड़े अधिकारी की पत्नी के व्याख्यान का हास्य तथा विनोदपूर्ण चित्रण है। 'ओ मेरे सपने' में फिल्मों के अवांछनीय प्रभाव से उत्पन्न अस्वस्थ रोमांस की प्रवृत्ति का मज़ाक बनाया गया है। माथुर जी अपने इधर के एकांकियों 'बन्दी' आदि में जीवन के अगम्भीरतापूर्ण परन्तु भावना और कल्पना से अनुरंजित चित्रण की ओर अग्रसर हुए हैं। माथुर जी की धारणा है कि मनुष्य का जीवन पथरीली चट्टानों पर रस भरे बादलों का संयोग है, इसीलिए इन एकांकी रचनाओं में जीवन की कठोर भूमि पर उनकी मन की भावना का निर्भर प्रवहमान दृष्टिगत होता है।

विष्णु प्रभाकर जीवन की गहरी पकड़ के साथ प्रबुद्ध मन और सात्त्विकशील की भावना से ओत-प्रोत साहित्यकार हैं। उनके एकांकियों में भी उनके व्यक्तित्व के इन्हीं पक्षों की अभिव्यक्ति है। प्रारम्भ में उन्होंने प्रतिदिन के जीवन की घटनाओं को लेकर रंगमंचीय एकांकियों की रचना की, फिर कुछ ऐतिहासिक एकांकी लिखे और उसके बाद रेडियो से सम्बद्ध होने पर काव्य एकांकी के विभिन्न रूपों का निर्माण किया। इसी काल में उन्होंने कुछ एकपात्रीय एकांकियों की भी रचना की। इधर उन्होंने प्रतीकात्मक अभिव्यंजना प्रणाली से सम्बद्ध कुछ रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। अपनी अधिकांश एकांकी रचनाओं में विष्णु प्रभाकर ने किसी सामाजिक परिस्थिति, घटना विकास या अन्तःप्रेरणा से प्रसूत मनोग्रन्थियों को खोलने का प्रयत्न किया है। इस आधार पर उन्हें मनुष्य के मनोजगत में उठने वाले प्रश्नों, जटिल समस्याओं का चित्रक एकांकीकार कहा जा सकता है। उन्होंने जो समाधान प्रस्तुत किया है, उसमें आधुनिक परिस्थितियों का समुचित बोध, युग चेतना का सम्यक् उन्मेष और आदर्श के सहज व्यवहारशील रूप की प्रतिष्ठा है।

हिन्दी में पश्चिम की बुद्धिवादी नाट्यकला के प्रवर्त्तक लक्ष्मी नारायण मिश्र एकांकी रचनाओं के निर्माण में उस समय तत्पर हुए जब उन्होंने अपने स्वतन्त्र साहित्यिक व्यक्तित्व की खोज कर ली थी और वे बौद्धिक तर्क-वितर्क के साथ भावुकतापूर्ण कथोपकथनों को भी उपयुक्त समझने लगे थे। 'प्रलय के पंथ पर' मिश्र जी का प्रथम एकांकी-संग्रह है। इसमें स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न को अनेक दृष्टियों से उठाया गया है और नारी के बुद्धिवादी तर्क-

शील एवं जागरूक व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की गई है। केवल एक एकांकी 'मेड़ तोड़ दो' ग्रामीण जीवन के संघर्षमय स्वरूप का चित्रण है—जिसमें समाधान गान्धी दर्शन द्वारा दिलाया गया है।

'अशोक वन' में ऐतिहासिक एकांकी है : कुछ का संविधान रंगमंचीय है; और कुछ रेडियो रूपक की पद्धति के हैं। 'भगवान मनु तथा अन्य एकांकी' संग्रह में भारतीय संस्कृति के कुछ महान् विधायकों मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर, कौटिल्य और शंकर की जीवन झाँकियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। मिश्रजी के इन एकांकियों का स्वरूप अभिनेय से पाठ्य अधिक है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने प्रारम्भ में ऐतिहासिक प्रसंगों को लेकर भावना और कल्पना से अनुरञ्जित एकांकियों की रचना की। इसके बाद वे वर्तमान जीवन की कटु वास्त-विकताओं, विषम परिस्थितियों एवं मानव चरित्र की दुर्बलताओं के चित्रण में संलग्न हुए : उनकी इस काल की कृतियों में भी भावुकता का उद्यान प्रवाह दृष्टिगत होता है; किन्तु नई सुबह के संकेत भी मिलने लगे हैं। इधर के एकांकियों में लोक धर्मी नाटक शिल्प की प्रतिष्ठा का प्रयास है। डॉ० लाल के एकांकी संग्रह 'ताजमहल के आँसू', 'पर्वत के पीछे' और 'नाटक बहुरंगी' उनकी एकांकी कला के विकास के विभिन्न सोपानों को प्रकट करते हैं।

आधुनिक युग के नवीन बोध को लेकर हिन्दी कविता के नूतन संविधान में संलग्न डॉ० धर्मवीर भारती ने एकांकी के क्षेत्र में भी शिल्प की दृष्टि से कुछ प्रयोग प्रस्तुत किये हैं। 'नदी प्यासी थी' में प्रेम के परंपरागत त्रिकोण को, सामाजिक अंधविश्वास की पृष्ठ भूमि में रखकर, प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। 'आवाज़ का नीलाम' में आज की महाजनी सभ्यता में स्वाधीन पत्रकारिता पर पूँजी की बढ़ती हुई जकड़ का मर्मस्पर्शी चित्रण है। 'संगमरमर पर एक रात' में मुग़ल सम्राट जहाँगीर के जीवन में शेर अफ़गन के निधन के कई वर्ष बाद, विधवा मेहरुन्निसा के नूरजहाँ बनकर आने का इतिहास प्रसिद्ध प्रसंग है : नवीनता है, जहाँगीर का स्नेह सम्बोधन यौवना के उद्याम वेग की भावुकता से परिपूर्ण नहीं, वरन् परिणत वय में मन का साथी पाने की आकांक्षा से अनुप्राणित है। 'नीली झील' में बड़े मोहक प्रतीकात्मक संविधान में आज के विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों को निरर्थक सिद्ध करके, जन जीवन में उतर कर मानव आत्मा की खोज का दर्शन प्रस्तुत किया गया है। 'सृष्टि का आखरी आदमी' रेडियो रूपक की शैली में लिखित है, और अपनी संज्ञा से इस जगत के विनाश की कथा कहता प्रतीत होता है, किन्तु उसमें विध्वंसात्मक परिस्थिति के अत्यधिक घनीभूत हो उठने पर, जीवन शक्ति पुनः प्रगतिशील हो उठी है।

हिन्दी एकांकी के विकास में इन लेखकों के अतिरिक्त सर्वश्री हरिकृष्ण प्रेमी, भगवती-चरण वर्मा, सत्येन्द्र शरत, चिरंजीव, गिरिजाकुमार मथुर, चन्द्रकिशोर जैन, विनोद रस्तोगी, रेवतीशरण शर्मा, नरेश मेहता आदि का भी विशेष योग रहा है। श्रीमती विमला लूथरा ने भी अनेक सशक्त रंगमंचीय एकांकी लिखी हैं। हिन्दी एकांकी की यह द्रुतगतिक प्रगति शिक्षा-पीठों के अस्थायी रंगमंच, आकाशवाणी के ध्वनि-नाट्य-प्रसारण एवं जन-नाट्य-संस्थाओं के सम्मिलित प्रयास से सम्भव हुई है। इस क्षेत्र में अभी और भी उद्योग वांछनीय है, और इस संबंध में अन्य देशों के रंगमंच की उपलब्धियों के समुचित बोध लोक धर्मी नाट्य परंपरा के पुनरुत्थान पाश्चात्य देशों जैसे लघु-मञ्च आन्दोलन की अपेक्षा है : तभी हिन्दी की एकांकी कला उच्चतम सोपानों पर अग्रसर हो सकेगी।

हिन्दी रंगमंच

हिन्दी रंगमंच का इतिहास कब से प्रारम्भ होता है इसका निश्चित उत्तर देना कठिन है क्योंकि हिन्दी साहित्य की सापेक्षता में जो भी रंगमंच रहा होगा उसके दोनों रूप, अभिजात्य और लोक, एक दूसरे से नितान्त पृथक रहे होंगे। अभिजात्य रंगमंच संस्कृत रंगमंच रहा होगा और लोक रंगमंच स्वांग, कथोपकथन, भाण आदि रूपों में नितान्त लोकधर्मी स्तर का रहा होगा। लोकधर्मी रंगमंच का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। क्योंकि वह आवश्यकता के अनुसार बना लिया जाता था। उसका रूप भी स्थिर इसीलिए नहीं था कि वह एक शास्त्रीय स्तर पर न तो नियोजित होता था और न ही उसका कोई शास्त्र विकसित हो पाता था। विभिन्न क्षेत्रों में उनका रूप अलग-अलग हुआ करता था और उन्हीं रूपों की रूढ़ियाँ धीरे-धीरे क्षेत्र विशेष में स्थिर हो जाया करती थीं। लोक रंगमंच की व्युत्पत्ति का जहाँ तक प्रश्न है वह स्वयं संस्कृत नाटकों के विष्कम्भकों में देखा जा सकता है। निम्न वर्ग के पात्रों, स्त्रियों और साधारण जन के कथोपकथन में मुद्राओं और शैलियों में जिस प्रकार का अभिनय और अभिव्यक्ति की शैलियाँ मिलती हैं उन्हीं से यह स्पष्ट पता चल जाता है कि अभिजात्य का विकास और समन्वय किस प्रकार हो रहा था। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में मछुये, स्याल एवं अन्य कर्मचारियों के कथोपकथन में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक शैली किस प्रकार अभिजात्य के साथ सह अस्तित्व बनाये हुए थी। 'उत्तर-रामचरित' या 'मृच्छकटिकम्' में भी ऐसे प्रमाण मिलते हैं जहाँ यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि संस्कृत वर्ग के आचार-व्यवहार और उनके हाव-भाव में सामान्य स्तर के जीवन एक अलगाव हैं और वह अलगाव अपने स्वस्थ रूप में कहीं अलग विकसित हो रहा है। 'मुद्राराक्षस' और 'मृच्छकटिकम्' जैसे नाटकों में तो बहुत कुछ ऐसा है जो नितान्त लोकधर्मी रंग-मंच का रूप प्रस्तुत करता है। कहने का सारांश यह कि संस्कृत नाटकों में स्त्रियों और निम्नवर्ग के पात्रों द्वारा केवल प्राकृत भाषा का प्रयोग और उनके द्वारा प्रस्तुत अभिनय भले ही उस युग के समाजिक यथार्थ का प्रमाण हो, किन्तु इसके साथ-साथ वह इस बात का भी प्रमाण है कि भाषा, वेश-भूषा और लोक आचरण अपनी अलग सत्ता रखता था और विवश होकर उस परम्परा को संस्कृत नाटक-कारों को अपनाना पड़ता था। यों तो कहा जाता है कि संस्कृत नाटकों और रंगमंच की विधियों से ही लोकपरम्परा निकली हैं। किन्तु 'नाटिकाओं', 'चम्पुओं' आदि की परम्परा से यह स्पष्ट है कि लोक रंगमंच ने ही अभिजात्य को प्रभावित किया था, और अभिजात्य को विवश होकर उनकी प्रचलित शैलियों को अपने में मिलाना पड़ा होगा। इसलिए स्वयं संस्कृत नाटकों के अध्ययन से यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि प्राकृत भाषा में अवश्य कोई रंगमंच रहा होगा। यह रंगमंच अपने अभिनय रूप में प्रचलित अपनी परम्परा भी रखता था। बाद में, इसी प्राकृत रंगमंच का ही रूप किसी न किसी रूप में हिन्दी के आदि काल में लोकधर्मी

परम्परा के रूप में विकसित हुआ होगा। रासो ग्रन्थों के कथोपकथन और उनके प्रसंगों में जितनी काव्यात्मकता है, उतनी ही नाटकीयता भी। बाद में आल्हा और अन्य वीरकाव्यों में भी वह नाटकीयता हमें मिलती है। यह नाटकीयता और अभिनय प्रियता आज भी जिस रूप में वर्तमान है उससे यह तो सिद्ध होता ही है कि 'एक्शन पोयेट्री' के रूप में ही इनका महत्त्व था। स्वर और अभिनय, आघात् और उपघातों की शृंखला में प्रेक्षकों और श्रोताओं के समक्ष उनका कथोपकथन उसी परम्परा का द्योतक है। आदि हिन्दी काव्य में जो नाटकीय तत्त्व मिलते हैं उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में ये किसी-न-किसी रूप में रंगमंच प्रधान ही रहे होंगे।

हिन्दी के आदिकालीन रंगमंच के विकास का पता लगाने में एक कठिनाई यह है कि उस काल की जो व्याख्या हमारे इतिहासकारों ने की है वह भ्रामक है। वह काल गीति काल था और साथ ही वह कर्मप्रधान काल भी था। स्वयं शेक्सपीयरका काल यदि देखा जाय तो इसी प्रकार के उथल-पुथल का काल रहा है। यदि एक ओर सर फ्रांसिस ड्रेक जैसे लोग थे तो दूसरी ओर कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट के धर्म युद्धों में विश्वास रखनेवाले। इसी काल में एलिजाबेथ काल का रंगमंच और शेक्सपियर जैसा नाटककार भी हो गया है। मैं ग्रीक नाटकों और उनके रंगमंच के विकास का कारण भी यही मानता हूँ। रागात्मक द्वन्द्वों का व्यापक विस्तार और राज्य युद्धों की असीम शृंखला, भावनात्मक स्तर पर विरोधी तत्त्वों का संघर्ष और उसके बीच से व्यंग्यों और अपवादों का आघात, बाह्य और आन्तरिक का द्वन्द्व तथा उनके बीच मूल्यों की गहराई यही कुछ तथ्य हैं जिनमें नाटक और रंगमंच का विकास होता है।

आदिकाल के पूर्व की संस्कृत परम्परा और संस्कृत रंगमंच की परम्परा इतनी अधिक अभिजात्य और प्रतिष्ठित थी कि उसके समक्ष जो भी रंगमंग विकसित हुआ होगा वह या तो संस्कृत रंगमंच के समर्थन में रहा होगा या नितान्त लोकधर्मी। संस्कृत की परम्परा का जो पोषक रहा होगा वह आज इसलिए नहीं उपलब्ध है कि वह परम्परा की प्रतिष्ठा में घुलमिल गया और जो लोकधर्मी था उसके पास किसी परम्परा को सुरक्षित करने की क्षमता नहीं थी। इसलिए इस काल की अतिशय नाटकीयता भी उसी में खो गई। जिस प्रकार इस काल का इतिहास प्रायः लुप्त हो गया है उसी प्रकार रंगमंच का भी इतिहास है। दोनों के लुप्त हो जाने से आज किसी एक का भी कहीं नाम नहीं है और ऐसा लगता है, जैसे वह पूरा इतिहास आज केवल अनुमान पर आधारित है ठीक वैसे ही उस युग विशेष का नाट्य और रंगमंग भी इन्हीं अज्ञात पन्नों में दफ़न है।

ऐसी स्थिति के कई महत्त्वपूर्ण कारणों में से एक कारण संस्कृत नाट्य और रंग-मंच की प्रौढ़ विधा का प्रतिष्ठित रूप है। जब किसी भी विधा में एक स्वस्थ और सबल परम्परा एक बार प्रतिष्ठित हो जाती है तब उसका प्रभाव इतना गहरा पड़ता है कि उसके सामने जो भी नई परम्परा जन्म लेती है और वह प्रतिष्ठित परम्परा से बड़ी नहीं होती तो प्रायः कृत्रिम घोषित करके उपेक्षित कर दी जाती है। हिन्दी के आदिकाल में जो भी नया रंगमंच लोक स्तर पर या अपने युग के अभिजात्य स्तर पर विकसित हुआ होगा, वह संस्कृत परम्परा की तुलना में सहज ही गौण और नितान्त लोकधर्मी की संज्ञा देकर समाप्त कर दिया गया होगा।

आज भाण, स्वांग, नौटंकी और नकल आदि की जो परम्पराएँ हमें मध्य युग से लेकर वर्तमान युग तक में दिखाई पड़ती हैं उनका रूप निश्चय ही किसी अभिजात्य की विकृति न होकर स्वतः विकसित और उद्भूत परम्परा लगती है। यह हो सकता है कि अभिजात्य के कुछ तत्त्वों को तोड़ कर यह रूप कभी जन्मा हो किन्तु उनके रूपों को देखने से यह स्पष्ट लगता है कि अभिजात्य का केवल आभास मात्र उसमें है। उनकी परम्परा विकृत रूप में भी उनमें नहीं है। हिन्दी रंगमंच के आदि काल में जो भी रंगमंच रहा होगा वह इन्ही रूपों में से रहा होगा। उनके मूल रूप में अभिजात्य को अपदस्थ करके ही यह रूप विकसित हुआ होगा। यह नया रूप स्वतंत्र रहा होगा और बिना किसी संकोच के संस्कृत रंग-मंच और परम्परा का समानान्तर रहा होगा। लेकिन वह रूप किस प्रकार का रहा होगा अथवा उसके मूल तत्त्व कैसे रहे होंगे इसका प्रमाण प्रस्तुत करना कठिन है।

हिन्दी के आदिकालीन रंगमंच के उस रूप का कुछ भी पता न लग पाने का एक कारण यह भी है कि ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी से ही मुस्लिम आक्रमण प्रारम्भ होने के कारण उसका रूप व्यवस्थित न रह पाया होगा सामन्तों के यहाँ वैसे भी मध्यकाल में नाटकों को अधिक प्रश्रय नहीं मिला है। वह युग नाटकों को और अभिनय को संस्थाबद्ध रूप में न देख कर, एक वर्ग या जातिबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का था। उसका प्रमाण यह है कि आज भी नटों, भाणों अथवा भाटों की एक जाति ही बन गई है, नक्कालों की भी इसी प्रकार एक जाति बन चुकी है।

भारतीय रंगमंच के विकास में नट-नटी के कर्मगत आचार को वंशगत और जातिगत रूप में विकसित करने की बात भी इसकी पुष्टि करती है। संस्कृत काल में ही यह संस्था वंशगत और जातिगत रूप में स्थापित हो चुकी थी। मध्य युग में संस्कृत परम्पराओं का ह्रास जहाँ अन्य क्षेत्रों में हो रहा था वहाँ इस क्षेत्र में भी हुआ और नटों की संस्था, नाटक और रंगमंच के स्तर में भी पतन आया। आज तो नट जाति का अर्थ ही पिछड़ी हुई जाति के रूप में और उसका काम केवल कुछ खेल, तमाशे, जादू, टोना या रस्सी पर चलने-चलाने तक सीमित रह गया है। कहने का सारांश यह कि मध्यकाल तक संस्कृत भाषा के लुप्त होने के साथ-साथ संस्कृत नाट्य परम्परा भी लोकप्रिय माध्यम न हो कर केवल अभिजात्य वर्ग और कुछ प्रतिष्ठित वर्ग तक ही सीमित रह गयी थी। उसके बदले में जो लोक रंगमंच था या लोक अभिनय या मनोरंजन का स्तर था वह काफी भिन्न प्रकार का था। आदिकालीन हिन्दी रंगमंच के दर्शन जो हमें नहीं होते थे उनका रूप जो हमें देखने को नहीं मिलता उसका एक कारण यह भी था कि वह संस्थागत न होकर जातिगत थो और जातिगत हो जाने के कारण उसमें कृत्रिम रूढ़ियाँ थीं और इसीलिए उसका शास्त्रीय विवेचन भी नहीं था। यही कारण है कि वह लुप्तप्राय है।

हिन्दी के आदिकालीन रंगमंच का कुछ भी आभास मिलने का कारण भारत के सांस्कृतिक जीवन का आधार-परिवर्तन था। संस्कृत भाषा से प्राकृत तक तो संस्कृत का मूलाधार हमारी भाषा और सांस्कृतिक चेतना में जागृत अवस्था में रहा, उससे आदान प्रदान भी सम्भव हो सका लेकिन अपभ्रंश और उसके बाद जनपदोय भाषाओं के विकसित होने के कारण संस्कृत और हिन्दी या अपभ्रंश के बीच वह सीधा आदान प्रदान संभव नहीं हो सका। एक अनावश्यक दूरी भाषा के कारण आई। साथ ही, नई विकसित भाषाओं की प्रकृति प्रक्रिया के रूप में थी।

इसीलिए वह भी अपना प्रतिमान स्थिर करने में असमर्थ रही। प्रतिष्ठित परम्परा की दुरूहता और प्रचलित सांस्कृतिक चेतना की अस्थिरता के कारण भी उस काल की नाट्य या रंगमंच सम्बन्धी विधाओं का हमारे पास कोई ज्ञान नहीं है।

एक तीसरा कारण उस काल के देशी राज्यों का विघटन था। मध्ययुग का बहुत कुछ साहित्यिक या सांस्कृतिक संरक्षण सामन्तों और राजाओं द्वारा होता था। छोटे-छोटे राज्यों में बँटे भारत का जो मानचित्र मध्ययुग में मिलता है, उससे यह स्पष्ट पता चलता है कि ये राज्य स्वतः पतनशील अवस्था में थे। ऐसी अवस्था में उनके लिए न तो अभिजात्य परम्पराओं को संरक्षण दे सकना संभव था और न वह स्वतः किसी नई परम्परा को जन्म दे सकते थे। छोटे-छोटे अहं व स्वार्थों की टकराहट में वे इतने उलझे हुए थे कि रंगमंच या कला से सम्बन्धित किसी भी प्रौढ़ परम्परा का प्रतिपादन उनके लिए असम्भव था। इसलिए ऐतिहासिक क्रम में न तो गुप्तकाल के बाद प्रामाणिक रूप में अभिजात्य रंगमंच का और न लोक रंगमंच का कोई प्रमाण उपलब्ध है।

ग्यारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक यद्यपि भारतीय संस्कृति का विश्रृंखल रूप आक्रमणकारी मुसलमानों की संस्कृति से कहीं प्रौढ़ और दृढ़ था, फिर भी मुसलमानों ने जिस प्रकार इस्लाम के आतंक के साथ भारतीय संस्थानों को तहस-नहस कर दिया था। उससे रंग-मंच का जो भी शिलष्ट रूप रहा होगा वह भी नष्ट हो गया होगा। इस्लाम में वैसे भी नाटक, अभिनय और चित्रकला आदि के प्रति बड़ा कठोर वर्जित नियम है। मूर्तियों के खण्डन के साथ-साथ इसीलिए इन ललित कलाओं का सार्वजनिक अंश नष्ट हो गया था। इल्लुतमिश, रज़िया, बलबन, नासिरुद्दीन, अलाउद्दीन और अन्य मुसलिम शासकों के काल में इसीलिए अमीर खुसरो जैसे कवि को फारसी और हिन्दी को मिलाने का प्रयास कर रहे थे, वह तो मिलते हैं लेकिन कोई नाटककार ऐसा नहीं मिलता जो अभिजात्य या लोक रंगमंच के लिए नाटक लिखे और उसको प्रस्तुत करने का यश पा सका हो। वस्तुतः संस्कृत नाटक का यदि हम इतिहास देखें तो पायेंगे कि बारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक ५०० वर्षों में केवल बीस नाटककार हुए हैं। उन्होंने भी नाटक तो लिखे। लेकिन उनमें कालिदास जैसी प्रतिभा देखने को नहीं मिलती। इन बीस नाटककारों में से कितने केवल सफल नाटककार ही हो पाये हैं। इस सब का मुख्य कारण यह था कि सांस्कृतिक स्तर पर अभिव्यक्ति के सभी माध्यम शिथिल थे। यह चौथा कारण था कि उस काल के किसी भी चरण में रंगमंच को प्रोत्साहन नहीं मिला।

पाँचवाँ कारण हिन्दी रंगमंच के किसी भी रूप के न मिलने का यह है कि समस्त सांस्कृतिक विधाएँ केवल सुरक्षा के लिए धर्म सापेक्ष हो गई थीं। उनका अधिकांश रूप विशुद्ध सांस्कृतिक न रह कर धार्मिक हो गया था। मन्दिरों, मठों और अन्य धर्म प्रधान संस्थानों में यह अपने को छिपाए हुए थीं। संगीत के बड़े-बड़े आचार्य यहाँ तक कि हरिदास जी जैसे लोग भी केवल संत वेश में धर्म को केन्द्र मान कर कला का संरक्षण कर रहे थे। इन धार्मिक संस्थानों में पहुँचने के कारण निश्चय ही कला का वह रूप जो सामन्ती या अभिजात्य के नाम पर क्लासिकल रूप में था। उसके विकास का कोई साधन नहीं था, इसीलिए उसका भी कोई महत्त्व नहीं रहा। इसी प्रकार लोक रंगमंच में भी जो सामान्य जन के हित का था उसके लिए

भी कोई स्थान शेष नहीं बचा क्योंकि वह तो पहले ही दबा हुआ वर्ग था, और अब तो वह और भी दब गया था। परिणाम यह हुआ कि जहाँ विदेशी आक्रमणकारी मन्दिर गिरा रहे थे। वहीं मन्दिरों के अमूर्त परिवेश में हिन्दू संगीत, नृत्य और अन्य कलाएँ उसी में विकेन्द्रित होकर सिमट रही थीं। निश्चय ही इस क्रिया में विधा का उपयोग माध्यम के रूप में बदल गया और उसका सामान्य और व्यापक सार्वजनिक रूप नष्ट होता गया। हिन्दी रंगमंच के विकास में सहसा ठहराव आने का यह एक प्रमुख कारण था। संस्कृत की परम्परा तो इतनी सम्पन्न और समृद्ध थी कि वह उन आपदाओं के बीच भी जीवित रही और दक्षिण में तो वह सदैव अपने शुद्ध रूप में ही प्रयोग की जाती रही। हिन्दी के साथ यह सुविधा नहीं थी। उसके तो विकास काल में ही ऐसी बाधा पहुँची कि उसका कोई रूप ही नहीं बन पाया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हिन्दू राज्यों की समाप्ति के बाद बची-खुची सांस्कृतिक विधाओं को उन मन्दिरों और धार्मिक संस्थानों के भग्नावशेषों में शरण मिली जो सार्वजनिक जीवन से हट कर धर्म के अनिवार्य रूपों में उन्हें सुरक्षित रख सकते थे। नृत्यों और मन्दिर उपासनाओं के रूप में ही रंगमंच शेष रहा। इन नृत्यों और उपासनाओं में यों तो पहले ही से रंगमंच का एक रूप वर्तमान था किन्तु इस आपत्ति काल में और भी सामान्य हो गया। उनकी रक्षा संभव नहीं थीं। कम-से-कम अभिजात्य और सम्भ्रान्त वर्ग में यह साहस नहीं था कि वह किसी प्रकार रंगमंच के शास्त्रीय रूप को सुरक्षित रख सकता। परिणाम यह हुआ कि वह धीरे-धीरे धार्मिक रूपों में ढलने लगा। नाट्य कला का प्रारम्भ यों तो धार्मिक संदर्भों से ही हुआ था किन्तु गुप्त काल तक आते-आते वह विशुद्ध कलात्मक स्तर पर विकसित होकर धर्म निरपेक्ष हो गई थी। केवल कथासूत्रों के लिए ही पुराण या इतिहास का आश्रय लिया जाता था। धीरे-धीरे ये उन धार्मिक संस्थाओं में इतने समा उठे कि उनका केवल धार्मिक रूप ही हमारे सामने शेष बचा। भारत नाट्यम् और देवदासियों की प्रथा ने मन्दिर नृत्यों और लीला अभिनयों के रूपों में रंगमंच की सुरक्षा इन देवालयों में की। मध्ययुगीन रंगमंच का जो कुछ भी शेष रहा वह वहीं सुरक्षित रह सका। इन्हीं के माध्यम से धार्मिक स्तर पर रामकृष्ण या पौराणिक स्तर पर पुराणों के नायकों का अभिनय, शिव-पार्वती के नृत्यों को उपासना का माध्यम बना कर अपने उपयोग में लाने का साहस किया। मध्य युग में तो ऐसा लगता है कि जितना तेज प्रहार इन धार्मिक संस्थानों पर किया गया उसी की प्रतिक्रिया में ये धार्मिक संस्थान अधिक गठित और सुशासित हो गये।

संस्कृत नाटकों की परम्परा समाप्त होने के बाद रंगमंच का जो भी अंश था उसे इन धर्म पीठों में ही शरण मिली। रामलीला की परम्परा से ऐसा लगता है कि गीत गोविन्द के रचना काल सं० ११७५ तक यह परम्परा दृढ़ रूप में अभिजात्य परम्परा के साथ सम्बद्ध थी, लेकिन सहसा लोकभाषाओं के उदय और विकास के साथ इसका रूप मन्दिरों और धार्मिक संस्थाओं में प्रवेश कर गया था। 'लीला' का एक दर्शन ही भक्ति आन्दोलन ने विकसित कर लिया था। 'लीला' में शुद्ध रूप से केवल तटस्थ अभिनेता का रूप ही राम और कृष्ण की जीवन कथा के साथ सम्बद्ध हो गया। गोपिकाओं के वियोग में दुःखी कृष्ण या सीता के वियोग में रोते बिलखते भगवान राम का रूप केवल लीला के रूप में ही ग्रहण करने की विचारधारा

अपने में ही दो विरोधाभासों के समाधान के रूप में प्रस्तुत होती हैं। एक साथ ही सर्व शक्तिमान ईश्वर की कल्पना और उसी के साथ-साथ उसका नितान्त प्राकृतिक होना दोनों का समाधान द्वैतवाद के धार्मिक और दार्शनिक प्रारूप से ही होता है। इसलिए इनके चरित का लीला रूप में प्रस्तुतीकरण स्वयं में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इस धार्मिक रंगमंच के तीन रूप हमें मिलते हैं—रामलीला, रासलीला और नृत्य-लीला। रामलीला की परम्परा का विकास अयोध्या और नैमिषारण्य जैसे प्रमुख तीर्थों में हुआ। जिस प्रकार श्रीमद्भागवत को सम्पूर्ण हिन्दू दर्शन और चिंतन का सामान्य जन तक पहुँचाने का प्रयास माना जाता है और मध्यकालीन धर्म आन्दोलनों में सहज वैष्णव पद्धतियों में वह विकसित भी होता है। ठीक उसी प्रकार रामलीला और रासलीला का भी विकास उस रगमंच को प्रतिष्ठित करता है जो अपनी सहजता में परिपूर्ण किन्तु भावाभिनय में सहज ही बना रहा। रामलीला का रंगमंच पहले एक गोलाकार वृत्त में होता था। दर्शक इस गोलाकार वृत्त के चारों ओर बैठ जाते थे और एक प्रकार से उसे खुले हुए रंगमंच पर ही राम और सीता का अभिनय होता था। रामलीला के रूप गठन में, संयोजन नियोजन में, प्रायः विशिष्ट मन्दिरों के पुजारियों और महन्तों का हाथ रहता था। अभिनय यज्ञ में यद्यपि किसी शास्त्र का अनुसरण नहीं किया जाता था लेकिन फिर भी भावाभिव्यक्ति की मुद्राओं, भंगिमाओं और कारिकाओं के उपस्थापन में कुछ लोक और कुछ अभिजात्य परम्परा का सम्मिश्रण रहता ही था। ऐसा लगता है कि रामलीला के रंगमंच का विधान बड़ा ही अनौपचारिक और सरल होता था। प्रायः स्त्री और पुरुष का अभिनय पुरुष वर्ग ही किया करता था। रूप सज्जा और रंग सज्जा में सोने चाँदी के आभूषण, चन्दन, लेप, कपूर आदि सुगंधित वस्तुओं से मेक-अप, मखमली कपड़ों पर सोने चाँदी के तारों से कढ़ाई किये हुए वस्त्र प्रयोग में आते थे। राक्षसों और वानरों के अभिनय में मुखौटों का प्रयोग किया जाता था। इस मंच विधान के खर्चे की व्यवस्था राम-जानकी की आरती से उपलब्ध द्रव्य द्वारा की जाती थी। शुद्ध धार्मिक परम्परा का पालन होने के नाते 'लीला' केवल एक माध्यम के रूप में मानी जाती थी। उसका मूल्य उद्देश्य भक्ति भावना का प्रसार और संचार ही स्वीकार था।

रामलीला की यह मण्डलियाँ प्रायः मन्दिरों और मठों में ही अभिनय करती थीं। कभी-कभी बड़े-बड़े राजाओं और महाराजाओं के बुलाने पर उनके यहाँ भी उनका अभिनय हो जाता था। जन समुदाय का और रामलीला का सम्बन्ध किसी कला विशेष को लेकर नहीं था। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जीवन आदर्श जीवन था और वह अपनी आदर्शवादिता के आधार पर अनुकरणीय माना जाता था। इस अनुकरणीय मर्यादा का प्रदर्शन और उसका ग्रहण करना इस लीला का मुख्य उद्देश्य था और जो कुछ भी रामलीला का स्वरूप वर्तमान है उसमें इस दृष्टि का ही समर्थन मिलता है।

रामलीला का एक व्यावसायिक रूप भी आजकल विकसित हो गया है जो विशेषकर काशी और अयोध्या में इन मठों और मन्दिरों से मुक्त होकर रामलीला मण्डलियों के रूप में कार्य कर रहे हैं। इनका व्यावसायिक रूप तो है लेकिन प्रायः ये मण्डलियाँ भी अपना धार्मिक उद्देश्य ही घोषित करती हैं। इस धार्मिकता के प्रोत्साहन के लिए इस धार्मिक मंच का विकास

उस स्तर पर कभी नहीं हो सका जिसे शुद्ध व्यावसायिक कहा जा सके। अब तो प्रदर्शन मैदानों में अर्द्ध गोलाकार या गोलाकार वृत्तों से हट कर पर्दे आदि लगाकर किया जाने लगा है। लेकिन इससे रामलीला की मूल प्रवृत्ति में न तो कोई मूल परिवर्त्तन आया है और न आयेगा।

इधर रामलीला के आधार पर रेड्डी श्रीराम के संरक्षण में एक 'बेले ट्रूप' का भी निर्माण हुआ है जो पूरी रामकथा को एक 'बेले' के रूप में प्रस्तुत करता है, लेकिन यह 'बेले' भी विशुद्ध व्यावसायिक नहीं हो पाया है। अभी तक रामकथा का जो भी रूप परम्परा से चला आता रहा उसका ही अनुकरण मात्र अधिकारियों का उद्देश्य है।

रामलीला के प्रसंग में लीला सम्बन्धी दार्शनिक धारणा का विश्लेषण रासलीला से भिन्न हुआ है। रामलीला में लीला मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन चरित्र को प्रदर्शित करना है। बड़े-बड़े धार्मिक मठों में रामलीला मण्डलियों का नियोजन उतना अधिक नाट्य परम्परा को सुरक्षित करने के लिए नहीं किया गया था जितना कि इष्ट देव के गुणगान को प्रस्तुत करने के लिए किया गया था। इसीलिए रंगमंच, नाट्य अथवा अभिनय कला के प्रति कोई विशेष आग्रह रामलीला में नहीं मिलता। केवल राम के जीवन की विभिन्न झाँकियाँ ही उसकी उद्देश्य रही हैं। जहाँ कहीं अभिनय मंच-प्रस्तुति अथवा नाट्य शिल्प का प्रश्न आया है, वहाँ इन मठों में उसकी उपेक्षा ही की गयी है। रामचरितमानस की चौपाइयों का गायन वाचक द्वारा किया जाता रहा है और रंगमंच पर जो भी पात्र आते थे वे केवल उन्हीं चौपाइयों का भावार्थ करके व्यक्त करते थे। इसलिए रामलीला का वह रूप जो इन मठों में विकसित हुआ वह केवल गायन और मामूली अभिनय तक ही सीमित रहा। यही कारण है कि अभिनय कला का कोई भी आभिजात्य रूप इन मठों द्वारा विकसित नहीं किया जा सका।

इसी रामलीला का दूसरा रूप हमें दशहरों में अभिनीत नाटकों में मिलता है। यह लीला अपेक्षाकृत अधिक जागरूक और थोड़ा-बहुत अभिनय और संवाद पक्ष की प्रौढ़ता पर बल देने के कारण मूलतः स्थापित-सी हो गई है। फिर भी लगभग सौ-डेढ़-सौ सालों से इन नाटक मण्डलियों के अभिनय से एक प्रकार की परम्परा की शृङ्खला तो बँधती ही है।

इस रंगमंच की परम्परा दो स्थानों पर विशेष रूप से विकसित हुई है—काशी और अयोध्या। काशी की परम्परा को लोग गोस्वामी तुलसीदास से भी सम्बन्धित करते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने काशी की परम्परा बताते हुए लिखा है—'नाट्य साहित्य के इतिहास में गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा प्रवर्तित रामलीला और उसकी व्यापक परिपाटी का प्रचलन अत्यन्त अद्भुत घटना है, क्योंकि वे स्वयं न तो नाट्यशास्त्री थे, न नाट्य प्रयोक्ता और न नाटककार, किन्तु उन्होंने यह अवश्य समझ लिया था कि राम की कथा का प्रचार करने में उसका लोक-अभिनय निश्चित रूप से अधिक आकर्षक, प्रभावशाली और स्थायी सिद्ध होगा। रामचरितमानस की पुरानी प्रतियों में जो क्षेपक मिलते हैं, उनके सम्बन्ध में मेरा यह निश्चित मत है कि सब रामलीला के लिए ही गोस्वामी जी ने जोड़े होंगे, क्योंकि वे सभी ऐसे स्थलों पर हैं जहाँ मूल रामचरितमानस में कोई कथा या प्रसंग विस्तार के साथ नहीं दिया गया है....।'

गोस्वामी तुलसीदास जी ने सर्वप्रथम हिन्दी के जिस उदात्त साहित्यिक शिष्ट रंगमंच

की प्रतिष्ठा की उसके अनुसार उत्तर भारत में ही नहीं, वरन् भारत के विभिन्न प्रदेशों में तथा जहाँ-जहाँ उत्तर भारत के प्रवासी लोग जा बसे हैं, वहाँ-वहाँ मारिशस, ट्रीनीटॉड, फिजी, डच गायना, ब्रिटिश गायना, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया आदि प्रदेशों में भी रामलीला होने लगी जिनका आधार रामचरितमानस ही हैं। थाइलैण्ड में लगभग चार सौ वर्ष पहले ही रामान्येन (रामाख्या) नाम से रामलीला होती आ रही है जिसमें थोसोकथ [दशकण्ठ] के साथ-साथ राम, लक्ष्मण, सीता आदि का भी यथातथ्य अभिनय किया जाता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि थाइलैण्ड और कम्बोडिया वालों ने यह प्रेरणा भारत से ही ली हो। कुछ भी हो यह निश्चित ही है कि रंगमंच को प्रशस्त, व्यापक, स्थायी और उदात्त रूप देने का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास जी को है।

इससे स्पष्ट है कि धार्मिक रंगमंच से सम्बन्धित धारणाओं का आधार और उसकी परम्परा काफ़ी प्राचीन है। तत्सम्बन्धी तथ्यों का अध्ययन करने से पता चलता है कि विभिन्न वैष्णव मठों में जो लीलाएँ होती थीं उनकी एक विशिष्ट व्यवस्था थी—

[१] ये मण्डलियाँ भगवान राम के जीवन चरित सम्बन्धी स्थलों पर जा-जाकर वहाँ उस स्थान से सम्बन्धित राम के चरित्र के प्रकरण का अभिनय किया करती थीं। जैसे भगवान् राम की बाल लीला की सम्पूर्ण लीला अयोध्या में होती थी। विवाह सम्बन्धी लीलाएँ यही मण्डलियाँ जनकपुर में जाकर करती थीं। बाद में इस परम्परा का एक दूसरा रूप भी विकसित हुआ जिसकी कड़ी आज भी काशी में मौजूद है। काशी की रामनगर की लीला में भी विभिन्न प्रकरण के विभिन्न स्थान पूरे रामनगर राज्य में फैले हुए हैं। कहीं अयोध्या मान लिया गया है कहीं जनकपुर और कहीं लंका और आज भी ये लीलाएँ इन्ही स्थानों पर होती हैं।

[२] रामलीला का रंगमंच खुला हुआ होता था। बीच में एक बड़ा मंच बना रहता था। दर्शक या तो उस मंच के तीन ओर या चारों ओर बैठकर लीला देखते थे।

[३] अभिनय के पूर्व जो भी पात्र रामायण के किसी चरित्र का अभिनय करता था। वह एक प्रकार के कर्मकाण्ड द्वारा प्रतिष्ठित किया जाता था।

[४] रामलीला के अभिनय में किसी विशिष्ट आलेख की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कथा गायन करने वाले रामचरित से कथा गायन करते थे और अभिनेता तत्सम्बन्धी चरित्र का अभिनय करते थे।

धीरे-धीरे रामलीला का दूसरा रूप यवनिका और मंच द्वारा भी विकसित किया गया। आधुनिक युग में इस मंच के विकास में राधेश्याम रामायण का बड़ा योगदान रहा है। राधेश्याम के रामायण पर आधारित रामलीला का प्रचलन आज भी अनेक रूपों में वर्तमान है।

यह पता लगाना तो कठिन है कि धार्मिक रंगमंच में रासलीला का प्रादुर्भाव हुआ या रामलीला का लेकिन नितान्त प्रतिष्ठित सत्य है कि कृष्णलीला और रामलीला अथवा रास और रामलीला में मौलिक अन्तर है। कुछ अंशों तक यह निर्विवाद है कि रामलीला में मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित्र और उनकी कथा पर विशेष आग्रह रहा है। रासलीला में इसके विपरीत केवल उन्हीं लीलाओं का अभिनय किया जाता है जिनमें राधा और कृष्ण के प्रेम व विरह और

मिलन का प्रतिपादन होता है या उनके बाल लीला के कुछ अंशों का प्रदर्शन होता है। रामलीला का केन्द्रीय आधार तुलसीदास की रामायण है, जिसमें प्रायः दस-ग्यारह दिन तक भगवान राम की जीवन सम्बन्धी लीलाओं का अभिनय होता है।

रासलीला और रामलीला की परम्पराओं को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों लीलाओं में किसी-न-किसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता सदैव वर्तमान रही है। इसका सामयिक प्रमाण इस बात से मिलता है कि जहाँ कृष्ण के जीवन सम्बन्धी चौहत्तर लीलाएँ प्रचलित थीं, वहाँ रामलीला को अधिक प्रतिष्ठित बनाने के लिए इसके प्रवर्त्तकों ने राम से सम्बन्धित निन्यानवे लीलाओं का संयोजन कर डाला। १६ वीं शताब्दी में इस बात का बड़ा जबर्दस्त आन्दोलन किया गया कि रामलीला की परम्परा रासलीला से अधिक पुरानी है और रासलीला का विकास मूलतः रामलीला से हुआ। इन मतावलम्बियों का यह भी कहना है कि वास्तव में रासलीला भी राम ने ही की। रासलीला के रूप में इसका विकास बाद में हुआ। सत्य जो भी हो रामलीला के सम्बन्ध में इतनी बात तो अवश्य ही कही जा सकती है कि उसने व्यापक जन आन्दोलन के स्तर पर भारतीय जनता को संगठित और धर्मनिष्ठ बनाने में बड़ा योग दिया है। मध्यकालीन युग में जब अनेक विदेशी धर्मों का प्रभाव तेज़ी से बढ़ रहा था और अशिक्षित भारतीय जनता से एक ओर संस्कृत भाषा छूट चुकी थी और दूसरी ओर व्यापक बोल-चाल की भाषा में कोई भी साहित्य उपलब्ध नहीं हो पाता था। इन धार्मिक केन्द्रों में रामलीला के माध्यम से लोक जीवन में नैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में विशेष सहायता मिली। आध्यात्मिक स्तर पर भले ही कोई उच्च कोटि का प्रयास न हुआ हो लेकिन रामानुज एवम् वल्लभाचार्य ने जिस प्रकार अपने सिद्धान्तों और भक्ति प्रधान दार्शनिक तत्त्वों को प्रस्तुत किया, उसमें रासलीला एवम् रामलीला दोनों ने ही अपना योग दिया है। अयोध्या और ब्रज को लीला भूमि मान लेने पर उनके सम्पूर्ण धर्मनिष्ठ वातावरण को विशेष बल मिला। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इनके रंगमंच मूलतः अयोध्या और मथुरा के धार्मिक मठों में विकसित हुए, उसी से यह तथ्य भी सहज ही निकलता है कि इन केन्द्रों में समस्त सांस्कृतिक हलचलों के बीच यह शान्त एवम् आत्मतुष्टि प्राप्त कराने में विशेष सहायक हुई। यही कारण है कि आज जब इन मठों में रामलीला का कोई भी रूप शेष नहीं है और समस्त रामलीला मण्डलियाँ अब लगभग व्यावसायिक होकर रह गई हैं, तब भी उनकी धार्मिक एवम् मूल-रूप से सांस्कृतिक अपील अब भी शेष है। काशी की रामलीला मण्डलियों में से अधिकांश आज ऐसी व्यावसायिक मण्डलियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध मठों से टूट चुका है और आज जो केवल धार्मिक तत्त्व हैं, वह एक विशिष्ट संदर्भ में ही प्रेषित होता है।

इन व्यावसायिक रामलीला मण्डलियों में आज भी कोई विकास नहीं हो पाया है। उनकी विशिष्टता आज लगभग इसी में है कि यह उस धार्मिक रामलीला की परम्परा को वहन करती है, जो आज से सैंकड़ों वर्षों पूर्व से प्रचलित रही है। यद्यपि प्राचीन काल में रामलीला के मुख्य केन्द्र अवध, बनारस और मिथिला ही माने जाते हैं किन्तु व्यावसायिक रूप से आज से कम्पनियाँ किसी विशेष स्थान तक सीमित नहीं हैं। आज रामलीला

की कम्पनियाँ मथुरा, राजपूताना, अलीगढ़ आदि में भी संगठित हैं। आज तो इनका प्रचलन दक्षिण में भी है। उत्तर भारत में आज रामलीला कई प्रकार से खेली जाती है, किन्तु सबसे प्रमुख रामलीला का रूप तुलसीदास के रामायण पर ही आधारित किया जाता है। बाद के दिनों में तो गमलीला में केशवदास की रामचन्द्रिका के कतिपय छन्दों और कृतियों का भी प्रयोग किया गया। विनायकराव की रामायण की टीका में जितनी सामग्रियाँ दी हुई हैं, प्रायः उन सब का प्रयोग रामलीला मण्डलियाँ करती हैं।

शैली की विशिष्टता

रामलीला में अभिनय का रूप अधिकतर लोक शैली का ही है। किसी शास्त्रीय अभिनय के रूप की अपेक्षा रामलीला से सम्बन्धित प्रस्तुतियाँ शैली के स्तर पर लोक परम्परा के अधिक निकट है। संवादों के कथन में भी इसलिए प्रायः अभिनेता उस पद्यांश का अनुवाद करता है जिसे कथावाचक पद्यात्मक शैली में गाकर सुनाता है। कभी-कभी उस भावानुवाद को प्रभावशाली बनाने के लिए बीच-बीच में सवैया या छन्द का भी रूप दे दिया जाता है। मूल रामायण में जहाँ-जहाँ क्षेपक आये हैं, वहाँ भी लोगों का यह कहना है कि इस परम्परा का अनुसरण केवल रामायण में नाटकीय तत्त्वों को जोड़ना ही रहा है। आज की रामलीला परम्परा में इसीलिए शुद्धता को नहीं स्वीकारा गया है। ये मण्डलियाँ प्रायः इन क्षेपकों के आधार पर ही सती सुलोचना आदि नाट्य भी ठीक नौटंकी की शैली में प्रस्तुत कर रही हैं। वह धनुष यज्ञ का दृश्य हो अथवा लंका दहन हो, चाहे वह लक्ष्मण परशुराम संवाद हो अथवा रावण के दरबार में अंगद का प्रवेश हो, इन समस्त प्रसंगों को भी लेकर नाट्य लिखे गये हैं किन्तु मूल रामायण में ये प्रयोग रूप में आये हैं उनमें प्रायः साहित्यिक हिन्दी से अधिक वातावरण बन जाता है। रामलीला इसलिए लोक तत्त्व और साहित्यिक तत्त्व दोनों का विचित्र सम्मिश्रण बन कर रह गयी है। पिछले सौ वर्षों में उसके उपस्थापन में कोई विकास भी नहीं हो पाया है।

प्रस्तुति के रूप

रामलीला की प्रस्तुति के रूपों में भी एक प्रकार की समानता पाई जाती है। कथावाचक प्रत्येक रामलीला मण्डली में होता है। विदूषक के स्थान पर हास्य रस के प्रतिनिधि एक या दो जोकरनुमा पात्र भी होते हैं जो प्रत्येक प्रसंग के साथ जुड़े होते हैं और समय-समय पर अपने फूहड़ हास्य-विनोद से जनता का मनोरन्जन करते हैं। कुछ मण्डलियों में दो एक स्त्री पात्र भी यह काम करते हैं। संगीत मिश्रित शैली में कथोपकथन और अभिनय दोनों साथ-साथ चलते हैं। पारसी थियेटर के वज़न पर रामलीला में भी शेरों के स्थान पर मार्मिक शैली में दोहों का प्रयोग अभिनेता करते हैं और पूरे वातावरण को एक प्रकार की काव्यगत शैली में उभारने की चेष्टा करते हैं। इन मण्डलियों का विधान ऐसा होता है कि सामान्यतः मण्डली का मैनेजर ही निर्देशक भी होता है। आलेख के प्रति कोई प्रतिबद्धता नहीं होती। मूल रामचरित मानस के आधार पर क्रमशः मुख्य घटनाओं को प्रस्तुत करके पूरी रामायण और रामकथा समाप्त कर देते हैं। ये मण्डलियाँ समय समय पर सुविधा और पैसे के आधार पर रामकथा को छोटा और सरल बनाने के लिए छोटी-छोटी घटनाओं को छोड़ भी देती हैं।

मंच व्यवस्था

इसी प्रकार इन लीलाओं में मंच के ऊपर भी ध्यान नहीं दिया जाता। दशहरे के अवसर पर तो इन लीलाओं का रूप कभी तो नितान्त खुले मैदान में एक चबूतरे पर दो कुर्सियाँ रख कर दिखा दिया जाता हैं। राम जब कुर्सी पर बैठे-बैठे अभिनय करते हैं तो कुछ अजीब सा लगता है। कहने का साराँश यह कि मंच व्यवस्था भी रामलीला में कुछ नहीं होती। पूरे मंच पर दो या तीन रंगे हुए पर्दों पर मनोनुकूल सामग्री जुटा कर जनता की कल्पना को तुष्ट कर दिया जाता है।

पात्र व्यवस्था

रामलीला में अब भी पुरुष ही स्त्रियों का अभिनय करते हैं, और नाटक के सामान्य भावाभिनय और स्वाभाविकता की अपेक्षा केवल यही छोटे-मोटे अभिनय जनता को तुष्ट कर देते हैं। रामलीला मण्डलियों के अभाव का मुख्य कारण भी यही हैं कि प्रायः यह मण्डलियाँ साधुओं के मठों में ही स्थापित होती थीं। मठों में स्त्रियों के प्रवेश का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

वेशभूषा एवं सज्जा

यही स्थिति वेश-भूषा एवं रूपसज्जा की भी है। आज भी रामलीला में यह व्यवस्था बड़े ही फूहड़ ढंग से की जाती है, यद्यपि रामलीला मण्डलियों में कतिपय अभिनेता बड़े ही कुशल और मार्मिक अभिनय करने वाले होते हैं। उनमें से अधिकांश में सम्भावनाएँ भी अत्यधिक होती हैं लेकिन रामलीला की शैली का प्रयोग करने वाला अभी कोई ऐसा नाटककार हिन्दी में नहीं आया जो या तो रामलीला के मंचविधान, उपस्थापन या व्यवस्था में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये अथवा इस शैली के रंगमंच का पूरा उपयोग अपने किसी नाट्य आलेख में कर सके। बंगाल और महाराष्ट्र में धार्मिक एवं लोक रंगमंच की उपलब्ध सम्भावनाओं का प्रयोग गम्भीर नाट्य आलेखों में किया गया है। लेकिन हिन्दी के लेखकों में से किसी का भी ध्यान अभी इस दिशा में नहीं गया है। यूरोपीय लेखकों में से यद्यपि ब्रेख्त जैसे नाटककार ने धार्मिक एवं लोक रंगमंच के साथ अन्य प्रारूपों का प्रयोग 'चार सरकिल' जैसे नाटक में किया है। लेकिन उसके माध्यम से रंगमंच और आलेख में जो कुछ क्रान्तिकारी प्रयोग किये जा सकते थे, उसकी ओर उनका ध्यान नहीं गया है। रामलीला के मंच में और रासलीला अथवा लोक रंगमंच में विशेष अन्तर यह है कि रामलीला में मंच व्यवस्था और यवनिका आदि का प्रयोग बिल्कुल आधुनिक नाटकों के समान किया जाता है। केवल कुछ ही अवसरों पर रामलीला एरिना या खुले मंच से किया जाता है। जितनी भी व्यावसायी रामलीला मण्डलियाँ हैं, वे रामलीला को लोक शैली या खुले रंगमंच की शैली में नहीं प्रस्तुत करतीं। वे एक सुदृढ़ रंगमंच बना कर ही लीला करती हैं। टैगोर तथा अन्य सशक्त नाटककारों ने हिन्दीतर भाषाओं में इनका बड़ा सुरुचिपूर्ण उपयोग किया है। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने यद्यपि पूरी रामायण की कथा को नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है लेकिन उनका आलेख बिल्कुल सीधे-सादे कथोपकथनों का एक समूह बन कर रह जाता है। उसमें कोई ऐसा प्रयोग नहीं दीखता जो इन शैलियों का उपयोग करके लिखा गया हो।

जो भी हो, यदि हिन्दी की कोई भी नाट्य परम्परा नितान्त अविच्छिन्न रूप से हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों में आज भी वर्त्तमान है, तो वह रामलीला और रासलीला की ही परम्परा है। लोक स्तर पर नौटंकी जिस प्रकार आज भी वर्त्तमान है या संगीत में जिस प्रकार कौव्वाली की परम्परा आज तक मिलती चली आती है, ठीक उसी प्रकार धार्मिक और आभिजात्य वर्ग की रुचि विशिष्टता का काफी अंशों तक रामलीला और रासलीला में दर्शन होता हैं।

रासलीला

रामलीला की भाँति रासलीला भी धार्मिक रंगमंच का एक दूसरा रूप है। यद्यपि विद्वानों में इस बात को लेकर बड़ा मतभेद है कि पहले रामलीला का विकास हुआ या रास लीला का। लेकिन ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रासलीला की मूल शैली राम लीला से बहुत भिन्न है। रासलीला का पूरा विधान ही यह बताता है कि यह एक मुक्त वातावरण में खेली जाती है। रासलीला का पूरा मंचविधान ही बड़े-बड़े पेड़ों और कुंजों के बीच हुआ है। इसलिए उसमें प्रत्येक व्यवस्था एक परिकल्पना के आधार पर ही स्वीकार की जाती है। मंचविधान भी उसी प्रकार अनौपचारिक होता है, यवनिका या पट नहीं होता। सभी कलाकार एक साथ ही मंच पर आते हैं। किन्तु उनके मंच पर प्रस्तुत होने में न तो आज कोई औप-चारिकता है और न पहले थी। आज भी वह वैसे ही मुक्त रूप से मंच पर आ जाते हैं जैसे कि वह मध्यकाल में आते थे। रास नाटक प्रायः नृत्यों और गीतों की प्रचुरता से ओतप्रोत हुआ करते थे और मंगलाचरण और स्वस्ति पाठ रंगमंच के ठीक सामने बैठे हुए वाद्य-वादकों द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, रास नाटकों के प्रारम्भ में मंगलाचरण के साथ धार्मिक एवं भक्ति सम्बन्धी छोटी-मोटी वार्ताएँ भी की जाती थीं। इसी प्रकार अन्त में नाटककार नाटक लिखने के प्रयोजनों और इन धार्मिक नाटकों के देखने और सुनने की परम्परा का भी उल्लेख करता था। कालान्तर में ज्यो-ज्यों लोक रंगमंच विकसित हुआ, उसी के अनुपात में यह धार्मिक रंगमंच भी उससे प्रभावित हुआ। लीलाओं में स्वाँग, भाण आदि की प्रचलित परम्पराओं का भी समावेश होता गया। चूँकि इन रास नाटकों में अंकविभाजन, रंग प्रवेशक, निर्देश, विष्कम्भक आदि का प्रचलन नहीं था। इसलिए रसास्वादन के लिए बहुत कुछ श्रद्धा एवं कल्पना का सहारा लेना पड़ता था। यही कारण है कि यद्यपि रासलीला का कोई व्यवस्थित रंगमंच नहीं बनाया गया; फिर भी उसकी स्वतः विकसित होने की परम्परा ने उसे विशेष महत्त्व प्रदान कर दिया है।

इस रासलीला का जन्म चूंकि वैष्णव धर्म से सम्बन्धित था इसलिए इसकी बहुत सी परम्पराओं का स्रोत उन आचार्यों के यहाँ मिलता है जो कृष्ण की लीला को माध्यम मान कर अपनी साधना का सम्बल ढूंढ़ते थे। इसकी लोकप्रियता भी इसी वैष्णव धर्म के विकास में हुई। स्वामी वल्लभाचार्य, हितहरिवंश, रूप गोस्वामी आदि की लीलोपासना के कारण रासलीला का केन्द्र वृन्दावन बन गया। राधावल्लभ सम्प्रदाय का योग इस दिशा में विशेष है। किंवदन्ती है कि हित हरिवंश जो कि इस सम्प्रदाय के अधिष्ठाता माने जाते हैं उनको नित्य ही राधा कृष्ण की रासलीला स्वप्न और जागृत अवस्था में दिखलाई पड़ती थी।

रास और महारास की परिकल्पना को जीवन्त अभिनय का रूप देने में इस सम्प्रदाय का विशेष योग रहा है। वृन्दावन में रासमण्डल का जन्म भी हित हरिवंश जी की प्रेरणा से हुआ। स्वामी हरिदास जी जो अकबर के समय के प्रसिद्ध कृष्णभक्त गायक थे। उन्होंने इस लीला को संगीत दिया। हित हरिवंश जी के गीतों पर आधारित ये रासलीला की यह परम्परा विकसित हुई। रासलीला का मुख्य उद्देश्य कृष्ण और राधिका की केलि-क्रीड़ा का वर्णन ही रहा। वह परिकल्पना जिसको शब्दबद्ध करके जयदेव ने गीत गोविन्द में प्रस्तुत किया, सोलहवीं शताब्दी में आकर इस रासलीला के रूप में विकसित हुई। कीर्तन महात्म्य से स्वयं चैतन्य महाप्रभु ने वह दृष्टि दी कि जिससे इस रासलीला का रूप प्रस्तुत हुआ। इस रासलीला और महारास के अंकुर यद्यपि श्रीमद्भागवत में वर्तमान थे फिर भी इसके विकसित होने में और लीला रूप में प्रतिष्ठित होने में काफ़ी समय लगा। हित हरिवंश और वल्लभाचार्य के भजनों में 'रास को समय ह्वै गयो....अब आप पधारें' जैसी आवाहन की पंक्तियाँ मिलती हैं जिनमें लीला के माध्यम से स्वयम् राधाकृष्ण के साक्षात्कार का संकेत हमें मिलता है। नन्ददास का भ्रमरगीत भी इस रासलीला का प्रेरणा स्रोत रहा है। इसीलिए इस नाटक में कवित्त गुण, संगीत-तत्त्व, अभिनय तथा नृत्य पक्ष सभी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। रास लीलाओं में विशेषता यह है कि इनमें गद्य भाग प्रायः नहीं के बराबर रहता है और जो रहता भी है वह ब्रज भाषा में होने के कारण एक विशेष प्रकार की काव्यात्मक अभिव्यक्ति से लीन रहता है। तत्सम शब्दों की उपेक्षा से यह काव्य-तत्त्व प्रायः तद्भव पर ही आधारित रहता है।

जहाँ तक रासलीला के मंचविधान का प्रश्न है, रासलीला का मंच नितान्त साधारण होता है। वह सदैव बना लिया जाता है। मंच के नाम पर एक चबूतरा या चौकी ही पर्याप्त होती है। चौकी पर दो कुर्सियाँ या दो आसन रख लिए जाते हैं जिन पर राधा और कृष्ण दोनों बैठते हैं। चौकी के ऊपर और राधाकृष्ण के चरणों के पास अन्य पात्र बैठते हैं प्रेक्षक इस चबूतरे या चौकी के तीन ओर बैठते हैं। चौकी का पृष्ठ भाग केवल रास मण्डली वालों के लिए छूटा रहता है। जहाँ से एक चादर तान कर लीला के बीच-बीच में राधा कृष्ण की अनेक छवियों का निरूपण किया जाता है। रंगमंच पर सभी पात्र रहते हैं। जो एक बार मंच पर उपस्थित हो जाता है, वह प्रायः उसी पर वर्तमान रहता है, वहाँ से हटता नहीं। वाद्य वादक और बीच-बीच में पदों के गायन करने वाले बैठते हैं। मंच इतना औपचारिक होता है कि कभी-कभी गायन अथवा वादन करने वाले आवश्यकता पड़ने पर मंच पर जाकर अभिनय भी करने लगते हैं। अपना अभिनय कर चुकने के बाद वह फिर अपने स्थान पर आकर गायन या वादन करने लगते हैं। नेपथ्य का यद्यपि एक सूक्ष्म रूप रासलीला में रहता है लेकिन उसका प्रयोग केवल झाँकी सजाने या आरती के लिए श्रृंगार करने के लिए ही किया जाता है। यवनिका का कोई प्रयोग नहीं किया जाता। केवल अवसर पड़ने पर एक चादर तान कर दो आदमी खड़े हो जाते हैं और राधाकृष्ण के झाँकी का श्रृंगार कर देते हैं। लीला स्थल प्रायः चौकी के नीचे होता है। जहाँ कृष्ण, राधा, गोपियाँ, गोप सभी आकर अपना-अपना अभिनय करते हैं और राधा कृष्ण अपना अभिनय कर चुकने के बाद कुर्सियों पर जाकर बैठ

जाते हैं और शेष लोग वही लीला स्थल के किनारे गोलाकार या अर्द्धगोलाकार रूप में जाकर बैठ जाते हैं।

अभिनय

अभिनय की दृष्टि से रासलीला का मुख्य रूप नृत्य अभिनय ही कहा जा सकता है। मंच अभिनय के वे समस्त विधान जो प्रायः सामान्य नाटकों में व्यवहृत होते हैं, रासलीला में नहीं होते। लीला किसी विशिष्ट कथा प्रसंग पर आधारित होती है। श्रीकृष्ण के बाल जीवन की लीलाएँ—गोवर्द्धन, धारण, कालिया दमन, कन्दुक-क्रीड़ा, जल-विहार, झूला, कुंजबिहार आदि में कथाएँ मात्र प्रासंगिक होती हैं। इन कथाओं में मुख्य वस्तु होती है, इनके माध्यम से कृष्ण और गोपियों के बीच का प्रेम, आनन्द, लास्य भाव का अभिनय। यह लास्य या सख्य भाव का दिग्दर्शन प्रायः नृत्य के माध्यम से होता है और इसीलिए इन कथाओं के बीचोबीच यह नृत्य बिलकुल स्वाभाविक मणि की तरह पिरोये होते हैं। भाव की सहजता, स्वाभाविकता नाटकीयता और चरित्र चित्रण में अभिनय की अपेक्षा वाचन और नृत्य को ही प्रथम स्थान मिलता है।

लेकिन धीरे-धीरे कुछ पारसी थिएटर के प्रभाव से और अन्य कथानक सूत्रों के आधार पर अभिनय का एक दूसरा रूप भी विकसित हुआ, जिसमें रासलीला के आध्यात्मिक अभिनय की अपेक्षा कथा सूत्रों का प्रयोग किया जाने लगा। कृष्णलीला के ही आधार पर नरसिंह लीला, प्रह्लाद लीला, नाग, गौर की लीला, ग्वाल पहेली लीला मुख्य रही हैं। इन लीलाओं के गठन, प्रस्तुतीकरण और अन्य आलेख सम्बन्धी स्थितियों में कोई भी परिवर्तन नहीं किया गया, किन्तु लीला का कथा अंश पूर्णतया परिवर्तित हो गया। ऐसी कथाओं में भगवान की लीला गौण हो गई और अन्य कथाएँ उभर कर सामने आईं। रासलीला का वह रूप जो रास-पंचाध्यायी के आधार पर विकसित हुआ था उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन आ गया। नन्ददास ने तो केवल पांच प्रमुख लीलाएँ ही लिखी थीं। लेकिन उसके बाद ध्रुवदास, चाचा वृन्दावनदास आदि के आलेख भिन्न प्रकार के होने लगे। वृन्दावनदास की 'गौने वारी लीला' बहुत प्रसिद्ध है। 'रास छद्म विनोद गम्य लीला' में भी नाटकीयता का गुण अधिक है। ब्रजवासीदास का प्रबोध चन्द्रोदय का अनुवाद भी बहुत प्रचलित है। इनका एक ग्रन्थ ब्रजविलास भी है जिनमें श्रीकृष्ण की ७४ लीलाओं को इन्होंने संग्रहीत किया है। इनकी रचना में अभिनय तत्त्व का प्राचुर्य है। इस आलेख में सामान्य रासलीला परम्परा में सहसा नये तकनीक के प्रयोग की भी दिशा मिलती है। इनके ग्रन्थों में दृश्य परिवर्तन के संकेत भी मिलते हैं। शृंगार के साथ लीला में विनोद पक्ष भी विकसित हो गया। ब्रजवासीदास की लीलाओं में जिस सहजता को आरोपित करने का प्रयास किया गया उसका एक प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा कि किसी हद तक लीला में व्यंजित पवित्र वैचारिक और आध्यात्मिक तत्त्व लोकतत्त्व के अधिक निकट चला गया।

आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली नाटिका और वियोगी हरि की छद्म योगिनी नाटिका में 'लीला' तत्त्व का प्रयोग नाटिका रचना में किया गया है। इसे इस रास लीला की परम्परा का आधुनिक विकसित रूप भी कह सकते हैं।

आलेख

आलेख के रूप में कभी-कभी कथोपकथन लिखा हुआ होता है और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पात्रों को केवल उन पद्यों को गाना और तत्काल अपने-अपने सन्दर्भ से भाव लेकर वार्तालाप करना पड़ता है। ऐसा लगता है कि लीला के आलेख तत्व का गहरा सम्बन्ध हमारी नाट्य परम्परा से भी है। रासलीला का सम्पूर्ण रूप संस्कृत के नाट्य रासक के अन्तर्गत आता है। नाट्य रासक एक विशिष्ट प्रकार का प्रारूप है जो गोष्ठी, काव्य, श्री गदित और हल्लीश नामक उप रूपकों में आता है। यह साम्य इस बात का परिचायक है कि रासलीला का एक शास्त्रीय आधार भी है। जितनी भी रासलीलाएँ लिखी गई हैं, उनके आलेखों के प्रेरणा स्रोत भास के 'बाल चरित' भट्ट नारायण के वेणीसंहार और भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित रासलीला हैं। रासक का आलेख एक अंक का होता होता है। इसमें पाँच पात्रों का विधान है। यह प्रायः कैशिकी और भारती वृत्तियों के अन्तर्गत आता है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से रासक की नायिका चतुर और नायक मूर्ख होता है। लेकिन वर्तमान रासलीला की परम्परा इससे भिन्न होते हुए भी अपनी गुणात्मक प्रकृति में वह बहुत कुछ उसकी प्रतिच्छाया से ओत-प्रोत है। रात में भी विभिन्न प्रकार की प्रकृतियों का प्रयोग किया जाता है रासक में जिस प्रकार उदात्त भावों का क्रमशः विकास करके एक उत्कर्ष स्थापित किया जाता है, रास का भी उद्देश्य उसी प्रकार चरमोत्कर्ष प्राप्त उदात्त भाव का निरूपण है।

राजस्थानी में रासलीला को जो परम्परा मिलती है, उसे रासधारी कहते हैं। यद्यपि यह रासलीला का ही एक रूप है, लेकिन लोकनायकों का भी जीवन चरित इसके माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है। राम के जीवन चरित का भी इसमें विशेष महत्त्व माना जाता है। इसके गीत परम्परागत होते हैं। लोकनायक की वीरगाथाएँ, उनका शृंगारिक रूप तो होता है साथ ही उसमें कुछ मनोविनोद का भी अभिनय होता है।

प्रस्तुत विवरण से यह स्पष्ट है कि रासलीला की एक व्यापक परम्परा पूरे उत्तर भारत में रही है। इससे सम्बन्धित आलेखों की भी संख्या काफ़ी है। हर्ष का 'नागानन्द' इसी रासक या रास शैली में लिखा गया है। नृत्य और कलाओं का प्रयोग भी इसमें होता है। जो भी रास लीला के आलेख हमें आज मिलते हैं। उनमें कृष्ण राधा, गोपियों के संवादों में प्रेमालाप का आधिक्य, कार्य की न्यूनता मुख्य है। संवाद अधिक होते हैं।

उन्नीसवीं शती में रीतिकालीन कविता के साथ-साथ रासलीला के आलेखों में आभि-जात्य तत्त्वों का अधिक विकास हुआ। जिन से रासलीला का वह सहज रूप थोड़ा बहुत टूट गया। रीतिकाल की नितान्त शृंगारिक परम्परा ने उसमें उक्ति बोधक्रम नृत्य और शब्दाडम्बर अधिक भर दिया। शास्त्रीय संगीत और शास्त्रीय नृत्य के स्थान पर केवल मनोरंजन के तत्त्वों को प्रश्रय मिला। इस से मुक्ति दिलाने में भारतेन्दु की चन्द्रावली नाटिका और वियोगी हरि की प्रेमयोगिनी नाटिका ने अवश्य प्रयास किया, लेकिन अधिक सफलता नहीं मिली।

कथावाचक और वादक

कथावाचक और वाद्य-वादकों का पूरी रासलीला में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग रहता है।

यही कथावाचक रासलीला में सूत्रधार और निर्देशक का भी कार्य करता है। लेकिन इसकी कोई औपचारिक, शास्त्रीय या वैज्ञानिक परम्परा नहीं हैं। कथावाचक जो कथा सम्बन्धी पद्यों का गायन करता चलता है वही रासलीला के नृत्यों, वाच्य अंशों को एक सूत्र में पिरोता है। वह प्रत्येक नृत्य के बाद अन्तराल में कथा गायन करता है और गोपियों या सखियों में से कोई दो राधाकृष्ण के प्रेम का वर्णन करती है। विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार जो कथा में भेद रहता है अर्थात् राधावल्लभ या पुष्टिमार्ग या गौड़ीयमत के अनुसार जहाँ जैसा भाव रहता है उसके अनुसार कथा का निरूपण भी करता चलता है। कभी-कभी कथावाचक पद को गा देता है और रासलीला में भाग लेने वाले पात्र उसका उल्था गद्य में करके कहते हैं, कभी-कभी वह केवल गाता जाता है और पात्र अपनी नृत्य मुद्राओं से भाव प्रदर्शन करते हैं, कभी-कभी यह दोनों चीज़ें साथ-साथ चलती हैं। यह कथावाचक अपने ताल, लयबद्ध संगीत से अभिनय के वाच्य अंश का पूरक भी होता है। वस्तु स्थिति का संकेत आगामी घटनाओं का पूर्वाभास और साथ ही गहनतम अनुभूतियों का भावात्मक व्याख्याकार भी यही कथावाचक होता है। इसीलिए यह रासलीला के सम्पूर्ण विधान का एक बहुत महत्त्वपूर्ण वाहक होता है।

वाद्य-वादकों में हारमोनियम, मृदंग, तबला और साथ ही अन्य यंत्रों के बजाने वाले भी होते हैं, जो सम्पूर्ण वातावरण को संगीतमय बनाकर भाव विशेष को प्रभावपूर्ण एवं रस स्निग्ध करते रहते हैं। यह संगीत यंत्र वादक भी भक्ति और राधाकृष्ण की भाव गरिमा में डूबे हुए हैं। रासलीला के नृत्य का अंश, चाचरी नृत्य में ताल, लय, गति के एक प्रकार से नियामक होते हैं। रासलीला का अधिकांश प्रभाव इन वाद्य-यंत्रों के कुशल प्रयोग पर निर्भर करता है। इसलिए यदि कथावाचक लीला के वाच्य अंश का अधिष्ठाता होता है तो संगीत वादन के कुशल वादक उस वाच्य के रस बोध को और भी गहन संवेदनाएँ देते हैं। रासलीला के सम्पूर्ण नियोजन में संगीत वादक का इसीलिए एक विशिष्ट स्थान है।

रूप सज्जा

रासलीला में यद्यपि रूप सज्जा का बड़ा महत्त्व है और सम्पूर्ण रास में राधाकृष्ण की प्रेम लीला शृंगार प्रधान है। फिर भी, जिस रूप-विधान की योजना आजकल भी इन लीलाओं में प्रचलित हैं, वह संतोषजनक नहीं है। रूप सज्जा के लिए केवल सामान्य साधनों का ही प्रयोग किया जाता है। यह प्रसाधन आज भी उतने ही आदिम हैं, जितने कि प्राचीन काल में होते थे। केवल राधाकृष्ण के मुकुटों के कुछ अच्छा और चमकदार होने के नाते आज भी अधिक चमक-दमक के साथ पहनाया जाता है। केवल हल्की सी खड़िया मिट्टी कुछ रंग और सज्जा आदि काम चला लेते हैं। रासलीला के उपस्थापन में भी कोई विकल्प विशेष का परिचय नहीं मिलता। कृष्ण को मध्यकालीन वेशभूषा अर्थात् अँगरखा और चूड़ीदार पायजामा में भी प्रस्तुत कर दिया जाता है। अब इधर कुछ धार्मिक रासलीला की मण्डलियों ने जो अर्द्ध व्यावसायिक भी हो गई हैं, पाजामा के स्थान पर धोती और उत्तरीय का भी प्रयोग करने लगी हैं। मुकुट को भी अब नए रूप में देने लगी हैं। लेकिन यह हल्के फुल्के परिवर्तन कोई अर्थ नहीं रखते। क्योंकि अभिनय और मंच के प्रारूप में आज तक वह किसी भी प्रकार का

परिवर्त्तन नहीं चाहते। मंच की कोई सज्जा तो यह आज भी नहीं करते। अच्छी से अच्छी रास मण्डलियाँ भी इस ओर ध्यान नहीं देतीं।

कथोपकथन

कथोपकथन नाटकीय तो होता है लेकिन प्रायः काव्यमय होता है। गद्य भी ब्रजभाषा में होता है और आन्तरिक तुक और लय से ओत-प्रोत होता है। सामान्यतया यह भी पद्य में ही होता है किन्तु यदि पद्य में नहीं हुआ तो ब्रजभाषा का जो गद्य रूप यह लोग प्रस्तुत करते हैं वह इतना काव्यात्मक होता है कि पद्य ही के बराबर होता है। शायद यह इसलिए भी करना अनिवार्य हो कि रासलीला के उदात्त तत्त्व के काव्यात्मक पक्ष को इससे विशेष बल मिलता है और रसानुभूति के जिस लक्ष्य को स्थापित करना होता है उसके लिए पूरी लीला का स्तर ही सामान्य से कुछ ऊपर हो।

दृश्य परिवर्त्तन

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रासलीला में दृश्य परिवर्त्तन के लिए प्रायः यवनिका या पर्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। इस कार्य को केवल कथावाचक या घोषणा द्वारा प्रस्तुत करता है। केवल झाँकी और आरती के अवसर पर सामान्य चादर तानकर शृंगार करके राधा-कृष्ण की युगल मूर्तियों को विभिन्न मुद्राओं में दिखाते हैं और केवल इस अन्तराल के लिए नितान्त अनौपचारिक ढंग से कोई भी वस्त्र तान देते हैं ताकि एक पर्दा हो जाय और उनकी झाँकी प्रस्तुत की जा सके।

कुल मिला कर रासलीला की निम्नलिखित विशेषताएँ यहाँ देखने को मिलेंगी—

१-सम्पूर्ण नाटक गीतिबद्ध होता है।

२-गद्य का अंश भी रासलीला के पात्रों द्वारा प्रयोग किया जाता है किन्तु वह आभिजात्य और प्रायः आलेखबद्ध नहीं होता। गायक जिन पदों का गायन करते हैं अभिनेता या तो उसका भावाभिनय करता है या अभिनय और कथन द्वारा उसका विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

३-रासलीला के सभी पात्र लीला स्थल पर राधाकृष्ण के चरणों के पास या नीचे बैठते हैं।

४-पात्रों के प्रवेश आदि की कोई रुढ़ि नहीं है। चूंकि मंच-व्यवस्था बड़ी सरल होती है, विंग आदि की कोई योजना नहीं होती इसलिए प्रवेश और निष्क्रमण की भी कोई रुढ़िबद्ध योजना नहीं रहती।

५-नाटक का अभिनय पक्ष प्रायः नृत्य पर आधारित रहता है। कृष्ण और राधा तथा अन्य गोपियाँ घुंघरु पहन कर ही प्रवेश करते हैं और अन्त तक पहने रहते हैं।

६-लोक रंगमंच के तत्त्व भी इनमें मिले रहते हैं जैसे स्वाँग या नकल आदि के टुकड़े सन्दर्भानुसार इसमें स्थान-स्थान पर जोड़ दिये जाते हैं।

७-मंगलाचरण सस्वर और प्रायः स्वाँग के अनुसार होता है। यह कहना कठिन है

कि रासलीला से विकसित होकर स्वाँग बना है या स्वाँग रासलीला के बाद में जोड़ लिया गया है।

८-प्रत्येक रास का अन्त लीला के उद्देश्य और देखने के फल पर विशेष रूप से प्रण-यन से होता है।

९-यवनिका का प्रयोग न होने से दृश्य परिवर्त्तन केवल गायक या वादक द्वारा ही सूचित किया जाता है।

१०-प्राय: रासलीला ब्रजभाषा में ही खेली जाती है। संस्कृत या तत्सम शब्दों का प्रयोग इन लीलाओं में प्राय: नहीं किया जाता हैं। यहाँ तक कि आरती और झाँकी के अवसर पर भी लोकभाषा का ही प्रयोग होता है।

११-रासलीला में अंक, विष्कम्भक आदि कुछ नहीं होते।

उपर्युक्त विशेषताओं का महत्त्व यद्यपि आभिजात्य दृष्टि में उतना नहीं है फिर भी विद्वानों का मत है कि धार्मिक रंगमंच पर अभिनीत होने वाले इन नाटकों का प्रभाव स्वयं संस्कृत नाटकों पर भी पड़ा है। यही नहीं, उनके भावाभिनय की बड़ी गहरी छाया संस्कृत नाटकों के आभिजात्य संस्कारों पर भी पड़ी है।

मध्ययुगीन लोक रंगमंच

धार्मिक रंगमंच और पौराणिक रंगमंच के अतिरिक्त लोक रंगमंच भी मध्ययुग में बड़ा बिखरा-सा मिलता है। यह रंगमंच भी बड़ा अनौपचारिक और अधिकतर पूर्णतया व्यावसायिक और मनोरंजनप्रधान था। प्राय: यह रंगमंच एक नगर से दूसरे नगर में घूमता रहता था और हाट बाजारों और मेलों में या नगरों में सम्भ्रान्त पैसे वालों के यहाँ इसके प्रदर्शन होते थे। सन् १६८५ में इसी प्रकार के एक अभिनय का वर्णन एक मुसलमान कवि गनीमत ने अपनी पुस्तक में किया है। उसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन रंगमंच का क्या रूप था। वह किस सीमा तक जन अभिरुचि से संयुक्त था और उसका भी कोई स्थायी रूप नहीं था। वह प्रत्येक प्रान्त और देश में भिन्न रहा होगा।

गनीमत ने अपनी पुस्तक में अभिनय के जिन रूपों का उल्लेख किया है, वे कौतुकी, नाच, नकल, भगत बाज के रूप हैं। लखनऊ के शाही स्टेज का वर्णन करते हुए मसूद हसन रिज़वी ने इन प्रकारों का विशेष रूप से अध्ययन किया है और उनका परिचय भी दिया है। उसके अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि मध्यकाल में अभिनय के ये प्रकार और रंगमंच का यह रूप बड़े अच्छे ढंग से दिया गया है। वाजिदअली शाह ने भाँड़ों के विषय में भी लिखा है और अभिनय के इस रूप की प्रशंसा की है। लगता है मध्यकाल के लगभग चार-पाँच सौ सालों में वाजिद अली शाह के काल तक इस रूप का काफ़ी प्रचलन था। इसकी नकल छोटे-छोटे टुकड़ों में प्रहसन के रूप में होती थी। इसमें कभी-कभी तो एक ही दृश्य होता था और कभी-कभी एक से अधिक, तीन-चार दृश्य होते थे। प्राय: लोग इन्हें खुशी के अवसर पर, ब्याह-शादियों आदि में बुलाते थे। इनका रंगमंच एकदम अनौपचारिक होता था और वे केवल कुछ पर्दे, चादरें खींच कर या किसी ड्राप आदि के एकदम खुले मंच पर अभिनय कर लिया करते थे। वाजिदअली शाह के शब्दों में 'इस फ़िरके को सिवाय नकल को असल करके दिखाने के लय, स्वर, में

मुतलक तमीज़ नहीं होती थी। मगर अलबत्ता जो काम इनका है यानी नकल नुमाई, वह इन्हीं पर खत्म है। और इन फिरकों को राकिम ने बचश्म खुद देखा है। कि ऐसे पावन्द सूत ओ सुलत होते हैं कि सुभान अल्लाह। हजारों रुपये की थैली सामने रख दो और फरमाइश करो कि निमाज़ फ़ौत होने दो, अगर नकल किये जाओगे तो यह हज़ार रुपया तुम्हारा है, कभी कबूल न करेंगे पर नमाज़ वक्त पर बजा लाएँगे....।'

स्पष्ट है कि रंगमंच का यह रूप उस समय के मुसलमान वर्ग में भी वहुत प्रचलित था और उसमें मुसलमान कलाकार भी होते थे। जो धर्म और आचार विचार के साथ रंगमंच का अभिनय भी करते थे। जहाँ यह मामूली और टकसाली हास्य के लिए छोटे-छोटे अभिनय करते थे वहीं यह कभी-कभी बड़े तेज़ और विद्वत्तापूर्ण कटाक्ष भी कर देते थे।

मध्ययुगीन रंगमंच का दूसरा रूप हमें भगतिये या भगतबाजों में मिलता है। स्पष्टतः यह नाम मुसलमान शासकों का दिया हुआ है, वैसे इनमें हिन्दुओं के धार्मिक स्वाँग के रूप होते थे। इसका वर्णन हमें गनीमत की मसनवी में भी मिलता है। उसके अनुसार ये भगतिये या भगतबाज़, संगीत, नृत्य और अभिनय में दक्ष होते थे। वह धार्मिक नहीं होते थे। उनका काम समाज के प्रत्येक वर्ग के जीवन को अतिरञ्जित करके रखना होता था। भगतियों और भांडों में अन्तर यह होता था कि भाँड़ केवल शाब्दिक अभिनय करते थे और भगतिये रूप सज्जा के साथ अभिनय करते थे। स्पष्ट है कि भगतियों में अभिनय और नाट्यकला अधिक विकसित रूप में थी।

इस युग में लोक रंगमंच का दूसरा प्रकार बहुरूपियों के रूप में मिलता है। हुमायूँ के काल से ही इस प्रथा और प्रकार के अभिनयों का पता लगता है। मुन्तखिब उल्ल तवारिख में मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूँनी ने इसका वर्णन किया है। यही नहीं इस प्रकार के वर्णन वाजिद-अली शाह ने भी किये हैं। विलासप्रिय राजाओं और नवाबों के यहाँ इनको आश्रय मिलता था और यह उनको प्रसन्न करके पैसे लेते थे। यह वस्तुतः दर्शकों को इतना प्रभावित कर देते थे कि वह चकमें में आ जाता था। इसके साथ कोई अभिनय तत्त्वप्रधान नहीं था। यह केवल भेष बदल कर ही अपना काम करते थे। एक नवयुवक अस्सी साल की बुढ़िया का रूप बदल कर आ सकता था और क्षण भर के लिए ही सही वह प्रभावित कर जाता था।

इन रूपों के अतिरिक्त भी जन जीवन के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न अभिरुचियों के अनुरूप रंगमंच रहा होगा। जातीय नृत्यों के आधार पर भी अभिनय और नृत्य मिश्रित नाटकों और नकलों के कई रूप रहे होंगे। जिनके विषय में प्रमाण के साथ कुछ भी कह सकना कठिन है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि नितान्त आभिजात्य के अभाव में किसी प्रकार का रंगमंच रहा ही नहीं होगा।

प्रस्तुत उदाहरणों से यह सिद्ध हो गया कि उस युग में जो लोक रंगमंच था, वह बड़ा ही अस्थायी और यात्रा करता हुआ एक नगर से दूसरे नगर में आता जाता रहता था। साथ ही उसके अभिनय और प्रस्तुतीकरण में बड़ी सरलता और सुगमता होती थी। तीसरे यह कि वह नकल और स्वाँग के रूप तक तो व्यापक स्तर पर प्रचलित था। जैसे यह कि इसका अभिनय करने वाले पूरे व्यावसायिक थे क्योंकि बिना व्यावसायिक रूप के यह एक नगर से दूसरे नगर तक घूम नहीं सकते थे। पाँचवें यह कि इसके दल में अभिनय करने वाली स्त्रियाँ नहीं होती

थीं। पुरुष ही स्त्रियों का भी अभिनय कर लिया करते थे। छठें यह कि इनका उद्देश्य केवल जनता या अभिभावक का मनोरंजन करना होता था। सातवाँ यह कि इसके अभिनय के लिए किसी विशिष्ट प्रेक्षागृह की आवश्यकता नहीं थी।

इनके अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रंगमंच के कुछ रूप हमें मध्ययुग के महाकाव्यों, रूपकों और सम्वाद परम्परा के रूप में भी मिलता है। मध्ययुग के अन्त में लोक स्तर पर कुछ 'किस्सागो' भी होते थे जो केवल कुछ कहानियों और कथाओं का वर्णन करते थे। प्राय: यह अकेले होते थे। अपनी वाणी तथा हाव-भाव के प्रदर्शन से कथा विभिन्न मार्मिक स्थलों को ऐसा उभार कर रखते थे कि श्रोता हतप्रभ हो जाते थे। जहाँगीर के काल में 'असद', 'किस्सा ख्वाव' का वर्णन मिलता है जिसने केवल कथा का वर्णन करके जहाँगीर को बहुत प्रसन्न कर लिया था। यह किस्सागो अभिनेता भी होता था और वाणी और अभिनय के साथ-साथ भावव्यंजना में भी प्रवीण होता था। अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में इस प्रकार के लोग लखनऊ में होते थे। राजाओं, नवाबों और धनी-मानी लोगों के यहाँ ऐसे लोग नौकर भी रखे जाते थे। वाजिदअली शाह के यहाँ तो ऐसे किस्सागो लोगों की संख्या काफी थी। यद्यपि उनके अभिनय को वाजिदअली शाह खुद नहीं देखते, सुनते थे लेकिन उसकी कला को राजाश्रय और सम्मान प्राप्त था।

किन्तु यह सब निष्कर्ष यद्यपि सजीव और सप्राण हैं फिर भी रंगमंच का इतिहास इन बिखरी हुई कड़ियों को एक साथ रख देने पर भी बड़ा हल्का-फुल्का और आभिजात्यहीन-सा लगता है। गुप्तकाल तक संस्कृत और प्राकृत नाटकों और रंगमंचों का विधान इतना सम्पन्न और वैभवपूर्ण था कि उसके समक्ष यह रूप कुछ महत्त्व नहीं रखता। किन्तु फिर भी यह सत्य है कि मनुष्य की आन्तरिक अभिनय की प्रवृत्तियों ने कट्टर इस्लामी धर्म की नैतिकता को भी बल दिया था। ऊपर लोक रंगमंच के जितने भी रूप गिनाये गये हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि नाटकीय अभिजात्य की इस प्रवृत्ति ने धीरे-धीरे उस वर्ग को भी बड़ा प्रभावित किया। यह सत्य है कि इस्लामी कट्टरपन के आगे जहाँ मन्दिरों के ढहाने और हिन्दुस्तान को आतंकित करने की परम्परा रही है, वहीं उसकी तीव्रता भी रही है। यह तीव्रता विभिन्न रूपों में प्रकट होती रही है और चूंकि अलाउद्दीन, बलबन, शाहजहाँ और औरंगजेब के काल में यह कट्टरपन अधिक था। उनके प्रशासन में लोकमंच का सार्वजनिक लोकप्रिय रूप विकसित होना असम्भव था। आभिजात्य रंगमंच का विकास होना तो असम्भव हो गया था। उसके लिए सिवा लोक और धर्म के और कहीं शरण मिलना असम्भव था।

आभिजात्य रंगमंच जो शास्त्रों से संश्लिष्ट होकर भव्य और दृढ़ रूप में संस्कृत नाटकों में विद्यमान था, उसका पुनरुत्थान मध्यकालीन युग में इसलिए तो असम्भव था ही कि सत्ता उसके विरोध में थी। साथ ही वह इसलिए भी विकसित हो सकने में असमर्थ था कि जन भाषा, जन अभिरुचि और जन निष्ठा के प्रति पूरी की पूरी व्यवस्था विरोध में थी। संस्कृत भाषा और उसके शास्त्र की तात्त्विक निष्ठा तो भारतीय मानस में निस्सन्देह बड़े गहरे स्तर पर थी किन्तु व्यावहारिक स्तर पर स्वयं जनता भी उससे छूट चुकी थी। यही कारण है कि सांस्कृतिक मूल्यों के स्तर पर जहाँ विदेशी प्रशासकों को लगभग ७०० वर्ष भारतीय चेतना में

बदलाव लाने के लिए सतत् प्रयास करना पड़ा, वहीं भारतीय चरित्र में निहित मूल्यों, विधाओं और प्रारूपों के स्तर पर उनकी अपनी आग्रहशील प्रकृति इतनी गहरी और संवेदनशील थी कि वह बराबर उसकी रक्षा के लिए नये कवचों और उपकरणों का निर्माण अपने आप ही करती रही। यह ध्यान रखने की बात है कि लोक चेतना के स्तर पर हमारे आभिजात्य वर्ग के बहुत से मूल्य काफ़ी दृढ़ता के साथ सुरक्षित रखे गये हैं। आज भी हमें लोक रंगमंच के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि हमारा आभिजात्य संस्कार कहाँ-कहाँ, किन-किन रूपों में बिखरा पड़ा है। रंगमंच की जितनी भी परम्पराएँ थीं वे लोक रंगमंच और धार्मिक रंगमंच में सुविधानुसार बँट गईं और हजारों वर्ष के दमन चक्र के बावजूद भी आज मूल रूप में उनका संरक्षण करने में संलग्न हैं। राजनीति की निरंकुशता के बावजूद भी इस रंगमंच पर लोक जीवन, संस्कार इन दोनों संस्थाओं में समान रूप से अपनी नवीनतम अभिव्यक्तियाँ भी पाता रहा है।

रासो परम्परा और तत्सम्बन्धी रंगमंच

हिन्दी रंगमंच में रासो शैली और चारण काव्य के योगदान से इन्कार नहीं किया जा सकता। श्रव्य काव्य के लिए भी मंच का विधान होता है और वाचक या गायक के व्यक्तित्व में निहित नाटकीयता का प्रदर्शन होता है। उसकी भावभंगिमा, मुद्रा कहने की शैली और वर्णन की विधा के कारण ही हज़ारों की संख्या में दर्शक और श्रोता विद्यमान रहते थे। रासक नाटकों या रासो ग्रन्थों में यह सब होना स्वाभाविक है, इसलिए उसका भी प्रभाव हमारे रंगमंच पर पड़ता है। और गहराई से देखने पर स्वगत और कथन शैलियों के अभिनय में भी नाटकों में इस वर्णन शैली का उपयोग किया जाता है। रास या रासक या रासो ने हमारे रंगमंच के विकास में निश्चय ही योग दिया है। किन्तु इसका रूप क्या था यह बताना कठिन है। थोड़ी-थोड़ी कल्पना की जा सकती है। उसका एक रूप लावनी है। बुन्देलखण्ड और मध्यप्रदेश के कुछ भागों में आज भी लावनी की परम्परा विद्यमान है। रासो का प्रभाव इस प्रकार के दृश्य और श्रवण काव्यों एवं अभिनयों को प्रस्तुत करने की शैली पर निश्चय ही पड़ा होगा। रास नाटक या रासक को बहुत से विद्वान् जन नाट्य या जन रंगमंच के विकास की प्रथम कड़ी मानते हैं और सम्पूर्ण रास या रासक साहित्य को इस परम्परा में समेटने की चेष्टा करते हैं। यद्यपि उनके इस कथ्य में एक बहुत बड़ा सत्य है लेकिन यह स्वयं आभिजात्य शैली का विकृत या यों कहा जाय कि अपनी सुविधा के अनुसार काफ़ी तोड़-मरोड़ कर जनता द्वारा अपनाया गया रूप है। अपभ्रंश साहित्य में प्राप्त नाटकों की संख्या इतनी है कि इस परम्परा का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। रासो परम्परा में केवल कथा प्रसंगों को व्यक्त करने की परम्परा रही है। रासक उसी कथा को अभिनीत करने के लिए लिखे गये थे।

रास परम्परा की पहली विशेषता ही लोक नायकों के चरित्र को प्रदर्शित करने की रही है। आध्यात्मिक या नितान्त ऐतिहासिक महापुरुष के जीवन को इसमें कम चुना गया है। रासक कथाओं में गयसुकुमार रासक की कथा इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय है। लोकतत्त्वों की प्रबलता का इस कथा के संयोजन में स्पष्ट योग लक्षित होता है। इस कथा को स्वयम् कृष्ण

के चरित्र से कोई प्रेरणा नहीं मिली है। इसलिए इसके लेखक ने यह कल्पना की है कि वसुदेव की पत्नी देवकी ने भगवान् से प्रार्थना करके एक और पुत्र प्राप्त किया है, जिसका नाम गयसुकुमार है। वह पौराणिक गरिमा के साथ इस रासक में नहीं चित्रित किया गया है। वह सामान्य है और लोक तत्त्वों का संरक्षण करने वाला है। रासक नाटकों की दूसरी विशेषता उनकी अपनी भाषा है। भाषा प्रायः लोक भाषा ही होती है और चूंकि पौराणिक पात्रों की प्रायः अलौकिकता में परिवर्तित करने की होती है इसलिए उसकी सम्पूर्ण रचना में लोकप्रियता अधिक होती है। भाषा की यह अनिवार्यता शायद लोकतत्वों के आग्रह से उपजी है। जैसा कि माना जाता है। हिन्दी नाटकों की उत्पत्ति का काल यदि सत्रहवीं शताब्दी मान ली जाय तो रासक नाटकों से ही वह इतिहास प्रारम्भ होगा। वैसे भी रासक की मूल भाषा के आधार पर इसे लोकतत्त्व का ही अंश कहना अधिक उचित होगा। अपभ्रंश में अनेक ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जो रासक परम्परा पर पूरा प्रकाश डालते हैं। रासक नाटकों की परम्परा से विकसित एवम् प्राप्त रूप को इसके लेखकों ने काफ़ी तोड़ा मोड़ा है। संस्कृत परम्परा का सूत्रधार इसमें नहीं होता लेकिन मंगलाचरण का एक रूप विशेष है जो स्पष्ट कथोपकथन की शैली में लिखा जाता है। दृश्य बन्ध एवं परिवर्तन के भी सूत्र हैं। रागात्मक ढंग का भी इसकी संरचना में योग है। वे सभी मानवीय राग-विराग होते हैं, जो किसी भी नाटक की संरचना के लिए आवश्यक हैं। आशा, निराशा, संशय, दुविधा, असमंजस, संघर्ष, मिलन, वियोग आदि का प्रचुर प्रयोग होता है। अन्त में भरत वाक्य के स्थान पर आशीर्वचन भी होता है।

इन सारे तत्त्वों के बावजूद भी रासक आभिजात्य से भिन्न ही होता है। क्योंकि इसमें मूलतत्त्व भाव प्रदर्शन होता है उसकी ललित उपक्रिया नहीं। इसके अभिनय करने वाले भी सामान्य जीवन के लोग होते हैं। प्रायः रासकों का अभिनय बहुरूपियों द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। रासकों के माध्यम से ही दृश्य काव्य के रूपबन्ध की परम्परा विकसित होनी शुरू हुई थी। जैसा कि डॉ० दशरथ ओझा ने लिखा है कि—'रासक पूर्णतया विकसिक नाटकों के प्रारम्भिक काल का वह रूप है, जिसमें श्रव्य का अभिनय कला की सहायता से दृश्य काव्य में परिणित हो रहे हैं। बहुरूपियों से प्रदर्शन होने का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।' आज यद्यपि इसकी परम्परा प्रायः लुप्त हो गई है किन्तु राजस्थान में अब भी रासक की परम्परा किसी न किसी रूप में वर्तमान है।

नवाबी रंगमंच

कला, नृत्य और संगीत को प्रथम प्रोत्साहन मोहम्मदशाह रंगीले के काल में मिलता है। लेकिन इस काल में भी हमें यह प्रमाण नहीं मिलता कि रंगमंच का कोई भी रूप विकसित हुआ रहा होगा।

मोहम्मदशाह रंगीले के काल के बाद सन् १७५७ में प्लासी की लड़ाई हुई, जिसमें पहली बार अंग्रेज़ी शासन की नींव भारत में जम कर पड़ी और उनके शासन का केन्द्र कलकत्ता बना। अंग्रेज़ी जीवन में नाटक और रंगमंच का एक महत्त्वपूर्ण संस्कार था। कलकत्ते में एक अत्यन्त अव्यवस्थित रूप में एक छोटा-मोटा अंग्रेज़ी रंगमंच थके-माँदे सिपाहियों और अफ़सरों के लिए प्लासी की लड़ाई के पहिले ही स्थापित हो चुका था। प्लासी के युद्ध के बाद शासन

की दृढ़ता के साथ अल्फ्रेड नाम के एक फ्रेंच ने अल्फ्रेड कम्पनी के नाम से एक थियेट्रिकल कम्पनी सन् १७६५ में खोली। इसमें अँगरेज़ी नाटक ही होते थे। लेकिन यह चल कम्पनी थी और पूरे देश में घूम-घूम कर नाटक करती थी। कलकत्ते में एक दूसरी कम्पनी चौरंगी थिएटर के नाम से स्थापित हुई। सन् १७६५ से १८१३ ई० तक के अन्तराल में इन कम्पनियों ने बंगाल और खास कलकत्ते के जीवन को बड़ा प्रभावित किया। सन् १८३५ ई० में इस वातावरण से प्रभावित होकर कलकत्ते में एक बंगाली थिएटर स्थापित हुआ। यह प्रथम नाट्य कम्पनी थी जिसने सर्वप्रथम भारतीय और पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों और रंगमंचीय प्रारूपों को एक स्तर पर पर लाने की चेष्टा की।

हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में रंगमंच का अभिजात् रूप अब भी अविकसित था। केवल लोक रंगमंच के रूप में ही जो कुछ था, वह शेष था। इसके अतिरिक्त रङ्गमंच के नाम पर एक टूटा फूटा रङ्गमंचीय प्रदर्शन लीला के रूप में लखनऊ में होता था, जिसमें लखनऊ के नवाब वाज़िदअली शाह का हाथ था।

सन् १८४५ ई० में वाज़िदअली शाह ने पहला रहस अर्थात् रासलीला राजमहल में मनाया जिसमें वे कृष्ण बने। एक प्रकार से धार्मिक रंगमंच पर अभिनीत होने वाले रासलीला को नवाब वाज़िदअली शाह ने अपने यहाँ रंगमंच पर उतारा। यहीं से नवाबी रंगमंच का उदय हुआ। यद्यपि यह नवाबी रंगमंच केवल नवाब वाज़िदअली शाह तक ही सीमित रह कर और यह शाही महल में ही होता था फिर भी इसका प्रभाव सम्पूर्ण रंगमंच आन्दोलन पर पड़ा। कहते हैं कि उसके प्रभाव से प्रेरित होकर लखनऊ में, और धीरे-धीरे अवध के सूबे में, छोटे-छोटे रहस और लीलाओं का ऐसा रूप विकसित हुआ कि जिससे रहस को बड़ी प्रतिष्ठा मिली।

इसी के साथ, नवाब वाज़िदअली शाह ने अंग्रेज़ी रंगमंच और उसके अभिनयों को भी देखा और उनकी चर्चाएँ सुनीं और इन्दर सभा का अभिनय किया। इस नवाबी रंगमंच में रहस और लीला के साथ पौराणिक गाथाओं को भी मंच पर प्रस्तुत करने की बड़ी प्रबल प्रवृत्ति थी। इस रंगमंच को नवाब वाज़िदअली शाह सैकड़ों बेगमों, परियों और नर्तकियों के साथ विकसित करने में लगे थे। पौराणिक कथाओं में से ही इन्दर सभा भी थी। रहस भी श्रीमद्भागवत से लिया गया था।

इन्दर सभा और रहस की पाण्डुलिपियों को देख कर यह स्पष्ट हो जाता है कि नवाब रंगमंच की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि ये उर्दू नाटक बिल्कुल ही नहीं थे। ये नाटक मुख्यतः उर्दू-हिन्दी मिश्रित भाषा में थे। इसके कथोपकथन और मूल भाषा के रूप में अभिजात-उर्दू के साथ, अवधी, ब्रजभाषा और पंजाबी के पुट मिले हुए थे। 'रहस' के राधा-कन्हैया के इन कथोपकथनों से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि चूँकि वाज़िदअली शाह स्वयं कन्हैया का अभिनय करते थे। इसलिए उसमें उर्दू का मिश्रण है और राधा भी ठीक उसी प्रकार उर्दू के साथ-साथ ब्रजभाषा या अवधी में बोलती थी। कभी-कभी वे गज़ल भी कह जाती थीं—

राधा—

मुझे गैर में ऐसा सितम ईज़ाद किया,
क़ातिल भूल के भी न हमको याद किया,
मैं बिरहनी संजोग संग न कोऊ साथ
नारी छुवत वैद्य के फफले हो गये हाथ।

कन्हैया—

नाम मेरा है कन्हैया मैं तुझे जानता हूँ
राधा जी जान से मैं तुझ को यहाँ मानता हूँ
राधा जी के अंग पर, बिंदिया अति छबि देत।
मनो फूली केतकी, भँवरा वास न लेत।

उपर्युक्त कथोपकथन में प्रत्येक पात्र पहले उर्दू का बेत कहता था या शेर से शुरू करता था और फिर ब्रजभाषा या अवधी में बोलता था। इस पूरे प्रयास में उर्दू की इश्क मिज़ाजी और रहस की पावनता को लगातार मिलाने की चेष्टा स्पष्ट दीख पड़ती है किन्तु इस विचित्र प्रयोग से नवाबी रंगमंच केवल एक सतही मनोरंजन कर पाता था। नाटक के धीरोदात्त नायक को जब हम इस वातावरण में देखते हैं, तो रस निष्पत्ति के बजाय रसभंग हो जाता है। नवाबी रंगमंच वैभव सम्पन्न था। किन्तु वह जिस वैभव और विलासिता की चमक दमक में बना, उसने केवल व्यावसायिक रंगमंच का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। भारतेन्दु जैसे व्यक्ति को नाटक के इस रूप से दुराव हुआ। परिणाम स्वरूप जहाँ सन् १८६० ई० में व्यावसायिक थिएटर का जन्म नवाबी रंगमंच के आधार पर हुआ, वहीं १८६२ ई० में काशी में बिल्कुल भारतीय नाट्य परम्परा के आधार पर जानकीमंगल नाटक श्री ऐश्वर्य नारायण द्वारा लिखा और खेला गया।

वे अंग्रेज़ी रंगमंच जो अब तक केवल अंग्रेज़ों का मनोरंजन करते थे और जिनके निर्माता और संस्थापक विशेषकर पारसी थे। अब अपने व्यवसाय के लोभ में कुछ नये प्रयोग का संकल्प लेकर आगे आये। अमानत द्वारा लिखे गये 'इन्दर सभा' की ख्याति काफी फैल चुकी थी। उसके ही समान कई और नाटक लिखे और खेले जा चुके थे। लेकिन ये सारे नाटक मुख्यतः शौकिया रंगमंच के नाटक थे। 'इन्दर सभा' की लोकप्रियता ने भारत के इस व्यावसायिक रंगमंच को इसके लिए बाध्य किया कि वह नये सिरे से एक नए आन्दोलन का सूत्रपात करे। फलस्वरूप १८६० ई० में पेस्टन जी और फ़रोम जी ने पहले भारतीय भाषा के रंगमंच का संगठन ओरिजिनल थियेटर के नाम से किया। इस नाटक के कलाकारों में पारनिस, खुर्शीद जी, कावस जी, खटाऊ, सोहराब जी और जहाँगीर जी आए थे। इस कम्पनी के नाटक लेखकों में मोहम्मद मियाँ रौनक और और हुसेन मियाँ जरीक मुख्य थे। इस कम्पनी ने एक नया नाटक 'इन्दर सभा' मुं० मदारीलाल से लिखवाया और खेला।

सन् १८७७ ई० में एक अन्य कम्पनी विक्टोरिया थियेटर के नाम से स्थापित हुई। इसके भी व्यवस्थापक पारसी महोदय थे, जिनका नाम था खुर्शीद जी पाल्लीवाल। इस कम्पनी के कलाकारों में मिस मेहताब और मेरी फैन्शन मुख्य थीं। लेखकों में विनायक प्रसाद तालिब भी

मुख्य थे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, काशी में जानकी मंगल के नाम से एक नाटक सन् १९६२ में अभिनीत हो चुका था और उसकी सफलता की चर्चा भी फैल चुकी थी। इसलिए अब फारसी थियेटर के संस्थापकों को यह भी आभास मिल गया था कि हिन्दुस्तान की जनता हिन्दी के नाटकों को देखने के लिए उत्सुक है। इसलिए उसने उर्दू नाटकों के साथ हिन्दी नाटकों का भी अभिनय शुरू कर दिया। विनायक प्रसाद तालिब ने जैसे उर्दू नाटक शैल अोनेहार, दिलेर-दिलवर आदि खेले, ठीक उसी प्रकार हिन्दी के नाटक राजा गोपीचन्द, राजा हरिश्चन्द्र, रामायन और कनकतारा आदि मुख्य थे। उर्दू नाटक के साथ-साथ हिन्दी नाटक का भी जन्म हुआ और हिन्दी के नाटक भो व्यवसाटिक रंगमंच पर ठीक उसी प्रकार, उसी शैली और रंगों में विकसित होने लगे।

१८७७ ई० ही में ओरिजिनल थियेटर के सफल कलाकार कावस जी खटाऊ ने एक नयी कम्पनी एल्फ्रेड कम्पनी के नाम से खोली। इस एल्फ्रेड कम्पनी के लेखकों में सैयद मेंहदी हसन 'अहसन' और नारायण प्रसाद बेताब थे। अब तक हिन्दी जगत की अभिरुचि और हिन्दी जनता की माँग से ये व्यवसायी रंगमंच भलीभाँति परिचित हो चुके थे। इसीलिए अब इनका प्रयास उर्दू के साथ हिन्दी मिलाकर प्रस्तुत करने में लगा। एल्फ्रेड कम्पनी की विशेषता यह थी कि इसने एक ओर तो शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया और दूसरी ओर हिन्दी की पौराणिक कथाओं को विशुद्ध हिन्दू वातावरण के साथ प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया। स्वयं कावस जी खटाऊ एक बड़े ही सफल कलाकार और अभिनेता थे। साथ ही, उस समय के विख्यात कलाकारों में मनछेरशाह, गुलज़ार खाँ, माधोराम, मिस जोहरा, मिस गौहरे आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। खटाऊ का अभिनय कौशल तो इतना विख्यात् था कि वह पारसी थिएटर के 'इरविंग' कहे जाते थे। इनके प्रसिद्ध नाटकों में थे—महाभारत, रामायण, गोरखधन्धा, पति प्रताप, और कृष्ण-सुदामा।

कुछ ही दिनों के बाद, लगभग १८९० में, न्यू अलफ्रेड कम्पनी का जन्म हुआ। इसके व्यवस्थापक मोहम्मद अली जगबुदा और सोहराब जी थे। अब तक हिन्दी रंगमंच के अव्यवसायिक और शौकिया रंगमंच ने धीरे-धीरे कलात्मक और भारतीय परम्परा के अनुसार शास्त्रीय नाटक को थोड़ा-थोड़ा प्रतिष्ठित किया था। न्यू अल्फ्रेड कम्पनी ने हिन्दी में भी नाटक प्रस्तुत किए। इस कम्पनी के प्रसिद्ध कलाकारों में अब्बास अली और अमृतलाल केशव मुख्य थे। लेखकों में आगा मोहम्मद हश्र और पं० राधेश्याम कथावाचक थे। आगा हश्र के नाटकों में तुर्की हूर, सिलवर किंग और शहीदे नाज़ मुख्य थे। राधेश्याम कथावाचक के नाटकों में सूरदास, गंगावतरण आदि थे। न्यू अल्फ्रेड कम्पनी में हमें यह स्पष्ट दिखाई देता है कि व्यावसायिक कम्पनी होने के नाते इसके लिए भाषा और विधा का कोई प्रश्न नहीं था। इन कम्पनियों का मुख्य उद्देश्य हिन्दी और उर्दू की ऐतिहासिक और पौराणिक कहानियों को नाटक के रूप में रूपान्तरित करके दर्शकों को दिखाना और उससे अधिक से अधिक धनोपार्जन करना था। यही कारण था कि आगा मोहम्मद हश्र और पं० राधेश्याम पाठक दोनों को एक साथ लेकर चलने में कोई संकोच नहीं था। कहते हैं, राधेश्याम पाठक के नाटकों ने यह सिद्ध कर दिया कि जन अभिरुचि के नाम पर जिन नाटकों को लोकप्रिय समझकर खेला जा रहा था,

वह कहीं अपने में ही अधूरी थी। उनकी पूर्ण उपलब्धि तो तब हुई जब हिन्दी नाटकों के रूप में 'वीर अभिमन्यु' जैसे नाटक भी सामने आये। अभिरुचि की यह अनिवार्य पहचान कम-से-कम न्यू अल्फ्रेड थिएटर के इस प्रयास से स्पष्ट है। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि खटाऊ जैसे व्यवसायी केवल उर्दू के नाटकों को लेकर कहीं बुरी तरह असफल भी हो रहे थे। इसके अतिरिक्त इसी से यह भी स्पष्ट है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जिस संस्कारहीनता के प्रति विद्रोह करने के लिए विवश हुए थे, उसने इन व्यवसायिक रंगमंचों को भी प्रभावित कर दिया था, एकदम से राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आकांक्षाओं का भी प्रतीक बनने लगा। सन् १८६२ ई० में जिस सांस्कृतिक आकांक्षा से प्रेरित होकर 'ऐश्वर्य नारायण सिंह' द्वारा लिखित 'जानकी मंगल' नाटक बनारस में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रोत्साहन से खेला गया था, वह सन् १९१४ ई० में राधेश्याम पाठक जैसे व्यक्ति को व्यावसायिक रंगमंच में स्थान दिला सका।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पारसी व्यावसायिक थिएटर मनोरंजन करने में भी पूर्णतः सफल नहीं हो पाया क्योंकि रंगमंच के साथ जो ऐतिहासिक, पौराणिक और सांस्कृतिक राग है उसे वह वहन करने में असमर्थ रहा।

आधुनिक हिन्दी रंगमंच के उद्भव और विकास की गाथा इसी मर्म से प्रारम्भ होती है। सन् १८६२ ई० से लेकर सन् १९६७ ई० की लगभग सौ वर्षों की लम्बी कड़ी इसी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आकांक्षा की संघर्ष गाथा है। सन् १८६२ ई० में जानकी मंगल इस अर्थ में हिन्दी रंगमंच पर खेला जाने वाला प्रथम नाटक है। क्योंकि यही नाटक ऐसा है जो सर्वप्रथम रंगमंच के आन्दोलन से इस राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आकांक्षा की पूर्ति करता है। इसके पहले सन् १८३५ ई० में श्रीकृष्ण चरितोपाख्यान का अभिनय भारतीय हिन्दी में काठमाण्डू में खेला गया था, बाद में 'नहुष' नाटक भी सन् १८४१ ई० में लिखा जा चुका था किन्तु ये दोनों नाटक केवल स्फुट घटनाएँ हैं। यह उस राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परम्परा एवं आकांक्षा से उस प्रकार सम्बद्ध नहीं हो पाई, जिस प्रकार कि 'जानकी मंगल' नाटक हो सका। ५ नवम्बर सन् १८८४ ई० में भारतेन्दु जी ने बलिया में सर्वप्रथम सत्य हरिश्चन्द्र का अभिनय किया। इस नाटक के मंच उपस्थापन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारतीय नाट्य परम्परा और उससे संबंधित नाट्य एवं रंगमंच के विधान को नितान्त व्यावसायिक रंगमंच से पृथक् परम्परागत रूप में प्रस्तुत किया। इस नाटक में उन्होंने स्वयं हरिश्चन्द्र का अभिनय करके हिन्दी प्रेमियों और परम्परागत नाट्य कर्मियों के सामने हिन्दी नाटक और रंगमंच को उद्घाटित कर दिया। वस्तुतः हिन्दी रंगमंच का वास्तविक प्रारम्भ यहीं से माना जाना चाहिए। भारतेन्दु ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की भूमिका में लिखा है कि वह नाटक को केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं रखना चाहते थे। अपितु इससे भी आगे उसमें भारतीय जीवन पद्धति के आधार भूत मूल्यों को भी पुनः स्थापित करके पूरी अभिरुचि का पूर्ण परिष्कार करना चाहते थे। ठीक यही विचार पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी अपनी पत्रिका हिन्दी प्रदीप में व्यक्त किया था।

'हिन्दू जाति और हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका यह पारसी थिएटर है जो दर्शकों को आशिक़ी माशूक़ी का लुत्फ़ हासिल करने का उम्दा ज़रिया है।'

स्पष्ट है कि पारसी थिएटर उस समय जिस रूप में था वह भारतीय जन-जीवन

की आकांक्षाओं की पूर्ति करने में असमर्थ ही नहीं वरन् उसे पतनशील बनाने में योग दे रहा था। ऐसा होने के कारण थे। सर्वप्रथम तो यह कि उस समय जो भी थिएटर के रूप में था, उसका मूलस्रोत भारतीय जन-जीवन में नहीं था। वह अलग से आरोपित किया गया था और इस आरोपण में प्रभाव था, उस अंग्रेज़ी और योरोपीय रंगमंग का जो उस समय अंग्रेजों के मनोरंजन के लिए कलकत्ता जैसे नगर में व्यावसायिक रूप में बनाया गया था। दूसरा कारण यह था कि पिछले चार-पाँच सौ वर्षों में हिन्दी या संस्कृत नाट्य परम्परा का सर्वथा लोप हो चुका था। चूँकि पूरा रंगमंच आन्दोलन ही एक आरोपित आन्दोलन था, इसलिए उसमें वे राष्ट्रीय तत्त्व होने असम्भव थे जो पूरी राष्ट्रीय परम्परा से विकसित होकर सम्पूर्ण राष्ट्रीय राष्ट्रीय जीवन को समग्रता की दृष्टि दे सकते। तीसरा कारण था स्वयं सरकारी अनुशासन द्वारा व्यावसारिक रंगमंच को प्रोत्साहन और राष्ट्रीय या अव्यवसायिक रंगमंच के ऊपर प्रतिबन्ध। चौथा कारण स्वयं नवाबी रंगमंच था कि जिसने वास्तविक रंगमंच को केवल खेल, तमाशा या नृत्य के साथ जोड़कर वास्तविक भारतीय परम्परा को उभारने नहीं दिया। और अन्त में यह कहने में भी संकोच नहीं करना चाहिए कि परम्परागत संस्कृत रंगमंच इतना उदार नहीं बन सका कि वह किसी भी प्रकार अपने स्तर से हटकर या नयी परम्परा को अस्वीकार करके, छोटे मोटे स्तर पर ही सही, उसके आदर्श को प्रतिष्ठित कर सके।

लेकिन बात जो भी हो, वास्तविक रंगमंच के संदर्भ में पारसी थिएटरी का एक ऐतिहासिक स्थान रहा है, इसलिए उन पर विचार करना आवश्यक भी है। पारसी थिएटर का क्रमिक विकास करते समय निम्नलिखित थिएटर कम्पनियों का वर्णन करना आवश्यक है।

ओरिजिनल थिएटर—इसकी स्थापना सन् १८६० ई० में हुई थी। इसके संस्थापकों में पेस्टन जी और फ़रोम जी दो पारसी थे। इनके प्रमुख नाटक उर्दू में ही लिखे गये थे। उर्दू शेर, गज़ल, बेत और बेहर तवील में भी रचनाएँ की गई हैं। नाटकों के नाम से भी ऐसा लगता है कि इन नाटकों में उर्दू ही है। इस नाटक के कम्पनी के लिए जो लेखक नाटक लिखते थे उनके नाम थे 'मोहम्मद मियाँ रौनक' और 'हुसेन मियाँ जरीफ़'। इसको पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। यह पहली कम्पनी थी कि जिसने भारतीय भाषाओं में से उर्दू को चुना।

विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी—इस कम्पनी की स्थापना सन् १८७७ ई० में खुर्शीद जी बाटलिवल के द्वारा हुई। खुरशीद जी खुद भी बड़े अच्छे अभिनेता थे और स्वयं ओरिजिनल थिएटर में अभिनय कर चुके थे। यह हास्य अभिनेता भी थे। इनके कलाकारों में प्रमुख थीं, मिस खुर्शीद, मिस मेहताब और मेरी फ़ैन्शन। लेखकों में विनायक प्रसाद तालिब थे, जो अपने जमाने के बड़े ही सबल लेखक माने जाते थे। इस कम्पनी ने ओरिजनल थिएटर के अनुभव से लाभ उठाकर उर्दू भाषा के फारसी रूप को छोड़ दिया और अधिक लोकप्रिय होने के लिए हिन्दी के भी नाटक किये। इसके प्रमुख नाटकों में लैल-ओ निहार, दिलेर दिलशेर, और निगाहे गफ़लत, प्रमुख है। हिन्दी नाटकों में गोपीचन्द, हरिश्चन्द्र, रामायण, कनकतार, मुख्य हैं।

एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी—ओरिजिनल के ही एक दूसरे कलाकार कावस जी खटाऊ ने सन् १८८० ई० में एल्फ्रेड थियेट्रीकल कम्पनी की स्थापना की यह ओरिजिनल

थयेट्रिकल कम्पनी और विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी दोनों से भिन्न और अपेक्षाकृत बड़ी कम्पनी हुई। कावस जी खटाऊ स्वयं इतना बड़ा अभिनेता था कि उस जमाने में वह अपने युग का 'इर्विंग' कहा जाता था। मन्छेरशाह, गुलामखान, गुलज़ार खान, माधोराम, मिस जोहरा, मिस गौहर आदि उच्च कोटि के कलाकार इस कम्पनी में काम करते थे। जो नाटक इस कम्पनी ने खेले उसमें दो अभिरुचियों का विभाजन और अधिक रूप में स्पष्ट उभर आया। अब इस कम्पनी में उर्दू और हिन्दी भाषा का प्रयोग काफी अंश तक एक गहरे स्तर पर व्यंजित होने लगा। नाट्य आलेख के लेखकों में भी यदि एक ओर सैयद मेंहदी हसन 'एहसान' का नाम था तो दूसरी ओर नारायण प्रसाद बेताब भी थे। स्पष्ट है कि भारतीय मिथकों और पुराणों पर आधारित नाटकों के लिए और उर्दू भाषा भाषी जनता के लिए अलग-अलग आलेखों का प्रस्तुतीकरण आवश्यक हो गया था। नाटकों में जहाँ एक ओर शेक्सपीयर के रोमियो जूलियट का अनुवाद था तो दूसरी ओर कृष्ण-सुदामा जैसे नाटक भी अभिनीत होते थे। इस कम्पनी के मुख्य नाटकों में से रोमियो, जूलियट हैमलेट, चन्द्रावली, बकावली, दिल फरोश, चलता पुर्जा, गुल फरोश, और भूल भुलैया, गोरखधन्धा, पत्नी प्रताप, और कृष्ण-सुदामा थे। ऐसा लगता है कि अब तक व्याप्त जनमत के आधार पर इन व्यवसायी रंगमंचों के संस्थापकों ने धार्मिक एवं पौराणिक कथानकों को भी लेना स्वीकार कर लिया। लेकिन शैली और परम्परा में भारतीय ज्ञान नहीं था और न धार्मिक या क्लासिकी रंगमंच का ज्ञान था। इसलिए वे नाटक प्रभावशाली तो होते थे लेकिन वह तुष्टि प्रदान करने में समर्थ नहीं थे।

न्यू एल्फ्रेड कम्पनी—इस कम्पनी के संस्थापकों में मोहम्मद अली 'नाखुदा' और सोहराब जी थे। अब तक इन कम्पनियों में हिन्दी और उर्दू लेखक स्पष्ट रूप से दो विभिन्न कथानकों के लिए अलग-अलग रखे जाने लगे थे। न्यू एल्फ्रेड कम्पनी में 'आगा मोहम्मद हश्र' और कथावाचक पं० राधेश्याम की नियुक्तियाँ इस तथ्य की पूर्ण पुष्टि करती हैं। जहाँ ये नाटक मण्डलियाँ अखिल भारतीय स्तर की बड़ी कम्पनियाँ थीं वहीं क्षेत्रीय स्तर पर बहुत-सी छोटी-छोटी कम्पनियों का भी जन्म हुआ। इनमें से उल्लेखनीय है—शेक्सपियर थिएटर, ओल्ड थियेट्रिकल कम्पनी, लाहौर जुबिली कम्पनी, इमपीरियल थियेट्रिकल कम्पनी और लाइट आफ इंडिया कम्पनी। यह सारी कम्पनियाँ एक जमाने में क्षेत्रीय और सामान्य स्तर पर हमारे अन्तर की आकांक्षाओं के बावजूद अपनी कुशलता के कारण अपने-अपने क्षेत्र में बड़ी और जनरुचि की अभिभावक बनी रहीं। इनका दायित्व नाटक और रंगमंच की ओर ध्यान आकृष्ट करने में बहुत रहा है। इन छोटी-छोटी कम्पनियों के माध्यम से रंगमंच का आन्दोलन किसी-न-किसी रूप में सदैव चलता रहा और वह भूमि बनती रही जब अव्यावसायिक रंगमंच व्यवस्थित हो सके।

पुनर्मूल्यांकन—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, व्यावसायिक रंगमंच के विकास ने कम-से-कम हिन्दी भाषा-भाषी का ध्यान अपनी नाटक परम्परा की ओर आकृष्ट हुआ। पारसी थिएटर के पुराणों एवं धार्मिक घटनाओं का जिस कृत्रिमता के साथ चित्रण अपने उपस्थापनों में किया था उससे यह प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक थी। इस प्रक्रिया के ही फलस्वरूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, रामनारायण त्रिपाठी प्रभाकर, माधव शुक्ल

आदि का ध्यान अपनी वास्तविक परम्परा की ओर आकृष्ट हुआ। यह केवल शकुन्तला नाटक के साथ नहीं वरन् जितने भी इस प्रकार के नाटकों का उपस्थापन व्यावसायिक रंगमंच द्वारा हुआ उन सब ने बुद्धिजीवियों को एक साथ अपने अस्तित्व की मूलभूत शक्तियों और उनके स्रोतों की ओर उन्मुख कर दिया। इस जिज्ञासा की अभिव्यक्ति कई रूपों में हुई। हिन्दी रंग-मंच, क्लासिकी रंगमंच, राष्ट्रीय रंगमंच जैसी कल्पनाओं के साथ भारतीय बौद्धिक वर्गसंघर्ष रत हो गया।

व्यावसायिक रंगमंच के साथ एक दोष यह भी था कि उसका सम्बन्ध व्यापक जन-जीवन से नहीं था। वह अँग्रेज़ियत में पले कृत्रिम अभिजात्य वर्ग और रुचिविहीन भावुक दर्शक एक साथ तुष्ट करने की चेष्टा करता था। अभिजात्य वर्ग को रोमियो जूलियट, हैमलेट आदि का रूपान्तर अच्छा लगता था। दर्जा आठ पास करके तहसीलदार, नायब तहसीलदार, दारोग़ा आदि को लगता था कि वह भी उस अभिजात्य रुचि में भाग ले रहा है जिसमें उसके उच्चवर्गीय जन अभिरुचि भाग ले रहे हैं। इस विकृत परम्परा से मुक्ति की कामना ही अव्या-वसायिक रंगमंच की मूल भावना थी और राष्ट्रीय पुनरुत्थान के साथ अपनी पहचान और अपनी खोज की प्रक्रिया थी जो रंगमंच में भी अभिव्यक्ति चाहती थी।

व्यावसायिक रंगमंच के आन्दोलन में स्वयं इन अभिरुचि के क्रमिक विकास का प्रमाण हमें मिलता है। सन् १७९५ ई० में प्लासी की लड़ाई के ठीक ३८ वर्ष बाद जब ब्रिटिश प्रशासन ईस्ट इन्डिया कम्पनी के रूप में स्थायित्व पा गई तो उनके मनोरंजन के लिए अल्फ्रेड फ्रेंच नामक एक फ्रेंच भाषा में नाटक खेलने वाली नाटक मण्डली का संयोजन हुआ। यह नाटक स्वयं में एक विरोधाभास था और वह यह कि फ्रेंच में होने के नाते यह पूर्ण रूप से ब्रिटिश अभिरुचि को भी तुष्ट नहीं कर पाता था। इस अभाव की पूर्ति के लिए सन् १८१२ ई० में एथेनियन रंगमंच का निर्माण हुआ जो शेक्सपीयर और अँग्रेज़ी नाटकों को प्रस्तुत करने लगा। सन् १८१३ ई० में चौरंगी-थिएटर का संगठन हुआ जो अँग्रेज़ी के साथ-साथ भाषाओं में भी नाटक खेलने का संकल्प लेकर आया। इस नाटक मण्डली से बंगला रंगमंच को काफी प्रेरणा मिली। इसके अभिभावकों में कई प्रसिद्ध अँग्रेज़ आफ़िसर और कलाकार थे, जिनमें केप्टन रियर्डसन, डॉ० विल्सन आदि कलकत्ते के कई प्रमुख अँग्रेज थे। सन् १८३८ ई० में चौरंगी में आग लग जाने से यह संस्था समाप्त हो गई। सन् १८३९ ई० में 'सान्स सूफ़ी थिएटर' की स्थापना हुई। पहले ८०,००० रुपये लगाकर हाल बनवाया। इसका उपयोग केवल अँग्रेज़ों तक ही सीमित रहा। यह उपेक्षा कलकत्ता के बंगाली के मन को कहीं बहुत पीड़ित करता था। उसके मन में एक प्रतिशोध की भी भावना थी और स्वयं इन अँग्रेज़ों पर आश्रित नाटक मण्डलियों को भी यह लगने लगा कि अब यह चीज़ केवल अँग्रेज़ी नाटक द्वारा नहीं सम्भव थी। वह भी शुद्ध व्यावसायिक स्तर पर ऐसा रंगमंच हो जो भारतीयों और अँग्रेज़ों दोनों को तुष्ट कर सके। जो कुछ हो, सन् १८३१ ई० में ही रंगमंच एक उत्साही रंगमंच प्रेमी श्री प्रसन्नकुमार टैगोर ने हिन्दू थिएटर की स्थापना की और सर्वप्रथम एक ही रंगमंच पर प्रो० विल्सन द्वारा अनूदित उत्तर रामचरित के अंश और जूलियस सीज़र का एक साथ अभिनय किया। लेकिन सन् १८३१ ई० में सर्वप्रथम बंगला रंगमंच की प्रथम

स्थापना इसी संस्था से हुई लेकिन फिर भी इससे तुष्टि नहीं हुई और १८३५ ई० में हिन्दू थिएटर के होते हुए भी बंग थिएटर का जन्म हुआ। बंग थिएटर की स्थापना से वे सारी ग्रन्थियाँ आप ही आप खुल गईं। यद्यपि लोग चौरंगी को बंगला का प्रथम रंगमंच मानते हैं, फिर भी यह सत्य नहीं है। वास्तव में बंगला संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बंगला थिएटर ही हुआ। बंगला थिएटर से राष्ट्रीय चरित्र बगला रंगमंच को मिला, जिसकी जिज्ञासा वर्षों से बंग जनता के मन में थीं।

ठीक इसी प्रकार पारसी और व्यावसायी थिएटर हिन्दी रंगमंच में अपना योग दे रहे थे और बहुत से समीक्षक आज भी यह मानते हैं कि हिन्दी रंगमंच का विकास इन्हीं पारसी थिएटरों के उद्भव से मानना चाहिए, लेकिन ऐसा करना ग़लत होगा। पारसी थिएटर ने केवल वातावरण पैदा किया और हिन्दू पुराणों की कथाओं को परम्पराहीन रूप में बाज़ारू बना कर रक्खा। उनको हिन्दी रंगमंच या हिन्दू पुराण से न कोई रागात्मक सम्बन्ध था और न वह उन पुराण कथाओं में प्रेषित मर्म समझने और अभिव्यक्त करने में समर्थ थे। इसीलिए बावजूद इसके कि व्यावसायिक और पारसी रंगमंच पर शकुन्तला, बिल्व मंगल, सूरदास, गंगावतरण, महाभारत और रामायण आदि को बराबर प्रस्तुत किया जाता रहा है किन्तु वह हिन्दी भाषा-भाषी जनता को तुष्ट करने में समर्थ नहीं हो सका। भारतेन्दु से लेकर सामान्य जन में उस समय एक ही भूख थी और वह अपने इन पौराणिक कथाओं को अपने सांस्कृतिक संदर्भ में देखने, समझने और प्रस्तुत करने की राष्ट्रीय भावना, भावनाओं से ओतप्रोत सम्पूर्ण भारतीय संवेदना, जीवन दर्शन, सुख दुःख, राग विराग अपनी सम्पूर्ण राष्ट्रीय प्रतिभा के साथ व्यक्त होना चाहती थीं और इसकी बेचैनी ठीक उसी प्रकार हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में थी, जिस प्रकार की बंगला जनता में विद्यमान थीं।

यही कारण है कि सन् १८३५ ई० में बंगाल के बंगला थिएटर का और सन् १८६२ ई० में बनारस थिएटर का जन्म हुआ। बनारस थिएटर की मूल भावना भारतीय नाटकों को अपने पूर्ण सांस्कृतिक संदर्भ में प्रस्तुत करना था। सन् १८६२ ई० में बनारस थिएटर में बाबू ऐश्वर्य नारायण सिंह द्वारा लिखित जानकी मंगल नाटक सर्वप्रथम अव्यवसायिक रंगमंच पर खेला गया। हिन्दी के अव्यावसायिक अथवा विशुद्ध राष्ट्रीय रंगमंच का यह प्रथम प्रस्तुतीकरण था। सन् १८६२ ई० के इस अभिनय के पीछे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का बहुत बड़ा हाथ था। भारतेन्दु के प्रयास से ही उस राष्ट्रीय परम्परा का सूत्र पड़ा जिसमें सर्वप्रथम भारतीय जीवन पद्धति और दर्शन के आधार पर पौराणिक कथाओं में निहित संस्कारिकता को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई। इस राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति निम्न प्रकारों से हुई—

१—सर्वप्रथम सेमेटिक और पाश्चात्य संस्कारों में जो हमारी पौराणिक गाथाएँ बराबर आत्माहीन होकर प्रस्तुत होती थीं। वह वास्तविक भारतीय आत्मा और उनकी संस्कारिकता के साथ प्रस्तुत होने लगीं।

२—पारसी रंगमंच पर जिस भाषा का प्रयोग नाटकों में होता था, वह भी हमारी अपनी पुराण गाथा को विकृत बना देता था। प्रेषणीयता के क्षेत्र में कृत्रिम भाषा के कारण मार्मिकता नष्ट हो जाती थी। अव्यवसायिक रंगमंच ने जो दूसरा काम किया वह नाटकों की

भाषा अधिक भारतीयता के निकट लाने का था। इसमें संस्कारिकता की अपील के अतिरिक्त एक प्रकार का निजत्व और अपने को पहचानने की संगति भी शामिल थी।

३—अव्यवसायिक रंगमंच ने तीसरा काम यह किया कि उसने केवल पौराणिक और धार्मिक कथाओं को नहीं लिया, उसने सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं को भी आत्मसात् करके उनको नाट्य एवं रंगमंच पर प्रस्तुत करने को प्रेरणा दी। भारतेन्दु के नाटक भारत दुर्दशा, या अन्धेर नगरी उसी आकांक्षा की देन है। यहीं नहीं, यहीं से उस परम्परा का सूत्रपात हुआ जिसके अन्तर्गत आगे चल कर हिन्दी रंगमंच वह प्रतीक बन गया जिस पर राजनीति और स्वतंत्रता संग्राम की गाथाएँ भी लिखी और अभिनीत की जाने लगी।

४—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और उनके बाद के नाटककारों ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को कुछ भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुरूप भी बनाने चेष्टा की। सत्य हरिश्चन्द्र जैसे नाटक में सूत्रधार, नान्दीपाठ, भरतवाक्य, विष्कम्भक या अंकावतार जैसी परम्पराओं का निर्वाह इस तथ्य को सिद्ध करता है। सम्पूर्ण नाट्यविद्या, रंगमंच-विधान जो पारसी एवं व्यावसायिक रंगमंच के अन्तर्गत एक खिचड़ी के रूप में बन गया था, अब उस नए प्रारूप में अपनी संस्कृत परम्परा की ओर अभिरुचि के स्तर पर विकसित हुआ।

५—अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना से ही साहित्यिक 'रंगमंच' और व्यावसायिक रंगमंच जैसी चर्चाएँ शुरू हो गईं। आज भले ही साहित्यिक रंगमंच और अव्यावसायिक रंगमंच के सन्दर्भ में यह सोचना ज्यादा उचित मालूम पड़े कि रंगमंच एक ही है। ये विभाजन इतने उचित नहीं हैं किन्तु एक विशेष सन्दर्भ में जबकि साहित्यिक रंगमंच और व्यावसायिक रंगमंच की बहस उठाई गई थी तो इसमें बहुत कुछ सार था। जो अव्यावसायिक और साहित्यिक रंगमंच की बात उस समय अथवा आज भी करते हैं, उनका मुख्य उद्देश्य है कि नाटक और रंगमंच को स्थूल दृश्यबंध तक न सीमित करके उसके अर्थ सन्दर्भों को कुछ और गहरे स्तर पर ले जाएँ। लोकप्रियता का एक ऐसा स्तर खोजा जाए जहाँ शास्त्रीय और लोकगत दोनों तत्त्व मिल सकें।

६—इसी भावना से प्रेरित होकर लोगों ने हिन्दी में संस्कृत के क्लासिकल नाटकों का रूपान्तर भी प्रारम्भ किया था। यदि शेक्सपीयर के नाटक हिन्दी में अनूदित होकर खेले जाते हैं तो संस्कृत के नाटकों को भी अनूदित करके खेलने के प्रति आग्रहशील होना उसी चिन्तन का अंश था। राजा लक्ष्मणसिंह का अभिज्ञान शाकुन्तल का हिन्दी में अनुवाद अथवा भारतेन्दु द्वारा मुद्राराक्षस का अनुवाद इसी धारणा के परिणाम थे। उस युग के सजग साहित्यकारों और लेखकों को ऐसा लगता था कि भारतीय साहित्य में जितने भी उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं उनको भी प्रकाश में लाया जाय। यह प्रक्रिया भी निश्चय ही अपने आत्मसम्मान और गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने की भावना से उद्भूत थी। इसमें पुनः अपनी पहचान ढूँढने की प्रबल इच्छा भी एक प्रेरक तत्त्व था। राष्ट्रीय पुनर्जागरण के समय रंगमंच के क्षेत्र में इन उद्देश्यों से काम करने वाले लोग निश्चय ही अपने ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह कर रहे थे। अव्यावसायिक रंगमंच के पीछे इन समस्त तत्त्वों का सशक्त आग्रह था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना से और जगह-जगह ऐसी नाटक मण्डलियों का संगठन जो व्यावसायिक तत्त्वों से पृथक् मूल्यों और उदात्त आकांक्षाओं को संवहन कर सकें, एक वास्तविक राष्ट्रीय चेतना का विस्फोट तो हुआ ही, साथ ही उसने पूरे दृष्टिकोण का भी सुरुचि सम्पन्न परिष्कार कर दिया। यह युग एक ऐसा युग था कि जिसमें राष्ट्रीय चेतना और एकता की भावना बड़े तीव्र रूप में विकसित हो रही थी और उसका विस्फोट सम्पूर्ण देश के जन जीवन में एक साथ हो रहा था। स्वामी विवेकानन्द, जैसे चिन्तक यदि एक ओर अपनी राष्ट्रीय गरिमा को पश्चिम के देशों में गुंजारित करना चाहते थे, राजा राममोहन राय जहाँ अपनी भारतीयता को माँज सँवार कर ऐसा रखना चाहते थे कि वह पश्चिम के क्रिश्चियन समाज से कम न लगे, तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य और रंगमंच में भी इसका आग्रह स्पष्ट देखा जा सकता था। बंगला में माइकेल मधुसूदन की वापसी हो चुकी थी, बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपनी सम्पूर्ण राष्ट्रीय एवं भारतीय संवेदना को अपने उपन्यासों में भरना शुरू कर दिया था। कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी, इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस काम को अकेले हाथों शुरू किया था वह धीरे-धीरे अंकुरित होने लगा था। भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में उसकी आग्रह शीलता भी अधिक स्पष्ट रूप में मुखर होने के लिए अकुला रही थीं। यह अकुलाहट ही वास्तविक भारतीयता के पहचान की अकुलाहट थी।

हिन्दी रंगमंच ने अपने इस दायित्व को पूर्णतया निभाया। यद्यपि इसका सशक्त आन्दोलन नहीं बन पाया और अनेक कारणों से इसकी गतिविधि में हमेशा एक प्रकार की रुकावट बनी रही फिर भी इसका उभार राष्ट्रीय पुनर्जागरण और जनजीवन के संघर्ष और क्रान्ति के साथ-साथ सदा सर्वदा उभरता रहा। यदि पूरे उत्तर भारत में एक ओर क्रान्तिकारिता, और विद्रोही प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थीं तो उनकी प्रतिछाया हिन्दी नाटकों और रंगमंच के रूपों में भी व्यंजित हो रही थीं। वह युग ऐसा था कि जब नाटक क्षेत्र से खेल तमाशा का बोध जुड़ा हुआ था। नाटक मण्डलियों और नाटक कम्पनियों को रख कर उनसे स्त्री का अभिनय करा लिया जाता था लेकिन अव्यावसायिक रंगमंच के सामने यह सुविधा नहीं थी। उसमें अब भी पुरुषों को ही स्त्री का अभिनय करना पड़ता था। इसलिए यद्यपि अव्यावसायिक रंगमंच अपने उद्देश्यों और आदर्शों में बड़ा ही पवित्र और उच्च स्तर का प्रतिष्ठापन करना चाहता था लेकिन उसके पास आकर्षण का वह 'मारू मीडिया' नहीं था जो व्यावसायिक रंगमंचों के साथ सहज ही सुलभ हो जाता था। एक दूसरी बात मनोरंजन सम्बन्धी भी थी। अव्यावसायिक रंगमंच नाटक और रंगमंच को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने में संलग्न था इसलिए भी उसके पास वे साधन नहीं थे जो मनोरंजन के साथ-साथ स्तरहीन चेतना को जगा सकते। फिर भी, अव्यवसायिक रंगमंच का जो भी दायित्व रहा है, उसने प्रेक्षक की रुचि को सम्पन्न और जागरूक बनाकर प्रस्तुत किया था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस युग में हिन्दी रंगमंच के आन्दोलन का सूत्रपात्र किया था, वह युग अपने में ही बड़ा विरोधाभासों का युग था। एक तरफ़ पारसी थिएटर का जोर और दूसरी तरफ़ अंग्रेज़ी शिक्षा दीक्षा के वातावरण में विकसित होने वाला लार्ड मैकाले का समर्थक वर्ग। इन दो प्रमुख तत्त्वों के बीच भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी रंगमंच की स्थापना करना चाहते

थे। उनकी ही प्रेरणा से काशी में थिएटर की भी स्थापना हुई थी, जिसने भारतेन्दु के कई नाटकों का प्रस्तुतीकरण किया और एक ऐसा वातावरण बनाया कि जिससे अव्यावसायिक हिन्दी रंगमंच का आन्दोलन चल सका। काशी में यह संस्था सन् १८६२ ई० के बाद उसी प्रकार चलती रही। एक तीसरा पक्ष भी था जिसका सामना अव्यावसामिक हिन्दी रंगमंच को करना पड़ा और वह था नवाबी रंगमंच का, वह वातावरण जो नवाब वाजिदअली शाह के मटियाबुर्ज में क़ैद हो जाने के बाद भी उत्तर भारत में अपना प्रभाव रखता था। नवाबी रंगमंच की विडम्बना यह थी कि बावजूद इसके कि उसने सम्पूर्ण हिन्दू देवताओं और उनकी गाथा को अपने मंच पर प्रस्तुत किया था लेकिन फिर भी वह वास्तविक नाट्य आन्दोलन का केन्द्र नहीं बन पाया था। एक ओर जहाँ उस नवाबी रंगमंच की नितान्त वैभवशाली प्रवृत्ति ने एक विशेष रुचि पैदा की तो दूसरी ओर उसने विशुद्ध हिन्दी रंगमंच को भी प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा दी। हिन्दी के प्रबुद्ध लेखकों और उनके समर्थकों को यह तीनों स्थितियाँ एक चुनौती के समान लगती थीं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इस चुनौती को स्वीकार करके ही काशी में एक नए रंगमंच का सूत्रपात किया था। उनके सहयोगियों में से बाबू रविदत्त शुक्ल, बाबू ऐश्वर्य नारायण सिंह आदि थे, पं० शीतलादीन का विशेष योगदान था। इस बनारस थिएटर के विषय में कुछ अधिक नहीं ज्ञात हो पाता लेकिन जिस गति से रंगमंच आन्दोलन उन दिनों काशी में विकसित हुआ उसका समुचित योग उसमें था।

१८६६ ई० में प्रयाग में श्री माधव शुक्ल, महादेव भट्ट, गोपाल त्रिपाठी आदि-आदि के सहयोग से रामलीला नाटक मण्डली नाम की एक हिन्दी रंगमंच की स्थापना हुई। इस मण्डली का उद्देश्य था, रामलीला के प्रसंग में वर्तमान राजनीति की भी आलोचना करना। इस संस्था का प्रथम उपस्थापन 'सीय स्वयंवर' था। इस स्वयंवर नाटक के अभिनय में ही एक कथोपकथन जिसका आशय था कि ब्रिटिश कूटनीति के समान कठोर इस शिवधनुष को तोड़ना तो दूर रहा वीर भारतीय युवक इसे टस से मस भी न कर सके —'यह अत्यन्त दुःखकर विषय है, हाय।' पं० मदनमोहन मालवीय जो उस समय तक ब्रिटिश शासन का विरोध इस रूप में करने के पक्षपाती नहीं थे उठकर चले गये और अभिनय बन्द करा दिया गया। महामना-मालवीय इस रामलीला नाटक मण्डली के संस्थापकों और अभिभावकों में से थे। वह कुछ रुष्ट भी हो गये, परिणामस्वरूप यह मण्डली सन् १९०७ ई० तक किसी-न-किसी तरह से चलती रही। १९०७ ई० में यह मण्डली टूट गई और सन् १९०८ ई० में स्व० माधव शुक्ल ने फिर एक संस्था 'हिन्दी नाट्य समिति' के नाम से संगठित की। इस बार इस संस्था के अभिभावकों में से पं० बालकृष्ण भट्ट, स्व० प्रधानचन्द्र प्रसाद नागर, बाबू मुद्रिका प्रसाद, श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, स्व० प्रेमघन आदि भी इस संस्था से सम्बद्ध रहे। इस संस्था ने सन् १९०८ ई० में ही काशी के श्री राधाकृष्ण द्वारा लिखित महाराणा प्रताप अभिनीति किया। इसी प्रस्तुति के विषय में समीक्षा करते हुए पं० बालकृष्ण भट्ट ने प्रयाग प्रदीप में पारसी रंगमंच और अव्यावसायिक हिन्दी रंगमंच के आधारभूत मूल्यों की चर्चा चलायी थी। पहली बार लोगों को लगा कि साहित्यिक स्तर पर देश की संवेदनाओं की अभिव्यक्ति कितनी मार्मिक होती है। इसकी सफलता के बाद दूसरा नाटक महाभारत पूर्वार्द्ध, स्वयं पं० माधव शुक्ल द्वारा लिखा गया

और अभिनीति किया गया। पर अपने समय का यह इतना सफल नाटक था कि इसने यह सिद्ध कर दिया कि अव्यवसायिक रंगमंच में भी कला और अभिनय के अच्छे स्तर प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा—

'भीम के रूप में शुक्ल जी को जिसने देखा है वही उनके विशाल व्यक्तित्व और तेजस्वी स्वरूप की कल्पना आज भी कर सकता है। शुक्ल जी का तगड़ा शरीर, प्रकाण्ड डीलडौल, मेघ गम्भीर वाणी और उद्भट वीरत्व हिन्दी संसार में आज भी दुर्लभ है।'

इस प्रकार स्व० माधव शुक्ल केवल प्रयाग के ही नहीं वरन् पूरे उत्तर प्रदेश के रंगमंचीय आन्दोलन के उन्नायक थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में भी वह सर्वप्रथम भाग लेते थे। कई बार जेल भी हो आये थे। उनके बनाये राष्ट्रगीत आज भी प्रचलित हैं। वह एक कुशल अभिनेता थे और महाराणा प्रताप नाटक में उन्होंने ऐसा अभिनय किया था कि उसके संस्मरण से आज भी रोमांच हो जाता है। उन्होंने हिन्दी रंगमंच-आन्दोलन, हिन्दी आन्दोलन और राष्ट्रीय आन्दोलन को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया था। वह चाहते थे कि व्यवसायिक रंगमंच पारसी थिएटर से पृथक् हिन्दी रंगमंच समस्त प्राचीन नाट्य परम्पराओं के साथ विकसित हो। यदि देखा जाय तो प्रयाग की हिन्दी नाट्य समिति को ही प्रथम व्यवस्थिति संस्था एवं रंगमंच माना जा सकता है।

सन् १९१५ ई० में जब प्रयाग में प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ तो हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिए एक प्रस्ताव द्वारा यह कोशिश की कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी रंगमंच के संगठन में सहयोग दे। इस अवसर पर श्री माधव शुक्ल द्वारा लिखित 'महाभारत पूर्वार्द्ध' भी हिन्दी नाट्य समिति से खेला गया था। इनके प्रयास से एक समिति भी गठित की गई। लाहौर के अधिवेशन में उस कमेटी ने एक रिपोर्ट भी प्रस्तुत की लेकिन उस पर कोई उचित कार्यवाही नहीं की जा सकी। सन् १९१५ ई० के बाद यह संस्था भी धीरे-धीरे ढीली पड़ने लगी। इस ढीलेपन के कारण माधव शुक्ल के मन में एक क्षोभ और असन्तोष भी पैदा हो गया था। आर्थिक स्थिति भी बिगड़ गई थी। हार कर, उन्होंने प्रयाग छोड़ दिया और स्वयं कलकत्ते में जा बसे। लेकिन वहाँ भी वह शान्त नहीं रह सके। वहाँ बंगला का विकसित रंगमंच देख कर उनको फिर प्रेरणा मिली और कलकत्ते में उन्होंने श्री आनन्द प्रसाद खत्री और हरिदास माणिक के सहयोग से हिन्दी नाट्य परिषद् की स्थापना की। उनके इस प्रयास में जो दृष्टि निहित थी वह यह कि पूरे देश में हिन्दी रंगमंच आन्दोलन फैले और हिन्दी नाट्य परिषद् की शाखाएँ कम-से-कम सम्पूर्ण उत्तर भारत में रंगमंच सम्बन्धी संस्थाएँ संगठित हो जाँय।

सन् १९१० ई० से लेकर १९२० ई० तक हिन्दी रंगमंच का यह आन्दोलन ऐसा ही छुट-पुट रूप में चलता रहा। रंगमंच के विकास में रुचि रखने वाले लोगों के प्रयास से इसी प्रकार लड़खड़ाता हुआ चलता रहा। सन् १९२० ई० में जब साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन फिर कलकत्ते में आयोजित हुआ तो श्री माधव शुक्ल ने फिर चेष्टा की कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन इस दिशा में कुछ काम करे। उनकी प्रेरणा से मुजफ़्फरपुर निवासी नाट्य प्रेमी ने यह प्रस्ताव रखा कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन को हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिए भी प्रयास करना

चाहिए। लेकिन यह प्रस्ताव वहाँ नहीं पास किया गया। इस बार काफी कठिनाई के बाद "हिन्दी के अभिनय योग्य नाट्य ग्रन्थों के निर्माण और अभिनय कला के नियमों पर विचार करने के लिए एक उपसमिति बनायी जाय" का प्रस्ताव पास हुआ और पन्द्रह सदस्यों की एक उपसमिति भी बनाई गई, जिसके संयोजक श्री ललिताकुमार नटवर ही नियुक्त किए गए। यह समिति भी पूरे वर्ष भर निष्क्रिय रही और प्रस्तावित दिशा में कुछ भी कार्य न कर सकी। सन् १९२२ ई० में सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में उस पर विचार तो किया गया किन्तु कोई ठोस कदम यहाँ भी नहीं उठाया गया। हिन्दी रंगमंच का पूरा आन्दोलन ठप पड़ गया और उसका कोई भी उचित विकास नहीं हो पाया। हिन्दी संस्थानों की दृष्टि इस दिशा में विकसित नहीं हो पाई।

युग प्रवर्तक भारतेन्दु के सम्बन्ध का परिणाम यह था कि काशी में एक संस्था ऐसी बन गई कि जिसके अन्तर्गत भारतेन्दु के नाटकों का प्रदर्शन होता रहा। उनकी मृत्यु के बाद लगातार कई वर्षों तक आन्दोलन ठंडा ही रहा। सन् १९०९ ई० में हिन्दी नाट्य समिति प्रयाग की भाँति 'नागरी नाट्य प्रवर्तन मण्डली' नाम से एक संस्था काशी में संगठित की गयी। इस संस्था के प्रवर्तक स्वयं भारतेन्दु जी के घराने के ही थे। व्यावसायिक पारसी थिएटर के विरोध में इस संस्था ने भी एक सुरुचि सम्पन्न कलात्मक हिन्दी रंगमंच की स्थापना का संकल्प किया था और इसके संरक्षकों में से काशी नरेश, राजा शिवप्रसाद गुप्त, राजा मोती-चन्द आदि थे। कुछ दिनों बाद इस नागरी नाट्य प्रवर्तन मण्डली के कार्यकर्ताओं में मतभेद हो गया और तब एक अलग संस्था भारतेन्दु नाट्य मण्डली के नाम से संगठित की गई। इस संस्था के पास काफी धन आदि भी था और एक रंगशाला बनाने की योजना भी थी किन्तु वह फलीभूत नहीं हो सकी।

सन् १९१०-१९२० में हिन्दी नाट्य समिति, प्रयाग, नागरी नाट्य मण्डली, काशी और कलकत्ते की हिन्दी नाट्य परिषद् एवं भारतेन्दु नाट्य मण्डली काशी थे चार संस्थाएँ मुख्य रूप से हिन्दी रंगमंच का काम अपने सीमित दायरे में करती रहीं। इसका एक सीधा प्रभाव यह पड़ा कि वह पारसी थियेट्रिकल कम्पनियाँ जो अब तक केवल उर्दू मिश्रित नाटक करती थीं, उन्होंने शुद्ध हिन्दी की ओर ध्यान दिया। सन् १९१४ ई० तक पारसी थियेट्रिकल कम्पनियां केवल उर्दू मुहावरे और अन्दाज के नाटकों को ही विशेष स्थान देती रहीं लेकिन सहसा सन् १९१४ से उन्हें यह अनुभव होने लगा कि जनता की अभिरुचि अब बदल रही है। पं० राधेश्याम कथावाचक इसी काल में केवल हिन्दी शैली के नाटकों को प्रस्तुत करने के लिए रक्खे गये। पं० राधेश्याम कथावाचक ने निश्चय ही टूटते हुए पारसी थिएटर को एक बार फिर जीवन प्रदान कर दिया। दिल्ली की अल्फ़ेड थियेट्रिकल कम्पनी ने सर्वप्रथम पं० राधेश्याम कथावाचक का नाटक वीर अभिमन्यु सन् १९१४ में प्रस्तुत किया। उसकी सफलता को देख कर अन्य थियेट्रिकल कम्पनियों ने भी हिन्दी के नाटकों का अभिनय प्रारम्भ कर दिया।

हिन्दी रंगमंच आन्दोलन का यह एक नया मोड़ था। अभी हिन्दी के कलाप्रधान अव्यावसायिक रंगमंच को संगठित करने की बात सोची ही जा रही थी और उसका आन्दोलन विकसित करने का प्रयास किया जा रहा था कि सहसा व्यावसायिक नाट्य मंडलियों में हिन्दू

पुराणों की कथाओं का अभिनय एक साथ उमड़ पड़ा। कृष्णचन्द्र 'ज़ेबा', तुलसीदत्त 'शैदा', हरिकृष्ण 'जौहर', श्रीकृष्ण 'हसरत' आदि के हिन्दी नाटक भी पौराणिक कथाओं पर आधारित होने के नाते बड़े लोकप्रिय और प्रचलित हुए। यही नहीं, ये व्यवसायी कम्पनियाँ अपने नाटकों और प्रदर्शनों में राष्ट्रीय नेताओं द्वारा उद्घाटन आदि भी करवाने लगीं। राधेश्याम कथावाचक के ईश्वर भक्ति नाटक का उद्घाटन स्व० मोतीलाल नेहरू ने प्रयाग में किया। इस प्रदर्शन में उद्घाटनकर्त्ता के अतिरिक्त विशेष अतिथि के रूप में श्रीमती सरोजिनी नायडू भी सम्मिलित हुई थीं। सन् १९१४ ई० से लेकर सन् १९२० ई० तक पारसी थिएटर के इस परिवर्तन से हिन्दी रंगमंच के मिशन को काफी धक्का लगा। व्यावसायिक रंगमंच के वैभव के समक्ष अव्यावसायिक हिन्दी रंगमंच का टिकना असम्भव हो गया।

इसी बीच सन् १९२० ई० में भारतीय जीवन में एक नयी चेतना महात्मा गांधी के आने से पैदा हुई थी और समूचा देश राष्ट्रीय स्वतंत्रता की लहर में डूब सा गया। इस चेतना ने राष्ट्रीय और भारतीय पक्ष के साथ-साथ स्वदेशी की भावना को बड़े गहरे स्तर पर देश के सभी वर्गों में जमा दिया। व्यावसायिक रंगमंच इस चेतना को वहन करने में असमर्थ रहा। उसमें राष्ट्रीय पुनर्जागरण के साथ-साथ पूरे संघर्ष को चित्रित करने का सामर्थ्य नहीं था। सन् १९२१ ई० में सम्पूर्ण राष्ट्रीय चेतना को वहन करने के लिये और उसे अभिव्यक्ति देने के लिए मेरठ के श्री विश्वम्भरनाथ सहाय 'व्याकुल' ने एक नयी रंगमंच की संस्था 'व्याकुल भारत' के नाम से संगठित की। इस संस्था के ऊपर व्याकुल जी के व्यक्तित्व का बड़ा गहरा प्रभाव रहा। व्याकुल जी संगीत, अभिनय लेखन आदि में बड़े निपुण थे। उनकी ख्याति संगीत में तो इतनी थी कि लोग उन्हें 'उस्ताद व्याकुल' भी कहते थे। वह राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी सक्रिय भाग लेते थे और महात्मा गांधी से बहुत प्रभावित थे। गांधी जी ने सन् १९२० ई० से ही सत्य अहिंसा आदि विचारों को जन मानस में प्रतिष्ठित कर दिया था। अब लोगों की दृष्टि में पौराणिक आख्यायिकाओं की अपेक्षा सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों और उनकी यश गाथा में अधिक रुचि दिखाई पड़ने लगी। श्री व्याकुल जी के नये रङ्गमंच से इस विचारधारा का सूत्रपात हुआ और श्री व्याकुल द्वारा लिखित 'महात्मा बुद्ध' नाटक इस रङ्गमंच से खेला गया। इसका प्रभाव भारतीय जन मानस पर बड़ा गहरा पड़ा। वैसे भी यह युग भारतीय चेतना के पुनर्जागरण का युग था और इतिहास और संस्कृति के पुराने मूल्यों और अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व की खोज भारतीय जनता में बड़ी तीव्र मात्रा में थी। गांधी का व्यक्तित्व और महात्मा बुद्ध के विचारों का पक्ष इस नाटक में बड़ी सफलता के साथ दिखाया गया है। व्याकुल भारत की इस प्रस्तुति में जो दूसरी विशेषता थी वह यह कि वह अनावश्यक कृत्रिमताओं से मुक्त हैं, जो प्रायः पेशेवर नाट्य मण्डलियों में रहती हैं। व्याकुल के इस रङ्गमंच की तीसरी विशेषता यह थी कि उसकी स्थापना तो नितान्त अव्यावसायिक नहीं थी। उनके दिमाग में व्याकुल भारत में दिखाने योग्य नाटक वही थे जो गांधी जी के सिद्धांतों के ऊपर बने थे। इसीलिए व्याकुल भारत की प्रस्तुतियों में इन तथ्यों की बड़ी गहरी छाप थी। व्यावसायिकता की आकांक्षा उनके मन में इसलिए थी जिससे वे स्वतंत्र होकर अपने पैरों पर खड़ा होकर इस आन्दोलन को आगे बढ़ाने में समर्थ हो सकें।

● ● ●

निबन्ध साहित्य

निबन्ध का उद्भव

हिन्दी भाषा में गद्य के प्रवर्त्तन के उपरान्त ही निबन्ध विधा का प्रारम्भ हुआ। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने भारतेन्दु युग से ही निबन्ध का प्रारम्भ स्थिर किया है। गद्य को कवियों की कसौटी स्वीकार करने के सम्बन्ध में प्राचीन सूक्ति चली आ रही है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।' यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। गद्य के माध्यम से अभिव्यंजना का चरमोत्कर्ष अपने सहज-सुबोध रूप में यदि कहीं है तो वह निबन्ध में ही। प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक कार्लाइल ने निबन्ध को साहित्य की गहराई का मापदण्ड मानते हुए निबन्ध की गौरव गरिमा की स्थापना की है। निबन्ध की परिभाषा में मतभेद होने पर भी आज निबन्ध के जो रूप और भेद स्थिर हो गए हैं वे किसी भी प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध न होकर नवीन विधा के ही परिचायक हैं। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में निबन्ध शब्द का प्रयोग देखकर निबन्ध का मूल उत्स वहाँ खोजना तर्क, प्रमाणसम्मत नहीं है। निबन्ध शब्द का प्रयोग तो अनेक ग्रन्थों में मिलता है किन्तु वह आधुनिक हिन्दी निबन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। न्यायवार्तिक श्लोक में—

'कुतार्किका ज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्यमया निबन्धः।'

अथवा, पंचपादिका में—

'परिसमाप्तश्चायं पंचपादिका विवरणात्को निबन्धः।' में प्रयुक्त निबन्ध शब्द को आज की निबन्ध-विधा का मूलस्रोत मानना वादरायण सम्बन्ध से भी दूर का सम्बन्ध स्थापित करना है। वासवदत्ता में भी निबन्ध-प्रबन्ध शब्द का उपयोग हुआ है—'प्रत्यक्षरश्लेषमय प्रबंध विन्यास वैदग्धनिधिर्निबन्ध चक्रे।' किन्तु यहाँ भी निबन्ध शब्द का अर्थ लेख अथवा आधुनिक निबन्ध नहीं है। हिन्दी साहित्य में निबन्ध का विकास नितान्त आधुनिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में हुआ और उसमें उन सम्भावनाओं को स्थान दिया गया जो वर्तमान जनजीवन में व्याप्त थे और विचाराभिव्यक्ति के लिए है मन को आन्दोलित करती हैं। आधुनिक हिन्दी निबन्ध पर यदि कोई वाह्य प्रभाव है तो वह अंग्रेजी के 'एस्से' का है जिसका प्रचार अंग्रेज़ी में पिछली तीन शताब्दियों से हो गया था।

मराठी के समीक्षक निबन्ध को सुहृद गोष्ठी का लिखित रूप मानते हैं। सुहृद गोष्ठी का सरस संलाप जिस प्रकार मन को प्रमुदित करता है वैसे ही, निबन्ध पाठक को आनन्द-मन्दाकिनी में स्नान करने का अवसर प्रदान करता है। मराठी के सुप्रसिद्ध निबन्ध लेखक कृष्णशास्त्री चिपलूणकर, ना० सी० फड़के, अनन्त काणेकर, बा० म० बोरकर, पु० ल० देश-पांडे आदि ने निबन्ध की परिभाषा के साथ उसका सीमा विस्तार किया है। मराठी का निबन्ध

साहित्य इसी कारण विविध शाखा प्रशाखाओं में फैलकर एक व्यापक रूप धारण कर सका है। हिन्दी निबन्ध पर भी इनका प्रभाव यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। मराठी के ललित निबन्ध सुहृद गोष्ठी की सीमा में आते हैं। जिस रूप में आज निबन्ध विकसित हो रहा है उसके सर्वांग रूप को यह परिभाषा समेट नहीं पाती। गद्य की अन्य विधाओं से निबन्ध का वैशिष्ट्य स्थापित करते हुए कहा जाता है कि आत्मीयता के धरातल पर, व्यक्तिगत अनुभूतियों और मान्यताओं के साथ विषय-प्रतिपादन का, जो स्तर निबन्ध में रहता है वह गद्य की किसी अन्य विधा में नहीं रहता। व्यक्तित्व के प्रकाशन के लिए निबन्ध से अधिक सक्षम और कोई दूसरी साहित्य विधा नहीं है। हमारे व्यक्तित्व का निर्माण हमारी चेतना और रागात्मकता के समन्वित रूप से होता है। फलतः निबन्ध व्यक्तित्व के प्रस्फुटन की सामर्थ्य में परिपूर्ण होने के कारण अन्य साहित्यिक विधाओं से अधिक रोचक और विचारोत्तेजक हो जाता है। व्यक्तित्व के निरन्तर विकसनशील प्रक्रिया के चक्र में बने रहने से निबन्ध में भी गत्यात्मकता का होना स्वाभाविक हो जाता है। जीवन और जगत के अनेकार्थ अनुभवों को अपने नैरन्तर्य के साथ स्वीकार करना निबन्ध का धर्म हो जाता है, इसी कारण साहित्य की वह एक जीवन्त एवं सक्षम विधा बन गई है।

निबन्ध की परिभाषा—फ्रान्सीसी निबन्ध लेखक मौंटेन ने निबन्ध को व्यापक स्तर पर स्वीकार किया था। उसका कहना था कि निबन्ध के माध्यम ने अभिव्यक्ति का अर्थ है, सहज-सीधे तरीके से स्वरूप की स्थापना 'मेरी इच्छा है कि मुझे सच्चे, सीधे, सहज, साधारण रूप में ही जाना जाय, उसमें कोई लाग-लपेट, दिखावा-बनावा, छल-छन्द-नकलीपन न हो, क्योंकि मैं अपनी ही तस्वीर को उतारना चाहता हूँ।' इन शब्दों में निबन्ध का वैयक्तिक धर्म बहुत ही स्पष्ट रूप से उद्घाटित हुआ है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध निबन्ध लेखक बेकन ने निबन्ध को 'उच्छिन्न चिन्तन' कह कर उन्मुक्त रचना ठहराया। लगभग इसी प्रकार की विचारधारा डॉ० जानसन की भी है। किन्तु इसके विपरीत एलेक्जेण्डर स्मिथ ने निबन्ध की परिभाषा में सुश्रृंखलता, सुव्यवस्था आदि को स्थान देना अनिवार्य समझा। स्मिथ ने निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार की है—'साहित्यिक विधा के अन्तर्गत निबन्ध प्रगीत काव्य से इस बात में बहुत साम्य रखता है 'प्रगीत काव्य की भाँति वह किसी भी वैयक्तिक भावभूमि का मानसिक परिस्थिति विशेष से चाहे वह उच्छृंखल सनक से भरी हो, चाहे गम्भीर चिन्तनपूर्ण हो, अथवा व्यंग्यात्मक हो, सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार रेशम के कीड़े के चारों तरफ कोकून फिर जाता है, उसी प्रकार किसी मानसिक भावधारा या मनःस्थिति को केन्द्रित कर ही निबन्ध लिखा जाता है।' निबन्ध की इन विविध परिभाषाओं से यह परिणाम तो सहज ही में उपलब्ध हो जाता है कि निबन्ध की धारा दो छोरों पर प्रभावित हो रही है। एक विचारधारा के निबन्धों में बौद्धिक तत्त्व की प्रधानता रहती है तो दूसरी कोटि के निबन्धों में भावतत्त्व की। एक में विश्लेषणात्मक ढंग से विषयपरक शैली में विषय विवेचन रहता है तो दूसरी कोटि के निबन्धों में लेखक अपनी निजी शैली से हल्के-फुल्के तरीके से विषय को प्रस्तुत करता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि निबन्ध की परिभाषा और सीमाएँ उतनी स्पष्ट नहीं हैं जितनी गद्य की अन्य विधा उपन्यास, नाटक, आख्यायिका आदि की है। निबन्ध

नाम से व्यवहृत रचनाओं में इतना व्यापक वैविध्य है कि उनमें सामान्य गुणों को स्थिर करना भी कभी-कभी कठिन हो जाता है। इस व्यापक विस्तार का कारण है, निबन्ध की विविध शैलियों तथा विषयों की असीमता से 'कुछ नहीं' और रजकण से लेकर 'आत्मा की अमरता' और 'ईश्वर प्राप्ति' तक सभी विषय निबन्ध की सीमा में आते हैं। 'शून्य' से लेकर 'हिमालय' तक निबन्ध का विस्तार है। इसी प्रकार शैली में भी अत्यन्त विविधता लक्षित होती है। कोई लेखक विषयप्रधान शैली अपनाता है तो दूसरा लेखक व्यक्तिप्रधान शैली में लिखता है। कोई तर्क का आधार लेता है तो कोई व्यंग्य का कोई अनुभूत सत्य को आश्रय देता है तो कोई अधीतज्ञान का सम्बल लेकर लिखने में प्रवृत्त होता है। कोई एक पृष्ठ में भी अपनी बात यह डालता है तो किसी को चार सौ पृष्ठ भी कम लगते हैं। फलतः निबन्ध का स्वरूप, आकार, परिभाषा, विषय वस्तु, शैली अभी तक कुछ भी पूर्णरूप से निर्णीत नहीं हुई है। अंग्रेज़ी लेखक 'ड्रवाकर' ने अपनी पुस्तक 'इंग्लिश एस्से एन्ड एस्सेइस्ट' में सुझाव दिया है कि निबन्धों को वर्गीकृत करके उनका स्वरूप निर्धारण अवश्य करना चाहिए। जिस निबन्ध से निबन्ध के समस्त गुण, उपलब्ध हो उन्हें 'एस्से पार एक्सीलेंस' अर्थात् 'सगुण शुद्ध निबन्ध' कहा जाए और जिनमें निबन्धतर तत्त्वों का भी समावेश हो उन्हें 'एस्से आफ़ दि सेन्टर' अर्थात् 'केन्द्रीय निबन्ध' से अभिहित किया जाना चाहिए। यह विभाजन इसलिए भी आवश्यक है कि निबन्ध शब्द से पहचाने जाने वाली रचनाएँ अनेक प्रकार की हैं। प्रबन्ध (थीसिस), लेख (आर्टिकल), आलोचना (क्रिटिसिज़म) आदि रचनाओं को निबन्ध के भीतर समेटने के कारण इनका पृथक्करण अनिवार्य हो जाता है। ललित निबन्धों की कोटि तो सर्वश्रेष्ठ ठहरती ही है किन्तु उनके अतिरिक्त कोटि की रचनाओं पर भी हमें निबन्ध के अन्तर्गत विचार करना होता है। अंग्रेज़ी जिसे साधारण गद्य रचना अथवा प्रोज़ कम्पोजीशन कहते हैं, वह भी निबन्ध की सीमाओं में ही आती है।

काव्य रूप की दृष्टि से निबन्ध के भी दो भेद किये गये हैं : साहित्यिक और साहित्येतर।

जिस रूप में निबन्ध का उद्भव और विकास हुआ था आज वह उससे बहुत अधिक विस्तृत-व्यापक भूमि में फैल गया है। अतः उसके स्वरूप पर विचार करना अनिवार्य है। सामान्यतः निबन्ध को चार रूपों में विभाजित किया जाता है—कथात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक और भावात्मक। कथात्मक निबन्धों के अन्तर्गत ही स्वप्नकथात्मक, रूपात्मक निबन्धों को रख सकते हैं। आत्मचरितात्मक और पौराणिक या काल्पनिक कथा प्रसंग भी इसी कोटि के हैं। वर्णनात्मक निबन्धों में विवरणात्मक निबन्धों का भी समावेश हो जाता है। विचारात्मक निबन्धों में आलोचनात्मक-विवेचनात्मक तथा तार्किक निबन्धों को अन्तर्भुक्त करने की परिपाटी प्रारम्भ से ही चली आ रही है। आध्यात्मिक विषय भी विचारप्रधान ही होते हैं। अतः आध्यात्मिक या धार्मिक विषयों पर लिखे गए निबन्ध भी इसी कोटि में रखे जाएँगे। हिन्दी में विचारात्मक निबन्ध सबसे अधिक पुष्ट और प्राञ्जल हैं। गम्भीर मनोभावों पर लिखे गए विचारात्मक निबन्धों को रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वश्रेष्ठ माना है और स्वयं भी मनोवृत्ति तथा भाव-विकारों पर निबन्ध लिखे हैं। चिन्तनप्रधान तथा भावात्मक लेख या निबन्धों को ललित निबन्ध की कोटि से रखकर अन्य प्रकारों से भिन्न किया जा सकता है। भावात्मक निबन्धों की

दो कोटियाँ हैं, एक तो शुद्ध भावुकता पर आश्रित मन को रंजित करने वाले और दूसरे भावुकता के साथ विचारों को उत्तेजित कर हमें सोचने विचारने की सामग्री प्रदान करने वाले। निबन्ध के प्रकारों का उल्लेख करते हुए रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि निबन्ध कई प्रकार के हो सकते हैं, विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक आदि। प्रवीण लेखक इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं। कुछ विद्वान् निबन्ध को पर्सनल तथा इमपर्सनल रूप में दो तरह रखने का परामर्श देते हैं। पर्सनल या गुंजगोष्ठी को मराठी के निबन्ध लेखक ललित निबन्ध मानते हैं। आधुनिक काल में वैयक्तिक ललित निबन्ध शैली का हिन्दी में भी प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। विषय प्रतिपादन में व्यंग्य, हास, परिहास, वाक्चातुर्य, स्वानुभव, रसज्ञता, सहृदयता आदि का प्रयोग लेखक करने लगे हैं।

निबन्ध के तत्त्व

निबन्ध के तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुए कहा जाता है कि निबन्ध में मुख्य रूप से चार तत्त्व होने अनिवार्य हैं। व्यक्तित्व का प्रकाशन, एकसूत्रता, संक्षिप्तता और प्रभावान्विति। इन्हीं गुणों के माध्यम से विचार या भाव का पोषण होना चाहिए तभी निबन्ध में सारवत्ता की सृष्टि होती है। सामान्यतः पाठक के लिए आकर्षण की सामग्री भी इन्हीं गुणों द्वारा उत्पन्न होती है और इन्हीं के कारण निबन्ध में कुछ दुरूहता भी उत्पन्न होती है। व्यक्तिपरक निबन्धों में इस प्रकार की सामग्री कभी-कभी आ जाती है जो सामान्य पाठक के लिए दुर्बोध बन जाती है किन्तु व्यक्तिपरक निबन्ध ही यथार्थ में निबन्ध के आंह्लाद-तत्त्व से पूर्ण होते हैं। उसमें सजीवता को जितना स्थान प्राप्त होता है, उतना अन्य निबन्धों में नहीं। विषयपरक निबन्धों में भी वैयक्तिक अनुभूतियों और भावनाओं का सम्मिश्रण हो जाता है तब उनका रसास्वाद कई गुना बढ़ जाता है। शुद्ध विषयपरक निबन्ध तो विज्ञान या गणित की शुष्क पद्धति से वस्तुनिष्ठता के ही द्योतक होते हैं। उसमें रस की प्राण-प्रतिष्ठा व्यक्ति के निजी संस्पर्श से ही सम्भव होती है।

निबन्ध का रसास्वादन करने या पठन-पाठन द्वारा उसे ग्राह्य बनाने के लिए तीन बातों पर ध्यान देना होता है। सबसे प्रथम निबन्ध की विशेष वस्तु को समझने और उस पर विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है। विषय की सीमा न होने से घटना, दृश्य, पात्र, मनोविकार, भाव, विचार, अनुभूति आदि नाना विषयों का निरूपण-विश्लेषण होता है। कभी-कभी किसी विशेष प्रसंग की भावात्मक पद्धति से अंकन मात्र भी पाया जाता है। इसके पश्चात् निबन्ध के उद्देश्य की ओर ध्यान देना चाहिए। उद्देश्य की सृष्टि से लेखक की बहुमुखी प्रवृत्ति लक्षित हो सकती है कभी लेखक कुछ तथ्यों, दृश्यों, व्यापारों या अनुभूतियों का विवरण देकर पाठक की ज्ञानवृद्धि करना चाहता है तो कभी उसे किसी मनोरम दृश्य के अंकन द्वारा अतीत की मोहक स्मृति में भावात्मक शैली से रमाना चाहता है। कभी उसका ध्येय कुछ प्रेरणा देना होता है तो कभी किसी विशेष शिक्षा के लिए निष्कर्षात्मक शैली से निबन्ध के कलेवर को संवारना-सजाना। भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन हिन्दी निबन्धों में उद्देश्य के प्रति लेखकों की सतर्कता द्रष्टव्य है। उस काल के लेखक नैतिक आदर्शों के प्रति इतने जागरूक थे कि भाव और मनोविकार को लेकर निबन्ध लिखते समय उनका तात्त्विक निरूपण न कर उन्होंने उनके धार्मिक या

शास्त्रोपदेश की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। तीसरी बात जो निबन्ध के अध्ययन में ध्यान देने योग्य है, वह निबन्ध लेखक का व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा व्यक्तित्व की छाप। प्रत्येक निबन्ध में किसी-न-किसी भावबोध या मूल्यबोध की स्थापना होती है। इस मूल्यबोध का आधार लेखक की वैयक्तिक विचारधारा भी हो सकती है। परम्परागत मूल्यों की स्वीकृति में भी लेखक अपनी अनुभूति या विचारशक्ति द्वारा कुछ मिलाता है और उसे सुरुचिपूर्ण बनाकर प्रस्तुत करता है। तथ्यात्मक संकलन को छोड़कर निबन्ध में आवेग-संवेग, पूर्वाग्रह या सैद्धान्तिक स्थापनाएँ तो रहती ही हैं, उनके पीछे लेखक की स्वतंत्र व्यक्तित्व भी रहता है। निबन्ध में आत्मपरकता को प्रमुख स्थान इसीलिए मिलता है कि उसके तथ्य भी व्यक्ति के निजी संस्मरणों, अनुभवों और मान्यताओं से पुष्ट होकर आते हैं। लेखक का अपना दृष्टिकोण है जो निबन्ध को आत्मपरक या व्यक्तिपरक बनाने में सहायक होता है।

निबन्ध की शैलियाँ

निबन्ध की शैली भी निबन्ध के स्वरूप निर्धारण में सहायक होती है। शैली में अभिव्यंजना अर्थात् भाषा और भाव या विचार की एकान्विति का मुख्य स्थान है। अभिव्यंजना की दृष्टि से निबन्धों की भाषा प्रवाहमयी, प्रसादगुणपूर्ण किन्तु अलंकृत होनी चाहिए। भाषा में वे सभी गुण आवश्यक हैं जो किसी ललित कृति में स्वीकार्य होते हैं, भाषा के स्तर का प्रबन्ध की अभिव्यंजना शैली से जुड़ा हुआ है। विचार-विश्लेषण के लिए जिस प्रकार की गम्भीर और तत्समप्रधान भाषा की आवश्यकता होती है, वैसी ही भाषा व्यंग्य विनोद के लिए प्रयुक्त नहीं होती। सभी निबन्ध लेखक विषयानुसार भाषा का प्रयोग करते रहे हैं। निबन्ध लेखक का कौशल इसमें है कि वह अपने निबन्ध में आवश्यक विवरण का चयन करता हुआ अप्रासंगिक को छोड़ दे। निबन्ध की प्रभावान्विति तभी सक्षम होगी जब लेखक अर्थबोध के लिए उपयुक्त और अनिवार्य का चयन तथा सम्यक् नियोजन करेगा।

विषय निरूपण से निष्कर्ष तक पहुँचने में लेखक को जिस मार्ग का संक्रमण करना होता है, उसमें विषय की स्थापना, व्यवस्था, उदाहरण, तर्कयुक्त प्रमाण और निष्कर्ष के प्रमुख पड़ाव हैं। निबन्ध को समझने के लिए इन पड़ावों पर अध्येता का ध्यान जाना चाहिए और उन विन्दुओं के फलितार्थ का संकेत भी प्राप्त करना चाहिए। निबन्धकार कभी-कभी अपने निबन्ध का प्रारम्भ बड़े नाटकीय ढंग से करते हैं, कभी-कहानी की शैली का भी प्रयोग किया जाता है। कभी स्वप्न या गोष्ठी का वातावरण तैयार कर निबन्ध का गठन होता है। इन विविध प्रकारों से निबन्ध का प्रारम्भ होने पर भी प्रभावान्विति के लिए उसे व्याख्या, उदाहरण, प्रमाण, युक्ति-तर्क और निष्कर्ष की अनिवार्य रूप से आवश्यकता रहती है। चूँकि निबन्ध की सफलता कथन शैली पर ही निर्भर करती है, इसलिए विचारात्मक निबन्धों को छोड़कर सभी अन्य प्रकार के निबन्धों में वर्णन शैली की ओर लेखकों का विशेष ध्यान रहता है। अध्यापक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि निबन्ध लेखक जिस शैली को स्वीकार कर लिखने में प्रवृत्त हुआ है, उसका विषयवस्तु, उद्देश्य और निष्कर्ष में कहाँ तक पालन कर सका है—'स्टाइल इज़ द मैन' अथवा 'स्टाइल इज़ द इंडेक्स ऑफ़ ए पर्सनलिटी' मानने वाले समीक्षकों ने इसी कारण शैली को

इतना महत्त्व प्रदान किया था। इतना ही नहीं, कुछ विद्वान तो शैली को व्यक्तित्व से सर्वथा सम्पृक्त तत्त्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार—'स्टाइल इज़ नॉट द कोट बट स्किन।'

हिन्दी निबन्ध का उद्भव—

हिन्दी गद्य के उद्भव के साथ ही मैं निबन्ध का उद्भव स्वीकार करता हूँ। फोर्ट विलियम कालेज़ के भाषा-शिक्षकों ने निबन्ध को गद्य की स्वतन्त्र-विधि के रूप में नहीं पकड़ा था। और उन दो आदि गद्य लेखकों ने भी नहीं, जो स्वतन्त्र रूप से गद्य प्रणयन का आत्माभि-व्यंजन कर रहे थे। फलतः भारतेन्दु युग से पूर्व हिन्दी निबन्ध का ललित रूप से स्वीकार करना समीचीन नहीं है। जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा था कि निबन्ध गद्य की प्रौढ़ता का प्रतीक है। अतः गद्य के सुव्यवस्थित और परिमार्जित हुए बिना निबन्ध सौष्ठव की आशा करना सम्भव नहीं हो सकता। कतिपय इतिहास लेखक हिन्दी निबन्ध का प्रारम्भ मुंशी सदासुख लाल के 'सुरासुर निर्णय' शीर्षक लेख से स्वीकार करते हैं। किन्तु, मुंशी सदासुख लाल के लेखों में वार्ता का वातावरण होते हुए भी निबन्ध के तत्त्वों का अभाव ही है। उन्होंने न तो संस्कृत की किसी गद्य शैली को अपनाया था और न अंग्रेज़ी या फ्रेंच साहित्य के निबन्ध का अनुगमन किया था। जो कुछ भी उन्होंने लिखा, वह गद्य के माध्यम से सामान्य धरातल का वार्ता-कथन मात्र था। वस्तुतः हिन्दी निबन्ध का विधिवत् सूत्रपात होता है भारतेन्दु युग में, जिसमें गद्य को एक दिशा मिली और संस्कृत तथा फ़ारसी दोनों भाषाओं में शब्द ग्रहण करने का एक समझौता हुआ। भाषा में व्याकरण की त्रुटियाँ तो बनी रहीं किन्तु प्रवाह और प्रसाद को स्थान प्राप्त होना प्रारम्भ हो गया। निबन्ध के उपयुक्त विषय वैविध्य और अभिव्यंजना शैली के उपयुक्त उपकरण जुटाने लगे। भाषा, भाव, विषय, विचार के नवीन वातावरण में निबन्ध लेखक का कार्य यथार्थ में भारतेन्दु युग से ही समझना चाहिए। यही कारण है कि इन आलोचकों का मत है कि गद्य के क्षेत्र में भारतेन्दु युग की सबसे बड़ी उपलब्धि नाटक या उपन्यास की न होकर निबन्ध की ही है। भारतेन्दुयुगीन कविता में भी निबन्ध को अधिक समृद्ध मानने वाले अनेक समीक्षक हैं और वे निबन्ध की जिन्दादिली (सजीवता) की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं।

भारतेन्दुयुगीन निबन्ध—

हिन्दी साहित्य में निबन्ध के उद्भव तथा विकास का संधान करते समय हमारा ध्यान भारतेन्दु पूर्व हिन्दी गद्य लेखकों की ओर जाना स्वाभाविक है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, गद्य के प्रवर्तक चार लेखकों को निबन्ध का जन्मदाता नहीं माना जा सकता। उसी समय के दो अन्य लेखक और हैं जिन्होंने गद्य में अपने विचार व्यक्त किए। उसमें प्रथम हैं—महर्षि दयानन्द सरस्वती जिनकी मातृभाषा गुजराती थी, किन्तु आर्यसमाज के संस्थापक होने के नाते उन्होंने अपने विचार राष्ट्रभाषा हिन्दी में व्यक्त किए थे। महर्षि दयानन्द के लेख धार्मिक खंडन मंडन से सम्बद्ध थे किन्तु निबन्ध की कोई सुस्थिर परिपाटी उनमें नहीं थी। दूसरे लेखक हैं, पंजाब के पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी। उन्होंने भी धार्मिक विषयों पर कुछ लेख लिखे थे, जिनमें कथाशैली ही प्रधानरूप से थी। अतः व्यवस्थित रूप से निबन्ध का प्रारम्भ

हमें भारतेन्दु युग से ही मानना चाहिए। भारतेन्दु युग के निबन्ध लेखकों में अधिकांश सम्पादक भी थे, अतः अपने-अपने पत्र-पत्रिकाओं में लेख और निबन्ध लिखकर अपने विचार व्यक्त करते थे। इसी समय दो ऐसे लेखक हुए जिन्हें भारतेन्दु के समकालीन होते हुए भी गद्यविधा में भारतेन्दु से पूर्व की विचारधारा का समर्थक माना जाता है। ये हैं राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह। इन दोनों लेखकों ने गद्य के निर्माण में अपनी-अपनी विचारसरणि को स्वीकार कर कार्य किया किन्तु स्वतंत्र निबन्ध लेखक के रूप में इनका योगदान उल्लेख्य नहीं है। यदि निबन्ध की कसौटी पर स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं की समीक्षा की जाए तो उन्हें भी सफल या श्रेष्ठ निबन्ध कहना कठिन ही होगा। भारतेन्दु ने अपने जीवन में कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और सम्पादन किया था। अतः उनमें लेख लिखना तो उनके कर्तव्य-कर्म के भीतर था किन्तु 'हरिश्चन्द्र कला' और 'भारतेन्दु के निबन्ध' पुस्तकों में जो लेख उपलब्ध हैं उनमें ललित कोटि के श्रेष्ठ निबन्ध बनने की पूरी क्षमता नहीं है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५०-१८८५)

भारतेन्दु के निबन्धों में विषय और शैली का वैविध्य-वैचित्र्य अवश्य ध्यान देने योग्य है। पर्वों और त्योंहारों से लेकर भूकम्प, मित्रता, अपव्यय, बीबी फातिमा, ग्रीष्म ऋतु, जातीय संगीत, हम मूर्ति पूजक हैं, सूर्योदय, पाँचवें पैगम्बर आदि विषयों का चयन उनके निबन्धों को धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि विषयों के व्यापक आयाम में ले जाता है। भारतेन्दु ने अपने निबन्धों में यात्रा, स्वप्न, चरित्र, इतिवृत्त सभी को स्थान देकर उनका विषय विस्तार तो किया ही है, शैली की दृष्टि से भी उनमें भेद किया है।

उनके निबन्धों में सहज विनोद-व्यंग्य को स्थान मिला है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विषय को ध्यान में रखते हुए भाषा का परिवर्तन किया है। यदि निबन्ध का विषय 'खुशी' है तो भाषा भी उर्दू-फारसी प्रधान है जैसे—'हस्तदिल ख्वाह आमूदगी की खुशी कह सकते हैं। यानी जो हमारे दिल की ख्वाहिश हो वह कोशिश करने से या इत्तफाकिया वगैर कोशिश किये आवे तो हमको खुशी हासिल होती है।' इसी प्रकार यदि विषय शास्त्रीय और गम्भीर है तो भाषा भी तत्सम संस्कृतप्रधान और क्लिष्ट होती है। संगीत सार 'निबन्ध में भाषा का दूसरा रूप देखा जा सकता है—'भारतवर्ष की सब विधाओं के साथ यथाक्रम संगीत का भी लोप हो गया। यह गान-शास्त्र हमारे यहाँ इतना आदरणीय है, कि सामवेद के मन्त्र सर्वत्र गाये जाते थे।' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाषा का तीसरा रूप है सामान्य बोलचाल की भाषा में भावाभि-व्यक्ति। 'यहाँ के बाज़ार का हम बनारस के किसी बाज़ार से मुकाबला नहीं कर सकते' बहुत ही साधारण तथा प्रचलित शब्दों से लेखक ने काम चलाया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कुछ मनोरंजक निबन्ध भी लिखे। 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' तथा 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' अपनी शैली और विषय में सर्वथा मौलिक थे। कुछ विद्वानों ने इन्हें कथा या आख्यायिका समझने की भी भूल की है। वस्तुतः व्यंग्यात्मक शैली से अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए ही इन लेखों की भारतेन्दु जी ने रचना की थी। सामयिक समस्याओं पर प्रकाश डालने की यह नवीन शैली भारतेन्दु ने स्वीकार की थी।

समसामयिक सुधार इनके मूल में छिपा हुआ उद्देश्य है, जो निबन्ध पढ़ने के बाद स्पष्ट हो जाता है।

बालकृष्ण भट्ट (सन १८४४-१९१४)

भारतेन्दु युग के निबन्ध लेखकों में भट्ट जी शैली, विषयचयन और वैयक्तिक तत्त्व की दृष्टि से मूर्धन्य स्थान पर हैं। भट्ट जी 'हिन्दी-प्रदीप' के सम्पादक थे और उसमें समय-समय पर लेख लिखते रहते थे। निबन्ध की आत्मा को पहचानने वाले हिन्दी के ये सर्वप्रथम लेखक माने जाने चाहिए। अंग्रेज़ी साहित्य से परिचय होने के कारण भट्ट जी ने स्टीवेन्सन, हन्ट और एडीसन के निबन्धों का पारायण किया था। एडीसन को निबन्ध का आदर्श स्वीकार करने के कारण इनके निबन्ध में उसका अप्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है। 'भट्ट-निबन्धावली' में प्रायः भट्ट जी के निबन्ध संकलित हैं। इन निबन्धों की सूची को देखकर भट्ट जी की व्यापक रुचि का पता चलता है। इनके निबन्धों को मोटे तौर पर पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। विचारात्मक, भावात्मक, आलोचनात्मक, वर्णनात्मक और विवरणात्मक। इन पाँच वर्गों में भी इतना वैविध्य है कि एक ही वर्ग के भीतर चार-पाँच प्रकार के निबन्ध मिल जाते हैं।

निबन्धों के विषय चयन में भट्ट जी ने सबसे पहले नूतनता को स्थान दिया। आँख, नाक, कान, बातचीत, आँसू, चन्द्रोदय आदि विषयों पर भट्ट जी ने केवल मनोरंजक ही नहीं, भावात्मक कोटि के श्रेष्ठ निबन्धों द्वारा अपनी कल्पना और गद्यशक्ति का अच्छा परिचय दिया है। उन्होंने अपने निबन्धों में सर्वसाधारण में प्रचलित भाषा को ही प्रमुख स्थान दिया है। संस्कृत की तत्सम शैली के समर्थक होने पर भी स्वयं इन्होंने फारसी और अंग्रेज़ी के शब्दों का बिना किसी हिचकिचाहट के प्रयोग किया है। अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग में भी इनको कोई अड़चन नहीं लगती थी। भाषा के प्रवाह में अंग्रेज़ी के शब्दों को रोमन लिपि में प्रयोग करते हुए ये लिखते चले जाते थे। मुहावरों के प्रयोग की तो आपको धुन रहती थी। भाषा को प्रवाहपूर्ण तथा बोधगम्य बनाने के लिए आंचलिक शब्दों के प्रयोग में भी आप हिचकते नहीं थे। साहित्यिक और गम्भीर विषयों पर लिखते समय भट्ट जी की शैली में स्वयं परिवर्तन आ जाता था। भाषा संस्कृतगर्भित और उदाहरणबहुला हो जाती हैं। कल्पना, आत्मनिर्भरता, आँसू आदि निबन्धों में यह परिवर्तन देखा जा सकता है। 'आँसू' शीर्षक निबन्ध के पूर्व में संस्कृत उदाहरण और तत्सम शैली है तो उत्तरार्ध में सामान्य बोलचाल की भाषा का भी प्रयोग है—

'पहले उसकी आँख में उमड़ पड़ती है। नेत्र के पवित्र जल से वह अपने प्राणप्रिय को नहलाता हुआ उसे बगलगीर भरने को हाथ फैलाता है। सच्चे भक्त और उपासक की कसौटी भी इसी से हो सकती है। अपने उपास्यदेव के नाम संकीर्तन में जिसे अश्रुपात न हुआ, मूर्ति-दर्शन कर प्रेमाश्रुपान से जिसने उसके चरण कमलों का अभिषेक न किया, दम्भिक को भक्ति के आभास मात्र से क्या भला ? सरल कोमल चित्त वाले अपने मनोगत सुख-दुख के भाव को छिपाने की हजार चेष्टा करते हैं कि दूसरा कोई उनके चित्त की गहराई को न थाह सके, पर अश्रुपात भाव गोपन की सब चेष्टा को व्यर्थ कर देता है।'

इसी निबन्ध के उत्तरार्ध का दूसरा अंश द्रष्टव्य है—'बहुधा आँसू का गिरना भलाई और तारीफ में दाखिल है। हमारे लिए आँसू बड़ी बला है। नज़ले का जोर है, दिनरात आँखों

से आँसू टपकता है। ज्यों-ज्यों आँसू टपकता है त्यों-त्यों बीनाई कम होती जाती है। सैकड़ों तदबीरें कर चुके, आँसू का टपकना बन्द न हुआ। आँख से तो आँसू चला ही करता है, आज हमने लेख में भी आँसू पर कलम चला दी। पढ़ने वाले इसे निरी नसूहत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।'

भट्ट जी के निबन्धों में दौड़धूप, स्ट्रगल, कम्पटीशन आदि शब्द उनके अंग्रेज़ी प्रेम के निर्देशन है। निबन्ध के विकास का आकलन करने और शैलीगत वैविध्य को समझने के लिए कुछ विद्वान् तो 'हिन्दी-प्रदीप' के निबन्धों को ही कसौटी मानने की राय देते हैं। कुछ भी हो, इतना तो मानना ही होगा हिन्दी में निबन्ध को उसके सर्वांगीण रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय बालकृष्ण भट्ट को ही प्राप्त है।

प्रतापनारायण मिश्र (सन् १८५६–१८६४)

हिन्दी निबन्ध में हास्य-व्यंग्य का पुट देकर उसे लोकप्रिय बनाने वालों में मिश्र जी का नाम उल्लेख्य है। मिश्र जी ने सन् १८८३ में कानपुर से 'ब्राह्मण' नामक मासिक पत्र निकाला था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनके प्रेरणास्रोत थे और उन्हीं के पद चिह्नों पर चलते हुए हिन्दी सेवा के कार्य में आजीवन संलग्न रहे। प्रतापनारायण मिश्र के अभी तक चार निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं। प्रतापनारायण ग्रन्थावली (प्र० भा०) में इनके निबन्धों का संकलन है। निबन्ध नवनीत, प्रतापपीयूष और प्रताप समीक्षा भी इनके निबन्धों के संकलन हैं। इन संकलनों में सम्पादकीय टिप्पणियाँ और लेख भी शामिल हैं। छोटे-बड़े सब मिलाकर इन्होंने लगभग दो सौ निबन्ध लिखे। परिणाम की दृष्टि से भारतेन्दु युग के निबन्ध लेखकों में इनका स्थान सबसे ऊपर है।

विषय चयन की दृष्टि से इनका क्षेत्र भी बहुत व्यापक था। छोटे-छोटे विषय जैसे, दांत, भौं, आप, बात, धोखा, वृद्ध, पुच्छ, रिश्वत, बेगार, होली आदि पर इनके निबन्ध मनोरंजक होने के साथ ज्ञानवर्धक भी हैं। सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों पर भी इनकी दृष्टि गई थी। स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम होने के कारण देशी कपड़ा देशभक्ति आदि विषयों पर विचारोत्तेजक निबन्ध प्रणयन किया।

मिश्र जी के निबन्ध अपनी सजीवता तथा व्यंग्य-विनोदमयी शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। व्यक्तित्व की गहरी छाप से युक्त इन निबन्धों को पढ़कर पाठक के सामने एक ऐसे मस्त और जिन्दादिल व्यक्ति का चित्र खड़ा होता है जो पूरी निर्भीकता और उन्मुक्तता से विचार व्यक्त करने की शक्ति रखता है। 'आप' शीर्षक निबन्ध हिन्दी में अपनी शैली का अकेला निबन्ध है। इसी प्रकार 'उपाधि' शीर्षक निबन्ध भी मिश्र जी की शैली का सुन्दर निदर्शन हैं। केवल तत्सम शब्दों को व्यवहार में लाना और मुहावरों को पूरे समारोह के साथ रखना उनकी शैली की विशेषता है। अंग्रेज़ी के शब्दों से भी वे परहेज नहीं करते थे। हास्यविनोद-प्रियता तो इनके निबन्धों का प्राण है। स्वच्छन्दता, आत्मीयता, रोचकता, सजीवता की रक्षा भी बड़ी सावधानी से करते हैं, किन्तु कुछ ऐसे अपरिहार्य दूषण भी इन्होंने स्वीकार किए हैं जो निबन्ध में शिथिलता लाते हैं। इन दूषणों को जानबूझ कर स्वीकार किया गया है यही इनकी विशेषता भी है। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग, बैसवारे की कहावतों का प्रयोग, भदेस का प्रयोग

करने में मिश्र जी को कोई आपत्ति नहीं थी। एक दो उदाहरण से उनकी निबन्ध शैली का रूप स्पष्ट हो सकेगा—

"घर में न धन ठहरा, बिना धन बेटी का ब्याह होना कठिन है, उतर के व्याह दें तो नाक कटती है, न व्याहैं। तो इज्ज़त-धर्म पुरखों के नाम में बट्टा लगने का डर है, ये सब आफतें केवल उपाधि के कारण हैं। .... हाँ, मन में समझ रहिए कि हम भी कुछ हैं, पर उपाधि की रक्षा के लिए कपड़ा-लत्ता, चेहरा-मोहरा, सवारी-शिकारी, हुज़ूर की खातिरदारी आदि में घर के धान पयार मिलाने पड़ेंगे, अपने धर्म-कर्म, देश-जाति आदि से फिरंट रहना पड़ेगा क्योंकि अब तो आपके पीछे उपाधि लग गई न, इससे कहते हैं कि उपाधि का नाम बुरा है। उपाधि पाना अच्छा पर ऐसा ही अच्छा है जैसा बैंकुंठ जाना पर गधे पर चढ़कर।"

इस उद्धरण में मिश्र जी की भाषा और मुहावरेदानी के सुन्दर और कुरूप दोनों पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं। ग्राम्य शब्दों के प्रयोग में तो मिश्र जी को कोई संकोच था, ही नहीं। किन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि अनगढ़ शब्दों के माध्यम से लेखक ने व्यंजनाशक्ति को पूरे सामर्थ्य के साथ स्वीकार किया है और सजीवता की सृष्टि करने में भी उससे सहायता प्राप्त की है। वार्तालाप या संलाप, शैली से निबन्ध प्रस्तुत करने में तो मिश्र जी सिद्धहस्त थे। 'आप' शीर्षक निबन्ध को पढ़ने पर लगता है जैसे कोई लगातार छेड़खानी के साथ बातचीत में उलझा हुआ है। बड़ी उछल-कूद है इनके वाक्यों में। एक वाक्य दूसरे के साथ छेड़खानी में लगा दीखता है। संक्षेप में, मिश्र जी स्वच्छन्द शैली से मन की तरंगों के लेखक थे। किसी मर्यादा के चक्कर में वे कभी नहीं पड़े इसीलिए उनके निबन्धों में ओज, प्रवाह और रंजन सर्वत्र व्याप्त रहा।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२२)

'प्रेमघन' जी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका के सम्पादक थे। रीतिकालीन परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए अत्यधिक अलंकृत शैली से गद्य लिखने की परिपाटी इनको प्रिय थी। आडम्बरपूर्ण भाषा में भावाभिव्यक्ति से दुरूहता के साथ आत्मीयता का अभाव भी उत्पन्न होता है, यह तथ्य शायद प्रेमघन जी के सामने नहीं आया। यदि उन्हें इसकी अनुभूति हुई भी होगी तब भी उन्होंने इसका कोई ध्यान नहीं दिया। 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका का स्तर साहित्यिक था और उस समय साहित्यिक निबन्धों की अपेक्षाकृत प्रचलन कम हुआ था। अतः सम्पादक के नाते प्रेमघन जी को स्वयं ही सारे लेख लिखने पड़ते थे। उनकी यह भी धारणा थी कि साहित्यिक समीक्षा पर उनसे अच्छा लिखने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। अनुप्रासमयी, आलंकारिक एवं गुम्फित शैली में दीर्घ वाक्यावली इनकी विशेषता थी, जो अन्य लेखकों को स्वीकार्य नहीं थी। संस्कृत में बाणभट्ट की कादम्बरी को इन्होंने गद्य का आदर्श माना था। अतः उसी शैली पर हिन्दी में भी लम्बे-लम्बे समास और सानुप्रासिक पदयोजना इन्हें प्रिय हो गई थी। रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेमघन जी को रईसी तबियत का व्यक्ति बताते हुए कहा है कि बातचीत में भी वक्रतापूर्ण वाक्य बोलने का उनका स्वभाव था।

निबन्धों में समालोचना का विधिवत् सूत्रपात करने वाले लेखकों में प्रेमघन जी का स्थान मूर्धन्य है। आनन्द कादम्बिनी हिन्दी की पहली साहित्यिक पत्रिका है जिसमें पुस्तक-

समीक्षा का कार्य प्रारम्भ हुआ। 'प्रेमघन' जी के निबन्धों की संख्या अधिक नहीं है। प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग में इसके कुछ लेख संकलित हैं। कुछ आलोचकों ने इनकी अलंकृत शैली को देखकर इन्हें हिन्दी का मॉन्टेन कह दिया है जो केवल श्रद्धा का दृष्टिकोण सूचित करता है। उनको विचारात्मक लेखों का जन्मदाता ठहराते हैं, यह भी ग्राह्य नहीं है। हाँ, उनके कुछ निबन्ध बहुत ही उत्कृष्ट कोटि के हैं और उनमें इनके व्यक्तित्व की गहरी छाप लक्षित होती हैं, जैसे बनारस का बुढ़वा मंगल, समय, दिल्ली दरबार में मित्र मंडली के यार आदि।

प्रेमघन जी की अलंकृत शैली के दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं। 'समय' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं—

'परन्तु निर्दय काले कुटिल कराल ने संयोग पहुँचाने पर कब किसे छुटकारा दिया है।'

'हमारी मसहरी' शीर्षक निबन्ध की पंक्तियाँ पठनीय हैं—'हमारी मसहरी कलियुग की तपोभूमि है जहाँ मसा और मक्षिका बाहर ही सिर पीटती रह जाती हैं और हमारे भावनाओं के वृहत् हाट में बाधान के प्रशांत लोक में कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकतीं, अथवा वह कृत्रिम भूमि है जिसके बाहर ही मसा-मक्षिका समूह समुद्र की घनी लहरें इसके आवरण बांध से टकराती हुई विचित्र सुहावने शब्दों को सुनाती पर मजाल नहीं कि उनकी मौजे भीतर प्रवेश पा सकें....।'

व्यावहारिक और प्रसादगुणपूर्ण भाषा के अभाव ने ही उनके निबन्धों को लोकप्रिय नहीं होने दिया। यदि सरल-सहज अभिव्यक्ति को प्रेमघन जी अपना सकते तो निश्चय ही आलोचना के क्षेत्र में उनके निबन्धों का स्थान बन जाता किन्तु इधर उनका ध्यान ही नहीं गया।

अम्बिकादत्त व्यास (सन् १८५८-१९००)

व्यास जी मूलतः संस्कृत भाषा के पण्डित् थे। उनकी जीविका धर्म प्रचार और लेखन पर निर्भर करती थी, अतः संस्कृत काव्य के साथ हिन्दी में भी लिखने की ओर इनका ध्यान गया। अपने समकालीन अन्य लेखकों की भाँति इन्होंने भी 'पीयूष प्रवाह' नामक पत्र का सम्पादन किया और फलतः अपने पत्र के लिए तथा 'वैष्णव पत्रिका' के लिए समय-समय पर इन्होंने मनोवैज्ञानिक तथा वर्णनात्मक निबन्धों की रचना की। 'साहित्य नवनीत' में इनके लेख, निबन्ध संकलित हैं। व्यास जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी हिन्दी में लिखते समय कठिन और अलंकृत शैली के समर्थक नहीं थे। प्रतापनारायण मिश्र को आदर्श मानकर उनकी शैली में ही निबन्ध लिखते थे। धैर्य, क्षमा, परोपकार आदि विषयों पर इनके निबन्ध विषयप्रधान हैं। ग्रामवास और नगरवास में वर्णन की प्रधानता है।

खड़ी बोली हिन्दी की मूल प्रकृति से पूरी तरह परिचित न होने तथा संस्कृत वाक्य-रचना से अनजाने प्रभावित होने के फलस्वरूप व्यास जी के निबन्धों में प्रवाह और स्वच्छता का अभाव है। तर्क-वितर्क की शैली में व्यास जी ने कुछ लेख लिखे थे उनमें भी भाषा की स्वच्छता का निर्वाह वे नहीं कर सके। विभक्तियों के त्रुटिपूर्ण प्रयोग, विभक्तियों का त्याग उनके लेखों में मिलता है। एक उदाहरण पठनीय है—'चुप रहने से तो भया बस नास्तिक के

भी परदादा भये, ईश्वर को माना जैसे न माना और सिर झुकाया तो आप ऐसे बुद्धि के अजीर्ण वाले पुरुष कह उठेंगे कि आप तो दिक् पूजक हैं। — — —। पर क्या सचमुच आप ऐसी टोकटाँक कर सकते हैं।'

पण्डिताऊपन से लदा हुआ यह उद्धरण व्यास जी की निबन्ध शैली की त्रुटियों को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

प्रकृति प्रेमी ठाकुर जगमोहन सिंह सन् (१८५७-१८६६) भारतेन्दु मण्डली के लेखकों में अनन्यतम हैं। संस्कृत और अंग्रेजी में अच्छी गति होने के कारण ठाकुर साहब ने काव्यात्मक छटा के सहारे अपने लेखों में प्रकृति के मनोरम वर्णन प्रस्तुत किए हैं। हिन्दी के निबन्ध लेखकों में से वे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने दर्शनीय स्थानों का सजीव शैली में वर्णन किया है। वर्णनात्मक शैली में लिखने पर भी भावुकता से परिपूर्ण इनके लेखों में इनके निजी व्यक्तित्व की छाप देखी जा सकती है। अनुप्रास और तुकान्त लिखने वाले प्रेमघन जी का प्रभाव इनकी शैली पर भी है। वर्ण मैत्री और तुक के आग्रह में यदि कहीं शब्द को तोड़ना मरोड़ना पड़े तो वह भी ठाकुर साहब कर डालते हैं। ठाकुर साहब के निबन्धों में वे स्थल सुन्दर बन पड़े हैं; जहाँ किसी दृश्य, स्थान या इतिवृत्त का वर्णन किया है।

अपने युग के अन्य प्रबन्ध लेखकों की भाँति ठाकुर साहब ने ज्यादा नहीं लिखा है। निबन्ध के नाम पर तो इनके आठ-दस लेख ही हैं, जिनमें 'श्यामा स्वप्न' बहुत विख्यात् रचना है। 'श्यामा स्वप्न' वस्तुतः शुद्ध निबन्ध की कसौटी पर पूरी तरह खरा नहीं उतरता किन्तु उसकी विशेषता वैयक्तिक शैली के कारण उल्लेख्य बन गई है। प्रकृति सम्बन्धी निबन्धों के कारण इनका नाम हिन्दी निबन्ध लेखकों में चला आ रहा है। श्यामा स्वप्न में से निम्नांकित पंक्तियाँ ठाकुर साहब की शैली का परिचय देने से समर्थ हैं—

'कई वर्षों के अनन्तर दुर्भिक्ष पड़ा और पशु पक्षी, मनुष्य इत्यादि सब व्याकुल होकर उदरपोषण की चिन्ता में लग गए। उन लोगों की कोई जीविका रही नहीं, और रही भी तो अब स्मृति पर भ्रान्ति का जलद पटल छा जाने के हेतु सब काल ने विस्मरण करा दिया, नदी-नारे सूख गए, जनेऊ की सूक्ष्मधार बड़े-बड़े नदों की हो गई, यही जो एक समय तृणों से संकुल भी बिल्कुल उनसे रहित हो गई, सावन मेघ भयावान हो गये।'

भारतेन्दु काल के अन्य प्रमुख लेखकों में राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, गोविन्द नारायण मिश्र, भीमसेन शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी तथा तोताराम आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों में गोविन्द नारायण मिश्र ही ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने निबन्ध लिखते समय अलंकृत शैली के प्रति आग्रह व्यक्त किया और भारतेन्दु युग से द्विवेदी युग तक इसी शैली में लिखते रहे। भाषा की प्रांजलता की दृष्टि से इनका नाम द्विवेदीयुगीन लेखकों में है किन्तु इनका काल भारतेन्दु से प्रारम्भ होता है।

भारतेन्दुयुगीन निबन्धों की शक्ति और सीमा

अपने युग के पाठकों की रुचि का ध्यान रखते हुए इस युग के लेखकों ने पहले लघु लेखों द्वारा विचार व्यक्त करना प्रारम्भ किया। पत्रकारिता का हिन्दी में उन्मेष ही निबन्ध या लेख के माध्यम से हुआ, अतः प्रारम्भिक निबन्ध लेखक सम्पादक के नाते जो लेख लिखते थे

उनमें लोक रुचि को प्रधानता रहती थी। जनजीवन को साहित्य से संयुक्त करने का श्रेय इन पत्रकार लेखकों के प्रारम्भिक निबन्धों को ही प्राप्त हैं। किन्तु, इस प्रयास में ऐसे भी निबन्ध लिखे गए जो प्रान्तीयता के संकीर्ण वातावरण में घुटते रहे और अपनी जिन्दादिली के साथ भी सार्वभौम बोधगम्यता को नहीं छू सके।

इस सन्दर्भ में मैं भारतेन्दुयुगीन उन प्रसिद्ध निबन्ध लेखकों का उल्लेख करना आवश्यक है जो अपनी सजीवता और सरसता के लिए विख्यात् हैं। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' उस युग के श्रेष्ठ निबन्धकार हैं किन्तु अपने निबन्धों में इन लेखकों ने ऐसे तत्त्वों का सम्मिश्रण कर रखा है जो हिन्दी के केवल परिनिष्ठित खड़ी बोली रूप से परिचित पाठक के लिए बड़ी कठिनाई पैदा कर देते हैं। पहली कठिनाई तो यही है कि पूर्वी अवधी के प्रान्तीय प्रयोगों से इनके निबन्धों को कहीं कहीं इतने बोझिल हो गए हैं कि अहिन्दी प्रदेश का पाठक उनकी भाषा-भंगिमा को, जिसे उन लेखकों ने वक्रता उत्पन्न करने के लिए सजाया है, समझ ही नहीं पाता। बालकृष्ण भट्ट के निबन्ध 'बातचीत' का उदाहरण है 'भाषा को ऐसा रूप दिया गया है जो व्याकरणहीन होने के साथ प्रादेशिक पुट से भरी हुई है—बातचीत में वक्त को नाज़-नखरा जाहिर करने का मौका नहीं दिया जाता है कि वह एक बड़े अन्दाज़ से गिनगिन कर पाँव रखता हुआ पुलपिट पर जा खड़ा हो और बहुत सी स्तुति करकराय तब किसी तरह वक्तृता का आरम्भ किया गया।' इस वाक्य में कर-कराय और किया गया का प्रयोग नितान्त अशुद्ध और भ्रामक है। जानवरों के बीच रहा, वैसा ही दो आदगी पास-पास बैठे हों—उपरान्त जब चार आदमी हुए तब बेतकल्लुफी को बिल्कुल स्थान नहीं रहता, राम-रमैवान बतक ही, सबों को बरकाते हुए आदि प्रयोग बड़े विलक्षण हैं। इसके अतिरिक्त रेघराना, भागाभूगी, चट्टचर्राई, खुचुर-पुचुर, ऐंच-पेंच आदि प्रादेशिक प्रयोग भी अहिन्दी भाषी के लिए कठिन ही हैं। व्याकरण की त्रुटियों तो उस समय के लेखकों में सर्वत्र लक्षित होती हैं।

प्रताप नारायण मिश्र भी इसी प्रकार के दोषों से पूर्ण निबन्ध लिखते थे। उसके निबन्धों के तो शीर्षक भी विचित्र हैं—'घूरे का लत्ता बिनै, कनातन का डौल बाँधे'—यह एक निबन्ध शीर्षक है जिसमें हिन्दी भाषा की स्थापना का सोत्साह वर्णन किया गया है। निबन्ध की कुछ पंक्तियाँ सुनिये—

'यदि सचमुच हिन्दी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने कागज पत्तर, लेखा-जोखा टीप-तमस्सुक हो सबमें नागरी लिखी जाने का उपयोग करो। जिन हिन्दुओं के यहाँ मौलवी साहब विमिल्लाह कराते हैं, उनके पंडितों से अक्षरारम्भ कराने का उपकार करो चाहे कोई हँसे, चाहे धमकावै जो हो सो तम तुम मनसा वाचाकर्मणा उर्दू को लुलू देने में सन्नद्ध हो इधर सरकार से भी झगड़े खुशामद करो, दांत निकालो, पेट दिखाओ, मेमोरियल भेजो एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने धरो, किसी भाँति हतोत्साह न हो, हिम्मत न हारो—जो मनसाराम कचियाने लगै तो यह मन्त्र सुना दो—प्रारभ्यते न खलु विघ्न भयेन नीचैः —। बस, फिर देखना पाँच-सात बरस में फारसी की छार सी उड़ जाएगी। नहीं तो होता तो परमेश्वर के लिए हम सदा यही कहा करेंगे—'पीसे का चुकरा गावै का सीताहरने' घूरे के लत्ता बिनै,

गयी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस गद्य परम्परा को स्थापित किया था उसको स्वीकार करके लिखने वाले लेखकों में प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमधन' आदि सजीव एवं मनोरंजक शैली द्वारा हिन्दी निबन्ध को समृद्ध बनाने में सफल हुए।

भारतेन्दु युग में यद्यपि सजीव गद्यशैली का प्रचार और प्रसार हुआ किन्तु भाषा विषयक अराजकता फिर भी बनी रही। एक प्रकार की संकर भाषा उस युग में चलती रही जिसे परिष्कृत करके व्याकरण सम्मत बनाना नितान्त आवश्यक था। भारतेन्दु युग के लेखकों का ध्यान विशेषतः विषय प्रतिपादन पर ही था, भाषा परिष्कार पर नहीं। उस युग के लेखकों ने जहाँ एक ओर प्रान्तीय भाषा के शब्दों और क्रिया रूपों का प्रयोग किया वहीं साथ-ही-साथ विभक्ति आदि के प्रयोग में भी मनमानी की है। अम्बिकादत्त व्यास और 'प्रेमघन' जैसे लेखक तो अनावश्यक रूप से संस्कृत के तत्सम शब्दों के मोहजाल में फँसे हुए थे। उर्दू फारसी के कुछ शब्दों को संस्कृतमय बनाने की प्रवृत्ति भी उस युग के लेखकों में दृष्टिगत होती थी। जैसे सिफ़ारिश शब्दों के लिए क्षिप्राशिष, चश्मा के लिए चक्षुमा, दुश्मन के लिए दुःश्मन आदि शब्दों का प्रयोग उनकी इस प्रवृत्ति का परिचायक है।

विरामचिह्न, दीर्घवाक्य प्रणाली तथा संस्कृतनिष्ठता के कारण उस युग की भाषा सुन्दर और बोधगम्य नहीं रही। भाषा में कहीं पंडिताऊपन का बाहुल्य था तो कहीं प्रान्तीय भाषा रूप विशेषतः पूर्वीपन भरा पड़ा था। अनुप्रास योजना और अलंकारप्रियता भी इस युग के लेखकों की भाषा में मिलती हैं। फलतः यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दुयुगीन निबन्ध सजीव होते हुए भी व्याकरण और प्रयोग की दृष्टि से त्रुटिहीन नहीं थे।

निबन्ध को गद्य की कसौटी स्वीकार करने के कारण निबन्ध की भाषा का सुगठित और परिमार्जित होना वांच्छनीय ही नहीं अनिवार्य रूप से आवश्यक है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से इस दिशा में जो कार्य किया वह एक सुधारवादी आन्दोलन का रूप धारण कर सका और उसके पक्ष-विपक्ष में और लेखकों ने भी अपने विचार व्यक्त किए। 'भाषा और व्याकरण', 'विभक्ति विचार', 'हिन्दी लिंग विचार', 'ज्ञ' का उच्चारण', 'रचना माला' और 'साहित्य-समाचार' आदि लघु पुस्तकें इसी दिशा में किए गए प्रयत्नों का प्रमाण हैं।

दूसरा कार्य द्विवेदी युग में यह हुआ कि निबन्धों के प्रकार भी पूर्वापेक्षा स्थिर हुए। इतिहास, राजनीतिक, अध्यात्म, विज्ञान, यात्रा, पुरातत्त्व, शिल्प उद्योग, कला कौशल, जीवन-चरित्र, साहित्य तथा भाषा, आदि विविध विषयों को निबन्ध में स्थान प्राप्त हुआ। निबन्ध-रचना पर अंग्रेज़ी के लेखकों का प्रभाव भी इस युग में पहले की अपेक्षा अधिक पड़ा। कुछ निबन्ध के हिन्दी अनुवाद भी इसी समय प्रकाशित हुए। निबन्धों का सीमा-विस्तार इस युग में हुआ और उपयोगी विषयों को भी निबन्ध के भीतर समाविष्ट किया गया। इस परिवर्तन को ध्यान में देखते हुए यदि द्विवेदीयुगीन निबन्धों का वर्गीकरण किया जाए तो हम उसे मोटे तौर पर पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं, विचारात्मक, भावात्मक, समीक्षात्मक, वर्णनात्मक तथा उपयोगी विषयों पर लिखे गए विवरणात्मक। एक ही लेखक ने दो-तीन

शैलियों में निबन्ध लिखे और अपनी शैली में भी उन्होंने अन्तर रखने का प्रयत्न किया। हम यहाँ वर्गानुसार परिचय न देकर व्यक्तिक्रम से निबन्ध लेखकों का परिचय प्रस्तुत करेंगे।

महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८७०-१९३८)

द्विवेदी जी को हिन्दी साहित्य में युग प्रवर्तक का स्थान प्राप्त है। भारतेन्दु के बाद हिन्दी गद्य में जिस नूतन चेतना की परिष्कृति एवं जागृति आई उसका श्रेय द्विवेदी जी को ही है। हिन्दी गद्य को परिमार्जित एवं व्याकरण सम्मत बनाकर प्रांजल एवं परिपुष्टि करने में आपने अमित योग दिया। हिन्दी निबन्ध साहित्य में द्विवेदी जी ने प्रांजल अभिव्यक्ति, विषय वैविध्य और समालोचना का पुट देकर उसकी सीमाओं का विस्तार किया। उसके कुछ निबन्ध अपनी विषयवस्तु के कारण उल्लेख्य बन गए हैं जैसे, कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता, अद्-भुत इन्द्रजाल, आकाश की निराधार स्थिति, अंध लिपि आदि।

उनकी आरम्भिक कृतियों में पंडिताऊपन के साथ तत्सम पदावली का प्राधान्य था। किन्तु शनैः शनैः यह रूप दूर होता गया और उन्होंने अपने शब्दचयन में संस्कृत-फारसी, बोल-चाल तथा प्रान्तीय सामान्य शब्दों का ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी अधिकांश रचनाएं जनसाधारण के ज्ञानवर्धन के लिए लिखी गई थीं। उनका ध्येय यह रहता था कि ऐसी सरल शैली से विचार व्यक्त किए जाएँ जिससे पाठक को आशय ग्रहण करने में कोई कठिनाई न हो, साथ-ही-साथ एक प्रकार का चुटीलापन भी उसमें बना रहे। उनके लेखों में शैली की दृष्टि से अनेकरूपता लक्षित होती है। विचारात्मक और गम्भीर विषयों पर लेख-निबन्ध तत्समप्रधान संश्लिष्ट पदावली से परिपूर्ण होते हैं। व्यावहारिक और व्यंग्यात्मक विषयों पर लिखे गए सरल, प्रचलित तद्भव शब्दों से गुंफित रहते हैं। कहीं-कहीं अंग्रेजी की रचना-शैली की छाप भी आपके गद्य पर दिखाई पड़ती है। द्विवेदी जी ने अपने गद्य में अप्रस्तुत योजना द्वारा शैली का सौष्ठव प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए 'यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती' इस वाक्य में दृष्टान्त के द्वारा अप्रस्तुत योजना का सुन्दर रूप खड़ा किया गया है। जैसा कि हमने पहले कहा कि द्विवेदी जी की शैली में व्यांग्यात्मक आलोचनात्मक और विचारात्मक तीनों प्रकार के रूप मिलते हैं। अतः उनकी शैली में भी इन तीनों रूपों का दिग्दर्शन किया जा सकता है—

'अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग हैं। उनका सम्बन्ध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिणाम समझ लेना बहुत कठिन है। इसीलिए प्रतिभावान पुरुषों में कभी-कभी विक्षिप्तता के कोई-कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावली में नहीं करता।'

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ने हिन्दी गद्य के स्थिरीकरण के लिए जो व्यापक आन्दोलन सरस्वती के माध्यम से प्रवर्तित किया था, वह लगभग २० वर्ष तक चलता रहा और उसके द्वारा भाषाविषयक परिष्कार में थोड़ा-बहुत योग मिला। किन्तु इस आन्दोलन में लेखकों की मौलिकता और सजीवता को ठेस भी पहुँची। बालकृष्ण भट्ट और

प्रताप नारायण मिश्र की शैली में जैसी जिन्दादिली और व्यक्तित्व की छाप थी, वैसी द्विवेदी युग के निबन्ध लेखकों में नहीं मिलती। द्विवेदी जी की निबन्ध शैली भी किसी मौलिकता का आग्रह लेकर नहीं चली है। न तो उनमें सजीवता है और न प्रखरता। हाँ, परिष्कार और परिमार्जन अवश्य है और इसी के कारण उनका नाम हिन्दी के निबन्ध लेखकों में अपना स्थान रखता है। द्विवेदी जी ने मौलिक विषय भी निबन्धों के लिए चुने जिनमें अध्यात्म, विज्ञान कला-कौशल आदि हैं। 'रसज्ञ रंजन' द्विवेदी जी का प्रतिनिधि निवन्ध संग्रह कहा जा सकता है।

गोविन्द नारायण मिश्र (१८५६-१६२३) का उल्लेख भारतेन्दु युग में भी हुआ है किन्तु उनका यथार्थ निबन्ध लेखन काल द्विवेदी युग में ही है। अतः यहाँ विस्तार से परिचय दे रहे हैं। मिश्र जी ने हिन्दी गद्य के स्वरूप निर्धारण में जिस प्रकार योगदान दिया वह इस लिए नहीं भुलाया जा सकता कि उस युग में भी संस्कृत की तत्समप्रधान शैली निर्मूल नहीं हुई थी। मिश्र जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित् थे और सानुप्रासिक अलंकारमयी पदयोजना उनको उसी प्रकार प्रिय थी, जिस प्रकार 'प्रेमघन' तथा व्यास जी को। इतना ही नहीं, मिश्र जी की अलंकृत अभिव्यंजना प्रणाली तथा आडम्बरपूर्ण भापा से वाक्य इतने क्लिष्ट और दुरूह हो जाते हैं कि पाठक को भावबोध में भी कठिनाई होती है। कविता में प्रयुक्त तुकान्त शैली पढ़ते समय तो रोचक लगती है, किन्तु अर्थबोध की दृष्टि से उसमें अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सामने अती हैं। आलोचकों ने उनकी शैली को समास और अनुप्रासों में गुंथे शब्द-गुच्छों का अटाला कहा है। इतने लम्बे-लम्बे वाक्य मिश्र जी के गद्य में मिलेंगे कि उन्हें पढ़कर एक बार बाणभट्ट की शैली का स्मरण होने लगता है। तत्सम शब्दों के साथ-साथ तद्भव शब्दों का प्रयोग भी आपने किया है। इसीलिए उनकी वाक्य रचना ऐसी प्रतीत होती है कि मानों उसको बनाते समय मिश्र जी ने बहुत अधिक सतर्कता करती हो। तरीके की बात कहनी मिश्र जी की प्रकृति के प्रतिकूल थी, छोटी बात को भी वे घुमाकर ही कहते थे। भाषा सुधार के क्षेत्र में व्याकरण सम्बन्धी नियम को उन्होंने स्वीकर किया था और विभक्तियों को वे शब्दों के साथ लिखने के पक्ष में थे। उनके वाक्यों मे कृत्रिमता के साथ दुरूहता का पुट प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'अपने मन की स्वच्छता, योग्यता और सम्पन्नता के अनुरूप ही उस चमत्कारी अनुपम रूप का चमकीला प्रतिविम्ब भी उसके मन पर पड़ता है। परम वदान्य मान्यवर कवि कोविद तो सुधावारिद से सब पर खुले ही खुले हाथों सुरस बरसाते हैं, परन्तु सुरसिक समाज पुष्प-वाटिका किसी प्रान्त में पतित ऊसर समान मूसर चन्द मन्दमति मूर्ख अरसिकों के मन मरुस्थल पर भाग्यवश सुसंसर्ग प्रताप से निपतित उन सुधा से सरस बूंदों के भी अन्तरिक्ष में ही स्वाभाविक विलीन हो जाने से बिचारे उस नवेली नवरस से भरी बरसात में भी उत्तप्त प्यासे और जैसे थे वैसे ही शुष्क नीरस पड़े धूल उड़ाते हैं।'

बाल मुकुन्द गुप्त (१८६३-१६०७) का उदय हिन्दी निबन्ध साहित्य के इतिहास में एक घटना के रूप में हमारे सामने आता है। गुप्त जी ने व्यंग्य, कटाक्ष, हास्य और विनोद के माध्यम से जिस शैली का गद्य प्रस्तुत किया है वह उनके पूर्व दृष्टिगत नहीं होता था। उन्होंने

उर्दू में हास्य व्यंग्यात्मक लेख लिखने प्रारम्भ किए थे और शनैः शनैः उर्दू से हिन्दी गद्य की ओर प्रवृत्त हुए थे। यही कारण था कि उर्दू शैली की रोचकता, सजीवता और प्रभावोत्पादकता उनकी हिन्दी गद्य शैली में प्रतिफलित हुई। हिन्दी पत्रकार के रूप में उन्होंने प्रारम्भ में जो लेख लिखे थे, वे एक प्रकार से हिन्दी निबन्ध की सरल शैली के आदर्श कहे जा सकते हैं। उन्होंने गोविन्दनारायण मिश्र जैसे लेखकों की अलंकृत शैली को स्वीकार नहीं किया और अपनी एक स्वच्छन्द शैली स्थापित की, जिसमें तत्सम और तद्भव शब्दों का सामंजस्य किया था। मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग उनकी गद्य शैली की विशेषता कही जा सकती हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में भावाभिव्यंजन करने का गुप्त जी को काफी अभ्यास था, इसीलिए आपकी वाक्य योजना अविच्छिन्न रूप से प्रभावित होती रहती है। कहने का क्रम इतना सुसम्बद्ध रहता है कि पाठक के नेत्रों के सम्मुख एक कल्पना मिश्रित वातावरण सजीव होकर खड़ा हो जाता है।

गुप्त जी ने कई उपनामों से निबन्ध लिखे। आत्माराम नाम से लिखे गये इनके निबन्ध विवेचना की कोटि में आते हैं, जिनमें गुणदोष विवेचन वाली प्रवृत्ति लक्षित होती है। शिवशम्भु शर्मा के नाम से लिखे गए लेख व्यंग्य के सुन्दर निर्देश हैं, इन निबन्धों को हम व्यक्तित्वप्रधान निबन्ध के रूप में रख सकते हैं। इनसे हिन्दी गद्य का मार्ग प्रशस्त हुआ और भाषा में प्रौढ़ता आई। गुप्त जी ने अपनी इस शैली में जहाँ एक ओर हिन्दी गद्य शैली का निर्माण किया, वहाँ दूसरी ओर जातीय भावनाओं को भी परिपुष्ट करने में अत्यधिक योगदान किया।

गुप्त जी व्यंग्य को अजमाने के लिए तरह तरह के प्रयोग करते थे। उनके व्यंग्य में बड़ा गहरा देश छिपा रहता था। एक उदाहरण देखिए। व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—'विद्या किस काम की चीज है। न ओढ़ने की है, न बिछाने की और न खाने की। यदि तुम्हारे पास रुपया होगा तो सैकड़ों विद्वान तुम्हारे पास आकर टक्कर मारेंगे। तुम्हारे गंड मूर्ख होने पर भी तुम्हें झुककर साष्टांग सलाम करेंगे। तुम्हारी भद्दी मोहरमी शक्ल को भी अच्छी बताएँगे।' यह व्यंग्य विशेषतः मारवाड़ी धनिक समाज के ऊपर किया है। इसी प्रकार बंगाल के गर्वनर के नाम जो पत्र लिखे गये थे उनमें भी बहुत गहरा व्यंग्य देखने को मिलता है। लार्ड मिन्टो को सम्बोधित करके वह कहते हैं—'प्रजा और प्रेस्टीज इसी ख्याल में श्रीमान फँसे हैं। प्रजा ताक का बालक है और प्रेस्टीज नवीन सुन्दर पत्नी। किसकी बात रखेंगे। यदि दया और वात्सल्य भाव श्रीमान के हृदय में प्रबल है तो प्रजा की ओर ध्यान होगा, नहीं तो प्रेस्टीज की ओर ढुलकना स्वाभाविक होगा।' जेल के सम्बन्ध में गौरव भावना व्यक्त करते हुए गुप्त जी ने लिखा है—'यह कारागार भारत सन्तान के लिए तीर्थ हुआ। उसकी धूल मस्तक पर चढ़ाने योग्य हुई। जिन हथकड़ियों से हमारे निर्दोष बन्धुओं के हाथ बँधे उन्हें हेममय आभूषण समझना चाहिए। इस प्रकार के दोषों से बचकर न्याय के लिए जेल काटने की शक्ति हैं जिससे कि हम समझें कि भारत हमारा है और हम भारत के हैं। रहें इसी देश में चाहे जेल में चाहे घर में। जब तक जियें जियें और जब प्राण निकल जाएँ तो यहीं की पवित्र मिट्टी में मिल जाएँ।' उपर्युक्त अवतरणों में जिस प्रकार की सरलवाक्य योजना दृष्टिगत होती हैं, वैसी तत्कालीन अन्य लेखकों में नहीं मिलती।

गुप्त जी का 'एक दुराशा' शीर्षक लेख उनकी शैली का बहुत ही सुन्दर उदाहरण माना जाता है—'क्या भारत में ऐसा भी था, जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे। क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे। यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्र वर्ग सहित अबीर गुलाल की झोलियाँ भरे रंग की पिचकारियाँ लिए अपने राजा के घर में होली खेलने न जाएँ तो कहाँ जाएँ। राजा दूर सात समुद्र पार है। राजा को न शिवशम्भु ने देखा और न राजा ने शिवशम्भु को। खैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है।' संक्षेप में, गुप्त जी के निबन्धों में भावों की प्रखरता हीं नहीं, प्रेषणीयता भी पूरे वेग साथ पाई जाती है। गुप्त जी ने हिन्दी निवन्ध को सजीवता के साथ प्राण और गति प्रदान की। उनकी शैली से हिन्दी निबन्ध जनसामान्यके लिए ग्राह्य और मनोरंजक बन सका। गुप्त जी के निवन्ध 'गुप्त-निबन्धवली' में संग्रहीत कर प्रकाशित हो चुके हैं।

माधव प्रसाद मिश्र (१८७१-१९०७) कवि के रूप में अधिक विख्यात् हैं। शैली पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट होती है, कि अपने युग में हिन्दी निबन्ध को प्रभावपूर्ण बनाने में उन्होंने बहुत योग दिया था। उनका गद्य संस्कृत बहुल होने पर भी असंयत नहीं है। वाक्यों में भावानुकूल उतार चढ़ाव सर्वत्र पाया जाता है। तर्कसंगत शैली के विषय की स्थापना करना माधव जी को विशेष रूप से अभिप्रेत था। जर्मन विद्वान वेवर को मान्यताओं का खण्डन करते हुए मिश्र जी ने 'वेवर का भ्रम' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था उसमें उनकी ओजस्विनी शैली के हमें दर्शन होते हैं। वे लिखते हैं—'निरंकुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निगर्लता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रान्त मत का प्रचार करने वाले वेवर साहब यदि यहाँ होते तो यहाँ दिखाते कि जिसका वे अपनी विवरुधा लेखनी से जर्मनी में बध कर रहे हैं, वह भारत में व्यापक और अमर हो रहा है।

माधव मिश्र भारतीय हिन्दू जीवन की परम्परा के समर्थक थे। अतः उनके निबन्धों के मुख्य विषय हिन्दू पर्व-त्यौहार, रामलीला, व्यास पूजा, श्री पंचमी, होली आदि हैं तथा हिन्दुओं के तीर्थस्थान मथुरा, द्वारका, अयोध्या आदि पर भी उनके निबन्ध मिलते हैं। इन निबन्धों में उनकी दृष्टि सांस्कृतिक रही है। 'सब मिट्टी हो गया' मिश्र जी का बहुचर्चित निबन्ध है। इनकी भाषा शैली में प्रवाह एवं प्रांजलता है—

'किसी का धन खो जाय, मान मर्यादा भंग हो जाय, प्रभुता और चमता चली जाए तो कहेंगे कि सब मिट्टी हो गया। इससे जाना गया कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किन्तु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है। अकेली मिट्टी ही दुर्नाम को क्यों धारण करती है। क्या सचमुच ही मिट्टी निकृष्ट है। हम निकृष्ट नहीं हैं। भगवति, वसुन्धरे, तुम्हारा सर्वस ही नाम यथार्थ अधिक पाते हैं।'

सरदार पूर्णसिंह (१८८१-१९३१) रसायन शास्त्र के पंडित तथा फारेस्ट कालेज में इम्पीरियल कैमिस्ट के पद पर काम करते हुए भी हिन्दी के प्रति अगाध प्रेम रखने वाले निबन्ध लेखकों में हैं। भावुकता, सहृदयता प्रेम और मस्ती अपने व्यक्तित्व की विशेषताएँ हैं। आपने अपनी निबन्ध शैली में व्यक्तित्व के इन गुणों को इतनी पूर्णता के साथ घुला मिला दिया

है कि निबन्ध पढ़ते ही लेखक का पता चल जाता है। सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों की संख्या अधिक नहीं है। केवल ८-१० निबन्ध ही आपने लिखे हैं जो 'सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध' शीर्षक से प्रकाशित हो गए हैं। किन्तु भावयोजना तथा शैली की नवीनता के कारण आपका नाम हिन्दी निबन्ध शैली के निर्माताओं में अमिट रहेगा। भावुकता के आवेश में जैसे कंठ गदगद होने पर आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, वैसे ही, लेखनी से भावनाओं का झरना फूटा पड़ता है। लेख लिखते समय आप इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उस विषय के विविध पहलुओं पर चिन्तन, मनन, कल्पना आदि सभी दृष्टियों से प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं। एक ही बात को कहने के लिए अनेकानेक उदाहरण, दृष्टान्त, प्रमाण, तर्कयुक्ति आदि प्रस्तुत करना भी आपकी शैली है। विचारात्मक तथा गम्भीर विषय को भी कहानी के मनोरम वातावरण में प्रस्फुटित करने की अद्भुत कार्य क्षमता आपकी शैली में है।

पंजाबी होने पर भी आपकी भाषा में अनूठा लोच, मार्दव और जादू है जो सरसता और स्वगंधता के साथ प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्ति का सुन्दर उदाहरण बनकर पाठक को मुग्ध कर लेता है। वाक्यों का गठन कहीं चुस्त तो कहीं व्यस्त। वाक्य कहीं छोटे तो कहीं फैले हुए। कहीं उर्दू फारसी का पुट तो कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों की छटा। आपका निबन्ध पढ़ते ही पाठक पर यही प्रभाव पड़ता है कि जो लेख की अन्तरात्मा में है, वही पाठक के मन में भी उतर आया है। कृत्रिमता शब्द चमत्कार और विदग्धता आदि का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है। निबन्ध शैली की दृष्टि से आपके निबन्ध हिन्दी में अप्रतिम हैं। भाषा पर पूर्ण अधिकार होने से तथा भावनाओं में बल होने से आपकी शैली भावाभिव्यक्ति का आदर्श बन गई है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि साम्यमूलक अलंकारों का प्रयोग भी आपकी शैली में प्रचुर मात्रा में मिलता है। दो-एक उदाहरण देखिये—

'हाथ की मेहनत से चीज़ में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज़ में कहाँ। जैसे आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, उसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ। उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बन्द किए हुए अचार-मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और इसमें मुर्दे को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है।' व्यंग्यात्मक शैली का एक उदाहरण देखिये—

'गेरुवे वस्त्र की पूजा क्यों करते है? गिरजे की घंटी क्यों सुनते हैं? रविवार क्यों मनाते हैं? पाँच वक्त की नमाज़ क्यों पढ़ते हैं? त्रिकाल संध्या क्यों करते हैं? मज़दूर की अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखें। फिर देखेंगे कि हमारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय महान् हो गया।'

पूर्णसिंह के निबन्धों में मजदूरी और प्रेम, सच्ची वीरता, आचरण की सभ्यता, पवित्रता आदि को अच्छा स्थान मिला है। विषय की मौलिकता, प्रतिपादन शैली की नवीनता, मस्ती और तरंग का प्रवाह, चिन्तन की अभिनव पद्धति तथा वैयक्तिक पुट इन निबन्धों का प्राण है।

'आचरण की सभ्यता' शीर्षक लेख में आपकी विचारात्मक शैली का सुन्दरतम रूप दृष्टिगत होता है। सूक्ष्म विचारों को कल्पना और भावना के सौन्दर्य से मंडित करके आपने जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह गद्य शैली की सुन्दरतम निदर्शन कहा जा सकता है—'अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से भरी हुई अन्धकारमय कोठरी से निकल ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल सका हो तब तक कर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं।'

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (१८८३-१९२२)

गुलेरी जी संस्कृत के प्रकांड पण्डित् थे। संस्कृत के साथ ही अंग्रेजी भाषा की भी आपने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। इसीलिए आपकी लेखन शैली पर दोनों भाषाओं का व्यक्त और अव्यक्त प्रभाव पड़ा है। संस्कृत के पण्डित् होते हुए भी आपने निबन्धों को व्यावहारिक एवं सरल बनाने का प्रयास किया। इसीलिए आपकी भाषा में एक प्रकार का चलताऊपन है। छोटे-छोटे एवं स्पष्ट वाक्यों का प्रयोग आपको अभीष्ट था। मुहावरे और उपयुक्त शब्द चयन पर भी आपका पूरा-पूरा ध्यान रहता था। विषयानुकूल भाषा को परिवर्तित करना भी आप शैली की दृष्टि से आवश्यक मानते हैं। जैसे वैदिककालीन तथा पौराणिक विषयों के प्रतिपादन को उसी के अनुरूप पदावली का प्रयोग आपकी रचनाओं में मिलता है। सामाजिक तथा रचनात्मक निबन्धों की शैली चटपटी और प्रभावमयी है। उनमें मुहावरों का भी बहुत सुन्दर उपयोग हुआ है। शैली की इस विशिष्टता और वक्रता के कारण आपकी रचनाओं में व्यक्तिकता की छाप आ गई है। उर्दू और अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग भी आपने बिना किसी संकोच के किया है। गुलेरी जी इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व के पंडित थे। उनके निबन्धों में इन विषयों का अच्छा परिचय मिलता है। पुरानी हिन्दी के सम्बन्ध में उनका विस्तृत निबन्ध बहुत प्रसिद्ध है। एक उदाहरण देखिए—

'बकौल शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है। पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है। आर्यसमाज ने मर्मस्थल पर वह मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सर नीचा कर दिया। गैरों ने तो गांठ का कुछ नहीं दिया पर इन्होंने तो छोटे-छोटे शब्द छीन लिये। इसी से कहता हूँ कि 'मारसि मोहि कुठाऊँ' अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई के लिये हैं कि इस पुरानी जमी हुई दुकान का दिवाला ही निकल गया।' प्रजानुकूल का वर्णन करते हुए आपकी निबन्ध शैली प्रायः तत्समप्रधान बन गई है। गुलेरी जी के निबन्धों में कुछ आधर्म, मारेसि मोहि कुठांव, संगीत आदि उनकी शैली के सुन्दर निदर्शन हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास (१८७५-१९४५)

बाबू श्यामसुन्दर दास हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार करने वाले व्यक्तियों में मूर्धन्य पर हैं। उनकी हिन्दी विषयक सेवाओं का क्षेत्र बहुत व्यापक रहा है। आलोचना, शोध, भाषा विज्ञान, पुस्तक लेखन आदि सभी क्षेत्रों में बाबू जी ने हिन्दी सेवा के निमित्त ठोस कार्य किया। जिस समय बाबू जी ने हिन्दी क्षेत्र में पदार्पण किया उस समय भाषा की अराजकता और शब्दों का अभाव अत्यधिक खटकने वाला था। इन त्रुटियों के होते हुए भी

बाबू जी ने अपने निबन्धों में जिस शैली को स्वीकार किया वह परिष्कृत गद्य शैली कही जाती है। अध्यापक होने के नाते आपकी शैली में सुबोधता, सरलता और विषय प्रतिपादन की नैसर्गिक क्षमता है। उनका मत था कि विकासशील भाषा और साहित्य के विषयानुकूल शब्द निर्माण के प्रति उदासीन नहीं रहना चाहिए।

आपकी अपनी भाषा में यद्यपि संस्कृत शब्दों का ही बाहुल्य है किन्तु शैली को सरल और सुबोध रखने के लिए वाक्य विन्यास की जटिलता से बचाये रखा है। शास्त्रीय विषयों के प्रतिपादन में आपकी भाषा भाराक्रान्त अवश्य हो जाती है किन्तु एक ही बात को घुमा-फिराकर कई बार लिखने से पाठक को अर्थबोध में कठिनाई नहीं होती। आपकी निबन्धों की विशेषता यह है कि आप विषय का समाहार करते हुए 'तात्पर्य यह है,' 'संक्षेप में,' 'अन्त में,' 'कहने का प्रयोजन यह है' आदि विभिन्न पदावली का प्रयोग करके, एक ही बात को तीन-चार तरह से समझाते रहते हैं। आपने समासयुक्त क्लिष्ट पदावली का यथाशक्ति बहिष्कार किया है और व्यर्थ का शब्दाडम्बर भी नहीं आने दिया है। धारावाहिक प्रवाह को बनाये रखने के लिये काव्य रचना में भी संक्षिप्तता और सरलता रखी है। उनका मत था कि 'जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हैं उसके लिये छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है। मुहावरों और लोकोक्तियों का भी आपकी शैली में प्रायः अभाव है। व्यंग्य, हास, परिहास, वक्रोक्ति आदि भी आपके निबन्धों में नहीं पाये जाते हैं। यही कारण है कि आपके निबन्ध न तो मनो-रंजक होते हैं और न उनमें वैयक्तिकता ही रहती है। सूक्ष्म चिन्तन या कल्पना को भी आपके निबन्धों में स्थान नहीं मिला है। इस प्रकार संक्षेप में आपके निबन्धों की विशेषता है भाषा का वैज्ञानिक रूप, प्रांजलता और परिमार्जन। आपकी शैली के दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

'अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ बने रहिये। अपने धर्म का पालन करने में अग्रसर होते जाइये। निश्चय जानिये आपकी विजय होगी। आपके दावे सफल होंगे और अन्तकाल में आपको सन्तोष होगा कि जगत नियन्ता जगदीश्वर ने आपको जो मनुष्य शरीर दिया था उसका उचित उपयोग करने में आप सफल हुए हैं और मातृभाषा की सेवा कर आप उससे उऋण हो सके हैं।'

'यह बात स्पष्ट है कि मानवसमाज की उन्नति उस समाज के अन्तर्भूत व्यक्तियों के सहयोग और साहचर्य से होती है। पर इस सहयोग और साहचर्य का साफल्य तभी सम्भव है जब परस्पर भावों या विचारों के विनिमय का साधन उपस्थित हो। भाषा ही इसके लिए मूल साधन है और इसी की सहायता से मानव-समाज की उन्नति हो सकती है। अतएव भाषा का समाज की उन्नति के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है जहाँ तक कि एक के बिना दूसरे के अस्तित्व भी सम्भव नहीं। (समाज और साहित्य)

'समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी बल पर संसार

के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है।' (भारतीय साहित्य की विशेषताएँ)

पद्मसिंह शर्मा (१८७६-१९३८)

पद्मसिंह शर्मा संस्कृत के साथ उर्दू फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में 'तुलनात्मक समीक्षा' का श्रीगणेश किया था। तुलनात्मक समीक्षा के समस्त गुण दोष उनके गद्य में मिलते हैं। शुक्ल जी जहाँ गम्भीर तथा स्पष्ट व्याख्या के पक्षपाती थे वहाँ शर्मा जी निबन्धों में भी चलती हुई शैली को ही स्वीकार करते थे। किन्तु इतना फिर भी कहना होगा कि उनके निबन्धों में व्यक्तित्व की गहरी छाप मिलती है। दो-चार पंक्तियाँ पढ़कर ही उनकी शैली को पहिचाना जा सकता है। उर्दू मुशायरों की शैली को उन्होंने अपने गद्य में स्थान दिया है जैसे—

'क्या खूब', 'भई वाह गजब कर दिया, 'क्या कहने हैं,' आदि वाक्यांशों का प्रयोग उनके आलोचनात्मक लेखों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। वे निबन्धों में तथ्य निरूपण और गम्भीर व्याख्या के पक्षपाती नहीं हैं। मन पर किसी भाव विषय या दृश्य का जो प्रथम प्रभाव पड़ता है उसको बोलचाल की भाषा में व्यक्त करना ही शर्मा जी को अभिप्रेत था। पद्मराग में सकलित उनके निबन्धों में विविधता देखकर उनकी सामर्थ्य का पता चलता है। एक उदाहरण देखिये—

'बात वही है पर देखिये तो आलम ही निराला है। क्या तान कर शब्दभेदी नावक का तीर मारा है। लुटा ही दिया। एक अनियारेपन ने धवल कृष्ण पक्ष वाले सबको एक अनीकी नोक में बाँध कर एक ओर रख दिया है और बाहरी-चितवन। इतनी चितवन की ताब भला कौन ला सकता है।' शर्मा जी मुहावरों का प्रयोग करने में बहुत दक्ष हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में व्यंग्य और कटाक्ष का आलम खड़ा करना उनकी गद्य शैली का सर्वश्रेष्ठ रूप माना जाता है।

पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों की एक विशेषता यह है कि वे आत्मचिन्तन शैली से विचारों को व्यक्त करते हुए जान पड़ते हैं। स्वगत-भाषण का भी उनमें रूप लक्षित होता है 'पद्मपराग' में संकलित उनके निबन्धों को हम हिन्दी निबन्ध की अनेक झाँकियाँ पा सकते हैं। 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' उनका विख्यात् निबन्ध है जिसमें लेखक स्वयं सोचता है, स्वयं भाषण देता है और निष्कर्ष भी प्रस्तुत करता है। 'मै अपने दिल से बातें करता हुआ मकान पर आया। कैसा खुशकिस्मत आदमी है। कहता है, 'मेरा कोई नहीं है' ऐ, खुशनसीब आदमी। यहीं तो तू मुझसे बन गया। पर क्या उसका यही कहना सच भी है। अर्थात् वास्तव में क्या इसका कोई दोस्त नहीं है जो मेरे दोस्तों की तरह उसे दिन भर में पाँच मिनट की भी फुर्सत न दें।'

निबन्ध की अलंकृत शैली

द्विवेदी युग में गद्य शैली के परिनिष्ठित करने के अनेक प्रयत्न हुए, जिनमें भाषा परिष्कार के अतिरिक्त भाषा सौष्ठव और मार्दव पर भी अत्यधिक बल दिया गया। इस युग में कुछ ऐसे भी गद्य शैलीकार हुए जिन्होंने कवित्व की छटा से निबन्ध को अलंकृत करने का

प्रयास किया। प्रारम्भ में कुछ कवित्वमय निबन्ध लिखे गए जो गद्य गीत या गद्य काव्य के नाम से व्यवहृत हुए। वह गद्यात्मक गीतों की भाषा शैली अलंकृत होने के कारण सामान्य गद्य से अधिक मनोरम प्रतीत हुआ और भावुक पाठकों का उसके प्रति प्रारम्भ में आग्रह भी लक्षित हुआ। किन्तु अस्पष्टता तथा अतिरंजित भावुकता ने शनैः शनैः बुनियादी पाठकों को उनसे विरक्त कर दिया। इन गद्य काव्यमय निबन्धों में रागात्मक, नादलय-स्वर को अत्यधिक स्थान मिलने निबन्ध का स्वाभाविक रूप नष्ट हो गया। यह प्रभाव रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि से हिन्दी में आया था। किन्तु निबन्ध की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल न होने के कारण इस कोटि के निबन्धों का बहुत प्रचार नहीं हुआ। इस शैली के प्रमुख लेखकों में चंडीप्रसाद हृदयेश, राय-कृष्ण दास जी, चतुरसेन शास्त्री और वियोगी हरि के नाम उल्लेखनीय हैं। परवर्ती लेखकों में और भी हुए जिन्होंने गद्य काव्य की शैली को स्वीकार कर निबन्धात्मक रचनाएँ कीं।

द्विवेदी युग के अन्य निबन्धकार

निबन्ध के विस्तार की दृष्टि से द्विवेदी युग को जो महत्त्व प्राप्त है वह निबन्ध की शैली और सजीवता की दृष्टि से नहीं है। स्वप्न शैली से निबन्ध का उदय भारतेन्दु काल में ही हुआ था उसका निर्वाह द्विवेदी युग में किया गया। आत्मकथात्मक शैली में 'पेट की आत्म कहानी' 'अशरफी की आत्म कहानी', 'पैसे की आत्म कहानी,' 'कपड़े की आत्म कहानी' आदि अच्छे निबन्ध लिखे गए। यशोदानन्दन अखौरी का निबन्ध, 'इत्यादि की आत्म कहानी' तो द्विवेदी युग की श्रेष्ठ निबन्ध रचना मानी जाती है। हास्यरस को भी इसी युग में निबन्धों में स्थान मिला। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के निबन्ध-निचय और गद्यमाला में हास्य व्यंग्य पूर्ण कई निबन्ध संकलित हैं। विजयानन्द दुबे नाम से विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने भी दुबेजी की चिट्ठी रूप में अच्छे लेख लिखे थे। मिश्रबन्धु भी इसी काल के निबन्ध लेखक हैं जिन्होंने विचारात्मक निबन्धों में योग-दान किया। यात्रा और वर्णनपरक लेख लिखने में कृष्णबल्ल देवशर्मा और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का नाम उल्लेख्य हैं। मुहावरेदानी के साथ प्रवाहपूर्ण निबन्ध लिखने वालों में अयोध्यासिंह उपाध्याय, चतुर्भुज औदीच्य, माधव सप्रे आदि हैं। धार्मिक और नैतिक विषयों पर लक्ष्मीधर वाजपेयी के निबन्ध उपलब्ध हैं। ऐतिहासिक तथा गवेषणात्मक निबन्ध लेखकों में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, जनार्दन भट्ट, काशीनाथ जायसवाल आदि का नाम अविस्मरणीय है।

यदि छोटे-बड़े सभी निबन्ध लेखकों का आकलन किया जाए तो लगभग चार दर्जन लेखक ऐसे हैं जिनके निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे और जिन्होंने नूतन विषयचयन तथा अभिनव भंगिमा और विच्छित्ति देकर हिन्दी निबन्ध को व्यापक परिवेश में खड़ा किया। हिन्दी निबन्ध ने समालोचना का दायित्व भी इसी युग से उठाना प्रारम्भ किया और कई अच्छे समीक्षात्मक निबन्ध लिखे गए। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी कालिदास की आलोचना, विक्रमांक देवचर्चा आदि से आलोचनात्मक लेखों की परम्परा डाली। पुस्तक समीक्षा के रूप में लिखे गये इस प्रकार के लेख आगे चलकर प्रबन्ध रूप में आने लगे।

द्विवेदीयुगीन निबन्धों की शक्ति और सीमा

द्विवेदीयुगीन निबन्ध लेखकों में भाषा के प्रति जागरुकता होते हुए भी विषयवस्तु और

शैली के प्रति वैसी नवीनता नहीं पाई जाती जैसी उनके पूर्ववर्ती निबन्ध लेखकों में थी। फलतः निबन्ध के मौलिक रूप का उतना विकास इस युग में नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। इन निबन्धों को पढ़ने-पढ़ाने में कोई चमत्कारपूर्ण तथ्य सामने नहीं आता और अध्येता साधारण भाषा ज्ञान के निमित्त ही उन्हें पढ़कर सन्तुष्ट हो लेता है। इसी युग में शैली निर्माता मौलिक निबन्ध लेखक अध्यापक पूर्णसिंह हैं जो विषयवस्तु के चयन, प्रतिपादन, शैलीगत सौष्ठव और मौलिक चिन्तन के लिए स्वयं निदर्शन हैं। वैसा मौलिक निबंधकार उस युग में दूसरा कोई नहीं हुआ। आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम, सच्ची वीरता आदि निबन्धों में आवेश और ओज के साथ विचार तरंगायित होकर व्यक्त हुए हैं। वह एक विशिष्ट मनःस्थिति तथा वातावरण चाहते हैं। भाषा में भावुकता का इतना गहरा पुट है जो बौद्धिकता को चुनौती-सा देकर एक ओर ढकेलता सा नजर आता है। दृष्टान्तों की परम्परा भी देश-विदेश के साहित्य और इतिहास से छन कर आती है। लेखक अपनी मन की तरंग और मौजमस्ती में डूबा हुआ निर्वाध रूप से वाक्य-पर-वाक्य पिरोता जाता है, इस बात की उसे चिन्ता नहीं कि वह भटक कर कहीं और विषय में तो नहीं चला गया है। ऐसी आवेश और भावुकता की भाषा समझने तथा उसमें चित्त को रमाने के लिए गम्भीर अध्ययन के साथ हिन्दी, उर्दू और फारसी का ज्ञान अपेक्षित है। मुहावरे और लोकोक्तियों की भी कहीं-कहीं ऐसी लड़ी लगी है कि उर्दू फारसी के गद्य का आनन्द आने लगता है।

इस युग में लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग की ओर लेखकों का बहुत अधिक ध्यान गया। निबन्ध में लोकोक्ति तथा मुहावरे इतने सहज रूप से जटित हो जाते हैं कि पाठक को विषयवस्तु के बोध में कोई कठिनाई शेष नहीं रहती। हरिऔध जी ने ऐसे निबन्ध लिखे थे जिनके प्राण मुहावरे ही थे एक उदाहरण इस सन्दर्भ में उल्लेख्य है, 'हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर आँख के तारे भी नहीं देते। हम पर लगाकर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने पाँव भी नहीं उठते, हम पालिसी पर पालिश करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं पर हमारी वह पालिसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम जाति हित की तानें सुनाने के लिए आते हैं पर मगर ताने दे दे कलेजा चलनी कर देते हैं। हम चाहते हैं कि देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें पर मिटना आता ही नहीं।' निबन्ध को मुहावरे और लोकोक्तियों का कोश बना कर प्रस्तुत करना निबन्ध की अभिव्यंजना को क्लिष्ट रूप में रखना है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग के रूप में प्रयुक्त होते हैं उनके द्वारा भाषा में चुस्ती और अर्थ व्यंजकता आती है किन्तु जब वे चमत्कार के लिए अविरल शृंखला के रूप में वाक्य पर ही नहीं समस्त रचना पर छा जाते हैं तो केवल कुतूहल के स्रष्टा मात्र होकर समाप्त हो जाते हैं। जिन्हें भाषा के परिनिष्ठित रूप का और भाषा की सहज प्रवृत्ति का ही बोध है उनके लिए मुहावरे की अजस्र परम्परा अर्थबोध में बाधक ही बनती है।

शुक्लयुगीन निबन्ध

द्विवेदीयुग के अन्तिम चरण में जो निबन्धकार अपनी मौलिकता और शैलीगत नवीनता के कारण उल्लेखनीय रूप में सामने आये। उनमें सबसे अधिक तेजस्विता और प्रखरता

रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में लक्षित हुई। यह कहना असंगत न होगा कि हिन्दी निबन्ध की तत्कालीन परम्परा को नया रूप देने और मनोवैज्ञानिक तथा विचारात्मक निबन्धों को सुदृढ़ भित्ति पर व्यवस्थित करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है। अतः हमारा प्रस्ताव है कि निबन्ध के इतिहास में आचार्य शुक्ल को द्विवेदी युग के बाद युग प्रवर्त्तक स्वीकार किया जाना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध लिखना तो द्विवेदी युग में ही प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु उनके भाव और मनोविकार विषयक निबन्ध तथा काव्य सिद्धान्त सम्बन्धी निबन्धों ने इस क्षेत्र में आदर्श स्थापित किया। अतः ईस्वी सन् १९२० के बाद १९४० तक का समय शुक्ल युग के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। द्विवेदीयुगीन नैतिक चेतना का प्रभाव आचार्य शुक्ल पर भी था और उनके काव्य समीक्षा विषय निबन्धों पर वह प्रकट भी हुआ किन्तु निबन्धों की मूल चेतना द्विवेदीयुगीन निवन्धों से भिन्न हो गई थी। शुक्ल युग के निबन्धों में विचारात्मक, समीक्षात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और विवरणात्मक शैलियों का विकास होता रहा। शुक्ल जी विचारात्मक निबन्ध को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उन्होंने स्वयं भी भाव और मनोविकार तथा सूक्ष्म काव्य सिद्धान्तों को निबन्ध के लिए चुना था। इसी समय बाबू गुलाब-राय, धीरेन्द्र वर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सम्पूर्णानन्द, जयशंकर प्रसाद आदि ने उच्च कोटि के विचारात्मक निबन्धों का प्रणयन किया।

प्रायः प्रारम्भ से लेकर द्विवेदी युग तक गुण-दोष विमर्श तक ही समीक्षा सीमित थी और उसमें निबन्धों की वैयक्तिकता का सर्वथा अभाव था। इसकी चर्चा हम द्विवेदी युग में कर चुके हैं। सरस्वती में पुस्तक समीक्षा का स्तर ऊँचा नहीं हो पाया था। शुक्ल युग में निबन्ध के माध्यम से सन्तुलित समीक्षा से युक्त अनेक निबन्ध लिखे गए। इस प्रकार के निबन्ध लेखकों में स्वयं आचार्य शुक्ल, नन्ददुलारे बाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पीताम्बरदत्त, गुलाबराय, रायकृष्ण, शिलीमुख आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भावात्मक निबन्ध के क्षेत्र में श्रीकृष्ण राय, वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी, रघुवीर-सिंह, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, महादेवी वर्मा आदि के निबन्ध श्रेष्ठ हैं। भावात्मक निबन्धों के अन्तर्गत ही संस्मरणात्मक निबन्ध तथा रेखाचित्र को भी स्थान दिया जा सकता है। संस्मरण और रेखाचित्र अब साहित्य की स्वतन्त्र विधा बन गई हैं और उनका परिचय स्वतन्त्र रूप से ही लिखा जाता है किन्तु शुक्ल युग तक ये निबन्ध के ही भीतर समझी जाती थीं और निबन्ध की पुस्तकों में संस्मरणों को स्थान मिलता था।

वर्णनात्मक निबन्धों को इस युग में विशेष सम्मान नहीं मिला। फलतः अच्छे निबन्ध लेखकों ने वर्णनप्रधान निबन्ध न्यूनमात्रा में ही लिखे। कुछ यात्रा वर्णन तथा दृश्य वर्णन निबन्धों में ग्रथित किए गए जो सामान्य कोटि के ही हैं। महादेवी वर्मा के यात्रा वर्णन अवश्य सुन्दर गद्य शैली के निदर्शन हैं। विवरणात्मक निबन्धों में कवियों तथा साहित्यकारों के परिचय सम्बन्धी निबन्ध ही श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। श्रीराम शर्मा शिकार सम्बन्धी लेख विवरण की कसौटी पर खरे उतरते हैं। वस्तुतः शुक्ल जी के कृतित्व का निबन्ध शैली पर इतना गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा कि विचार और समीक्षा की ओर ही अधिकांश लेखकों का ध्यान गया और श्रेष्ठ निबन्ध के लिए इन्हीं दो विषयों को चुना गया। फिर भी, भावात्मक

निबन्धों की सृष्टि में यह युग अन्य युगों से चार कदम आगे ही है। इस युग के प्रमुख निबन्ध लेखकों का परिचय हम व्यक्तिशः उनकी प्रमुख निबन्ध कृतियों के प्रकाश में प्रस्तुत करेंगे।

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मूलतः आलोचक और विचारक थे। उन्होंने अपने छोटे और बड़े दोनों प्रकार के निबन्धों में समीक्षा तथा विचार-विमर्श को ही प्रमुख स्थान दिया है। उनके निबन्धों में विषयवस्तु के प्रदिपादन की अद्भुत क्षमता के साथ व्यक्तित्व का अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है। हृदय और बुद्धि पक्ष का सन्तुलित रूप जैसा शुक्ल जी के निबन्धों में है वैसा अयन्त्र कम ही देखने में आता है। उनके दीर्घ कलेवरवाले निबन्ध जो प्रबन्ध की सीमाओं का स्पर्श करते हैं, निबन्ध की मूलभूत मान्यताओं से दूर नहीं जान पड़ते। 'चिन्तामणि' में संकलित उनके निबन्ध तो निबन्ध शैली के आदर्श हैं।

निबन्ध में व्यक्तित्व के सम्प्रेषण के लिए वैयक्तिक अनुभूतियों का सन्तुलित समावेश शुक्ल जी की दृष्टि में स्वीकार्य है। निबन्ध लेखक स्वेच्छा से विषय की सीमाओं में विचरण करता हुआ अपनी बात कहने के लिए स्वतन्त्र है किन्तु किसी-न-किसी सम्बन्ध-सूत्र का आधार उसके पास होना ही चाहिए। निबन्ध लेखक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों को लिए हुए—अपने विषय प्रतिपादन में प्रवृत्त हो। अपने निबन्धों में विषय प्रतिपादन करते समय यह ध्यान रखता है कि अनुभूति और प्रतीति को प्रमुख स्थान मिले, जीवन में प्रतिफलित होने वाले व्यावहारिक दर्शन को पकड़ कर भावों और मनोविकारों की व्याख्या हो। विश्लेषण और व्याख्या का चरमोत्कष शुक्ल जी के निबन्धों का शैलीगत सौन्दर्य है। विश्लेषण के लिए साम्य-वैषम्य का प्रदर्शन, व्यास और समास शैली का ग्रहण, आगमन तथा निगमन पद्धति का सम्यक् समन्वय इन निबन्धों में सर्वत्र देखा जा सकता है। सूत्रात्मक परिभाषाएँ देकर उनकी सविस्तार व्याख्या तो शुक्ल जी की विशिष्ट शैली ही समझी जानी चाहिए। दो विरोधी भावों का पार्थक्य दिखाने के लिए शुक्ल जी ने व्यावर्तन का सुस्थिर क्रम सर्वत्र स्वीकार किया है। इस व्यावर्तन में गम्भीर चिन्तन-मनन की धारा व्याप्त रहती है। घृणा और क्रोध का व्यावर्तन करते हुए उन्होंने लिखा है—

'घृणा का भाव शान्त है, उसमें क्रियोत्पादिनी शक्ति नहीं होती। घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखाती है, और क्रोध प्रवृत्ति का × × ×। घृणा विषय से दूर ले जाने वाली है और क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर विषय के पास ले जाने वाली।'

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में स्वमत प्रकाशन तथा स्वानुभूति के चित्रण का अवकाश इतनी सुन्दरता से निकाला है कि प्रतिपाद्य विषय का समर्थन तो होता ही है पाठक का मनोरंजन भी होता है। 'पर्सनल एस्से' की मर्यादा से बाहर रहते हुए भी व्यक्तिगत संस्पर्श से निबन्धों को ज्योतित करने की कला में शुक्ल जी पूर्ण सफल हैं।

'एक दिन मैं काशी की एक गली में जा रहा था। एक ठठेरे की दुकान पर कुछ पर-देशी यात्री किसी बरतन का मोलभाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नहीं इतना लो तो ले लें। इतने में ही सौभाग्यवश दुकानदार जी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गये, और

उन्होंने चट कहा—'माया छोड़ो और इसे ले लो।' सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्य क्षेत्र ? यहाँ न माया छोड़ी जाएगी तो कहाँ छोड़ी जाएगी।'

शुक्ल जी गम्भीर प्रकृति के मननशील व्यक्ति थे। हास्य-विनोद उनकी सहज वृत्ति नहीं थी। किन्तु निबन्धों में उन्होंने स्थान-स्थान पर हास्य-व्यंग्य विनोद की मीठी चुटकियाँ लेकर विषय को रंजक बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। हास्य को केवल शुद्ध हास्य तक सीमित रखने तथा कहीं-कहीं व्यंग्य अथवा कटाक्ष से कशाघात् के रूप में काम लाने की भी उनकी प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

रीतिकालीन अलंकृत काव्य का विवेचन करते हुए बड़ी सजीव शैली में उन्होंने काव्य के ऊपर लादे हुए शब्दालंकारों का उपहास किया है—

'काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया है कि उसका सारा रूप ही छिप गया। × × × यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण कर सामने आती तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हो गया है किसी को फ़ीलपाव। इनकी दशा सोने और रत्नों से जड़ी गुठली धार की तलवार की-सी हो गई।'

व्यंग्य विनोद के अतिरिक्त व्यंग्य और कटाक्ष की पैनी धार का प्रयोग तो शुक्ल जी के निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। ठगी, धूर्तता, चन्दा-चयन, अर्थ लोलुपता, लोभ आदि पर जितने प्रखर प्रहार व्यंग्योक्ति के माध्यम से शुक्ल जी ने किये हैं, वे निबन्ध के प्राण बन गये हैं।

स्थान-स्थान पर विषयान्तर तथा प्रसंगगर्भत्व द्वारा भी निबन्धों को प्रामाणिक और परम्परायुक्त बनाया गया है। रामायण और महाभारत के प्रसंगों का तो इनमें बहुत ही व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है। प्रभावान्विति के लिए एक संदर्भ को दूसरे संदर्भ के साथ इस तरह ग्रथित किया गया है कि दो अवान्तर प्रसंगों में भी एकसूत्रता स्वयं उत्पन्न हो जाती है।

शुक्ल जी के निबन्धों की भाषा प्रौढ़, परिमार्जित, तत्समप्रधान और प्रांजल है। गुम्फित वाक्य रचना के साथ भावव्यंजक पदावली का जैसा चयन शुक्ल जी ने किया है, वैसा हिन्दी निबन्ध लेखकों में उस समय तक नहीं हुआ था। परवर्ती लेखकों ने शुक्ल जी की इस देन का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। शुक्ल जी के प्रारम्भिक निबन्ध 'कविता क्या है' भाषा में अनुप्रास का आग्रह है किन्तु बाद में उसे लेखक ने स्वयं छोड़ दिया। शुक्ल जी के निबन्धों की भाषा भी सबसे उल्लेख्य विशेषता है, समर्थ एवं भावव्यंजक शब्दों का नूतन निर्माण। ऐसे भी अनेक शास्त्रीय शब्द हैं जिनका प्रयोग शुक्ल जी से पहले हिन्दी निबन्ध अथवा समालोचना क्षेत्र में नहीं हुआ था। संस्कृत काव्यशास्त्र तथा अंग्रेज़ी समीक्षा से अनेक शब्दों को शुक्ल जी ने ग्रहण किया और उनका रूपान्तर कर अपने निबन्धों में उन्हें रखा।

संक्षेप में, शुक्ल जी द्विवेदी युग के बाद पहले निबन्धकार हैं जिन्होंने विषयवस्तु, अभिव्यंजना शिल्प और भाषा शैली की दृष्टि से निबन्ध को सर्वथा नया रूप दिया। निबन्ध का संस्कार ही शुक्ल जी की लेखनी से हुआ यह मानना तर्क सम्मत और प्रमाण सम्मत है।

शुक्ल जी के निबन्धों का जितना व्यापक प्रभाव समीक्षा क्षेत्र पर पड़ा उतना किसी अन्य के निबन्धों का नहीं पड़ा।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

बख्शी जी ने निबन्ध लेखन तो द्विवेदी युग में ही प्रारम्भ कर दिया था किन्तु उनके श्रेष्ठ निबन्ध शुक्ल युग में ही लिखे गए। बख्शी जी के सात-आठ निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें पंचपात्र, कुछ और कुछ, मकरन्द विन्दु प्रबंधपारिजात, त्रिवेणी उल्लेखनीय हैं। बख्शी जी के मत में निबन्ध में वैयक्तिक विचारधारा का अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षाकृत अधिक स्थान होता है। अत: निबन्ध में लेखक अपने को ही प्रकट करता है, उनका मत है कि निष्कपट भावों की निष्कपट अभिव्यक्ति ही निबन्ध की विशेषता है। बख्शी जी निवन्ध में आलोचना को प्राय: सदैव स्वीकार करते रहे हैं। वैयक्तिक निबन्धों में भी कहीं-न-कहीं उनका आलोचक रूप बना रहता है। बख्शी जी के निबन्धों का विभाजन करते समय यह बात स्पष्टरूप से गोचर होती है कि उन्होंने विचारात्मक, समीक्षात्मक, भावात्मक तथा विवरणात्मक निबन्धों को अपनी रचना में स्थान दिया है। कला और काव्य, आलोक और तिमिर, कल्पना और सत्य, सत्य और झूठ आदि उनके विचारपक्ष को स्पष्ट करने वाले निबन्ध हैं। 'विश्व-साहित्य' उनके समीक्षात्मक दृष्टि की परिचायक पुस्तक है। अतीत स्मृति, श्रद्धांजलि के दो फूल आदि संस्मरणात्मक लेख उनके भावात्मक निबन्ध कहे जा सकते हैं। एक पुरानी कथा, बन्दर की शिक्षा को विवरणात्मक निबन्ध कोटि में रखा जा सकता है।

बख्शी जी ने अंग्रेज़ी का अच्छा ज्ञान होने पर भी हिन्दी भाषा की प्रकृति की रक्षा का भरसक प्रयास किया है। अंग्रेज़ी के शब्दों को बचाने में भी ये पूरी तरह जागरूक हैं। व्यावहारिक बोधगम्य भाषा में सरल मुहावरे इन्हें प्रिय हैं। इनकी भावात्मक शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है।

'संसार का काम कब रुकता है ? काल की गति कब अवरुद्ध हुई है ? प्रकृति की चाल कब बन्द हुई ? सभी ज्यो का त्यों बना रहता है, परन्तु कोई एक चुपचाप चला जाता है। एक विटप का एक फूल झड़ पड़ता है, उसकी सौरभ निधि नष्ट हो जाती है। एक तड़ाग का कमल सूख जाता है और उसकी शोभा लुप्त हो जाती है, परन्तु प्रकृति का व्यापार चलता ही रहता है। संसार के समर क्षेत्रों में व्यस्त और स्वार्थो में लिप्त लोगों को क्या पता है कि आज एक घर का दीपक बुझ गया, एक का सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया, एक की स्नेहनिधि खो गई।'

बाबू गुलाबराय

बाबू गुलाब राय शुक्ल युग के समर्थक निबन्ध लेखकों में हैं। बाबू जी की विशेषता यह है कि उन्होंने निबन्ध के प्राय: सभी प्रकारों को स्वीकार किया और परिमाण तथा गुण दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ निबन्धों की सृष्टि की। बाबू जी के आठ-दस निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें प्रबन्ध प्रभाकर, फिर निराश क्यों, मेरी असफलताएं, मेरे निबन्ध, कुछ उथले कुछ गहरे,

ठलुआ क्लब, अध्ययन और आस्वाद, सिद्धान्त और अध्ययन अधिक प्रसिद्ध हैं। बाबू जी के निबन्धों का प्रतिपादन शैली तथा विषयवस्तु की दृष्टि से किया गया है।

गुलाबराय जी मूलतः विचारक और अध्यापक थे। दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने के कारण तर्क बुद्धि का आश्रय ग्रहण करके विषय विवेचन में संलग्न होते थे। उनके व्यक्तिपरक या 'पर्सनल एस्सेस' में जो छटा मिलती है, वह विचारपरक अथवा समीक्षापरक निबन्धों में नहीं है। प्रबन्ध प्रभाकर जैसी छात्रोपयोगी पुस्तक में भी उनकी शैली में विचार तत्त्व तथा हास्य विनोद का पुट देखा जा सकता है। सुबोध और सरल शैली कथ्य को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने में बाबू जी को अध्यापकीय क्षमता प्राप्त थी। इस अनुभव का उन्होंने प्रायः सभी निबन्धों में उपयोग किया है।

शास्त्रीय विषयों पर सैद्धान्तिक निबन्ध भी बाबू जी ने पर्याप्त मात्रा में लिखे हैं। कहना न होगा कि उनका प्रचार विद्यार्थी जगत् में खूब हुआ है और आज भी वे पढ़े पढ़ाये जाते हैं। रस और मनोविज्ञान, साधारणीकरण, साहित्य की मूल प्रेरणाएँ, मनोविश्लेषण और आलोचना आदि निबन्ध बाबू जी के शास्त्रज्ञान को बताने के साथ उनके कथन की स्पष्टता का भी परिचय देते हैं। व्यावहारिक समीक्षा पर भी उनके लगभग दो दर्जन निबन्ध उपलब्ध हैं जिनमें समन्वय की अच्छी पद्धति अपनाई गई है। 'फिर निराशा क्यों' बाबू जी की एक प्रारम्भिक किन्तु स्तुत्य रचना है। इस पुस्तक के निबन्ध व्यक्तिगत जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने के साथ मनुष्य को जीवन-जागृति, बल और कष्ट-सहिष्णुता की भावना से भर देते हैं।

'मेरे निबन्ध' तथा 'कुछ उथले कुछ गहरे' शीर्षक संग्रहों में संकलित निबन्ध राजनीति, समाज, मनोविज्ञान, विज्ञान, भाषा और साहित्य से सम्बन्ध रखते हैं। विषय वैविध्य के साथ शैली वैविध्य में इनमें पर्याप्त मात्रा में है। कुछ निबन्ध विवरणात्मक तथा तुलनात्मक शैली में भी लिखे गए हैं।

बाबू जी के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध व्यक्तित्व के संस्पर्श से अनुप्राणित निबन्ध ही हैं जिनमें व्यंग्य-विनोद, सूक्ति, हास, परिहास, जीवनानुभव और प्रासादिकता है।

सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण गुप्त उन निबन्धों लेखकों में हैं जिन्होंने बहुत कम संख्या में निबन्ध लिखकर भी निबन्धकारों में अपना श्रेष्ठ स्थान बनाया है। सियारामशरण स्वभाव से कवि और विचारक थे। उनके निबन्धों में कवित्व और विचार की समन्वित धारा प्रवाहित होती हुई देखी जा सकती है। उनके निबन्धों में उनका निष्कपट व्यक्ति सरल भाषा में जैसे पाठकों से वार्तालाप करता जाता है। वार्तालाप में ही संस्मृतियाँ गुंथी हुई होती हैं और उन्हीं में से तत्त्वचिन्तन का नवनीत सहज ही में तैरता चला जाता है (माचवे)। वस्तुतः इनके निबन्ध गम्भीर चिन्तन, आत्मगत अनुभूतियों के चित्रण, साहित्यिक शैली कथात्मक रोचकता से परिपूर्ण होते हैं। 'झूठ सच' इनका निबन्ध संग्रह है जो हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्धों में गिना जाता है।

विचार के क्षेत्र में सियारामशरण गांधीवादी हैं। नैतिक मूल्यों के प्रति सहज आस्था

होने के साथ सत्य अहिंसा और प्रेम को जीवन के शाश्वत् मूल्य स्वीकार करते हैं। फलतः इनके निबन्धों में भी गांधी विचारधारा किसी-न-किसी रूप में अनुभूत रहती हैं। इनके निबन्धों को हम विचारात्मक तथा भावात्मक कोटि में रख सकते हैं। दो एक वर्णनात्मक निबन्ध भी इन्होंने लिखे हैं।

भाषा का आडम्बर लेखक ने स्वीकार नहीं किया। सीधी, सरल, प्रवाहपूर्ण शैली में विचारों को व्यक्त करना ही इनका उद्देश्य रहा है। इनके निबन्धों को आलोचकों ने वैयक्तिकता की दृष्टि से हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्धों में रखा है। ठीक भी है, 'झूठ-सच' को पढ़ते समय सियारामशरण गुप्त के जीवन के कुछ पृष्ठ अपने आप खुलते जाते हैं और पाठक उनमें तन्मय होकर कथा, वर्णन और विचार की अन्विति में यह भूल जाता है कि वह लेखक से बातचीत कर रहा है या कोई निबन्ध पढ़ रहा है। कुछ निबन्धों में तो अद्भुत ढंग से व्यंग्य द्वारा आधुनिक यान्त्रिक जीवन पर प्रहार भी किये गये हैं। घोड़ाशाही निबन्ध हिन्दी से अपने ढंग का एकमात्र निबन्ध है। एक दिन, ऋणी और हाँ, नहीं, निबन्ध भावात्मक कसौटी पर खरे उतरते हैं।

'गायों के लौटने का स्वर सुनाई पड़ता है। संध्या हो गई है। थनों में दूध भर कर बच्चों की माताएँ दौड़ी आ रही हैं। मार्ग में गोधूलि फैल गई है। अंधेरा छाने लगा है। बच्चे मदरसे के लौट कर आ गये हैं। घर-घर में संध्या के दीपक जाग उठे। सब कुछ हुआ, वही एक बच्चा लौटकर नहीं आया। घर पर उसकी पोथियों का बस्ता बँधा पड़ा है। मदरसे में किसी ने उसकी सुधि नहीं ली।' (छुट्टी, शीर्षक निबन्ध)

'आज का घोड़ा और घुड़सवार वैसा नहीं है, शरीर उसका लोहे का प्राण उदास दानव का। कल्पना का दानव, उसमें साकार हो उठा है। सदियों के घोड़े और घुड़सवार आज कहीं एकत्र हो जाएँ, तब भी क्या संख्या बल और क्या बर्बरता किसी बात में आज के घोड़ों का मुकाबला नहीं कर सकते कितने देश, कितनी सेनाएँ, कितने जनसमूह, उसके खुरों के नीचे पिसे हैं और पिसेंगे, इसका हिसाब नहीं।' (घोड़ा शाही, शीर्षक निबन्ध)

माखनलाल चतुर्वेदी

माखनलाल चतुर्वेदी कवि के रूप से जितने विख्यात् हैं उतने गद्य लेखक या निबन्धकार के रूप में नहीं, यद्यपि उन्होंने पत्रकार के रूप में विपुल मात्रा में लेख और निबन्ध लिखे हैं। सम्पादकीय लेखों को ही यदि संकलित किया जाए तो सैकड़ों लेखों का अम्बार लग जाएगा किन्तु किसी का ध्यान इनकी ओर नहीं गया है। निबन्ध के रूप में उनकी एक ही कृति संकलित होकर 'साहित्य-देवता' नाम से प्रकाश में आई है। 'साहित्य देवता' की भाषा शैली इतनी अधिक कवित्वमय है कि इन निबन्धों का गद्य काव्य से अधिक समीप रखा जा सकता है। भावात्मक निबन्धों की छटा ही इनमें व्याप्त है। विचार और विवेचन के तन्तुओं को लेखक ने काव्य की धारा में इस प्रकार लीन कर दिया है कि पाठक काव्यानन्द ही अधिक प्राप्त करता है।

इन निबन्धों में कई त्रुटियाँ हैं, जैसे अलंकरण, आडम्बर, दूरान्वय, समस्त पदावली, स्वच्छन्द कल्पना विलास और उलझी हुई विचारसरणि। इन दोषों के रहते हुए भी निबन्ध इतने रोचक और रंजक हैं कि पाठक इनमें काव्य कथा, वर्णन और चित्रण का रस लेता हुआ पढ़ता चला जाता है। गुजराती के सुप्रसिद्ध लेखक कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी की सम्मति में साहित्य देवता की गणना संसार की सर्वश्रेष्ठ सात कृतियों में की जा सकती है। साहित्य देवता के निबन्ध जिस मौज और मस्ती के आलम में लिखे गए हैं, उसके अनुरूप ही उसमें साहित्यिक छटा और सौन्दर्य बिखरा हुआ है। आलोचकों का कहना है कि स्वामी रामतीर्थ की मस्तानी भावुकता, भावावेश और सरदार पूर्णसिंह की लाक्षणिकता, दार्शनिकता और लोकमान्य तिलक की निर्भीकता, स्वच्छन्दता और तीव्रता इन निबन्धों की मूलप्रेरक शक्ति है। क्लिष्ट पदावली के कारण निबन्धों में प्रासादिकता तो नहीं हैं किन्तु उत्तालतरंगों से परिपूर्ण महानद के सदृश्य प्रवाह सर्वत्र व्याप्त है। प्रतीक शैली से भी अभिव्यंजना हुई है किन्तु उसमें भी प्रवाह टूटा नहीं है। धाराशैली के ये निबन्ध सुन्दर निदर्शन हैं। शब्दविन्यास में उर्दू और अंग्रेज़ी के शब्दों को अनायास ग्रहण कर लेना चतुर्वेदी जी की विशेषता है। कविता में भी वे इस प्रकार की शब्द योजना करते हैं। गांधी के सम्बन्ध में उनका निबन्ध पठनीय है—

'एक वाणी है, जो झोपड़ियों की कराह को राजमहलों में ले जाकर टकराती हैं और राजमहलों के अपमानों कों झोपड़ियों के सेवा पथ में मिले प्रभु के प्रसाद की तरह ग्रहण करती हैं। एक वाणी है, जो गलियों में, कूचों में, झोपड़ियों में, महलों में, पहाड़ों में, गुफ़ाओं झाड़ों में, एकान्तों में, विजयों में, विजय-पथ की पराजयों में 'चले-चलो' का स्वर लिए, बराबर सुनाई पड़ती चली आ रही हैं।'

राहुल सांकृत्यायन

राहुल जी अनेक भाषाओं के पंडित और विषयों के लेखक थे। दर्शन, समाजशास्त्र इतिहास, साहित्य, पुरातत्त्व आदि विषयों पर विशाल ग्रंथ लिखकर उन्होंने हिन्दी साहित्य के भंडार को समृद्ध बताया है। निबन्ध के क्षेत्र में भी उनका देय उल्लेखनीय है। साहित्य और पुरातत्त्व पर उनके दो निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं। यात्रा-निबंधावली, यात्रा के पन्ने, बचपन की स्मृतियाँ, मेरी जीवन यात्रा और 'तुम्हारी क्षय' उनके निबन्ध संग्रह हैं। इन निबन्ध संग्रहों के नाम से ही उनके विषय-विस्तार का परिचय मिल जाता है। इसके अतिरिक्त और भी चार-पांच निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें किन्नर देश, लंका, रूस आदि का वर्णन है। यदि शुद्ध निबन्ध की कसौटी पर हम इनके निबन्धों का परीक्षण करें तो लगभग साठ-सत्तर निबन्ध ऐसे हैं जो वर्णनात्मक, विचारात्मक तथा विवरणात्मक निबन्ध-प्रकार के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। व्यक्तिगत निबन्ध के अन्तर्गत बचपन की स्मृतियाँ हैं, जिनमें अपने शैशव के परिप्रेक्ष्य में लेखक ने तत्कालीन समाज की झाँकी सी प्रस्तुत की है। 'तुम्हारी क्षय' शीर्षक निबन्ध संग्रह इनकी प्रखर और विध्वंसक मनोवृत्ति का अच्छा परिचय देता है।

राहुल जी भाषा को सजीव और प्रवाहपूर्ण रखने के पक्षपाती थे, अतः संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी उन्होंने उर्दू-फारसी के शब्दों का बहिष्कार नहीं किया है। उनकी

धारणा थी कि हिन्दी की समृद्धि के लिए प्रचलित शब्दों का बनाये रखना उचित ही है। 'तुम्हारी क्षय' तथा 'घुमक्कड़ शास्त्र' में उनकी प्रवाहपूर्ण अभिव्यंजना निबन्ध के सर्वथा अनुरूप है। अनवरत रूप से लेखनी को चलते रहने की छूट देना ही उनकी सामर्थ्य का द्योतक माना जाएगा। कथात्मक शैली में निबन्धों में अन्विति एवं सूत्रमयता बनाये रखना उनकी विशेषता है। 'तुम्हारी क्षय' पुस्तक में से एक उदाहरण उनकी प्रखर शैली के लिए पठनीय है।

'आरम्भिक मनुष्य असभ्य था, वह जंगल में रहता था, लेकिन अपनी जीविका वह धरती से खोजता था, वह शिकार करता था। वह जंगल में फल तोड़ती, लेकिन दूसरे की कमाई, दूसरे के खून को चूसकर गुजारा करना पसन्द नहीं करता था। आत्म-रक्षा के लिए वह अपना नेता भी बनाता था। लेकिन चूसने वालों के लिए वहाँ स्थान न था।'

'जोंकें, जो अपनी परवरिश के लिए धरती पर महान मेहनत का सहारा नहीं लेतीं। वे दूसरे के अर्जित खून पर गुज़र करती हैं। मानुषी जोंकें पाशविक जोंकों, से ज्यादा भयंकर होती हैं।'

पांडे बेचन शर्मा 'उग्र' (१६०१)

'उग्र' ही हिन्दी में कथासाहित्य से सम्बद्ध प्रख्यात् लेखक माने जाते हैं। कहानी और उपन्यास में उनकी ओजस्वी शैली का जो रूप दृष्टिगत होता है वही उनके फुटकर निबन्धों में भी है। यों उग्र जी परिमाण में अधिक निबन्ध नहीं लिखे हैं किन्तु शैली निर्माता के रूप में 'उग्र' जी का विशिष्ट स्थान है और उनके दस-पन्द्रह निबन्ध भी उल्लेख्य बन गए हैं।

साधारण बोलचाल की भाषा में ओज और प्रखरता का पुट देखकर 'उग्र' जी अपनी शैली को व्यक्तित्व की छाप से इतना मढ़ देते हैं कि उनके निबन्ध अलग ही पहचाने जा सकते हैं। उर्दू, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, संस्कृत आदि भाषाओं के शब्द उनके लेखों में इस प्रकार चले आते हैं जैसे उनको रखने के लिए लेखक ने कोई प्रयास न किया हो। अटूट धारावाहिकता ही उग्र के निबन्धों का प्राण तत्त्व है। विरामचिन्हों के प्रयोग में भी उग्र जी अंग्रेज़ी के नियमों का पालन करते हैं। मुहावरे और कहावतों से भी उनकी अलंकृत होती है, गई होती अदालत में बात तो लद गये होते मत बनाओ, अभी से इन्द्रियों के दास बनकर अपने को देवता से राक्षस। वाक्य रचना में बलाघात् उत्पन्न करने के लिए विपर्यय करना और बोलचाल का अनुकरण करने के लिए क्रियापद को संज्ञा और सर्वनाम से पहले रखना उनकी शैली का अंग बन गया है। उपमानों का प्रयोग वे जमकर करते हैं और उपमानों द्वारा कथ्य को मूर्तिमन्त करने में सफल होते हैं। हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों में उनके 'बुढ़ापा' शीर्षक निबन्ध को शैली का प्रति रूप मान कर स्वीकार किया जाता है—इसी निबन्ध का एक अंश हम यहाँ उनके शैली के लिए उदृत करते हैं—

'जी चाहता है, एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सफेद बाल का झुर्रीदार चेहरा हो, कांपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दादिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन भर की कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन् के हजार-हजार रुपये लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पासे फेंकने को तैयार

हूँ, सब कुछ देकर जवानी लेने को राजी हूँ। कोई हकीम हो तो सामने आये, उसे निहाल कर दूँगा, मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ—जवानी की दवा चाहता हूँ।'

'उग्र' जी के निबन्ध 'व्यक्तिगत' तथा 'अपनी खबर' में संकलित हैं। अपनी खबर यों तो आत्मकथात्मक शैली की पुस्तक है किन्तु उसमें भी लेखक ने निबन्ध के रूप को जीवित रखा है। भाषा को स्वेच्छा से मोड़ने, गति देने और वक्र बनाने में उग्र जी को जैसा अधिकार प्राप्त है वैसा बहुत कम निबन्ध लेखकों में है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

कविवर निराला के निबन्ध के क्षेत्र में योगदान अभी तक विधिवत् मूल्यांकन नहीं हुआ है। दो-एक शोध प्रबंधों में उनकी गद्य शैली पर विचार हुआ है किन्तु स्वतन्त्र रूप से निबन्ध-रचना की समीक्षा नहीं की गई। निराला जी के आठ निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें विषय और शैली का वैविध्य द्रष्टव्य है। निराला ने पत्र-पत्रिकाओं में लेख के रूप में निबन्ध लिखना प्रारम्भ किया था और लगभग पैंतीस वर्ष तक वे निबन्ध प्रणयन करते रहे। निराला के निबन्धों को हम विचारात्मक तथा भावात्मक कोटि में रख सकते हैं। कुछ निबन्धों में वर्णनात्मक पद्धति भी अपनाई गई है। कुछ निबन्ध साहित्य-समीक्षा से भी सम्बन्ध रखते हैं। प्रबन्ध पूर्णिमा, चाबुक, चयन, प्रबन्ध-प्रतिभा आदि में उनके जो निबन्ध संकलित हैं। उनमें शैलीगत ऐक्य नहीं है। तत्समप्रधान शैली से गुम्फित वाक्य रचना के साथ उर्दू प्रधान छिटकी हुई पदरचना भी देखने में आती है। निराला ने अपने कथ्य पर अधिक ध्यान दिया है, प्रसाधन पर कम। फलतः निबन्धों में यथावसर कहीं व्यंग्यशैली से प्रखर होकर सामने आया है तो कहीं समीक्षा की शास्त्रीय परम्परा में होकर बोझिल भी हो गया है।

निराला ने 'मतवाला' में कुछ व्यंग्य विनोदपूर्ण लेख लिखे थे। उन लेख में व्यक्ति-तत्त्व का भी कहीं-कहीं समावेश हुआ। 'मेरे गीत और मेरी कला' तथा 'कला के विरह में जोशी बन्धु, निराला की निबन्ध शैली के दो रूप प्रस्तुत करते हैं। 'शून्य और शक्ति' 'रूप और नारी' शीर्षक लेख भी निराला के निबन्ध के सुन्दर निदर्शन हैं। निराला ने कुछ निबन्धों में वक्तृता शैली और काव्यात्मक शैली भी लक्षित होती है। एक उदाहरण पठनीय है—

'इन पंक्तियों में सरसता का समुद्र लहरा रहा है। भावुक कवि राधिका के पूर्वराग में भावुकता को ही परिस्फुट कर रहा है। वह सौन्दर्य नहीं देख रहा। जिस तरह उसके हृदय में आवेश है उसी तरह राधिका के हृदय में। भाषा अत्यन्त ललित, अत्यन्त मधुर, हृदय को पार कर जाने वाली सौन्दर्य की एक बहुत ही बारीक हो रेखा रही है।' (प्रबन्ध प्रतिमा)

वक्तृत्व शैली का दूसरा उदाहरण—

'जनेऊ के समय के दंडधर ब्राह्मण बालक का दंड कहाँ चला गया? नहीं रखने की इच्छा तो वह स्वांग क्यों? यह भारतीयता और शालीनता समाज के सर्वोच्च कृत्य का एक विकसित रूप है। इसी तरह की और भी बातें हैं, जहाँ स्वभावतः मन विद्रोह कर बैठता है।'

रघुवीर सिंह

निबन्ध की भावात्मक शैली को समृद्ध करने वाले निबन्धकारों में रघुवीरसिंह का नाम

अपनी कई विशेषताओं के कारण उल्लेखनीय है। अतीत इतिहास के भग्नावशेषों में कल्पना के पंखों से विचरण करने वाले लेखक के रूप में इन्हें पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई। मुग़लकाल के ऐतिहासिक भवनों के वर्णन में भाव और कल्पना के अनूठे सम्मिश्रण से लिखे गये। इनके निबन्ध हिन्दी में अप्रतिम हैं। सप्तद्वीप, जीवनकल और जीवन धूलि शीर्षक इनके निबन्ध-संग्रहों में अन्य विधाओं का भी दर्शन होता है किन्तु 'शेष स्मृतियाँ' इनके भावात्मक निबन्धों का श्रेष्ठ संकलन माना जाता है। 'बिखरे चित्र' में भी कल्पना की उड़ान और भावुकता का पुट है। अपने भावात्मक शैली के निबन्धों में लेखक जिन क्षणों, अनुभूतियों और अवशेषों को चुना है, वे इतने मार्मिक हैं कि पाठक भी उन्हें पढ़ते-पढ़ते आत्मविभोर हो उठता है। इतिहास का देवता ही उन्हें प्रेरणा देता है और वही सामग्री भी जुटाने में सहायक होता है।

'सप्त द्वीप' इनका पहला निबन्ध संग्रह है जिसमें 'आधुनिक हिन्दी काव्य' वह प्रतीक्षा 'जब बादशाह खो गया था', शिमला से, भारतीय इतिहास में, राजपूतों का इतिहास, इतिहास शास्त्र तथा सेवासदन से गोदान तक शीर्षक सात लेख हैं। लेखों की सूची प्रतीत होता है कि समीक्षा, विवरण तथा वर्णन से इनका सम्बन्ध है। वह 'प्रतीक्षा' शीर्षक ही भाव क्षेत्र का निबन्ध है। 'वह प्रतीक्षा' की तत्समप्रधान शैली का अंश द्रष्टव्य है—

'उस आनंदमयी भावना का वह अदृष्ट किन्तु विमोहक सुदृढ़ आकर्षण ही प्रेम कहाता है। और इसी कारण जहाँ-जहाँ सौंदर्य बिखरा पड़ा होता है, आनंद की तरंगे उठती हैं और उस अनंत परम आत्मा की प्रेममयी भावनाएँ उमड़ती हैं। प्रेम का वह अदृष्ट पाश निरंतर उलझ जाता है, अधिकाधिक सुदृढ़ होता जाता है।'

रघुवीर सिंह के भावात्मक शैली में लिए हुए मुग़लकालीन भग्नावशेष तथा भवनों सम्बन्धी लेख प्रायः पाठ्य पुस्तकों में अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। ताजमहल, फतेहपुर सीकरी, एक स्वप्न की शेष स्मृति अत्यन्त मनोरंजक एवं भावुकतापूर्ण शैली में लिखे गये हैं—

'धीरे-धीरे भारत की उस पवित्र महानदी यमुना के तट पर एक मकबरा बनने लगा। पहले लाल पत्थर का एक चबूतरा बनाया गया, उस पर संगमरमर का ऊँचा चबूतरा निर्माण किया गया जिसके चारों कोनों पर चार मीनार बनाये गये जो बेतार के तार से चारों दिशा में उस साम्राज्ञी की मृत्यु का समाचार सुना रहे हैं तथा यशोगान करते हैं। शताब्दियाँ बीत गईं। शाहजहाँ कई बार उस ताजमहल को देखकर रोया होगा। मरते समय भी वह सुन्दर सुमन-बुर्ज से शय्या पर पड़ा ताजमहल को देख रहा था।'

जयशंकर प्रसाद

प्रसाद जी ने निबन्ध के क्षेत्र में परिमाण की दृष्टि से अत्यल्प रचना की है। 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' संग्रह में उनके आठ निबन्ध हैं जिनमें शास्त्रीय, सैद्धान्तिक पक्ष तथा काव्य के वादों पर विचार व्यक्त किये गये हैं। इन निबन्धों को हम समीक्षापरक विचारात्मक निबन्ध ही कह सकते हैं। निबन्ध के प्रवाह का इनमें सर्वत्र अभाव है। विचारों और सिद्धान्तों में गूढ़ता को इतने गहरे स्तर पर रखा गया है कि सामान्य अध्ययन वाला पाठक इनके मर्म

को नहीं समझ सकता। कवि प्रसाद की काव्य तथा नाटक रचनाओं को समझने के लिए इन निबन्धों का अनुशीलन आवश्यक है।

इन निबन्धों का प्राक्कथन लिखते हुए पण्डित् नन्ददुलारे बाजपेयी ने लिखा है कि प्रसाद जी दर्शन और इतिहास का समन्वय स्थापित करने के लिए नाट्य तथा काव्य रचना में प्रवृत्त होते थे। मानव जीवन का अन्तः प्रेरणा दर्शन को और बहिर्विकास को इतिहास मान कर वे इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। इन निबन्धों में भी दर्शन, शास्त्र, काव्य, इतिहास, संस्कृति, परम्परा आदि के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में विचारों को प्रस्तुत किया गया है। नाटकों की भूमिकाओं में भी इनके निबन्ध हैं।

भाषा में प्रासादिकता का अभाव है। पदावली प्रायः तत्समप्रधान ही है किन्तु वाक्य-रचना क्लिष्ट और गूढ़ाशयपूर्ण है। संस्कृत वाङ्मय के उद्धरणों से प्रायः सभी निबन्ध आच्छादित हैं। जब तक पाठक को उनके संदर्भ का ठीक-ठीक पता न हो तब तक अर्थ समझने में अवश्य कठिनाई होगी। निबन्ध की दृष्टि से प्रसाद जी को हम सफल निबन्ध लेखक नहीं मान सकते।

'रंगमंच की वाध्य-बाधकता का जब हम विचार करते हैं तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्यवाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं।' (रंगमंच)

सुमित्रानन्दन पन्त

पन्त जी हिन्दी के प्रतिभाशाली, यशस्वी कवि हैं । किन्तु गद्य लेखन उनके कवि जीवन के साथ प्रारम्भ से लगा हुआ है 'पल्लव' की भूमिका का गद्य हिन्दी निबन्ध का सुष्ठु निदर्शन माना जाता है। पन्त जी के गद्य की विशेषता उसका विचार-ग्रथित होना ही है। कविता के समान अलंकृत होने पर भी विचारों की स्पष्टता में कहीं कोई अन्तर नहीं आता। 'गद्यपथ' नाम से पन्त जी के समय-समय पर लिखे हुए निबन्धों का संग्रह है। ये निबन्ध प्रायः अपनी काव्य कृतियों की भूमिका रूप में लिखे गए हैं। संख्या में अधिक न होने पर पन्त जी के निबन्ध एक विशिष्ट शैली के निदर्शन अवश्य हैं। इस प्रकार के निबन्धों में वैयक्तिक तत्त्व न होने पर भी कवि के व्यक्तित्व का प्रच्छन्न प्रभाव अवश्य लक्षित होता है। जितना गद्य पन्त जी ने लिखा है वह इस बात का प्रमाण अवश्य है कि कवि होने पर भी गद्यात्मक रचना में पन्त जी ने अपना स्थान बना लिया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'हम अभी यंत्र का मानवीकरण नहीं कर सके हैं, उसे मानवीय अथवा मानव का वाहन नहीं बना सके हैं, बल्कि वही अभी हम पर आधिपत्य बनाये हुए है। यंत्र युग ने हमें जो शक्ति तथा वैभव प्रदान किया है वह हमारे लोभ तथा स्पर्धा की वस्तु बन कर रह गया है। उसने जहाँ मानव-श्रम के मूल्य को अतिरिक्त लाभ में परिणत कर शोषक-शोषितों के बीच

बढ़ती हुई खाई को रक्त पंकिल विक्षोभ तथा असन्तोष से भर दिया है, वहाँ हमारे भोग-विलास तथा अधिकार लालसा के स्वरों को उकसा कर हमें अविनीत भी बना दिया है।'

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्ध लेखिकाओं में हैं। निबन्ध के क्षेत्र विस्तार के अनुरूप इन्होंने सामाजिक, साहित्यिक संस्करणात्मक तथा विचारात्मक कोटि के निबन्ध लिखे हैं। इनके चार संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'शृंखला की कड़ियाँ' नारी जीवन के सामाजिक पक्ष को उद्घाटित करने वाले ओजमयी भाषा में लिखे अठारह निबन्ध हैं। इनको हम शुद्ध निबन्ध की संज्ञा दे सकते हैं। अतीत के चलचित्र और स्मृति की रेखाएँ संस्मरणात्मक पद्धति के निबन्ध हैं जिन्हें संस्मरण और रेखाचित्र की संज्ञा भी प्रदान की गई है। 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध' में इनके नये-पुराने निबन्धों का संकलन हैं। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' इनकी काव्य पुस्तकों की भूमिकाओं का संकलन हैं।

महादेवी जी के निबन्धों पर विचार करते समय यह प्रश्न सामने आता है कि क्यों उनके संस्मरणात्क लेखों को भी निबन्ध के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए। इतना तो अवश्य कहा जाएगा कि व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों के संस्पर्श से ये लेख इतने मार्मिक और प्रभविष्णु बन गये हैं कि इन्हें वैयक्तिक निबन्ध का सुन्दर रूप मानना ही होगा। भूमिका के रूप में जो सुन्दर विचारात्मक निबन्ध इन्होंने लिखे हैं वे तो हिन्दी गद्य के श्रेष्ठतम निदर्शन हैं। यदि हिन्दी गद्य का तेज, बल, प्राण और प्रवाह इस गद्य में देखा जा सकता है। गम्भीर विचारों के साथ काव्यात्मक छटा से ये निबन्ध जगमगाते नजर आते हैं।

'शृंखला की कड़ियाँ' महादेवी के नारीजनोचित आक्रोश की भावना से परिपूर्ण ओजगुण-प्रधान निबन्ध संग्रह हैं। पुरुष के अत्याचारों से पिसती हुई अबला स्त्री को इन निबन्धों में जिस रूप में चित्रित किया गया है, वह भारतीय नारी की विवश लाचारी का जीवन्त वर्णन है। इतनी प्रखर भाषा में शायद इससे पहले नारी की स्थिति पर किसी नारी ने प्रकाश नहीं डाला। स्मृति की रेखाएँ और अतीत के चलचित्र की मृदुल मोहक शैली से शृंखला की कड़ियाँ सर्वथा भिन्न शैली की रचना है। तत्सम पदावली तो सर्वत्र व्याप्त रहती है किन्तु शब्द चयन इनकी पैठ की सूचक है। वेदना और पीड़ा की अभिव्यक्ति के अनुरूप गूंज वाले शब्द खोल लेना ही इनकी साहित्य साधना का फल है।

'इस समय तो भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिए रंग-बिरंगे पक्षी पाल लेता है, उपयोग के लिए गाय या घोड़ा पाल लेता है, उसी प्रकार वह एक स्त्री को भी पालता है, तथा अपने पालित पशुपक्षियों के समान ही वह उसके शरीर और मन पर अपना अधिकार समझता है।'

'भक्तिन के गोल नथुने कुछ फूल जाते हैं, भृकुटियाँ कुछ कुंचित हो जाती हैं, माथे पर खिंचो रेखाएँ सिमटने लगती हैं और ओठों के आसपास बिखरी झुर्रियाँ उलझ जाती हैं। पर वह उसे चाय देती है अवश्य हाँ, यह सत्य है कि गिलास वही ढूंढ़ निकाल लेती है जिसकी मुरादाबादी कलई के भीतर से पीतल झाँकने लगी है।'

धीरेन्द्र वर्मा

धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा और साहित्य की विविध समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार व्यक्त करने वाले निबन्ध लेखक हैं। उनकी विशेषता है विचार और भाव को स्पष्ट रीति से सरल भाषा में प्रस्तुत करना। जिस किसी विषय पर उन्होंने कलम चलाई है, उसे सामान्य पाठक के लिए भी सुबोध बना दिया है। 'विचारधारा' में संगृहीत उनके निबन्ध पाँच वर्गों में विभाजित किये गये हैं, खोज, हिन्दी प्रचार, हिन्दी साहित्य, समाज तथा राजनीति, आलोचना तथा मिश्रित। वर्मा जी ने अपने निबन्धों की सुसम्बद्धता और अन्विति पर बहुत सुश्रृंखल विचारधारा के कारण निबन्ध का प्रवाह बड़े सहज रूप में चलता रहता है। भारत-ध्यान रखा है। वर्ष की शिक्षापद्धति पर उनके विचार का एक उदाहरण इस कथन का प्रमाण है।

'अपने देश में विचारों का जो इतना अधिक संघर्ष दिखाई पड़ता है, उसके मूल में भी शिक्षा की विभिन्नता ही मुख्य कारण है। अतः देश में तब तक वास्तविक ऐक्य नहीं हो सकता जब तक मूलशिक्षा पद्धति में समानता नहीं होती। एक पुराने ढंग के काशी के पंडित हैं जिनकी शिक्षा का प्रारम्भ रघुवंश और सिद्धान्त कौमुदी से होता है और इस वातावरण से वे कभी बाहर नहीं निकल पाते। दूसरी ओर पंजाब, दिल्ली तथा संयुक्त प्रांत में अब भी ऐसा वर्ग है जो अपने बच्चों की शिक्षा 'अलिफबे' से आज भी प्रारम्भ करता है।'

राय कृष्णदास

राय कृष्णदास की ख्याति विशेषतः उनके गद्यकाव्य के कारण है किन्तु वे बहुत ही सुथरी शैली में निबन्ध लिखते रहे हैं और उच्चकोटि की पत्र-पत्रिकाओं में उनके कई दर्जन श्रेष्ठ निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। उनके निबन्धों का क्षेत्र व्यापक है। कला, साहित्य चिन्तन, गवेषणा, संस्मरण आदि से सम्वद्ध निबन्धों में उनकी विविधता के दर्शन होते हैं। 'राम के बनगमन का भूगोल' उसकी शोधवृत्ति का अच्छा परिचय देता है। 'साधना' यद्यपि गद्यकाव्य की कोटि का ग्रन्थ है किन्तु उसमें गद्य के परिमार्जित एवं प्रांजलरूप का विकास निबन्ध के समतुल्य ही हुआ है। भाव और विचार से सम्बद्ध विषयों पर भी इनके निबन्ध प्रकाशित हुए हैं।

राय कृष्णदास की भाषा तत्समप्रधान, वाक्य सुगठित और शैली प्रवाहमयी है। भावात्मक निबन्धों में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग इनकी विशेषता है। 'धीरे' शीर्षक इनके निबन्ध में जीवनानुभव के आधार पर विचारों की अभिव्यक्ति हुई है।

वियोगी हरि

वियोगी हरि जी हिन्दी साहित्य में ब्रजभाषा के मर्मज्ञ कवि रूप में विख्यात् हैं, किन्तु हिन्दी गद्य निर्माण में भी आपका प्रारम्भ से ही योग रहा है। भावात्मक शैली का गद्य काव्य तो हरि जी ने प्रचुर मात्रा में लिखा है। कई गद्य काव्यात्मक संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनमें भी निबन्ध के पर्याप्त तत्त्व विद्यमान हैं किन्तु अन्तर्नाद और तरंगिणी के कई लेखों को शुद्ध निबन्ध कोटि में भी रखा जा सकता है। विचार-तरंगों में वह जाना और भावावेश में वर्णन करते जाना हरि जी की विशेषता है। भाषा की दृष्टि से वियोगी हरि जी तत्सम को स्वीकार करते हुए भी इसे जड़ता के साथ पकड़े रहने के पक्ष में नहीं है। विषयानुरूप भाषा में परिवर्तन

उनके निबन्धों में देखा जा सकता है। वैष्णव भावना, आस्तिक भाव और मानव प्रेम उनके निबन्धों की आधार भित्ति कही जा सकती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शिष्यों में रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' का नाम निबन्धकार के रूप में उल्लेखनीय है। शिलीमुख ने निबन्ध लेखन का आरम्भ साहित्यिक समीक्षा से किया। प्रेमचन्द और प्रसाद की कृतियों की समीक्षा के लिए लिखे गए शिलीमुख के लेख बहुत ही प्रखर और परामर्शपूर्ण थे। इन निबन्धों का प्रभाव प्रेमचन्द और प्रसाद जैसे कृती साहित्यकारों पर भी पड़ा था, और उन्होंने शिलीमुख के सुझावों के अनुसार अपनी रचना में परिमार्जन करना भी स्वीकार किया था। समीक्षात्मक लेखों के बाद इनका ध्यान मौलिक विषयों की ओर गया और इन्होंने भारतीय संस्कृति, हिन्दूधर्म, भाषा, कला, समाज और साहित्य के विविध पक्षों पर स्वतन्त्र रूप से विचारात्मक निबन्ध लिखे। इनके निबन्ध संग्रह 'शिलीमुखी' कला और सौन्दर्य, निबन्ध-प्रबन्ध नाम से प्रकाशित हैं।

समालोचनात्मक निबन्धों का यह दायित्व है कि वे कृति के यथार्थ रूप को समझने में पाठक की सहायता करें। शिलीमुख जी का 'समालोचक नामा' शीर्षक निबन्ध शैली और मौलिकता को दृष्टि से हिन्दी का एक श्रेष्ठ निबन्ध समझा जाता है। शिलीमुख जी भाषा में तत्समप्रधान शब्दों का प्रयोग करते हैं। किन्तु अंग्रेज़ी के शब्दों का उन्होंने बहिष्कार नहीं किया है। उनके शब्दों को ज्यों-का-त्यों रोमन विधि में रखकर उन्होंने भाव को स्पष्ठ बनाने का प्रयास किया है—

'सामाजिक जीवन का रूप व्यवहार है। शुद्ध ऐकान्तिक आनन्दोद्गार व्यक्ति का साहित्य है। और वह व्यावहारिकता की अपेक्षी नहीं है। परन्तु सामाजिक साहित्य व्यवहार की उपेक्षा कैसे करेगा ? फलतः समवेदना और कल्पना का युग्म, व्यक्ति हृदय के बोझ के साथ उद्गीरक के हृदय का आरोप करता हुआ समाजगत बन्धनों और व्यवहारों के साथ भी अवश्य तादात्म्य तलाश करेगा।'

शिलीमुख जी ने छोटे-छोटे मनबहलाव के विषयों पर वर्णनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। 'शतरंज की पश्चिम यात्रा' उनका लघु निबन्ध है। उसका वर्णन दृष्टव्य है—

'शतरंज का खेल अब यूरोप में बस गया है, और वहाँ के अन्तर्गृह आमादों की एक प्रधान सामग्री है। अंग्रेज़ी खेल में मोहरों के नाम और शायद दो एक चरणों (चालों) के परिवर्तन हो गये हैं, परन्तु मोहरों की संख्या उतनी ही है जितनी भारतीय खेल में। संसार के सबसे अधिक बुद्धिमानी के इस खेल को यूरोप को सिखाने के कारण भारत ही का नहीं, समस्त प्राच्य जगत को अभिमान हो सकता है।'

शुक्ल युग में निबन्ध के सभी प्रकारों में पर्याप्त मात्रा में अच्छे निबन्ध लिखे गए। विषय की दृष्टि से भी इस युग में व्यापक विस्तार हुआ। समीक्षात्मक पद्धति से विश्लेषण और विवेचनपरक निबन्धों का विधिवत् प्रारम्भ इसी युग में हुआ। भावात्मक कोटि के निबन्धकार रायकृष्णदास और वियोगी हरि इस युग में भी निबन्ध लिखने में संलग्न रहे और उनकी शैली में भी निखार आया। संस्मरणात्मक लेख लिखने वाले बनारसीदास चतुर्वेदी का नाम इस युग में उल्लेख्य है। शिकार सम्बन्धी लेख श्रीराम शर्मा ने अच्छी मात्रा में लिखे

और उनमें रोचकता के साथ शैली सौष्ठव का सुन्दर निर्वाह हुआ। हरिशंकर शर्मा और बेढब बनारसी के हास्य-व्यंग्य सम्बन्धी लेख इसी युग में प्रकाश में आये। राजनीति समाजशास्त्र और शिक्षा आदि विषयों पर सम्पूर्णानन्द और नरेन्द्रदेव ने विचारपूर्ण लेख लिखे। साहित्यिक निबन्धकारों में सद्गुरुशरण अवस्थी, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल आदि के सुन्दर निबन्ध प्रकाशित हुए। यात्रा विषयक निबन्धों का भी इस युग में अच्छा प्रचार हुआ और कई सशक्त लेखकों ने इस ओर ध्यान देकर यात्रा लेखों से हिन्दी निबन्ध का भण्डार भरा। यदि इस काल के लेखकों का लेखा-जोखा तैयार किया जाए तो कम-से-कम चार दर्जन लेखक अवश्य मिलेंगे जिनके दर्जनों निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में छपकर सामने आये।

शुक्लयुगीन निबन्ध की सीमा और शक्ति

शुक्ल युग को हिन्दी निबन्ध का उत्कर्षकाल स्थिर किया जाता है। द्विवेदी युग में निबन्ध में विविधता आने पर जड़ता और नीरसता का जो रूप लक्षित होने लगा था उसका इस युग में पूरी तरह परिहार हुआ और निबन्ध ने अपने कलेवर के अनुरूप शैली, विषयवस्तु, भंगिमा, भाषा, प्रसाधन आदि को प्रचुर मात्रा में जुटा लिया। विचारों की सूक्ष्मता के अनुकूल शब्द निर्माण का काम इस युग की सबसे बड़ी देन है। अकेले रामचन्द्र शुक्ल ने ही सौ से ऊपर शब्द शास्त्रीय समीक्षा के सन्दर्भ में प्रस्तुत किये। संस्कृत और अंग्रेज़ी काव्यशास्त्र का मंथन कर ऐसे अनेक शब्द गढ़े गए जो हिन्दी की प्रकृति के भीतर सहज ही रखे जा सकते थे। मनोवैज्ञानिक तथा समीक्षात्मक निबन्धों का जो रूप इस युग में निखार के साथ लक्षित हुआ वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। भाषा में परिमार्जन के साथ प्रौढ़ता भी इसी युग के निबन्धों में आ सकी। यह कहना असंगत न होगा कि निबन्ध का भाषाविषयक दायित्व इसी युग में पूरा हो सका और शुक्ल जैसे समर्थ समालोचक ने भाषा की शक्ति को पहचान कर उसे गरिमा से मंडित बनाया।

निबन्धों में वैयक्तिकता की दृष्टि से भी यह युग पिछले युग से आगे बढ़ गया। शुक्ल जी समालोचक होने के नाते विषयप्रधान निबन्ध ही लिखते रहे किन्तु उनके निबन्धों में भी व्यक्तित्व की छाप इतनी गहरी रहती थी कि कुछ आलोचक उनके भाव और मनोविकार सम्बन्धी लेखों को व्यक्तिप्रधान कहने की भूल कर बैठे। बाबू गुलाबराय इस युग के श्रेष्ठ लेखक हैं जिन्होंने बहुत रोचक तथा सरस निबन्ध शुद्ध व्यक्तिप्रधान शैली में लिखे।

सांस्कृतिक तथा सामाजिक निबन्धों का इस युग में प्रभाव कुछ कम हो गया। यद्यपि समाज के परिवेश को लेखकों ने ग्रहण तो किया किन्तु उसके साथ निबन्ध की सीमाओं का विधिवत् निर्वाह नहीं हुआ। कवि लेखकों ने निबन्ध में काव्यात्मकता का आधान कर उसे नया सौष्ठव प्रदान किया जो द्विवेदी युग में नहीं हो सका था। द्विवेदीयुगीन अनुप्रासमयी भाषा को इस युग के निबन्धकारों ने छोड़कर प्रवाह और प्राजंलता का स्थान दिया। संक्षेप में, हिन्दी निबन्ध के इतिहास में यह युग निबन्ध का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

वर्तमान युग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निबन्ध शैली का उनके समसामयिक तथा परवर्त्ती निबन्धकारों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। आलोचनात्मक तथा विचारात्मक निबन्धों की

परम्परा में बहुत ही उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध इस युग में लिखे गए। शुक्ल जी के विद्यार्थियों में कई प्रतिभाशाली लेखक निबन्ध के क्षेत्र में आये जिनमें नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का उल्लेखनीय हैं। व्यक्तित्व के मोहक संस्पर्श से सांस्कृतिक, साहित्यिक और समीक्षात्मक निबन्ध लिखने वाले कई और लेखक भी इस युग में अवतरित हुए, उनमें हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, वासुदेवशरण अग्रवाल, विनयमोहन शर्मा आदि प्रमुख हैं। निबन्ध का स्वतन्त्र चिन्तन पद्धति से भी इस युग में विकास हुआ और सुप्रसिद्ध कहानीकार जैनेन्द्रकुमार, सच्चिदानन्द वात्स्यायन, दिनकर, देवराज उपाध्याय प्रभृति लेखकों ने मौलिक विचारों से निबन्ध को पुष्ट किया। प्रगतिवादी दृष्टि से जीवन और साहित्य का अनुशीलन करने वाले विचारक और लेखक भी इस युग में सक्रिय रूप से निबन्ध लेखन में प्रवृत्त हुए। उनमें यशपाल, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदानसिंह चौहान प्रमुख हैं। व्यक्तिपरक श्रेष्ठ निबन्धकारों में नयी पीढ़ी के लेखक विद्यानिवास मिश्र, शिवप्रसाद सिंह ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। आलोचनात्मक निबन्ध लेखकों की तो इस युग में लम्बी शृंखला है। सत्येन्द्र, देवराज उपाध्याय, नामवरसिंह, विजयेन्द्र स्नातक, इन्द्रनाथ मदान, बच्चन सिंह, भगीरथ मिश्र, रघुवंश, कन्हैयालाल सहल आदि के उत्तम कोटि के निबन्ध प्रकाशित हुए हैं।

संक्षेप में, इस युग में निबन्ध की विषय सीमा के विस्तार के साथ व्यक्तित्व की छाप उत्तरोत्तर गहरी हुई और साहित्यिक समालोचना को निबन्ध का आत्मीयता से संयुक्त किया गया। व्यक्तिपरक निबन्धों में संस्कृति-साहित्य और दर्शन को बड़ी सुष्ठु शैली से समाविष्ट कर रोचक बनाकर रखा गया। विचार-विमर्श का पूरी क्षमता के साथ इसी युग के निबन्ध में स्थान प्राप्त हुआ। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के धरातल पर निबन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य चिन्तन व्यापक परिवेश में ग्रहण किया गया। राजनीति और समाजशास्त्र के साथ साहित्य को सम्बद्ध करने के लिए भी निबन्ध का उपयोग इस युग में कई लेखकों ने बड़ी सफलता के साथ किया।

नन्ददुलारे वाजपेयी

वाजपेयी जी ने समीक्षा द्वारा साहित्यिक जगत में प्रवेश किया। निबन्ध को उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताओं के आलोक में कवि और काव्य कृतियों का मूल्यांकन किया। रसवाद का मौलिक सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उसे संकीर्ण परिधि में रखना उचित नहीं समझा। शास्त्रीय आग्रह का वह रूप उनके निबन्धों में नहीं जिसे जड़ता की संज्ञा दी जा सके। उन्होंने मानव चेतना और संवेदना को आधार बनाकर काव्य कृतियों को परखने की चेष्टा की है। नैतिकता के स्थान पर उनकी दृष्टि सौन्दर्यबोध के सूक्ष्म पक्ष ही टिकती है। इसी कारण उन्हें सौष्ठववादी आलोचक कहा जाता है। उनके चार निबन्ध संग्रह तथा जयशंकर प्रसाद और निराला शीर्षक से प्रकाशित हुए है। इन निबन्धों में उनकी प्रांजल, प्रवाहपूर्ण और सशक्त भाषा की छटा सर्वत्र देखी जा सकती है। उन्होंने भावाभिव्यक्ति में भावुकता या भावावेश को कहीं स्वीकार नहीं किया वरन् जिन लेखकों ने इस शैली में छायावाद युग की समीक्षा लिखी थी उन पर

उन्होंने प्रहार किया है। स्वतन्त्र गद्य काव्य लिखने वालों को समालोचक कहना उन्हें कभी अच्छा नहीं लगा।

वाजपेयी जी ने सौष्ठववादी दृष्टि से काव्य कृतियों की समीक्षा करते हुए अभिव्यक्ति के अपूर्व सामर्थ्य का परिचय दिया है। उनके भाषाणों में कहीं-कहीं ओजगुण की गूंज अवश्य देखी जा सकती है, किंतु निबन्धों में सन्तुलित वाग्धारा का ही प्रवाह मिलता है। विचारात्मक एवं समीक्षात्मक कसौटी पर वाजपेयी जी के निबन्ध खरे उतरते हैं, इनमें केवल आलोचक का धर्म ही नहीं निबन्ध का वर्चस्व भी है। गूढ़-गम्भीर विचारों की अभिव्यक्ति का निबन्ध सफल माध्यम है, इसके प्रमाण वाजपेयी जी के चिन्तनपूर्ण साहित्यिक निबन्ध हैं। (आधुनिक साहित्य, हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी)

हजारीप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य क्षेत्र में इतिहासकार के रूप में प्रवेश किया। किन्तु हिन्दी साहित्य की भूमिका प्रवृत्तियों और वृत्तों का संग्रह न होकर इतिहास की परम्परा और चेतना के मूल उत्स का सन्धान प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। इसके बाद 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' से भी गद्यकार के रूप में उन्हें शैली निर्माता का यश मिला। आलोचना भी उनका क्षेत्र है किन्तु मौलिक चिन्तनपूर्ण निबन्ध उनकी ख्याति के अनन्यतम कारण हैं।

साहित्य, संस्कृति और भाषा की समस्याओं पर उन्होंने दर्जनों श्रेष्ठ निबन्ध लिखे और उनमें व्यक्तित्व की अमिट छाप लगा कर इतना रोचक और आह्लादक बना दिया कि 'अशोक के फूल' 'विचार और वितर्क' 'कल्पलता' 'मध्यकालीन धर्मसाधना' 'कुटज' आदि निबन्ध संग्रहों को हिन्दी निबन्ध की अक्षम निधि समझा जाता है।

निबन्धों में विषयानुसार शैली का प्रयोग करने में द्विवेदी को अद्भुत क्षमता प्राप्त है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ठेठ ग्रामीण जीवन के शब्दों का प्रयोग इनकी शिल्प का गुण बन गया है। भावावेश, भावुकता, भावात्मकता, व्यंग्यात्मकता और वक्रतात्मकता आदि विभिन्न शैलियों पर असाधारण अधिकार होने के कारण आप किसी एक शैली से बँधे रहना पसन्द नहीं करते। संस्कृत के शब्दों के निर्माण की कला तो बाणभट्ट की आत्मकथा में देखी जा सकती है किन्तु उसकी बानगी इनके निबन्धों में भी निखरी हुई है। ओज और वर्चस्व से ओतप्रोत शैली में इनके अनेक निबन्ध मिलते हैं—जिनमें चित्रात्मकता के द्वारा भावों को मूर्त किया गया है। गांधी जी के बलिदान पर इनका निबन्ध पठनीय है—

'इतिहास ने इतनी क्षीण काया में इतना बड़ा प्राण नहीं देखा था, मनुष्यता ने इतना बड़ा विनयोल्लास कभी अनुभव नहीं किया था। वह हँसता हुआ आया, रुलाता हुआ चला गया। तपस्या का शुभ्र हिमालय गल गया, सारा संसार उस शीतल वारिधारा से आर्द्र है। संसार के इस कोने से उस करने तक एक ही मर्मभेदी आवाज़ आ रही है—वह चला गया, गांधी चला गया।'

सांस्कृतिक तथा समीक्षात्मक निबन्धों में द्विवेदो जी विषय की पृष्ठभूमि को स्पर्श किये बिना नहीं चलते। पुराण, धर्म, दर्शन सभी कुछ ऐसी सरलता से उनके निबन्धों में में समन्वित हो जाते हैं कि पाठक विस्मय विमुग्ध हुए बिना नहीं रहता। चिन्तन-मनन की

प्रचुर सामग्री के साथ पुरातत्त्व का रिक्थ तथा विविध सूचनाओं का भण्डार भी उनके निबन्धों में रहता है, अतः द्विवेदी जी को हल्की-फुल्की शैली का निबन्धकार नहीं कहा जा सकता। व्यक्तित्व की छाप के साथ गूढ़-गम्भीर को सुबोध शैली में रखना ही इनकी विशेषता है। अशोक-के फूल आपका निबन्ध-शैली का सुन्दर निदर्शन है। अशोक के फूल को मेरुदंड बनाकर लेखक ने भारतीय संस्कृति, साहित्य और जातीय जीवन की मोहक झाँकी प्रस्तुत की है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

द्विवेदी जी को छायावाद का समर्थ समालोचक ठहराया जाता है। प्रभाववाद शैली से अपनी मान्यताओं को गद्यकाव्य के शिल्प में प्रस्तुत करने के कारण इनके निबन्ध साहित्य-समीक्षा से ही सम्बद्ध हैं और उनमें विचार-सरणि भी एक विशिष्ट प्रभाव से आक्रान्त है, अतः एकांगी होने से इन्हें अलग रखने की बात कुछ समीक्षकों ने कही है। द्विवेदी जी के लगभग एक दर्जन निबन्ध संग्रह पुस्तकाकार प्रकाशित हुए है, जिसमें संचारिणी, साहित्यिकी, सामयिकी, कवि और काव्य, युग और सामयिकी, कवि और काव्य युग और साहित्य जीवन यात्रा धरातल, पथचिह्न, हमारे साहित्य निर्माता प्रसिद्ध हैं।

द्विवेदी जी के निबन्धों में भावोच्छ्वसित शैली का इतना प्राधान्य है कि यह प्रायःविचार तत्त्व से आवृत्त हो उठी है इन्होंने शनैः शनैः अपनी स्वतन्त्र शैली का निर्माण कर लिया और परिव्राजक की कथा और पथचिह्न तक आते-आते श्रेष्ठ निबन्धकार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए।

जैनेन्द्र कुमार

हिन्दी निबन्धकारों में जैनेन्द्र जी का विशिष्ट स्थान है। कहानी और उपन्यास में में इनकी जो गद्यशैली विकसित हुई उसे निबन्ध में पूरा निखार मिला, इसलिए विचार और तर्क के धरातल पर इनके निबन्ध बड़े खरे उतरते हैं। जैनेन्द्र जी मूलतः विचारक हैं। चिन्तन शैली में बोलना, लिखना इनका स्वभाव हो गया है। सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न होने से विषय के अन्तर में पैठने की क्षमता इनमें भरपूर है। कभी-कभी तो विचार को एक सिरे से पकड़ कर उसे दूसरे छोर तक ले जाते हैं जहाँ उसका सन्धान कर पाना साधारण पाठक के लिए दुष्कर हो जाता है। जैनेन्द्र जी के अब तक छोटे-बड़े लगभग एक दर्जन निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें जड़ की बात, साहित्य का श्रेय और प्रेय, सोच-विचार, मंथन, ये और वे, दो चिड़िया, पूर्वोदय, इतस्ततः, प्रस्तुत प्रश्न परिप्रेक्ष्य, जैनेन्द्र के विचार (सम्पादित) अधिक प्रसिद्ध हैं।

निबन्धकार के रूप में जैनेन्द्र की उपलब्धि केवल विचार और भाव के क्षेत्र में नहीं वरन् नूतन विषयानुशीलन तथा अभिव्यंजना शैली में भी है। दार्शनिक के रूप में जैनेन्द्र ने जो निबन्ध लिखे हैं उनमें कुछ दुरूहता अवश्य है किन्तु जब सामान्य बोलचाल की भाषा में वह लिखने लगते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे ड्राइंगरूम में बैठे हुए किसी विचार से हम कोई संवाद सुन रहे हों।

नवीन विषयों की खोज करना और निबन्ध के कलेवर में उन्हें जड़ देना जैनेन्द्र की अपनी कला है। निरा बुद्धिवाद, दूर और पास, विसर्जन की शक्ति, सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श, आप क्या करते हैं आदि निबन्ध उनके विलक्षण विषय चयन के परिचायक हैं। विषयचयन में ही नहीं, भाषा, भाव और अभिव्यंजना में भी एकदम नये हैं—मौलिकता ही

उनकी उल्लेख्य विशेषता है। खड़ी बोली हिन्दी को उर्दू के प्रचलित तथा व्यावहारिक रूप के साथ जोड़कर बातचीत के लहज़े में प्रस्तुत करने का कौशल जैनेन्द्र जी की अपनी शैली बन गई है। वाक्य छोटे-छोटे और अपने विन्यास की विचित्रता के कारण मोहक लगते हैं। कभी-कभी तो इनके निबन्ध पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि एक प्रश्न या समस्या को लेकर जैनेन्द्र जी अन्तर्मन में उसका मन्थन कर रहे हैं और जो शंका-संदेह उत्पन्न होते हैं उनका समाधान खोजने में भी तत्पर हैं। इसीलिए प्रश्न और उत्तर का झमेला भी कभी-कभी इनके निबन्धों में लक्षित होगा। समस्या के मूल में पैठने की जैनेन्द्र में अद्‌भुत क्षमता है। भाषा में बोलचाल को कायम रखने के कारण वाक्य विन्यास में हेरे-फेर तो खूब करते हैं, यहाँ तक कि व्याकरण के शासन को जड़मान कर छोड़ देते हैं। जैनेन्द्र हिन्दी के चिन्तनशील श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। जैनेन्द्र जी निबन्ध शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'मैं जब तक हूँ, मेरे लिए इतर भी है। अर्थात् 'मैं' द्वैत में ही तो सकता हूँ। दूसरी उपमा नहीं हूँ। होना मात्र खंडित है। कुछ शेष से अलग किया जा सकता है इसी अर्थ में वह हो सकता है। यह अलगपन अन्त में माना हुआ ही तो है। इस तरह सब होना असत् हो जाता है, भवबाधा बन जाता है। मानो काल यही सिद्ध करता है। जिसको देखते हैं कि है देखते-देखते वही अगले क्षण हमारे लिए हुआ हो जाता है।'

रामधारी सिंह दिनकर

दिनकर कवि के रूप में विख्यात् हैं किन्तु उनका एक प्रबल रूप विचारक का भी है। 'संस्कृति के चार अध्याय' पुस्तक में दिनकर की मौलिक चिन्तन पद्धति का सुथरा रूप देखा जा सकता है। दिनकर ने कविता के साथ गद्य को भी अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और कई दर्जन श्रेष्ठ निबन्ध लिखे। उनके निबन्ध संग्रहों में अर्द्धनारीश्वर, माटी की ओर, रेती के फूल, हमारी सांस्कृतिक एकता, प्रसाद, पन्त और मैथिलीशरण गुप्त, राष्ट्र भाषा और राष्ट्रीय साहित्य अधिक प्रसिद्ध हैं।

दिनकर की विचारक दृष्टि इन निबन्धों में इतनी प्रखर है कि छोटी-छोटी समास्याओं की लेखक ने गहराई से पकड़ा है उनका समाधान ढूँढने का प्रयत्न किया है। भाषा में ओज, तेज, रवानगी, और जिन्दादिली रखना तो उनके स्वभाव का धर्म है। उर्दू, अरबी, फारसी, अंग्रेज़ी के शब्द बेखटके निबन्धों में चले आते हैं। दिनकर उनका स्वागत करते हैं और उनका निर्वाह करना भी जानने हैं। रेती के फूल में उनके निबन्धों का व्यक्तिपक्ष भी देखा जा सकता है। दिनकर अपने निबन्धों में विवेचक-विश्लेषक होते हुए भी भावुकता से दूर नहीं जाते। कवि की कल्पना भले ही इन निबन्धों में न दीख पड़े किन्तु कवि हृदय की मार्मिकता और भावुकता इनमें भी ओतप्रोत है।

रामवृक्ष बेनीपुरी

बेनीपुरी जी के निबन्ध संस्मरणात्मक तथा भावात्मक कोटि के हैं। किन्तु शैली-वैशिष्ट्य के कारण हिन्दी के निबन्धकारों में इनका उल्लेख अनिवार्य है। रेखाचित्रों को यदि निबन्ध विधा का विकास ही माना जाए तो बेनीपुरी श्रेष्ठ रेखाचित्र प्रस्तुत करने वाले निबन्धकार माने जायेंगे। 'माटी की मूरतें' हिन्दी में रेखाचित्र विधा का श्रेष्ठ निदर्शन

माना जाता है। 'गेहूँ और गुलाब' भी अपनी सांकेतिकता के कारण अनूठा निबन्ध संग्रह बन गया है। जेल-जीवन के संस्मरण के रूप में लिखे हुए इनके लेख 'जंजीरें और दीवारें' नाम से छपे हैं।

भाषा और अभिव्यंजना में बेनीपुरी जी ने अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रखा है और इनके निबन्धों को पढ़कर जो पाठक के मन में उभरता है, वह विशिष्ट शैली वाला व्यक्ति बेनीपुरी का ही होता है। उर्दू फारसी के शब्दों के साथ अनगढ़ भोजपुरी भी यदि बीच-बीच में आ जाए तो लेखक उसे सहर्ष स्वीकार करता है।

नगेन्द्र

शुक्लोत्तर युग में सबसे अधिक समर्थ समालोचकों में नगेन्द्र की गिनती की जाती है। दो समीक्षात्मक पुस्तकों के बाद नगेन्द्र निबन्ध के क्षेत्र में अवतरित हुए और अब तक इनके पाँच निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन, विचार विश्लेषण, अनुसन्धान और आलोचना, कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ हिन्दी जगत् में प्रसिद्ध हैं।

नगेन्द्र जी के निबन्धों का विषय तथा शैली की दृष्टि से वर्गीकरण करने पर भी उनमें वैविध्य लक्षित होता है। निबन्ध की शुद्ध शैली में लिखे गए निबन्धों को हम विचारात्मक संज्ञा से ही अभिहित कर सकते हैं। विचारात्मक कोटि के अन्तर्गत ही साहित्यिक, समीक्षात्मक, सैद्धान्तिक, गवेषणात्मक निबन्ध रखे जा सकते हैं। मिश्रित शैली में लिखे गए निबन्धों में स्वप्नशैली, आत्मकथा शैली, संस्मरण शैली, संवाद शैली, पत्रात्मक शैली तथा तुलनात्मक शैली के निबन्ध आते हैं। निबन्धों में विषय प्रतिपादन करते समय नगेन्द्र जी अनुभूति को प्रमुख स्थान देते हैं और विचारों को भी वे अनुभूति के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। जितना समय वे विचार और अनुभूति को पचाने के लिए लेते हैं उतना शायद कोई अन्य हिन्दी लेखक नहीं लेता। एक ही विषय को अनेक पहलुओं से देखने-परखने के बाद उस पर लिखने का उपक्रम करते हैं और लिखते समय एक-एक शब्द को तौलते हैं। आलोचनात्मक निबन्धों में भी उनका विचारपक्ष अनुभूति से संश्लिष्ट होकर आता है, इसी कारण प्रामाणिक एवं ग्राह्य प्रतीत होने लगता है।

निबन्ध का विशिष्ट गुण निजीपन या व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व की गहरी छाप नगेन्द्र जी के निबन्धों में है। अतः वे केवल विचार प्रधान न रहकर स्वतन्त्र-स्वच्छन्द चिन्तन के धरातल पर आ जाते हैं। रसवादी सिद्धान्त में अटूट आस्था रखने के कारण उनके निबन्ध भी रससिक्त होकर ही प्रगट हुए हैं, शुष्क विचार, तर्क और प्रमाण से आच्छन्न नहीं हैं। जिन निबन्धों में साहित्यिकवाद या सिद्धान्त का विवेचन हुआ है, उनमें गम्भीर वातावरण सर्वत्र व्याप्त रहता है। किन्तु गम्भीर वातावरण की एकरसता-मोनोटनी-को दूर करने के लिए भावात्मकता की सृष्टि करने की विलक्षण चातुरी उनके पास है। व्यंग्य, हास्य और विनोद के सरस वातावरण की सृष्टि द्वारा वे इस प्रकार के एकरसता को सहज ही दूर कर देते हैं। स्वानुभूति, घटना के नियोजना से, प्रासंगिक सन्दर्भों के उल्लेख से, जगत्-जीवन के विविध व्यापारों से ऐसे प्रसंग

चुन लेते हैं कि पाठक गूढ़-गम्भीर सिद्धान्त को हृदयंगम करने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं करता।

सामान्यत: नगेन्द्र जी गम्भीर और चिन्तनपूर्ण निबन्धों के स्रष्टा हैं किन्तु कुछ निबन्धों में उनके सहज विनोदी स्वभाव की उत्फुल्लकारी छटा भी आ गई है। शैली में नवीनता लाने के लिए भी उन्होंने कुछ प्रयोग किए हैं जो अत्यन्त रोचक एवं सफल सिद्ध हुए। केशव का आचार्यत्व, यौवन के द्वार पर, हिन्दी उपन्यास, वाणी के न्याय मन्दिर में इस शैली के सुष्ठु उदाहरण हैं। कुछ संस्मरणात्मक लेख भी अत्यन्त मार्मिक एवं मनोरंजक शैली में लिखे हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल

सांस्कृतिक विषयों पर निबन्ध लिखने वालों में वासुदेवशरण अग्रवाल का नाम अन्यतम है। पुराण, इतिहास, धर्म, दर्शन और पुरातत्त्व को उपजीव्य बनाकर भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों का उद्‌घाटन जितना अधिक इन्होंने किया है उतना निबन्ध के माध्यम से किसी और लेखक ने नहीं किया। सांस्कृतिक विषयों पर लिखते समय इनका दृष्टिकोण परम्परावादी न होकर तर्कसम्मत वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लेकर चलता है। यही कारण है कि इनके निबन्धों में आर्य रचनाओं की छाया के साथ नूतनता का पूरा समाहार रहता है। अपने निबन्धों में भारतवर्ष का, अतीत और गौरवगाथा के साथ ऐतिहासिक दृश्यों, व्यक्तियों और विवरणों का, बड़ा ही जीवन्त शैली से चित्रण किया है। पृथ्वीपुत्र, कला और संस्कृति, माता-भूमि आदि संकलन इनके श्रेष्ठ निबन्धों के परिचायक हैं।

प्राचीन कला और संस्कृति की व्याख्या करते समय इनकी भाषा में वैदिक शब्दों का प्रयोग बड़ा ही सुष्ठु शैली से पाया जाता है। आर्ष शब्दों के प्रति जैसा इनका मोह है वैसी उन्हें प्रयुक्त करने की क्षमता भी आप में है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने आधुनिक भारत के कला मर्मज्ञों के सम्बन्ध में भी वर्णनात्मक निबन्ध लिखे हैं किन्तु इन वर्णनों में व्यक्ति के माध्यम से कला की आत्मा में पैठने का पूरा प्रयास दृष्टिगोचर होता है। निबन्धों की भाषा तत्सम, सरल और प्रवाहपूर्ण होती है।

आधुनिक हिन्दी गद्य शैली को अपने उपन्यासों तथा निबन्धों से सप्राण बनाने वाले लेखकों में श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' नाम मूर्धन्यपर है। सम्प्रति पत्रकारिता के माध्यम से भी आप गद्य विधा की समृद्धि में योग दे रहे हैं। 'प्रतीक' के सम्पादन काल में भी परिष्कृत गद्य को प्रोत्साहित करने वालों में थे। इनके तीन निबन्ध संग्रह, त्रिशंकु, आत्मने पद और अरे यायावर रहेगा याद—प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें अन्तिम संग्रह नई शैली की सुन्दर यात्रा विवरण पुस्तक है।

अज्ञेय के साहित्य—समीक्षा विषयक निबन्ध विचारात्मक कोटि में आते हैं। आत्मने-पद में कुछ व्यक्तिपरक श्रेष्ठ निबन्ध भी हैं जिनमें लेखक ने साहित्य और संस्कृति के सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ व्यक्त की हैं। अपने से पूछे गए प्रश्नों के उत्तर भी इस संग्रह में पठनीय हैं। यद्यपि उन्हें निबन्ध नहीं कहा जा सकता, फिर भी उनमें विषय प्रतिपादन की विलक्षण समर्थ शैली मिलती है। अज्ञेय के व्यक्तित्व की छाप त्रिशंकु तथा आत्मने पद दोनों संग्रहों में हैं किन्तु शब्दों को यथास्थान रखने एवं सन्दर्भानुकुल चयन करने की क्षमता देखनी हो तो इनके

उपन्यासों में देखी जा सकती है। निबन्ध को व्यंजक बनाने के लिए उन्होंने उर्दू-अंग्रेज़ी के शब्द भी इनमें प्रयुक्त किए हैं। वैसे अधिकांशतया तत्सम शब्दावली का ही प्रयोग है।

इलाचन्द्र जोशी ने हिन्दी गद्य की समृद्धि के लिए लेख, निबन्ध, उपन्यास आदि अनेक विधाओं को स्वीकार किया है। पत्रकार के रूप में भी सम्पादकीय टिप्पणियाँ और लघु लेख लिखे हैं। जोशी जी के आधे दर्जन निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें विवेचना, साहित्य सर्जना, विश्लेषण, देखा परखा आदि पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। जोशी जी के प्रारम्भिक लेख हिन्दी जगत में चर्चा के पर्याप्त विषय बन चुके थे। साहित्यिक विषयों पर लिखे गए। विचार और वितर्क को प्रमुख स्थान मिला है। जिस रूप में जोशी जी सोचते हैं, उसी रूप तथा शैली को अक्षुण्ण रखते हुए उसे व्यक्त भी करते हैं। उनका मत है कि जब तक कोई लेख अवचेतन मन के छाया स्वप्नों को सचेतन मन की निहाई पर रखकर विवेक के हथौड़े की चोटों से उनका नव—निर्माण नहीं करता तब तक वह वास्तविक अर्थ में साहित्य निर्माता नहीं हो सकता और न उसका कच्ची अवस्था में दिया हुआ साहित्य पदार्थ स्वस्थ और मांगलिक हो सकता है।

पाश्चात्य मनोविश्लेषण शास्त्र को दृष्टि में रखकर जिस प्रकार इन्होंने उपन्यासों की सृष्टि की है उसी प्रकार इनके लेखों और निबन्धों में भी उनकी वही पृष्ठभूमि रहती है। जोशी जी ने समीक्षात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। व्यक्तिपरक निबन्ध इनके नहीं मिलते। भाषा यों तत्समप्रधान मानी जाएगी, किन्तु उर्दू, अंग्रेज़ी के शब्दों का उपयोग सहज रूप में कर लेते हैं।

सुप्रसिद्ध उपन्यासकार यशपाल ने व्यंग्य शैली में कुछ यथार्थवादी निबन्ध लिखे हैं। उनके कई निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं। चक्कर क्लब, देखा, सोचा समझा, बात बात में बात, गांधीवाद की शव-परीक्षा, न्याय का संघर्ष आदि ये संकलित उनके लेख पत्रकारिता के अच्छे निदर्शन हैं। वस्तुतः वे कई पत्र पत्रिकाओं में विशेष स्तम्भ लिखते रहे, वहीं से उन्हें निबन्ध की प्रवृत्ति हुई। उनके निबन्धों में राजनीतिक आग्रह के साथ-साथ एक प्रतिबद्ध दृष्टि है, जो उन्हें तटस्थ नहीं रहने देती। यदि वस्तुपरक दृष्टि से वे विषय का प्रतिपादन करें तो उनकी सहज व्यंग्यभरी शैली अत्यन्त सफल सिद्ध होगी। कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थन का जितना आग्रह उनके प्रारम्भिक उपन्यासों और कहानियों में था उतना ही इन निबन्धों में भी। भौतिकवादी दृष्टि के कारण सामाजिक असमानता, शोषण और अत्याचार को प्रस्तुत करने का कोई न कोई रूप यहाँ भी ढूंढ लेते हैं। सामान्यतः निबन्ध के कलेवर में वह सम्पूर्ण कथ्य समाता नहीं है, किन्तु पूर्वाग्रह और विचार शैली के कारण वे इसका उपयोग तो करते ही हैं।

प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रगतिशील विचारों के साथ हिन्दी में आए। व्यवसाय से अंग्रेज़ी के अध्यापक होने पर भी हिन्दी में समीक्षात्मक लेख लिखना इन्होंने तीस वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया था। समाज के संगठन को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिखने की ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं हुई वरन् इन्होंने समाज और साहित्य में गहरा सम्बन्ध मानकर समाज को प्रगतिशील बनाने और विचारों में सबलता लाने के लिए प्रगतिवादी दृष्टि का अपने लेखों में समर्थन किया।

जीवन को साहित्य के माध्यम से परिवर्तित करने का स्वप्न प्रत्येक प्रगतिवादी लेखक देखता है। निबन्धों में भी इस प्रकार के विचार देखने को सहज ही में मिल सकते हैं। गुप्त जी अब भी यदाकदा लिखते रहते हैं। कम लिखने पर भी केवल निबन्ध, रेखाचित्र और स्केच लिखने के कारण इनका नाम निबन्धकारों में परिगणित होता है। नया हिन्दी साहित्य, एक भूमिका, साहित्यधारा, रेखाचित्र और पुरानी स्मृति इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। गुप्त जी सरल सुबोध भाषा के पक्षपाती हैं। अंग्रेज़ी की सही छाप तो कहीं-कहीं दिखाई देगी किन्तु भोंडा अनुवाद या कृत्रिम शब्द विन्यास कहीं नहीं मिलेगा।

रामविलास शर्मा प्रगतिवादी विचारधारा के पोषक तथा साहित्य, समाज आदि विषयों के निबन्ध लेखक हैं। इनके निबन्ध संग्रहों में प्रगति और परम्परा, साहित्य और संस्कृति, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, प्रेमचन्द, भारतेन्दु युग आदि रचनाएँ पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। व्यवसाय से अध्यापक होने के कारण आधुनिक युग की पाश्चात्य चेतना से शर्मा जी पूरी तरह परिचित हैं। मार्क्सवादी विचारधारा के पोषक होने के कारण प्रगति को उसी दृष्टि से आंकते हैं। भारतेन्दु, प्रेमचन्द और निराला विषयक इनके लेख इसी कारण एकपक्षीय अधिक हो गए हैं।

भारतीय साहित्य एवं भाषा का इनके निबन्धों में प्रबल रूप से समर्थन मिलता है। व्यंग्यात्मक शैली से सीधे और प्रखर कटाक्ष करने में भी इनका पक्षपात उभर आता है। पूंजीपतियों तथा सामन्ती भावनाओं का इन्होंने बड़ी शसक्त शैली में अपने निबन्धों में खण्डन किया है।

शिवदान सिंह चौहान प्रगतिवादी के उन समर्थकों में हैं जिन्होंने निबन्ध के क्षेत्र में सबसे पहले प्रगतिशील एवं प्रगतिवादी विचारधारा का सूत्रपात किया। प्रेमचन्द ने अपने सभापति के पद से दिए गए भाषण में जिस प्रगतिशीलता का उल्लेख किया था उसे पूरी तरह से शिवदानसिंह ने अपने निबन्धों में स्थान दिया। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कारण इनके निबन्धों में भी पक्षधरता तो रहती ही है किन्तु विवेचन-विश्लेषण में तर्क सम्मति पद्धति का त्याग नहीं करते। गम्भीर एवं चिन्तनपूर्ण विचारसरणि के द्वारा प्रतिपाद्य विषय को खड़ा करते हैं। साहित्यानुशीलन, प्रगतिवाद, हिन्दी के अस्सी वर्ष इनकी सुप्रसिद्ध गद्य कृतियाँ हैं।

लोक साहित्य के गवेषक सत्येन्द्र ने हिन्दी साहित्य में प्रवेश निबन्ध के माध्यम से ही किया था। उन्होंने अब से तीस वर्ष पूर्व निबन्ध और समीक्षा द्वारा साहित्य जगत में पदार्पण किया और समसामयिक कवियों तथा लेखकों की समीक्षा लिखकर अपना स्थान बनाया। इनके निबन्धों में वैयक्तिकता का अभाव होने पर भी प्रतिपादन में वैज्ञानिकता और गम्भीरता रहती है। इनके निबन्ध संग्रहों में कला, कल्पना और साहित्य, साहित्यिकी झाँकी, सभी समीक्षात्मक निबन्ध आदि प्रसिद्ध हैं। शुक्लोत्तर युग में जिन निबन्ध लेखकों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट हुआ उनमें सत्येन्द्र का भी नाम है।

विनय मोहन शर्मा ने आलोचना द्वारा निबन्ध क्षेत्र में पदार्पण किया। पाश्चात्य एवं भारतीय काव्यशास्त्र के प्रकाश में उन्होंने अपने समसामयिक कलाकार की आलोचनाएँ लिखीं

और काव्य सिद्धान्तों पर भी निबन्ध लिखे। साहित्यावलोकन, दृष्टिकोण, साहित्य, शोध, समीक्षा उनके निबन्ध संग्रह हैं। इनके निबन्धों में कहीं-कहीं तुलनात्मक दृष्टि भी उपलब्ध होती है। भाषा में स्पष्टता और सुबोधता को इन्होंने सर्वत्र स्थान दिया है। पांडित्य प्रदर्शन के लिए क्लिष्ट और कृत्रिम भाषा से सदैव बचकर निबन्ध लिखे हैं। अध्यापकीय दृष्टि समन्वित होने से निबन्धों की सीमाएँ हैं और प्रायः उन्हीं सीमाओं में रहकर निबन्ध लिखे गए हैं।

डॉ० देवराज उपाध्याय हिन्दी के उन निबन्ध लेखकों में हैं जो साहित्य की क्रान्ति को निरन्तर ध्यान में रखते हुए, उसका निबन्ध के माध्यम से आकालन करते हैं। उनके पाँच निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें विचार के प्रवाह, साहित्य तथा साहित्यकार कथा के तत्त्व और साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन उल्लेख्य हैं। बचपन के दो दिन तथा जवानी के दिन उनके चिन्तन-मनन और अध्ययन के प्रमाण और सुष्ठु शैली के निदर्शन हैं किन्तु आत्मकथात्मक होने से इन्हें निबन्ध नहीं माना जा सकता। डॉ० उपाध्याय प्रखर मेधावाले आलोचक हैं। रचना को प्रेरित करनेवाली मूल प्रेरणा को पकड़ने में वे कभी भूल नहीं करते। उनके निबन्ध में अधिकांश आलोचनात्मक हैं जो समसामयिक कथा उपन्यास तथा काव्य से सम्बद्ध हैं। कथा साहित्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठिभूमि का उन्होंने बड़ी गम्भीरपूर्वक अध्ययन किया है। कविता, आलोचना, उपन्यास, कहानी आदि साहित्यविधाओं पर भी उन्होंने विचारपूर्ण निबन्ध लिखे हैं, जिनमें सिद्धान्त का प्रतिपादन शास्त्र के आधार पर न करके स्वानुभूत ज्ञान के आधार किया गया है। इसी कारण ये निबन्ध मौलिक हैं। इनके निबन्धों में आंग्ल साहित्य के विचारकों के मतों का स्थान-स्थान पर उल्लेख करके लेखक ने अपने अध्ययन का सच्चा परिचय दिया है। निबन्धों की भाषा प्रांजल है। उर्दू के शब्दों का बड़ी सावधानी के साथ साभिप्राय प्रयोग इनमें मिलता है।

प्रभाकर माचवे कवि, उपन्यासकार-निबन्धकार और रेखाचित्र लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। यदि उनका यथार्थ सफल रूप देखना हो तो वह उनके व्यंग्यपरक निबन्धों में ही मिल सकता है। कलाकार की व्यापक दृष्टि उनके पास है, अतः सभी प्रकार की रचनाओं में व्यापकता और विस्तार ले आते हैं। अपने मत की पुष्टि में तर्क प्रमाण के अतिरिक्त ग्रन्थों तक के उद्धरणों तक को वे अनायास प्रस्तुत कर सकते हैं। कुछ विद्वान उनकी आलोचनाओं को 'उद्धरिणी आलोचना' के नाम से अभिहित करते हैं किन्तु निबन्धकार के रूप में उनकी खरगोश के सींग अप्रतिम है। खरगोश के सींग में लेखक ने पैनी-दृष्टि से विषयवस्तु का अवगाहन कर जैसी मार्मिक चोट की है, वह देखते ही बनती है। मराठी इनकी मातृभाषा है, दर्शन शास्त्र के विद्यार्थी हैं और अंग्रेज़ी साहित्य के प्रबुद्ध पाठक। अतः इन सबका प्रभाव उनके निबन्ध पर लक्षित हो सकता है।

विद्यानिवास मिश्र

भारतेन्दु युग में व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों की एक अनोखी परम्परा प्रारम्भ हुई थी, जिसमें सजीवता के साथ विषय-चयन की नवीनता और वर्णन शैली की रोचकता रहती थी। द्विवेदी और शुक्लयुग में उसका विकास उतने तीव्ररूप से नहीं हो सका। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसे

अपनी मौलिक प्रतिभा से सर्वथा नये रूप और परिवेश में पुनरुज्जीवित किया। अशोक के फूल उसका श्रेष्ठ निदर्शन है। विद्यानिवास मिश्र ने द्विवेदी जी की परम्परा को आगे बढ़ते हुए उसकी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गरिमा को और अधिक समृद्ध बनाया। मिश्र जी के निबन्ध इस क्षेत्र में बेजोड़ हैं। छितवन की छांह के सर्वथा मौलिक व्यक्तिनिष्ठ किन्तु भारतीय जीवन की अजस्र परम्परा से संयुक्त निबन्धों में लेखक ने जिस शैली का प्रयोग किया है, वह सांस्कृतिक आकलन की सर्वथा मौलिक पद्धति है। 'तुम चन्दन हम पानी' के निबन्ध भी इसी प्रकार कला और संस्कृति के विविध रूपों को उद्घाटित करते हुए हमारे चिन्तन-क्षेत्र का विस्तार करने में सहायक होते हैं। कदम को फूली डाल में भी भारतीय-समाज तथा उसकी जीवन पद्धति का सजीवशैली से वर्णन है। निबन्धों की भाषा तत्सम होने पर भी उसकी जीवन्त शक्ति को अक्षुण्ण रखा गया है। स्वातन्त्र्योत्तर युग के श्रेष्ठ निबन्ध लेखकों में विद्यानिवास मिश्र उल्लेखनीय हैं।

व्यक्तित्व के संस्पर्श के युक्त निबन्ध लिखने वाले नये लेखकों में शिवप्रसाद सिंह और ठाकुर प्रसाद सिंह के नाम भी उल्लेख्य हैं। इन दोनों के श्रेष्ठ निबन्ध प्रकाशित हुए हैं।

वर्तमान युग के अन्य निबन्धकार

पिछले पृष्ठों में हमने जिन निबन्धों का वर्णन किया है उनके अतिरिक्त भी इस युग में अनेक श्रेष्ठ निबन्धकार हुए हैं जो अभी किसी एक विधा या प्रवृत्ति में पूरी तरह समाविष्ट न होकर निरन्तर विकास क्रम में लिख रहे हैं। मैंने छात्रोपयोगी समीक्षा लिखने वाले निबन्ध लेखकों को इस संदर्भ में स्मरण नहीं किया है। उनकी संख्या जानना भी कठिन है और शैली निर्माता निबन्धकार न होने से उनका नामोल्लेखपूर्वक संकेत करना उचित भी नहीं है। किन्तु कतिपय लेखक ऐसे हैं जिन्होंने थोड़ी मात्रा में लिखकर भी अपनी प्रतिपादन शैली और विषय-वस्तु का अच्छा परिचय दिया है। दार्शनिकता तथा आस्तिक भावना से सम्बद्ध विषयों पर तथा राजनीतिक महापुरुषों के वर्णन पर हरिभाऊ उपाध्याय के श्रेष्ठ निबन्ध उपलब्ध हैं। 'मनन' में संकलित इनके निबन्ध चिन्तन, मनन और अध्ययन की सुसम्बद्ध श्रृंखला ही है। बनारसीदास चतुर्वेदी और कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के संस्मरणात्मक निबन्ध भी पठनीय हैं। प्रभाकर जी ने निबन्धों की अपनी स्वतन्त्र शैली ही बना ली है जो केवल संस्मरण में ही नहीं राजनीतिक विषयों के उद्‌घाटन में भी काम आती है। वस्तुतः ये दोनों व्यक्ति पत्रकार हैं और अपने पाठकों को रिझाने वाली शैली इनके पास है।

विचारात्मक शैली को स्वीकार कर समीक्षात्मक निबन्ध लिखने वालों में चन्द्रबली पाण्डेय, शिवनाथ, रांगेय राघव, रघुवंश, गंगाप्रसाद पाण्डेय, विश्वम्भर मानव, रामरतन भटनागर, कन्हैया लाल सहल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। समालोचना को नई दिशा देने वाले तथा कहानी और काव्य पर स्पष्ट विचार व्यक्त करने वालों में नामवर सिंह के निबन्ध पठनीय हैं। विजयेन्द्र स्नातक के समीक्षात्मक निबन्ध तथा चिन्तन के क्षण विचारपूर्ण मौलिक निबन्ध हैं। चिन्तन के क्षण में संकलित निबन्धों की दृष्टि मौलिक होने के साथ प्रतिपादन शैली स्पष्ट और प्रवाहमयी है। इन्द्रनाथ मदान ने भी आधुनिक साहित्य के विविध पक्षों पर अच्छे निबन्ध प्रस्तुत किए हैं।

इस युग के हास्य व्यंग्य निबन्धकारों में कई नई प्रतिभाएँ सामने आई। हरिशंकर पारसाई तो अपनी विषयवस्तु, शैली, भंगिमा सभी में अनुपम निबन्धकार हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी इस विषय पर अच्छा कार्य किया है। उनके निबन्धों में गहरा व्यंग्य छिपा रहता है। गोपाल प्रसाद हास्यरस के कवि हैं किन्तु उन्होंने हास्य व्यंग्य के सुन्दर निबन्ध भी लिखे हैं। गहरा व्यंग्य तो नामवर सिंह के 'बक़लम खुद' में भी दृष्टिगत होता है। इन सभी लेखकों से हिन्दी निबन्ध के उज्ज्वल भविष्य की आशा है। निबन्ध ही ऐसी विधा है, जो इस समय निरन्तर विकास को प्राप्त हो रही है। उसमें नई कविता और नई कहानी के समान अराजकता अभी नहीं आई हैं। विचारशील लेखकों का उसे सहयोग प्राप्त हो रहा है।

वर्तमान युग के निबन्ध की शक्ति-सीमा

शुक्लोत्तर हिन्दी निबन्ध साहित्य में जिन प्रवृत्तियों को प्रमुख स्थान मिला उनमें सांस्कृतिक विषयों पर लिखे गए व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध, समीक्षात्मक विषयों पर लिखे गए निबन्ध और हास्य विनोद के निबन्ध हैं। शुक्ल जी के युग में भी सांस्कृतिक विषयों पर कुछ निबन्ध लिखे गए थे किन्तु उनका स्वर न तो व्यक्तिनिष्ठ था और न उनमें निबन्ध शैली से तथ्यों को प्रस्तुत किया गया था। सूचनाओं और तथ्यों के आंकड़े निबन्ध नहीं होते। इस युग के लेखकों में हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, विद्यानिवास मिश्र, भगवतशरण उपाध्याय आदि ने भारतीय जीवन के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन लोक परम्पराओं और मान्यताओं का सर्वथा मौलिक शैली से निबन्धों में वर्णन किया। यह शैली शुक्ल युग के किसी निबन्ध लेखक में पूरी तरह विकसित नहीं हुई थी।

समीक्षात्मक निबन्धों का प्रचलन तो भारतेन्दु युग से ही हो गया था। किन्तु, शुक्ल युग में वह अपने चरमोत्कर्ष को छूने में सफल हुआ। स्वयं रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध समीक्षा के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष को पूरी शक्ति के साथ प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। किन्तु, वर्तमान युग में समीक्षात्मक निबन्धों में कई नवीन दृष्टियों को स्थान मिला। सौन्दर्य चेतना के शास्त्र तथा अनुभूति के आधार का समाहार इसी युग में निबन्धों में हुआ। सौष्ठववादी समालोचक नन्ददुलारे वाजपेयी के आलोचनात्मक निबन्ध शुक्ल जी की शैली से भिन्न रूप में प्रस्तुत हुए हैं। काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के विवेचन से बचते हुए हृदयस्पर्शिता और आह्लाद को प्रधान मानकर उन्होंने समीक्षात्मक निबन्धों का प्रणयन किया। काव्य को उपयोगिता के धरातल पर वाजपेयी जी ने स्वीकार नहीं किया किन्तु काव्य में जीवन की प्रेरणा, सांस्कृतिक चेतना और भावनाओं के परिष्कार की क्षमता उन्होंने स्वीकार की है। वाजपेयी जी के समीक्षात्मक निबन्ध पूर्णत: निगमनात्मक और इंगित शैली के हैं। इसी युग में नगेन्द्र जैसे समर्थ समालोचक का उदय हुआ। नगेन्द्र ने अपने निबन्धों में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का स्वीकरण पूरी तरह से किया है और उनको आधार बनाकर समीक्षात्मक लेख लिखे हैं। इस सिद्धान्त को पूरे आग्रह के साथ स्वीकार करते हुए उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक विवेचन से भी कवि और काव्य की परख की है। इस युग के लेखकों में डॉ० नगेन्द्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के समीक्षात्मक निबन्धों में मानवतावादी भूमि को स्पष्ट करने का सफल

प्रयास लक्षित होता है। समाज शास्त्रीय तत्त्वों का साहित्यिक समीक्षा में आचार्य द्विवेदी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ उपयोग किया है। निबन्धों में गवेषणा तथा इतिहास का सम्मिश्रण भी द्विवेदी जी के निबन्धों द्वारा हुआ।

हास्य, व्यंग्य, विनोद की दिशा में निबन्ध का योगदान इस युग की विशेषता है। शुक्ल युग में हरिशंकर शर्मा और बेढब बनारसी ने जिस शैली में हास्य निबन्ध लिखे हैं, उनमें गहरा व्यंग्य नहीं था। इस युग में व्यंग्य, कशाघात् और कटाक्ष को निबन्ध के माध्यम से व्यक्त करने वाले कई निबन्धकार हुए।

राष्ट्रभाषा की समस्या पर इस युग में सैकड़ों निबन्ध लिखे गए। इन निबन्धों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार पक्ष को ही नहीं, वरन् उसकी भाषा विषयक शक्ति का ही उद्घाटन हुआ। स्वातन्त्र्योत्तर निबन्धों में भाषा की समस्या और उसके विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ना अनिवार्य था और इस अनिवार्यता की पूर्ति के साधन पत्रकारिता ही हो सकते थे।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के कारण राजनीति और समाजशास्त्र के विषय में हमारी दृष्टि में परिवर्तन आया और उसके विविध पक्ष जैसे लोकतन्त्र, मताधिकार, जनता और शासन, नागरिकता, प्रजातन्त्र शासन में जनमत की उपयोगिता आदि विषयों पर नूतन आलोक में विचार किया गया। यद्यपि इस प्रकार के लेख वैचारिक धरातल पर कम और वर्णनात्मक धरातल पर अधिक लिखे गए किन्तु उनकी उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

हिन्दी के मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों के सहयोग से भी हिन्दी निबन्ध को अच्छा प्रश्रय मिला। इधर पिछले आठ-दस वर्ष से नवलेखन की जो धारा हिन्दी में आई है उसका भी कुछ प्रभाव निबन्धों पर हुआ है। यद्यपि अभी तक नव-निबन्ध जैसा कोई रूप नहीं आया है किन्तु कुछ लेखक जिनका सम्बन्ध नवलेखन से है, निबन्ध क्षेत्र में भी योगदान कर रहे हैं।

वर्तमान युग के निबन्ध की सीमाओं पर विचार किया जाए तो वह भी कम स्पष्ट नहीं है। आलोचनात्मक निबन्ध में जितनी प्रगति हिन्दी निबन्ध ने की है उतनी वैयक्तिक निबन्ध ने नहीं की। ललित निबन्ध की दिशा में नये हस्ताक्षर संख्या और गुण दोनों दृष्टियों से कम ही है। चार-पाँच नये लेखकों को छोड़कर शेष पुराने लेखकों के प्रभाव में ही लिख रहे हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, जैनेन्द्र और अज्ञेय के निबन्ध शैली से टक्कर लेने वाले लेखक कम ही हैं। विद्यानिवास मिश्र और शिवप्रसाद सिंह की परम्परा में भी उल्लेख्य लेखक नहीं हैं। हरिशंकर पारसाई की सानी कोई दूसरा नहीं। किन्तु इन अभावों के होते हुए भी हिन्दी निबन्ध पहले से अधिक समर्थ, व्यापक और शैली-समन्वित हुआ है। निबन्ध के पठन-पाठन की पहले सीमा थी, पाठ्य पुस्तक, आज निबन्ध-पत्र-पत्रिकाओं के संग्रहों में भी पठनीय बन गया है।

अन्य गद्य रूप

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल से गद्य की प्रतिष्ठा आरम्भ होती है, और इसीलिए आधुनिक काल को गद्य काल कहा गया है। प्रारम्भ में गद्य के उपयोग विविध रूपों में मिलते हैं—टीकाओं से लेकर पत्रकारिता तक के क्षेत्र में। कविता से इतर जो भी कुछ मुद्रित हो जाता था उसकी गणना गद्य के अन्तर्गत होती थी। प्रस्तुत विवेचन में गद्य के ऐसे तटस्थ प्रयोग की चर्चा अभिप्रेत नहीं है। हिन्दी गद्य शैली के विकास की दृष्टि से अनेक आरम्भिक गद्य-कृतियाँ महत्त्व की सिद्ध हो सकती हैं, पर यहाँ गद्य शैली के विकास का अध्ययन हमारा उद्देश्य नहीं है, वरन् निबन्ध को छोड़कर गद्य के अन्य रूपों का उत्थान इस अध्याय का विवेच्य विषय है। अकाल्पनिक वृत्तों के लिये गद्य का साहित्यिक प्रयोग, हमारी जिज्ञासा का मुख्य केन्द्र होगा। निश्चय ही, उपन्यास, कहानी या नाटक की तुलना में गद्य के ये रूप काव्य भाषा की अपेक्षा सामान्य भाषा के अधिक निकट हैं। पर अकाल्पनिक वस्तु के लिये गद्य के सजग सर्जनात्मक प्रयोग को ही हमें अपने इस अध्ययन की मर्यादा-रेखा बनाना होगा।

गद्य रूपों की परिकल्पना हिन्दी काव्य रूपों के इतिहास में सबसे बाद में आती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास अकाल्पनिक गद्य के क्षेत्र में निबन्ध की चर्चा तो करता है, पर उससे इतर रूपों का इतिहासकार ने कोई उल्लेख नहीं किया, जिससे प्रकट होता है कि शुक्ल जी के समय तक जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-विवरण प्रभृति गद्य रूपों का कोई अपना रूप विकसित नहीं हो पाया था। यह भी स्मरणीय है कि आरम्भ के कुछ वर्षों में ये अकाल्प-निक गद्य रूप अपनी प्रकृति में बहुत कुछ सूचनात्मक और विवरणात्मक थे, और इसीलिये उपयोगी साहित्य के अन्तर्गत समझे जाते थे। साहित्यिक रूपों में उनकी परिगणना अपेक्षाकृत बाद की बात है, जब भाषा-प्रयोगविधि में विकास के कारण उनकी प्रकृति सर्जनात्मक हो जाती है। एक प्रकार से इन नवीनतम काव्य रूपों में भाषा-प्रयोग का केन्द्रीय महत्त्व होता है, क्योंकि इनका वृत्त मुख्यतः अकाल्पनिक होने से सर्जनात्मकता का अधिकांश दायित्व भाषा पर ही रहता है। एक ओर इनमें कहानी-उपन्यास जैसी भाषा की गहरी सर्जनात्मकता नहीं होती, दूसरी ओर सामान्य भाषा की तुलना में इनमें भाषिक सर्जनात्मकता का हल्का रूप प्रयुक्त होता है। बोलचाल की भाषा की तुलना में कविता की भाषा सबसे अधिक सर्जनात्मक होती होती है और लोक साहित्य की भाषा सबसे कम। अपनी यत्नज हल्की सर्जनात्मकता के कारण अकाल्पनिक गद्य वृत्तों की प्रकृति नाटक या उपन्यास जैसे कल्पना-प्रचुर काव्य रूपों के सन्दर्भ में कुछ हल्की मानी जाती है। पर आज की जटिल से जटिलतर होती हुई जीवन पद्धति में इन हल्के गद्य रूपों का अध्ययन अधिक प्रीतिकर हो गया है। तनावों की बढ़ती के युग में यात्रा-संस्मरण अथवा डायरी की निकटता, आत्मीयता और अनौपचारिकता पाठक को जीवन के

प्रति मानों अधिक आश्वस्त बनाती हैं; लेखक से सीधे और व्यक्तिगत सम्पर्क का भाव भी इन रूपों में अधिक रहता है।

विविध गद्य रूपों के उत्थान में मूलतः निबन्ध की विधा कार्य करती रही है। आधुनिक युग में स्वतः तो ललित निबन्ध का रूप ह्रासोन्मुख दिखाई देता है, पर उसके माध्यम से विकसित यात्रा-संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज प्रभृति अधिकाधिक लोकप्रिय और नवोन्मेषशाली हो रहे हैं। निबन्ध की रचना वृत्ति अपने अतिरिक्त भावावेग के कारण रोमाण्टिक युग बोध के अनुकूल रही, पर उत्तरकालीन बौद्धिक उन्मेष से उस सहज वृत्ति का मेल नहीं बैठा। दूसरे गद्य रूप प्रधानतः पत्रकारिता के क्षेत्र से आरम्भ होकर एक हल्की सर्जनात्मकता के स्पर्श से आलोकित हो उठे और उन्होंने नवीन युग की जटिलताओं से अपने शिल्प और भाव बोध को सम्पृक्त बनाया। मुख्यतः इसीलिये निबन्ध का माध्यम अपने भावावेग और तज्जन्य एकतानता के कारण जब आधुनिक युग में क्रमशः अपदस्थ होने लगा तो इन नये गद्य रूपों ने अनेक कोणों से सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया।

सामान्य मानव व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ महत्त्व सृजन के दृष्टि-विन्दु से इन विविध गद्य रूपों की मुख्य प्रेरक शक्ति माना जा सकता है। रचनाकार अपने व्यक्तित्व का यहाँ प्रत्यक्ष रूप से सामना करता है, और इस दृष्टि से सामाजिक महत्त्व की तुलना में व्यक्तित्व की अपनी समृद्धि रचनात्मकता के लिये अधिक उपयुक्त तत्त्व सिद्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य और अकिंचन व्यक्तियों के रेखाचित्र या संस्मरण लिखे जाते हैं, अप्रसिद्ध लोग अपनी आत्मकथा लिखते हैं और नितान्त अपरिचितों के यात्रा-संस्मरण या डायरियाँ बड़ी रुचि से पढ़ी जाती हैं, क्योंकि उनमें शर्त यह नहीं है कि उनका नायक या लेखक उदात्त अथवा महान व्यक्ति हो वरन् उनका साहित्य होना अपनी सर्जनात्मकता पर निर्भर है। कृति का महत्त्व इसमें है कि लेखक आदि से अन्त तक सर्जनात्मकता की सम्पूर्ण जीवन्त संवेदना शक्ति से अपने को जोड़े रहे।

विविध गद्य रूपों के सम्बन्ध में निश्चय ही ये कई स्थितियाँ अभी कुछ वर्षों पहले ही विकसित हुई हैं। पर अकाल्पनिक वृत्तों के लिये गद्य के साहित्यिक या कहें सर्जनात्मक रूप के प्रयोग तब से आरम्भ हुये माने जा सकते हैं जब से इन वृत्तों की सूचनात्मक के स्थान पर कलात्मक परिकल्पना प्रधान हुई। पर हमें तो शुरू से ही शुरुआत करनी है।

हिन्दी के प्रारम्भिक सूचनात्मक गद्य वृत्तों में जीवनी और आत्मकथा माने जा सकते हैं। इनके नायकों के लिये तब प्रायः महाकाव्योचित गुण आवश्यक समझे जाते थे। यों, जीवनियों का प्रस्तुतीकरण पहले प्रकाशकीय स्तर पर आरम्भ हुआ। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में कलकत्ता और वाराणसी के प्रमुख प्रकाशकों के विज्ञापनों को देखने से ज्ञात होता है कि वे तीन प्रकार की पुस्तकें अनिवार्य रूप से तैयार करवाते थे—एक तो जासूसी और रहस्य-रोमांच के उपन्यास, दूसरे पढ़ने योग्य थियेट्रिकल नाटक (मय गायन) और तीसरे आदर्श जीवनवृत्त। इस प्रकार की जीवनियाँ जन साधारण को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की जाती थीं और उनके पीछे किसी प्रकार की कलात्मक प्रेरणा नहीं देखी जा सकती। प्रकाशकीय दृष्टि से तैयार होने के कारण प्रायः इनके ऊपर लेखक का नाम भी नहीं दिया जाता

था। अधिकतर पौराणिक और ऐतिहासिक और कभी-कभी समसामयिक चरित्रों को जीवनी के नायक रूप में चुना जाता था। सन् १९१७ में प्रकाशित एक अनूदित उपन्यास के अन्त में 'वीर-चरितावली' शीर्षक से एक विज्ञापन इस प्रकार दिया हुआ है—

'मातृभूमि भारतवर्ष के वीर-वीरांगनाओं के चरित्र पढ़ने की किसकी इच्छा नहीं होती ? इस पुस्तक में निम्नलिखित वीर-वीरांगनाओं की १४ वीर-कहानियाँ सन्निवेशित की गई हैं—(१) रानी दुर्गावती, (२) रानी लक्ष्मीबाई, (३) जवाहर बाई, (४) कर्मदेवी, (५) वीर धात्री पन्ना, (६) वीर बालक और वीर नारी, (७) राजकुमार चण्ड, (८) महाराज पृथ्वीराज, (९) बादलचन्द, (१०) रायमल, (११) सिख वीर रणजीत सिंह, (१२) हमीर, (१३) महाराणा प्रतापसिंह, (१४) छत्रपति शिवाजी प्रभृति। पुस्तक में हाफटोन फोटो के सुन्दर-सुन्दर ५ चित्र भी दिये गये हैं। मूल्य केवल ।।) आना।'

इसी उपन्यास की दूसरी जिल्द में कुछ जीवनियों के विज्ञापन और हैं—'पंजाब केशरी सचित्र जीवन चरित्र, 'वीर पंचरत्न' (बड़ी ही सुन्दर कविता में अपूर्व जीवनियाँ), जीवन चरित्र अलग-अलग विक्रमादित्य का, मीराबाई का, महात्मा शेख सादी का, रामकृष्ण देव का, जमशेद जी नसरवान जी का, लार्ड किचनर का।'

इस प्रकार के जीवन चरित्रों में इतिहास-दृष्टि का उपयोग कम, वृत्तान्त शैली का उपयोग अधिक होगा, यह अनुमान विज्ञापन की शैली से लग सकता है। जमशेद जी नसरवान जी और लार्ड किचनर को छोड़कर समसामयिक चरित्र प्रायः नहीं लिये गये, इसलिये तथ्य-संग्रह की बात बहुत कम उठती है। स्पष्ट ही, इस प्रकार की पुस्तकों के पीछे व्यावसायिक दृष्टि है, साहित्यिक दृष्टि नहीं। कुछ जीवनियों में परम्परागत पद्य का माध्यम भी प्रयुक्त हुआ है।

व्यावसायिक धारा से कुछ भिन्न रूप में हिन्दी के आरम्भिक गद्य लेखकों द्वारा लिखी हुई जीवनियाँ आती हैं, यद्यपि इनकी मूल वृत्ति भी परिचयात्मक और उपदेशात्मक है। इस काल के जीवनीकार की दृष्टि आदर्श और शिक्षाप्रद जीवन अंकित करने की है, उसकी प्रेरणा व्यावसायिक हो या कि सुधारवादी मानव व्यक्तित्व की व्याख्या। उसके संघर्ष और अन्तःप्रक्रियाएँ जीवनी या आत्मकथा का हिस्सा बन सकें, यह उद्देश्य इन लेखकों का नहीं था और न इसके योग्य विकसित गद्य उनके पास था। यह अवश्य है कि पुनर्जागरण युग की छाया में इन लेखकों की जीवनियाँ काफी लोकप्रिय हुईं और यही कारण है, जिससे प्रकाशक व्यवसायियों ने इस आयोजन को लाभप्रद मानकर बड़ी संख्या में जीवनियाँ पुस्तक मालाओं के रूप में और स्वतन्त्र रूप में भी छापीं। इस तरह लेखकों द्वारा आरम्भ की हुई जीवनी विधा जो प्रकृति में मुख्यतः सूचनात्मक ही थी, बाद में प्रकाशकों द्वारा व्यावसायिक उद्देश्य से प्रस्तुत और प्रकाशित की गई।

भारतेन्दु युग के नैतिक पुनरुत्थानवादी लेखकों ने खड़ी बोली गद्य की आरम्भिक रचनाओं में जीवन चरित को प्रमुख स्थान दिया। इस माध्यम से वे गिरी हुई जाति में फिर से नये जीवन और आदर्शों का संचरण करना चाहते थे। इस उद्देश्य के अनुरूप उनके पास जो कुछ भाषा थी वह काम चलाने के लिये पर्याप्त थी, क्योंकि उन्हें तो जीवन के इतिवृत्त का

आख्यान करना था, न कि पुनर्सृजन। खड़ी बोली गद्य की ये आरम्भिक कृतियाँ एक ओर यदि गद्य के निर्माण का इतिहास व्यक्त करती हैं, तो दूसरी ओर तत्कालीन लेखकों के नैतिक दायित्व-बोध का संकेत देती हैं। पर जैसा कहा गया, इन जीवनियों में न तो जीवनीकार का व्यक्तित्व था, और न उनके नायक का। उनका मूल रूप परिचयात्मक और इतिवृत्तप्रधान था।

साहित्यिक ढंग से लिखी गई, या कि ठीक-ठीक कहें तो साहित्यकारों द्वारा लिखी गई जीवनियों का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होता है। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' के साक्ष्य पर कार्तिक प्रसाद खत्री द्वारा लिखित 'मीराबाई का जीवन चरित्र' सन् १८९३ ई० प्रथम महत्त्वपूर्ण जीवनी-ग्रन्थ माना जा सकता है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इस क्षेत्र में कुछ कार्य किया; उनकी 'चरितावली' और 'पंच-पवित्रात्मा' में संक्षिप्त जीवनवृत्त दिये गये हैं। परवर्ती जीवनीकारों ने क्रमशः पौराणिक नायकों के स्थान पर ऐतिहासिक और समसामयिक पात्रों को चुना। इन जीवनियों के पीछे या तो नैतिक उत्थान की प्रेरणा कार्य करती थी या इतिहास के आख्यान की, और बहुधा दोनों प्रेरणा-स्रोत मिले दिखाई देते हैं। भारतीय संस्कृति में परलोक की अपेक्षा इहलोक के कुछ कम महत्त्वपूर्ण हो जाने पर जन-मानस में इतिहास दृष्टि ठीक-ठीक विकसित न हो सकी, इतिहास की अपेक्षा पुराण पर आस्था अधिक रही। इसके बावजूद जब हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के आरम्भ में जीवनियाँ अपेक्षाकृत कम नहीं लिखीं गईं तो हम सोच सकते हैं कि तत्कालीन जीवनीकार इतिहास को प्रशस्त करने की प्रेरणा लेकर उतने नहीं चले थे जितने कि नैतिक पुनरुत्थान को बल देने के लिये वे कृत संकल्प थे। ऐसा नहीं कि वे इतिहास के प्रति असावधान रहे, पर उनका मूल उद्देश्य चारित्रिक विकास को बढ़ावा देना था। भारतेन्दु से लेकर मुंशी देवी प्रसाद 'मुंसिफ़' के वस्तुपरक जीवन चरित्रों तक में पुनरुत्थान की बलशाली भावना कार्य करती दिखाई देती है। इन दोनों लेखकों के बीच प्रायः पैंतीस जीवनियों का उल्लेख—सन् १८८३ ई० से लेकर सन् १८९८ ई० तक प्रकाशित-'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में किया गया है। इनमें से कुछ पद्य में भी हैं। वस्तुतः ये रचनायें 'जीवनी' कम, 'चरित' या 'वृत्त' अधिक हैं। कुछ इसी प्रकार के वृत्तों की सूचियाँ 'हिन्दी का गद्य साहित्य' में भी दी गई हैं।

पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित, साहित्य और इतिहास और के बीच, सामान्य वर्णनात्मक गद्य में लिखी जाने वाली जीवनियों की जो धारा आगे बढ़ी उसमें चरित नायक कई प्रकार के थे। पौराणिक चरित्रों पर बल क्रमशः कम हो चला था—कभी-कभी महापुरुष के रूप में चित्रित करते हुये भी उनके वृत्त लिखे गये। जीवनीकारों के अधिक प्रिय चरित्र मध्यकालीन इतिहास से लिये गये थे, फिर स्वयं पुनरुत्थान युग के नेताओं और संतों की जीवनियाँ लिखी गईं, और बाद में कुछ क्रांतिकारियों के जीवन वृत्त भी प्रस्तुत हुये जो एकबारगी समूचे देश के प्रिय नायक हो गये थे। जीवनी की इन विभिन्न धाराओं को अनुवादों से भी प्रोत्साहन मिला।

आरम्भिक जीवनियों में से कुछ का उल्लेख उदाहरण रूप में आवश्यक है। पौराणिक देवताओं को महापुरुष रूप में चित्रित करने की वृत्ति आधुनिक काल के आरम्भ से ही मिलती है। इस प्रकार की जीवनियों में बंकिमचन्द्र चटर्जी की रचना 'कृष्ण चरित्र' अपने समय की एक ख्यात कृति थी। हिन्दी के प्रसिद्ध तत्कालीन लेखक पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने उक्त

ग्रन्थ का अनुवाद सन् १९१३ ई० में भारतमित्र प्रेस से प्रकाशित करवाया था। 'भाषान्तरकार का निवेदन' में कहा गया है 'कुछ लोग नासमझी के कारण भगवान श्रीकृष्णचन्द्र पर कई प्रकार का दोष लगाते हैं। बंकिम बाबू से यह नहीं सहा गया क्योंकि वह उन्हें अवतार मानते थे। इसी से बंकिम बाबू ने बहुत खोज ढूंढ़ के साथ 'कृष्ण चरित्र' लिखकर श्रीकृष्णचन्द्र को केवल निर्दोष ही नहीं वरञ्च आदर्श पुरुष सिद्ध करने का प्रयत्न किया और वह उसमें बहुत कुछ कृतकार्य भी हुये।' यहाँ स्पष्ट ही कृष्ण-चरित्र के दोनों पक्षों—'अवतार' और 'आदर्श-पुरुष' पर जीवनीकार और भाषान्तरकार की दृष्टि है। अवतार को आदर्श पुरुष के रूप में देखे बिना समकालीन जीवन-दृष्टि को समृद्ध नहीं किया जा सकता, इस तथ्य से पुनरुत्थानकालीन लेखक परिचित थे।

मध्यकालीन इतिहास में प्रसिद्ध चरित्र अकबर का है। बंकिमचन्द्र लाहिड़ी द्वारा प्रणीत जीवनी का अनुवाद 'सम्राट् अकबर' शीर्षक से गुलज़ारी लाल चतुर्वेदी ने किया था। (हरिदास एण्ड कं० कलकत्ता : १९१९ ई०)। मिरजापुर निवासी विचित्र कवि गोस्वामी वामनाचार्य्य गिरि द्वारा अनूदित 'वीरेन्द्र बाजीराव' (लहरी प्रेस, काशी, १९०७ ई०) भी काफी प्रख्यात हुआ था। इसके मूल बंगला लेखक थे, सखाराम गणेश दंडेरकर। यूरोपीय इतिहास के ख्यात चरित्रों को भी जीवनीकारों ने चुना। राधा मोहन गोकुल जी ने यूरोपीय इतिहास के सबसे आकर्षक चरित्रों में से एक नेपोलियन का जीवनवृत्त मनोरंजन पुस्तकमाला की १८ वीं पुस्तक के रूप में 'नेपोलियन-बोनापार्ट' शीर्षक से प्रकाशित किया। (नागरी प्रचारिणी सभा : १९१७ ई०)। भूमिका में लेखक ने अपनी जीवनी-दृष्टि इस प्रकार व्यक्त की है—'मैं नहीं कह सकता कि इसमें दोष न थे, परन्तु याद रखना चाहिये कि नेपोलियन अपने समय का बड़ा भारी मनुष्य-हित-कर्ता, स्वतन्त्रता का पक्षपाती और मानव-मात्र का प्रेमी था।' नेपोलियन के चरित्र की व्याख्या में मानों लेखक ने भारतीय पुनर्जागरण की आधारभूत आकांक्षाओं को व्यक्त किया है।

आधुनिक भारतीय महापुरुषों में महात्मा गांधी के जीवन चरित्र कई रूपों में लिखे गये थे। इन आरम्भिक जीवन वृत्तों में बाबू रामचन्द्र वर्मा द्वारा लिखित ग्रन्थ 'महात्मा गांधी' (गाँधी हिन्दी-पुस्तक भण्डार, बम्बई : सन् १९२१ ई०) है, जिसमें गांधी की विस्तृत जीवनी के अतिरिक्त लेखक ने उनके महत्त्वपूर्ण लेखों और व्याख्यानों को भी संकलित किया था। 'देशबन्धु चित्तरंजन दास' (हिन्दी साहित्य मंदिर, इंदौर : सन् १९२१ ई०) पं० सम्पूर्णानन्द बी-एस० सी० द्वारा लिखित संक्षिप्त जीवनी है, जिसके प्रकाशन में शीघ्रता का कारण यह था 'कि आगामी कांग्रेस के पहिले हिन्दी जगत् को इस महानुभाव का किञ्चित् परिचय करा दिया जाय।' यह शायद संयोग से कुछ अधिक माना जायेगा कि इसी वर्ष (सन् १९२१ ई० में) गांधी और चित्तरंजनदास के अतिरिक्त लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का भी जीवन-चरित्र प्रकाशित हुआ (रामलाल वर्मा, कलकत्ता), जिसके लेखक थे, ईश्वरी प्रसाद शर्मा। तिलक के इस जीवन वृत्त में 'तिलकावतार' शीर्षक से कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त की एक कविता आरम्भ में दी गई है। भारतीय राजनीति के इस युग में प्रसिद्ध देशभक्त मेज़िनी का व्यक्तित्व विशेष रूप से आकर्षक था। लाला लाजपत राय द्वारा मूल उर्दू में लिखित ग्वीसप मेज़िनी का

जीवन चरित्र बाबू केशव प्रसाद सिंह ने १९०० में अनुवादित किया था। इस अनुवाद का तृतीय संस्करण भी सन् १९२१ ई० में पुस्तक कार्यालय, बनारस सिटी से प्रकाशित हुआ था। राजनैतिक क्षेत्र के इन मनीषियों के अतिरिक्त देश के अन्य मेधावी व्यक्तियों की ओर भी जीवनीकार आकृष्ट हुये। सुखसम्पत्ति राय भण्डारी ने 'डाक्टर सर जगदीश चन्द्र बसु और उनके आविष्कार' शीर्षक से एक संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित की (श्री मध्यभारत पुस्तक एजेंसी, इंदौर, सन् १९१९ ई०) जिसमें बंगाल के प्रसिद्ध वैज्ञानिक का जीवनवृत्त वर्णित है। पुनरुत्थान युग के सन्तों में स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी श्रद्धानन्द आदि की परिचयात्मक जीवनियाँ भी इस काल में लिखी गईं। आर्य समाज से सम्बद्ध धार्मिक नेताओं की जीवनियाँ इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखीं।

बंगाल के क्रान्तिकारियों में यतीन्द्रनाथ दास का व्यक्तित्व अपनी भावुकता, सुकुमारता और निर्मलता के लिये प्रख्यात रहा है। दास की एक संक्षिप्त जीवनी इसी दौर में प्रकाशित हुई। आरम्भ में ब्रज भाषा के ४ दोहे हैं, अंतिम इस प्रकार है—

स्वारथ रत वे यै सदा, परमारथ सिरमौर।
उन 'जतीन' की और गति, इन 'जतीन' की ओर ॥

इन्हीं दिनों अलीपुर बम-केस में अन्यतम अभियुक्त उपेन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय की आत्म-कथा बँगला में 'निर्वासितेर आत्म कहानी' नाम से प्रकाशित हुई। इसका हिन्दी अनुवाद 'राजनीतिक-षड्यंत्र' शीर्षक से उमादत्त शर्मा ने प्रकाशित किया। (राजस्थान एजेंसी, कलकत्ता: सन् १९२१ ई०)। पूरी रचना में जेल, बम-विस्फोट और मृत्यु के वातावरण के बीच विनोद का अंश बड़े प्रीतिकर रूप में व्यक्त हुआ है।

जीवनी लेखन के इस दौर में क्रमशः वस्तुपरकता के साथ-साथ साहित्यिक भाषा शैली का भी विकास हो रहा था। इस वर्ग की विशिष्ट और महत्त्वाकांक्षी जीवनियों में से सीताराम चतुर्वेदी कृत 'महामना पंडित मदनमोहन मालवीय' (सन् १९३७ ई०) विशेष रूप से उल्लेख-नीय है। पूरे आकार की इस जीवनी में इतिवृत्त और वर्णन के साथ अनेक प्रसंगों में लेखक ने साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया है। जीवनी विधा में साहित्यिक शिल्प का आग्रह विकसित होने पर ऐतिहासिक ढंग की जीवनियाँ और उनके लेखकों का दृष्टिकोण क्रमशः अलग होता जाता है। अभी तक ऐतिहासिक और साहित्यिक उद्देश्यों में एकता थी, पर धीरे-धीरे विशेषी-करण की प्रवृत्ति बढ़ी, और मूलतः ऐतिहासिक सामग्री का ऐतिहासिक उद्देश्य से उपयोग करने वाले जीवनीकार, साहित्यिक गद्य का प्रयोग करने वाले जीवनीकारों से दूर हो गये।

दूसरे वर्ग की जीवनियों में विदेशी मनीषियों को भी चरितनायक के रूप में स्वीकार किया गया। पर अब जीवनीकार इन चरित्रों को मात्र सुधारक या उपदेशक की दृष्टि से नहीं देखता था, उसका ध्यान मानवीय व्यक्तित्व के संघटन की ओर भी उन्मुख हो रहा था। राहुल सांकृत्यायन कृत 'स्तालिन' (सन् १९५३ ई०), 'कार्ल मार्क्स' (सन् १९५४ ई०) और 'लेनिन' (सन् १९५५ ई०) तथा लाल बहादुर शास्त्री कृत 'श्रीमती क्यूरी' में मानवीय व्यक्तित्व के अध्ययन की ओर रुचि बढ़ती दिखाई देती है। रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित कार्ल मार्क्स की जीवनी भी इसी वर्ग में आयेगी। भारतीय नेताओं और मनीषियों में राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद तथा

श्रेयार्थी जमनालाल की जीवनियाँ क्रमशः शिवपूजन सहाय तथा हरिभाऊ उपाध्याय ने प्रस्तुत कीं।

हिन्दी लेखकों की जीवनियाँ भी इसी बीच, स्फुट रूप से ही सही, लिखी जाती रही हैं। इस दिशा का एक आरम्भिक प्रयास बाबू श्यामसुन्दर दास का था, जिन्होंने 'हिन्दी कोविद-रत्नमाला' (सन् १९०९, १९१४) के दो भागों में हिन्दी के चालीस साहित्यकारों तथा हितैषियों की संक्षिप्त जीवनियाँ संकलित कीं। ब्रजरत्नदास कृत 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' में भारतेन्दु के जीवनवृत्त के अतिरिक्त कुछ अन्य उपयोगी सामग्री भी दी गई है। प्रताप नारायण मिश्र का जीवन-चरित्र बालमुकुन्द गुप्त ने अपने पत्र 'भारत मित्र' में लिखा था (सन् १९०७ ई०)। पर इस क्षेत्र की प्रथम महत्त्वपूर्ण जीवनी बनारसीदास चतुर्वेदी लिखित सत्यनारायण कविरत्न की है। 'कविरत्न सत्यनारायण जी की जीवनी' (सन् १९२६ ई०) हिन्दी की एक बहुप्रशंसित कृति रही है, और इसमें संदेह नहीं कि कविरत्न के सीधे-सादे जीवन वृत्त को लेखक ने बड़े आत्मीय भाव से प्रस्तुत किया है। सहृदय साहित्यकार-व्यक्तित्व के कुछ मार्मिक पक्षों का उद्घाटन इस कृति में हुआ है।

'बरुआ' द्वारा लिखित 'माखनलाल चतुर्वेदी' (भाग १ : १९६०) काफी विस्तृत और व्यवस्थित जीवनी है। लेखक के अनुसार 'इस जीवनी में अधिक अंश माखनलाल जी के शब्दों में हैं। वे अंश उन्होंने मुझे पास बैठाकर सुनाये हैं। प्रामाणिकता के नाते बाद में ये अंश उन्हें पढ़कर सुना दिये गये हैं' (भूमिका, पृ० ४६)। परिशिष्ट के अन्तर्गत माखनलाल जी द्वारा लिखित कुछ सम्पादकीय टिप्पणियाँ संकलित की गई हैं। कुल मिलाकर सामग्री-संचयन और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से यह जीवनी साहित्यिक शैली का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है।

एक स्वतन्त्र कला या साहित्यिक माध्यम के सशक्त रूप में लिखित हिन्दी में अमृत राय कृत 'कलम का सिपाही' है। 'कलम का सिपाही' का महत्त्व इसलिए नहीं है कि वह एक विशिष्ट साहित्यकार की उसके पुत्र द्वारा लिखित जीवनी है, महत्त्व वरन् इसलिए है कि वह मूलतः एक रचना है, मानवीय व्यक्तित्व का सर्जनात्मक भाषा में आख्यान। इस विन्दु पर आकर जैसे उपयोगी साहित्य से ललित साहित्य में जीवनी का संक्रमण पूर्ण होता है। यह एक शुरुआत का अन्त है। और एक नया आरंभ है।

'कलम का सिपाही' का वृत्त पक्ष काफी परिपूर्ण है, और यह स्वाभाविक भी है। पर बहुत जगह इस वृत्तपक्ष ने रचना पक्ष को आक्रांत कर लिया है, विशेषतः उन स्थलों पर जहाँ लेखक ने प्रेमचन्द साहित्य की पृष्ठभूमि में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का संक्षिप्त इतिहास दिया है। यह ठीक है कि प्रेमचन्द का जीवन काफी सीधा-सादा और अपेक्षया घटना-रहित था। पर लेखक यदि इस चुनौती को सीधे स्वीकार कर लेता तो उसकी रचना अधिक संघटित और मानवीय बन सकती थी। जीवनी नायक के जीवन की घटना-न्यूनता को परिवेश की घटनामयता से पूरा करना कला के स्तर पर रचना को खण्डित करता है। ऐसे कुछ स्थलों के बावजूद 'कलम का सिपाही' अपने माध्यम को सहसा ऊपर उठा देती है। इस जीवनी में भव्यता और आत्मीयता का मिलाजुला रूप पाठक के लिये निश्चय ही बड़ा प्रीतिकर है।

अकाल्पनिक गद्य वृत्त का वास्तविक रूप बहुत कुछ उसकी भाषिक सर्जनात्मकता पर

निर्भर करता है। इन वृत्तों में भाषिक सर्जनात्मकता वैसी गहरी नहीं होती जैसी कि कविता, उपन्यास या नाटक में होती है, और न बोलचाल की भाषा या साधारण सूचनात्मक गद्य की तरह उसका अभाव होता है। अकाल्पनिक गद्य वृत्त की भाषा हल्की सर्जनात्मकता से आलोकित रहती है। 'कलम का सिपाही' में ऐसे ही भाषा प्रयोग की कोशिश की गई है और यही तत्त्व उसे वृत्त से ऊपर रचना का स्वरूप प्रदान करता है। इस दृष्टि से हिन्दी के अकाल्पनिक गद्य वृत्तों में 'कलम का सिपाही' का ऐतिहासिक महत्त्व है।

हिन्दी पत्रकारों में बाबूराव विष्णु पराड़कर की एक पूरी और व्यवस्थित जीवनी लिखी गई है। 'पराड़कर जी और पत्रकारिता' (१९६०) में लेखक ने इनके व्यक्तित्व, इनकी हिन्दी सेवा और पत्रकारिता का विस्तृत परिचय दिया है, पर शैली में वर्णनात्मकता अधिक होने से रचना संगठन नहीं हो पाया है। हाँ, पराड़कर जी के माध्यम से तत्कालीन युग का अच्छा चित्र अंकित हुआ है, और व्यक्ति के माध्यम से युग का अंकन सफल जीवनी लेखन का एक विशिष्ट गुण होता है।

व्यक्ति को केन्द्र बना कर पूरे समाज का चित्र प्रस्तुत करने की एक स्थिति ऐसी भी होती है जहाँ जीवनी नायक के महत्त्वपूर्ण होने की शर्त नहीं रह जाती। एक साधारण-सामान्य व्यक्ति को उपलक्ष्य बनाकर भी समाज और व्यक्ति का सजीव अंकन सम्भव होता है। यह जीवनी लेखन के क्षेत्र में एक नया और महत्त्वपूर्ण विकास है। निराला द्वारा प्रस्तुत 'कुल्ली-भाट' (सन् १९३९ ई०) ऐसी ही रचना है, जो काफी पहले लिखी जाने पर भी अपेक्षया एक नवीन प्रवृत्ति को प्रतिफलित करती दिखाई देती है।

जीवनी की तुलना में हिन्दी में आत्मकथाएँ कम लिखी गई हैं। आत्मकथा लेखन में विनम्रता का गुण उतना अपेक्षित नहीं है, जैसा सामान्यतः समझा जाता है, जितना निर्वैयक्तिकता का। इस निर्वैयक्तिकता वृत्ति के कारण आत्मकथा निश्चय ही एक आधुनिक और अपेक्षया कठिन कला है। यों, हिन्दी में परिचयात्मक ढंग की आत्मकथायें भारतेन्दु काल के आरम्भ से ही लिखी गई हैं। स्वयं भारतेन्दु ने 'कुछ आप बीती कुछ जगबीती' नाम से आत्मकथा लिखना प्रारम्भ किया था। सुधाकर द्विवेदी की 'रामकहानी' को लेकर तत्कालीन साहित्यिक वृत्त में काफी असन्तोष हुआ, पर अम्बिकादत्त व्यास रचित 'निज-वृत्तान्त' (१९०१) व्यवस्थित ढंग की आरम्भिक आत्मकथाओं में से है। जैसा नाम से स्पष्ट है, इसमें 'कथा' कम 'वृत्तान्त' अधिक है। आर्यसमाज और अन्य आध्यात्मिक प्रभावों के अन्तर्गत भी कुछ आत्म-चरित लिखे गये, जिनमें लेखक ने अपने चारित्रिक विकास और अध्यात्मोन्मुखता का विश्लेषण किया है। ये आत्मकथाएँ कुछ वैसे ही सोद्देश्य हैं, जैसे कि महापुरुषों की जीवनियाँ। मूल दृष्टि दोनों ही जगह सुधारवाद से प्रेरित है। ऐसी रचनाओं में आत्मकथा लेखक स्वयं बहुत अधिक हैं। वह निर्वैयक्तिकता जो आधुनिक काल के अधिकाधिक स्वचेतन होते लेखक ने विकसित की है, इन रचनाकारों के लिये सुलभ न थी। आधुनिक काल के तो मूल में ही स्वचेतनता और निर्वैयक्तिकता का द्वन्द्व है, जिससे उसकी रचना में ऊर्जा उत्पन्न होती है। आत्मकथा लेखन में इस द्वन्द्व को बहुत साफ ढंग से देखा जा सकता है, पर हिन्दी में ऐसी आत्मकथाएँ अभी नहीं लिखी गई हैं। पश्चिम के कुछ कृति लेखकों की आत्म कथाओं में उपर्युक्त वृत्ति पूरी तरह

प्रतिफलित होती है । हिन्दी में भी जब आधुनिक संवेदनशील कृति लेखक आत्मकथा लिखेंगे तो स्वभावतः यह निर्वैयक्तिकता और स्वचेतनता का द्वन्द्व पूरी रचना को वृत्त से ऊपर उठाकर एक कलात्मक संघटन बना देगा ।

बाबू श्याम सुन्दर दास कृत 'मेरी आत्म कहानी' (सन् १९४१ ई०) हिन्दी की पहली प्रसिद्ध आत्मकथा कही जा सकती है । बाबू साहब की आत्मकथा हिन्दी भाषा और साहित्य के एक पूरे युग को प्रतिफलित करती है, और प्रकारान्तर से नागरी प्रचारिणी सभा का इतिहास बताती चलती है । भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न राजेंद्र प्रसाद की 'आत्मकथा' (सन् १९४७ ई०) अपनी शैली की सरलता और सादगी के लिये विख्यात है । बाबू गुलाबराय लिखित 'मेरी असफलतायें' (सन् १९४० ई०) हल्के व्यंग की शैली में लिखी रोचक कृति है, और एक प्रकार से आत्मकथा लेखन की मनःस्थिति का अच्छा परिचय देती है । आत्मालोचन और विनोद वृत्ति का सफल सामंजस्य इस रचना में हुआ है ।

हिन्दी लेखकों ने आत्मकथा को एक स्वतन्त्र माध्यम के रूप में बहुत कम ही प्रयुक्त किया है । आत्मकथा के नाम पर उन्होने प्रायः परिचयात्मक वृत्त दिये हैं । राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन-यात्रा' (सन् १९४६ ई०) और सेठ गोविन्ददास लिखित 'आत्म-निरीक्षण' यों पूरी तैयारी के साथ और अपेक्षया विस्तृत तथा व्यवस्थित ढंग से लिखी गई हैं, पर मूलवृत्ति उनकी भी इतिवृत्तात्मक ही है । शान्तिप्रिय द्विवेदी की 'परिव्राजक की प्रजा' (सन् १९५२ ई०), देवेन्द्र सत्यार्थी की, 'चाँद-सूरज के बीरन' (सन् १९५३ ई०), पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'मेरी अपनी कथा' (सन् १९५९ ई०), वियोगी हरि की 'मेरा जीवन प्रवाह', हरिभाऊ उपाध्याय की 'साधना के पथ पर', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर' (सन् १९६० ई०), सुमित्रानन्दन पन्त की 'साठ वर्ष-एक रेखांकन' (सन् १९६० ई०), अन्य प्रसिद्ध लेखकों की आत्मकथाएँ हैं, जिनकी सामग्री साहित्य के इतिहासकार के लिये निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं । हिन्दी पत्रकारों में मूलचन्द्र अग्रवाल लिखित 'पत्रकार की आत्मकथा' तथा इन्द्र विद्या वाचस्पति कृत जीवन की झाँकियाँ (सन् १९३५, ४५, ४७) उल्लेखनीय हैं ।

अन्य उल्लेख्य आत्मचरितों में स्वामी दयानन्द लिखित 'आत्मचरित' (सन् १८६० ई०), सत्यानन्द अग्निहोत्री लिखित 'मुझमें देव जीवन का विकास' (सन् १९१० ई०), भाई परमानन्द लिखित 'आप बीती' (सन् १९२१ ई०), स्वामी श्रद्धानन्द लिखित 'कल्याण-मार्ग का पथिक' (सन् १९२४ ई०), रामविलास शुक्ल लिखित 'मैं क्रांतिकारी कैसे बना' (सन् १९३३ ई०), भवानीदयाल सन्यासी लिखित 'प्रवासी की आत्मकथा' (सन् १९३९ ई०) महत्त्वपूर्ण हैं ।

आत्मकथा साहित्य के प्रसंग में 'हंस' का 'आत्मकथांक' (१९३२) अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है । प्रेमचन्द द्वारा संयोजित और सम्पादित इस विशेषांक में हिन्दी के विभिन्न प्रसिद्ध लेखकों ने आत्मकथापरक प्रसंग लिखे थे । कुछ लेखकों ने कविता का भी माध्यम चुना था, जैसे प्रसाद ने । इस विशेषांक के प्रकाशन के उपरान्त यह विवाद चला कि आत्मकथा लिखने की पात्रता किस प्रकार निर्धारित हो । बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'जागरण' में यह प्रश्न उठाया था कि आत्मकथा किसे लिखनी चाहिये ?

संस्मरण का माध्यम आत्मकथा से प्रेरित होने पर भी शिल्प में उससे भिन्न है । वस्तुतः

अकाल्पनिक गद्य वृत्तों की धारणा सबसे पहले संस्मरण को देख कर ही बनती है। जीवनी और आत्मकथा के साथ इतिहास का सम्बन्ध कुछ इस तरह जुड़ा रहा कि उनका साहित्यिक रूप बहुत बाद में विकसित हो पाया। पर संस्मरण आरम्भ से ही सर्जनात्मक गद्य का उपयोग करता दिखाई पड़ता है और अपनी व्यापक प्रकृति के कारण अब भी स्फुट गद्य रूपों के बीच केन्द्रीय स्थिति में है। तीव्र भावात्मक गठन और गहरी सर्जनात्मक भाषा वाले परम्परित काव्य रूप जैसे, उपन्यास, नाटक, कविता आधुनिक तनावों के युग में सब समय पाठक के लिये रुचिकर नहीं हो पाते। वैसी स्थिति में वह पत्रकारिता के विविध रूपों की ओर उन्मुख होता है जो अपनी प्रकृति में मूलतः सूचनात्मक और वस्तुपरक होते हैं। संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज़ जैसे नये गद्य रूप इन दोनों स्थितियों के बीच के अन्तराल में विकसित हुये हैं, और जैसा ऊपर संकेत किया गया, आधुनिक कला वृत्ति के अनुकूल स्वचेतनता और निर्वैयक्तिकता के विरोधी ध्रुवों के बीच समतुलित क्षेत्र का विस्तार करते हैं। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से ये हल्की सर्जनात्मकता का रूप लिये सामान्य और हल्की मनःस्थितियों का अंकन करते हैं, जो प्रायः विशिष्ट साहित्य-रूपों में उतनी संगति प्राप्त नहीं कर पातीं। इस दृष्टि से इन काव्य-रूपों की सर्जनात्मकता में भाषिक स्तर पर एक विशेष प्रकार की कुशलता अपेक्षित होती है, क्योंकि कविता और पत्रकारिता के बीच का एक आदर्श संतुलन इन माध्यमों की सामान्य भाव-भूमि है। पठन-रुचि के विकास में इन रूपों का महत्त्व इसलिये हो चला है, क्योंकि ये साहित्य के स्तर पर परिचालित होते हुये भी साहित्य में 'कवितावादी' वातावरण को हल्का करने में सहायक होते हैं, और इससे साहित्य बोध का संस्पर्श अनेक ऐसे अनुभव-क्षेत्रों से संभव होता रहता है, जिनसे परम्परित साहित्यकार या तो परिचित नहीं हैं, या जिन्हें वे अब तक तुच्छ और हेय मानते आये हैं। साहित्य के क्षेत्र से महाकाव्य का क्रमिक विलोप यदि इस बात का सूचक है कि महनीय कथानक अपने आप में आज रचना की उपयुक्त सामग्री नहीं हैं तो गद्य-रूपों का आविर्भाव सामान्य समझी जाने वाली मनःस्थितियों की संगति पहचानने का यत्न है।

इन नये गद्य रूपों में संस्मरण की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत व्यापक है। संस्मरण का आधार व्यक्ति, घटना, यात्रा या कोई अन्य प्रसंग हो सकता है और यों इसका विस्तार क्षेत्र अधिक है। पर अधिकतर संस्मरण व्यक्ति चरित्र को आधार बना कर लिखे गये हैं। हिन्दी के आरम्भिक संस्मरण लेखकों में पद्मसिंह शर्मा का नाम प्रमुख है। सच तो है कि हिन्दी में संस्मरण को कला रूप की प्रतिष्ठा शर्मा जी के माध्यम से ही मिलती है। अपने क्षेत्र में आरम्भिक प्रयास होने पर भी महाकवि अकबर, सत्यनारायण कविरत्न, भीमसेन शर्मा प्रभृति के सम्बन्ध में लिखे पद्मसिंह शर्मा के संस्मरण आज भी बेजोड़ हैं। 'पद्म पराग' (१९२९) में संकलित संस्मरण, कहीं कहीं भावुकता से परिचालित होने पर भी, साहित्यिक सहृदयता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। हल्के विनोद का भाव इन गद्य खण्डों को यथावश्यक रूप से आलोकित करता है, जो जीवनियों और आत्मकथाओं के अधिकतर सोद्देश्य वातावरण में प्रायः सुलभ नहीं था। यह विनोद भाव नवोदित गद्य रूपों की एक मुख्य वृत्ति है।

संस्मरण लेखन में प्रसिद्ध पत्रकार बनारसीदास चतुर्वेदी को भी पर्याप्त सफलता

मिली है। उनके संस्मरणों के चरित्र अपेक्षया विस्तृत क्षेत्र से चुने गये हैं, और मानवतावादी भावभूमि में लेखक की गम्भीर निष्ठा व्यक्त करते हैं। 'संस्मरण' सन् (१९५२) ई० में संकलित सभी गद्य खण्डों में उपर्युक्त विशेषतायें देखी जा सकती हैं। पर चतुर्वेदी की शैली में व्यक्तित्व विश्लेषण का उपक्रम कम है, व्यक्तित्व से अभिभूत होने की प्रवृत्ति अधिक है। उनके संस्मरण का रूप अधिकतर छोटी मोटी घटनाओं या पत्रांशों के आधार पर विकसित होता हैं, इसलिये चारित्रिक वृत्तियों की गहरी पकड़ विश्लेषण के अभाव में बहुत बार सम्भव नहीं हो पाती।

बहुत कुछ ऐसी ही शिल्पविधि का अनुसरण करने वाले संस्मरण-लेखक कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' हैं। उनकी शैली में सर्वत्र एक जी न्तता का अनुभव होता है, जो कभी-कभी अतिरंजित भी लगने लगती है। प्रभाकर के संस्मरणों में साधारण के प्रति आकर्षण विशेष रूप से प्रीतिकर जान पड़ता है, और उसी के अनुरूप उनका पौरुष भी है। स्वस्थ और नैतिक जीवन की माँग उनके लेखन में से बारबार उभरती है। 'दीप जले शंख बजे' (सन् १९५८ ई०) प्रभाकर के विशिष्ट संस्मरणों का संकलन है।

महात्मा गांधी, मदनमोहन मालवीय प्रभृति राष्ट्रीय नेताओं को लेकर काफी और अच्छे संस्मरण लिखे गये हैं। गांधी जी को केन्द्र में रखकर एक पूरी संस्मरणात्मक पुस्तक घनश्यामदास बिड़ला की है, शीर्षक है 'बापू' (सन् १९४० ई०)। पूरी रचना में एक बड़े और जटिल व्यक्तित्व का कई पक्षों से विश्लेषण किया गया है, और भावुकता का आग्रह कम है। 'बापू' में वस्तुतः संस्मरणात्मक ढंग से जीवनी प्रस्तुत करने का यत्न हुआ है। कुछ ऐसे ही ढंग की कृति रामनरेश त्रिपाठी की है 'तीस दिन मालवीय जी के साथ' (सन् १९४२ ई०)। एक साहित्यकार द्वारा लिखी होने के कारण इस रचना में सहृदयता का भाव सर्वत्र मिलता है, जो चरित-नायक के व्यक्तित्व में मिलकर और निर्मल हो उठा है। गांधी जी के संस्मरण-लेखकों में प्रभुदास गांधी ('जीवन-प्रभात') और भवानी दयाल सन्यासी (गांधी जी के संस्मरण) के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

संस्मरण-लेखन के क्षेत्र में कुछ अन्य नाम हैं—किशोरीदास वाजपेयी ('साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण'), ब्रजमोहन वर्मा, जवाहरलाल चतुर्वेदी, विनोद शंकर व्यास, उपेन्द्र नाथ 'अश्क' ('मण्टो : मेरा दुश्मन'), यशपाल ('सिंहावलोकन'), जैनेन्द्र कुमार ('ये और वे'), रामवृक्ष बेनीपुरी ('जंजीरें और दीवारें'), भदंत आनंद कौसल्यायन ('जो न भूल सका'), शिवरानी प्रेमचन्द ('प्रेमचन्द घर में'), विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे आदि। इन सब का लेखन निश्चय ही एक स्तर का नहीं है। कुछ लेखकों में संस्मरण के नाम पर फूहड़ ढंग का आत्म-विज्ञापन अधिक मिलता है, जबकि संस्मरण की उत्कृष्टता इसी में है कि उसमें आत्मविज्ञापन बिलकुल समतुलित हो। मन्मथनाथ गुप्त की पुस्तक 'क्रान्ति युग के संस्मरण' (सन् १९३७ ई०) और श्रीराम शर्मा की 'सन् बयालिस के संस्मरण' (सन् १९४८ ई०) राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के विशिष्ट क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं।

रेखाचित्र और संस्मरण के बीच की विभाजक रेखा बहुत सूक्ष्म है। प्रायः इनका रूप परस्पर अन्तर्भुक्त दिखाई देता है। यदि इन रूपों में अन्तर करना ही हो तो कई बातें

देखी जा सकती हैं। रेखाचित्र में व्यक्तित्व को समग्रतः और बहुत कुछ स्थिर रूप में देखने की चेष्टा होती है; आकृति को भेदकर अन्तःप्रकृति का अंकन उसका मुख्य उद्देश्य है। संस्मरण व्यक्ति को गत्यात्मक रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, व्यक्ति के अतिरिक्त बाह्य घटनाओं को भी महत्त्व देता है। इसीलिये सामान्यतः संस्मरण का पात्र घटनाओं को संभव करने वाला कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व होगा, जबकि रेखाचित्र में साधारण पात्रों का अंकन भी उतनी ही प्रभविष्णुता से होता है जितना कि विशिष्टों का। अपनी प्रकृति में रेखाचित्र अनिवार्यतः संस्मरणात्मक होगा, पर संस्मरण में रेखाचित्र निहित हो, यह जरूरी नहीं। कुल मिलाकर अपनी स्थिर वृत्ति के अनुकूल रेखाचित्र की कला अपेक्षया सीमित क्षेत्र में रहती है, पर मानव व्यक्तित्व के अन्वेषण में उसकी पहुँच स्वभावतः अधिक है। रेखाचित्र की विशिष्टता इस बात में भी है कि वह परम्परित 'हीरो' को हटाकर उसके स्थान पर सामान्य व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करता है।

हिन्दी के रेखाचित्र लेखकों में महादेवी वर्मा का नाम अग्रणी है। अकाल्पनिक वृत्त के लिये सर्जनात्मक भाषा का प्रयोग उन्होंने काफी पहले आरम्भ किया, और इस क्षेत्र में उनकी सफलता निश्चय ही स्पृहणीय है। रोचक बात यह है कि महादेवी की कविता की भाषा और गद्य की भाषा में अन्तर बहुत अधिक है। उनके रेखाचित्रों की भाषा में शब्दों का ठोस प्रयोग छायावादी कविता के स्वप्निल वातावरण से बिलकुल भिन्न है। यह शायद रेखाचित्रों की यथार्थ दृष्टि और मानवतावादी भावभूमि के कारण हो सकता है। यों, मानवतावादी भाव-भूमि रेखाचित्र के संघटन के साथ ऐसी जुड़ी है कि प्रायः सभी लेखक रेखाचित्र के माध्यम में मनुष्य को उसके सारे परिवेश और आवरण से अलग करके उसे मूलतः मनुष्य के ही रूप में देखना चाहते हैं। रेखाचित्र लेखन की यही केन्द्रीय वृत्ति है।

महादेवी के रेखाचित्रों में एक ओर यदि बाहरी ब्यौरे का सूक्ष्मतम अंकन है तो दूसरी ओर करुणा और सहानुभूति के तत्त्व अन्तर्वर्त्ती धरातल पर बराबर घुले मिले हैं, और सबसे बड़ी बात यह है कि करुणा और सहानुभूति के इस वातावरण में लेखिका का विनोद-भाव बड़े उपयुक्त और संगत ढंग से उभरता है। इस विनोद-भाव के कारण रेखाचित्रों की सजीवता और विश्वसनीयता मानों और बढ़ जाती है। 'घीसा' या 'चीनी फेरीवाला' या 'रामा' के रेखाचित्र अपनी मानववादिता, सहानुभूति और विनोद-भाव की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से अपने-आप में सम्पूर्ण सृष्टि के उदाहरण हैं। इन रेखाचित्रों का सहज और निर्मल गद्य स्वतः एक विशिष्ट उपलब्धि है। 'अतीत के चलचित्र' (सन् १९४१ ई०) और 'स्मृति की रेखायें' (सन् १९४३ ई०) में संकलित प्रायः सभी रेखाचित्र अपने विधान में पूर्ण हैं। हिन्दी के अकाल्पनिक-गद्य के ये श्रेष्ठ उदाहरण कहे जा सकते हैं, जहाँ भावुकता के स्थान पर विनोद भाव है, कोरे यथार्थवाद की जगह मानव-व्यक्तित्व में गहरी निष्ठा है और कल्पना के साहचर्य के बिना हल्की सर्जनात्मक भाषा है। और इन सभी तत्त्वों के सानुपात प्रयोग में लेखिका की कला का मूल रहस्य निहित है, जिसके कारण उसे महान-उदात्त व्यक्तियों को अपने रेखाचित्रों के लिये नहीं चुनना पड़ा। सामान्य अकिंचन जनों का अंकन लेखिका के

रचनात्मक आत्मविश्वास का सूचक है। 'पथ के साथी' (सन् १९५६ ई०) समकालीन लेखकों के चित्रों का संकलन है।

हिन्दी रेखाचित्र-लेखन में बनारसीदास चतुर्वेदी के आरम्भिक प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं। पर लेखक के संस्मरणों में जैसी जीवन्तता है, वैसी रेखाचित्रों में नहीं मिलती। रेखाचित्र को अंकित करने में जैसा शांत और संयमित शिल्प चाहिये वह आन्दोलक पत्रकार चतुर्वेदी की विशेषता नहीं है। चतुर्वेदी के चरित्रांकन की विशेषता यह है कि वे दीनबन्धु एंड्रूज और 'विशाल-भारत' के चपरासी का अंकन समान निष्ठा के साथ करते हैं। यदि उद्धरणों का इतना अधिक उपयाग वे न करते जैसा कि उन्होंने किया है तो उनके रेखाचित्रों का कलात्मक संघटन कहीं अधिक बेहतर होता। 'रेखाचित्र' (सन् १९५२ ई०) और 'हमारे आराध्य' उनके दो रेखाचित्र संकलन हैं।

शिकार साहित्य के अप्रतिम लेखक श्रीराम शर्मा के रेखाचित्रों की अपनी विशेषता है। पद्मसिंह शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पर्क में रहने पर भी उनकी रेखाचित्र-शैली इन दोनों से भिन्न हैं। 'बोलती प्रतिमा' (सन् १९३७ ई०) में संकलित रेखाचित्र जैसी सहानुभूति और आत्मीयता के साथ देसी जीवन को अभिव्यंजित करते हैं, वह अन्यत्र कठिनाई से मिलेगी। अपनी तद्भवता और प्रवाह के लिये श्रीराम जी की शैली प्रसिद्ध है।

देसी जीवन के निम्न ग्रामीण वर्ग को जो सहानुभूति श्रीराम शर्मा से मिली है, मध्य वर्ग के अनेक स्तरों को वैसी ही पुष्ट सहानुभूति कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने दी है। पर प्रभाकर की शैली में कहीं-कहीं अतिरंजना खटकने लगती है। उनका गद्य उछलता-सा जान पड़ता है जो कालान्तर में एकरस हो उठता है। छोटे नगरों और कस्बों का जीवन अपनी सारी अनौपचारिकता और अतिपरिचय की भावना के साथ प्रभाकर के रेखाचित्रों में अंकित हुआ है, और यह उनके लेखन का प्रिय क्षेत्र भी है। 'नयी पीढ़ी : नये विचार' (सन् १९५० ई०), 'ज़िन्दगी मुस्कराई' (सन् १९५४ ई०) तथा 'माटी हो गई सोना' (सन् १९५७ ई०) में लेखक के रेखाचित्र मुख्यतः संकलित हुये हैं।

रामवृक्ष बेनीपुरी के रेखाचित्रों की शैली भी जीवन्त और स्फूर्तिदायक है। शैली का यह विशेष रूप बहुत कुछ तत्कालीन स्वाधीनता-संग्राम की मनःस्थिति से प्रेरित हो सकता है, जो कुछ भावुकता के साथ मिश्रित होकर कई लेखकों में दिखाई देता है। पर भाषा की यह उद्बोधनपरक शैली बहुत जगह साहित्येतर, अतिरंजना से युक्त और ऊपर से आरोपित जान पड़ती है। इसीलिये अर्थ शक्ति को गहरे स्तरों पर वह समृद्ध नहीं करती, वरन् सीमित कर देती है। भाषा का आधुनिक रूप उत्तरोत्तर मितकथन की ओर उन्मुख हुआ है। इस दृष्टि से बेनीपुरी की शैली एक युग विशेष के स्मारक रूप में हमारे सामने आती है। 'माटी की मूरतें' (सन् १९४६ ई०), 'गेहूँ और गुलाब' (सन् १९५० ई०) बेनीपुरी के रेखाचित्र संकलन हैं।

रेखाचित्र लेखन में प्रकाशचन्द्र गुप्त और विष्णु प्रभाकर का योगदान उल्लेखनीय है। दोनों लेखकों ने साधारण निम्न वर्ग के चरित्रों को बड़ी सहानुभूति के साथ अंकित किया है। प्रकाश जी के रेखाचित्रों में व्यक्ति के साथ-साथ प्राकृतिक दृश्यों और स्थलों के चित्र भी उरेहे

गये हैं। प्रभाकर ने आधुनिक औद्योगिक और नागरिक सभ्यता के दौर में उभर कर आये चरित्रों के बनते हुये संस्कार समझने की कोशिश की है। मिस्त्री और चपरासी की वर्गगत और वैयक्तिक स्थितियाँ लेखक की सहानुभूति विशेष रूप से आकृष्ट कर सकी हैं। 'जाने-अनजाने' (सन् १९६० ई०) में विष्णु प्रभाकर ने समाज के विभिन्न क्षेत्रों से प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध व्यक्तियों को चुना है। प्रकाश जी के रेखाचित्र 'रेखाचित्र' (सन् १९४०) और 'पुरानी स्मृतियाँ' (सन् १९४७ ई०) में संकलित हुये हैं। वे इस क्षेत्र के आरम्भिक और बराबर प्रयोग करने वाले लेखकों में से हैं।

रेखाचित्र के माध्यम को गम्भीरता और निष्ठा के साथ विनयमोहन शर्मा ने भी स्वीकार किया है। आलोचक होने के नाते इस प्रसंग में उन्होंने सैद्धान्तिक चर्चा भी की है। साधारण सामान्य चरित्र और छोटी-छोटी घटनाओं को उपकरण बनाकर विनयमोहन जी ने अपने चित्र अंकित किये हैं। 'रेखा और रंग' (सन् १९५५ ई०) के चित्र दैनंदिन जीवन के अनेक पक्षों को प्रस्तुत करते हैं, जिनमें पूसी बिल्ली भी शामिल है और लेखक के मित्र भी।

रेखाचित्र कला की एक खास तरह की सूक्ष्मता और सुकुमारता देवेन्द्र सत्यार्थी की रचनाओं में मिलती है। मिट्टी की गंध और लोक जीवन के रस के साथ-साथ अन्तर्प्रादेशिक और अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति का जैसा सामंजस्य सत्यार्थी ने किया है, वह भाषिक शिल्प के स्तर पर भी वैसा ही खरा उतरा है। उनके रेखाचित्रों को कविता या लोक गीतों के वातावरण ने आक्रान्त नहीं किया, उन्होंने स्वयं कविता के तत्त्वों का कुशल उपयोग किया है। इस दृष्टि से सत्यार्थी का गद्य काफी सहज और भावपूर्ण है, न उसमें अतिरंजना है और न एकान्त वस्तु-परकता। 'रेखायें बोल उठीं' (सन् १९४९ ई०) उनके रेखाचित्रों का संकलन है, यों अपने लोकगीतों से सम्बद्ध ग्रन्थों तथा अन्य गद्य-प्रसंगों में भी लेखक ने रेखाचित्र के शिल्प का बराबर उपयोग किया है।

रेखाचित्र के क्षेत्र में प्रयोग करने वाले अन्य प्रमुख लेखक हैं—निराला ('बिल्लेसुर बकरिहा'), प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती ('ठेले पर हिमालय'), अमृत राय ('गीली माटी'), नगेन्द्र। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने कुछ लेखक मित्रों के बड़े सजीव और अन्तर्दृष्टिपूर्ण चित्र प्रस्तुत किए हैं। जगदीशचन्द्र माथुर के रेखाचित्रों में तटस्थता और संसक्ति का एक प्रीतिकर सामंजस्य मिलता है। 'दस तस्वीरें' (सन् १९६३ ई०) में जीवन के विविध क्षेत्रों से चुने हुए विशिष्ट जीवन रूपों का चित्रण उनकी जटिलता को केन्द्र में रखकर किया गया है। इस दृष्टि से रेखाचित्र की यह शैली आधुनिक पद्धति के नजदीक है। क्योंकि आरम्भिक रेखाचित्रों में व्यक्ति-जीवन को अधिकतर सरल रूप में ही अंकित किया जाता था। माथुर, अमरनाथ झा या पन्नालाल घोष जैसे विशिष्ट चरित्रों के प्रति आकृष्ट ही नहीं हुए, उनका सूक्ष्म विश्लेषण करने का यत्न भी उन्होंने किया है, और यही कारण है कि उनके रेखाचित्र आधुनिक पाठक के लिए अधिक तृप्तिकर हैं।

साहित्यकारों के पत्र एक खास अर्थ में गद्य रूपों के अन्तर्गत रक्खे जाते हैं। यह ठीक है कि सजग भाव से उनका सृजन साहित्य के रूप में नहीं होता, पर लिखने में अधिकतर

सर्जनात्मक भाषा प्रयोग के अभ्यस्त हो जाने के कारण लेखकों के पत्रों का भाषिक गठन किसी सीमा तक प्रायः सर्जनात्मक हो जाता है। कुछ पत्रों की प्रकृति केवल सूचनात्मक भी होती है, पर उनका साहित्यिक महत्त्व हो सकता है। इस दृष्टि से कुछ पत्र साहित्यिक गद्य में लिखे होते हैं, और कुछ अन्य इतिवृत्तपरक होते हुए भी साहित्यिक सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण होते हैं। उदाहरणार्थ, लेखकों के पत्रों में उनकी अपनी रचना प्रक्रिया का विश्लेषण रहता है, जो उनकी कृतियों को बेहतर ढंग से समझने में सहायता दे सकता है।

पत्र सजग भाव से साहित्य के रूप में नहीं लिखे जाते। इस स्थिति में अनजाने में ही एक लाभ लेखक को मिल जाता है, वह यह कि लेखक अपनी भाषा और शैली में अबाधित भाव से प्रयोग कर सकते हैं, करते हैं। इसीलिए कुछ अंग्रेज़ी कवियों के पत्रों में गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। सीधी, स्वच्छन्द और निर्भीक अभिव्यक्ति, अनौपचारिक, आत्मीय शैली और सारगर्भित स्थितियों का सही, यथार्थ अंकन, ये कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो लेखकों के पत्रों को विशेष प्रकार के साहित्य रूप की कोटि दे देती हैं। साहित्य, जो लिखते समय नहीं, लिख जाने के बाद साहित्य की संज्ञा प्राप्त करता है। विशिष्ट अनुभव की एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का माध्यम पत्र होता है।

हिन्दी में अभी बहुत कम पत्र साहित्य प्रकाशित हुआ है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (द्विवेदी पत्रावली), धीरेन्द्र वर्मा (यूरोप के पत्र), प्रेमचन्द (चिट्ठी-पत्री) और पद्मसिंह शर्मा के कुछ पत्रों के संकलन अब उपलब्ध हैं। कुछ लेखकों ने पत्र शैली का सजग प्रयोग करके तात्कालिक स्थितियों के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं। ऐसे काल्पनिक पत्रों में बालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखित 'शिवशंभु के चिट्ठे' और 'चिट्ठे और खत' अपनी व्यंग्यपरक शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक ने दुबे जी के नाम से 'चिट्ठा' लिखा। पर कौशिक के पत्रों में हास्य का अपेक्षाकृत स्थूल रूप है, जबकि बालमुकुन्द गुप्त के चिट्ठों में गहरा और सटीक व्यंग्य और तीव्र वाग् वैदग्ध्य है। 'शिवशंभु के चिट्ठे' हिन्दी गद्य साहित्य का स्थायी अंग है। रामनाथ 'सुमन' के पत्र भी सजग भाव से लिखे गए हैं। उनमें पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं का गम्भीर भाव से विश्लेषण हुआ है। 'भिक्षु के पत्र' भदन्त आनन्द कौसल्यायन का संकलन है। कथा साहित्य में जहाँ-तहाँ पत्र शिल्प का उपयोग किया गया है, उसकी चर्चा यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

पर पत्र साहित्य का मौलिक और महत्त्वपूर्ण अंग साहित्यकारों के वास्तविक पत्र ही हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचन्द के पत्र दो महान् लेखकों के व्यक्तित्व को सहज भाव से प्रगट करते हैं, साथ ही, अपने साहित्यिक युग का बड़ा सजीव चित्र भी उपस्थित करते हैं। लेखकों की समकालीन परिस्थिति की जटिलता का कुछ अनुमान उनके पत्रों के माध्यम से हो सकता है। और फिर बहुत से समकालीन पत्र तो स्वतन्त्र रूप से गद्य और शैली-रचना के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। सच तो यह है कि पत्र साहित्य अकाल्पनिक गद्य वृत्त का एक स्तर पर बड़े अच्छे ढंग से प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि कल्पना का अंश उसमें नहीं के बराबर है, अतः सर्जनात्मकता का सारा दायित्व भाषिक संगठन पर है, सर्जनात्मकता भी ऐसी जिसमें अनुपात का तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण है।

संस्मरण, रेखाचित्र और पत्रों में व्यक्तित्व का अंकन विश्लेषणप्रधान है। कुछ अन्य गद्य रूपों में लेखक की बाहरी दुनिया के प्रति प्रतिक्रिया विशेष रूप से व्यक्त होती हैं। यात्रा-संस्मरण, रिपोर्ताज, डायरी-जर्नल दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। दृष्टि विस्तार इनमें स्वभावतः कुछ अधिक मिलता है और वर्णन की गुंजाइश भी अधिक रहती है। गद्य की मूल प्रकृति वर्णनात्मक होती है, इस दृष्टि से यात्रा-संस्मरण, या रिपोर्ताज या डायरी-जर्नल में गद्य का रूप खूब निखरता है।

यात्रा-संस्मरण अपने मूल यात्रा-वृत्त रूप में आरम्भिक गद्य का एक अपेक्षया प्रचलित माध्यम रहा है। जीवनी—आत्मकथा जैसे एक विन्दु पर इतिहास का स्पर्श करते हैं, उसी तरह यात्रा-संस्मरण का एक पक्ष भूगोल के आकर्षण से जुड़ा हुआ है। देशदर्शन यात्रा-संस्मरण की मूल वृत्ति हैं जिसमें एक ओर प्रकृति की पुकार है, दूसरी ओर साहसिक जिज्ञासा। यात्रा मानो विराट् मानवीय विकास का ही एक सीमित प्रतीक है। इस दृष्टि से यात्रा-संस्मरण लेखक और पाठक दोनों के लिए एक आदिम प्रतीक या पुराण कथा की भाँति बार-बार अपने को खोलता चलता है।

आरम्भिक रूप में यात्रा वृत्त स्वभावतः परिचयात्मक और स्थूल वर्णनप्रधान थे। विदेश जाने वाले यात्री पानी के जहाज का ही ऐसे वर्णन करते थे, मानो किसी विशाल राजप्रासाद का हाल बता रहे हों। उनके वर्णन में प्रायः एक बाल सुलभ उल्लास और उत्साह रहता था, फलस्वरूप उनकी दृष्टि आकारों पर इतनी अधिक थी कि अन्तरंग प्रायः उपेक्षित और विस्मृत होता था। आधुनिक यात्रावृत्त या कहिए यात्रा-संस्मरण आकारों, आकृतियों और अंतरंग का एक उत्तरोत्तर बेहतर अनुपात खोजने में संलग्न रहा है, भाषा को सर्जनात्मक और संवेदन को सूक्ष्मतर बनाते हुए।

हिन्दी के शुरू के यात्रावृत्तों में बाबू शिवप्रसाद गुप्त की कृति 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' (सन् १९२४ ई०) उल्लेखनीय है। जैसा नाम से स्पष्ट है, इस पुस्तक में विश्व भ्रमण का विस्तृत आख्यान है, जो बड़ी रोचक शैली में अनेक चित्रों के साथ प्रस्तुत किया गया है। मौलवी महेश प्रसाद का ग्रन्थ 'मेरी ईरान यात्रा' (सन् १९३० ई०) उतनी महत्त्वाकांक्षी रचना नहीं है। सरल भाषा और आत्मीय शैली उसकी प्रधान विशेषताएँ कही जा सकती हैं। इन आरम्भिक यात्रा वृत्तों से प्रगट होता है कि उस काल के लेखक के लिए, अन्य क्षेत्रों की भाँति ही यात्रा वर्णन में भी विषय का मोह और महत्त्व अधिक था। विदेश यात्राएँ ही प्रायः वृत्तों का आधार बनती थीं। लेखक की भाषा में अभी इतनी शक्ति न थी, कि वह विषय के झूठे महत्व का अतिक्रमण कर सके।

हिन्दी लेखकों में अप्रतिम घुमक्कड़ और गाथाकार राहुल सांकृत्यायन ने कई यात्रा वृत्त प्रस्तुत किए हैं। भूगोल के अतिरिक्त समाज, इतिहास और संस्कृति की तह तक इन वृत्तों में उनकी निगाह पहुँचती है, यद्यपि शैली उनकी भी इतिवृत्तप्रधान है। 'मेरी लद्दाख यात्रा' (सन् १९२६ ई०), 'लंका यात्रावलि' (सन् १९२७-२८ ई०), 'तिब्बत में सवा वर्ष (सन् १९२९ ई०)', 'मेरी यूरोप यात्रा' (सन् १९३२ ई०), 'मेरी तिब्बत यात्रा' (सन् १९३४ ई०), 'यात्रा के पन्ने' (सन् १९३४-३६), 'जापान' (सन् १९३५ ई०), 'ईरान' (सन् १९३५-३७ ई०),

'रूस में पच्चीस मास' (सन् १९४४-४७ ई०), 'किन्नर देश में' (सन् १९४८ ई०), 'एशिया के दुर्गम खंडों में' (सन् १९५६ ई०)। राहुल के यात्रावृत्त हैं। इन सबके अतिरिक्त है घुमक्कड़शास्त्र (१९४९)। ये सभी रचनाएँ समान स्तर की नहीं हैं, हाँ इतिवृत्त की प्रधानता और रोचक वर्णन शैली सब में परिलक्षित की जा सकती है। हिन्दी यात्रा साहित्य में राहुल का योगदान परिमाण और वैविध्य दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

विदेश यात्रा के सुगम, सुलभ और उत्तरोत्तर प्रचलित होने के साथ-साथ यात्रा-संस्मरण लिखने और पढ़ने में रुचि बढ़ती है। भगवतशरण उपाध्याय, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, दिनकर, यशपाल, प्रभाकर माचवे, अमृतराय प्रभृति लेखक, जो कुछ अन्य अकाल्पनिक वृत्तों के लिए भी गद्य का सर्जनात्मक प्रयोग करते रहे हैं, यात्रा-संस्मरण के माध्यम को विकसित करते हैं। यह स्मरणीय है कि इन सभी लेखकों ने प्रायः विदेशयात्रा का वर्णन प्रस्तुत किया है। स्वदेश भ्रमण के वृत्त लिखने योग्य आत्मविश्वास अभी कम लेखकों में दिखता है, विदेश यात्रा के वर्णन की मनोवृत्ति में स्पष्ट ही बल विषय पर अधिक है, भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग पर उतना नहीं।

उपाध्याय के यात्रा-संस्मरणों में प्राचीन इतिहास और संस्कृति के रोचक उल्लेख होते हैं। कलकत्ता से पीकिंग' (सन् १९५५ ई०) और 'सागर की लहरों पर' (सन् १९५९ ई०) इन दोनों ही वृत्तों में लेखक की गहरी मानवीय सहानुभूति व्यक्त हुई है, क्योंकि उसके देखने का माध्यम मूलतः संस्कृति है। कौसल्यायन ('आज का जापान'), अमृतराय ('सुबह के रंग') और उपाध्याय की दृष्टि में एशियाई संस्कृति की एकता का प्रश्न उभर कर आता है। 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' (सन् १९५३ ई०) में यशपाल ने सोवियत और पूँजीवादी देशों का तुलनात्मक वृत्त प्रस्तुत किया है। रामधारी सिंह 'दिनकर' और प्रभाकर माचवे के यात्रा-संस्मरण यूरोप और अमरीका से सम्बद्ध हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी और बंगला लेखक देवेशदास के यात्रा-संस्मरणों की शैली में भावात्मकता और हल्के व्यंग का बड़ा प्रीतिकर मिश्रण मिलता है। लोकगीतों की खोज में अनवरत घूमने वाले देवेन्द्र सत्यार्थी के लोकगीत सम्बन्धी निबन्धों, रेखाचित्रों आदि में बराबर यात्रा-प्रसंग आते रहते हैं। लोकगीतों के माध्यम से विभिन्न प्रदेशों और उनकी संस्कृतियों की एकता समझने का यह उपक्रम निश्चय ही बहुत उपयोगी है। 'धरती गाती है', 'रथ के पहिये' आदि कृतियों में सत्यार्थी का यायावर रूप प्रधान है। दास के यात्रा संस्मरणों में बंगाल के ताल और राजस्थान की मरुभूमि एक दूसरे से भावात्मक स्तर पर मिलते हैं। देशी और विदेशी दोनों ही प्रकार के यात्रा स्थलों का लेखक ने बड़ा सुरुचिपूर्ण अंकन किया है। दास की रचनाओं 'यूरोप' और 'राजसी' दोनों में ललित गद्य, रेखाचित्र और यात्रावृत्त का सुखद मिश्रण हुआ है।

अन्य क्षेत्रों की भाँति हिन्दी के यात्रा साहित्य में भी अज्ञेय एक मोड़ लाए हैं। जैसा संकेत किया गया, अभी तक के यात्रा वृत्तों में प्रायः विदेशी यात्राओं को, कुछ-कुछ उनकी चकाचौंध के साथ वर्णित किया जाता रहा है। अज्ञेय के साथ लगता है कि यात्रा एक देश की होने के साथ एक व्यक्ति द्वारा की गई है, और यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसीलिए वे देशी

और विदेशी दोनों यात्रा-प्रसंगों को समान आत्मविश्वास के साथ चुनते हैं, क्योंकि उनके लिए वर्ण्यविषय का उतना महत्त्व नहीं जितना कि उनके द्वारा प्रयुक्त भाषिक सर्जनात्मकता का है। एक प्रकार से अकाल्पनिक गद्य वृत्त का वास्तविक आधुनिक रूप अज्ञेय के साथ आरम्भ होता है, और यात्रावृत्त से झुकाव यात्रा-संस्मरण की ओर हो चलता है।

'अरे यायावर रहेगा याद ?' (सन् १९५३ ई०) में असम से लेकर पश्चिमोत्तर सीमा-प्रदेश तक की यात्रा का वर्णन हुआ है। अपने देश और उसके विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों को पूरी सहानुभूति, निष्ठा और जागरूकता के साथ लेखक ने समझना चाहा है, और यात्रा के भौगोलिक वैविध्य को तो उसने अनेक रंगों में अंकित किया ही है। पर इसके बावजूद 'अरे यायावर रहेगा याद ?' का गद्य बहुत से स्थलों पर दूर-दूर तक परिचयात्मक है। लेखक का दूसरा यात्रा-संस्मरण 'एक बूँद सहसा उछली' (सन् १९६० ई०) विदेशी यात्राओं से सम्बद्ध है, पर सारा अंकन बड़ी हल्की रेखाओं में है। विदेश के संदर्भ में सामान्यतः मिलने वाली अतिरंजित प्रतिक्रिया का लेश भी नहीं आने पाता। और सब से बड़ी उपलब्धि है लेखक का गद्य जो यात्रा-संस्मरण की प्रकृति के अनुकूल हल्की सर्जनात्मकता से सर्वत्र आलोकित है। अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, रचना संघटन और भाषा-प्रयोग के कारण 'एक बूँद सहसा उछली' का अध्ययन किसी भी संवेदनशील पाठक के लिए समृद्धिकर अनुभव है। समूची कृति अपनी एक रचना-दृष्टि व्यंजित करती है, जिसमें मूलतः मानवीय आस्था और आस्तिकता का स्वर है। इस दृष्टि से अज्ञेय का यह यात्रा-संस्मरण अपने में एक पूरी कलाकृति है, और अकाल्पनिक गद्य रूपों की नयी शक्ति-सम्भावना का पहला महत्त्वपूर्ण संकेत भी।

मोहन 'राकेश' का यात्रा-संस्मरण 'आखिरी चट्टान तक' (सन् १९५३ ई०) दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों को प्राकृतिक दृश्यों और चरित्रों के माध्यम से अंकित करता है। पूरी रचना का गठन काफी तृप्तिकर है, पर अतिभावुकता और अतिनाटकीयता से यात्रा-संस्मरण बोझिल हो उठा है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि लेखक वृत्त की अपेक्षा कल्पना का उपयोग अधिक कर रहा है, जिसकी वजह से पुस्तक में मानसिक तनाव के ऐसे रोमांटिक अंश आ जाते हैं जिनका अकाल्पनिक गद्य रूप की मूल प्रकृति से मेल नहीं खाता।

'हरी घाटी' (सन् १९६१ ई०) में रघुवंश का शिल्प प्रयोग काफी नया और प्रीतिकर है। रेखाचित्र, संस्मरण और डायरी इन तीनों का एक सम्पृक्त रूप इस यात्रा संस्मरण में प्रयुक्त हुआ है। यात्रा स्थल है राँची, हजारीबाग के आस-पास की छोटी पहाड़ियोंवाला प्रदेश, और लेखक के प्रवास में केन्द्रीय स्थान है, वहाँ के कैथलिक मिशनरियों की सेमिनरी। 'हरी घाटी' की विशेषता है, सामान्य और अंकिचन लगने वाली घटनाओं की संगति पहिचानने का उपक्रम। यों पूरे यात्रा संस्मरण में अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ गम्भीर और दार्शनिक समस्याओं पर बड़े सहज भाव से विचार किया गया है। पर लेखक की रचना क्षमता का वास्तविक रूप छोटी घटनाओं, चरित्रों या स्थलों के अंकन में देखने को मिलता है। यात्रा का स्वच्छ, निर्मल और गतिशील रूप प्रायः सर्वत्र एक-सा है, पर जो बड़ी कमी खटकती है, वह है विनोद भाव के न होने की। इससे वर्णन में कहीं-कहीं एकरसता आ जाती है। किन्तु इसके बावजूद 'हरीघाटी' की निष्पत्ति एक सुसंघटित रचना के रूप में हुई है।

अज्ञेय, मोहन 'राकेश', रघुवंश जिस ढंग से देशी जीवन के चित्र प्रस्तुत करते हैं, उससे यात्रा-संस्मरण लेखक का अपनी रचना शक्ति में बढ़ता हुआ विश्वास प्रगट होता है। प्रभाकर द्विवेदी का यात्रा-संस्मरण 'पार उतरि कहँ जइहौं' में ठेठ देहाती इलाके का चित्रण है, और इस तरह कम-से-कम महत्त्वपूर्ण विषय को लेकर लेखक ने सर्जन का यत्न किया है—लोक भावभूमि पर अपेक्षया तटस्थ ढँग से रचना को प्रतिष्ठित करने का यह प्रयोग काफी सफल हुआ है।

निर्मल वर्मा का यात्रा-संस्मरण 'चीड़ों पर चाँदनी' (सन् १९६४ ई०) यूरोप प्रवास के सम्मोहन से आक्रान्त हो गया है। पूर्वी योरोप के देशों को बड़े सहज और आत्मीय भाव से अपना लेने का भाव एक सीमा के बाद प्रदर्शन की मनोवृत्ति में परिणत हो जाता है। उसी प्रकार से भाषा में अंग्रेज़ी शब्दों और मुहावरों का निर्बन्ध प्रयोग रचना की प्रामाणिकता को खण्डित करता है। कुल मिलाकर 'चीड़ों पर चाँदनी' में लेखक की वर्णन प्रतिभा का सही-सही उपयोग हुआ नहीं जान पड़ता।

परिचयात्मक और सूचनात्मक यात्रावृत्त से लेकर यात्रा संस्मरण तक के विकास के बीच कुछ और लेखकों की भी कृतियाँ आती हैं। उल्लेखनीय हैं, स्वामी प्रणवानन्द कृत 'कैलाश-मानसरोवर,' शिवनन्दन सहाय कृत 'कैलाश दर्शन,' कान्ति सागर लिखित 'खोज की पगडंडियाँ' (सन् १९५३ ई०), जगदीशचन्द्र जैन लिखित 'चीनी जनता के बीच' (सन् १९५४ ई०), राज वल्लभ ओझा कृत 'बदलते दृश्य' (सन् १९५४ ई०), रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित 'पैरों में पंख बाँध कर' (सन् १९५२ ई०), सत्यदेव परिव्राजक कृत मेरी कैलाश यात्रा, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार कृत आँखों देखा रूप, सेठ गोविन्ददास लिखित पृथ्वी की कहानी (सन् १९५५ ई०), गोपाल नेवाटिया लिखित भूमंडल यात्रा, सत्यनारायण लिखित आवारे की यूरोप यात्रा, रांगेय राघव कृत तूफानों के बीच, श्रीनिधि कृत शिवालिक की घाटियों में, हंसकुमार तिवारी कृत भूस्वर्ग कश्मीर आदि। इनमें से कुछ यात्रावृत्त शुद्ध सौन्दर्य भावना से प्रेरित होकर लिखे गए हैं, कुछ के पीछे धार्मिक प्रेरणा भी है, और कुछ में विदेश यात्रा का आकर्षण है। एक प्रकार से ये हिन्दी यात्रा साहित्य के विकास की सीढ़ियाँ हैं, और यह यात्रा अब क्रमशः बाहर के साथ-साथ अन्दर भी उन्मुख हुई है।

रिपोर्ताज का माध्यम हिन्दी में ही नहीं, अपने आप में भी काफ़ी नया है। बहुत कुछ बीसवीं शताब्दी का विकास है। इस दृष्टि से यह विलक्षण है कि रिपोर्ताज़ के एक आरम्भिक रूप में लिखा हुआ वृत्त हमें हिन्दी में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में मिलता है। चंडी प्रसाद सिंह लिखित युवराज की यात्रा (खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, सन् १८९७ ई०), प्रिंस ऑफ वेल्स की भारत यात्रा का विस्तृत और ब्यौरेवार वर्णन है। इतिवृत्त की प्रधानता इसमें जरूर है, पर सूक्ष्म ब्यौरे आधुनिक रिपोर्ताज जैसे ही दिए गए हैं। हाँ, शैली में प्रभावाभिव्यंजन की ओर ध्यान कम है, पर महत्त्वपूर्ण बात तो उस काल में इस ढंग के वृत्त की उपस्थिति ही है।

सजग भाव से रिपोर्ताज लेखन द्वितीय महायुद्ध के आस-पास आरम्भ हो जाता है, जबकि बढ़ती हुई राजनैतिक चेतना लेखकों को परिवेश के प्रति अधिकाधिक जागरूक कर देती है। कुछ अन्य गद्य रूपों की तुलना में रिपोर्ताज कला पत्रकारिता से अधिक घनिष्ठ भाव से

सम्बद्ध है। यों आधुनिक गद्य के विकास में ही पत्रकारिता का योग है, पर रिपोर्ताज तो माध्यम के रूप में भी पत्रकारिता के साथ ही सम्बद्ध है।

युद्ध, दुर्भिक्ष, मेला या किसी अन्य बड़ी घटना की पटभूमि स्वीकार कर के रिपोर्ताज लिखा जाता है। इस माध्यम में लेखक की समस्या यह है कि वह अपने मन पर पड़े प्रत्यक्ष प्रभाव के आधार पर किसी बड़ी, सामान्यत: आँखों देखी घटना के विविध प्रसंगों और व्यौरों की भीड़-भाड़ प्रस्तुत करके उनके आन्तरिक सम्बन्ध और संगति को स्पष्ट करे। रिपोर्ताज लेखन स्फुट रूप में ही सही प्रगतिवादी दौर में हुआ। प्रभाकर माचवे, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान तथा रांगेय राघव ने रिपोर्ताज में जनजीवन के अनेक पक्षों को निकट से देखने का यत्न किया है। आगे यह गद्य रूप बहुत प्रचलित नहीं होता। नये लेखकों में रघुवीर सहाय ने रिपोर्ताज के माध्यम को अपने ढंग से विकसित किया है। उन्होंने बड़ी घटनाओं को ही नहीं, वरन् छोटी और मद्धिम घटनाओं को भी रिपोर्ताज के विषय रूप में चुना है। उनका ध्यान दिल्ली में वसन्त के आगमन की ओर भी जाता है, विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक आयोजनों की भी ओर। कोई भी घटना उनकी दृष्टि में छोटी और निरर्थक नहीं होती। 'सीढ़ियों पर धूप में' (सन् १९६० ई०) उनके कुछ ऐसे गद्यवृत्त संकलित हैं। अकाल्पनिक वृत्तों के लिए गद्य के प्रयोग में रघुवीर सहाय की कला विशेष रूप से निखरी है, क्योंकि वे सामान्यत: भी अपनी कहानियों या कविताओं में महनीय घटनाओं और तीव्र मनोवैज्ञानिक संघर्षों को प्रस्तुत नहीं करते। सामान्य वस्तुओं-स्थितियों को हल्के पर संगत ढंग से अंकित कर लेना उनकी कला की विशिष्ट उपलब्धि है। और स्वभावत: ऐसे रचनाकार को अकाल्पनिक गद्य रूपों में भी अपेक्षया अधिक सफलता मिलेगी। इस संदर्भ में लेखक के गद्य का स्वभाव भी उल्लेखनीय है, जो कभी अतिरंजना या अतिनाटकीयता का स्वीकार नहीं बनता, जिसमें वस्तुओं और परिस्थितियों के सही-से-सही पर सरल-से-सरल नाम देने की कोशिश होती है।

पत्रों की तरह लेखकों की डायरी भी साहित्य के रूप में प्रस्तुत हुई हैं। डायरी भी साहित्य का सजग माध्यम नहीं है, पर बाद में चल कर इसका दुहरा महत्त्व होता है। एक तो गद्य लेखन के स्वतंत्र रूप में और दूसरे उस के माध्यम से मिलने वाली सूचनाओं के कारण लेखकों के सम्बन्ध में जानकारी की दृष्टि से। इसके अतिरिक्त बहुत सी कृतियों को लेकर कृतिकार की रचना-प्रक्रिया, समकालीनों के प्रति उसकी अपनी प्रतिक्रिया आदि तथ्य भी प्रकाश में आते हैं। एक अत्यन्त संवेदनशील व्यक्तित्व होने के नाते लेखक का अपने परिवेश के प्रति जो घनिष्ट भाव होता है वह भी डायरी के माध्यम से प्रकट होता है।

पर सब से ऊपर है डायरी का अपने आप में लेखन रूप, उसका अपना गठन और गद्य-प्रयोग। पत्र की तुलना में डायरी का रूप स्वभावत: अधिक आत्मपरक है, क्योंकि उसका लेखन साधारणत: यह मान कर होता है कि उसका पाठक स्वयं लेखक ही होगा। इसलिए डायरी जैसी निजी और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति अन्यत्र अकल्प्य है। यह दूसरी बात है कि डायरी-शिल्प का सजग प्रयोग भी कुछ लेखकों ने किया है। पर सामान्यत: तो डायरी केवल अपने-अपने लिए है, लेखक के लिए—एक निजी दस्तावेज़! इस दृष्टि से डायरी में संप्रेषण की समस्या एक खास तौर से ही आती है, पर किसी भी लेखक की डायरी को लेकर उस पर दुरूहता का

आरोप नहीं लगाया गया। इससे साबित होता है कि यदि रचनाकार की कृति स्वयं उसके लिए ठीक-ठीक संप्रेषणीय है, तो पाठक भी उसे ग्रहण कर सकेगा। यह ज़रूर है कि डायरी—ही क्यों, सभी अकाल्पनिक गद्यवृत्त वैसे सघन साहित्य रूप नहीं हैं जैसे कि कविता या नाटक, या उपन्यास।

हिन्दी में आरम्भिक डायरी शैली में लिखे वृत्त हैं, श्रीराम शर्मा की 'सेवाग्राम डायरी' (सन् १९४६ ई०) और घनश्यामदास बिड़ला की 'डायरी के पन्ने'। धीरेन्द्र वर्मा ने भी अपनी एक संक्षिप्त डायरी प्रकाशित की है 'मेरी कालिज डायरी'। नये लेखकों में शमशेर बहादुर सिंह, लक्ष्मीकांत वर्मा, धर्मवीर भारती तथा अजितकुमार की डायरियों के अंश यत्र-तत्र प्रकाशित हुए हैं। रचनाकार की डायरी का वास्तविक रूप हमें इन्हीं में देखने को मिलता है।

जर्नल में लेखक के चिंतन और रचना की अधिक अंतरंग समस्याओं का लेखा रहता है। अज्ञेय की यूरोप यात्रा से सम्बद्ध जर्नल के कुछ अंश उनके यात्रा संस्मरण 'एक बूंद सहसा उछली' में संकलित हुए हैं। नोटबुक में अधिकतर रचनाकार की कच्ची सामग्री फैली होती है, जिसके कुछ उदाहरण हमें रघुवीर सहाय के संकलन 'सीढ़ियों पर धूप में' मिलते हैं। रिपोर्ताज और डायरी-जर्नल अभी तक बहुत प्रचलित माध्यम नहीं हैं; उनका प्रकाशन स्फुट रूप में ही होता है। अकाल्पनिक गद्यवृत्त आधुनिक साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है और उससे भी अधिक संभावना क्षेत्र है। इन वृत्तों के मौलिक प्रयोग इस कोटि में हैं कि उनके साथ सम्बद्ध तीव्र घटनाओं अथवा मनःस्थितियों का उपयोग किए बिना अधिकतर भाषिक सर्जनात्मकता के माध्यम से रचना संभव होती है। अकाल्पनिक गद्य रूपों के सब से पुराने माध्यम निबन्ध को हटा कर, परिमाण में कम होने पर भी संभावना के स्तर पर ये नये गद्य रूप क्रमशः साहित्य में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। समकालीन दृश्य से निबन्ध (या कि ठीक-ठीक कहें तो ललित निबन्ध) के हटने का मुख्य कारण उसकी सहज-सरल प्रकृति है। ललित निबन्ध का विधान एक मनःस्थिति को ही लेकर चलने के कारण अद्वन्द्वपरक है, और इसलिए घात-प्रतिघातों की जटिलता व्यक्त करने के लिए अब उपयुक्त माध्यम नहीं रहा।

दूसरी ओर नये गद्य रूप, जिनकी पृष्ठभूमि में अधिकतर निबन्ध का माध्यम रहा है, पत्रकारिता के क्षेत्र से उठ कर—समकालीन जीवन के द्वन्द्व को तो उतना नहीं, वैविध्य को अंकित करने के कारण—साहित्य के वृत्त में आ गए हैं। पर उनकी स्थिति केन्द्र से दूर और परिधि के निकट है। उनकी भाषिक सर्जनात्मकता हल्की है और वृत्त अकाल्पनिक है। सर्जनात्मक शक्ति के कल्पनाप्रधान साहित्यिक केन्द्र से हट कर परिधि के निकट अपनी सामान्य और अकिंचन स्थिति में ही उनकी संगति है, सार्थकता है। अपनी आन्तरिक प्रकृति में और स्थिति में जीवन यथार्थ को स्वच्छ और निर्मल भाव से स्वीकार करने में इन रूपों की मूलशक्ति निहित है।

●

समालोचना : सैद्धान्तिक

सैद्धान्तिक समालोचना का अर्थ साहित्यिक मूल्यवत्ता के प्रतिमानीकरण से है जिसको केन्द्र में रखकर व्यावहारिक समालोचना का विकास, नियमन एवं प्रयोग होता है। विशेषरूप से जब व्यावहारिक समीक्षा से इसकी तुलना का प्रश्न उठता है तो यह दृष्टि और भी स्पष्ट, हो उठती है। सम्पूर्ण सैद्धान्तिक समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक परम्पराओं का विकास हुआ है साथ ही, मूल्यों के विशिष्ट विकसनकाल में पुनश्च व्यावहारिकता का मूल्य निर्धारित करके उसकी गतिविधि का सैद्धान्तिक दृष्टि से मानकीकरण भी किया गया है। इस रूप में सैद्धान्तिक समीक्षा के मूल्य इतने गतिशील हो जाते हैं उनका कोई भी निरपेक्ष व्यक्तित्व नहीं बन पाता। सैद्धान्तिक समालोचना का व्यावहारिक समीक्षा से जब निरपेक्ष व्यक्तित्व बनने लगता है, वहीं शास्त्र, रूढ़ि, रीति का जन्म होने लगता है। इस प्रकार साहित्यिक मूल्य रीति, रस, वक्रोक्ति अथवा जो भी हों, जब तक व्यावहारिक समीक्षा में साथ किसी-न-किसी प्रकार प्रायोगिक रूप में सम्बद्ध रहे—उनकी जीवन्तता निर्विवाद बनी रही। व्यावहारिक समीक्षा से उनका साथ छूट जाने पर वे शास्त्र या सम्प्रदाय बन गए और धीरे-धीरे प्रायोगिकता के क्रम में उनकी जीवन्तता निष्क्रिय होती गई। साहित्यिक मानदण्डों एवं मूल्यपरक सिद्धान्तों की यही प्रकृति है। उसमें निरन्तर सैद्धान्तिकता एवं व्यावहारिकता का संघर्ष चला करता है। रचनाशीलता से विकसित होने के कारण सैद्धान्तिक समीक्षा अन्ततः व्यावहारिक समीक्षा से पराजित होती है। मूलतः साहित्यालोचन के क्षेत्र में विकास-दृष्टि व्यावहारिकता एवं सैद्धान्तिकता दोनों के संघर्ष से बनती है। सैद्धान्तिक समीक्षा के मानक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित सिद्धान्त एक निश्चित काल सीमा के पश्चात् रूढ़, क्लैसिक या परम्परा के शास्त्र विशेष ही बन जाते हैं। इस दृष्टि से सैद्धान्तिक समीक्षा के दो विशिष्ट प्रारूप परिलक्षित होते हैं—

(१) आरोपित समीक्षा के मूल्य जिन्हें वस्तुतः वर्तमान व्यावहारिकता के क्रम में शास्त्रीय, साम्प्रदायिक या रूढ़ साहित्यिक कहा जाता है।

(२) समसामयिक व्यावहारिक समीक्षा के साथ सम्बद्ध साहित्यिक मूल्य।

सैद्धान्तिक समीक्षा वस्तुतः उन मूल्यों का विश्लेषण एवं स्थिरीकरण है जिनके सन्दर्भ में कृतित्व प्रस्तुत होता है। कहा जा चुका है कि यह व्यावहारिक समीक्षा से सम्बद्ध होने के कारण शास्त्रीय जीवन्तता से भी सम्बद्ध है, साथ ही रचनाकार के मानसिक प्रत्यय-बोध से सम्बद्ध होने के कारण ऐसे मूल्य बोधों से भी जुड़ी हुई है—जो उसके रचनाशील व्यक्तित्व को प्रभावित किए हुए हैं, क्योंकि उस परिवेश के समस्त मूल्य उसकी विशिष्ट मानसिक संरचना के माध्यम से व्यक्त होते हैं। इस रूप में सैद्धान्तिक समीक्षा के व्यावहारिक रूप में जो भी समस्याएँ उठती हैं, उनके मूल में रचनाकार को प्रभावित करने वाला वातावरण या रचना की संरचनात्मक पृष्ठभूमि तथा रचनाकार का अवधारक व्यक्तित्व मिलता है। रचनाकार के

अवधारक व्यक्तित्व के कारण शिल्पगत मूल्यों की विशिष्टता एवं संरचनात्मक पृष्ठभूमि के फलस्वरूप एक विशेष प्रकार की शास्त्रीयता तथा समाजबोध की अवधारणा का जन्म रचनात्मक साहित्य में होता है। पुनश्च इसके विकास का एक विशेष क्रम बनता है। सैद्धान्तिक समीक्षा का व्यावहारिक समीक्षा से सम्बद्ध जो भी जीवन्त तत्त्व है, परम्परा में उसी का विकास होता है—शेष रूढ़ि या सम्प्रदाय बनकर रह जाता है। इसे एक उदाहरण से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य में प्रारम्भ से लेकर अब तक अनेकानेक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। प्रारम्भ में वे व्यावहारिक समीक्षा तथा रचनाकार की संरचनात्मक मनःस्थिति से सम्बद्ध थे। शय्या, पाक आदि सम्प्रदाय इसी रूप में थे, किन्तु उस रूप में उनका कोई नाम भी नहीं जानता। अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रीति आदि चलते-चलते रचनाकार की मानसिक संघटना के लिए बोझ हो गए, किन्तु रस सिद्धान्त की एक विशिष्ट संवेगात्मकता किसी-न-किसी रूप में व्यावहारिक समीक्षा पद्धति से जुड़ी रही। काव्य में अभिव्यक्त संवेदनाशीलता या रागात्मकता का सम्बन्ध मानव मस्तिष्क के भावना पक्ष (Feeling) से है और इस रूप में इस सिद्धान्त काव्य के मनोवैज्ञानिक संघटक तत्त्व प्रेषणीयता (Communicability), वेदनीयता (Empathy), साधारणीकरण (Genaralization) आदि से आज भी सम्बद्ध है।

सैद्धान्तिक समीक्षा का दूसरा पक्ष भी इसी प्रकार का है। जब वह शास्त्र बन जाता है तो उसकी स्थिति भिन्न हो जाती है। शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर उसे रचनात्मकता से पूर्ण पृथक् काव्य की नियोजक विद्या के रूप स्वीकृति मिलती है और इसका अध्ययन अर्थशास्त्र, नागरिक शास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि की भाँति काव्यशास्त्र के रूप में करते हैं। जिस तरह नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र क्रमशः आर्थिक व्यवस्था, नागरिकता तथा दार्शनिक ज्ञान-चिन्तना के व्यावहारिक पक्ष से दूर मात्र शास्त्रक्रम में सैद्धान्तिकता की ही व्याख्या करते हैं, ठीक ऐसा ही कुछ काव्यशास्त्र भी करता है। इसीलिए काव्यशास्त्र के रूप में इसमें प्रायोगिक जीवन्तता कम दृष्टिगत होती है।

कभी-कभी इनकी एक विशिष्ट स्थिति सैद्धान्तिक समीक्षा में परिलक्षित होती है। यह स्थिति है—परम्परा पोषक मूल्यों के आरोपण की। विकसित मूल्यों के पश्चात् ह्रासमान बौद्धिकता प्रायः अपनी जीवन्तता के लिए इन्हीं को पुनः प्रतिष्ठित करती है। हिन्दी का सम्पूर्ण रीतिकाल साहित्यिक मूल्यवत्ता से इसलिए मण्डित नहीं हो सका, क्योंकि उसने ह्रासमान बौद्धिकता के बीच व्यावहारिकता से दूर मृत एवं संस्कारच्युत मूल्यों को तथाकथित व्यावहारिकता के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। हिन्दी के रीतिकाल के समर्थन में उसके कलावादी मूल्यों का चाहे जिस रूप में विश्लेषण हो, परन्तु सैद्धान्तिक समीक्षा की मौलिक उपलब्धि व्यावहारिकता से दूर थी और इसीलिए मूल्यों की अनेक पुनरावृत्तियाँ हमें विशेष रूप में आकृष्ट नहीं कर पातीं। इस रूप में विकसित सैद्धान्तिक समीक्षा के मूल में आरोपण दृष्टि व्यवहृत होती है और यही दृष्टि रचनाकार या रचना के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति न करके मात्र परम्परावादी व्यक्तित्व को जन्म देती है। रीतिकाल के 'पद्माकर' एवं आधुनिक युग के 'रत्नाकर' के स्वतन्त्र व्यक्तित्वों की अभिव्यक्ति मात्र रीतिनियोजन के माध्यम से ही होती है। उनमें जो भी स्वतन्त्र रचनात्मकता है, वह निश्चित रीति के बीच अभिव्यक्त है।

इस प्रकार व्यावहारिक समीक्षा या संरचनात्मक तत्त्व से सम्बद्ध हो जाने के कारण शास्त्रीयता रचनाकार का मानक बन जाती है और इस प्रकार उसकी मौलिक अभिव्यक्ति शक्ति भी पुरातनता से युक्त नहीं हो पाती।

हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा के चार क्रम परिलक्षित होते हैं। ये मूलतः ऐतिहासिक सैद्धान्तिकता से लेकर व्यावहारिक सैद्धान्तिकता तक के विकास-क्रम से सम्बद्ध हैं। ये हैं—

(क) परम्परागत शास्त्रीयता
(ख) व्यावहारिक शास्त्रीयता
(घ) समसामयिक सैद्धान्तिकता
(ङ) समसामयिक-व्यावहारिक सैद्धान्तिकता

समसामयिक सैद्धान्तिकता शास्त्रीयता इसलिए नहीं है क्योंकि उसमें रूढ़, परम्परा एवं पुरातनता के निषेध की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। यह भी सम्भव है कि उसमें शास्त्रीयता के संस्कारच्युत मूल्यों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न हो, फिर भी निषेध की प्रवृत्ति ही अधिक क्रियाशील है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी की सैद्धान्तिक समालोचना के विकास की परिस्थिति अपने आप में पर्याप्त भिन्न रही है। प्रारम्भ में मात्र सैद्धान्तिकता के कतिपय शास्त्रीय मूल्यों को आधार बनाकर एक विशिष्ट प्रकार का निर्णय या शास्त्रीय मूल्यों का विवरण मात्र इसके लिए इतिकर्त्तव्य था। इसकी पृष्ठभूमि में जो भी वातावरण था, उसका कोई भी विशेष सम्बन्ध व्यावहारिक समीक्षा से नहीं था। साथ ही, रचनाकार की अन्तर्मानसिकता में जो भी सैद्धान्तिक समीक्षा के मान थे, वे पूर्णरूपेण शास्त्रीय मात्र पराम्परावादी रूढ़ व्यावहारिकता से सम्बद्ध थे। भारतेन्दु युग पूर्व या उनके समसामयिक जो भी सैद्धान्तिक समीक्षा की मूल्यवत्ता दृष्टि-गत होती है, उसमें रचनाकार की मौलिक अभिव्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। यह शास्त्रनिष्ठा भी एक घिसी-पिटी परिपाटी के बीच केन्द्रित चर्वित चर्वण मात्र थी। इस दोष का स्पष्ट कारण था, जीवन्त (व्यावहारिक) सैद्धान्तिक समीक्षा पद्धति का अभाव। इनकी पृष्ठभूमि में भारतीय काव्यशास्त्र था और इस काव्यशास्त्र के तीन ऐसे बड़े घातक दोष थे, जो आधुनिक युग में इसके विस्तार के लिए बाधक हुए।

भारतीय शास्त्रीय सैद्धान्तिकता का प्रथम दोष था, रचनात्मक साहित्य से उसकी निरपेक्षता या तटस्थता का। रचनात्मक साहित्य की अन्तर्मानसिकता से सम्बद्ध भी यह कैसे होता, हजारों वर्ष की शास्त्रीय परम्पराएँ वस्तुतः व्यावहारिकता से संस्कारच्युत होकर सिद्धान्त-शास्त्र ही बन कर रह गई थीं। यद्यपि कवि परिपाटी के रूप में, रचनाकार की अन्तर्मानसिकता शास्त्रीय मूल्यों से शासित थी, फिर भी शास्त्रनिष्ठा की मात्रा उसमें इतनी अधिक थी कि कवि का प्रभुत्व सम्पन्न व्यक्तित्व उस शास्त्रीयता से किसी-भी स्थिति में मुक्त नहीं होना चाहता था। इस सैद्धान्तिक शास्त्रीयता के व्याख्याताओं में विश्लेषण शक्ति एवं निर्मुक्त तार्किकता का अभाव था। उनकी सहृदयता मात्र मानसिक थी और रसिकता उनका प्रधान लक्षण था तथा व्याख्याता का व्यक्तित्व रचना निरपेक्ष या तटस्थ था। रचनाकार तथा सहृदय दोनों शास्त्रनिष्ठ थे। स्वतन्त्र मान के लिए वे आशा नहीं रख सकते थे—साथ ही उनका मानसिक स्तर भी पर्याप्त

अप्रबुद्ध था। जहाँ तक हिन्दी के रीतिकार शास्त्रज्ञों का प्रश्न है, वे अपनी परम्परा के यथेष्ट ज्ञान से भी वंचित थे।

संस्कृत की शास्त्रीय सैद्धान्तिकता का दूसरा दोष था, उसकी घोर शास्त्रीयता। इस घोर शास्त्रीयता का परिणाम व्यावहारिक दृष्टि से घातक सिद्ध हुआ। प्रायः इस संदर्भ में शास्त्रीय विवेचन की ऐसी परिस्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं, जहाँ काव्य पीछे छूट जाता है, और शास्त्रीयता उसका अतिक्रमण कर जाती है।

अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, रीति, वक्रोक्ति आदि के इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद-प्रभेद किए गए कि कवि कर्म एक विशिष्ट प्रकार की कसौटी मात्र बनकर रह गया। काव्य परिपाटी, आचार्यत्व, शास्त्रनिष्ठा, सूक्ष्म भेद प्रभेद कवि के लिए अनिवार्य बन गए और कवि दृष्टि मात्र घोर शास्त्रीयता के रंजनकारी भंगिमाओं की उधेड़बुन में चक्रित-सी हो उठी। इस घोर शास्त्रीयता का सबसे विपरीत परिणाम था, रचनाकार के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अभाव। इस दुरूह एवं रूढ़ शास्त्रीयता के बीच रचनाकार का स्वतन्त्र रचनात्मक व्यक्तित्व प्रायः महत्त्वशून्य दिखाई पड़ने लगा। इस रूप में सैद्धान्तिक मूल्य निश्चित रूप से एक विशिष्ट परिवेश तक ही सीमित रह गए। इस शास्त्रीय सैद्धान्तिकता में ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं था, जो मूल्यवत्ता की दृष्टि से गत्यात्मक होता। यही कारण है कि इस रचनात्मकता के लिए एक निश्चित प्रकार के कवि-कर्म के अन्तर्गत दीक्षित एवं आचार्यत्व की निश्चित परिपाटी में नियमित होना पड़ता था। हिन्दी की सम्पूर्ण रीतिकालीन शास्त्रीयता इसी प्रकार की ही थी। इसमें रचनाकार के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के अभिव्यक्त होने की कोई क्षमता नहीं रह गई थी। रचनाकार को किसी भी प्रकार की वैयक्तिक रचनात्मक स्वतन्त्रता नहीं थी और सैद्धान्तिक शास्त्रबुद्धि उसके व्यक्तित्व को अपने में उलझाए हुए थी।

भारतीय सैद्धान्तिक समीक्षा का तीसरा दोष था—ऐकान्तिक कलावादिता के स्वीकरण का। शिल्पवादी मूल्य इस दृष्टि से काव्य के सर्वोच्च प्रतिमान थे। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति या विषयिगत मूल्य भी इसमें वस्तुनिष्ठता में परिवर्तित हो गए। फलस्वरूप स्वतन्त्र व्यक्तित्व को इसमें अभिव्यक्त करने की क्षमता न रह गई और इसमें न प्रावैगिक या गत्यात्मक मूल्यों की सम्भावनाएँ ही प्रकट हो सकीं। कारण स्पष्ट है, रचनात्मक व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता में निर्मित होने वाले ऐसे सैद्धान्तिक मूल्य इसमें नहीं आ सके, जिनकी इस परम्परागत शास्त्र से पृथक् व्याख्या हो सकती। भारतीय सैद्धान्तिक शास्त्रीयता की यह महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है और यही उसके विकास में सबसे अधिक बाधक भी कही जा सकती है। कहा जा चुका है, कि रचनात्मक मूल्य अन्य मानवीय मूल्यों की भाँति प्रवैगिक होते हैं, किन्तु घोर शास्त्रनिष्ठता के फलस्वरूप विकसित भारतीय काव्य में शास्त्र विवेचन शिल्पवादी-शास्त्रीय स्तर पर बहुविध चर्चित तो हुआ, किन्तु व्यावहारिक रचना प्रक्रिया से उसका साथ छूट गया, साथ ही, यत्किंचित् इससे जो कुछ सम्बद्ध भी था, वह भी शास्त्रीयता के बोझ से दबा हुआ था। उसमें रचनाकार का कोई भी मुक्त व्यक्तित्व अपने अहम् को अभिव्यक्त करने के लिए कहीं भी नहीं छटपटाया। इसीलिए पाश्चात्य समीक्षकों का यह आरोप कि भारतीय रचनाएँ सर्वथा निर्वैयक्तिक हैं, अनेक अंशों में सत्य प्रतीत होता है।

भारतीय साहित्य की सैद्धान्तिक शास्त्रीयता की इन अवरोधक विशिष्टताओं के पीछे एक विशिष्ट प्रकार की आभिजात्य रुचि लगी रही है। यह एक शास्त्र वस्तुतः आभिजात्य संस्कार तथा रुचि के बीच ही पोषित हुआ है। भारतीय सैद्धान्तिक शास्त्रवादिता के मूल में 'काव्यात्मा' की खोज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। काव्यात्मा के रूप में रस, अलंकार ध्वनि, वक्रोक्ति आदि की उदात्तता सिद्ध करने का स्पष्ट अर्थ है—काव्य में जीवन्त एवं गत्यात्मक मूल्यों की खोज न करके आभिजात्य सम्पन्नता से युक्त शाश्वत् तथा सर्वतोत्कृष्ट मूल्य की खोज। यही नहीं, इस परिवेश में काव्य में अभिव्यक्त मूल्यवत्ता का परीक्षक तत्त्व सहृदयता एवं रसज्ञता था। इस सहृदयता के साथ रंजकता का भी तत्त्व पर्याप्त मात्रा में मिला हुआ था। और भारतीय शास्त्र के परिवेश में अभिव्यक्त होने वाला काव्य भी विशिष्ट प्रकार की आदर्शपूर्ण, विलासप्रधान कौतूहल एवं जिज्ञासावृत्ति से सम्बद्ध होकर, जीवन की व्यावहारिक जटिलताओं तथा संघर्षों से दूर रहा है। कविकर्म औचित्य के अन्तर्गत राजचर्या का पूर्ण ज्ञान कवि के लिए अनिवार्य माना गया। संस्कृत ललित साहित्य की विशाल ग्रंथ-राशि इसी अभिजात् विलास-रुचि के बीच पोषित हुई है। सामन्तीय वातावरण के बीच पुष्ट संस्कृत साहित्य की सैद्धान्तिक समीक्षा-वृत्तियाँ हिन्दी साहित्य में भी अपने विकास के लिए ठीक परम्परानुकूल वातावरण पाकर विशेष बलवती हुईं। राज्यनिष्ठा के बीच काव्यनिष्ठा की प्रवृत्ति का सबसे घातक प्रभाव यह रहा कि शास्त्रीयता तथा काव्याभिव्यक्ति दोनों सामान्य जीवन की प्रतिक्रियाओं से दूर जा पड़ीं और इस रूप में उनका प्रावैगिक या विकसमान तत्त्व क्षीण एवं मृतप्राय होता गया।

हिन्दी साहित्य की आधुनिक सैद्धान्तिक समीक्षा की पृष्ठभूमि इस परम्परावादिता से पूर्णरूपेण भिन्न है। वह वातावरण यह नहीं है जो रीतिकाल या परम्परागत सामन्तवादी विचारधारा से प्रभावित रहा है। वस्तुतः समग्र भारतीय इतिहास में आधुनिक काल तथा आधुनिक कालेतर समस्याएँ प्रायः विसंवादी तत्त्वों से युक्त हैं। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के प्रारम्भ की पृष्ठभूमि ही कुछ और है। इसमें परम्परा से चले आते हुए पुराणवादी, अस्थाग्रस्त, खोखली नैतिकता, आदर्शोपाशक, धर्मभीरु, अंधज्ञान पिपासा आदि अनेकानेक रूढ़ मूल्य ध्वस्त हो रहे थे। भारतीय जनमानस आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरण में नवीन जीवन्त मूल्यों को अतिशीघ्रता से पड़ने के लिए चौकन्ना दिखाई पड़ने लगा। नवीन सामाजिक मूल्यों में नवीन अर्थ संघर्ष तथा परम्परा से पूर्ण प्रतिकूल वर्ग व्यवस्था पनपने लगी थी दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था के आधारभूत तत्त्वों का क्षय प्रारम्भ हो चुका था। कवि तथा आचार्य राजाश्रय छोड़कर व्यवसाय एवं नौकरी की ओर झुके। भारतेन्दुयुगीन अधिकांश हिन्दी के कवि तथा लेखक अर्थ से पीड़ित पत्रकारिता एवं अध्यापन आदि के माध्यम से उदर पोषण के लिए विशेष क्रियाशील दिखाई पड़ने लगे। नवीन अर्थव्यवस्था ने कुटुम्ब तथा कुनबेपरस्ती को छोड़ने के लिए विवश किया और अन्ततः व्यक्ति सामूहिक नैतिक आदर्श के स्थान पर व्यक्ति-निष्ठ जीवन व्यतीत करने का समर्थक होने लगा। साहित्यिक गतिविधि पर इस सामाजिक गतिविधि का गहरा प्रभाव पड़ा। सामूहिक आदर्शनिष्ठा के बीच शाश्वत् मूल्यों से निर्मित होने वाला साहित्य वैयक्तिक सुख, दुख, पीड़ा, अहम् से परिचालित हुआ और सैद्धान्तिक समीक्षा

पर इसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। अबतक आदर्श निष्ठापूर्ण सामन्तवादी शास्त्रीयता के बीच हिन्दी की रूढ़िग्रस्त सैद्धान्तिक शास्त्रीयता मुखर हो उठी और उसमें प्रवैगिकता के तत्त्व भी परिलक्षित होने लगे। व्यक्ति आदर्शनिष्ठा से धीरे-धीरे यथार्थनिष्ठा की ओर झुकता गया। भारतीय नवीन अर्थसंघर्ष के बीच अनेक ऐसे जीवन्त गत्यात्मक मूल्यों को अब तक आत्मसात् कर चुके थे। आधुनिक युग के पूर्व युवकों में राष्ट्रीयता नाम का कोई तत्त्व नहीं था। आधुनिक युग के साथ-साथ इनमें राष्ट्रीयता का बोध होने लगा था तथा वे स्वतन्त्रता एवं परतन्त्रता का मूल्य भी भलीभाँति समझने लगे थे। अंग्रेज़ों ने वैज्ञानिक माध्यमों को अपनाकर केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति तथा परिस्थिति निर्मित की। यह केन्द्रीकरण मात्र औद्योगिक ही नहीं अपितु प्रशासनिक भी था। इस प्रशासनिक केन्द्रीकरण से प्रभावित भारतीय एक विशेष प्रकार की राष्ट्रीयता में आबद्ध हुए। इसी के साथ, नवीन शिक्षा का कार्य प्रारम्भ हुआ और भारतीय नवीन शिक्षा—व्यवस्था के माध्यम से नवीन अन्तर्देशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सम्पर्क में आने लगे। लगभग बीस वर्षों में ही भारतीयों में लाखों व्यक्ति विशिष्ट प्रकार की जागरूकता लेकर सामने आए। यह भारतीयों के लिए प्रथम अवसर था, जब वे सम्पूर्ण विश्व के बीच अपनी वास्तविकता का अनुभव करते। वस्तुतः यह वही समय था, जब भारतीयों ने प्रथम बार वास्तविक कालबोध की तुलनात्मक स्थिति में अपने को रखकर उसका शव परीक्षण किया।

आधुनिक काल की अपनी कतिपय विशिष्ट उपलब्धियाँ थीं, जिनके फलस्वरूप आदर्शवादी सामूहिक जीवन पद्धति के स्थान पर छिन्न कौटुम्बिकता को भारतीयों ने आधार बनाया और उसके फलस्वरूप भारत का परम्परागत ज्ञान-विज्ञान सिर के बल खड़ा होकर शीर्षासन करता हुआ दिखाई पड़ा। इस नवीन भारतीय आधुनिकता ने जिन नवीन मूल्यों को सामाजिक संवेदना के बीच प्रचारित एवं प्रसारित किया, उसका अविलम्ब प्रभाव ज्ञानविज्ञान के समस्त माध्यमों शिक्षा, दर्शन, चिन्तन, धर्म-नीति, साहित्य (विशेष रूप से रचनात्मक) आदि पर पड़ा। इसे कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि साहित्य विशेष रूप से रचनात्मक साहित्य इस नवीन चिन्तन धारा से सबसे अधिक प्रभावित हुआ और रचनात्मक साहित्य से सम्बद्ध सैद्धान्तिक समीक्षा की प्रकृति पूर्णरूपेण अपनी जीवन्तता लेकर परम्परा से भिन्न होने लगी।

आधुनिक युग और परम्परागत शास्त्रीय समीक्षा

परम्परागत साहित्यिक सैद्धान्तिकता के तत्त्वों की चर्चा की जा चुकी है। साथ ही, यह भी बताया जा चुका है कि नवीन विकसित जीवन दृष्टि एवं उससे प्रभावित निरन्तर गत्यात्मक साहित्यिक रचना के लिए रूढ़, सैद्धान्तिक, किंवा शास्त्रीय प्रतिमानों की अपेक्षा नहीं है। किन्तु आधुनिक युग के प्रारम्भिक चरण में परम्परागत शास्त्रीय मान्यताओं के उपयोग की अनिवार्यता समझी गई। फिर भी, इस युग के शास्त्रीय विवेचकों ने सर्वथा शास्त्र-परम्परा का अनुमोदन किया है, ऐसी बात नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हरिऔध, रत्नाकर आदि प्रारम्भिक प्रबुद्ध रचनाकारों को नवीन मूल्यबोध की अनिवार्यता पर विचार करना ही पड़ा।

परम्परागत शास्त्रीयता, जो आधुनिक युग में आई उसका आधार मूलतः रीतिकाल ही रहा है। शास्त्रों की जो सूची इस युग को प्राप्त है, उस पर रीतिकालीन दृष्टि का प्रभाव संस्कृत साहित्य की अपेक्षा अधिक है। क्योंकि अलंकार एवं रस-विवेचन रीतिकाल के दो

महत्वपूर्ण संदर्भ थे। डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' में आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरण में निर्मित परम्परागत शास्त्रीय ग्रंथों की जो सूची दी है, वह इस प्रकार है—रामदास कृत कवि कल्पद्रुम (सं० १९०१), चन्द्रशेखर वाजपेयी—रसिक विनोद (सं० १९०३), ग्वाल कवि—रसिकानन्द (सं० १८७९), रसरंग (सं० १९०४), सेवक—वाग्विलास, लछिराम—महेश्वर विलास, रामचन्द्र भूषण, रावणेश्वर कल्पतरु, कविराय राजा मुरारिदान—जसवन्त भूषण (सं० १९०५), महाराज प्रतापनारायण सिंह—रस कुसुमाकर (सं० १९५१), कन्हैयालाल पोद्दार—रसमंजरी, अलंकार मंजरी, काव्यकल्पद्रुम (सं० १९८३), जगन्नाथप्रसाद भानु—काव्य-प्रभाकर (सं० १९६७), लाला 'भगवानदीन—अलकार मंजूषा (सं० १९७३), डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'—अलंकार-पियूष, सीताराम शास्त्री—साहित्य सिद्धान्त (सं० १९८०), अर्जुनदास केडिया—भारती-भूषण, हरिऔध—रसकलश (सं० १९८९), बिहारी लाल भट्ट—साहित्य-सागर (सं० १९९४), मिश्रबन्धु—साहित्य पारिजात (सं० १९९३), ब्रजेश—रस रसांग निर्णय (सं० १९९३), पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—काव्यांग कौमुदी।

आधुनिक युग के शास्त्रीय ग्रन्थ निश्चित ही रीति दृष्टि से पर्याप्त प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय ग्रंथ और हैं जिनका परिगणन इस परम्परा की सूची में किया जा सकता है—रामदहिन मिश्र कृत काव्य-दर्पण, पद्मसिंह शर्मा कृत बिहारी सतसई की भूमिका कृष्ण बिहारी मिश्र कृत देव और बिहारी, बाबूराम वित्थारिया कृत नवरस आदि।

शास्त्रीय सैद्धान्तिकता का स्वरूप—आधुनिक युग की शास्त्रीय सैद्धान्तिकता भारतेन्दु युग तक वैज्ञानिक विवेचन से प्रायः शून्य रही। इस युग के मूल्य तथा मान परम्परागत थे तथा उनकी उपयोगिता का परीक्षण-क्रम भी शास्त्रीय था। रस, अलंकार, ध्वनि इस युग के मूल विवेचन के केन्द्र में रहे। शब्दशक्ति को इस युग में अधिकांशतः ध्वनि के साथ मिला दिया गया। शेष, रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि पर नगण्य कार्य हुए। मूलतः हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में ही रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि का विवेचन क्रमशः महत्त्वशून्य-सा होता जा रहा था और विवेचकों ने स्वतन्त्र रूप से इनकी स्थितियों पर भी विचार नहीं किया। भारतेन्दु-युग के प्रारम्भ में यह प्रवृत्ति विशिष्ट रूप से परिलक्षित होती है। परम्परागत शास्त्रीयता के स्थान पर मात्र ध्वनि रस एवं अलंकार का ही विवेचन किया गया। इनके अतिरिक्त आधुनिक युग के इस प्रारम्भिक चरण में छन्द शास्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे गए।

ध्वनि सिद्धान्त पर स्वतन्त्र रूप से सीताराम शास्त्री ने 'साहित्य सिद्धान्त' प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त कन्हैयालाल पोद्दार ने काव्यकल्पद्रुम, जगन्नाथ प्रसाद भानु ने काव्य प्रभाकर, मिश्रबन्धु ने साहित्य पारिजात, रामदहिन मिश्र ने काव्य दर्पण के अन्तर्गत परम्पराक्रम में रीति-वादी आचार्यों की भाँति सर्वाङ्गनिरूपण शैली के माध्यम से इस पर विचार किया। शब्दशक्ति विवेचन भी ध्वनि सिद्धान्त के साथ ही था। इस युग में अलंकार-विवेचन की स्थिति महत्त्व-पूर्ण है। ऐतिहासिक क्रम में आधुनिक काल के प्रथम चरण में अलंकार विषयक ग्रन्थ अधिक मात्रा में प्रणीत हुए। कविराज मुरारिदान कृत जसवन्त भूषण, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कृत हिन्दी काव्यालंकार तथा अलंकार प्रश्नोत्तरी, लाला भगवानदीन कृत अलंकार मंजूषा, अर्जुनदास केडिया कृत भारतीभूषण, रामदहिन कृत काव्यदर्पण आदि ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से अलंकार

विवेचन किया गया है। जहाँ तक रस सिद्धान्त का प्रश्न है—यह इस समय सर्वाधिक रुचि के साथ निरूपित हुआ। मूलतः इस समय के कवियों तथा तथाकथित आचार्यों ने इसको जीवन्त तत्त्व के रूप में स्वीकार किया। और इस विवेचन का यह प्रभाव पड़ा कि महावीर प्रसाद द्विवेदी से लेकर आज तक काव्य के जीवन्त तत्त्व के रूप में यह चर्चित होता रहा। महाराज प्रताप नारायण सिंह कृत रस कुसुमाकर, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कृत रस रत्नाकर, कन्हैयालाल पोद्दार कृत काव्य कल्पद्रुम, अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत रस कलश, बिहारीलाल भट्ट कृत साहित्य सागर, बाबूराम बित्थारिया कृत नवरस आदि इस युग के महत्त्वपूर्ण रस सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ हैं। इन्हीं के साथ कतिपय ऐसे भी लेखक हैं जिन्होंने स्फुट रूप से काव्य सिद्धान्त के सर्वाङ्ग विवेचन को मूलतः ग्रहण किया है। साहित्य सागर, साहित्य पारिजात आदि इस युग के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ इसी प्रवृत्ति से सम्बद्ध हैं।

जहाँ तक विवेचन क्रम का प्रश्न है परम्परागत रीतिकालीन दृष्टि इनके केन्द्र में रही है। इन तथाकथित आचार्यों ने परम्परागत शास्त्रीयता के गलित मानसिक धरातल से ऊपर उठकर कुछ भी नहीं सोचा। इस परम्परा के सिद्धान्तकारों में रचनात्मकता एवं सैद्धान्तिकता दोनों दृष्टियों से शास्त्रीयता के आग्रह का मोह पर्याप्त प्रबल था। फिर भी, इनकी दृष्टि में नयापन अवश्य था। इनकी समसामयिक आधुनिकता ने रचनात्मक साहित्य की दिशा बदल दी थी और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से रूढ़ शास्त्रीयता के स्थान पर व्यावहारिक समीक्षा की नवीन परम्परा का सूत्रपात हो चुका था। साथ ही, यह दबी जबान से स्वीकार भी किया जाने लगा था कि रीतिवादी शास्त्रीय सैद्धान्तिकता ही व्यावहारिक समीक्षा के लिए 'इदमित्थम्' नहीं है। वस्तुतः रचनाकारों एवं सैद्धान्तिकों दोनों को नएपन का बोध था, किन्तु शास्त्रीयता का मोह इतना प्रबल था कि नएपन के इस विवेक के साथ सिद्धान्त तथा रचना दोनों को एक साथ सम्बद्ध कर सकना इनके लिए असम्भव-सा था। उदाहरणार्थ अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने रस कलस में नायिका विवेचन के क्रम में कतिपय मौलिक परिवर्तन किए या भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'रस मीमांसा' की नवीन दिशाओं का संकेत किया किन्तु दोनों का विवेचन स्वतन्त्र विवेचन न होकर रीतियुक्त ही रहा। लक्षण एवं उदाहरण की परिगणन परिपाटी के बीच उद्धृत तथा प्रयुक्त निर्देशन किसी भी रूप में प्रकाश में नहीं आ सके। इसके अतिरिक्त भी, इस परम्परागत शास्त्रीयता-सम्बद्ध साहित्य में जागरुक एवं सचेतन मूल्य के लिए कोई स्थान नहीं था। प्रायः ये ग्रंथ सामान्य पण्डित वर्ग, सहृदय पाठकों एवं विद्यार्थियों के लिए लिखे गए थे। अभिजात् वर्ग की संचेतना से संचालित ये शास्त्रीय मूल्य व्यावहारिक जीवन्तता के तत्त्वों का स्पर्श करने में असमर्थ थे। वस्तुतः इनमें निरूपित शास्त्रीयता उन अनुभूतियों से दूर थी, जिनका सम्बन्ध संघर्षरत जीवन की विविध आकांक्षाओं, आभावों, ऊहापोहों तथा जटिलताओं से था। ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय साहित्य में नवीनता का आग्रह कितनी त्वरा से हुआ, और देखते-देखते जीवन के विविध पक्षों पर उनके घातों-प्रतिघातों का प्रभाव इतनी शीघ्रता से पड़ना प्रारम्भ हुआ—कि पुरातन शास्त्रीयता प्रायः विस्मृत-सी होने लगी। मुश्किल से तीस वर्षों के ही अन्तर्गत दृष्टिबोध में इतना क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ कि सम्पूर्ण शास्त्रीयता ऐतिहासिक अवधारणा के रूप में स्वीकार की जाने लगी। किन्तु आधुनिक युग के इस प्रथम

चरण में यह आदर्श या मर्यादा के रूप में स्वीकृत थी। विशेषरूप से आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास के मध्यकाल में सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में एक ऐसा संकटपूर्ण युग था, जब पूर्णतः शास्त्रीयता के प्रति समीक्षकों की दृष्टि घट चुकी थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी युग सैद्धान्तिक समीक्षा की दृष्टि से पुनसंस्कार का युग था। वस्तुतः इस युग में सैद्धान्तिक संक्रमण की एक विशेष स्थिति थी। किसी-न-किसी रूप में अवशिष्ट परम्परावादी वर्ग संस्कृत एवं रीति की शास्त्रीय परम्परा के अतिरिक्त और किसी मान्यता को स्वीकार नहीं करता था। लाला भगवानदीन, डॉ० रसाल आदि की दृष्टि कुछ इसी प्रकार की थी। इनके अतिरिक्त दूसरा वर्ग सामंजस्यवादी था। वह पुराने मोह से छूट कर नवीनता का पक्षपाती था, फिर भी प्राचीनता उसके संस्कार में थी और वह समीक्षा की सैद्धान्तिकता के प्रति समन्वयवादी दृष्टि रखता था। इन्हीं के साथ, व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में एक नवीनवर्ग निश्चित रूप से पनप रहा था, जो शुद्ध मूल्यवादी दृष्टि का समर्थक रहा है।

नव्यशास्त्रीयतावाद का उदय

हिन्दी साहित्य में नव्य शास्त्रीयतावाद का उदय साहित्य में आधुनिक प्रवृत्तियों के स्वीकरण से हुआ। नव्य शास्त्रीयतावादी सिद्धान्तकार मूलतः परम्परावादी थे उनकी दृष्टि प्रारम्भ में साहित्य के उन मूल्यों को प्राथमिकता देकर विकसित हुई, जिनके आधार पर सम्पूर्ण शास्त्रीयतावाद का ढाँचा खड़ा था। किन्तु धीरे-धीरे इनकी दृष्टि मूल्यवादी होती गई। मूल्यवादी दृष्टि शाश्वत् की खोज न करके समसामयिक की खोज करती है। साथ ही, वह समन्वय के फल से उत्पन्न आरोपित सैद्धान्तिक मूल्यों को न स्वीकार कर मात्र प्रायोगिकता में निहित विकसनशील तथ्यों एवं तत्त्वों को निर्धारित करके उनकी सैद्धान्तिकता निश्चित करती है। इस रूप में नव्य शास्त्रीयतावाद के क्रमिक विकास के विभिन्न स्तर-भेद निर्दिष्ट किए जा सकते हैं। हिन्दी का नव्य शास्त्रीयतावाद आज समाप्तप्राय है क्योंकि उसने आरोपित मूल्य को धीरे-धीरे त्यागना प्रारम्भ कर दिया है। नव्य शास्त्रीयतावाद के विकास के एक विशेष स्तर पर समन्वयवादी दृष्टि अत्यन्त प्रबल थी। इस वर्ग के आचार्य प्राचीनता तथा नवीनता के बीच ऐसा सामंजस्य-सेतु स्थिर करना चाहते थे—जिससे शास्त्रीयता जीवन्त रह सके। इस विवेचन से इनकी व्याख्या में स्पष्ट दोष यह आया कि ये समसामयिक साहित्य की कलात्मक उपलब्धियों की व्यापकता अपनी नवीन शास्त्रीयता में न समेट सके। यह सत्य अवश्य है कि इस शास्त्रीयता के संदर्भ परम्परा की तुलना में नवीन अवश्य थे तथा विवेचन की दिशाएँ स्वस्थ चिन्तन-पद्धति से सम्बद्ध थीं, किन्तु उपलब्धि क्या थी! इसमें न तो समसामयिक रचनात्मक एवं कलात्मक मूल्यों को व्याख्यान्वित कर सकने की क्षमता थी और स्वस्थ दृष्टि को आदर्श के रूप में प्रतिपादित कर सकने की मौलिकता। दूसरी ओर व्यावहारिक समीक्षा, सैद्धान्तिकता से अधिक समर्थ तथा समसामयिक रचनाबोध के साथ थी। यद्यपि सशक्त रचनाकारों को इसका बोध था कि वे जो कुछ लिख रहे हैं, उनकी सैद्धान्तिकता अभी कोसों दूर है। पल्लव की भूमिका में पन्त ने तथा निराला ने अपनी आलोचनात्मक टिप्पणियों में इस तथ्य की ओर संकेत भी किया है। वस्तुतः संक्रान्तिकालीन सिद्धान्तकारों की सम्पूर्ण चिन्तन पद्धति का विकास-वैचारिक संकीर्णता में हुआ और यही कारण है कि इस वर्ग के आचार्य शुक्ल जैसे

सिद्धान्तकार ने भी मौलिक रचनाशीलता के परिवेश में उत्पन्न कलात्मक मूल्यवत्ता के अनेक तत्त्वों को अपनी व्याख्याओं की सीमा से पर्याप्त दूर कर दिया। वे सैद्धान्तिक स्तर पर 'साहित्य को चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब' स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर प्रसाद, महादेवी, पन्त तथा निराला के प्रति न्याय नहीं कर सके।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के नव्य शास्त्रीयतावाद का इतिहास बड़ा ही रोचक तथा नवीनतम कलागत मूल्य वैशिष्ट्य के अध्ययन में पूर्ण सहायक है। वस्तुतः द्विवेदी युग के प्रारम्भ होते ही हिन्दी साहित्य ने एकाएक अपने पुरातन कलेवर को द्रुतगति से बदलना प्रारम्भ कर दिया और लगभग बीस वर्षों के अन्तर्गत सम्पूर्ण दृष्टिबोध ही बदल गया। विशिष्टता की दृष्टि से इस शास्त्रीयतावाद के सम्पूर्ण कालखण्ड को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—नवीन मूल्य के प्रति सचेतनतावादी प्रवृत्ति,
२—समन्वयवादी शास्त्रीयता,
३—विकसित नव्य शास्त्रीयतावाद

नवीन मूल्यों के प्रति सचेतनतावादी प्रवृत्ति पर नवीनता का संस्कार पड़ चुका था। ये वस्तुतः नवीनता को साग्रह लाना चाहते थे और इस दृष्टि से सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने सत्य हरिश्चन्द्र नाटक की सर्वप्रथम भूमिका प्रस्तुत की। क्षत्रिय पत्रिका के सम्पादक बाबू रामदीन सिंह ने 'काशी पत्रिका' की फाइलों से इसे संकलित करके (सन् १९१७ ई०) में प्रकाशित कराया, वैसे भूमिका (सन् १८७६ ई०) में ही लिखी जा चुकी थी। वस्तुतः नवीन मूल्यों के प्रति सचेतनतावादी दृष्टि का सूत्रपात यहीं से स्वीकार करना चाहिए। भारतेन्दु ने लगभग सठसठ पृष्ठों में प्रथम बार भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों को परस्पर एक साथ रखकर नवीन मूल्यांकन पद्धति के प्रति प्रवृत्त होने की अन्तर्मानसिकता को प्रोत्साहित किया। उनके मस्तिष्क में नवीन सामाजिकता से उद्भूत साहित्यिक मूल्यों के प्रति गहरी आस्था थी। समसामयिकता को रचना का सर्वाधिक जागरूक मूल्य स्वीकार करते थे। उन्होंने इस भूमिका में एक स्थल पर स्पष्ट रूप से कहा है 'अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय मण्डली को नितान्त अरुचिकर है। इसलिए स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्य लोगों की हृदय ग्राहिणी है। इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय ग्रहण करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है' इसीलिए उन्होंने अपनी इस शास्त्रीय भूमिका में स्पष्टतः इस तथ्य का उल्लेख कर दिया है कि संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त 'भरत मुनि जी जो सब नियम लिख गए हैं, उसमें से जो हिन्दी नाट्य रचना के लिए नितान्त उपयोगी हैं, और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं, वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।' इस रूप में भारतेन्दु निश्चय ही सैद्धान्तिक समीक्षा के गत्यात्मक रूप के समर्थक तथा व्यावहारिक समीक्षा से सम्बद्ध समसामयिक सैद्धान्तीकरण के पक्षपाती थे। यही नहीं, उन्होंने परम्परा की तीव्र आलोचना करते हुए रस को १४ भागों में विभक्त किया तथा इस विवेचन-क्रम में नौ रसों से भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य तथा

प्रमोद या आनन्द को सर्वथा पृथक् रखा और इनकी रसवत्ता स्वीकार की। यही नहीं, नाट्य रचना के उद्देश्यों को संदर्भ में उन्होंने आधुनिकता के विशेष परिवेश में इसके पाँच उद्देश्य निर्दिष्ट किया—श्रृंगार, हास्य, कौतुक, समाज संस्कार तथा देशवत्सलता।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समसामयिक सहयोगियों में सैद्धान्तिक समालोचना की दृष्टि से पं० बालकृष्ण भट्ट, बदरी नारायण चौधरी, 'प्रेमघन', लाला श्री निवासदास, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस परम्परा में आगे चलकर श्री सीताराम बी० ए०, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि को रखा जा सकता है। पंडित बालकृष्ण भट्ट ने सन् १८८६ में लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयम्बर' की सामान्य आलोचना 'सच्ची समालोचना' के नाम से प्रस्तुत की। शास्त्रीयता के सामान्य तत्त्व इस समालोचना में वर्तमान थे। व्यावहारिक समीक्षा के साथ-ही-साथ इन्होंने एक विशिष्ट निबन्ध 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है' सन् १८९० के आस-पास लिखा। भट्ट जी का यह निबन्ध सैद्धान्तिक समीक्षा के संदर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण तथा नवीन साहित्यिक चिन्तन का सूचक है क्योंकि भट्ट जी ने सर्वप्रथम भारतीय साहित्यशास्त्र को शिल्पवादी, आडम्बर-पूर्ण एवं रूढ़ ढाँचे से पृथक् कर के जीवनगत गत्यात्मकता से इसे सम्बद्ध किया, 'साहित्य जिस देश के जो मनुष्य हैं, उस जाति की मानवी सृष्टि का आदर्शरूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त कहती है, वह सब उनके भाव उस समय की समालोचना से अच्छी प्रकार हो सकते हैं।' पण्डित बालकृष्ण भट्ट के पश्चात् उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' का स्थान आता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनको आधुनिक हिन्दी साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा का जनक माना है। इन्होंने सर्व प्रथम सन् १८८६-८७ में स्वतः द्वारा सम्पादित 'आनन्द कादम्बिनी' में भट्ट जी की सच्ची समालोचना की भर्त्सना करते हुए संयोगिता स्वयम्बर की कटु तथा तीव्र आलोचना की। इनकी आलोचना पद्धति प्रायः शास्त्रीयता प्रधान थी। प्रेमधन सर्वस्व में इस तथ्य का स्पष्ट संकेत मिलता है इन्होंने सर्व-प्रथम कई भाषाओं के नाट्य-नियमों को मिलाकर एक वृहत् 'नाट्य शास्त्र' निर्मित करने की योजना बनाई थी और इसी संदर्भ में इन्होंने 'रूपक व नाटक' शीर्षक से एक सैद्धान्तिक लेख भी प्रस्तुत किया। पण्डित प्रताप नारायण मिश्र ने सैद्धान्तिक समीक्षा पर स्वतन्त्र रूप से लेख नहीं लिखा किन्तु सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बद्ध उनकी टिप्पणियाँ इनके निबन्धों में परिलक्षित होती हैं। मिश्र जी सैद्धान्तिकता की दृष्टि से परम्परा में अधिक विश्वास रखते हैं। एक स्थल पर वे कहते हैं—'काव्य में बालकों की समझ आने योग्य अर्थ के साथ-साथ कुछ गूढ़ार्थ भी होना चाहिए।' एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है 'पर कवि होते हैं, निरंकुश उनकी बोली भी स्वच्छन्द रहने से ही पूरा बल दिखा सकती हैं।' इसी प्रकार की एक टिप्पणी उन्होंने और भी दी है 'संगीत, साहित्य, सुरा और सौन्दर्य के साथ यदि नियम विरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता से कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है।' निश्चित ही, मिश्र जी की वैचारिकता में परम्परा का आग्रह अधिक दिखाई पड़ता है। वे 'स्वादु या रस' को काव्य का मूलाधार स्वीकार करते हैं किन्तु इनकी टिप्पणियों में शास्त्रीयता का मोह इतना प्रबल नहीं है, जितना समसामयिक साहित्यकारों में देखा जाता है।

वे आधुनिकता के पक्षपाती थे, फलतः संचेतना की दृष्टि से परम्परागत शास्त्रीयता के बीच नवीनता को प्रतिष्ठित करने की ओर उनकी रुचि थी।

सैद्धान्तिक शास्त्रीयतावाद की इसी परम्परा के बीच अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' एवं जगन्नाथदास रत्नाकर को भी रखा जा सकता है। हरिऔध जी ने यद्यपि 'रसकलस' के अन्तर्गत परम्परागत शास्त्रीयता का ही स्पष्ट रूप से विवेचन किया है। इस क्रम में इन्होंने रस की प्रायः सभी प्रचलित समस्याएँ—रस निर्देश या रस साधन, रसोत्पत्ति, इतिहास, रसास्वादन के प्रकार, रस की आनन्दानुभूति, रस और ब्रह्मानन्द स्पष्ट की हैं। फिर भी, उनकी दृष्टि में नवीनता वर्तमान थी तथा वे नवीन मर्यादा तथा कलागत मूल्यों को समसामयिक साहित्य में समाविष्ट कराने के पूर्ण पक्षपाती के। वात्सल्य रस की पुष्टि के लिए उन्होंने अंग्रेज़ी की कई कविताओं का उद्धरण प्रस्तुत किया है। नायिका भेद के अन्तर्गत समसामयिकता का संदर्भ रखते हुए उन्होंने—परिवार प्रेमिका, जाति प्रेमिका, देश प्रेमिका, जन्मभूमि प्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोभ सेविका, धर्म प्रेमिका आदि उत्तमा नायिका के भेदों का अत्यन्त विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया। 'प्रिय प्रवास' की भूमिका में उन्होंने यद्यपि महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों का विवेचन-विश्लेषण किया है, किन्तु उनकी दृष्टि से समसामयिकता ओझल नहीं हो सकी थी। बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का समालोचनादर्श नामक ग्रन्थ अंग्रेज़ी कवि पोप के 'Essay on Criticism' का अनुवाद है। ब्रजभाषा के रोला छन्द में रत्नाकर जी ने इसे लिखकर नवीनता के प्रति अपनी साहित्यिक निष्ठा का परिचय दिया। वस्तुतः इस ग्रन्थ में साहित्य की इन समस्त समस्याओं पर विचार किया गया है जो वस्तुतः मूल्यपरक हैं और उनकी शास्त्रीयता गत्यात्मक है। काव्य के क्षेत्र में रत्नाकर जी मूलतः शास्त्रानुयायी थे किन्तु नवीनता के प्रति उनका यह मोह इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि वे सैद्धान्तिक स्तर पर पाश्चात्य सिद्धान्त परम्परा में विश्वास रखते थे।

हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा का दूसरा वर्ग—जो वस्तुतः समन्वयवादी था, इन सचेतनवादियों से कई अर्थों में भिन्न था। प्रथम वर्ग के इन सैद्धान्तिक समीक्षकों की दृष्टि में परम्परा रूढ़ि (Convention) काव्य को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी किन्तु समसामयिकता से सहज सम्बद्ध होने के कारण नवीन व्यावहारिक तथा साहित्यिक निष्पत्तियों का वे निषेध नहीं कर सकते थे। कारण स्पष्ट था, वे जन चेतना के उन गत्यात्मक एवं निरन्तर परिवर्तनशील मूल्यों के बीच से गुजर रहे थे तथा उनके काव्य में परम्परागत मर्यादित रूढ़ि चित्रणों के स्थान पर समसामयिक बोध इतनी तीव्रता से अभिव्यक्त होता जा रहा था कि उसका वे किसी भी स्थिति में निषेध नहीं कर सकते थे। नवीन वर्ग व्यवस्था, जीवन पद्धति, शिक्षण, व्यवसाय, आन्दोलन, पाश्चात्य प्रभाव आदि के समसामयिक संस्कारों में घुलने-मिलने लगे थे। अतः वे रूढ़िवादी होते हुए भी सचेतनवादी थे, प्राचीन शास्त्रीयता उनकी कमाई थी किन्तु उसमें वे समसामयिकता को भी जोड़ना चाहते थे। समन्वयवादी मूलतः समसामयिक अधिक थे। उनके सामने परम्परागत शास्त्रीयता नहीं थी। उनके मस्तिष्क में अपने को समसामयिक सिद्ध करने का मोह अधिक था। वे रूढ़ि का निषेध नहीं करते थे किन्तु रूढ़ि की व्याख्या नवीन संदर्भ में करने के पक्षपाती थे। मूलतः वे नवीन संस्कारवादी थे और प्राचीन शास्त्री-

यता की व्याख्या नवीनता के संदर्भ में करते रहे हैं। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि एक स्तर विशेष पर नवीनता तथा प्राचीनता का समन्वय हो गया किन्तु उसमें प्राचीनता मुखर न होकर दबती गई। धीरे-धीरे यह प्राचीनता इतनी दबती गई कि भारतीय शास्त्रीयता प्रायः सैद्धान्तिक समीक्षा के नाम पर काव्य रचना से निष्कासित-सी हो गई।

इस द्वितीय सैद्धान्तिक वर्ग की उपज का महत्त्वपूर्ण कारण पाश्चात्य विशेष रूप से अंग्रेज़ी सम्पर्क है। हिन्दी लेखकों तथा सिद्धान्तकारों की ही दृष्टि अंग्रेज़ी साहित्य की ओर नहीं गई, अपितु अंग्रेज़ समीक्षक भी हिन्दी साहित्य के अध्ययन के प्रति जागरूक हुए। उनकी यह समीक्षा मूलतः व्यावहारिकता से सम्बद्ध है और इस क्रम में इन्होंने हिन्दी कवियों की समीक्षाएँ लिखीं। पाश्चात्य समीक्षा पद्धति तथा समीक्षा-सिद्धान्तों की व्यावहारिक प्रतिष्ठा हिन्दी लेखकों के सामने स्पष्ट रूप से हुई। इन विदेशी लेखकों में डॉ० सर जॉर्ज ग्रियर्सन, एस० एस० ग्राडज़, एफ़० ई० के, आई० एम० मैक्फ़ी, डबल्यू० डी० डी० हिल, कारपेन्टर, आदि ने अपनी भाषाओं के माध्यम से समीक्षा का पाश्चात्य पैटर्न सामने रखा।

इसके अतिरिक्त भी विशिष्ट प्रकार के अंग्रेज़ी काव्य ग्रन्थों को अनूदित करने की परिपाटी भी चल निकली थी। यह प्रवृत्ति भारतेन्दु तथा द्विवेदी दोनों युगों में रही। भारतेन्दु-द्विवेदी युग के अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों यथा पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, जगमोहन सिंह, प्रेमघन, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने अंग्रेज़ी साहित्य में बहुचर्चित कृतियों का हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति के व्यवस्थित हो जाने पर शिक्षित वर्ग के आधुनिक होने की व्यवहारशीलता अधिक तीव्र संवेदना के रूप में सामने आई और इसी के साथ-ही-साथ अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन-अध्यापन भी जोरों से चला। इस अध्ययन-अध्यापन से अंग्रेज़ी कवियों की बहुचर्चित कविताओं का जोरों से प्रचार-प्रसार बढ़ा। रवीन्द्रनाथ टैगोर की व्यापक साहित्यनिष्ठा का जादू हिन्दी जगत पर बहुत ज़ोरों में चल पड़ा और हिन्दी में भी गीतांजलि के नमूने लिखे जाने लगे। धीरे-धीरे पाश्चात्य कवि वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, वायरन आदि आए। ततश्च पण्डित रामचन्द्र शुक्ल आदि के माध्यम से व्यावहारिक समालोचना की पाश्चात्य पद्धति एवं 'वादों' का नाम सुना जाने लगा। आई० ए० रिचर्ड्स, स्पिगार्न, ऑग्डेन, ब्रैडले, क्रोचे, प्रतीकवाद (Symbolism), प्रभाववाद (Impressionism) अभिव्यंजनावाद (Expressionism), स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) आदि सिद्धान्तकारों तथा सिद्धान्तों पर चर्चाएँ शुरू हुईं, करारी बहसें हुई और फिर इसके पश्चात् अंग्रेज़ी ही नहीं अपितु पाश्चात्य सैद्धान्तिक-व्यावहारिक समालोचना की पृष्ठभूमि के दर्शन होने लगे।

इस समन्वयवादी सैद्धान्तिक समालोचना का प्रारम्भ पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी से समझना चाहिए। द्विवेदी युग के पूर्व भारतेन्दु युग में यह एक संवाद (Thesis) के रूप में निर्मित हो चुका था। मूलतः सैद्धान्तिक समालोचना के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार की समन्वयात्मक प्रवृत्ति भारतेन्दु युग के कतिपय समीक्षकों में परिलक्षित होती है किन्तु एक विशिष्ट सैद्धान्तीकरण के माध्यम से इसको व्यावहारिक समीक्षा से सम्बद्ध करने का बहुत कुछ

श्रेय द्विवेदी जी को है। वस्तुतः उनका आचार्यत्व इसमें नहीं है कि उन्होंने एक प्रतिष्ठित एवं मान्य सैद्धान्तिकता को शास्त्रीयता दी वरन् उनके आचार्यत्व से सबसे महत्त्वपूर्ण कर्म था, एक निश्चित सैद्धान्तिकता को मानक के रूप में उन्होंने रचनाकार के मस्तिष्क में बैठाया क्योंकि वे इस तथ्य पर विश्वास रखते थे कि रचनाकार ही सबसे गम्भीर सैद्धान्तिक समीक्षक होता है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी ने परम्परा से मुक्त होकर समसामयिकता को ध्यान में रखते हुए अनेक निबन्धों को लिखा जो अधिकांशतः समालोचना समुच्चय (सन् १९३० ई०), रसज्ञ रंजन, विचार विमर्श (सन् १९२५), साहित्य सीकर (सन् १९४८ ई०), संचयन (संवत् २००६), तथा आलोचनांजलि (सन् १९२८ ई०) आदि में संग्रहीत हैं। व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक समीक्षा पद्धति का एक मिश्रित रूप उनके ग्रन्थ कालिदास और इनकी कविता में देखा जा सकता है। इन सम्पूर्ण ग्रन्थों में आधुनिकता को संस्पर्श करने की उनकी बलवत्तर चेष्टा सर्वत्र परिलक्षित होती है। कविता क्या है, कवि और कविता, कविता का उद्देश्य, स्वरूप, प्रयोजन, सामाजिक औचित्य आदि प्रश्नों को लेकर उन्होंने अपनी गूढ़ शास्त्रीय टिप्पणियाँ ही नहीं प्रस्तुत की अपितु उनमें गम्भीर विवेचन तथा विश्लेषण के आधार पर तर्क सम्मत निर्णय लेने की प्रवृत्ति उनमें दिखाई पड़ती है। भारतीय साहित्य शास्त्र तथा काव्य परम्परा के गम्भीर चिन्तन के बावजूद भी उन्हें सैद्धान्तिक समालोचना के क्षेत्र में स्थिर, रूढ़ तथा परम्पराभुक्त सिद्धान्त नहीं मान्य थे। अलंकार आदि पर उनकी प्रस्तुत चर्चाएँ इतनी रुचिविहीन नीरस लगती हैं, लगता है, उनकी दृष्टि में उनका विशेष महत्त्व नहीं था। परम्परा के नाम पर उन्होंने रस को अवश्य ही स्वीकार किया है—किन्तु वह 'विभावानुभाव' का रस नहीं है। यह रस काव्य में अभिव्यक्ति या कवि की अन्तर्मानसिकता से सम्बद्ध मनोविकारों का है जिनसे 'उत्कृष्ट शब्द चित्र' संयुक्त रहते हैं। उनके अनुसार काव्य की मूलात्मा कोई एक वस्तु नहीं हो सकती और इस सन्दर्भ में उन्होंने शास्त्रीय भक्तिवादिता का खुल कर विरोध किया। वे कविता का विवेचन मिल्टन के मत से करते हैं और सादगी, जोश तथा असलियत को उसकी मूलात्मा स्वीकार करते हैं। परम्परा के नाम पर उन्होंने सन् १९०१, जुलाई में 'कवि कर्तव्य' शीर्षक एक लेख लिख कर रस, छन्द, अलंकार आदि की दुहाई देने वाले आलोचकों की खुलकर निन्दा की।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में द्विवेदी जी की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है, समसामयिक मूल्यों को स्वीकरण करते हुए उसके अनुरूप मानकीकरण की चेष्टा। उनके अनेक सैद्धान्तिक निबन्ध वस्तुतः समसामयिक साहित्य-बोध से सन्दर्भित हैं। परम्परा तथा रूढ़ि का निषेध उन्होंने अनेक रूपों में किया। इस सन्दर्भ में उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि परम्परागत कवि समयों तथा साहित्यिक प्रौढ़ियों में एक विशिष्ट विश्वास के अतिरिक्त और कुछ भी सत्यता नहीं है। कुल मिलाकर वे सैद्धान्तिक समीक्षा के उन जीवन्त तत्त्वों के समर्थक हैं, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध समसामयिक साहित्यिक अभिव्यक्ति से है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिक-साहित्यिक अन्तर्मानसिकता से प्रेरित होकर आए थे। समसामयिक खड़ी बोली का साहित्य उनकी व्यावहारिक-सैद्धान्तिक समीक्षा के केन्द्र में था। उनके सिद्धान्त कर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण

पक्ष 'औचित्य विवेचन' था और उनके आचार्यत्व का अधिकांश उसी से सम्बद्ध था। आचार्य द्विवेदी की यह समन्वयवादी परम्परा आगे चल नहीं सकी क्योंकि इस वर्ग के परवर्ती समीक्षकों में साहित्यिक अभिरुचि तो अवश्य थी, किन्तु उस अभिरुचि के साथ साहित्य के मौलिक रचनात्मक सिद्धान्त असम्बद्ध ही रहे। इस परम्परा के दो प्रमुख सिद्धान्तकारों, श्यामसुन्दर दास तथा श्री गुलाबराय का अधिकांश सैद्धान्तिक कार्य इसी पद्धति पर है, फिर भी इनमें द्विवेदी जी की परम्परा की सम्पूर्ण गरिमा नहीं आ सकी।

स्नातक, स्नातकोत्तर तथा अन्य हिन्दी की परीक्षाएँ नियोजित हो जाने के पश्चात् दो कोटि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ हिन्दी में लिखे गए। प्रथम प्रकार के ग्रन्थों का सम्बन्ध परम्परागत भारतीय काव्यशास्त्र, रस, अलंकार, छन्द आदि से था तथा दूसरे का पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय या आलोचना की सैद्धान्तिक परम्पराओं से। इसी प्रकार के दृष्टिकोण से प्रायः प्रेरित सामान्य पाठकों को काव्यशास्त्रीय नियमों से परिचित कराने के लिए सिद्धान्त ग्रन्थ रीतिकाल में भी लिखे गए और आधुनिक युग के प्रारम्भिक चरण में कविराजा मुरारिदीन ने 'यशवन्त भूषण' ग्रन्थ की रचना की। लाला भगवानदीन कृत 'अलंकार-मंजूषा का सम्बन्ध प्रायः विद्यार्थियों से ही है। ऐसे ग्रन्थों की प्रवृत्ति वस्तुतः दुहरी थी। इनमें न मात्र सिद्धान्तवाद का अतिरेक रहता था, और दूसरी ओर उनका स्तर इतना निम्न भी नहीं था कि ये सामान्य पाठ्य ग्रन्थ ही होते। तात्पर्य यह कि इन ग्रन्थों में विद्यार्थियों, पाठकों तथा साहित्य-मर्मज्ञों सभी की ज्ञान पिपासा शान्त करने की दृष्टि वर्तमान थी। ठीक यही प्रवृत्ति पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों से सम्बन्धित प्रारम्भिक हिन्दी ग्रन्थों की है। बाबू श्यामसुन्दर दास ने सर्वप्रथम संवत् १९७९ में साहित्यालोचन के प्रथम संस्करण की भूमिका लिखते हुए उसकी अनिवार्यता पर प्रकाश डाला। साहित्यालोचन का आधार हडसन का ग्रन्थ 'इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर' था।

श्यामसुन्दर दास कृत साहित्यालोचन अपने समय की एक विशेष महत्वपूर्ण कृति थी। नगेन्द्र के अनुसार 'वस्तुतः उस युग के हिन्दी समालोचना-साहित्य का जो स्वरूप धरातल था, उसके दृष्टिकोण से साहित्यालोचन सैद्धान्तिक रूप की चरम परिणति कहा जा सकता है।' आज जिसे पाठ्यक्रम की दृष्टि से देखा जा रहा है, वह उस समय की सैद्धान्तिक अनिवार्यता थी और हिन्दी के अनेकानेक कूपमण्डूक मात्र परम्परागत शास्त्रीयता की दुहाई देने वाले विद्यार्थियों, साहित्य समीक्षकों तथा कला मर्मज्ञों की दृष्टि के विस्तार में यह ग्रन्थ नितान्त उपयोगी सिद्ध हुआ। निश्चित ही, हिन्दी साहित्य की सैद्धान्तिक समीक्षा का यह एक ऐसा समय था, जब यह ग्रन्थ पाश्चात्य सैद्धान्तिक समीक्षा का बहुत बड़ा साक्ष्य माना जाता रहा है।

श्यामसुन्दर दास की ही भाँति बाबू गुलाबराय भी इसी काल-खण्ड के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तकार थे। सैद्धान्तिक समीक्षा के अन्तर्गत रखे जाने वाले उनके पाँच ग्रन्थ नवरस, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप, हिन्दी काव्य विमर्श, इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। 'अध्ययन और आस्वाद' बहुत बाद का है—शेष चार ग्रन्थ काल-रचना की दृष्टि से सचेतनवादी परम्परा से सम्बद्ध हैं। गुलाबराय का चिन्तन पर्याप्त मात्रा में आधुनिक तथा नवीनतम साहित्यिक मूल्यों के प्रति जागरूक रहा है। हिन्दी सैद्धान्तिक समीक्षा के कतिपय ऐसे प्रश्न जो उठाकर छोड़ दिए जाते थे—उनकी ओर इनकी दृष्टि विशेष जागरूक

रही है। मनोविज्ञान तथा रस, भाव विवेचन, नाटक के विभिन्न सिद्धान्त, साधारणीकरण तथा पाश्चात्यों के एतद् सम्बन्धी विचार आदि समस्याओं के प्रति इनकी दृष्टि सचेष्ट मिलती है। समन्वयवादिता इनके मूल में थी, किन्तु इनकी रुचि समसामयिकता पर अधिक केन्द्रित रही है। बाबू गुलाबराय की दृष्टि में गम्भीर विश्लेषण वृत्ति नहीं मिलती। यही कारण है कि वे जटिल-से-जटिल साहित्यिक समस्याओं को उठाते अवश्य हैं, किन्तु मूल्यों का मानकीकरण न करके मात्र उनकी तथ्यात्मक व्याख्या ही करते हैं। वस्तुतः ऐसी व्याख्याओं में रचनात्मकता को प्रोत्साहित करने की शक्ति नहीं होती वरन् एक वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का प्रतिपादन मात्र रहता है और यही कारण है कि ऐसे सिद्धान्तकारों में आचार्यत्व की गरिमा नहीं है।

हिन्दी में जागरुक पाठक उत्पन्न करने तथा पाश्चात्य सैद्धान्तिक दृष्टिकोण की व्याख्यात्मक पृष्ठभूमि स्पष्ट करने के लिए इनके पश्चात् कई प्रयत्न किए गए। इस दिशा में प्रायः भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों सिद्धान्त परम्पराओं का विस्तृत एवं सुबोध अध्ययन प्रस्तुत किया गया।

लीलाधर गुप्त द्वारा लिखा हुआ पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त (सन् १९५२), एस० पी० खत्री—आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त, भगीरथ मिश्र-काव्य शास्त्र (संवत् २००५) बल्देव मिश्र—भारतीय साहित्य शास्त्र—दो भाग (संवत् २००५ तथा २००७) आदि अनेक वस्तुतः इसी परम्पराक्रम से सम्बद्ध हैं। यह दृष्टिकोण आगे चलकर इतना अधिक व्यावहारिक तथा प्रभावशाली रहा अनेक साधारण नोट्स, नितान्त परीक्षोपयोगी या छिछले स्तर का ग्रन्थ लिखकर आचार्यत्व का दम्भ भरा जाने लगा।

जहाँ तक इन सिद्धान्तकारों की दृष्टि का प्रश्न है—वे आधुनिक सिद्धान्त निष्ठा के पूर्ण समर्थक तथा मूल्यों की नवीनता के पक्षपाती हैं। साहित्य सिद्धान्त की नवीनतम उपलब्धि एवं प्राचीन मान्यताओं को नवीनतम संदर्भ में व्याख्यान्वित करने की प्रवृत्ति इनके चिन्तन से सम्बद्ध है। जहाँ तक उपलब्धि का प्रश्न है, हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते अपने विस्तार का आत्मबोध कर चुकी थी और ऐसी सिद्धान्त चर्चाओं का अध्ययन क्रम प्रारम्भ हो चुका था, जिनके माध्यम से नवीनतम साहित्योपलब्धियों का स्पष्ट दिशा-संकेत प्राप्त किया जा सकता है। कुल मिलाकर, पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्य सिद्धान्तों का एक स्पष्ट प्रारूप बन चुका था तथा समीक्षा का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों रूप परम्परागत शास्त्रीय पिष्टपेषण से मुक्ति पा चुका था।

विकसित नव्यशास्त्रीयतावाद—यह हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा की सर्वथा प्रौढ़ समर्थ सिद्धान्त परम्परा है—जिसका प्रारम्भ साहित्यिक मूल्यों की प्रौढ़ता से होता है। पूर्ण परिपक्वता तथा साहित्यिक मूल्यों की एक विशिष्ट प्रकार की प्रौढ़ि सम्पन्नता इस काल खण्ड की अपनी उपलब्धि है। इसके पूर्व का समग्र चिन्तन व्यावहारिक समीक्षा से पर्याप्त दूर रहकर किया गया था। यदि महावीर प्रसाद द्विवेदी को अपवाद रूप में छोड़ दिया जाय तो, इस युग के सिद्धान्तरकार समसामयिक साहित्य बोध से नितान्त दूर तथ्य विवेचन पर ही निष्ठावान् थे। श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय आदि की सैद्धान्तिकता मात्र तथ्यात्मक तथा वस्तुनिष्ठ विवेचन के रूप में ही थी। मूलतः महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सैद्धान्तिक समीक्षा को एक दिशा दी

थी और यह दिशा थी, समसामयिकता एवं मूल्य बोध की एकान्विति की। द्विवेदी जी के पश्चात् हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा की जीवन्तता कुछ दिनों के लिए शुष्क हो गई किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पुनः एक ऐसी नवीन दिशा दी, जिसका परिणाम आगे पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

आचार्य शुक्ल की सैद्धान्तिकता जिन निष्पत्तियों को लेकर आगे बढ़ी, उसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी की सैद्धान्तिकता के अभावों का परिष्कार वर्तमान था—और इस रूप में शुक्ल जी ने हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में सोचने-विचारने की सशक्त पृष्ठभूमि निर्मित की आचार्य शुक्ल ने संवत् १९८९ में 'काव्य में रहस्यवाद' लिखा। सन् १९४८ में उनका चिन्तामणि प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। संवत् २०१० में चिन्तामणि का दूसरा भाग सामने आया। संवत् २००६ में पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उनके द्वारा लिखित रस-मीमांसा प्रकाशित कराई।

सैद्धान्तिकता की दृष्टि से शुक्ल जी सचेतनवादी थे, सचेतनता अर्थात् नवीन मूल्यों के प्रति जागरूक रहने की दृष्टि और गम्भीर विश्लेषण के उपरान्त उसी के स्वीकरण तथा व्यावहारिक समीक्षा में इनकी अर्थवत्ता पर वल देने की निष्ठा। किन्तु दूसरी ओर शुक्ल जी परम्परावादी थे। रस चाहे वे उसकी जो परिभाषा निश्चित करते हैं उसके विवेचन का जो भी वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक मानदण्ड प्रस्तुत करते हों, किन्तु उसके प्रति उनकी स्पष्ट शास्त्रनिष्ठा परिलक्षित होती है, साथ ही, वे रस को काव्य का उत्कृष्टतम तत्त्व एवं स्वतः को उसका एकनिष्ठ समर्थक स्वीकारने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करते। कुल मिलाकर उनके संस्कार में शास्त्रीयता थी, किन्तु सिद्धान्तार्जन समसामयिक था। वे साहित्यिक मूल्यों के प्रति आद्यन्त अटूट विश्वास रखते हैं। उनके प्रारम्भिक तथा अन्तिम, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों के प्रकार के आलोचनात्मक ग्रन्थ एक ही विचारधारा से सम्बद्ध हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समानान्तर प्रवृत्ति एवं मूल्यगत वैशिष्ट्य दोनों दृष्टियों से समान, हिन्दी सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में डॉ० नगेन्द्र की प्रतिभा मुखर हुई है। हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा के अन्तर्गत विकसित तथा शास्त्रीयतावाद की अन्तिम परिणति डॉ० नगेन्द्र में हुई और इस दृष्टि से उनका सैद्धान्तिक व्यक्तित्व प्राणवान दिशाबोध का स्तम्भ बना। उनका रीति काव्य की भूमिका; देव और उनकी कविता—नामक ग्रन्थ सन् १९४९ में प्रकाशित हुआ। काव्य चिन्तन, सन् १९५१ में तथा विचार और अनुभूति विचार और विवेचन क्रमशः संवत् १९३४ तथा सन् १९४९ में प्रकाशित हुए। इनके अतिरिक्त उनके अन्य सैद्धान्तिक ग्रन्थ क्रमशः उनके प्रौढ़ चिन्तन क्रम में प्रकाशित होते रहे। भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा (सन् १९५३), भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका (सन् १९५५); अरस्तू का काव्य-शास्त्र (सन् १९५७ ई०), विचार और विश्लेषण आदि इस परम्परा क्रम से सम्बन्धित हैं। सन् १९६४ में उनका बहुचर्चित ग्रन्थ रस-सिद्धान्त प्रकाशित हुआ।

सैद्धान्तिक समीक्षा के मानकीकरण के अतिरिक्त भी डॉ० नगेन्द्र के कृतित्व का एक दूसरा भी पक्ष है। इस दृष्टि से अनेक सैद्धान्तिक कृतियों को हिन्दी में अनूदित एवं प्रकाशित कराने का उत्तरदायित्व पूर्ण संयोजन लेकर हिन्दी साहित्य की सैद्धान्तिक समीक्षा को उन्होंने सर्वथा सम्पन्न बनाया। संस्कृत

ग्रन्थों में—अभिनव भारती, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, ध्वन्यालोक, वक्रोक्ति जीवित आदि को उसकी विस्तृत सैद्धान्तिक भूमिका के साथ एक ओर प्रस्तुत किया, दूसरी ओर काव्य में उदात्त-तत्त्व, होरेस का काव्यशास्त्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा आदि उत्कृष्टतम सैद्धान्तिक कृतियों तथा रूपों को हिन्दी साहित्य में प्रथम बार प्रस्तुत कराने का सराहनीय परिश्रम किया। डॉ० नगेन्द्र की सैद्धान्तिक चर्चाओं की आलोचना-प्रत्यालोचना या उनकी मान्यताओं को आधार बनाकर शास्त्रीय अध्ययन क्रम पर उनके पश्चात् कतिपय आख्याएँ एवं उनसे सम्बद्ध ग्रन्थ आए, किन्तु ये प्रयास इतने सशक्त नहीं थे, जिनसे पृथक् दिशा का बोध हो सकता। यही नहीं डॉ० नगेन्द्र के बाद नव्य विकसित शास्त्रीयतावाद की सैद्धान्तिक दिशा में आगे बढ़ाने का कुछ प्रयास अवश्य किया गया, किन्तु वह इतना सशक्त नहीं हो सका कि स्वतन्त्र सैद्धान्तिक चर्चा के क्रम में महत्त्वपूर्ण बनता। शायद सैद्धान्तिक समालोचना के विकास की स्थिति में शास्त्रीयतावाद सम्भवतः प्रतिवाद (Anti-thesis) बन चुका है और इस संदर्भ में कुछ वर्षों बाद ही कुछ स्पष्टतापूर्वक कहा जा सकता है।

विकसित नव्य शास्त्रीयतावाद उपलब्धि की दृष्टि से एक नितान्त स्वस्थ परम्परा का सूचक है। वस्तुतः इस परम्परा के प्रमुख दोनों आचार्यों की दृष्टि उनके कथ्य के अनुसार परम्पराग्रही चाहे जितनी रही हो, किन्तु शास्त्रीयता उनके अस्तित्व से विशेष सम्बद्ध नहीं है। परम्परा और वातावरण में नवीनता की खोज उनकी स्थापनाओं के मूल अंग हैं। और इसीलिए ये दोनों सिद्धान्तकार पूर्व और पश्चिम—के प्राचीन तथा समसामयिक दोनों सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हैं। आचार्य शुक्ल का झुकाव भी मूल्यवाद की ओर था। डॉ० नगेन्द्र 'रस सिद्धान्त' की भूमिका में स्वीकार करते हैं कि उनके व्यक्तित्व का एक खण्ड यहीं पूर्ण हो जाता है और निश्चित ही उनकी 'मूल्यान्वेषण' प्रवृत्ति इतनी जागरुक है कि संस्कारगत शास्त्रीयता उनके साथ शायद अब अधिक न रह सके।

शास्त्रीय समीक्षा के अन्तर्गत प्राप्त मूल्यों के प्रति आस्थावादी दृष्टि का पूर्ण विकास इस कालखण्ड में हुआ है। रीति, ध्वनि, अलंकार आदि का उदारतापूर्ण तथ्यपरक विवेचन हुआ है, पर न्यून मात्रा में। परम्परा के रूप में रस का विवेचन अधिक हुआ है और इसमें आस्थामूलक दृष्टि अधिक रही। 'रस सिद्धान्त' को वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक—दोनों स्तरों पर देखा गया तथा उनके शक्ति सामर्थ्य की अधिकांशतः आस्थामूलक चर्चाएँ हुई हैं। यही नहीं, मूल्यवादी-प्रयोगवादी आलोचकों ने प्रयोगवाद तथा नई कविता के सन्दर्भ में रस सिद्धान्त के औचित्य, शक्ति एवं सामर्थ्य की च्युति पर विश्लेषण प्रस्तुत किया है, किन्तु इसके बावजूद भी सम्पूर्ण परम्परागत शास्त्रीय सैद्धान्तिक समीक्षा की संगतियों, विसंगतियों, औचित्य, परम्परा से स्वीकृत चले आते हुए सिद्धान्त सूत्रों की वास्तविकता आदि पर—आस्था-अनास्था से पृथक् होकर विश्लेषण करना शेष है। डॉ० नगेन्द्र ने 'रस सिद्धान्त' की ही भाँति वक्रोक्ति जीवित' ध्वन्यालोक, काव्यालंकार सूत्र, हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा, हिन्दी काव्यशास्त्र के भूमिका-भागों में ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, अलंकार आदि की वास्तविक स्थितियों के विवेचन का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु इसका समुचित अध्ययन अभी अवशिष्ट है।

हिन्दी शोध तथा शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक समीक्षा—

सैद्धान्तिक समीक्षा को नियमित एवं नियन्त्रित करने में हिन्दी शोध का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। शोध पद्धति वस्तुतः स्वतन्त्र लेखन से पर्याप्त भिन्न है और यह भिन्नता मूलतः शोधक की तटस्थता है। आज हिन्दी के शोधों में अनेक रूपों में इस विषयगत तटस्थता का अतिक्रमण होता जा रहा है फिर भी सैद्धान्तिक विश्लेषण तथ्यपरक ही है। सैद्धान्तिक समीक्षा मूलतः अपनी प्रकृति में इससे यहीं भिन्न हो जाती है क्योंकि उसमें वस्तुपरकता के साथ-साथ रचनाशीलता के संवेगों को प्रभावित कर सकने की सक्षमता भी वर्तमान रहती है। अतः सैद्धान्तिक समीक्षा के सन्दर्भ में इससे सम्बद्ध शोध प्रबन्धों की चर्चा करना अनिवार्य है, जिनका प्रभाव इसके ऐतिहासिक या सैद्धान्तिक रूपों पर पड़ा है।

सैद्धान्तिक एवं शास्त्रीय समीक्षा की दिशा में सर्वप्रथम प्रयत्न डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' द्वारा किया गया। इन्होंने सन् १९३७ ई० में 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' शीर्षक शोध प्रबन्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रस्तुत किया। सन् १९४३ ई० में पुनः इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एक दूसरा कार्य डॉ० छैल बिहारी गुप्त 'राकेश' द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस शोध प्रबन्ध का शीर्षक था—'मनोविज्ञान के प्रकाश में रस सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन'। सन् १९४७ ई० डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास' विषयक शोध प्रबन्ध लिखकर हिन्दी की स्वतन्त्र काव्यशास्त्रीय उपलब्धि विषयक मान्यताओं को पुष्ट करने का प्रयत्न किया। सन् १९४९ में डॉ० नगेन्द्र ने अपने बहुचर्चित शोध प्रबन्ध 'रीति काव्य की भूमिका देव और उनकी कविता' पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। इसके पश्चात् हिन्दी साहित्य में भारतीय काव्य शास्त्रीय परम्परा के अध्ययन की बाढ़-सी आ गई और थोड़े-से ही समय में लगभग दर्जन से अधिक शोध प्रबन्ध नितान्त मनोयोग से प्रस्तुत किए गए। हिन्दी अलंकार साहित्य—डॉ० ओम प्रकाश (सन् १९५१ ई०), ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—डॉ० भोलाशंकर व्यास (सन् १९५२ ई०), नायक नायिका भेद—डॉ० छैल बिहारी गुप्त राकेश—(सन् १९५२ ई०), हिन्दी कविता में श्रृंगार रस का अध्ययन—डॉ० आर० पी० चतुर्वेदी, हिन्दी काव्य में करुण रस—डॉ० वी० वी० लाल श्रीवास्तव (सन् १९५४ ई०), हिन्दी साहित्य में हास्य रस—डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी (सन् १९५६ ई०), रस सिद्धान्त—डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित (सन् १९५६ ई०), कवि समय मीमांसा-डॉ० विष्णुस्वरूप (सन् १९५७ ई०), हिन्दी काव्य में करुणरस—डॉ० ताराकपूर (सन् १९५८ ई०), रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—डॉ० बच्चन सिंह (सन् १९५६ ई०), हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डॉ० सत्यदेव चौधरी—सन् १९५६ ई०), आधुनिक काव्य में अलंकार विधान—डॉ० जगदीश नारायण (सन् १९५८), हिन्दी काव्य में वात्सल्यरस—डॉ० आशा शिरोमणि (सन् १९६० ई०), हिन्दी काव्य शास्त्र में दोषों का निरूपण—डॉ० रणधीर सिंह (सन् १९६० ई०), मध्यकालीन भक्ति काव्य में वात्सल्य और सख्य रस—डॉ० करुणा वर्मा (सन् १९६१ ई०) आदि।

काव्य शास्त्र की इसी परम्परा-क्रम में चार शोध प्रबन्ध छन्द पर लिखे गए। हिन्दी छन्द शास्त्र, मध्यकालीन छन्दों का ऐतिहासिक विधान, आधुनिक हिन्दी कविता में छन्द तथा

मध्यकालीन हिन्दी कविता में प्रयुक्त मात्रिक छन्दों का ऐतिहासिक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन। शास्त्रीय तथा सैद्धान्तिक परम्परा के संदर्भ में कई तुलनात्मक कार्य भी किए गए और उनके माध्यम से पर्याप्त सामग्री प्रकाश में आई। आधुनिक हिन्दी काव्य और आलोचना पर अंग्रेजी आलोचना का प्रभाव—डॉ० रवीन्द्र भ्रमर (सन् १९५३), आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्य-शास्त्र का तुलनात्मक अध्यय—डॉ० मनोहर काले (सन् १९६०) आदि उपलब्धि की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त भी काव्यशास्त्र के स्फुट तथा स्वतन्त्र विषयों को लेकर हिन्दी में अनेक महत्वपूर्ण शोध प्रबन्ध लिखे गए। इन शोध प्रबन्धों में कव्य और प्रकृति—डॉ० रघुवंश, आधुनिक हिन्दी काव्य में सम्मूर्तन—डॉ० केदारनाथ सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य के बदलते हुए विविध मानों का अध्ययन डॉ० रमेशप्रसाद मिश्र, सत्यं शिवं सुन्दरम् डॉ० रामानन्द तिवारी, हिन्दी साहित्य में विविधवाद—डॉ० पी० एन० शुक्ल, हिन्दी महाकाव्यों का उद्भव और विकास—डॉ० शम्भूनाथ सिंह आदि की विशेष चर्चा की जाती है।

इन विविध विषयों के अतिरिक्त भी हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में आने वाले पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों पर आधारित या स्वतन्त्र रूप से सैद्धान्तिक समीक्षा पर अनेक 'महत्वपूर्ण शोध प्रबन्ध प्रकाश में आए। आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ डॉ० दशरथ मिश्र, हिन्दी साहित्य में विविधवाद—डॉ० पी० एन० शुक्ल, हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास—डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त—डॉ० राम-लाल सिंह आदि अनेक महत्त्वपूर्ण शोध प्रबन्ध इधर बीस वर्षों के अन्तर्गत लिखे गए।

हिन्दी काव्य की स्वतन्त्र शास्त्रीय सैद्धान्तिकता को प्रस्तुत करने की दिशा में कार्य करने का सुझाव डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० नगेन्द्र ने रखा था। इन सुझावों का सन्दर्भ यह था कि हिन्दी की स्वतन्त्र काव्यशास्त्रीय सैद्धान्तिकता का, परम्परा से पृथक्, मात्र रचनात्मक सामग्री के आधार पर, अध्ययन होना चाहिए और इस रूप में हिन्दी का अपना स्वतन्त्र काव्यशास्त्र निर्मित करना इसका लक्ष्य था। डॉ० नगेन्द्र की प्रेरणा से दिल्ली विश्वविद्यालय से 'आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त' शीर्षक प्रबन्ध डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त ने प्रस्तुत किया और इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डॉ० योगेन्द्र सिंह द्वारा 'हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में निहित काव्यादर्श एवं काव्य शास्त्रीय सिद्धान्त' शीर्षक प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया। वस्तुतः इस क्षेत्र में अभी अध्ययन करने की पर्याप्त दिशाएँ अवशिष्ट हैं।

स्वतन्त्र सैद्धान्तिक समीक्षा तथा शोध प्रबन्धों द्वारा प्रस्तुत शास्त्रीय किंवा सैद्धान्तिक समीक्षा के अध्ययन पद्धतियों की भिन्नता के फलस्वरूप दोनों में अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। शोध तथ्यान्वेषण तथा तथ्यपरिशोधन से सम्बन्धित है। उसकी पद्धति ऐतिहासिक या आगमात्मक होती है किन्तु सैद्धान्तिक समीक्षा में मूल्यों के विश्लेषण के औचित्य एवं स्थायित्व की चर्चा होती है। इस चर्चा में ऐतिहासिकता एवं तथ्यपरकता से कहीं अधिक रचनात्मकता को प्रोत्सा-हित करने की शक्ति होती है। शोध पद्धति मात्र गणनात्मक होती है और इस रूप में प्रायः हिन्दी अनुसन्धान से सम्बद्ध सैद्धान्तिक समीक्षा के माध्यम से शास्त्रीयता अथवा सैद्धान्तिकता के क्षेत्र में संघटित निष्पत्तियों, तथ्यों, उपलब्धियों एवं परिस्थितियों का विशद अध्ययन हो

चुका है। ऐतिहासिकता की दृष्टि इसमें प्रमुख है—और इस रूप में यह नितान्त तथ्यात्मक अध्ययन मात्र रह गया है।

किन्तु इसके अतिरिक्त भी, हिन्दी की सैद्धान्तिक समालोचना से सम्बन्धित शोधों की अन्तरपरिधि कहीं-कहीं विश्रृङ्खल अवश्य हो गई है। सैद्धान्तिक समालोचना के शोध सैद्धान्तिक मूल्यांकन के पर्याय बन गए हैं। प्रायः शोध तथा मूल्यांकन या स्वतन्त्र लेखन में अलगाव न रखने के कारण ही ऐसा हुआ है। सैद्धान्तिक समालोचना का सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है समसामयिक परिवेश में उसकी नितान्त जीवन्तता या व्यावहारिक समीक्षा के साथ उसके घनिष्ठतापूर्ण लगाव का मानकीकरण। हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा पर किए गए अनेक शोध-कार्य मूलतः व्यावहारिकता से इतने अधिक सम्बद्ध हैं—कि शोध दृष्टि अस्पष्ट सी प्रतीत होती है। विशेष रूप से आधुनिक वादों पर किए गए सैद्धान्तिक शोध ग्रन्थों में यह दृष्टि विशेष जागरूक है।

मूल्यवादी समीक्षा—

मूल्यवादी समीक्षा वस्तुतः शास्त्रीय परम्परा के संस्कार से सर्वथा पृथक् स्वतन्त्र गतिशील सामाजिक चिन्तन के पार्श्व से उभरी हुई सिद्धान्तकार की विशिष्ट दृष्टि से परिचालित होती है। विशिष्ट दृष्टि का अर्थ है प्रगतिशील आस्था या प्रगतिशील तत्त्वों को पकड़ सकने की सक्षमता। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत इस नवीन मूल्यवादी समीक्षा का उदय सर्वथा नए संस्कारों से हुआ है।

भारतीय समीक्षकों को नएपन का बोध बहुत बाद में हुआ। पूरब तथा पश्चिम का रचनात्मक स्तर पर एकनिष्ठ हो जाने के फलस्वरूप एक विशिष्ट दृष्टि उत्पन्न हुई और यह दृष्टि थी रचनात्मक स्तर पर सामाजिक मूल्यों को स्वीकार करने की वस्तुतः भारत में नवीनता की बाढ़ दो बार जोरों में आई—भारत पर अंग्रेजों के प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद और स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् या लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था प्रणाली के पश्चात्। स्वतन्त्रता के पूर्व सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में नवीन दृष्टि प्रायः विकसित हो चुकी थी और इस रूप में आदर्श मानववाद, कर्मवाद (गान्धीवाद), मर्यादापूर्ण जीवन पद्धति सिद्धान्त, आनन्दवाद (रानडे), उमर खय्याम का भाग्यवाद निराशावाद, अतिसाहसिकतावाद, आदर्शवाद, सर्वधर्म समन्वयवाद आदर्श आदि अनेकानेक परम्परा के बीच से उभड़ रहे थे। पाश्चात्य चिन्तन पद्धति ने व्यवस्थित ढंग से मानव अस्तित्व को केन्द्र में रखकर नवीन सामाजिकतावादी मूल्यों के प्रति आस्थाशील होने की प्रवृत्ति जाग्रत की। डॉ० धर्मवीर भारती इस मूल्यबोध की पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए निम्न तथ्यों को विशेष महत्त्व देते हैं—'व्यापक मार्क्सवादी जीवन पद्धति तथा व्यापक स्तर पर उसका प्रभाव एवं उसके आधार पर मानसिक संघटना का पुर्नसंस्कार, मनोविश्लेषण तथा अर्न्तमानसिक प्रक्रिया का रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में अध्ययन, अरविन्द के ऊर्ध्वचेतन सिद्धान्त का पोषण तथा प्रभाव, पश्चिम के वैयक्तिकतावादी सिद्धान्तों की स्वीकृति। उनके अनुसार आधुनिकता के अन्तर्गत समसामयिक मानव अस्तित्व की स्थिति विशेष महत्त्वपूर्ण है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 'भारतीय मानव' की अवधारणा निश्चित ही कई अर्थों में स्वतन्त्रतापूर्व से कुछ विशिष्ट हो गई। पूर्णतः

तो नहीं, किन्तु पर्याप्त मात्रा में शासित होने का संस्कार टूट चुका और अन्तर्मानसिकता कतिपय नए सन्दर्भों को लेकर सामने आई। इस परिवेश से कुछ प्रकार के मूल्य समान दिशा में आगे बढ़े हैं—आत्मानुभूत सामाजिक अंकुश, नवीन दायित्व चेतना, आत्मतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था की मान्यता आदि और इसी के साथ इसके अभावात्मक मूल्य निरंकुशता, उच्छृङ्खलता, दायित्वहीनता आदि भी पनपे हैं। धीरे-धीरे सामाजिक निष्ठा व्यक्तिपरक होती रही है और इस प्रकार मनुष्य नितान्त वैयक्तिक बनते जा रहे हैं। निश्चित ही समसामयिक परिस्थिति में यह आत्मानुभूति वैयक्तिक-सामाजिक यथार्थ से सम्बद्ध होकर रचनात्मक प्रक्रिया के साथ अभिव्यक्त हुई है और आज इसीलिए सम्पूर्णतः रचनात्मक साहित्य की दिशाएँ परम्परा से पृथक् हो गई हैं।"

आधुनिक मूल्य बोध की दिशाएँ बहुत ही स्पष्ट हैं। वस्तुतः समसामयिकता के परिप्रेक्ष्य में बँधा हुआ मनुष्य उन समस्याओं का अनुभव बहुत निकट से कर रहा है—जो व्यापक जन चेतना को प्रभावित किए हुए हैं। इस प्रकार मनुष्य जीवन्त यथार्थ को भोगने के लिए स्वतः कटिबद्ध है और सार्त्र के शब्दों में आधुनिकता की यही सबसे महत्त्वपूर्ण मर्यादित स्थिति है। डॉ० धर्मवीर भारती मूल्यवाद के अन्तर्गत परम्परा अर्जित चेतना को भी एक विशिष्ट तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं। अज्ञेय ने इस आधुनिकता की भमिका में 'मानववाद' तथा 'व्यक्तित्व की खोज' के दर्शन को विशेष आग्रह से स्वीकार किया है। युगबोध के दायित्व का आभास लगाते हुए उन्होंने जिस प्रतीक पुरुष की कल्पना की है उसके मूल में आधुनिकता के बोध की मर्यादाएँ निहित हैं। प्रयोगवाद का प्रतीक पुरुष विघटित मूल्यों से युक्त ध्वस्त अन्तरात्मा सम्पन्न, व्यक्तित्व के अभाव से पीड़ित तथा उसे खोजने के लिए प्रयत्नशील नितान्त असामाजिक और अन्तर्गुहावासी के रूप में लक्षित होता है। डॉ० रघुवंश आधुनिकता के सन्दर्भ में कला की चेतना को निरन्तर गत्यात्मक एवं विवेक साधित स्वीकार करते हैं। कुल मिलाकर समसामयिक मूल्यवादी सैद्धान्तिक समीक्षा का सन्दर्भ समसामयिक कालबोध की जागरूकता से जुड़ा हुआ है। मूल्यवादी समीक्षा का यह स्वरूप नितान्त सम्पन्न एवं वर्तमान यथार्थ के संस्पर्शों से प्रकृतया जुड़ा हुआ है। उसे व्यावहारिक समीक्षा पद्धति से इतना अधिक सम्पृक्त कर दिया गया है, कि उसकी सैद्धान्तिक मौलिकता के सम्बन्ध में संशय करना अनेक दृष्टियों से अभी सम्भव नहीं है।

निःसन्देह मूल्यवादी समीक्षा का हिन्दी साहित्य में उदय व्यक्तिनिष्ठा से हुआ है। मनुष्य निष्ठा का अर्थ है, मानव अस्तित्व को प्राथमिकता देते हुए सामाजिक छलावों एवं आदर्शपूर्ण दिवास्वप्नों से पृथक् समसामयिक भोगे जाते हुए यथार्थ मूल्यबोध के स्थायित्व की स्वीकृति। आज की चेतना तथा मध्ययुगीन जीवननिष्ठा में गहरा अन्तर्विरोध है। मध्ययुगीन जीवननिष्ठा मूलतः मनुष्य के वास्तविक अस्तित्व के स्थान पर आदर्शों, निष्ठाओं, परम्परावादी शास्त्र मर्यादाओं पर आधारित वर्तमान से कहीं अधिक आगत अस्तित्व की समर्थक रही है। मध्ययुगीन जीवननिष्ठा के अन्तर्विरोध में व्यक्ति चेतना का उदय जिन शक्तियों के फलस्वरूप हुआ, उनकी चर्चा की जा चुकी है। आधुनिक युग के प्रारम्भिक चरण में वैयक्तिक

अस्तित्व की स्वीकृति और दायित्व के विभिन्नवादों का उदय एक विशिष्ट प्रकार की क्रान्तिकारी घटना है।

योरोपीय साहित्य में अनेकानेक नए वाद-विवाद एवं सामाजिक तथा साहित्यिक चिन्तन—जो उन्नीसवीं एवं बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों में उठे, अधिकांशतः माननीय स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व के समर्थक रहे हैं। विशेषकर फ्रांस, जर्मन, इंगलैण्ड आदि देशों में 'व्यक्ति अस्तित्व' की चर्चा विशेष जोरों पर रही है। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में विश्व चेतना में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन का श्रेय मार्क्सवाद को है। पश्चिम में जहाँ ठोस यथार्थ की केन्द्रित करके व्यक्ति निष्ठा की चर्चा हुई, वहीं एक विशेष प्रकार की वर्ग व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग के अस्तित्व को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा का जन्म हुआ। इस चेतना का मूलाधार औद्योगीकरण की कटुता, पूंजी के असमान वितरण से उत्पन्न सामाजिक मूल्यों की छिन्नता है। इस रूप में, यह सत्य है कि सर्वहारा वर्गचेतना का समर्थक मार्क्सवाद व्यक्तिनिष्ठा में विश्वास नहीं रखता; फिर भी व्यक्ति-अस्तित्व की मान्यताओं का यह निषेध नहीं करता। मार्क्सवाद के अन्तर्गत स्वीकृत व्यक्तिवाद वह नहीं है, जो पूँजीवाद का है अपितु मार्क्सवादी समाजतन्त्र की सम्पूर्ण मान्यताओं एवं परिस्थितियों की कड़ी के रूप में, उस सामाजिक इकाई का एक अंग है। मार्क्सवादी व्यवस्था से पृथक् जो भी सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं, उनमें साहित्यिक दृष्टि से व्यक्ति-प्रतिष्ठा का स्वरूप कई दृष्टियों से पृथक् है। विशेष रूप से पूँजीवादी देशों की साहित्यिक रचनाओं में जिन मानवीय संवेगों की अभिव्यक्ति हुई है, वे समाज की व्यवस्थित अनुभूतियों से कम सम्बद्ध हैं। परम्परा के क्रम से ठीक विपरीत यह व्यक्तित्व समसामयिकता में जीवित विकलांग, झकझोरा हुआ, आदर्शों को कुलच-कर चलने वाला अहंजोवी आदि विशेषणों से संयुक्त है। अस्तित्ववाद, यथार्थवाद, अति-यर्थाथवाद, नग्न यर्थाथवाद, विटनिक आदि मान्यताओं के अन्तर्गत स्वीकृत मनुष्य मार्क्सवादी समाज व्यवस्था से पृथक् पूँजीवादी सामाजिक विसंगतियों की देन है। इस रूप में, पूँजीवादी समाज व्यवस्था के अन्तर्गत आदर्श एवं निष्ठापूर्ण जोवन का वह स्वरूप जो अनेकनेक वर्षों से व्यक्ति तथा समाज की नीतिशास्त्र का मेरुदण्ड था, चिथड़ा हो गया है।

इस सामाजिक विघटन एवं प्रतिस्थापन का बोध भारतीयों को देर-सबेर अवश्य हुआ। साहित्य के अन्तर्गत मार्क्सवादी मान्यताओं का स्वीकरण इस दृष्टि से सम्भवतः सर्वप्रथम हुआ। सन् १९३४ में यहाँ भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी बनी तथा सन् १९३६ में मार्क्सवादी प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। इस स्थापना के साथ-साथ एक नवीन चिन्तन पद्धति का जन्म हो चुका था और अनेक भारतीय लेखक रचनात्मक तथा सैद्धान्तिक—दोनों स्तरों पर इससे प्रभावित हुए। सन् १९३७ में शिवदानसिंह चौहान ने 'विशाल भारत' में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शोर्षक लेख प्रकाशित कराया और इस इतिहास क्रम में यह प्रथम लेख था। रहस्यवाद तथा छायावाद की रचनात्मक मान्यताएँ इस समय जोरों पर थीं, किन्तु इस नयी मानववादी मूल्यवत्ता के फलस्वरूप बिना रीढ़ की यह काव्यचेतना धराशायी होने की ओर अग्रसर हुई। छायावाद के घोर समर्थक दिवास्वप्नवादी पन्त तक की दृष्टि मानवता-वादी हो चुकी थी। दूसरी ओर, प्रगतिवादी मान्यताओं से परिचालित लेखकों एवं कवियों का

समुदाय हिन्दी साहित्य में आया। इन्ही रचनाओं के साथ सैद्धान्तिक मूल्याङ्कन की दृष्टि भी अवतरित हुई और शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, प्रकाश चन्द्र, मन्मथनाथ गुप्त आदि लेखकों ने प्रगतिवादी मूल्यों के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन किया। इन सिद्धान्तकारों के वस्तुतः दो वर्ग हैं—प्रथम स्वतः मार्क्सवादी चिन्तन व्यवस्था को एकमात्र साहित्यिक प्रेरणा के मूल में स्वीकार कर उसकी प्राथमिकता पर बल देता है। ये आलोचक वस्तुतः मार्क्सवादी व्यवस्था के समर्थक हैं। दूसरे के अन्तर्गत ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने मात्र साहित्यिक रुचि को केन्द्र में इस पर विचार प्रस्तुत किया है। धर्मवीर भारती, रांगेय राघव आदि इसी परम्परा क्रम में हैं।

प्रगतिवादी सैद्धान्तिक समीक्षा का मूलाधार, कलात्मक परिष्कृति से उत्पन्न संवेदनापूर्ण भावों की व्याख्या के स्थान पर जनवादी मूल्यों और विशेषकर जिनका सम्बन्ध मार्क्सवादी यथार्थवाद से है की प्रायोगिकता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इनकी साहित्यिक नीति उपयोगितावादी है, और इस रूप में अभिजात् कला रुचियों, संस्कारों, भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के ठीक विपरीत वर्गविहीन समाज को स्थापना के प्रति सचेष्ट एवं इनमें सहायक जीवन्त तत्त्वों को उभाड़कर साहित्यिक चेतना के धरातल पर प्रतिष्ठित कराने का श्रेय इन आलोचकों को है।

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक समीक्षा का विकास हिन्दी में बहुत कम हो सका है। इस वर्ग के लेखक तथा आलोचक अधिकांशतया स्वीकृत मान्यताओं के आरोपण तथा नारेबाजी के लिए प्रसिद्ध हैं। हिन्दी साहित्य में इस दृष्टि से सैद्धान्तिक समीक्षकों में मात्र दो ही व्यक्तियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—रामविलास शर्मा तथा शिवदानसिंह चौहान। सामान्य रूप से मन्मथनाथ गुप्त, नागार्जुन, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, धर्मवीर भारती के नामोल्लेख होते हैं।

उपलब्धि की दृष्टि से प्रगतिवादी सैद्धान्तिक आलोचना की दिशाओं का व्यावहारिक क्षेत्र अभी प्रायः अछूता ही है। सम्भवतः इसका मुख्य कारण है निम्नवर्गीय चेतना को साहित्यिक स्तर पर अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने में 'पैटर्न' का ही प्रयोग होता रहा है।

मूल्यवादी समीक्षा का एक दूसरा पक्ष मनोविश्लेषणात्मक मूल्यों विशेषकर फ्रायड तथा युग की चिन्तन पद्धति पर आधारित है।

व्यक्तिनिष्ठा एवं वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप मानव मस्तिष्क के संवेगों, धारणाओं, प्रत्यक्षों, प्रतिक्रियाओं आदि के वास्तविक विवेचन की ओर व्यक्ति का ध्यान जाना अपेक्षित था और इसी के साथ-ही-साथ रचनात्मक साहित्य की सृजनशीलता के मनोवैज्ञानिक तथ्यों को खोजने का प्रयास किया गया। इस सैद्धान्तिकता ने प्रत्यक्षतः तो कम किन्तु परोक्ष रूप में साहित्य के सिद्धान्त चिन्तन को अधिक प्रभावित किया। हिन्दी-साहित्य में लगभग दो दशक से फ्रॉयड का नाम लिया जाने लगा है। फ्रॉयड के अनुसार रचनाशीलता की प्रेरक तीन शक्तियाँ हैं—कामवासना (लिविडो), अचेतन मस्तिष्क तथा अतृप्त वासनाएँ (अनकॉन्सस माइन्ड एन्ड काम्पलेक्सेज) एवं अहम् (इगो)। युंग ने कामवृत्ति के स्थान पर 'आत्म स्थापन' की वृत्ति को रचनात्मकता के मूल में स्थिर किया है। जैसा कि कहा जा चुका है, प्रत्यक्षतः फ्रायडवाद एवं

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त हिन्दी साहित्य के लिए विशेष उपयोगी नहीं सिद्ध हो सके हैं। रचनात्मक स्तर पर कुल मिलाकर एक दर्जन उपन्यास, कतिपय कहानियाँ तथा सैद्धान्तिक स्तर पर कतिपय स्फुट लेख एवं शोधकार्य के लिए एकाध विषय अवश्य स्वीकृत हुए हैं। अप्रत्यक्षतः इस चिन्तन पद्धति ने डाडाइज़्म, सुररियलिज़्म, बिटनिक एवं भूखीपीढ़ी की मान्यताओं को जन्म दिया है। हिन्दी साहित्य में इन वादों के दौर लगे अवश्य किन्तु सैद्धान्तिक उपलब्धि महत्त्वशून्य है। इनसे पृथक् इस चिन्तन पद्धति का एक सामान्य प्रभाव हिन्दी साहित्य के सैद्धान्तिक समीक्षक अब तक रचनाशीलता के मूल्यों के विवेचन के सन्दर्भ में सामाजिक तथा कलात्मक मूल्यों की ही चर्चा करते रहे हैं, किन्तु इस मान्यता के फलस्वरूप यह अनिवार्य रूप में स्वीकार किया जाने लगा कि रचना के सैद्धान्तिक मूल्यों की व्याख्या का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष रचना के साथ संलग्न रचनात्मक मस्तिष्क भी है और सैद्धान्तिक स्तर पर उसकी व्याख्या अनिवार्य है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक समालोचना के विकास में यह तथ्य विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है, फिर भी इसके स्वतन्त्र सैद्धान्तिक विवेचन की कड़ियाँ अभी तक अछूती पड़ी हैं।

इनके साथ हिन्दी साहित्य में प्रयोगवादी तथा नई कविता की मान्यताओं के विकास क्रम में मूल्यवादी सैद्धान्तिक समीक्षा की एक नई चिन्तन पद्धति पनपी है और अपनी मान्यताओं में यह सर्वथा मौलिक तथा परिष्कृत साहित्य-चिन्तन की सम्भावनाओं से सम्पृक्त है। इस मूल्यवादी सैद्धान्तिक समीक्षा का उदय हिन्दी साहित्य में लगभग २५ वर्ष से हुआ होगा। इसकी पृष्ठभूमि में प्रयोगवादी एवं नई कविता से सम्बद्ध व्यावहारिक समीक्षा की सम्भावनाएँ इतनी सम्पृक्त हैं, कि इन्हें प्रयोगवाद या नई कविता की ही सैद्धान्तिक आख्या समझ लेने का भ्रम कर लिया गया है। यह सत्य अवश्य है कि प्रयोगवाद तथा नई कविता की सम्भावनाओं एवं उनमें निहित समस्याओं के पार्श्व में इसका एक महत्त्वपूर्ण अंश लिखा गया है, किन्तु सम्पूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन का आधार यही है, यह सर्वथा भ्रामक है।

प्रयोगवाद तथा नई कविता का सामाजिक-बौद्धिक परिवेश अत्यधिक विस्तृत एवं जीवन्त है। उसने नितान्त आधुनिकता या समसामयिकता के अन्तर्गत भोगी जाने वाली स्वस्थ तथा कुंठित यथार्थानुभूति को बिना छद्म के स्वीकार किया है। इस तथ्य का प्रभाव सैद्धान्तिक समालोचना पर बड़े व्यापक ढंग से पड़ा है। आज की समस्त कटुता, सुखभोग की आकांक्षा, यथार्थबोध की सम्पूर्ण भावात्मक अभावात्मक संवेदनाएँ,—सामर्थ्य-असामर्थ्य बौद्धिकता जो कुछ भी व्यक्ति एवं समष्टि के लिए है—समान रूप से सभी को स्वीकार किया है। परिवेशगत इन बौद्धिक-अबौद्धिक संवेदनाओं एवं मानवीय यथार्थबोध के साथ-साथ चिन्तन के व्यापक स्तर पर स्वीकृत तथ्य इस समीक्षा पद्धति के साथ हैं। प्रायः विश्व की उन समस्त समसामयिक समस्याओं, परिस्थितियों और उनके साथ जुड़ी संवेदनाओं को ही नहीं अपितु साहित्य तथा कला के मूल्यों को प्रभावित करने वाली घटनाओं, सिद्धान्तों एवं संवातों का निकटतम परिचय इन चिन्तकों को है। प्रारम्भ में आधुनिकता की पृष्ठभूमि के साथ उन परिस्थितियों का सामान्य विवेचन किया जा चुका है। फ्रॉयड, युंग, एडलर, रिचर्ड्स्, एज़रापाउन्ड टी० एस० इलियट, वोदलेयर, रिम्बो, एलेन, एन्द्रेज़ीद, सार्त्र आदि युग प्रवर्तक विचारक एवं

कवि तथा साहित्य के सैद्धान्तिक चिन्तन के रूप में प्रतीकवाद, ह्यूमनिज़्म, इमेज़िज़्म, वारटीसिज्म, क्युब्जिम, दादाइज़्म, अनएनचिज़्म, फेंटासिज़्म, रियलिज़्म, सुररियलिज़्म आदि के सम्पर्क में आज का समालोचक निश्चित रूप से बौद्धिक परिवेश में अपने को पुरानी पीढ़ी से कहीं अधिक जागरूक पा रहा है।

प्रयोगवादी सैद्धान्तिक समीक्षा की सामान्य पृष्ठभूमि छायावाद में निर्मित हो चुकी थी। पन्त, निराला, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, बच्चन, भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा आदि ने शास्त्रीयता से सर्वथा मुक्त होकर अपने काव्यों की सैद्धान्तिकता के स्पष्टीकरण के लिए 'पर्यालोचन' लिखे या व्यावहारिक समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। निश्चित ही इन कवियों की उपलब्धि इस दृष्टि से नितान्त महत्वपूर्ण है कि इन्होंने आधुनिकता से सम्बद्ध सामान्य समालोचनात्मक मूल्यों एवं मानों को प्रतिष्ठित किया है। यह सत्य अवश्य है कि इनकी विवेचन पद्धति, संवेदना तथा चिन्तन के मूलाधार विचार आदि समसामयिकता से भिन्न हैं, उनमें एक निश्चित, समसामयिक न सही आधुनिक होने का संदर्भ निहित था और वे आधुनिकता के संस्पर्शों का अनुभव अत्यन्त तीव्रतापूर्वक कर चुके थे। महादेवी वर्मा इस दृष्टि से आधुनिक बोध के सबसे कम निकट रहीं, पर पन्त एवं निराला इस दृष्टि से कहीं आधुनिक एवं नएपन की प्रारम्भिक कड़ी से जुड़ कर आए। इनके बाद कवियों का एक ऐसा वर्ग आता है, जो काव्यमूल्यों की उत्कृष्टता की दृष्टि से चाहे इतना सम्पन्न न हो किन्तु इनमें उत्तरोत्तर यथार्थबोध को पकड़ सकने की क्षमता अधिक मिलती है। नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, शिवमंगल सिंह 'सुमन', बालकृष्णराव आदि संक्रान्तिकालीन कवि प्रायः इसी रूप में हैं। इनकी सैद्धान्तिक समालोचना विषयक दृष्टि निश्चित ही समसामयिकता की पृष्ठभूमि में है। इनके साथ-साथ प्रयोगवाद आया और उनके साथ स्वकाव्य समीक्षा के अनेक संदर्भ भी प्रकाश में आए। इस रूप में प्रयोगवादी कवियों ने भी सैद्धान्तिक समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं जिनमें अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जगदीशगुप्त, लक्ष्मीकान्त वर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, गजानन माधव, मुक्तिबोध, नलिन विलोचन शर्मा, भारत भूषण अग्रवाल, केदारनाथ सिंह, विजयदेव नारायण साही, शम्भूनाथ सिंह आदि ने सामान्यतः काव्य के सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर व्यापक तथा गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। इन कवियों की सैद्धान्तिक समीक्षा में व्यावहारिकता का सन्दर्भ अनिवार्य रूप में जुड़ा हुआ है किन्तु इनमें महत्वपूर्ण तथ्य सैद्धान्तिकता ही है। इन कवियों ने एक व्यापक बौद्धिक आग्रह एवं यथार्थबोध की निश्छल अनुभूति को काव्याभिव्यक्ति के रूप में रखने का प्रयत्न किया है। इसके फलस्वरूप भावात्मकता एवं संवेदात्मकता एवं संवेदात्मकता के उन रूढ़ परम्परया स्वीकृत सैद्धान्तिक आग्रहों तथा मान्यताओं का खुलकर बहिष्कार किया गया। साधारणीकरण तथा रसानुभूति, काव्यानुभूति का स्वरूप, समसामयिक मानव मन तथा भाव प्रक्रिया, लय, छन्द, अर्थलय, अर्थाभिव्यंजन आदि समस्याओं पर काव्य एवं साहित्य की समसामयिक अनिवार्यताओं के अनुरूप विचार प्रस्तुत किए गए।

मूल्यवादी इस समीक्षा का एक दूसरा पार्श्व मात्र सिद्धान्तकारों का है। इनमें से कुछ ऐसे हैं, जो निश्चित रूप से मात्र सिद्धान्तकार ही हैं। नन्ददुलारे बाजपेई, रघुवंश, देवराज, रामस्वरूप चतुर्वेदी, शिवदानसिंह चौहान आदि के नाम इसी रूप में लिए जा सकते हैं।

प्रयोगवाद की सैद्धान्तिक निष्पत्तियों को लेकर सागर विश्वविद्यालय से श्री नन्ददुलारे बाजपेई के निर्देशन में एक शोधकार्य भी प्रस्तुत किया है। प्रबन्ध का शीर्षक 'प्रयोगवाद' है और अनुसंधित्सु हैं नरेन्द्रदेव वर्मा।

मूल्यवादी समीक्षा के अन्तर्गत आने वाली सैद्धान्तिक कृतियों में प्रतिपादित मान्यताओं का अभी तक सम्यक् विवेचन नहीं हो सका है। सैद्धान्तिक समीक्षा की व्यापकता एवं गम्भीर विवेचना को ध्यान में रखकर अज्ञेय कृत त्रिशंकु, संघर्षकाल में साहित्य, तारसप्तक की भूमिकाएँ, आज का भारतीय साहित्य, नन्द दुलारे बाजपेई नया साहित्य, नये प्रश्न, धर्मवीर भारती—मानव मूल्य और साहित्य, देवराज—हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ, लक्ष्मीकान्त वर्मा—नई कविता के प्रतिमान, नए प्रतिमान पुराने निकष, शिवदानसिंह चौहान—आलोचना के मान रघुवंश—साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, रामस्वरूप चतुर्वेदी—हिन्दी नवलेखन, नलिन विलोचन शर्मा—नकेन के प्रपद्य, नई कविता की भूमिकाएँ, प्रयोगवाद स्वरूप एवं समस्याएँ आदि कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कृतियों में निहित मान्यताओं एवं उपलब्धियों के आधार पर मूल्यवादी समीक्षा की सैद्धान्तिक गतिविधि का आकलन किया जा सकता है।

मूल्यवादी समीक्षा का सैद्धान्तिक स्तर अत्यन्त व्यापक एवं वैज्ञानिक है। वादों, सिद्धान्तों एवं साहित्यकार के निर्धारित आस्थामूलक चिन्तनों में किसी प्रकार का विश्वास न रखकर कर मात्र रचना के निर्धारक मूल्यों को आत्मानुभूति तथा सजगता के केन्द्र में रखकर सिद्धान्त निरूपण की चर्चा की स्थिति स्वीकार की गई है। वह परम्परा एवं उसके मोह की अन्धता को भ्रामक स्वीकार करती है, साथ ही वह यह भी स्वीकार करती है मूल्य संस्थापन एवं बोध तत्व निरन्तर गतिशील है।

मूल्यवादी समीक्षा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है—विवेकपूर्ण दृष्टि की। यह दृष्टि न अध्ययन की है और न परम्पराबोध की अपितु इनसे पृथक् साहित्य में अभिव्यक्त होने वाले मूल्यबोध को पहचानने की है। यह विवेकदृष्टि समसामयिक यथार्थबोध से इतनी अधिक सम्बद्ध है, कि वह किसी प्रकार के आरोप, प्रभाव, नारेबाजी, गुटबन्दी, आचार्यपूजन इत्यादि में विश्वास नहीं रखती।

मूल्यवादी समीक्षा की एक दूसरी विशिष्टता है—नितान्त साहित्यिकता को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति और मात्र उसी परिवेश में मूल्यान्वेषण की दृष्टि। इसी के साथ ही, उसकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है—परम्परा, रूढ़ि या अन्य समसामयिक सिद्धान्तों को आरोपित सिद्धान्त के रूप में न स्वीकार करने की प्रवृत्ति। सम्भवतः नवलेखन की मूलदृष्टि इसी में है कि वह विवेक साधित है। वह सन्दर्भ को अधिक मूल्यवान स्वीकार करती है तथा इसी दिशा में गतिशील होकर उन्हीं संस्कारों को पकड़ने के प्रति सचेष्ट भी है। यह सत्य है कि इस मूल्यवादी समीक्षा के अन्तर्गत—'नवीन मूल्यों तथा प्रतिमानों' को स्वीकृत करने की 'विशिष्ट संस्थिति', 'कलाकार की रचनात्मक प्रक्रिया' को पकड़ने के प्रति जागरूकता, 'इतिहास दर्शन'—के प्रति आस्था आदि तथ्य के रूप में हैं, फिर भी यह विवेक सापेक्ष है, आरोपित प्रतिमानीकरण रूप में नहीं है, अर्थात् प्रावैगिकता इसकी प्रकृति में है।

मूल्यवादी समीक्षा, निश्चित ही, अभी व्यावहारिक समीक्षा के साथ जुड़ी हुई चल

रही है। नवलेखन की सम्पूर्ण समसामयिकता को वह आत्मसात् किए हुए है। वह अपने इतिहास से पूर्ण परिचित एवं संस्कारों को अधिक निकटता से पहचान रही है। यही उसके लिए विशेष उपयोगी भी है। क्योंकि यह दृष्टि पूर्वाग्रहों से मुक्त करती है। मूल्यवादी समीक्षा का सम्पूर्ण सैद्धान्तिक पक्ष अभी तक सामने उभर कर नहीं आ सका है और न इससे सम्बद्ध सिद्धान्तों का मानवीकरण ही सम्भव हो सका है। अभी उसमें व्यावहारिकता अधिक है। उपलब्धि की दृष्टि से यह समीक्षा पद्धति सैद्धान्तिकता एवं व्यावहारिकता दोनों को समेट कर चल रही है। सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में यह दृष्टि सर्वथा नवीन है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालखण्ड में इस प्रकार की एक सामान्य दृष्टि थी—जहाँ सैद्धान्तिकता एवं व्यावहारिकता दोनों एक साथ चल रही थी। यह सत्य अवश्य है कि प्रारम्भ में वह सैद्धान्तिकता रूढ़ि, पिष्टपेषण, मरे हुए परम्परा विजड़ित मूल्यों के ढाँचे में ढलकर निकलने वाली मात्र थी। छायावाद युग में कुछ कवियों ने अवश्य ही पर्यालोचन लिखे, किन्तु ये पर्यालोचन स्वतः व्यावहारिकता की दृष्टि से उन्हीं कवियों की काव्याभिव्यक्ति की सीमाओं का स्पर्श तक न कर सके। यह सत्य है कि उस युग में आचार्य शुक्ल जैसे सैद्धान्तिक समीक्षक भी हुए जिन्होंने समसामयिक साहित्यिकता के वातावरण में उभरते हुए मूल्यों को पहचानने का प्रयत्न किया। शुक्ल जी की यही विवेक दृष्टि मौलिक थी। छायावाद के पतनोन्मुखी कालखण्ड में समसामयिक मूल्यबोध को केन्द्र में रखकर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों समीक्षा रूपों पर किए गए कार्य नितान्त सामान्य है। निस्सन्देह इस दिशा में सबसे अधिक प्रयत्न नवलेखन के अन्तर्गत ही हुआ है। समसामयिकता के प्रति जो विवेक दृष्टि एवं सजगता इसमें प्राप्त है, सैद्धान्तिक समीक्षा की ठोस आधारभूमि बन सकेगी, और इसका भावी स्वरूप भी अधिक उससे सुदृढ़ हो सकेगा।

समालोचना : व्यावहारिक

हिन्दी में व्यावहारिक समीक्षा का व्यवस्थित एवं क्रमिक विकास तो आधुनिक काल में ही हुआ है। इसे हम वस्तुतः भारतेन्दु युग से पूर्व नहीं ले जा पाते। पर वैसे व्यावहारिक समीक्षा का संस्कृत में तथा आधुनिक युग से पूर्व की हिन्दी में नितान्त अभाव नहीं था। किसी भी समृद्ध साहित्य में ऐसा प्रतीत होता भी नहीं है। आधुनिक युग की व्यावहारिक समीक्षा अपने पूर्ववर्ती युगों की समीक्षा-पद्धति से भी प्रभावित है। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा के दो रूप वास्तव में समझने भर के लिए पृथक् कर लिए जाते हैं। एक दूसरे से नितान्त निरपेक्ष रहने वाले इनके किसी रूप की कल्पना नहीं की जा सकती है। व्यावहारिक समीक्षा के मूल में सिद्धांत होते हैं। उनका प्रयोजन ही सिद्धांत प्रतिपादन है और सैद्धांतिक समीक्षा की उपादेयता व्यावहारिक समीक्षा के लिए है। आज साहित्य सिद्धांतों के निर्माण का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन व्यावहारिक समीक्षा है। इस प्रकार समीक्षा के दोनों रूप एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। पर 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के सिद्धांत से नामकरण अलग-अलग हो जाते हैं। इसी सिद्धान्त से आज का युग व्यावहारिक समीक्षा का युग है और प्राचीन युग सैद्धान्तिक समीक्षा का युग था। सिद्धान्त निरूपण और प्रयोग की प्रधानता आधुनिक एवं प्राचीन युग के अन्तर का मुख्य भेदक तत्त्व है। प्राचीन काल की व्यावहारिक समीक्षा आज की समीक्षा से तत्त्वतः भिन्न थी। सैद्धान्तिक समीक्षा की तरह प्राचीन काल में व्यावहारिक समीक्षा के क्रमिक एवं अक्षुण्ण विकास की परम्परा नहीं रही। उसमें इतने विस्तार और विकास की क्षमता भी नहीं थी। प्राचीन काल का समीक्षक मूलतः तत्त्व चिन्तक था और आज का व्यावहारिक समीक्षक है। संस्कृत का आचार्य साहित्य दर्शन के तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का द्रष्टा था। उनका व्यावहारिक उपयोग उसके लिए गौण महत्त्व की ही वस्तु रही। अपने सिद्धान्त के स्पष्टीकरण तथा उसको मूर्त रूप प्रदान करने के लिए उसे जितनी व्यावहारिक समीक्षा अपेक्षित थी, उतने ही अंश में वह व्यावहारिक समीक्षक था, पर आज का समीक्षक इसके ठीक विपरीत है।

पाश्चात्य समीक्षा का जन्म ही व्यबहार और प्रयोग से हुआ है। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में पाश्चात्य साहित्य समीक्षा का जो प्राचीनतम उदाहरण माना गया है, वह युरीपीडस के नाटकों की अरिस्टोफेन्स के द्वारा की गई समीक्षा है। अरस्तू का एक अप्राप्त ग्रन्थ भी व्यावहारिक समीक्षा का ही ग्रन्थ था। स्रष्ट साहित्य, उसके कवियों और युगों का विविध दृष्टियों से अनुशीलन एवं मूल्यांकन करना ही पाश्चात्य समीक्षा का प्रधान लक्ष्य है। वह साहित्य—कृति के मूल उद्गम, उसकी प्रेरणा, उसमें प्रयुक्त सामग्री, उसके भावन तथा प्रभाव तक के सम्पूर्ण रूप को उसके पूरे परिवेष्ठन में देखती है। वह साहित्यिक कृति को ऐतिहासिक,

सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, शास्त्रीय सौन्दर्यवादी आदि अनेक दृष्टियों से परखती है। इस कार्य में वह साहित्य समीक्षक सिद्धान्त निरूपण भी करता है। इस प्रकार से साहित्य दर्शन का निर्माण भी होता है। पाश्चात्य साहित्यालोचक भी यह मानता है कि सम्पूर्ण समीक्षा का चाहे वह व्यावहारिक हो या सैद्धान्तिक अन्तिम लक्ष्य साहित्य दर्शन का निर्माण है। साहित्य समीक्षक जाने और अनजाने में हमेशा साहित्य दर्शन का ही निर्माण करता है पर फिर भी पाश्चात्य आलोचक मूलतः व्यावहारिक समीक्षक ही है। उसकी प्रक्रिया ही व्यावहारिक नहीं है अपितु वह साहित्य-दर्शन की उपादेयता भी उसके व्यवहार में ही मानता है। प्रत्येक देश और उसका साहित्य-दर्शन उस देश और युग के सर्जन का नियन्त्रण करता है और उसे दिशा निर्देश करते हुए विशेष रूप में रूपायित होने के लिए बाध्य करता है। विशुद्ध सैद्धान्तिक चिन्तन का सर्जन पर नियंत्रण करनेवाली शक्ति में परिणत होना उसकी व्यावहारिक उपादेयता ही है। इस प्रकार सर्जनात्मक साहित्य के विकास, गत्यवरोध एवं दिशा निर्देशन का यह कार्य भी साहित्य समीक्षा का व्यावहारिक रूप ही है। हम इस निबन्ध में व्यावहारिक समीक्षा के इस रूप का भी अन्तर्भाव मान कर चलते हैं। आज के युग की यह बड़ी भारी विशेषता है। साहित्य चिन्तन और सर्जन का इतना गहरा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भी आज की समीक्षा के मूल स्वर को व्यवहार प्रधान बना देता है। ऊपर हमने जो बात पाश्चात्य साहित्य समीक्षा के सम्बन्ध में कही है वही बात आज के हिन्दी समीक्षक और समीक्षा के लिये भी सत्य है। आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के पश्चिम से प्राप्त इस मूल स्वर को स्पष्ट करने के लिए ही हमें पाश्चात्य समीक्षा पर इतना विचार करना पड़ रहा है। आज की साहित्य समीक्षा इसी पाश्चात्य अर्थ में गृहीत होती है। आज केवल समीक्षा शब्द ही पाश्चात्य अर्थ में गृहीत नहीं है अपितु हिन्दी समीक्षा की पाश्चत्य समीक्षा के साथ बहुत कुछ एकतानता होती जा रही है। शैलियों की दृष्टि से तो हिन्दी समीक्षा का प्रायः पश्चिमीकरण हो गया है। मूल्यांकन के मानदंडों के क्षेत्र में भी हिन्दी समीक्षा पाश्चात्य समीक्षा के बहुत नज़दीक आती जा रही है। जो कुछ भी भेद दिखलाई पड़ता है उसका कारण इनके मूल में रहने वाली दोनों संस्कृतियों का सहज एवं मौलिक अन्तर है। यह भेद सम्भवतः कुछ दिन रहेगा। हिन्दी में समीक्षा अभी पाश्चात्य समीक्षा के समान विस्तार और गरिमा को नहीं प्राप्त कर पाई है। पर उस लक्ष्य की ओर वह गतिशील अवश्य है। इस प्रकार पाश्चात्य समीक्षा और भारतीय समीक्षा का जो मौलिक अन्तर है, वह आज की समीक्षा तथा प्राचीन भारतीय समीक्षा का भी है। यह मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य समीक्षा की तरह आज की हिन्दी समीक्षा का भी मूल स्वर ही व्यावहारिक हो गया है। आधुनिक युग को व्यावहारिक समस्या का युग कहना इसीलिये समीचीन है।

हिन्दी के आधुनिक युग को समीक्षा की दृष्टि से व्यवहार प्रधान मानने का एक और भी कारण है; उसके समीक्षा सिद्धान्तों का पश्चिम की तरह प्रयोग पर ही प्रधानतः निर्भर रहना। पश्चिम में सिद्धान्त पक्ष अथवा साहित्य दर्शन का विकास ही विज्ञान की तरह प्रयोग से ही हुआ है। विज्ञान जगत के तथ्यों का विश्लेषण करके उनमें से नियम और सिद्धान्त निकालता है। विज्ञान की शैली प्रधानतः आगमनात्मक और सामान्यीकरण की होती है। पर

दार्शनिक को कुछ सत्य प्रतिभासित होते हैं और वह उनको चिन्तन तथा तर्क के द्वारा प्रतिपादित कर देता है। पश्चिम का साहित्य शास्त्र विज्ञान की उपर्युक्त चिन्तन प्रक्रिया का अवलम्बन करके ही विकसित हुआ है। पर भारतीय साहित्य शास्त्र के विकास की मूल प्रक्रिया दर्शन वाली ही है। आज का मस्तिष्क अगर उसके दिव्य उत्पत्ति की बात को केवल अर्थवाद भी मान ले तब भी विभिन्न लक्ष्य ग्रन्थों के अनुशीलन एवं विश्लेषण के द्वारा ही भारतीय काव्य-शास्त्र के निर्माण की बात अक्षरशः सत्य नहीं मानी जा सकती। भारतीय साहित्य शास्त्र का विकास मूलतः विशुद्ध एवं निरपेक्ष चिन्तन से हुआ है। लक्ष्य ग्रन्थों के विश्लेषणात्मक अनुशीलन ने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण एवं उनके स्वरूप की यथार्थता के प्रतिपादन में पर्याप्त सहयोग दिया है। भारतीय समीक्षकों ने अपने सिद्धान्तों के आधार पर लक्ष्य ग्रंथों का मूल्यांकन भी किया है। पर उसका दृष्टिकोण प्रायः सर्वत्र ही आदर्शनात्मक और निगमनात्मक है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय समीक्षा तो पाश्चात्य समीक्षा की तरह मूलतः व्यावहारिक नहीं मानी जा सकती है पर आधुनिक हिन्दी समीक्षा का स्वर इससे भिन्न है। उसे लक्ष्य ग्रन्थों से सिद्धान्त मिल रहे हैं। काव्य-विधाओं के स्वरूप के सम्बन्ध में उसका निरन्तर विकास हो रहा है। धारणाओं के आधार सर्जनात्मक साहित्य के नये प्रयोग ही हैं। अभी हिन्दी में अपना कोई पृथक् स्वतन्त्र एवं पूर्णतः विकसित साहित्य शास्त्र तो नहीं बन पाया है। भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का हिन्दी ने मिश्रण अवश्य कर लिया है। इन्हीं सिद्धान्तों के आलोक में हिन्दी का समीक्षक अपने लक्ष्य ग्रन्थों का मूल्यांकन करता है। इस प्रकार आज हिन्दी का समीक्षक प्रधानतः प्रयोगात्मक समीक्षक ही है। उसका जो कुछ साहित्य-शास्त्र बन रहा है या भविष्य में बनेगा, उसकी पद्धति भी पश्चिमी साहित्य शास्त्र के ही अधिक अनुरूप है और रहेगी। ऊपर के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि हम आधुनिक समीक्षा को अनेक दृष्टियों से व्यावहारिकता प्रधान कह सकते हैं। समीक्षा का एक और स्वरूप होता है जिसका हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं। यह सर्जनात्मक साहित्य के अन्तस्तल में प्रवाहित होकर उसका स्वरूप निर्माण करता है। आज के युग में समीक्षा के इस रूप का भी प्रयोगात्मक महत्व ही है। सर्जन को प्रेरक एवं विधायक शक्ति के रूप में तो इसकी व्यावहारिक उपयोगिता है ही। इसके अतिरिक्त सर्जित साहित्य के मूल्यांकन के लिए मानदंड और शैली भी यहाँ रूप प्रदान करती है। ऊपर हम कह चुके हैं कि साहित्य दर्शन का यह नियामक रूप भी वास्तव में समीक्षा का व्यावहारिक रूप ही है। आधुनिक हिन्दी साहित्य और समीक्षा के इतिहास में इस रूप का बहुत अधिक महत्व रहा है। आगे हम रचनात्मक साहित्य के स्वरूप, उसके भावन के सिद्धान्तों तथा प्रयोगात्मक समीक्षा के इस गहरे एवं अटूट सम्बन्ध का विवेचन करते हुए चलेंगे। इस व्यापक रूप में ही व्यावहारिक समीक्षा का अर्थ इस निबन्ध में दिया गया है।

हिन्दी में समीक्षा का प्रारम्भ

हिन्दी-साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ भक्तिकाल से ही माना जाना चाहिए। हिन्दी का आदि काल तो एक प्रकार से अपभ्रंश साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रक्षेपण मात्र था। हिन्दी ने साहित्य के क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्र सत्ता की प्रतिष्ठा तो भक्तिकाल के साहित्य द्वारा ही की है। इस भक्ति भावना को जीवन का प्रधान प्रयोजन बनाने के लिये ही हिन्दी अपनी

पूर्ववर्ती भाषा से स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित हुई थी। सर्जन और भावन साथ-साथ ही चलते हैं। सर्जन को प्रेरणा देने वाली मौलिक समीक्षात्मक चेतना का स्पष्ट आभास इसी समय मिलने लगा था। इसलिये हिन्दी-समीक्षा का प्रारम्भ भी यहीं से मान लेना उचित है। भक्ति काल में व्यावहारिक समीक्षा के अत्यन्त विरल संकेत भर ही मिलते हैं और सिद्धांतों का भी कोई व्यवस्थित एवं सर्वाङ्गीण विवेचन नहीं हो पाया था। संस्कृत के सिद्धांतों का ही यत्र तत्र संकेत भर है। पर साहित्य सम्बन्धी एक धारणा अवश्य बन गई थी। यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि भक्तिकाल में संस्कृत के साहित्य चिन्तन को भी एक विशेष मौलिक रूप में ग्रहण किया गया है। रसवादी होते हुए भी वह संस्कृत के शास्त्रीय रसवादी दृष्टिकोण की परम्परा-युक्त सीमाओं से आबद्ध नहीं रहा। उस स्वतन्त्र दृष्टिकोण का महत्त्व केवल भक्तिकाल की ही दृष्टि से ही नहीं है, अपितु शुक्ल जी ने भी अपने समीक्षक रूप के संगठन के लिए उसी रूप से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है। शुक्ल जी का समीक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण मानसमय ही था। भक्तिकाल की साहित्य सम्बन्धी मूल धारणा को 'साहित्य जीवन के लिए है' मान सकते हैं। कबीर आदि निर्गुण तथा तुलसी और सूर जैसे सगुण कवियों ने काव्य का प्रयोजन ही जन जीवन का आध्यात्मिक कल्याण माना है। कबीर ने अपनी साखी लिखने का मूल प्रयोजन जीव कल्याण बताया है।[1] तुलसीदास जी ने कविता की उत्तमता का मानदण्ड उसका सुरसरिमय होना कहा है। इन भक्त कवियों ने कवि कौशल की अपेक्षा अनुभूतिपूर्ण हृदय से स्वतः निःसृत भावधारा की सहज अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया है। कबीर ने अपनी रचनाओं के गीतितत्त्व का निषेध करके उसे ब्रह्म विचार कहा है।[3] दादू कहते हैं—'मैं अपने विरह की पीर का गान एक पक्षी की भाँति अपने आप करने लगता हूँ।[4] इस प्रकार ये भक्त कवि सर्जन में सचेतन प्रयास का नहीं अपितु सहज अभिव्यक्ति का ही अनुभव करते हैं। भक्ति काल के समीक्षक को भी इसी सहज अनुभूति का मूल्यांकन करना था। उस काल की जो कुछ भी व्यावहारिक समीक्षा है, उसका मूल स्वर यही है। तुलसी ने कई स्थानों पर अपने कवि होने के अहंकार का निराकरण किया है।[5] कबीर आदि निर्गुण सन्त कवियों ने तो विद्वानों से आदर प्राप्त करने की भी इच्छा नहीं की है। तुलसीदास जी ने विद्वानों के आदर का महत्त्व तो अंगीकार किया है, पर इसमें उसकी यशलिप्सा नहीं, अपितु, साहित्य समीक्षा के एक गम्भीर सत्य की स्वीकृति है। सर्जन की स्वच्छन्दता पर विद्वान् भावकों का प्रकारान्तर से नियंत्रण ही साहित्य को स्वस्थ मार्ग का अवलम्बन करने के लिए बाध्य कर पाता है। इसके अभाव में साहित्य में

---

१. हरि जी यहै विचारया साखी कहौ कबीर।
भवसागर में जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर ॥ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५६।

२. कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

३. तुम जनि जानौ गीत है यह निज ब्रह्म विचार। कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८६।

४. दादूदयाल की बानी, पृष्ठ ४१७।

५. कवि न होऊँ नहि कला प्रवीना।
× × ×
कवित विवेक एक नहिं मोरे।

उच्छृंखलता आ सकती है। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरसहोउ अथवा अति फीका।' तुलसीदास जी ने कवि और भावक के पारस्परिक सम्बन्ध एवं उनके आपेक्षिक महत्व को स्पष्ट किया है। कवि काव्य का सृजन करता है, पर उसके वास्तविक सौन्दर्य का भान भावक को ही होता है।[1] भारतीय सिद्धान्त है कि रस भावक में ही रहता है। तुलसीदास जी ने समीक्षा के इन गम्भीर सिद्धान्तों का साक्षात्कार किया है। भक्त कवियों की ये सिद्धान्त सम्बन्धी धारणाएँ ही तत्कालीन साहित्य के लिए मानदण्ड का कार्य करती हैं और प्रकारान्तर से अपने तथा तत्कालीन सम्पूर्ण साहित्य का मूल्यांकन कर देती हैं।

ऊपर कह चुके हैं कि 'कला जीवन के लिए है' वाली मान्यता ही भक्तिकालीन साहित्य और समीक्षा के अन्तस्तल में प्रवाहित थी। इससे भक्तिकाल में भावपक्ष का तात्पर्य ही भक्ति हो गया। सम्पूर्ण साहित्य का मूल्यांकन भक्ति की दृष्टि से ही किया जाता था। भक्ति रसराज के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थी। अन्य सभी रस इसके पोषक तत्व माने गए हैं। समीक्षकों ने भी अन्य रसों के स्थलों की इसी दृष्टि से व्याख्या की है। सख्य, दास्य, वात्सल्य आदि भक्ति के सभी रूपों का साहित्य में चित्रण हुआ है और उनमें से तो कुछ को 'रस' का स्वतन्त्र स्तर भी प्राप्त हुआ। भक्तिकालीन कवियों ने 'हरिजस' को काव्य का प्राण कहा है। तुलसी ने रामनाम के इस महत्व का प्रतिपादन मानस के प्रारम्भ में ही कर दिया है। उन्होंने तो 'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछिताना' तक कह दिया है। यह भक्तिकाल की प्रतिनिधि विचारधारा है। सुन्दरदास ने सर्वांग सुन्दर काव्य को भी हरिजस रूपी प्राण के अभाव में मृतक के समान बताया है।[2] काव्य गुणों से युक्त होने पर भी अगर काव्य में शृंगार की प्रधानता है, तो सुन्दरदास ने ऐसे काव्य की निन्दा की है।[3] तुलसीदास जी ने राम नाम से एवं अलंकार तथा गुणों से युक्त कविता को भी वसनहीन नारी के समान ही कहा है।[4] रामभक्ति से काव्य में रस न प्रकट होने पर भी सब प्रगट हो जाते हैं। ऐसे विश्वास के साथ ही उस समय के कवि सर्जन करते थे।[5] उस काल के रसिक और भावक भी काव्य के विशुद्ध सौन्दर्य की अपेक्षा भक्ति का ही अधिक आनन्द लेता था। उसी दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन भी करता था। उपर्युक्त विवेचन और उद्धरणों से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि उस काल में समीक्षा की एक जागरूक चेतना थी। कवियों को काव्य सिद्धान्तों का गम्भीर परिचय था। इन उद्धरणों में कवियों ने स्वयं अपनी कविता का समझने की कुंजी दी है और प्रकारान्तर से अपनी कविता का विश्लेषण और मूल्यांकन भी कर दिया है। उस युग की कविता की प्रशंसा और निन्दा भी एक प्रकार से व्यावहारिक समीक्षा के ही हल्के संकेत माने जा सकते हैं। इनमें कवि का समीक्षक रूप ही अधिक स्पष्ट है और यह समीक्षक रूप युग की काव्य धारा

---

१. तैसहिं सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।

२. कहि सुन्दर हरिजस जिव है हरिजस बिनु मृतकहिं तथा—

३. सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ४४०।

४. भनिति बिचित्र सुकवि कृत जोऊ। रामनाम बिन सोह न सोऊ।
बिधु बदनी सब भाँति संवारी। सोह न बसन बिना बरनारी।

५. जदपि कबित रस एकउ नाहीं। राम प्रताप प्रगट यहि मांही।

का दिशा निर्देश कर रहा है। जायसी ने अपने पद्मावत काव्य की आध्यात्मिकता को स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है। उनके व्याख्यात्मक संकेत ने ही भावी समीक्षकों को अन्योक्ति के रूप में उसकी सफलता का मूल्यांकन करने की प्रेरणा दी है। भक्ति काल में कवियों द्वारा की गई उन व्यावहारिक समीक्षाओं के अतिरिक्त उस काल के ग्रन्थों पर टीकाएँ भी लिखी गई हैं। भक्त कवियों के जीवन चरित पर भी कुछ लोगों ने लिखा है। पर ये दोनों ही प्रकार की रचनाएँ विशुद्ध समीक्षा के क्षेत्र की वस्तुएँ नहीं हैं। इनका दृष्टिकोण प्रधानतः काव्येतर है। ये भक्ति के विश्लेषण तथा विवरण के ही ग्रन्थ हैं। इनमें भक्ति का दार्शनिक एवं प्रौढ़ विवेचन मिलता है तो दूसरी तरफ प्रशंसा या स्तुति वाले स्थल। चरित और कथावस्तु दोनों ही के विवेचन में उनका भक्ति भावना के साथ सामन्जस्य दिखाने के लिये खींच-तान भी की गई है। भक्ति-कालीन कवियों ने समीक्षात्मक चेतना का जो कुछ आभास दिया था, अगर उसे भक्ति-भावना अनावश्यक रूप से आक्रान्त न कर लेती, उसमें काव्य-सौष्ठव के मूल्यांकन का विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण अधिक मान्यता प्राप्त कर जाता, उसको स्वच्छन्दतापूर्वक स्वस्थ दिशाओं में विकास करने का अवसर मिलता, जयदेव, विद्यापति आदि से चली आती हुई एवं रीतिकाल में पुनरुत्थान को प्राप्त काव्य दृष्टि के साथ भक्तिकालीन समीक्षात्मक चेतना का पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो पाता तो हिन्दी के पास आधुनिक काल के बहुत पूर्व ही एक सुन्दर तथा प्रायः सर्वाङ्गीण समीक्षात्मक पद्धति होती। तुलसी ने अन्य सभी क्षेत्रों की तरह समीक्षात्मक चेतना के क्षेत्र में भी एक सामंजस्यवादी दृष्टिकोण का संकेत किया है। कवि प्रतिभा की स्वच्छन्दता के साथ विद्वत् समाज के शास्त्रीय नियन्त्रण, स्वान्तः सुखाय के साथ लोक-मंगल, अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति के समन्वय का संकेत तुलसी में मिलता है। तुलसी हमारी सांस्कृतिक परम्परा के सर्वांगीण वास्तविक एवं मानवता के पूर्ण अविरोधी स्वरूप के प्रतिनिधि कवि हैं। उनका काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण भी भारतीयता का प्रतिनिधित्व करता है। भक्तिकालीन काव्य के वास्तविक मूल्यांकन के लिये तो यही भक्तिकालीन काव्यदृष्टि आवश्यक है। आज भी इस दृष्टि का समीक्षात्मक चेतना पर नियन्त्रण हिन्दी साहित्य और समीक्षा को स्वस्थ दिशाओं में प्रेरित करने के लिये अपेक्षित है। भक्तिकाल में तुलसी द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चल कर उस काल का समीक्षक किसी सर्वाङ्गीण पद्धति का निर्माण नहीं कर पाया। न इस प्रौढ़ एवं गम्भीर चिन्तन को देने वाले सिद्धान्त ग्रन्थों का निर्माण उस काल में हो सका और न व्यावहारिक समीक्षक ही इस गम्भीरता को स्पर्श कर पाया। आधुनिक काल में शुक्लजी ने इस दिशा में प्रयास किया है। पर वे भी न तुलसी के साहित्यिक आदर्श को पूर्णतया साक्षात्कार कर पाये हैं और न उनके दृष्टिकोण की सर्वाङ्गीणता का व्यावहारिक समीक्षा में उपयोग ही।

रीतिकाल की समीक्षात्मक चेतना

भक्ति भावना के अत्यधिक आग्रह ने सर्जनात्मक साहित्य तथा समीक्षात्मक चेतना दोनों को इतना आक्रान्त कर लिया था कि ये दोनों ही काव्येतर क्षेत्र की वस्तुएँ बन गई। ये दोनों भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों के दलदल में फँस गये। साहित्य में पूजा-पद्धतियों, छापा-तिलक के रूपों, भोग के विविध मिष्ठानों के नामों, पोशाकों के विस्तृत वर्णनों आदि की प्रचुरता हो गई। समीक्षा भी भक्ति भावना का विश्लेषण तथा भक्तों की प्रशंसा मात्र हो गई। ऐसी अवस्था में

साहित्यिक चेतना में परिवर्तन आना अवश्यम्भावी था। रीतिकाल साम्प्रदायिक संकीर्णता की ओर बढ़ते हुये सिद्धान्तों और भाव-पक्ष को अत्यधिक प्राधान्य देने वाली वस्तून्मुखी भावना के विरुद्ध एक विशुद्ध कलात्मक चेतना की प्रतिक्रिया का परिणाम था। रीतिकाल में साहित्य का मूल स्वर ही बदल गया। यह स्वर विशुद्ध कलात्मक अधिक हो गया। इसमें भाव अथवा वस्तु की अपेक्षा काव्य के रूप और अभिव्यंजना पक्ष का महत्व बढ़ गया। उस समय साहित्य का मूल प्रयोजन एकमात्र आनन्द–काव्यात्मक आनन्द–हो गया। यह आनन्द की भावना व्यवहार में विलासिता के रंग में रंग गई। पर विशुद्ध काव्य में आनन्द की इस दृष्टि का महत्व किसी प्रकार कम नहीं हुआ। रीतिकालीन साहित्य और समीक्षात्मक चेतना के अन्तस्तल में 'कला कला के लिए वाला' सिद्धान्त था। रीतिकाल में चमत्कार, अलंकार तथा रचना वैचित्र्य में ही कलात्मकता मानी जाती थी। उस समय चमत्कार जनित आनन्द ही साहित्य का प्रधान प्रयोजन था। समीक्षक का ध्यान भी इसी चमत्कार की ओर गया है। इस काल का समीक्षक कलात्मकता का दर्शन और उसका विवेचन शास्त्रीय पदावली के माध्यम से ही कर पाया। उसकी दृष्टि अलंकार की बारीकी और शैली के चमत्कार तक ही पहुँच पाई। आत्म विस्मृति और तन्मयता से जन्य रस-रूप काव्यानन्द की स्थिति तक रीतिकाल का बहुत थोड़ा ही साहित्य पहुँच पाया था। समीक्षक के ध्यान का उस स्थिति तक पहुँचने की तो शायद कल्पना भी नहीं की जा सकती है। सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से रीतिकाल के साहित्यशास्त्र में हम तीन सम्प्रदाय स्पष्टतः देख सकते हैं। केशव आदि का अलंकार सम्प्रदाय, मतिराम आदि का रस सम्प्रदाय और दास, श्रीपति, कुलपति आदि का रस ध्वनि सम्प्रदाय। पर व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में रस और अलंकार सम्प्रदाय का ही ज़ोर रहा। वस्तुतः तो यह युग रस का भी नहीं, अपितु अलंकरण का ही युग था। समीक्षक का ध्यान भी आलंकारिक चमत्कार की ओर ही अधिक गया। उसमें अलंकारजन्य सौन्दर्यानुभूति के साक्षात्कार एवं मूल्यांकन की क्षमता तो नहीं थी। उस काल का समीक्षक अलंकार के बाह्य स्वरूप और उसकी बारीकियों का ही निर्वचन करता रहा। उसकी समीक्षा अलंकार, रस, नायिका भेद और कभी-कभी ध्वनि भेद के नाम निर्देश तक ही सीमित रही। उनके वास्तविक सौन्दर्य के दर्शन का तो आभास भी उस काल की समीक्षा में नहीं मिल पाता है। रीतिकाल की 'कला कला के लिये वाली' साहित्य सम्बन्धी धारणा चमत्कार में ही काव्य की आत्मा का दर्शन करती है। इससे सर्जन और भावन दोनों ही क्षेत्रों में भक्ति काल की रसात्मकता, आध्यात्मिकता, जीवन की उद्दात्त कल्पना और विशाल मानवीय दृष्टि का महत्व प्रायः नगण्य हो गया। पर इस चमत्कारवादी दृष्टि का एक लाभ यह अवश्य हुआ कि कवि और आचार्य का ध्यान काव्य के विशुद्ध रूपात्मक सौन्दर्य की ओर अभिमुख हो गया। यह धारणा दृढ़ हो गई कि काव्य में एक वस्तु अभिव्यंजना गत सौन्दर्य भी होता है। इस काल में काव्य सौन्दर्य सम्बन्धी यह दृष्टि बहुत कुछ स्थूल अवश्य रही। अभिव्यंजना को ही काव्य की आत्मा मान लेने पर भी समीक्षक उसके बाह्य एवं स्थूल रूप का ही दर्शन कर पाया। अभिव्यंजना पक्ष की आत्मा वक्रोक्ति है। पर रीतिकाल का समीक्षक कुन्तक के समान कुछ गहराई तक नहीं जा सका।

व्यावहारिक समीक्षा के विभिन्न रूप

संस्कृत में विशद सिद्धान्त विवेचन तथा प्रौढ़ साहित्य दर्शन के अनुरूप व्यावहारिक समीक्षा का विकास नहीं हो पाया था। व्यावहारिक समीक्षा में विस्तार एवं अनेकरूपता का अभाव था। रीतिकाल का सैद्धान्तिक विवेचन ही संस्कृत साहित्य समीक्षा की उद्धरणी नहीं रहा, अपितु व्यावहारिक समीक्षा की पद्धतियाँ भी उसे संस्कृत से ही प्राप्त हुई थीं। सैद्धान्तिक समीक्षा की तरह ही इस काल की व्यावहारिक समीक्षा में संस्कृत की सी मानदंड की प्रौढ़ता, दृष्टि की विशालता एवं विश्लेषण की सूक्ष्मता नहीं आ पाई। संस्कृत में व्यावहारिक समीक्षा के मोटे तौर से तीन रूप मिलते हैं—टीका-पद्धति, सूक्तियों, सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए काव्य ग्रन्थों से उद्धरण तथा उनकी समीक्षापूर्णात्मक व्याख्या। आधुनिक काल से पूर्व की समीक्षा प्रधानतः इन तीन रूपों में ही मिलती है। सूक्ति की पद्धति को छोड़कर शेष दोनों पद्धतियों का विकास आधुनिक काल में भी हो रहा है।

टीका का प्रमुख उद्देश्य मूल के अर्थ तथा उसमें निहित सौन्दर्य तत्वों का स्पष्टीकरण है। इस प्रकार यह भी समीक्षा का एक प्रकार ही है। संस्कृत में इस प्रकार की समीक्षा का बाहुल्य है। इनमें शास्त्रीय समीक्षा की प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। भक्ति काल और रीतिकाल के अनेक ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी गई हैं और इनमें से अधिकांश की रचना मध्य काल में ही हुई है। भक्ति काल में तो छन्दों की भक्ति परक सूक्ष्म व्याख्या की ओर ही अधिक झुकाव रहा। उन्हें हम विशुद्ध समीक्षा के क्षेत्र की वस्तु चाहे न भी मानें पर रीतिकालीन टीकाओं का दृष्टिकोण तो विशुद्ध साहित्यिक ही है। मूल के अर्थ की व्याख्या साहित्यिक दृष्टि से ही अधिक हुई है। इन टीकाओं में अलंकार, गुण, भाव सौन्दर्य, रस निष्पत्ति आदि के निर्देश तो रहते ही हैं, कहीं-कहीं पर इन तत्वों की दृष्टि से आलोच्य स्थल की विशद व्याख्या भी की गई है। ऐसे स्थलों पर काव्य सौन्दर्य के वास्तविक रूप को परखनेवाले समीक्षक की झलक भी मिल जाती है। इस समीक्षा का मूल आधार शास्त्रीय है। परम्परा से मान्य तत्वों का निर्देश ही इसका प्रधान लक्ष्य रहा। पर कहीं-कहीं समीक्षक का भावुक हृदय आलोच्य स्थल के काव्य सौन्दर्य से प्रभावित एवं मुग्ध होकर भाव धारा में बह भी गया है। ऐसे स्थलों पर हमें शास्त्रीय समीक्षक की अपेक्षा प्रभावाभिव्यंजक समीक्षक के दर्शन ही अधिक होते हैं। आलोच्य वस्तु के भाव को पल्लवित करते हुये स्वयं टीकाकार का कवि भी कहीं-कहीं मुखर हो उठा है। इस काल में गद्य का पूरा विकास नहीं हो पाया था, इसलिये टीकाएँ प्रायः पद्य में ही लिखी जाती थीं। पद्य के प्रयोग के कारण ही टीकाकार स्वतन्त्र भाव-धारा में बह जाता था। इस प्रकार टीका कहीं-कहीं स्वतन्त्र काव्य ग्रन्थ ही बन जाया करती थी। जहाँ इन टीकाओं में कहीं-कहीं स्वतन्त्र काव्य सौन्दर्य का आनन्द मिलता है, वहाँ बहुत स्थानों पर उनमें मन को उबा देने वाले पिष्टपेषण तथा 'मघवापाठविडौजा टीका' वाली जटिलता तथा नीरसता का कटु स्वाद भी चखना पड़ता है। संस्कृत की टीकाओं में व्याकरण और भाषा-विज्ञान सम्बन्धी निर्देश भी होते थे और कहीं-कहीं पर शास्त्रीय तत्वों की व्याख्या भी की जाती थी। इन दोनों विशेषताओं का हिन्दी की अधिकांश टीकाओं में प्रायः अभाव ही रहा। राम चरित मानस, बिहारी सतसई आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों पर बहुत सी टीकाएँ लिखी गई हैं। इनकी विभिन्न टीकाओं

में दृष्टिकोणों की विभिन्नता भी है। 'बेलि क्रिसन रुकमणि री'—राजस्थान का एक प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ है। इस पर अनेक टीकाएँ विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखी गई हैं। इनमें से कई टीकाओं में मूल ग्रन्थ का अच्छा साहित्यिक मूल्यांकन भी किया गया है। कई टीकाएँ राजस्थानी और जयपुरी गद्य में भी है। कुछ टीकाओं में अच्छा प्रौढ़ शास्त्रीय विवेचन भी मिलता है। सरदार कवि का 'मानस रहस्य' ऐसा ही एक ग्रन्थ है। वास्तव में यह ग्रन्थ मानस की एक उत्कृष्ठ टीका ही है। मानस के कतिपय स्थलों को उदाहरण रूप में ग्रहण करके मानस काव्य सौन्दर्य का दिग्दर्शन ही इस ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य है। इस प्रकार प्रयोजन की दृष्टि से यह प्रधानतः व्यावहारिक समीक्षा का ही ग्रन्थ है। पर इसमें सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षाओं का अच्छा मिश्रण हो गया है। व्यावहारिक समीक्षा की अपेक्षा सैद्धान्तिक समीक्षा में विस्तार एवं विश्लेषण की सूक्ष्मता अधिक है और यह युग धर्म के सहज प्रभाव के ही कारण हुआ है। 'मानस-रहस्य' में समीक्षक ने 'काव्य-विलास', 'रस-रहस्य', 'सभा-प्रकाश' आदि अनेक लक्षण-ग्रन्थों के प्रमाणों का उपयोग किया है। काव्यांगों के लक्षण इन ग्रन्थों से उद्धृत करके उनके आलोक में ही मानस की शास्त्रीय व्याख्या करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। इसमें गद्य का भी पर्याप्त प्रयोग है। "निज कर भूषण राम बनाये, सीता ही पहराये प्रभु सादरे। यहाँ राम जानकी परस्पर आलम्बन विभाव कटाक्षादि उद्दीपन, अनुमान हर्ष संचारी, रति स्थायी इस प्रकार यामें शृंगार है।"[1]

आधुनिक युग में टीकाएँ

टीका पद्धति की समीक्षा का विकास आधुनिक युग में भी हो रहा है। समीक्षात्मक चेतना के विकास तथा उत्कर्ष एवं एकमात्र गद्य के प्रयोग के कारण इस युग की टीकाओं में विश्लेषण की सूक्ष्मता और मूल्यांकन की प्रौढ़ता आ गई है। समीक्षा के सामान्य स्वरूप की प्रौढ़ता के साथ ही टीकाओं में भी समीक्षा का स्तर पर्याप्त ऊँचा हो गया है। आलोच्य स्थलों की शास्त्रीय व्याख्या के साथ ही आज उन पर मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय, ऐतिहासिक आदि कुछ अन्य दृष्टियों से भी टिप्पणियाँ देने की पद्धति का विकास हुआ है। आधुनिक युग में टीकाओं की भरमार हो रही है। परीक्षोपयोगी सामान्य कोटि की टीकाओं की तो बहुत ही तेज़ी से बाढ़ आ रही है, पर उच्च साहित्यिक मूल्य की टीकाएँ भी बहुत आ गई हैं। लाला भगवानदीन, पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथदास रत्नाकर आदि के कार्य तो स्तुत्य हैं ही। इनके अतिरिक्त भी इस काल में विभिन्न ग्रन्थों पर अनेक उत्कृष्ट टीकाएँ लिखी गई हैं। वियोगी हरि की 'विनय पत्रिका' की टीका इसका सुन्दर उदाहरण हैं। कन्हैयालाल सहल और विजयेन्द्र स्नातक के 'कामायनी-दर्शन' में आलोचना तथा टीका का सुन्दर मिश्रण है। इसमें अर्थ के स्पष्टीकरण के साथ ही पंक्तियों के साहित्यिक सौन्दर्य तथा दार्शनिक गम्भीरता का भी निरूपण है। वासुदेवशरण अग्रवाल का पद्मावत भी अपने ढंग का अनूठा टीका ग्रन्थ है। कामायनी पर भी इस युग में कई टीकाएँ लिखी गई हैं।

आधुनिक युग में पाठालोचन पद्धति (टैक्सचुअल क्रिटिसिज़्म) का भी विकास हुआ है। पाठालोचक का मुख्य कार्य पाठ का इस प्रकार संशोधन करना है कि यथासम्भव मूल पाठ

---

१. **सरदार कवि : मानस रहस्य पृष्ठ ६।**

फिर से स्थापित हो जाय। यह कार्य प्राचीन ग्रन्थों के लिये ही अपेक्षित है। प्राचीन संस्कृत का टीकाकार भी पाठान्तरों पर विचार करके पाठ संशोधन का भी कार्य करता था। मूल का अर्थ समझाने के लिये ये ही पाठालोचन की आवश्यकता पहले पहल अनुभूत हुई है। इसलिये इस समीक्षा पद्धति के जन्म के तन्तु टीका में देखना असमीचीन नहीं है। यह पद्धति एक प्रकार से टीका के लिये अपेक्षित एक तत्व के विकास का ही परिणाम है। पर आज पाठालोचक का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। वह एक स्वतन्त्र समीक्षा शैली हो गई है। शुद्धतम एवं मूलपाठ के निकटतम रूप पर पहुँचने के लिये उसके पास अनेक प्रक्रियाएँ हैं। पाठालोचक ग्रन्थ के निर्माण की तिथि का अनुसंधान करके पाठ-संशोधन में निर्माणकाल की सांस्कृतिक, साहित्यिक, भाषा-सम्बन्धी सभी प्रकार की विशेषताओं तथा कवि की प्रकृति, विचारधारा और उसके जीवन चरित के साथ पाठ का पूरा सामन्जस्य बैठाता है। मूल ग्रन्थ के इतिवृत्त, जीवन दर्शन, भाव सौन्दर्य आदि के साथ उपलब्ध पाठों का समन्वय स्थापित करता हुआ मूल पाठ तक पहुँचने की चेष्टा करता है। पाठ के मूल एवं शुद्ध रूप तक पहुँचने के लिये अनुसंधान कर्ता को समीक्षा के विभिन्न सिद्धान्तों और शैलियों का उपयोग करना पड़ता है। इस कार्य में वह कहीं-कहीं अपनी प्रौढ़ समीक्षा-शक्ति का परिचय अवश्य दे जाता है। पर पाठालोचन एक प्रकार से समीक्षा के प्रकृत क्षेत्र के बाहर की वस्तु भी है। पाठालोचन के द्वारा जो मूल पाठ निर्मित होगा वह आलोचना का विषय बनेगा। इसलिये पाठालोचन मूल समीक्षा के लिये सामग्री तैयार करने का साधन अधिक है। उसकी फैक्ट्री है। समीक्षा का प्रकृत रूप तो उसके बाद ही प्रारम्भ होता है। पर आज इस मूल पाठ तक पहुँचने की प्रक्रिया में इस समीक्षक को ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि कई समीक्षा शैलियों के तत्वों का पूरा सहारा लेना पड़ता है। इससे पाठालोचन में भी समीक्षा के उत्कृष्ठ रूप के दर्शन होते जाते हैं। यही कारण है, इसका भी समीक्षा के मूल रूप में ही अन्तर्भाव मानना पड़ता है।

आधुनिक युग के प्रारम्भ से ही विभिन्न ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करने की आकांक्षा के दर्शन होते हैं। संस्कृत और अन्य भाषाओं में तो इस क्षेत्र में काफ़ी कार्य हुआ है। पर हिन्दी में भी पाठालोचन के प्रौढ़ प्रयास आज उपलब्ध हैं। १९वीं शताब्दी के अन्त में अर्थात् आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही डा० ग्रियर्सन तथा सुधाकर द्विवेदी ने रायल एशियाटिक सोसाइटी तथा अन्य स्थानों से प्राचीन ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। बिहारी सतसई, राम चरित मानस, तुलसी ग्रन्थावली, सुन्दर ग्रन्थावली, जायसी ग्रन्थावली, आदि अनेक ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण विभिन्न विद्वानों के द्वारा विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हुये। इस कार्य में इन लोगों को पाठालोचन पद्धति का उपयोग करना पड़ा है। इस प्रकार इस समीक्षा के दर्शन आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही होते हैं। पर हिन्दी में पाठालोचन पद्धति को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय डा० माता प्रसाद को ही है। डा० गुप्त ने रामचरित मानस तथा जायसी ग्रन्थावली का इसी पद्धति के सिद्धान्तों के आधार पर सम्पादन किया है। गुप्त जी ने पाठालोचन विधि का वैज्ञानिक विश्लेषण करके उसके आदर्श रूप की एक कल्पना भी हिन्दी के पाठकों के समक्ष रखी है। इनसे प्रेरणा प्राप्त करके हिन्दी के अन्य कई विद्वान भी इस कार्य में प्रवृत्त हैं। हिन्दी में इस पद्धति का अभी

शैशव ही है पर इसका भविष्य उज्ज्वल है।

मध्यकालीन समीक्षा के अन्य रूप

प्रकरण की पूर्णता के लिये हमने आधुनिक काल की टीकाओं और पाठालोचन की समीक्षाओं पर प्रसंगवश विचार कर लिया है। अब हमें फिर अपने प्रकृत विषय पर ही आना है। मध्यकालीन समीक्षा का एक रूप सूक्तियाँ भी थीं। यह प्रवृत्ति भी उसे संस्कृत से ही प्राप्त हुई। इन सूक्तियों में कवियों के काव्य-सौन्दर्य का शास्त्रीय तत्वों की दृष्टि से निर्देश मात्र अधिक मिलता है। यह प्रायः तुलनात्मक समीक्षा के उदाहरण हैं। इनमें वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य अधिक है। प्रौढ़ मानदंड के आधार पर शास्त्रीय विश्लेषण के द्वारा प्राप्त तर्कपूर्ण सहज निष्कर्ष प्रायः विरल ही है। कहीं-कहीं तो अज्ञात कुल जन्मा समीक्षक अनुप्रास या छन्द निर्वाह के मोह में ही कह गया है। 'सार सार कविरा कह गौ, सूरा कही अनूठी। रही सही कठमलिया कहि गौ, और कही सब जूठी' "सूर सूर तुलसी शशी", जैसी उक्तियों में अनुप्रास का मोह अधिक और गहरे चिन्तन के बाद के निष्कर्ष बहुत कम हैं। इन उक्तियों में वक्ता की वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य है। आधुनिक काल में ऐसी समीक्षा उक्तियों के विकास की कोई सम्भावना नहीं। इनका कोई ठोस आधार तो होता नहीं है, इसलिये आज के बुद्धि प्रधान युग में इन उक्तियों के लिये कहाँ स्थान है! साधारणतः रीतिकाल में आचार्य और कवि का संमिश्रण रहा। यह आचार्य स्वरचित छन्दों ही को शास्त्रीय तत्वों के स्पष्टीकरण के लिये उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते थे। पर कतिपय आचार्यों ने अपने समकालीन तथा पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का भी उपयोग किया है। भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में तुलसी, केशव और भूषण के काव्य प्रयोजनों के सम्बन्ध में विश्लेषण किया है। दलपति और वंशीधर ने अपने अलंकार विवेचन के प्रसंग में अनेक कवियों की अलंकार-संबंधी सूक्ष्म समीक्षा की है। उनके अलंकार नियोजन के गुण दोषों का निर्देश किया है। दास ने गंग और तुलसी की काव्य रचनाओं में कई एक भाषाओं के मिश्रण की बात कही है। हिन्दी में अन्त्यानुप्रास एवं विभिन्न भाषाओं की शब्द राशि को अपनाने की प्रवृत्ति का संकेत करके दा ने अपनी मौलिक निरीक्षण शक्ति एवं समीक्षात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। इस रूप में मध्य काल में व्यावहारिक समीक्षा का अपेक्षाकृत प्रौढ़ और शास्त्रीय रूप मिल जाता है। यह परम्परा थोड़ी बहुत आधुनिक काल में भी चल रही है।

वार्ता साहित्य विशुद्ध साहित्य समीक्षा की वस्तु नहीं हैं। उसका प्रमुख प्रयोजन भक्त के जीवन और उनकी भक्ति साधना का परिचय देना है। मध्यकाल में भक्तों में से अधिकांश कवि ही थे, इसलिये प्रसंगवश उनके काव्य सौन्दर्य की ओर भी 'वार्ता साहित्य' के रचयिताओं का ध्यान आकृष्ट हो गया था। उनके काव्य के सम्बन्ध में कुछ प्रशंसात्मक उक्तियाँ इन वार्ताओं में उपलब्ध हैं। वैसे तो भक्त कवियों के जीवन और उनकी भक्ति भावना आदि के सम्बन्ध में किये गये विवेचन का भी समीक्षा की दृष्टि से कुछ महत्व है ही। पर उनके काव्य के सम्बन्ध में कही गई बातें तो विशुद्ध साहित्य-समीक्षा के ही उदाहरण हैं। प्रधानतः इन उक्तियों का स्वर स्तुतिपरक ही है। पर कहीं-कहीं इनमें प्रौढ़ समीक्षा के तत्व भी मिल जाते हैं। भक्ति-काल में नाभादास के द्वारा सूर आदि कवियों के सम्बन्ध में उनकी भक्ति भावना एवं काव्य

सौन्दर्य का विश्लेषण करनेवाली उक्तियाँ मध्यकाल की दृष्टि से समीक्षा के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं।[1]

इस काल में व्यावहारिक समीक्षा की चेतना इतनी जाग गई थी कि राज दरबारों, कवि समाजों और भक्त मंडली में तत्कालीन ग्रन्थों का तुलनात्मक विवेचन उनके साहित्यिक सौन्दर्य एवं प्रभाव का मूल्यांकन होने लगा था। अकबर के राजदरबार में 'रुक्मणि माहेरा' के साथ पृथ्वीराज की 'बेलि क्रिसन रुक्मणि री' की तुलना की गई थी। छोटे-छोटे कवि अपनों से बड़ों को अपनी रचनाएं सुना कर उनसे प्रेरणा और निर्देशन लिया करते थे। भक्त और सन्त लोग तो दार्शनिक और भक्ति सम्बन्धी व्याख्याएँ ही अधिक करते थे पर विशुद्ध साहित्यिक सौन्दर्य पर भी विचार करने की एक स्वस्थ परम्परा बन गई थी। 'बेलि' के काव्य-सौन्दर्य पर पृथ्वीराज के समसामयिक कवियों ने विचार किया था—इस प्रकार की धारणा पारीकजी की रही है।[2] एक राजस्थानी कवि ने इस ग्रन्थ के शीर्षक की सार्थकता पर विचार किया है तथा बेलि के रूपक का विवेचन करते हुये उसके काव्य सौन्दर्य की प्रशंसा की है। इसको पाँचवाँ वेद और १९वाँ पुराण कहा गया था। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यकाल में व्यावहारिक समीक्षा की चेतना अवश्य थी। कवियों की व्यक्तिगत तथा सम्पूर्ण युग की साहित्य सम्बन्धी धारणाओं ने उनकी रचनाओं का स्वरूप निर्धारित किया तथा उन रचनाओं के लिये मूल्यांकन के लिये मानदंड और शैली प्रदान की। पर इतना निश्चित है कि इस काल की व्यावहारिक समीक्षा फुटकर और बहुत स्थूल ही रही। इन समीक्षाओं में कुछ शास्त्रीय तत्वों के आधार पर काव्य सौन्दर्य का सतही और हलका सा संवेदनात्मक विवेचन तथा समीक्षक की वैयक्तिक रुचि के आधार पर रचनाओं और कलाकारों की निन्दा-स्तुति करने वाली हलकी प्रभाववादी समीक्षा के ही दर्शन हो पाते हैं। यह प्रयास भी यत्र-तत्र के फुटकर ही रहे। इसमें विकास और प्रसार की उस अन्तर्हित शक्ति का अभाव था जो आधुनिक काल में सुपुष्ट समीक्षात्मक चेतना एवं प्रौढ़ समीक्षा-पद्धतियों में परिणत हो जाती। यह भी कारण था कि आधुनिक काल की समीक्षा-पद्धति को मध्यकालीन समीक्षा के तत्वों का उपयोग करते हुए भी एक नितान्त नवीन भूमि तैयार करनी पड़ी।

आधुनिक काल

सिपाही विद्रोह के असफल होने के साथ ही सम्पूर्ण देश में अंग्रेजों का एकछत्र शासन स्थापित हो गया। देश में नवीन प्रकार की राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की स्थापना हुई। नूतन शिक्षा पद्धति, यूरोपिय साहित्य तथा जाति के घनिष्ठ सम्पर्क के कारण सम्पूर्ण देश में एक विचारात्मक क्रान्ति का सूत्रपात हो गया। अंग्रेजों का सम्पर्क तो कई शताब्दी पूर्व ही शुरू हो गया था, पर गहरे प्रभाव के अवसर तो सिपाही विद्रोह के बाद ही प्राप्त हो सके। देश में नवीन बौद्धिक युग का प्रारम्भ हुआ। उसका जीवन के नवीन मान-मूल्यों से परिचय हुआ। आज का सम्पूर्ण युग एक तरफ़ जीवन और साहित्य के नवीन मान-मूल्यों की नाप-जोख तथा दूसरी तरफ प्राचीन सांस्कृतिक निधि के पुनर्मूल्यांकन एवं अपने

१—नाभादास, भक्तमाल पृ० ६१

२—सूर्यकरण पारीक द्वारा सम्पादित बेलि क्रिसन रुकमणि री पृ० ४७।

प्राचीन-मान मूल्यों का नवीन जीवन चेतना से सामंजस्य स्थापित करने में प्रवृत्त है। भारतेन्दु युग से प्रारम्भ होने वाली नवीन साहित्य समीक्षा इसी नवीन बौद्धिक क्रान्ति का सहज एवं स्वाभाविक परिणाम है। प्रयोगात्मक समीक्षा के व्यवस्थित विकास का तो यह युग है ही पर इस युग में सैद्धान्तिक विवेचन एवं साहित्य दर्शन का निर्माण भी विस्तृत आधार पटल पर हुआ है। प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों के गर्भ में निहित गूढ़ अर्थों के उद्घाटन तथा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र की मान्यताओं के आलोक में उनके पुनर्मूल्यांकन का कार्य भी इस युग की एक विशेषता है।

भारतेन्दु युग : नवीन समीक्षात्मक चेतना :

भारतेन्दु जी के आगमन से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक नवीन चेतना जाग गई। विलासिता एवं बौद्धिक शैथिल्य का युग रीतिकाल समाप्त हो गया था। अब साहित्य जीवन से निरपेक्ष रह कर केवल मनोरंजन और मानसिक भोग की वस्तु नहीं रह सकता था। उसका जीवन से गहरा सम्बन्ध होने लगा। वह यथार्थ जीवन से केवल सामग्री ही नहीं ग्रहण करने लगा अपितु उसके निर्माण का भी एक प्रबल साधन बनने लगा। सुरुचि, नैतिकता और बौद्धिकता की प्रेरणा द्वारा वह भारतीय जीवन को नवीन रूप प्रदान करने में प्रवृत्त हुआ। साहित्य का क्षेत्र-विस्तार हो गया। उसमें कविता के अतिरिक्त उपन्यास, नाटक, छोटी कहानी और निबन्ध के रूप में साहित्य की अनेक नवीन विधाओं का जन्म हो गया। भारतेन्दु-काल में कविता के विषय कुछ तो पुराने ही रहे पर कुछ नवीन तत्कालीन जीवन से भी ग्रहण किये गये। तत्कालीन जीवन का यथार्थ रूप और उसकी समस्यायें जैसे उपन्यास आदि के द्वारा अभिव्यक्ति होती थीं वैसे ही कुछ कविता के माध्यम से भी हुईं। भारतेन्दु युग में जीवन और साहित्य ने एक नई करवट ले ली थी। साहित्य में भाव-तत्व के साथ बुद्धि-तत्व का भी प्राधान्य होने लगा। कविता के क्षेत्र में तो भाव-तत्व के साथ बुद्धि-तत्व का मिश्रण ही स्पष्ट था। वहाँ पर बुद्धि तत्व को गौण मान कर उसकी कुछ उपेक्षा भी की जा सकती है। पर उपन्यास आदि में इससे ठीक विपरीत अवस्था शुरू से ही है। वहाँ पर तो भाव-तत्व उपेक्षणीय भी रह सकता है। कतिपय विधाओं में तो बुद्धि तत्व का ही प्रधान सौन्दर्य है। कविता के सौन्दर्य को भी पूर्णतया हृदयंगम करने के लिये बुद्धि तत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती, इस धारणा का विकास तो आगे के युगों में ही हुआ। पर इस धारणा ने जन्म भारतेन्दु युग में ही ले लिया था। ऐसी अवस्था में पुराने समीक्षा के मान दंड और शैलियाँ आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन में असमर्थ रहे। भारतेन्दुकालीन कविता का सौन्दर्य तो रस अलंकार आदि के माध्यम से थोड़ा बहुत परखा भी जा सकता है। पर रस आदि का मान दंड उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि की नवीन विधाओं के साहित्य को परखने में तो नितान्त असमर्थ ही माना गया। उपन्यास कहानी आदि नवीन विधाओं के मौलिक साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी में भारतेन्दु काल से ही अनूदित साहित्य के भी प्रचुर मात्रा में दर्शन होते हैं। अनुवादों की समीक्षा का आधार कुछ दूसरा ही हो सकता था। वहाँ पर भाषा के प्रयोगों तथा भावों की अवतारणा के परीक्षण का ही प्रधान महत्व है। इससे हिन्दी में भाषा-सम्बन्धी समीक्षा के वैज्ञानिक रूप की प्रतिष्ठा हुई। उसमें भाषा विज्ञान और व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन प्रारम्भ

हुआ। इसी परिस्थिति और आवश्यकता ने नवीन समीक्षा पद्धति को जन्म दिया है। इसका जन्म तो भारतेन्दु युग में ही हो गया पर सम्यक विकास आगे हुआ।

आधुनिक युग के प्रारम्भ से ही कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हो गई थीं कि जिनसे हमें समीक्षा की अधिक आवश्यकता अनुभूत हुई। सर्जन के साथ ही भावन का भी महत्व अधिक बढ़ गया। भावन आज सर्जन की पृष्ठभूमि में रहकर उसकी निर्णायक शक्ति का एक महत्वपूर्ण अंश बन गया है। समीक्षा आज के युग की प्रमुख चेतना है। भारतेन्दु युग में ही साहित्य और कला के पारखी तथा संरक्षक राज दरबार का स्थान साधारण जनता ने लिया। मुद्रण कला के द्वारा साहित्य का व्यापक प्रसार होने लगा। हिन्दी भाषा और साहित्य को भी शिक्षा में स्थान मिल गया। अंग्रेजी भाषा और साहित्य की तरह हिन्दी भाषा और साहित्य को क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता अनुभूत होने लगी। साहित्यकार साहित्य को जन जीवन में जागृति लाने का प्रमुख साधन मानने लगा। ऐसी अवस्था में उपर्युक्त सभी कारणों से सत्-साहित्य और असत्-साहित्य में भेद करने की भावना ने ही भारतेन्दुयुगीन लेखकों को अपने समसामयिक एवं प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन की प्रेरणा दी थी। उस काल की पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक परिचय के रूप में जो समीक्षा उपलब्ध होती है, वह तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप ही है।

वैसे भारतेन्दु तथा उस युग के अन्य लेखकों में काव्य सृजन की नवीन चेतना के ही दर्शन होते हैं, पर काव्य चिन्तन के क्षेत्र में भी वे नवीन चेतना लेकर ही आए थे। भारतेन्दु जी ने नाटक में नाटक सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किए हैं। बद्री नारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने भी इस काल के काव्य चिन्तन में सहयोग दिया है। प्रेमघन जी का कार्य तो बहुत ही महत्वपूर्ण है। काव्य का लोक जीवन से सम्बन्ध, हिन्दी की उन्नति, काव्य भाषा के स्वरूप, आदि इस काल के चिन्तन के प्रमुख विषय थे। यह स्पष्ट है कि काव्य-चिन्तन में एक नवीन चेतना का सूत्रपात हो गया था। यही व्यावहारिक समीक्षा के मूल में रहने वाली चेतना है। इस काल की व्यावहारिक समीक्षा का प्रधान रूप पुस्तक परिचय ही है। पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तकों के आलोचनात्मक परिचय प्रकाशित होते ही रहते थे। हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, कवि वचन सुधा, आनन्द कादम्बिनी, हिन्दी प्रदीप इस काल की प्रधान पत्रिकाएँ हैं। समीक्षा के विकास में इन सभी का महत्वपूर्ण योगदान है। भारतेन्दु युग में समीक्षा की किसी पुष्ट शास्त्रीय पद्धति का विकास नहीं हो पाया था। वैयक्तिक रुचि ही प्रधान मानदण्ड था। इस युग में गुण दोषों का संकेत करने वाली स्थूल निर्णयात्मक शैली की समीक्षाएँ हुईं। समीक्षक दोष ही अधिक देखता था। पर इस दोष-दर्शन के मूल में सत्साहित्य को प्रेरणा देने की सराहनीय प्रवृत्ति भी थी। हिन्दू-मुस्लिम एकता और राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से उस काल को देखने की प्रवृत्ति एवं साहित्य का जीवन की उपयोगिता की दृष्टि से मूल्यांकन की आकांक्षा के स्पष्ट संकेत है। नाटक और काव्य की आलोचनाओं में कुछ शास्त्रीय तत्वों का भी उपयोग होता था। आनन्द कादिम्बिनी में 'संयोगिता स्वयंम्बर' तथा 'बंग-विजेता' की समीक्षाएँ हुई हैं। ये इस युग की प्रतिनिधि समीक्षाएँ मानी जाती हैं। इसमें प्रधानतः नाटक और उपन्यास के कथानक, चरित्र-चित्रण तथा ऐतिहासिक नाटकों की प्रकृति की दृष्टि से

विचार हुआ है। इन समीक्षाओं में पुस्तक परिचय का हलकापन नहीं, गम्भीर विश्लेषण की प्रवृत्ति है। कहीं-कहीं पर दोष-दर्शन की कटु उक्तियाँ अवश्य हैं। ये अशोभनीय होते हुये भी सद्भावना से प्रेरित हैं। ये आलोचनाएँ विभिन्न स्थलों की फुटकर व्याख्या ही अधिक हैं। सम्पूर्ण पुस्तक के समष्टि रूप पर संश्लिष्ट विचार करने का युग अभी तक नहीं आया था। पर फिर भी उस युग में इतनी पूर्ण और विस्तृत समीक्षा दूसरी नहीं हुई। नाटक और उपन्यास के पात्रों का चरित्र किस प्रकार प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है? आलोच्य रचना में चरित्र-चित्रण कितना प्रभावोत्पादक बन पाया है? ऐतिहासिक कृति की सफलता का मान क्या है? ऐसे कतिपय गम्भीर प्रश्नों को उठा कर उनका उत्तर देने तथा उस दृष्टि से नाटक तथा उपन्यास का विश्लेषण करने की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। पर इन समीक्षाओं के विवेचन की प्रौढ़ता और शास्त्रीय वस्तु-परकता नहीं आ पाई हैं। इनमें समीक्षक की वैयक्तिक रुचि तथा तद्जनित प्रशंसात्मक अथवा निन्दात्मक दृष्टिकोण ही प्रधान हो गया है। नीचे के उद्धरण से यह बात स्पष्ट है![1] इस काल में प्रयास तो कवियों के जीवन चरित प्रस्तुत करने, उनकी दार्शनिक विचारधारा या भक्ति पद्धति से अवगत कराने तथा हिन्दी साहित्य के विकास की मोटी सी रूपरेखा देने के भी हुये। 'हिन्दी प्रदीप' में कवियों पर उपर्युक्त दृष्टियों से विचार करने का एक स्थायी स्तम्भ ही था। 'शिवसिंह सरोज' तथा ग्रियर्सन के द मोडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर के अतिरिक्त साहित्य के विकास का इतिहास प्रस्तुत करने के अच्छे प्रयास 'कवि-वचन-सुधा' 'हरिश्चन्द्र-मैगजीन' और 'आनन्द-कादम्बिनी' में भी होते रहते थे। 'कवि वचन-सुधा' का 'हिन्दी कविता' तथा आनन्द कादम्बिनी का 'शब्द-योजना'—ये दोनों निबन्ध इसके लिये दृष्टव्य हैं।

भारतेन्दु युग नूतन समीक्षात्मक चेतना और उसके मानदंड एवं शैली के पूर्वभास के लिये ही महत्वपूर्ण हैं। इस युग में कोई नई उपलब्धि नहीं हो पाई है। आगे आने वाले शुक्ल जी तक के युग में समीक्षा के जिस स्वरूप, मानदंड एवं शैली का विकास हुआ है उसका इस युग में मिलनेवाला हलका-सा पूर्वभास एक नवीन समीक्षात्मक पद्धति के विकास की आकुलता का ही परिचायक है। यह कहना समीचीन है कि इस आकुलता में भावी उज्ज्वल आशाएँ भी निहित थीं।

द्विवेदी युग : समीक्षा का प्रथम उत्थान

आधुनिक युग की नवीन हिन्दी समीक्षा के व्यवस्थित विकास का वास्तविक प्रारम्भ

---

१. यह हिन्दी में मनोहर और अनोखा उपन्यास बना और इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ उपन्यास के सब गुणों से युक्त है। विशेषता यह है कि आर्य भाषा में होकर भी अंग्रेजी प्रबन्ध और प्रणाली से युक्त है....। चौथा परिच्छेद बहुत ही मनोहर है। विशेषतः सरला और अमला सी साँचे की ढली नवेली, ललनाओं की स्वाभाविक अरसीली और भोली-भाली बातें (आनन्द कादम्बिनी, श्रावण संवत् १९४२)....आपके नाटक के पात्रों की नीरस रूखे से रूखे अर्थान्तरन्यास गढ़ने की कला कहें तो अनुचित न होगा।....यहाँ तक कि संयोगिता विचारी भी अपना पांडित्य ही प्रकाश करने में है।

द्विवेदीजी से ही हुआ है। द्विवेदी युग में ही इसने अपना एक निश्चित स्वरूप धारण किया है। यही स्वरूप आगे चलकर शुक्लजी द्वारा वैज्ञानिकता के चरम विकास पर पहुँचाया गया और बाद में एक प्राणवान समीक्षा पद्धति में परिणत हुआ। शुक्ल जी के बाद तो समीक्षा ने नये मोड़ लिये हैं। इस प्रकार द्विवेदी युग आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के विकास का प्रथम उत्थान युग है। यह पुनरुत्थान एवं सुधारवादी भावनाओं के सुन्दर मिश्रण का युग था। प्राचीन साहित्य चिन्तन से प्राप्त तत्वों से सुव्यवस्थित पुनर्मूल्यांकन की प्रवृत्ति मात्र ही नहीं जागी अपितु नवीन जीवन चेतना का स्पर्श देकर उन सिद्धान्तों को नया रूप देने की चेष्टाएँ भी हुई हैं। पाश्चात्य साहित्य-दर्शन तथा नवीन सामाजिक जीवन के स्पन्दनों से प्राचीन सिद्धान्तों का सामंजस्य स्थापित किया गया। पर यह प्रयास प्रारम्भिक एवं स्थूल नैतिकता पर ही आधारित रहा। द्विवेदी जी ने नैतिकता के सिद्धान्त का रस के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। उन्होंने रस का इतना विस्तृत अर्थ (इसी कारण से अत्यन्त हलके स्तर का भी) ग्रहण किया। उसमें मनोरंजन का अर्थ भी समाहित हो गया। इस प्रकार के अर्थ ग्रहण के मूल में किसी ऐसे मानदंड के ढूँढ़ने की आकांक्षा है जो पूर्व और पश्चिम, अतीत और वर्तमान सब प्रकार के साहित्य को परखने में सक्षम हो। पर इस कार्य में जो थोड़ी बहुत सफलता हिन्दी को मिली है वह द्विवेदी जी के बाद की वस्तु है।

द्विवेदी युग मूलतः सुधार का युग था। नवीन सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्य निर्माण की चेतना देना ही इस युग की समीक्षा का प्रधान उद्देश्य था। द्विवेदी जी का ध्यान प्रधानतः काव्य के वर्ण्य-विषय तथा भाव-पक्ष पर ही केन्द्रित रहा। पर उसी युग के अन्य समीक्षक काव्य के कला-पक्ष अर्थात् शरीर का सुधार भी चाहते थे। पंडित पद्मसिंह शर्मा इनमें से प्रमुख थे। उस काल की इतिवृत्तात्मक कविता में रचना-कौशल की प्रायः उपेक्षा ही थी। दूसरी तरफ उस समय रीति कालीन कविता का प्रवाह चल ही रहा था, उस काल के सहृदय को उसका काव्य-सौन्दर्य आकृष्ट और मुग्ध भी करता था। शर्मा जी के भावुक समीक्षक को भी तत्कालीन कविता में रचना कौशल और चमत्कार का अभाव खटका।[1] उनकी सुधार भावना ने ही उनका ध्यान बिहारी और देव की कविता की ओर आकृष्ट किया था। उन्होंने भाव-सौन्दर्य की समीक्षा की है। पर वहाँ पर भी उसका तात्पर्य अभिव्यक्ति-कौशल ही रहा शर्माजी ने उक्ति-चमत्कार, चित्रण-कौशल और भाषा-सौष्ठव पर ही प्रधानतः विचार किया है। वे कला पक्ष के अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षक हैं। नवीन काव्यधारा को अभिव्यक्ति पक्ष के सम्बन्ध में शर्मा जी का दृष्टिकोण रीतिकालीन रचना कौशल से ही प्रभावित था। यह मुक्तक कविता का दृष्टिकोण था। तत्कालीन प्रबन्ध शैली के लिये यह उपयुक्त नहीं हो सकता था। नवीन युग की नवीन कविता-धारा रीतिकालीन अभिव्यंजना-कौशल को आदर्श मान कर नहीं चल सकती। इसलिये शैली और अभिव्यंजना में चमत्कार और सरसता लाने की आकांक्षा ही शर्माजी की सराहनीय है। उनके पास द्विवेदी जी की तरह कोई ऐसा आदर्श नहीं था जिसमें उस काल की कविता का कला-पक्ष ढाला जा सकता। शर्माजी को समीक्षक के उपयुक्त प्रतिभा एवं सहृदयता प्राप्त हुई थी। अगर शर्मा जी का सहृदय भावुकतापूर्ण एवं अभिव्यंजना कौशल को परखने

१. देखिए, बिहारी सतसई का भाष्य : पद्मसिंह शर्मा।

की क्षमता वाला व्यक्तित्व आधुनिक कविता के परीक्षण में व्यापक रूप से लग जाता तो अवश्य ही आधुनिक हिन्दी-कविता के कलात्मक सौन्दर्य को निखारने वाला आदर्श बहुत पहले ही मिल जाता, पर शर्मा जी इस कार्य में परोक्ष रूप से ही सहायता दे पाये। उन्होंने बिहारी के अभिव्यंजना-कौशल का साक्षात्कार किया है। और वे उस पर मुग्ध भी हुये हैं। पर उनकी समीक्षा प्रभावाभिव्यंजक और निर्णयात्मक कोटि ही की है। स्थान-स्थान पर मुग्ध होकर 'वाह उस्ताद क्या कहने हैं!' 'कितना माधुर्य है!' जैसे वाक्यों द्वारा दाद देने वाली समीक्षा ही वे करते हैं। शैली पर वैयक्तिक अभिरुचि का अत्यधिक प्रभाव होने पर भी शर्मा जी की समीक्षा का आधार शास्त्रीय अवश्य है। उन्होंने भामह आदि प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों के मतों का उपयोग किया है। शर्मा जी ने समीक्षा के मानदंड का युगीनुकूलता के सिद्धान्त को स्वीकार करके अपनी उदार बुद्धि, सम्यक् चिन्तन एवं क्रान्त-दर्शिता की क्षमता का परिचय दिया है। शर्मा जी बिहारी आदि की कविता के लिये आज कल के परिष्कृत सुरुचि के मानदंड को उपयुक्त नहीं समझते।[1] तुलनात्मक समीक्षा का बहुत ही प्रौढ़ रूप शर्मा जी की समीक्षा में मिलता है।

मिश्र बन्धुओं की समीक्षा भी मूलतः तुलनात्मक और निर्णयात्मक ही है। उसमें स्थूल दृष्टि से श्रेणी विभाजन की प्रवृत्ति अत्यधिक है। मिश्रबन्धुओं की समीक्षा का आधार भी मूलतः अलंकारवादी ही है। वे कवियों के कलापक्ष पर ही अधिक विचार कर पाये हैं। मिश्रबन्धुओं ने देश-काल की सामग्री का उपयोग किया है। वे कवियों की जीवनी पर भी विचार करते हैं। पर उनके हिन्दी 'नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' हिन्दी समीक्षा में कोई विशेष महत्वपूर्ण योगदान नहीं कर पाये। उनसे समीक्षा पद्धति में किसी अपेक्षाकृत स्थायी एवं महत्वपूर्ण तत्व का आविर्भाव नहीं हो पाया। उनका इतिहास और जीवन चरित सम्बन्धी विवेचन केवल संकेत और नामोल्लेख मात्र ही माने जायँगे। मिश्रबन्धु पाश्चात्य साहित्य और समीक्षा की गतिविधि एवं आधुनिक परिस्थितियों से परिचित तो थे पर मूलतः पुरातनवादी होने के कारण उनका झुकाव रीतिकाल के साहित्य की ओर ही रहा। साहित्य का जो मानदंड अपनाया गया वह भी मध्य काल के ही उपयुक्त था। रीतिकाल के ग्रन्थों के प्रभाव से आक्रान्त उनकी समीक्षा दृष्टि नवीन सुधार की चेतना देने की अपेक्षा पुनरुत्थान की ही प्रेरणा दे पाई।

कालक्रम की दृष्टि से पं० पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु आदि की समीक्षा द्विवेदी जी से उत्तरवर्ती हैं। पर विकास के इतिहास में इनके तत्व पूर्ववर्ती ही माने जाएँगे। काव्य के वर्ण्य-विषय, भाव तथा उससे मिलनेवाले जीवन-सन्देश की अपेक्षा काव्य के रचना-कौशल, अलंकार, चमत्कार तथा भाषा-सौन्दर्य को अधिक महत्व देनेवाला शर्माजी, मिश्रबन्धु और दीनज़ी का दृष्टिकोण आधुनिक युग की अपेक्षा रीतिकाल के अधिक नजदीक माना जायगा। द्विवेदीजी की समीक्षात्मक पद्धति पूर्णतः आधुनिक है। वह शुक्ल जी की समीक्षा के अधिक नजदीक है। कला-पक्ष (शरीर-पक्ष) की नितान्त उपेक्षा न करते हुये भी द्विवेदीजी का ध्यान कविता के भाव-पक्ष (आत्म पक्ष) पर ही अधिक केन्द्रित हुआ। उनकी दृष्टि काव्य के नैतिक मूल्यों पर ही

---

१. बिहारी सतसई का भाष्य : भूमिका—पद्मसिंह शर्मा।

अधिक टिकी हुई है। द्विवेदी जी ने आधुनिक स्वच्छन्दतावादी काव्य चेतना का स्वागत ही नहीं किया अपितु उसको अपनाने के लिये प्रेरणा भी प्रदान की। उन्होंने पुराने कवियों की अपेक्षा भारतेन्दु तथा मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य की अधिक प्रशंसा की हैं। विहारी और देव आदि की अपेक्षा तुलसी और सूर में अधिक उत्कृष्ट काव्य-सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। मिश्रबन्धुओं के हिन्दी नवरत्न की समीक्षा करते हुये द्विवेदी जी ने अपना यह मन्तव्य स्पष्ट किया है। उसमें द्विवेदी जी ने उस दृष्टि का संकेत किया है जिससे तुलसी की समीचीन व्याख्या संभव है। जीवन को स्वस्थ एवं नैतिकता पूर्ण प्रेरणा देनेवाले कवियों को ही द्विवेदी जी ने श्रेष्ठ माना है। काव्य के आत्म-पक्ष का महत्व सर्वोपरि मानते हुये तथा इसी दृष्टि से साहित्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुये भी द्विवेदी जी ने कला-पक्ष की उपेक्षा नहीं की है। उनकी भाषा-संबंधी आलोचना तो विशद और सूक्ष्म है ही, इसके अतिरिक्त उन्होंने काव्य के कलापक्ष की भी सम्यक् विवेचना की है। द्विवेदीजी की व्यावहारिक समीक्षा एक देश, एक काल या एक काव्य धारा तक सीमित नहीं है। उन्होंने कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, विहारी, देव, भारतेन्दु, मैथिलीशरण आदि विभिन्न परम्पराओं के कवियों पर विचार करके सार्वदेशिक मान-दंड प्राप्त करने की आकांक्षा का स्पष्ट परिचय दिया। द्विवेदी जी में समीक्षात्मक धारणा की विशालता होते हुये भी उनकी व्यावहारिक समीक्षा उस गरिमा को नहीं पहुँच पाई। उसमें दोष-दर्शन और कटु आक्षेपों की भी कमी नहीं है। 'कालिदास की निरंकुशता' नाम ही इस बात का परिचायक है कि उनकी दृष्टि दोषों पर झट पहुँच जाती है। द्विवेदी जी ने समीक्षा के लिये शास्त्रीय मान तो अपनाया है पर वह वैयक्तिक रुचि और प्रभाववादी दृष्टि से मुक्त नहीं है। उनकी समीक्षाएँ निर्णय देनेवाली ही हैं। उनका विवेचन विश्लेषणात्मक न होकर परिचयात्मक अधिक है। यह बात उस युग के अन्य समीक्षकों के लिये भी सत्य है। द्विवेदी जी के अतिरिक्त इस युग के अन्य प्रधान समीक्षक हैं मिश्र बन्धु, पद्मसिंह शर्मा, दीनजी, और कृष्ण विहारी मिश्र। श्यामसुन्दर दास, बक्शीजी, हरिऔधजी, आदि भी इसी युग के हैं। पर इनकी समीक्षायें शुक्ल युग में मानना अधिक ठीक हैं। इसी युग की प्रधान रचनाएँ 'कालिदास की निरंकुशता', समालोचना समुच्चय, रसज्ञ-रंजन, हिन्दी नव रत्न, मिश्रबन्धु-विनोद, बिहारी का संजीवनी भाष्य, देव और बिहारी, तथा विहारी और देव हैं।

शुक्ल से पूर्व समीक्षा का स्वरूप

हिन्दी में प्रयोगात्मक समीक्षा के वास्तविक वैज्ञानिक रूप के दर्शन आचार्य शुक्ल में ही प्रथम बार होते हैं। इसके पूर्व के प्रयासों में समीक्षा की वैज्ञानिकता, गम्भीरता एवं गरिमा का अभाव है। वे प्रारम्भिक प्रयास मात्र हैं। व्यक्तिगत रुचि से काव्य को समझने तथा उसकी श्रेष्ठता आंकने की प्रवृत्ति मात्र के दर्शन होते हैं। आलोचक वस्तु की गहराई तक पहुँचने की अपेक्षा उसके बाह्य स्वरूप पर ही मुग्ध अथवा स्पष्ट होकर निर्णय देता था। इसमें उसकी रुचि ही मानदंड थी। उसने भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का सहारा तो लिया है, पर वह व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्ति नहीं पा सका। उसने काव्य का नीति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा भी की है। काव्य का रस-सौन्दर्य अथवा आनन्द की दृष्टि से अनुशीलन भी हुआ है। पर यह सब अत्यधिक स्थूल और वैयक्तिक ही रहा है। यत्र-तत्र का शास्त्रीय

विवेचन, काव्य के तत्वों की दृष्टि से परीक्षा के प्रयास, रचना सौन्दर्य पर मुग्ध होना, काव्य की नैतिक उपादेयता पर विचार करना, आदि कुछ प्रौढ़ तत्व शुक्ल जी से पूर्व की समीक्षा में भी मिल जाते हैं। पर इनमें समीक्षा की गरिमा के दर्शन नहीं होते। इन प्रयासों में समीक्षा को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने की आकांक्षा का स्पष्ट आभास अवश्य है। परवर्ती विकास का यह पूर्वाभाव ही रहा। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि काव्य को विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखना उसको जीवन की उपादेयता के मानदंड से आँकना तथा इन दोनों के समन्वित रूप को ही समीक्षा का मान बनाना, इन तीन प्रधान प्रवृत्तियों के दर्शन वर्तमान हिन्दी समीक्षा में होते हैं। इन्हीं की विभिन्न धारणाओं तथा उनके मिश्रण के प्रकारों एवं अनुपातों का निर्वचन ही हिन्दी समीक्षा का इतिहास है। शुक्लजी से पूर्व की समीक्षा में भी इन्हीं का पूर्वाभास मिलता है। शुक्लजी की समीक्षा इस विकास की वह कड़ी है, वह प्रथम भूमि है जहाँ समीक्षा अपने पूर्ववर्ती तत्वों का आकलन करती है तथा जहाँ से इस युग की समीक्षात्मक चेतना को अपनी वैज्ञानिकता के चरम विकास पर पहुँचा देती है। शुक्ल जी में आकर हिन्दी-समीक्षा एक ठोस शास्त्रीय आधार पर आकर खड़ी होती है एवं आगामी विकास के लिये प्रेरणा प्रदान करती है।

शुक्ल समीक्षा का सैद्धान्तिक आधार

हिन्दी को साहित्य-समीक्षा के लिये ठोस सैद्धान्तिक आधार तथा वैज्ञानिक प्रणाली प्रदान करने का प्रथम श्रेय शुक्लजी को ही है। शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों का तत्कालीन समाज एवं साहित्य की चेतना से घनिष्ठ संबंध है। उनकी मान्यता लोक मंगल की भावना से अनुप्राणित है। शील-विकास एवं रागात्मक प्रसार को ही शुक्ल काव्य का प्रयोजन मानते हैं। इस शील विकास की कसौटी समाज या लोक मंगल है। इस प्रकार शुक्ल की काव्य संबंधी धारणा का मूल आधार लोक-मंगल और व्यष्टि के शील विकास का सामंजस्य है। उनकी समीक्षा के प्रमुख तत्व हैं व्यक्तिगत योगक्षेम से मुक्ति, रागात्मक प्रसार, लोकमंगल तथा रसानुभूति। इन्हीं तत्वों से उनके समीक्षात्मक दृष्टिकोण का निर्माण हुआ है। ये तत्व एक दूसरे के पूरक तथा पोषक हैं, अतः अन्योन्याश्रित हैं। शुक्ल जी का रस-सिद्धान्त प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं पर अधिष्ठित होते हुये भी एक प्रकार से स्वानुभूत, नवीन एवं उपज्ञ व्याख्या है। शुक्ल जी ने रस का व्यष्टि की अनुभूति के आधार पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा व्यष्टि और समष्टि दोनों पर उसके लोक मंगलकारी एवं नैतिक प्रभाव का विवेचन किया है। शुक्लजी के अनुसार व्यक्तिगत योगक्षेम से मुक्त एवं उससे ऊपर उठी हुई लोक मंगल की भाव भूमि प्रत्यक्ष, कल्पना, स्मृति तथा काव्य सभी क्षेत्रों में रसानुभूति ही होती है। हर प्रकार की रसानुभूति व्यक्ति को अपने योगक्षेम से मुक्त करके लोक-मंगल कीभाव भूम पर पहुँचा देती है। उनकी दृष्टि से लोक-मंगल की भावभूमि तथा रसानुभूति का सहजसाहचर्य एवं एक प्रकार से अभेद है। शुक्लजी ने रस के आनन्दांश की अपेक्षा उसके सत्वोद्रेक की क्षमता पर अधिक जोर दिया है। अपनी प्रयोगात्मक समीक्षाओं में उन्होंने इस आनन्दानुभूति का भी विवेचन किया है पर काव्य का मूल्यांकन उन्होंने रागात्मक-प्रसार, लोक-मंगल तथा शील-विकास की क्षमता के आधार पर ही किया है। प्रत्यक्ष, स्मृति, तथा कल्पना में भी रसानुभूति के तत्वों को देखकर एवं रस के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को ही प्रधानता देकर शुक्ल जी

ने रस और काव्य का जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित किया है तथा उनकी नवीन एवं उपज्ञ व्याख्या प्रस्तुत की है। प्रत्यक्ष आदि की अनुभूति में भी व्यक्तिगत योगक्षेम की भावना से ऊपर उठाने की क्षमता की बात करके शुक्लजी ने जीवन की सामान्य अनुभूति से ही काव्य के विकास का सिद्धान्त स्थापित कर दिया है। इसे काव्य का मूल्यांकन भी जीवन से निरपेक्ष नहीं हो सकता है। रस को तत्कालीन साहित्य को आंकने का समर्थ साधन तो शुक्ल जी ने सिद्ध कर ही दिया। रीतिकालीन परम्परा में मनोरंजन तथा भोग के साधन के स्तर तक गिरी हुई काव्य की प्रतिष्ठा को शुक्ल जी ने भावयोग की गरिमा तक ऊँचा उठा दिया है। उन्होंने काव्य को भावयोग कहा है और उसको कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के समकक्ष माना है। काव्य भी ज्ञान और भक्ति की तरह मुक्ति का साधन है। काव्य से हृदय की सद्यः यद्यपि क्षणिक मुक्ति होती है। शुक्ल जी के अनुसार काव्य का अनुशीलन व्यक्ति के रागात्मक प्रसार तथा विश्व के साथ उसके रागात्मक सम्बन्धों के संरक्षण का हेतु है। काव्य का प्रभाव व्यष्टि के शील पर बहुत कुछ स्थायी ही पड़ता है। उसका रागात्मक प्रसार और परिष्कार उसके शील का एक अभिन्न अंश बन जाता है। शील के प्रधानतः भावाश्रित होने के कारण उसके निर्माण का बहुत शक्तिशाली एवं निरापद साधन काव्य है। शुक्लजी का शील-संबंधी तथा नैतिक दृष्टिकोण द्विवेदी जी के स्थूल उपयोगितावाद तथा आचरण-संबंधी स्पष्ट आदेशों से भिन्न कोटि का है। उसका आधार एवं उपजीव्य तुलसी का 'रामचरित मानस' तथा भगवान राम का शील है। शुक्ल जी की शील संबंधी धारणा के मूल में वर्णाश्रम धर्म के तत्व भी हैं। पर फिर भी वह नितान्त परम्पराभुक्त और रूढ़िग्रस्त-नहीं कहा जा सकता है। उसमें विचार, भाव और कर्म के व्यापक समन्वय के दर्शन होते हैं। शुक्ल जी के इस सिद्धान्त में रिचर्ड्स के विरोधी अन्तर्वृत्तियों के सामन्जस्य के सिद्धान्त का हलका सा आभास भी है। शुक्ल जी ने रस का केवल शील, लोकमंगल एवं नैतिकता से संबंध ही स्थापित नहीं किया है, अपितु उसकी अनुभूति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। उन्होंने प्राचीन काव्य सिद्धान्तों का पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों से सामञ्जस्य स्थापित करते हुये उन्हें आधुनिक जीवन-चेतना का स्पर्श देकर प्राचीन रस-सिद्धान्त को कुछ नूतन रूप प्रदान किया है। पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों के समन्वय पर अधिष्ठित एक सार्वभौम एवं सार्वजनिक मानदण्ड एवं समीक्षा-पद्धति का निर्माण इस युग की प्रधान समस्या है। समीक्षा की एक वैज्ञानिक पद्धति का निर्माण करके शुक्ल जी ने इस समस्या के समाधान का एक ठोस प्रयास किया है।

शुक्ल जी की व्यवहारिक समीक्षा

ऊपर शुक्लजी के अन्य समीक्षा मानदण्डों की चर्चा की जा चुकी है। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखे गये उनके प्रबन्ध ही उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा के प्रधान उदाहरण हैं। शुक्ल जी ने जो हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया है वह भी प्रधानतः साहित्य-समीक्षा ही है। 'शेष स्मृतियाँ' नामक ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने गद्य, शैली और निबन्ध की विस्तृत समीक्षा की है। ये तत्व स्पष्टतः पाश्चात्य देन हैं। इनका विश्लेषण एवं मूल्यांकन शुक्ल जी ने पाश्चात्य मानदण्ड से ही किया है, पर यहाँ पर भी रस के साथ पाश्चात्य तत्वों के समन्वय करने की क्षमता धूमिल नहीं हुई है। शुक्ल जी ने अनेक समीक्षात्मक निबन्ध भी

लिखे हैं जो 'चिन्तामणि' में संग्रहीत हैं। शुक्लजी ने अपने 'इन्दौर के अभिभाषण' में हिन्दी साहित्य की तत्कालीन अवस्था और समस्याओं पर भी विचार किया है। प्रसंगवश वाल्मीकि और कालिदास के काव्य-सौन्दर्य (विशेषतः प्रकृति सौन्दर्य) का भी विवेचन उनके निबन्धों में हो गया है। शुक्लजी का समीक्षा क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। उनका समीक्षा संबंधी दृष्टिकोण सर्वत्र ही रसवादी तथा नैतिक मूल्यवादी है। शुक्ल जी की समीक्षा प्रधानतः विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक है, पर उसके मूल में निर्णय की आकांक्षा अत्यन्त स्पष्ट एवं प्रबल है। उनकी समीक्षा में प्रभावाभिव्यंजक तत्वों का भी अभाव नहीं है। उनकी समीक्षा शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक होते हुये भी उस पर वैयक्तिक रुचि का कठोर नियंत्रण है। हाँ, शुक्ल जी की वैयक्तिक रुचि तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुये बहुत कुछ साधारणीकृत अवश्य है। वह अधिकांशतः भारतीय लोक रुचि का प्रतिनिधि रूप है। शुक्लजी की प्रयोगात्मक समीक्षाओं को दो रूपों में बाँट सकते हैं—उद्देश्य संबंधी तथा रूपात्मक। शुक्लजी ने जीवन के व्यापक स्वरूप के रसात्मक अनुभव, शील विकास एवं रागात्मक प्रसार की दृष्टि से आलोच्य कवियों को आँकने की चेष्टा की है। इस तुला पर तुलसी ही खरे उतरते हैं, पर इसके अत्यधिक रूढ़ रूप को ग्रहण करने के कारण शुक्ल जी सूर तथा अधिकांश रीतिकालीन कवियों एवं आधुनिक छायावादी कवियों के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाये हैं। इस स्थूल नीतिवादी दृष्टि से पूर्णतः निरपेक्ष रहकर ही काव्य सौष्ठव के भाव संवेदन, भक्ति, प्रेम तथा जीवन के अन्य भावों की अत्यन्त उच्च एवं सूक्ष्म भूमि का आनंद लेना संभव है यह शुक्ल जी नहीं कर पाये, इसलिये हिन्दी-समीक्षा को नवीन क्षेत्रों और भूमियों का उद्घाटन करना पड़ा। वह 'सौष्ठववादी' समीक्षा का रूप धारण कर गई।

शुक्ल जी की रूपात्मक समीक्षा का आधार भारतीय साहित्य-शास्त्र है। वे रसवादी समीक्षक हैं। उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी के विभाव पक्ष और भावपक्ष का अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर विश्लेषण किया है। वे अपने से पूर्ववर्ती समीक्षाओं की तरह रस, भाव आदि के केवल नाम-निर्देश अथवा सामान्य परिचय मात्र से संतोष नहीं करते हैं। वे उनका तात्विक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके पाठक को भावसौन्दर्य का साक्षात्कार कराते हैं। कवि के द्वारा नियोजित रस, अलंकार आदि के औचित्य पर विचार करते हुये उनका मूल्यांकन करते हैं। शुक्ल जी ने कवि के विभाव पक्ष और भावपक्ष दोनों का ही विस्तृत विवेचन किया है। एक-एक स्फुट स्थलों को लेकर उनके भाव-सौन्दर्य एवं अलंकार–सौन्दर्य का हलके स्तर पर निर्वचन अथवा केवल नाम-निर्देश की पद्धति द्विवेदीयुगीन थी। शुक्ल जी ने स्थल विशेष के भाव तथा अलंकार के सौन्दर्य का संवेदनात्मक एवं शास्त्रीय विश्लेषण तो किया ही है, इसके साथ ही कवि की सम्पूर्ण रचना को अपने ध्यान में रखते हुये उसकी रस-भाव अलंकार आदि की नियोजन पद्धति पर भी उन्होंने संश्लिष्ट रूप से विचार किया है। इसमें शुक्ल जी की भावुकता, सहृदयता एवं विश्लेषण की क्षमता का अच्छा परिचय मिलता है। कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा कलाकृति की संपूर्णता को ध्यान में रखकर भाव, अलंकार आदि की नियोजन पद्धति पर संश्लिष्ट विचार करने की शैली तो हिन्दी को शुक्ल जी ने ही प्रदान की है। शुक्ल जी ने कवि के व्यक्तित्व एवं उसके जीवन-चरित्र का विश्लेषण करते हुये रचना के साथ उनके सम्बन्ध पर विचार किया है। कवि के सामाजिक परिवेष्ठन के साथ उसकी कृति के

संबंध का निरूपण करने वाली ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का भी शुक्ल जी ने अवलम्बन किया है। शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति यद्यपि प्रधानतः मूल्यवादी एवं शास्त्रीय है, पर उसमें मनोवैज्ञानिक, चरितमूलक तथा ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धतियों का भी उपयोग हुआ है। शुक्ल जी से पूर्ववर्ती समीक्षा में ये तत्व थे पर उनके वैज्ञानिक रूप की प्रतिष्ठा शुक्ल जी ही हिन्दी में सर्व प्रथम कर पाये हैं। इस प्रकार शुक्ल जी ने अपने से पूर्ववर्ती समीक्षा के तत्वों तथा पद्धति का आकलन करते हुए उनको अपने विकास की चरम अवस्था तक पहुँचाया है।

निस्संदेह शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य समीक्षा को एक अत्यन्त प्रौढ़, शास्त्रीय एवं नैतिक मापदण्ड प्रदान किया है। यह एक तरफ भारत की लम्बी शास्त्रीय परम्परा पर आधारित है तो दूसरी तरफ यह परम्परामुक्त प्राचीन 'रस सिद्धान्त' की युगानुकूल नवीन व्याख्या भी है। यह 'रस' की शील, विकास एवं लोक-मंगल की भावना से अनुप्राणित नैतिक व्याख्या है। शुक्ल जी ने भावयोग से हृदय की मुक्तावस्था, रस एवं लोकमंगल के पारस्परिक संबंध तथा शील विकास के सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय काव्य-शास्त्र के महानतम 'रस' सिद्धान्त की समाज शास्त्रीय, दार्शनिक एवं नैतिक व्याख्या प्रस्तुत की है। अगर रस के साथ शील विकास एवं लोकमंगल की भावना के सम्बन्ध का और अधिक विस्तृत, सूक्ष्म एवं तर्कपुष्ट मनोवैज्ञानिक विश्लेषण शुक्ल जी प्रस्तुत कर जाते तो रस-सिद्धान्त के विकास की परम्परा में एक महत्वपूर्ण कड़ी ही जोड़ जाते। लोक-मंगल और शील संबंधी धारणा पर अगर वर्णाश्रम धर्म तथा शुक्ल जी की कुछ वैयक्तिक रूढ़िवादी धारणाओं का कठोर नियंत्रण कुछ शिथिल रहता तथा ये दोनों सिद्धान्त कुछ उदार एवं व्यापक भूमि पर अधिष्ठित होते तो हिन्दी-समीक्षा सार्वभौम मानदण्ड के बहुत नजदीक पहुँच जाती। शुक्ल जी ने 'सद्यःपरनिर्वृत्तये' एवं 'रामादिवत् प्रवर्त्तितव्यम्'—काव्य के दोनों प्रयोजनों का युगानुरूप समन्वय स्थापित किया है। नैतिकता के गहरे रंगीन चश्मे के कारण शुक्ल जी 'रस' के उस आह्लाद का साक्षात्कार नहीं कर पाये हैं, जो शील एवं लोकमंगल की स्थूल एवं रूढ़ धारणाओं से अतिक्रान्त अवस्था की अनुभूति का परिणाम है। सूर की भक्ति-भावना तथा लीला पुरुषोत्तम कृष्ण के शील पर मुग्ध होने के लिए इसी दृष्टि की अपेक्षा है। तुलसी और सूर के शील रूपों पर शुक्ल जी इसी दृष्टि की उदारता के कारण ही समान रूप से मुग्ध हो सकते थे। काव्य के प्रयोजन की दृष्टि से मर्यादावाद तथा रूप की दृष्टि से प्रबन्धवाद के अत्यधिक आग्रह की रूढ़िवादी सीमाओं से ऊपर उठ पाते तो शुक्ल जी रस के सार्वभौम मानदण्ड बनने की क्षमता का सबसे अधिक ठीक दर्शन करा पाते। इस व्यापक दृष्टि की आकांक्षा ने सौष्ठववादी समीक्षा को जन्म दिया था और उसमें इस उदार दृष्टि के कुछ अस्पष्ट आभास मिले भी। यह भी निर्विवाद है कि शुक्ल जी समीक्षा के लिये जितना प्रौढ़ सैद्धान्तिक आधार प्रदान कर पाये हैं, कुछ पुष्ट एवं स्पष्ट रेखाओं द्वारा काव्य-दर्शन का जो चित्र खींच पाये हैं, उसी के अनुरूप एवं उतने ही ऊँचे स्तर पर अपनी प्रयोगात्मक समीक्षाओं में प्रौढ़ता नहीं ला सके। शुल्क जी में एक प्रबल वैयक्तिक रुचि थी। उससे उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा आक्रान्त है। शुक्ल जी तुलसी और सूर का समान रूप से मूल्यांकन नहीं कर पाये। प्रबन्ध-काव्य की श्रेष्ठता के इतने प्रशंसक हो गये कि उनसे प्रगती रचनाओं के सौन्दर्य का सम्यक मूल्यांकन नहीं हो सका। कबीर तथा निर्गुण मार्ग के महत्व

लिखे हैं जो 'चिन्तामणि' में संग्रहीत हैं। शुक्लजी ने अपने 'इन्दौर के अभिभाषण' में हिन्दी साहित्य की तत्कालीन अवस्था और समस्याओं पर भी विचार किया है। प्रसंगवश वाल्मीकि और कालिदास के काव्य-सौन्दर्य (विशेषतः प्रकृति सौन्दर्य) का भी विवेचन उनके निबन्धों में हो गया है। शुक्लजी का समीक्षा क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। उनका समीक्षा संबंधी दृष्टिकोण सर्वत्र ही रसवादी तथा नैतिक मूल्यवादी है। शुक्ल जी की समीक्षा प्रधानतः विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक है, पर उसके मूल में निर्णय की आकांक्षा अत्यन्त स्पष्ट एवं प्रबल है। उनकी समीक्षा में प्रभावाभिव्यंजक तत्वों का भी अभाव नहीं है। उनकी समीक्षा शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक होते हुये भी उस पर वैयक्तिक रुचि का कठोर नियंत्रण है। हाँ, शुक्ल जी की वैयक्तिक रुचि तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुये बहुत कुछ साधारणीकृत अवश्य है। वह अधिकांशतः भारतीय लोक रुचि का प्रतिनिधि रूप है। शुक्लजी की प्रयोगात्मक समीक्षाओं को दो रूपों में बाँट सकते हैं—उद्देश्य संबंधी तथा रूपात्मक। शुक्लजी ने जीवन के व्यापक स्वरूप के रसात्मक अनुभव, शील विकास एवं रागात्मक प्रसार की दृष्टि से आलोच्य कवियों को आँकने की चेष्टा की है। इस तुला पर तुलसी ही खरे उतरते हैं, पर इसके अत्यधिक रूढ़ रूप को ग्रहण करने के कारण शुक्ल जी सूर तथा अधिकांश रीतिकालीन कवियों एवं आधुनिक छायावादी कवियों के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाये हैं। इस स्थूल नीतिवादी दृष्टि से पूर्णतः निरपेक्ष रहकर ही काव्य सौष्ठव के भाव संवेदन, भक्ति, प्रेम तथा जीवन के अन्य भावों की अत्यन्त उच्च एवं सूक्ष्म भूमि का आनंद लेना संभव है यह शुक्ल जी नहीं कर पाये, इसलिये हिन्दी-समीक्षा को नवीन क्षेत्रों और भूमियों का उद्घाटन करना पड़ा। वह 'सौष्ठववादी' समीक्षा का रूप धारण कर गई।

शुक्ल जी की रूपात्मक समीक्षा का आधार भारतीय साहित्य-शास्त्र है। वे रसवादी समीक्षक हैं। उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी के विभाव पक्ष और भावपक्ष का अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर विश्लेषण किया है। वे अपने से पूर्ववर्ती समीक्षाओं की तरह रस, भाव आदि के केवल नाम-निर्देश अथवा सामान्य परिचय मात्र से संतोष नहीं करते हैं। वे उनका तात्विक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके पाठक को भावसौन्दर्य का साक्षात्कार कराते हैं। कवि के द्वारा नियोजित रस, अलंकार आदि के औचित्य पर विचार करते हुये उनका मूल्यांकन करते हैं। शुक्ल जी ने कवि के विभाव पक्ष और भावपक्ष दोनों का ही विस्तृत विवेचन किया है। एक-एक स्फुट स्थलों को लेकर उनके भाव-सौन्दर्य एवं अलंकार–सौन्दर्य का हलके स्तर पर निर्वचन अथवा केवल नाम-निर्देश की पद्धति द्विवेदीयुगीन थी। शुक्ल जी ने स्थल विशेष के भाव तथा अलंकार के सौन्दर्य का संवेदनात्मक एवं शास्त्रीय विश्लेषण तो किया ही है, इसके साथ ही कवि की सम्पूर्ण रचना को अपने ध्यान में रखते हुये उसकी रस-भाव अलंकार आदि की नियोजन पद्धति पर भी उन्होंने संश्लिष्ट रूप से विचार किया है। इसमें शुक्ल जी की भावुकता, सहृदयता एवं विश्लेषण की क्षमता का अच्छा परिचय मिलता है। कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा कलाकृति की संपूर्णता को ध्यान में रखकर भाव, अलंकार आदि की नियोजन पद्धति पर संश्लिष्ट विचार करने की शैली तो हिन्दी को शुक्ल जी ने ही प्रदान की है। शुक्ल जी ने कवि के व्यक्तित्व एवं उसके जीवन-चरित्र का विश्लेषण करते हुये रचना के साथ उनके सम्बन्ध पर विचार किया है। कवि के सामाजिक परिवेष्ठन के साथ उसकी कृति के

संबंध का निरूपण करने वाली ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का भी शुक्ल जी ने अवलम्बन किया है। शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति यद्यपि प्रधानतः मूल्यवादी एवं शास्त्रीय है, पर उसमें मनोवैज्ञानिक, चरितमूलक तथा ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धतियों का भी उपयोग हुआ है। शुक्ल जी से पूर्ववर्ती समीक्षा में ये तत्व थे पर उनके वैज्ञानिक रूप की प्रतिष्ठा शुक्ल जी ही हिन्दी में सर्व प्रथम कर पाये हैं। इस प्रकार शुक्ल जी ने अपने से पूर्ववर्ती समीक्षा के तत्वों तथा पद्धति का आकलन करते हुए उनको अपने विकास की चरम अवस्था तक पहुँचाया है।

निस्संदेह शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य समीक्षा को एक अत्यन्त प्रौढ़, शास्त्रीय एवं नैतिक मापदण्ड प्रदान किया है। यह एक तरफ भारत की लम्बी शास्त्रीय परम्परा पर आधारित है तो दूसरी तरफ यह परम्परामुक्त प्राचीन 'रस सिद्धान्त' की युगानुकूल नवीन व्याख्या भी है। यह 'रस' की शील, विकास एवं लोक-मंगल की भावना से अनुप्राणित नैतिक व्याख्या है। शुक्ल जी ने भावयोग से हृदय की मुक्तावस्था, रस एवं लोकमंगल के पारस्परिक संबंध तथा शील विकास के सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय काव्य-शास्त्र के महानतम 'रस' सिद्धान्त की समाज शास्त्रीय, दार्शनिक एवं नैतिक व्याख्या प्रस्तुत की है। अगर रस के साथ शील विकास एवं लोकमंगल की भावना के सम्बन्ध का और अधिक विस्तृत, सूक्ष्म एवं तर्कपुष्ट मनोवैज्ञानिक विश्लेषण शुक्ल जी प्रस्तुत कर जाते तो रस-सिद्धान्त के विकास की परम्परा में एक महत्वपूर्ण कड़ी ही जोड़ जाते। लोक-मंगल और शील संबंधी धारणा पर अगर वर्णाश्रम धर्म तथा शुक्ल जी की कुछ वैयक्तिक रूढ़िवादी धारणाओं का कठोर नियंत्रण कुछ शिथिल रहता तथा ये दोनों सिद्धान्त कुछ उदार एवं व्यापक भूमि पर अधिष्ठित होते तो हिन्दी-समीक्षा सार्वभौम मानदण्ड के बहुत नजदीक पहुँच जाती। शुक्ल जी ने 'सद्यःपरनिर्वृत्तये' एवं 'रामादिवत् प्रवर्त्तितव्यम्'—काव्य के दोनों प्रयोजनों का युगानुरूप समन्वय स्थापित किया है। नैतिकता के गहरे रंगीन चश्मे के कारण शुक्ल जी 'रस' के उस आह्लाद का साक्षात्कार नहीं कर पाये हैं, जो शील एवं लोकमंगल की स्थूल एवं रूढ़ धारणाओं से अतिक्रान्त अवस्था की अनुभूति का परिणाम है। सूर की भक्ति-भावना तथा लीला पुरुषोत्तम कृष्ण के शील पर मुग्ध होने के लिए इसी दृष्टि की अपेक्षा है। तुलसी और सूर के शील रूपों पर शुक्ल जी इसी दृष्टि की उदारता के कारण ही समान रूप से मुग्ध हो सकते थे। काव्य के प्रयोजन की दृष्टि से मर्यादावाद तथा रूप की दृष्टि से प्रबन्धवाद के अत्यधिक आग्रह की रूढ़िवादी सीमाओं से ऊपर उठ पाते तो शुक्ल जी रस के सार्वभौम मानदण्ड बनने की क्षमता का सबसे अधिक ठीक दर्शन करा पाते। इस व्यापक दृष्टि की आकांक्षा ने सौष्ठववादी समीक्षा को जन्म दिया था और उसमें इस उदार दृष्टि के कुछ अस्पष्ट आभास मिले भी। यह भी निर्विवाद है कि शुक्ल जी समीक्षा के लिये जितना प्रौढ़ सैद्धान्तिक आधार प्रदान कर पाये हैं, कुछ पुष्ट एवं स्पष्ट रेखाओं द्वारा काव्य-दर्शन का जो चित्र खींच पाये हैं, उसी के अनुरूप एवं उतने ही ऊँचे स्तर पर अपनी प्रयोगात्मक समीक्षाओं में प्रौढ़ता नहीं ला सके। शुल्क जी में एक प्रबल वैयक्तिक रुचि थी। उससे उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा आक्रान्त है। शुक्ल जी तुलसी और सूर का समान रूप से मूल्यांकन नहीं कर पाये। प्रबन्ध-काव्य की श्रेष्ठता के इतने प्रशंसक हो गये कि उनसे प्रगती रचनाओं के सौन्दर्य का सम्यक मूल्यांकन नहीं हो सका। कबीर तथा निर्गुण मार्ग के महत्व

का भी समुचित मूल्यांकन शुक्ल जी नहीं कर पाये। आधुनिक नवीन काव्य-धाराओं तथा उनकी नवीन प्रतिभाओं का न शुक्ल जी मुक्त हृदय से स्वागत कर पाये और न उनकी विशिष्टताओं को पूर्णतया परख ही सके। शुक्ल जी का समीक्षादर्श व्यापक एवं सर्वसामान्य तो है पर उसमें युगानुरूप परिवर्तनशीलता का अभाव है। यही कारण है कि नवीन युग की नवीन काव्य-प्रवृत्तियों, साहित्य-रूपों, नूतन प्रतिभाओं तथा उनकी रचनाओं के मूल्यांकन करने के लिये वस्तून्मुखी समीक्षा दृष्टि का शुक्ल जी के पास अभाव ही रहा। शुक्ल जी के समीक्षादर्श तथा उनकी पद्धति में युगानुरूप गतिशीलता एवं विकासोन्मुखता का अभाव है। इसी अभाव की पूर्ति का प्रयास हिन्दी की सौष्ठववादी समीक्षा है।

शुक्ल पद्धति के अन्य समीक्षक

शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य को एक निश्चित समीक्षादर्श तथा वैज्ञानिक पद्धति प्रदान की है। यह पद्धति कुछ परिवर्द्धित एवं परिष्कृत रूप में आज भी विद्यमान है। इसे शुक्ल समीक्षा पद्धति कहते हैं। इसके स्वरूप संघटन में बाबू श्यामसुन्दर दास जी, बख्शी जी, आदि ने भी महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। 'साहित्यालोचन' और 'विश्व-साहित्य' के प्रकाशन से शुक्ल समीक्षा पद्धति में कुछ उदारता आई। उसमें शुक्ल जी का सा नैतिकता और मर्यादावाद का आग्रह तथा वैयक्तिकता का कठोर नियंत्रण नहीं रह गया। प्रबन्धवाद का मोह भी बहुत कुछ कम होने लगा। पाश्चात्य समीक्षा के तत्त्वों को भी पहले की अपेक्षा अधिक अपनाने की प्रवृत्ति जागी। शुक्ल जी के समान इन समीक्षकों में समन्वय की क्षमता तो नहीं है पर भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा तत्त्वों के मिले-जुले रूप का विकास करने का श्रेय इन समीक्षकों को अवश्य है। इस परवर्ती काल की शुक्ल-पद्धति में हिन्दी की अन्य समीक्षा पद्धतियों से भी कुछ तत्त्व ग्रहण कर लिये गये। नैतिक दृष्टिकोण एवं शास्त्रीय आधार पर मूल्यांकन तथा विवेचन, कवि के व्यक्तित्व तथा तत्कालीन परिस्थितियों का सामान्य कोटि का विवेचन, तुलना और निर्णय–सामान्यतः ये शुक्ल समीक्षा पद्धति की प्रधान विशेषताएँ हो गई हैं। यह पद्धति क्रमशः तटस्थ, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक एवं वस्तून्मुखी व्याख्या बनती जा रही है। विश्वविद्यालय के अध्यापकों एवं स्नातकों में इसी पद्धति का उपयोग सबसे अधिक है। इसी में सबसे अधिक व्यवहारोपयोगिता एवं सर्वांगीणता है। श्रीयुत पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० चन्द्रबली पाण्डेय, बाबू गुलाबराय, पं० गिरिजादत्त 'गिरीश', डा० श्रीष्ण लाल आदि समीक्षक शुक्ल पद्धति के ही माने जा सकते हैं। इन्होंने अन्य समीक्षा पद्धतियों से कुछ सामान्य तत्त्व ग्रहण करने की स्वतंत्रता अवश्य ली है। एक प्रकार से ये समीक्षक समन्वयवादी आकांक्षा को पुष्ट कर रहे हैं। बाबू गुलाबराय जी को तो मोटे तौर पर समन्वयवादी समीक्षक कहा भी जाता है। पर हिन्दी में अभी तक समन्वय केवल कुछ पद्धतियों के तत्त्वों का मिश्रण मात्र है। कलात्मक-सौष्ठव, अभिव्यंजना कौशल एवं नैतिकता के भाव संवेदनामय रूप के साक्षात्कार तथा मूल्यांकन की जितनी क्षमता शुक्ल जी में है, उतनी शुक्ल पद्धति के अन्य समीक्षकों में नहीं। साधारणतः अन्य सम्प्रदायों के समीक्षकों में भी विवेचन की इतनी सूक्ष्मता और प्रौढ़ता प्रायः दुर्लभ ही है। भाव जगत् की सूक्ष्मताओं तक पहुँचने की सहृदयता एवं मौलिक विश्लेषण की क्षमता के अभाव में

समीक्षक को साहित्य-शास्त्र के नियमों की जड़ता आक्रान्त कर लेती है और समीक्षा नियमों और सिद्धान्तों के आशय से निर्मित ढाँचा मात्र रह जाती है। शुक्ल सम्प्रदाय के अनुगामी अधिकांश आलोचकों की समीक्षा के सम्बन्ध में यह बात बहुत कुछ सत्य है। शुक्ल सम्प्रदाय की समीक्षा पद्धति धीरे-धीरे ऐसे ही ढाँचे में बदल रही है, उसके तत्त्व दूसरी पद्धतियों में बिलीन होते जा रहे हैं, शीघ्र ही वह अतीत की वस्तु बन जाएगी, ऐसी सम्भावना स्पष्ट होने लगी है।

सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी में द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक साहित्य के सौन्दर्य एवं अभिव्यंजना कौशल के भाव-संवेदन तथा उसके नैतिक मूल्यांकन की तो पूरी क्षमता थी, पर वे न नवीन युग की विकासोन्मुखी काव्यधारा के सौष्ठव का पूर्णतया साक्षात्कार कर पाये, और न उसमें छिपे हुए यथार्थ पर अधिष्ठित मानवमूल्य की नाप-जोख कर सके। प्रथम महायुद्ध के प्रभाव स्वरूप भारतीय जीवन के मान-मूल्यों में एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात हो गया था। उसी के अनुरूप साहित्य ने भी एक नया मोड़ ले लिया। हिन्दी में नवीन रहस्य-वादी सौन्दर्यचेतना से अनुप्राणित तथा दार्शनिक आभा एवं मधुर कल्पनाओं से पूर्ण अभिव्यंजना की नवीनता और संगीतमयी भाषा के साथ छायावाद के नाम से जिस आत्मपरक साहित्य का सर्जन प्रारम्भ हुआ, उसका मूल्यांकन करने में शुक्ल जी की नीतिप्रधान रस दृष्टि अपूर्ण एवं अनुपयुक्त ही रही। इसी का परिणाम हिन्दी की सौष्ठववादी समीक्षा है। सर्जन के क्षेत्र में जिन प्रेरक शक्तियों से छायावाद का जन्म हुआ है, उन्हीं शक्तियों ने भावन के क्षेत्र में सौष्ठव-वादी समीक्षा को रूपायित किया है।

छायावादी युग—इस युग में साहित्य का प्रयोजन ही बदल चुका था। इस युग का कवि उपयोगितावाद या नैतिक उपदेश के उद्देश्य से सर्जन नहीं करता था। छायावादी कवि के सर्जन का प्रयोजन आत्माभिव्यंजन या सौन्दर्यसृष्टि हो गया। इस सौन्दर्यसृष्टि का सीधा सम्बन्ध नीति से नहीं, अपितु आह्लाद से है। कला पर बाह्य जीवन सम्बन्धी आरोप चाहे वे आर्थिक हों, चाहे नैतिक, इन कवियों तथा समीक्षकों को अनुचित ही प्रतीत हुए।[1] प्रसाद जी ने सौन्दर्यसृष्टि को ही काव्य का एक मात्र प्रयोजन बताया है। उनकी मान्यता है कि साहित्य सौन्दर्य को पूर्णरूप से विकसित करता है और आनन्दमय हृदय उसी का अनुशीलन करता है।[2] सौन्दर्यबोध हमें प्रयोजन के संकुचित वातावरण से ऊपर उठाता है, यही संस्कृति के विकास का सत्य है। सौन्दर्यबोध का सबसे प्रधान साधन साहित्य है। सौन्दर्यबोध के सम्बन्ध में प्रसाद जी तथा अन्य छायावादी कवि एवं कवीन्द्र रवीन्द्र का यही दृष्टिकोण है।[3] महादेवी जी ने काव्य और कला के आविष्कार का प्रयोजन सत्य की सहज अभिव्यक्ति माना है।[4] इस

१. गंगा प्रसाद पाण्डेय, छायावाद और रहस्यवाद, पृष्ठ ७
२. इन्दु, कला प्रथम, किरण द्वितीय।
३. प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ ५
४. महादेवी : दीपशिखा : भूमिका पृष्ठ २।

सत्य में सौन्दर्य एवं शिवं का सामञ्जस्य है। पन्त जी ने भी सत्यं शिवं और सुन्दरम् के सामञ्जस्य को स्वीकार किया है। सत्यं शिवं में स्वयं नहित है।[१] जिस प्रकार फल में रूप रंग है, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा ही होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवं में सत्य द्वारा होती है। रवीन्द्र ने भी साहित्य में सौन्दर्य और मंगल का सामंजस्य माना है। इस प्रकार साहित्य मंगल की भी सृष्टि है। इस मंगल में उपयोगिता के अतिरिक्त एक निष्प्रयोजन आकर्षण भी रहता है। यह मंगल स्थूल नैतिकता या शील-विकास की रूढ़ धारणाओं से कहीं ऊपर की वस्तु है। यह आध्यात्मिक ऊँचाई को स्पर्श करने वाली भावना है। प्रसाद जी ने कविता को 'श्रेयमयी प्रेय ज्ञानधारा' कहकर सत्यं, शिवं और सुन्दरम के समन्वय पर ही जोर दिया है। साहित्य में इसी मंगल समन्वित सौन्दर्य के दर्शन करना और कराना सौष्ठववादी समीक्षक का कार्य है। सौष्ठववादी समीक्षक सौन्दर्य एवं मंगल की इस स्थूल व उपयोगितावाद से अतिक्रान्त अवस्था के दर्शन एवं विश्लेषण का इच्छुक है। वह भाव की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्थाओं की गरिमा का साक्षात्कार तथा उसकी तलस्पर्शी व्याख्या करना चाहता है। बाजपेयी जी ने सूर की समीक्षा में इसी आध्यात्मिकता के दर्शन का प्रयास किया है।

प्रयोजन सम्बन्धी उपर्युक्त धारणा से अनुप्राणित काव्य का मूल्याँकन न स्थूल रसवादी दृष्टि से संभव था और न नीतिवादी दृष्टि से। स्वच्छंद अनुभूति-प्रवाद तथा अभिव्यक्ति के स्वतंत्र सौन्दर्य का बोध ही अपेक्षित था इसीलिये इस नवीन समीक्षा-पद्धति को रस अलंकार आदि के स्थूल निर्देश करने तथा उसमें नैतिक संकेत ढूंढ़ने वाली शैली को छोड़कर जीवन के बदले हुये मान मूल्यों तथा ऊपर निर्दिष्ट की गई युग और कवि की नवीन काव्य सम्बन्धी धारणाओं के अनुरूप शैली को अपना कर चलना पड़ा। सौष्ठववादी समीक्षा का मूल आधार ही काव्य की लोकोत्तर भावमयता की अनुभूति है; इसी के सौष्ठव का साक्षात्कार है। काव्य की सम्पूर्ण विचार-धारायें, काव्य शैलियों वर्ण्य विषय तथा रचना के नियम अपने से ही निर्मित होने वाले इसी सौन्दर्य में परिणत हो जाते हैं। इसी सौन्दर्य का सम्यक् संवेदन ही सौष्ठववादी समीक्षक की दृष्टि से काव्यालोचन के प्राण हैं।[२] बाजपेयी जी की यही धारणा सौष्ठववादी समीक्षा का वास्तविक स्वरूप है। इस सौन्दर्य में, इस इस लोकोत्तर भावमयता में भारतीय रसात्मकता तथा पाश्चात्य संवेदनीयता का सुन्दर समन्वय हुआ है। कवि हृदय की जिस अनुभूति से उसका सम्पूर्ण काव्य प्राण-स्पन्दन का अनुभव करता है, उसी रसात्मक अनुभूति की तुलनात्मक अभिव्यक्ति काव्य का सौष्ठव है। यही कार्लाइल की दृष्टि से काव्य का गूढ़ार्थ (Deeper Import) अथवा काव्य की दिव्य ज्योति (Empezem Fire) है। इसमें सौन्दर्य एवं मंगल तथा अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का सुन्दर समन्वय रहता है। इसी से संपूर्ण काव्य ज्योतिष्मान रहता है। इसी दिव्य ज्योति का भावसंवेदनामय साक्षात्कार एवं उद्घाटन और विश्लेषण काव्य की सौष्ठववादी समीक्षा है।

---

१. पन्त : आधुनिक काव्य पृष्ठ ६

२. नन्ददुलारे बाजपेयी : आधुनिक साहित्य पृष्ठ ३०६

सौष्ठववादी समीक्षक सम्पूर्ण काव्य के वस्तु-सौन्दर्य पर विचार करता है। किस प्रकार सम्पूर्ण वस्तु एक विशेष असाधारण भावोत्तेजना की सृष्टि करती है? काव्य में कैसे मर्मपूर्ण जीवन का चित्रण है? कवि इनकी कितनी मार्मिक, मनोरम तथा प्रभावशाली व्यंजना कर पाया है? कवि का व्यक्तित्व तथा उसका सामाजिक परिवेष्ठन इनको इस प्रकार रूपायित करने में कैसे उत्तरदायी है? आदि अनेक प्रश्न इस समीक्षक के समक्ष होते हैं। सौष्ठववादी समीक्षक संश्लिष्ट विवेचन करता है। वह काव्य की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति, भावपक्ष और कलापक्ष को पृथक करके नहीं चलता है। वह तो काव्यानुभूति को अखण्ड रूप में ही देखता है। सांस्कृतिक मनोभावनाओं के स्वच्छंद अनुभूति प्रवाह तथा उनकी मनोरम अभिव्यक्ति के सौन्दर्य रूप की काव्यात्मक मनोवैज्ञानिक एवं प्रभाववादी समीक्षा ही उसका उद्देश्य है। इस कार्य में वह इतना तल्लीन हो जाता है कि वह शुक्ल समीक्षा पद्धति की तरह काव्य समीक्षा में भावपक्ष और कलापक्ष की पृथक-पृथक व्याख्या नहीं कर पाता है। इस तन्मयता में उसे रस या अलंकार-निर्देश की कुछ अधिक सुध नहीं रह जाती है। फिर भी यह मानना समीचीन नहीं है कि उसमें शुक्ल सम्प्रदाय के समीक्षक की अपेक्षा रस-विवेचन की या अलंकार निर्देश की क्षमता कम है। नगेन्द्र जी की देव-सम्बन्धी समीक्षा इस कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। अन्य कतिपय तत्वों की तरह सौष्ठववादी समीक्षक ने शुक्ल शैली के इस तत्त्व को भी अपना लिया है। पाश्चात्य प्रभाव तथा कवियों की नवीन मौलिक उद्भावनाओं के कारण नवीन काव्य धारा के भाव-नियोजन एवं अभिव्यंजना-पक्ष का स्वरूप तथा तत्व ही कुछ नूतन प्रकार के हैं। उनका वास्तविक सौन्दर्य उन पर रस या अलंकार की चिपकी लगा देने मात्र से कभी स्पष्ट नहीं होता। वह सौन्दर्य तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के पूर्ण समन्वय एवं सापेक्षिता संतुलन में है। साहित्य की बदली हुई परिस्थिति में सौष्ठववादी समीक्षक को भावों का काव्यात्मक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा अभिव्यंजनापक्ष में लाक्षणिकता प्रतीक विधान, मानवीकरण, भाषा की संगीतमयता आदि के सौन्दर्य का विवेचन करने के लिये बाध्य होना पड़ा। पर इनमें से प्रत्येक तत्व भावपक्ष या कलापक्ष के एकांगी सौन्दर्य का नहीं अपितु सापेक्ष तथा परस्पर स्पर्द्धि सौन्दर्य का ही बोधक है। शुक्ल-समीक्षा-पद्धति में रस के औचित्य की दृष्टि से अलंकार का विवेचन भावपक्ष और कलापक्ष के समन्वय का प्रयास मात्र था। पर सौष्ठववादी समीक्षा में इन दोनों के समन्वय और अखण्डता के सिद्धान्त मात्र को ही नहीं माना गया, अपितु व्यवहार में भी इसी का निर्वाह हुआ है। उसमें भाव और कला की अन्यून रमणीयता तथा परस्परस्पर्द्धि चारुत्व को देखने की चेष्टा है।

सौष्ठववादी समीक्षक का झुकाव प्रधानतः विशुद्ध काव्य (Pure Poetry) की दृष्टि से ही आलोचना करने की ओर ही रहा। नीति, दर्शन, संस्कृति आदि के स्थूल मापदण्ड बाह्य, आरोपित तथा काव्येतर हैं, यही उसकी मान्यता रही। उसने सौन्दर्य एवं मंगल को स्थूल मानदण्डों से न आँक कर उसकी काव्यात्मक व्याख्या ही की। पर प्रयोग में वह विशुद्ध काव्य की दृष्टि से आलोचना के उस आदर्श तक पूर्णतया पहुँच नहीं पाया। उसने काव्य का दार्शनिक आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया है। यह भी उसकी समीक्षा की प्रमुख विशेषताओं में से है। काव्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या तो उसकी समीक्षा

पद्धति का प्रधान तत्त्व ही है। काव्य को वह कवि का आत्माभिव्यंजन मानता है। कलाकार का व्यक्तित्व ही उसकी कलाकृति को रूपायित करने वाली मूल शक्ति है। काव्य के जीवन संबंधी दृष्टिकोण, वस्तुविन्यास, शैली आदि की व्याख्या कवि के व्यक्तित्व के आलोक में ही सम्भव है, इसीलिये सौष्ठववादी समीक्षकों ने कवि के व्यक्तित्व का विशद मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। व्यक्तित्व के स्वरूप-निर्माण तथा विकास की देशकाल से निरपेक्ष कल्पना संभव नहीं है, न किसी कलाकृति को देशकाल से विच्छिन्न करके उसका ठीक मूल्यांकन हो सकता है। यही कारण है कि युग के सांस्कृतिक एवं दार्शनिक आदर्शों तथा परिवर्तनशील परिस्थितियों के आलोक में भी कवि और उसकी कलाकृति का मूल्यांकन सौष्ठववादी समीक्षक को करना पड़ा है। इस प्रकार इस समीक्षा-पद्धति में काव्यात्मक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा मूल्यांकन के साथ ही ऐतिहासिक समीक्षा का भी पूरा-पूरा उपयोग हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण कुछ इस समीक्षा-पद्धति को सांस्कृतिक समीक्षा धारा भी कहना चाहते हैं। मनोवैज्ञानिक, काव्यात्मक, ऐतिहासिक तथा प्रभावात्मक ये चार इस समीक्षा पद्धति के प्रधान तत्त्व हैं। विभिन्न समीक्षकों में इसमें से किन्हीं एक या दो तत्त्वों की अन्यों की अपेक्षा प्रधानता मिलती है।

भारतेन्तु युग से हिन्दी में जो समीक्षात्मक चेतना जागी उसका एकमात्र उद्देश्य एक सार्वभौम मानदण्ड तथा पद्धति को ढूँढ़ना था। शुक्ल जी इस स्वप्न को कुछ साकार कर पाए। उन्होंने समीक्षा के मानदण्ड को शास्त्रीय आधार तथा समीक्षा शैली को एक वैज्ञानिक रूप दिया। पर, फिर भी उसमें एकदेशीयता ही रही। वह समीक्षा युग विशेष की एक प्रकार की काव्यधारा का मूल्यांकन ही कर पाई। उसमें शास्त्रीय चरित मूलक, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक शैलियों का उपयोग तो हुआ, पर वह प्रयोग बहुत स्थूल एवं आरोपित ही रहा। सौष्ठववादी समीक्षा भी उसको अधिक सूक्ष्म, चेतन, परम्पराओं से मुक्त नहीं कर पाई। हाँ, प्रयोग में उस स्तर तक भी अभी तक नहीं पहुँच सका, भारतेन्दु युग से जिस नवीन समीक्षात्मक चेतना का हिन्दी में सूत्रपात हुआ, जिसके तीन प्रमुख तत्त्व अत्यन्त स्पष्ट हैं। वह साहित्य की काव्यात्मक मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक परीक्षा है। इन तीनों के स्वस्थ एवं वैज्ञानिक रूप को हिन्दी की दृष्टि से चरम विकास पर सौष्ठववादी समीक्षा ने ही पहुँचा दिया है। सौष्ठववादी समीक्षा के बाद तो ये तत्त्व सम्प्रदायगत रूढ़िवादिता से आक्रान्त हो गए। इससे हिन्दी समीक्षा के विकास में गत्यावरोध आ गया है।

शुक्ल-पद्धति के समीक्षक का ध्यान कलाकार के व्यक्तित्व एवं देशकाल से प्रायः निरपेक्ष कलाकृति पर ही अधिक केन्द्रित रहता था, पर सौष्ठववादी समीक्षक ने कलाकृति की अपेक्षा कलाकार के व्यक्तित्व एवं उसके परिनिष्ठन का अधिक विवेचन किया है। इन दो तत्त्वों की सापेक्षता में ही उसने कलाकृति का विश्लेषण किया है। प्रत्येक कलाकार का व्यक्तित्व एक स्वतन्त्र इकाई है। प्रतिभा शास्त्रीय नियमों के बन्धन में अपनी सहज एवं सुन्दर अभिव्यक्ति नहीं कर पाती है। इसीलिए किसी सीमा तक स्वच्छन्दता का सिद्धान्त मानना पड़ता है। सौष्ठववादी समीक्षक का दृष्टिकोण स्वच्छन्दतावादी है। प्रत्येक कलाकार तथा कलाकृति को आंकने के लिए समीक्षक ने स्वतंत्र शास्त्रीय सिद्धान्त का आधार माना है। सूर उसी शास्त्रीय

सिद्धान्त से नहीं आंके जा सकते हैं, जिससे तुलसी का मूल्यांकन हो सकता। प्रत्येक कलाकृति में उसकी समीक्षा का मानदण्ड भी निहित रहता है। यह समीक्षक युग विशेष तथा कलाकार की काव्य सम्बन्धी धारणाओं एवं कलाकृति में निहित मापदण्ड के आधार पर ही उस कलाकृति का मूल्यांकन करता है। इस प्रकार सौष्ठववादी समीक्षक को शास्त्रीय आधार बाहर से आरोपित नहीं करना पड़ता, अपितु उसे कलाकृति में से ही प्राप्त हो जाता है। कवि पर काव्य रीति या काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का कोई प्रत्यक्ष नियंत्रण न मानते हुये भी यह समीक्षक काव्यालोचन का शास्त्रीय आधार मानता है। इन शास्त्रीय तत्वों का स्वरूप प्रत्येक कलाकृति के अनुरूप बदल अवश्य जाता है। इस प्रकार इसकी समीक्षा स्वच्छन्दता और शास्त्रीयता का सुन्दर सामन्जस्य है। यही कारण है कि सौष्ठववादी समीक्षक सामयिक साहित्य के समान ही प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में भी पूर्णतया सफल हुआ है। उसने इतिवृत्तात्मक काल के नीति कवियों, भक्तिकाल के भाव प्रवीण भक्त-कवियों तथा रीतिकाल के शृंगारी-कवियों को काव्यात्मकता के आधार पर परखने का प्रयास किया है। इन समीक्षकों में वैयक्तिक रुचि का कुछ अन्तर होते हुये भी सब ने दार्शनिक तथा नैतिक मान्यताओं पर गौण रूप से विचार करते हुये भावों की गरिमा एवं मर्मस्पर्शिता तथा अभिव्यंजना कौशल को सबसे अधिक महत्व दिया है। इस मूल्यांकन के लिये शास्त्रीय नियमों के मान तथा उस शैली के प्रयोग की क्षमता की अपेक्षा उच्च स्तर की सहृदयता एवं सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति अधिक आवश्यक है। नीति मूलक प्रबन्ध रचनाओं की अपेक्षा प्रेम-प्रगीतों में भाव-सौन्दर्य देखना सहृदय संवेद्य विशुद्ध काव्यात्मकता का ही दृष्टिकोण है। यही सौष्ठववादी दृष्टिकोण है। शुक्ल जी ने प्रबन्ध में रस की धारा के दर्शन किये, पर इन समीक्षकों के अनुसार विशुद्ध भाव-सौन्दर्य तथा रसात्मकता अपनी चरम सीमा पर प्रगति में ही पहुँचता है। भक्ति के नाम पर रचित शुष्क तथा प्रायः भाव-शून्य गीतों को भी इन्होंने पहचाना है। भक्ति की अनन्यता के प्रदर्शन के लिये जहाँ कवियों ने द्रौपदी, शबरी, सुदामा आदि की अत्युक्तिपूर्ण गलदश्रु भावुकता तथा अयथार्थ आख्यानों की कल्पना की थी, ऐसे स्थलों के मनोवैज्ञानिक निर्बलता तथा कोरी भावात्मकता पर आश्रित काव्यत्व को भी सौष्ठववादी ने परखा है। कोरी नीति के नाम पर रीतिकालीन शृंगारी गीतों का भावस्पर्शिता तथा अभिव्यंजना कौशल का भी इन्होंने अवमूल्यन नहीं किया। कहने का तात्पर्य यह है कि सौष्ठववादी समीक्षा काव्यात्मकता, मनोवैज्ञानिकता एवं ऐतिहासिकता के आधार पर यथासम्भव सार्वभौम समीक्षात्मक दृष्टिकोण तथा शैली की ओर अभिमुख रही है। भावों की अत्यधिक सूक्ष्मता तथा आध्यात्मिक गहराई तक पहुँचने की तीव्र आकुलता, छायावादी प्रभाव के कारण शैली अस्पष्टता जनित दुरूहता, साहित्य में बढ़ती हुई व्यक्तिवादी धारणा के साथ समीक्षा के प्रभाववादी दृष्टिकोण की आत्मपरकता से अगर सौष्ठववादी समीक्षा आक्रान्त न हो जाती तथा साथ ही हिन्दी-साहित्य की व्यक्तिवादी एवं समाजवादी विचार-धाराओं से अनुप्राणित समीक्षात्मक चेतना फ्रायड आदि के अन्तश्चेतना के व्यक्तिवादी और मार्क्स के समाजवादी यथार्थ के पच्छिमी मतवादों के दलदल में फँस जाती तो सौष्ठववादी समीक्षा को स्वस्थ तथा निर्मल वातावरण में विकसित होने के सुयोग प्राप्त हो जाता। इसके परिणाम स्वरूप सौष्ठववादी नैतिकता के आग्रह से मुक्त, शील-विकास, लोकमंगल, रस-

वादी दृष्टि को आत्मसातकर तथा शुक्ल शैली के तत्वों का परिष्कार करती हुई सौन्दर्य एवं मंगल, अनुभूति तथा अभिव्यंजना के समन्वय पर प्रतिष्ठित मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियों का समुचित उपयोग करने वाली स्वस्थ काव्यात्मकता समीक्षा-पद्धति का निर्माण कर पाते। निश्चय ही इस पद्धति में एक सार्वदेशिकता होती पर ऐसा होने से पूर्व ही हिन्दी-समीक्षा की प्रगति में गतिरोध आया और उसकी धारा बँटकर कई दिशाओं में बहने लगी।

ऊपर हमने सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति के स्वरूप, उपलब्धि और अभाव का विवेचन किया है। यहाँ हमें इसके प्रतिनिधि समीक्षकों पर विचार करना है। सौष्ठववादी समीक्षा के स्वरूप-संगठन का प्रधान श्रेय तो प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी जी को ही है। प्रसाद जी का दृष्टिकोण शुद्ध सौष्ठववादी है। महादेवी जी का ध्यान उस सौष्ठव के भावात्मक सौन्दर्य पर अधिक केन्द्रित रहा। पन्त और निराला के कवि-प्रतिभा की पूर्ण स्वच्छदता को मानकर ही अपने तथा दूसरों के काव्यों की समीक्षा की है। विद्यापति के काव्य सौष्ठव का मूल्यांकन करते हुये निराला जी का ध्यान कवि-प्रतिभा की स्वच्छंदता की ओर ही अधिक गया है। सौष्ठववाद के प्रायः सभी तत्व इन्हीं कवियों के चिन्तन से ही प्राप्त हुये हैं। इन कवियों के अतिरिक्त इस पद्धति का निर्माण करने वाले नंददुलारे बाजपेयी, रामकुमार वर्मा, नगेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामधारीसिंह दिनकर, जानकी वल्लभ शास्त्री, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, शान्तिप्रिय द्विवेदी, देवराज आदि हैं। इन सबका ही महत्वपूर्ण योगदान होने पर भी इनमें से सभी सौष्ठववादी समीक्षा के पूर्ण प्रतिनिधि अथवा न उसी तक सीमित कहे जा सकते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्वतन्त्र समीक्षा-पद्धति, नगेन्द्र जी की समीक्षा की शुक्ल सम्प्रदाय तथा मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से संबंध दिनकर आदि की दूसरी पद्धतियों को देन पर यथास्थान विचार किया जायेगा। यहाँ पर हमें सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति से सम्बद्ध समीक्षकों तथा अन्यों की इस पद्धति के देन पर ही संक्षेप में विचार करना है। इस दृष्टि से सबसे प्रमुख बाजपेयी जी हैं। वे इस पद्धति के अपेक्षाकृत अधिक सर्वाङ्गीण रूप के प्रतिनिधि समीक्षक हैं। 'हिन्दी साहित्य: बीसवीं सदी 'आधुनिक साहित्य', जयशंकरप्रसाद, तथा सूर पर की गई उनकी समीक्षा में इस पद्धति की सबसे अधिक प्रतिनिधि रचनायें है। इनमें बाजपेयी जी ने कवि के व्यक्तित्व, उनकी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के सौष्ठव का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यांकन किया है। कवि हृदय की अन्तः प्रेरणा किस प्रकार उसके वस्तु-शिल्प और भाव सौन्दर्य में परिणत हो गई है, इस पर बाजपेयी जी ने विचार किया है। बाजपेयी जी सूर के भाव-सौन्दर्य की आध्यात्मिक गहराई तक पहुँचे हैं। वे कृष्ण के श्लील एवं अश्लील की अतिक्रान्त अवस्था की आध्यात्मिक ऊँचाई का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक मूल्यांकन कर पाये हैं। बाजपेयी जी में रस संवेदन का परिपक्व क्षमता है। साहित्य समीक्षक का यह सबसे प्रथम एवं सबसे महत्वपूर्ण गुण है। बाजपेयी जी ने ही शुक्ल जी के प्रबन्धकाव्यवाद तथा मर्यादावाद के कठोर नियंत्रण से हिन्दी समीक्षा को मुक्ति दिलाई है। विशुद्ध काव्य की धारणा के वे प्रथम शक्तिशाली समीक्षक हैं। बाजपेयी जी विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही काव्य को परखना चाहते हैं, इसीलिये वे अपनी समीक्षा को साहित्यिक आलोचना कहना अधिक समीचीन समझते हैं। बाजपेयी जी में शुक्ल-पद्धति एवं स्वच्छंदतावाद का समन्वय मिलता है। उन्होंने रसवादी

दृष्टिकोण का भी उपयोग किया है। पर उन्होंने उसके मनोवैज्ञानिक एवं अनुभूति पक्ष का ही प्रधानतः विश्लेषण किया है, शास्त्रीय शब्दावली के नाम-निर्देश मात्र तक सीमित नहीं रहे हैं। उन्होंने रस का पाश्चात्य संवेदना के सिद्धान्त से समन्वय स्थापित करके उस समीक्षा के सार्वभौम मान की क्षमता के दर्शन किया है। वाजपेयी जी ने सौन्दर्य एवं मंगल के समन्वय के सिद्धान्त को माना है तथा उसी को परखने की चेष्टा की है। आगे चल कर उनमें नवीन समन्वय की आकांक्षा के भी दर्शन होते हैं। जैसे द्विवेदी जी एक नवीन मानवतावादी समीक्षा सम्प्रदाय के शिलान्यास करने वाले कहे जा सकते हैं, वैसे ही वाजपेयी जी की नवीन समन्वय-वादी भावना भी नवीन सम्प्रदाय का श्रीगणेश-भागी बन सकती है। सौष्ठववादी समीक्षा के विकास का यह नया अध्याय होगा। इस समन्वयवादी प्रवृत्ति का आगे हम विशद विवेचन करेंगे। नगेन्द्र जी में काव्यानुभूति की सूक्ष्म संवेदनाओं के सौष्ठव के साक्षात्कार एवं विश्लेषण की गहरी क्षमता है। उन्होंने इस क्षमता से छायावादी काव्य धारा का मूल्यांकन किया है, इसलिये उन्हें मूलतः सौष्ठववादी समीक्षक मानना ही अधिक ठीक है। द्विवेदी जी प्रधानतः सांस्कृतिक समीक्षक हैं, पर भाव संवेदना के सूक्ष्मतम तथा मर्मस्पर्श रूप के साक्षात्कार तथा मूल्यांकन की क्षमता उनमें किसी से कम नहीं। सूर की समीक्षा इस बात का प्रमाण है। द्विवेदीजी शास्त्रीय नियमों के कठोर नियंत्रण के नहीं अपितु कवि, प्रतिभा के समर्थक हैं। इस प्रकार द्विवेदी जी की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं का सौष्ठववाद समीक्षा से भी गहरा सम्बन्ध है। द्विवेदी जी की मानवतावादी ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति पर हमने इस निबन्ध में आगे विचार किया है।

समीक्षा की कतिपय शैलियाँ

सौष्ठववादी युग तक के विकास के फलस्वरूप हिन्दी समीक्षा के कुछ तत्त्व पुष्ट होकर समीक्षा-शैलियों के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। इनमें से प्रधान हैं, ऐतिहासिक, चरितमूलक, प्रभाववादी, सौन्दर्यान्वेषी, अभिव्यंजनावादी। ये अपने प्रकृत रूप से शैलियाँ ही हैं, सम्प्रदाय नहीं। सम्प्रदाय सर्वाङ्गीण साहित्य-दर्शन पर अधिष्ठित होता है पर शैली किसी एक समीक्षा तत्त्व की दृष्टि से मूल्याकन का प्रकार मात्र होती है। विशेष साहित्य दर्शनों का प्रश्रय प्राप्त करके शैलियाँ सम्प्रदाय भी बन जाती हैं। हिन्दी में ऐतिहासिक शैली ही मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन का आश्रय प्राप्त करके मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति के रूप में स्वतन्त्र सम्प्रदाय बन गई है। कवि जीवन और काव्य के घनिष्ठ सम्बन्ध के सिद्धान्त का एक विशेष रूप ही मनोविश्लेषण वादी समीक्षा सम्प्रदाय में सघन हुआ है। शैली और सम्प्रदायों का बहुत गहरा सम्बन्ध रहता है पर शैलियों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता रहती है। सौष्ठववादी तथा अन्य सम्प्रदायों के समीक्षकों ने ऐतिहासिक प्रभाववादी, अभिव्यंजनावादी, सौन्दर्यान्वेषी आदि शैलियों का यथास्थान प्रचुर प्रयोग किया है। पर हिन्दी में इनके कुछ विशुद्ध उदाहरण भी मिलते हैं। ऐतिहासिक शैली मार्क्सवाद के अतिरिक्त एक और स्वतन्त्र सम्प्रदाय का आधार बन गई है। आगे हम उसके शैली और सम्प्रदायगत दोनों रूपों पर विचार करेंगे। भगवतशरण उपाध्याय की 'नूरजहाँ' की समीक्षा तथा भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' का 'सन्त-साहित्य' प्रभाववादी समीक्षा के अच्छे उदाहरण हैं। उपाध्याय जी की समीक्षा तो इस शैली में अपेक्षाकृत अधिक

प्रौढ़ प्रयास है। इसे हम इस शैली का शिलान्यास करने वाला कह सकते हैं। इलाचन्द्र जोशी की मेघदूत की व्याख्या में प्रधानतः सौन्दर्यान्वेषी दृष्टिकोण है। उसमें वे मेघदूत के काव्य-सौन्दर्य पर मुग्ध भी हुये हैं तथा उन्होंने उस प्रभाव का विश्लेषण भी किया है। गंगाप्रसाद पाण्डेय का महाप्राण निराला चरितमूलक समीक्षा का प्रौढ़ उदाहरण है। अभिव्यंजनावाद का विशुद्ध पाश्चात्य रूप का कोई उदाहरण हिन्दी में नहीं है। पर स्वच्छन्दतावादी समीक्षक छायावादी काव्य को प्रधानतः अभिव्यंजना मानकर ही चला है और उसकी व्याख्या भी उसने इसी दृष्टि से की है। इस प्रकार वाजपेयी जी आदि की समीक्षा में इस शैली के दर्शन भी हो जाते हैं।

मानवतावादी समाज शास्त्रीय समीक्षा

युग की परिस्थितियों में रखकर साहित्य और साहित्यकार के स्वरूप का स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन ऐतिहासिक समीक्षा है। ये आधुनिक समीक्षा के प्रमुख तत्त्वों में से हैं। भारतेन्दु, द्विवेदी, शुक्ल सौष्ठववादी तथा उसमें बाद के सभी युगों के समीक्षकों ने ऐतिहासिक शैली का उपयोग किया है। हिन्दी समीक्षा का यह मान्य तत्त्व बन गई है और आज यह शैली हिन्दी में विकासोन्मुख भी है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी में इसका सबसे सम्यक्, पुष्ट एवं प्रौढ़ रूप मिलता है। द्विवेदी जी की समीक्षा में ऐतिहासिक शैली अपना स्वतंत्र एवं पृथक् अस्तित्व तथा महत्त्व बनाये हुये हैं। दूसरे समीक्षकों में यह उनके सम्प्रदायों की उपकारक शैली मात्र है, पर द्विवेदी जी में उसकी साहित्य-सम्बन्धी धारणाओं के आश्रय से भी शैली एक नवीन स्वतन्त्र सम्प्रदाय बन गई है। एक तरफ यह शैली मार्क्सवादी समीक्षा पर परिणित हुई तो दूसरी तरफ इसने द्विवेदी जी में मानववादी साहित्य-दर्शन का आधार पाकर समाज शास्त्रीय एवं सांस्कृतिक समीक्षा का रूप धारण कर लिया है। इसलिये इसे द्विवेदी जी की ऐतिहासिक समीक्षाओं को शैली मात्र न कहकर सम्प्रदाय कहना ही ठीक है। द्विवेदी की मान्यता है कि साहित्य जीवनधारा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। धारा के विभिन्न भाग ही युग हैं। जीवन की यह धारा चिर-गतिशील और चेतन है। साहित्य को तत्युगीन जीवन की सम्पूर्ण सांस्कृतिक गतिविधि के परिवेष्ठन में रखकर उसको गतिशील, चेतन परिवृत्ति का सहज परिणाम एवं जीवन को गति प्रदान करने की प्रमुख शक्ति मानकर ही उसका ठीक मूल्यांकन सम्भव है। जीवन और साहित्य की कोई प्रवृत्ति न अचानक जन्म लेती है और न समान्य होती है। वह अपने पूर्ववर्ती युग का सहज परिणाम है और परवर्ती युग की प्रवृत्ति को रूपायित करती हुई उसी में विलीन हो जाती है। इस प्रकार साहित्य और जीवन की अविच्छिन्न धाराएँ हैं, साहित्य और युग के इसी अन्योन्याश्रित तथा सापेक्ष रूप का अनुशीलन एवं मूल्यांकन ही द्विवेदी जी की दृष्टि से ऐतिहासिक समीक्षा है। उनके लिये इतिहास और साहित्य दोनों ही चेतन शक्तियाँ हैं; वे एक दूसरे से प्रभावित होती रहती हैं। इसी दृष्टि से द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका कबीर जैसी प्रतिभाओं तथा विभिन्न काव्य-धाराओं का अध्ययन किया है। उन्होंने साहित्य को अविरल स्रोत के रूप में शेष वाङमय से सम्बद्ध करके देखा है। द्विवेदी जी की साहित्य और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध की विचार करने की पद्धति समाजशास्त्रीय है।

द्विवेदी जी की जीवन दृष्टि प्रकृतवादी नहीं, मानवतावादी है। 'जो जैसा है उसे वैसा ही मान लेना, मनुष्य-पूर्व जीवों का लक्षण था, पर जो जैसा है वैसा नहीं बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न, मनुष्य की अपनी विशेषता है—लोभ सहजात मनोवृत्ति है, वह पशु और मनुष्य में समान है पर औदार्य पर दुःख संवेदन उसमें नहीं होते वे मनुष्य की अपनी विशेषता हैं। सारे प्रतीयमान विरोधों का सामञ्जस्य एक ही बात में होगा मनुष्य का हित, हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य एक मात्र वही मनुष्य है। उसको वर्तमान दुर्गति से बचाकर मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है। यही सत्य है यही धर्म है।''[1] उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी कला कला के लिये नहीं अपितु कला को मानव कल्याण का साधन मानते हैं। उनका यह दृष्टिकोण मानवतावादी है पर वह आदर्श की कल्पना पर नहीं, यथार्थ पर अधिष्ठित हैं। द्विवेदी जी का मानव कल्याण का दृष्टिकोण न विशुद्ध भौतिकवादी है न निरा आध्यात्मिक और परलोकवादी। वह वास्तव में सांस्कृतिक है। मानव भौतिक आवश्यकताओं की उपेक्षा तो नहीं कर सकता पर औदार्य, प्रेम आदि हृदय की उद्दात्त वृत्तियों में ही मानव का वास्तविक स्वरूप निहित है। हृदय और बुद्धि की इस विशालता को प्राप्त करना ही साहित्य का प्रयोजन है। शुक्ल जी का शील-विकास के सिद्धान्त में रागात्मकता पर जोर था पर द्विवेदी जी ने मानव की सम्पूर्ण सांस्कृतिक निष्ठा पर जोर दिया है। शुक्ल जी का ध्यान व्यक्ति पर केन्द्रित था पर द्विवेदी जी का समष्टि पर। शुक्ल जी की तरह द्विवेदी जी साहित्य दर्शन के मौलिक चिन्तक हैं। उनके चिन्तन का आधार भी भारतीय ही है। उनमें पाश्चात्य तत्त्वों के संग्रह-त्याग का नीरक्षीर विवेक तथा भारतीय तत्त्वों के आधार पर उनके समन्वय की क्षमता है। द्विवेदी जी संस्कृति की अखण्डता में विश्वास रखते हैं।

द्विवेदी जी का समीक्षात्मक साहित्य प्रधानतः उनकी इतिहास सम्बन्धी रचनाओं तथा साहित्यिक लेखों के रूप में है। अपने निबन्धों और भाषणों में उन्होंने अपना मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। पर प्रयोगात्मक समीक्षा के क्षेत्र में उनका महत्त्व हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनः निर्माण में ही है। हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य का आदिकाल मध्ययुगीन धर्म साधना, कबीर और नाथ सम्प्रदाय के द्वारा द्विवेदी जी ने हिन्दी क्षेत्र के जीवन समाज और साहित्य की विकास कथा ही कही है, उन्होंने उस प्राणधारा को देखने का प्रयत्न किया है जो अनेक परिस्थितियों में से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशित कर रही है। द्विवेदी जी की व्यावहारिक समीक्षा वस्तुतः ऐतिहासिक ही अधिक कही जा सकती है। वे विज्ञान और साहित्य का मौलिक भेद मानकर नहीं चलते। ये दोनों विशाल वाङ्मय के अंग हैं और द्विवेदी जी इसी वाङ्मय के समीक्षक हैं। वे साहित्य को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से परखते हैं। पुरातत्त्व, नृतत्त्व, समाज शास्त्र, धर्मशास्त्र आदि के सिद्धान्तों के आलोक में साहित्य के स्वरूप को समझने और मूल्यांकन करने की द्विवेदी जी ने चेष्टा की है। कबीर आदि कवियों तथा काव्य की मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का परवर्ती काल के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा इस तत्व को प्रेगमेटिक दृष्टि से देखा है। मानवतावादी साहित्य दर्शन की कुछ अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट रूपरेखा देखकर बिभिन्न निश्चित मानब

१. साहित्य का मर्म—पृष्ठ ४

मूल्यों के आधार पर साहित्य का विशद अध्ययन एवं मूल्यांकन द्विवेदी जी अधिक नहीं कर पाये। फिर भी, उनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण एक नवीन सम्प्रदाय की आधारशिला है। इस समीक्षा को ऐतिहासिक मात्र कह देने से उसके वास्तविक तथा पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाता। द्विवेदी जी का सौष्ठवादी पद्धति में पूर्ण अन्तर्भाव भी सम्भव नहीं। द्विवेदी जी उस पद्धति के सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक पक्ष का मानवतावादी साहित्य-दर्शन के आधार पर एक नवीन सम्प्रदाय के रूप में विकास किया है। पीताम्बर दत्त बड़थ्थ्वाल के प्रयासों में इसका पूर्वाभास मिल गया है पर स्पष्टता तो इसे द्विवेदी जी ने ही प्रदान की। रामधारी सिंह दिनकर के 'इतिहास के आलोक में' वाले निबन्ध में इसी समीक्षा के दर्शन होते हैं। परशुराम चतुर्वेदी की 'उत्तर भारत की सन्त परम्परा', 'कबीर साहित्य की परख' आदि रचनाएँ साहित्य का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक मूल्यांकन ही हैं। चतुर्वेदी जी ने रचनाओं के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का बहुत मूल्यांकन किया है। इसलिये उनकी समीक्षा में प्रेगमेटिक तत्व अधिक प्रखर और स्पष्ट हैं। पर मानवतावादी समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति ने सम्प्रदाय कहलाने के योग्य स्वरूप तो द्विवेदी जी के चिन्तन और प्रयोग से ही प्राप्त किया है।

छायावादोत्तर समीक्षा

आधुनिक हिन्दी साहित्य और समीक्षा के मूल में दो प्रधान प्रवृत्तियों का अन्तर्विरोध प्रारम्भ से ही रहा है। इनमें पहली है, व्यक्ति-सत्य और दूसरी है, समाज-सत्य। साहित्य और समीक्षा दोनों ही को स्वरूप प्रदान करने में इन विचारधाराओं का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। शुक्ल जी तक की समीक्षा में तो इनमें प्रायः समन्वय ही था। लोक मंगल की भावना प्रकारान्तर से समाज मंगल ही की भावना है। शुक्ल जी के शील विकास एवं रागात्मक प्रसार का आधार व्यक्ति है, पर उसके औचित्य की कसौटी लोक मंगल है। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण ऊपर से व्यक्तिवादी दीखते हुये भी मूलतः समाज मंगल पर अधिष्ठित है। वस्तुतः व्यक्ति और समाज का यह अन्तर्विरोध उस समय स्पष्ट भी नहीं था। व्यक्ति और समाज की पृथकता की चेतना उस समय तक पूर्णतया जागी नहीं थी। साहित्य समाज के मंगल के लिये है अथवा व्यक्ति के मंगल के लिये है, साहित्य व्यक्ति का प्रयास है या समाज का—ऐसे प्रश्न उत्कृष्ट रूप में उस समय के चिन्तक के समक्ष नहीं थे। समाज की सापेक्षिता में ही व्यक्ति के शील का विकास उस काल के साहित्य का प्रयोजन माना जाता था। पर छायावाद के आगमन के साथ यह समस्या अधिक स्पष्ट रूप में सामने आने लगी। छायावादी काव्य एवं उसकी काव्य दृष्टि का झुकाव निश्चय ही व्यक्ति की ओर था। काव्य व्यक्तिप्रधान रहा और समीक्षा प्रधानतः कलाकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण। पर इस युग में भी व्यक्ति और समाज का यह अन्तर्विरोध बहुत उत्कृष्ट नहीं हुआ। इसमें भी कुछ समन्वय की चेतना बनी रही। सौष्ठववादी समीक्षक ने समन्वय के निर्वाह का पर्याप्त प्रयत्न किया है। उसने कलाकार के व्यक्तित्व की समाज निरपेक्ष कल्पना नहीं की। पर इस समन्वय का आधार व्यक्ति ही अधिक रहा। छायावादी काव्य और समीक्षा के मूल में व्यक्तिवादी दृष्टि की अपेक्षा आदर्शवादी दृष्टि का नियंत्रण रहा, व्यक्ति और समाज की इस भावना में थोड़ा बहुत समन्वय बना ही रहा। पर बढ़ती हुई यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति छायावाद के ह्रास तथा सौष्ठववादी समीक्षा के गतिरोध का कारण हुई। इसको रोकने

में समर्थ कोई समन्वयवादी दृष्टि सौष्ठववादियों के पास थी ही नहीं। वास्तव में तो यह अन्तर्विरोध उस विचारधारा के आभ्यान्तर में ही आ गया था। मार्क्स और फ्रायड के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त वातावरण में भी अगर सौष्ठववादी समीक्षा को विकास का अवसर प्राप्त होता तब भी व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व को लेकर समीक्षा दो रूपों में बँट ही जाती। द्विवेदी जी की समाजशास्त्रीय पद्धति तथा वाजपेयी जी और नगेन्द्र जी का व्यक्तिवाद की ओर झुकाव इस बात के प्रमाण हैं। पर भारतीय दृष्टि से यह विकास अधिक स्वस्थ होता। पश्चिम के यथार्थवादी सिद्धान्तों के गहरे प्रभाव ने इस दिशा में विकास नहीं होने दिया। यह यथार्थवादी दृष्टि दो भिन्न स्रोतों से आई थी पर पहले इनके द्वारा किये गये विरोध का स्वर समवेत ही रहा। बाद में यह व्यक्ति और समाज के सहारे से दो स्पष्ट धाराओं में बँट गया। अब पाश्चात्य प्रभाव का भारतीयकरण करने की प्रवृत्ति भी कुछ मन्द पड़ गई। छायावादोत्तर-काल में इस प्रभाव को अविकल रूप में ही ग्रहण करने की प्रवृत्ति जागी। मनोविश्लेषण शास्त्र तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रभाव से हिन्दी में क्रमशः व्यक्तिवादी एवं समष्टिवादी साहित्य-दर्शन का विकास हुआ। इससे हिन्दी में मनोविश्लेषणात्मक एवं प्रगतिवादी समीक्षा पद्धत्तियों का जन्म हुआ। आज सर्जन और भावन दोनों ही क्षेत्रों पर इन साहित्य दर्शनों का गहरा नियन्त्रण है। इनका स्वतंत्र तथा पारस्परिक घात-प्रतिघात से विकास हो रहा है।

मार्क्सवादी समीक्षा

जब छायावादी काव्यधारा एकान्त व्यक्तिवादी निराशापूर्ण एवं विषादमयी रागनियों में परिणत होने लगी, कवि में सामाजिक अनुत्तरदायिता की लहर दौड़ने लगी, समीक्षक भी इन गीतों के प्रभाव का सही मूल्याँकन न करके इनकी स्तुति की ओर ही अधिक झुक गया, तो 'साहित्य किस लिये के प्रश्न' तथा 'साहित्य जनता के लिये के उत्तर' से एक स्वस्थ प्रतिक्रिया का जन्मना स्वाभाविक ही था। इस प्रतिक्रिया का स्वागत ही हुआ। शीघ्र ही, साहित्य जनता के लिये की विशद व्याख्या में, साहित्य पूँजीवादी सभ्यता के उन्मूलन के लिये; साहित्य समाजवादी प्रतिष्ठिा के लिये कहा जाने लगा। यहाँ तक तो यह प्रतिक्रिया में स्वस्थ एवं भारतीय ही रही। भारतीय संस्कृति न पूँजीवादी शोषक नीति की समर्थक है और न समाजवादी मनोवृत्ति की विरोधी। प्रारम्भ में प्रगतिशीलता की इस विचारधारा को रवीन्द्र और प्रेमचन्द जैसे व्यक्तियों का समर्थन भी प्राप्त हुआ। पर जल्दी ही, इसने मार्क्सवादी जीवन दर्शन को अविकल रूप में अपनाकर साम्प्रदायिक कट्टरता को ग्रहण कर लिया। आज हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा को समझने के लिये मार्क्सवादी जीवन दर्शन का सम्यक् परिचय अपरिहार्य है।

मार्क्स का जीवन दर्शन भौतिकवादी है। वह जीवन और साहित्य को द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद एवं समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्तों के आधार पर परखता है। मार्क्स समाज के ऐतिहासिक विकास एवं व्यक्तियों के पारस्परिक तथा समाज से सम्बन्ध को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर समझना चाहता है, ऐतिहासिक भौतिकवाद का यही उद्देश्य भी है। मार्क्स के अनुसार कला और साहित्य का उद्भव व्यष्टि-चेतना से नहीं अपितु समष्टि-चेतना से होता है। उसकी दृष्टि से साहित्य और कला का स्वरूप वर्ग चेतना नियन्त्रित करती है। कलाकार का व्यक्तित्व, उसकी परिस्थितियों तथा वर्ग-चेतना के द्वारा ही नियन्त्रित एवं रूपायित

होता है। साहित्यकार अपने युग का उपभोक्ता मात्र नहीं अपितु उसका निर्माता भी है। वह जीवन के निर्माण की अप्रतिहत शक्ति है। जीवन की प्रत्येक यथार्थवादी परिस्थिति के अन्त-स्तल में जीवन के विकास को शक्ति अन्तार्हित है। और सच्चे कलाकार का कार्य उस शक्ति को पहचान कर साहित्य द्वारा उसी का आवाहन करता है। यही कलाकार की प्रगतिशीलता है। मार्क्सवादी साहित्य दर्शन की इन मान्यताओं से साहित्य को समाज मंगल के लिये मानने वाले किसी भी आचार्य का विरोध नहीं हो सकता है। हाँ, हिन्दी में प्रगतिशीलता की इस धारणा को भी सुदृढ़ बनाने का सबसे अधिक श्रेय भी मार्क्सवादी दर्शन को अवश्य है। पर साम्प्रदायिक मार्क्सवादी इस सर्वमान्य प्रगति के स्वरूप मात्र से संतुष्ट नहीं। वह प्रगतिशील को कुछ विशेष अर्थों में ग्रहण करता है। वह मानता है कि उत्पादन के बदलते हुये साधनों तथा बदलती हुई परिस्थितियों की प्रेरक शक्ति के कारण मानव अर्थ व्यवस्था और समान-पद्धति के विशेष निश्चित प्रकारों में से विकास कर रहा है। वह प्रारंभिक साम्यवाद-सामन्त-वाद, पूँजीवाद से होता हुआ समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। आज पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था इतनी रूढ़ एवं प्रतिक्रियावादी हो गई है कि मानव का कल्याण इस अर्थ व्यवस्था को मिटाकर समाजवादी अर्थ व्यवस्था की स्थापना में ही है। अतः मार्क्सवाद के अनुसार आज का वही साहित्य प्रगतिशील है जो पूँजीवादी तत्त्वों के नाश तथा समाजवादी तत्त्वों के निर्माण का समर्थक है। समाजवादी यथार्थवाद की मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार सामन्तशाही के ह्रास-काल में पूँजीवादी व्यवस्था की तथा पूँजीवाद के शोषक एवं ह्रासशील तत्त्व के प्रतीक बन जाने के बाद समाजवाद की प्रेरणा देने वाला साहित्य ही वास्तव में प्रगतिशील साहित्य है। ऐसे प्रगतिशील एवं सच्चे साहित्य का सर्जन आज सर्वहारा वर्ग द्वारा ही सम्भव है। वर्ग-चेतना के प्रभाव के कारण दूसरे वर्ग के कवि जीवन को सच्ची प्रेरणा नहीं दे पाता है। मार्क्सवादी दर्शन 'अर्थ' को अत्यधिक महत्त्व देता है। अर्थ ही वर्ग-विभाजन का आधार है। कला, साहित्य, दर्शन, नीति, संस्कृति सभी कुछ अर्थ के द्वारा ही नियंत्रित और रूपायित होते हैं। पर मार्क्स शब्द 'अर्थ' से सम्पूर्ण भौतिक परिस्थितियों का ग्रहण करता है। ये भौतिक परिस्थितियाँ विचार जगत् का प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष पद्धति से निर्माण करती हैं। साहित्य और कला का अन्तर्भाव विचार जगत में ही है। मार्क्सवादी साहित्यक दृष्टिकोण किसी देश विशेष या युग विशेष पर लागू होने वाली कोई विचार धारा मात्र नहीं है, अपितु यह एक स्वतन्त्र साहित्य दर्शन है जिसका आध्यात्मिक आदर्शवादी तथा वैयक्तिक साहित्य-दर्शनों से विरोध है तथा जो भौतिकवादी यथार्थवाद पर टिका हुआ है। इसके आधार पर सभी युगों और देशों के साहित्य का मूल्यांकन सम्भव है। हिन्दी के प्रगतिवादियों ने भी मार्क्सवाद को स्वतन्त्र तथा अपने आप में पूर्ण साहित्य दर्शन के रूप में ही देखा है। मार्क्सवाद साहित्य के किसी शाश्वत् एवं युग निरपेक्ष मान मूल्य के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। प्रत्येक कलाकृति अपनी परिस्थितियों में ही प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी है। मार्कसवादी साहित्य की सिद्धान्ततः ऐतिहासिक व्याख्या करता है। वह साहित्य और कला को बौद्धिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से परखता है। इससे वह साहित्य और विज्ञान के व्यावर्तक तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाया है। यही कारण है उसकी व्याख्या मूलतः साहित्येतर है, संगीत की तरह काव्य तथा अन्य कलाओं

में जो विशुद्ध आनन्द तत्त्व है उसको परखने का कोई मूल्य उसके पास नहीं है। मार्क्सवाद की अपनी सीमाएँ हैं।, वाल्मीकि आदि महाकवि देश काल और वर्ग चेतना की सीमाओं से ऊपर उठकर आज भी सहृदय को आन्दोलित करते हैं। आज भी उनसे मानव मूल्यों की चेतना प्राप्त होती है। वर्गवाद से ऊपर उठी हुई एक मानवता की कल्पना भी तो की जा सकती है। उसकी अभिव्यक्ति तो मानव हृदय को हमेशा ही आनन्द और प्रेरणा देती रहेगी। वर्गों के स्वार्थ भी इसी मानवता के साथ समन्वय स्थापित करने पर ही उचित एवं प्रगति के सूचक कहे जा सकते हैं। अभी हिन्दी के मार्क्सवाद के पास इस वर्ग विवाद से ऊपर उठी हुई उदार मानवता के मूल्यांकन की कोई दृष्टि नहीं है।

हिन्दी के प्रगतिवादियों के उपजीव्य मार्क्स, लेनिन आदि ने प्रत्येक देश की कला संस्कृति और साहित्य को वहाँ की भौतिक परिस्थितियों के अनुकूल परखने का आदेश दिया है। मानव विकास की जिन विभिन्न अवस्थाओं को उन्होंने माना है, वे केवल योरोप की भौतिक परिस्थिति के अनुरूप ही हैं। उनके सिद्धान्तों के आधार पर प्रत्येक देश के सामाजिक इतिहास की स्वतन्त्र व्याख्या होनी चाहिये। पर यहाँ का प्रगतिवादी उन्हीं अवस्थाओं को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेता है। भारतीय संस्कृति के अनुरूप उन सिद्धान्तों के प्रयोग की क्षमता उसमें नहीं है। इसमें मौलिक चिन्तन का अभाव है। इसलिये वह अनुकरण की सजगता से संकुचित एवं रूढ़ दृष्टिकोण का ही परिचय दे पाया है। यही कारण है कि मानवतावादी या जनवादी सिद्धान्तों के नाम पर वे हिन्दी के कवियों और काव्यधाराओं के सम्बन्ध में कई एक अतिवादी निर्णय दे गये हैं। कबीर को तुलसी की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील मानना, तुलसी के मानवतावादी दृष्टिकोण की अपेक्षा सूर के मानवतावाद को कहीं अधिक उत्कृष्ट स्वस्थ एवं प्रगतिशील मानना ऐसे ही कुछ निर्णय हैं। इन निर्णयों का वास्तविक कारण भारतीय संस्कृति का मूलभूत प्रकृति से अपरिचय है। तुलसी से कतिपय प्रगतिवादियों को इसलिये चिढ़ हो गई है कि तुलसी वर्णाश्रम धर्म मानने वाले हैं। वर्णाश्रम धर्म को ब्राह्मण धर्म कहकर वे लोग प्रतिक्रियावादी एवं शोषक तत्त्व कहते हैं। वे वर्णाश्रम धर्म में निहित समाज मंगल एवं व्यक्ति मंगल को पूर्णतया परख नहीं पाये। वे उसके जीवन तत्त्व तथा प्रगतिशीलता को भी आंकने में असमर्थ रहे, सगुण भक्ति के सांस्कृतिक महत्त्व तथा प्रगतिशीलता का भी ठीक मूल्यांकन भी उनसे नहीं हो सका। अपवाद स्वरूप में रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र आदि ने तुलसी में प्रगतिशीलता के भी दर्शन किये हैं। प्रगतिवादी समीक्षक आधुनिक हिन्दी साहित्य में बढ़ती हुई व्यक्तिवादी और प्रयोगवादी मनोवृत्ति पर कुछ रोक अवश्य लगा पाये हैं। प्रयोगवादी कविताओं में प्रतिक्रियावादी भावना के मरण तत्त्व के दर्शन करके बढ़ती हुई भोगवादिता तथा उच्छृंखलता को भी रोकने में भी कुछ सफल प्रयास हुये हैं। आज हिन्दी में भी पाश्चात्य अनुकरण के कारण नग्नता और अश्लीलता की एक बाढ़ सी आ रही है। 'कला कला के लिये' वाली मनोवृत्ति बढ़ती जा रही है। इसकी रोकथाम करने में भी हिन्दी का मार्क्सवादी समीक्षक कुछ सचेष्ट है। वैसे तो कहीं-कहीं प्रगतिवादी कलाकार भी नग्नता का सहारा लेता है और यथार्थवाद के नाम पर उसके औचित्य का भी समर्थन करता है। पर मार्क्सवादी समीक्षा ने समाज मंगल की भावना की ओर हिन्दी जगत का ध्यान अधिक आकृष्ट कर दिया है। समीक्षा में व्यक्ति-

निष्ठता, भाववादिता एवं रूपवादिता, के स्थान पर वैज्ञानिकता जन कल्याणवादिता, ऐतिहासिकता तथा वस्तुनिष्ठता का जोर रहा है। इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा की अपनी कुछ सैद्धान्तिक तथा समीक्षकों की अपनी कुछ वैयक्तिक सीमाएँ होते हुये भी इस समीक्षा की उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

शिवदान सिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द गुप्त, नामवर सिंह, चन्द्रबली सिंह आदि हिन्दी के प्रधान मार्क्सवादी समीक्षक हैं; ये सभी मार्क्सवादी जीवन दर्शन में विश्वास करने वाले लोग हैं। इसलिये साहित्य दर्शन के सिद्धान्त पक्ष की दृष्टि से इन सबमें प्रायः ऐकमत्य है। मार्क्सवादी साहित्य दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की व्याख्या में कुछ व्यक्तिगत भेद अवश्य हैं। इसका कारण इनके स्वयं के व्यक्तिगत एवं जातिगत संस्कार तथा व्यक्तित्व का निर्णायिक परिवेष्ठन है। पर इनकी व्यावहारिक समीक्षाएँ एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। भेद का कारण एक तो यह है कि इन लोगों ने मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन के भिन्न-भिन्न पक्षों को लेकर व्याख्या की है। दूसरे शैली और निर्णयों का भी अन्तर है। निर्णयों के अन्तर के कारण तो ये एक दूसरे को कुत्सित समाजशास्त्री कहकर उनके निर्णयों की भर्त्सना भी करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हिन्दी मार्क्सवादी ऐसी किसी सर्वसम्मत समीक्षा-पद्धति का विकास नहीं कर पाया है, जिसको इस साहित्य-दर्शन के आधार पर होने वाला समीक्षा का प्रतिनिधि रूप कह सके। अभी पारस्परिक मतों के संघर्ष की ही अवस्था है। पर इधर शिवदान सिंह आदि के निबन्धों में समन्वय और ठोसभूमि पर पहुँचने की आकांक्षा के दर्शन भी होने लगे हैं।

शिवदान सिंह ने आलोचना के मूलभूत प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान देने की चेष्टा की है। इसमें उनकी दृष्टि उदार अवश्य है, पर वह मार्क्सवादी ही हैं। आलोचना का स्वरूप तथा प्रयोजन स्पष्ट करते हुये वे लिखते हैं। 'मूल्यांकन करते समय रचना में वस्तुगत एवं रूपगत मूल्यों का विवेचन कर साहित्य के इतिहास में कृति-विशेष का स्थान निर्दिष्ट करना चाहिये। रचना में व्यक्त मूल्य किस कोटि के हैं—सामाजिक या आसामाजिक, स्वस्थ या अस्वस्थ, मानव के जीवन बोध को अधिक व्यापक और गहरा बनाते हैं या एकांगी या उथला, सौन्दर्य चेतना अधिक परिष्कृत करते हैं या कुत्सित',[1]

समीक्षा का यह स्वरूप व्यापक एवं उदार है, पर स्वस्थ या अस्वस्थ का निर्णय करते समय चौहान ठेठ मार्क्सवादी हैं। वे साहित्य की समष्टि कल्याण की दृष्टि से वस्तुवादी तथा वैज्ञानिक व्याख्या करने के समर्थक हैं जिस कृति में जीवन की जितनी व्यापक एवं यथार्थ कल्पना हो गई है, चौहान उसको उतनी ही महान् मानते हैं। वे केवल वस्तुवादी अथवा केवल रूपवादी समीक्षा को एकांगी कहते हैं। इनमें आंशिक सत्य मानने की प्रवृत्ति ने ही चौहान में समन्वयवादी भावना के अंकुर पैदा किये हैं। उन्होंने व्यक्तिवादी साहित्य में विकृति, कुंठा और कुत्सा के दर्शन किये हैं। प्रयोगवादी काव्य को मनुष्य की दलित इच्छाओं के विस्फोट, मानव द्रोह और अनास्था के कारण इन्होंने हेय करने वाले कहा है।[2] इन रचनाओं के अन्तस्तल में

---

१. शिवदान सिंह चौहान : आलोचना के मान, पृष्ठ ४३
२. वही : साहित्य की समस्याएँ

साम्यवाद का विरोध करने वाले सड़े हुये कंकालों के दर्शन होते हैं। पर जो प्रयोगशील कवि गांधीवाद और मानवतावाद की ओर झुके हुये हैं, उनका स्वागत करने का उदार दृष्टि भी चौहान जी में है। सिद्धान्तों में चौहान साहित्य के शिल्प के प्रति अधिक उदार होते जा रहे हैं और उनमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विरोध भी उतना तीक्ष्ण नहीं है पर उनकी व्यावहारिक समीक्षा में इतनी उदारता नहीं आ पा रही है। आधुनिक काल के अधिकांश साहित्यिकों, विशेषकर प्रयोगवादियों का तो स्वागत नहीं कर पा रहे हैं। अज्ञेय का 'नदी का द्वीप' का चरित्रचित्रण अति यांत्रिक है। अतः चौहान की दृष्टि में वह कलाकृति ही नहीं है। अश्क का 'गर्भकाल', देवराज का 'पथ की खोज' तथा अधिकांश मनोवैज्ञानिक एवं प्रयोगवादी प्रवृत्ति की रचनाएँ उन्हें असफल कृतियाँ ही लगती हैं। शिवदानसिंह चौहान समाजवादी मूल्यों को सिद्धान्ततः स्वीकार करते हैं।

राम विलास शर्मा सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में अधिक रूढ़, साम्प्रदायिक और प्रचारवादी हैं। उन्हें चौहान के दृष्टिकोण में भी पूँजीवाद की गन्ध आती है। शर्मा जी की समीक्षा जनवादी मान्यताओं तथा समष्टि हित के मूल्यों पर आधारित है। वे समाज हित को ही समीक्षा का प्रधान मानदण्ड समझते हैं। केवल रूप की प्रशंसा करने वालों को तो वे समीक्षक भी नहीं समझते। रस सिद्धान्त में आज के साहित्य के ठीक मूल्यांकन करने की क्षमता भी नहीं मानते। शर्मा जी ने प्रेमचन्द के साहित्य की जनवादी परम्परा को उत्कृष्ट साहित्य माना है। छायावाद काव्य को उन्होंने सामाजिक आधार पर परखा है। छायावादी कवियों में वे निराला के प्रशंसक है। उन्होंने तुलसी की प्रगतिशीलता तथा बिहारी की प्रतिक्रियावादिता को भी स्पष्ट किया है। प्रकाशचन्द गुप्त ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मूल्यों की शाश्वतता का स्पष्ट विरोध किया है, इसीलिए सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का गत्यात्मक रूप ही उन्हें स्वीकार्य है। गुप्त जी ने 'नया साहित्य, एक दृष्टि' में साहित्य और कला को सम्पूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक विकास का एक अंग माना है। प्रत्येक युग के साहित्य में जनवादी तथा जनविरोधी प्रवृत्तियों में अन्तर्विरोध के सिद्धान्त को गुप्त जी स्वीकार करके चलते हैं। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार यही स्वाभाविक स्थिति भी है। गुप्त जी के अनुसार मार्क्सवादी समीक्षक का कार्य जनवादी और प्रगतिशील तत्त्वों को शोध करके उसका मूल्यांकन करना है। गुप्त जी ने साहित्यकार के महत्त्व को भी स्वीकार किया है। पर मार्क्सवाद उस व्यक्तित्व को निर्मित करने वाले सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ में ही व्यक्तित्व का विश्लेषण करता है, इसी दृष्टि से गुप्त जी ने विचार भी किया है। गुप्त जी ने कबीर, तुलसी और सूर में जनवादी प्रवृत्तियों का दर्शन करके उनके काव्य को अपनी परिस्थितियों में प्रगतिशील कहा है। हाँ, सूर में उन्हें तुलसी की अपेक्षा अधिक उदार मानवतावाद के दर्शन हुए हैं। गुप्त जी प्रायः अभिव्यक्ति पक्ष की उपेक्षा करने, साहित्य की वस्तु का मूल्यांकन करने वाले समीक्षक हैं। उनकी समीक्षा यांत्रिक न होकर गत्यात्मक है, शैली में कुछ प्रभाववादिता का भी हल्का-सा पुट है। डॉ० नामवर सिंह का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ,' मार्क्सवादी समीक्षा के व्यावहारिक रूप का अच्छा उदाहरण है। इसमें वर्गगत प्रवृत्तियों के आधार पर आधुनिक काल की सभी काव्य प्रवृत्तियों के विकास का इतिहास प्रस्तुत करते हुए, उनका मूल्यांकन किया गया है। इस मूल्यांकन का

आधार प्रधानतः जीवन शक्ति और जनवादी धारणा है। प्रत्येक काव्य प्रवृत्ति का एक ऐतिहासिक महत्त्व भी स्वीकार किया है, उसे उन्होंने ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण माना है। प्रयोगवादी कविताओं में भी समाज के एक अंश की मनःस्थिति का चित्रण हुआ है। इस प्रकार इस साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। नामवर सिंह मार्क्सवादी समीक्षक की तरह उसमें जीवनशक्ति का अभाव तथा मरणशक्ति का उभार देखते हैं। उन्होंने मार्क्सवादी साहित्य दर्शन के आधार पर हिन्दी के इतिहास साहित्य की विविध प्रवृत्तियों, साहित्यकारों और उनकी कृतियों का विश्लेषण किया है। इनकी शैली प्रधानतः ऐतिहासिक है। शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त और रामविलास शर्मा इन तीनों की समीक्षा पद्धतियों को नामवर सिंह शुद्ध मार्क्सवादी नहीं मानते। इनमें उनको भाववादी तथा व्यक्तिवादी संस्कारों की छाया प्रतीत होती है। चन्द्रबली सिंह की 'लोकदृष्टि और हिन्दी साहित्य' की समीक्षा का दृष्टिकोण भी मार्क्सवादी ही है। पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है कि समीक्षा का आधार लोकदृष्टि है। चन्द्रबली सिंह वस्तुगत, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर की गई समीक्षा को ही ठीक अर्थ में समीक्षा कहते हैं। सिद्धान्ततः मार्क्सवादी वस्तु तथा रूप को अभिन्न मानता है, पर चन्द्रबली सिंह की समीक्षा भी अन्य प्रगतिवादियों की तरह वस्तुगत ही अधिक है। 'स्वर्ण किरण,' 'उत्तरा' तथा अज्ञेय जी के साहित्य को उन्होंने सांस्कृतिक विघटन और अनास्था का साहित्य कहा है।[1] यह सब पूँजीवाद का ही परिणाम है। चन्द्रबली सिंह ने पन्त, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी आदि में प्रगतिवादी तत्त्व देखे हैं। इस प्रकार चन्द्रबली सिंह की समीक्षा भी लोकदृष्टि पर आधारित मार्क्सवादी ही है।

जोशी जी ने हीनभावना की क्षतिपूर्ति तथा अहम् भाव के सिद्धान्तों का भी साहित्य और समीक्षा में महत्त्व माना है। इस प्रकार उन्होंने मनोविश्लेषणशास्त्र के सभी सिद्धान्तों का उपयोग किया है। वे साहित्य और समीक्षा का उद्देश्य जीवन को स्वस्थ मार्ग पर ले चलना मानते हैं। मनोविश्लेषण शास्त्र अस्वस्थ मार्गों की प्रेरणाओं का उद्घाटन करके मानव को जीवन का स्वस्थ मार्ग दिखाता है। जोशी जी मनोविश्लेषण का इतना ही उपयोग मानते हैं। उनका कहना है 'किसी कलाकार की कृति से उसके मन के भीतर के द्वन्द्व उसकी अन्तश्चेतना में निहित पाशविक प्रवृत्तियों के कारण अथवा स्वास्थ्यकर मानवीय भावनाओं के आलोड़न का पता निश्चित रूप से लगाया जा सकता है।'[2] यह कार्य मनोविश्लेषण शास्त्र द्वारा ही संभव है। जोशी जी अपने को प्रगतिशील (प्रगतिवादी नहीं) समीक्षक कहते हैं, वे काव्य का लक्ष्य मंगल समन्वित सौन्दर्य मानते हैं। इसी सौन्दर्य का अन्वेषण जोशी जी का समीक्षक करता है। जोशी जी सौन्दर्यान्वेशी समीक्षक हैं, इस चिरन्तन मंगलमय सौन्दर्य की प्रेरणाओं का अध्ययन करने के लिये ही उन्होंने मनोविश्लेषण शास्त्र का सहारा लिया। जोशी जी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में फ्रायड और एडलर के सिद्धान्तों का स्पष्ट उपयोग किया है। एक तरफ वे छायावाद को दमित और अतृप्त भावनाओं का परिणाम मानते हैं, दूसरी तरफ उन

---

१. **लोकदृष्टि और हिन्दी साहित्य, चन्द्रबली सिंह**, पृष्ठ २४

२. **इलाचन्द्र जोशी, विवेचना**, पृष्ठ ५५

कवियों में हीन भावना के दर्शन करते हैं और उनके काव्य को उसकी क्षतिपूर्ति का प्रयास कहते हैं। प्रगतिवाद को भी उन्होंने हीन भावना का ही परिणाम कहा है। जोशी जी में साम्प्रदायिक कट्टरता का थोड़ा अभाव है। उन्होंने एक ही लकड़ी से सब को हाँकने की रूढ़िवादिता नहीं अपनाई है। पन्त की नवीन रचनाओं के मूल में उन्हें अहम् के विस्फोट के दर्शन होते हैं, पर कामायनी को उन्होंने छायावाद का अपवाद कहा है।[1] अतिशयता की कोटि पर पहुँचकर समष्टिवाद और व्यक्तिवाद दोनों ही जोशी जी की दृष्टि में अस्वास्थ्य हो जाते हैं। इन्होंने अज्ञेय के 'शेखर' के अहं भाव की तीव्र आलोचना की है। व्यक्तिवादी यथार्थ पर आधारित अज्ञेय जी की रचनाओं में भी इन्हें कई स्थानों में जीवन शक्ति का अभाव लगता है। इससे स्पष्ट है कि उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक आग्रहों से मुक्त है। इनमें सौन्दर्यान्वेषी तथा मनोविश्लेषणात्मक समीक्षक के समन्वित रूप के दर्शन होते हैं। मनोविश्लेषण शास्त्रियों में पारस्परिक मतभेद कम है और अपने सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा अधिक है।

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति

छायावादी काव्य तथा सौष्ठववादी समीक्षा की प्रतिक्रिया का एक आधार व्यक्तिवादी दर्शन भी हुआ। व्यक्ति-सत्य को साहित्य का मूल तत्त्व मानने वाली विचारधारा गहन गम्भीर एवं वैज्ञानिक होकर मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति बन गई है। व्यक्तिवादी साहित्य-दर्शन इस रूप में एक विशिष्ट वैज्ञानिक रूप धारण कर लेता है। इसका अन्य रूपों में विकास भी सम्भव है। व्यक्तिवादी यथार्थवाद पर टिकी हुई यह पद्धति एक स्वतन्त्र समीक्षा दर्शन है, शैलीमात्र नहीं। यह व्यक्ति की निजी चेतना, अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति को कला और साहित्य का प्रमुख तत्त्व मानती है। सामाजिक परिस्थितियाँ कवि के निर्माण में योग तो देती हैं पर कवि के व्यक्तित्त्व की एक स्वतंत्र सत्ता भी है। यही स्वतन्त्र सत्ता साहित्य के लिए प्रधानतः उत्तरदायी है। यह विचारधारा व्यक्ति को ही काव्य का हेतु और प्रयोजन दोनों मानती हैं। मनोविश्लेषण शास्त्र काव्य और कला में स्वप्न की तरह अन्तश्चेतना की ही अभिव्यक्ति होती है' प्रतीक अन्तश्चेतना की ही सृष्टि करते हैं। काव्य और कला में भी कलाकार की अन्तश्चेतना से भी उद्भूत प्रतीक ही उसके निजी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करते हैं।, अन्तश्चेतना से सीधे उद्भूत न होने वाले प्रतीक कृत्रिम काव्य की ही सृष्टि करते हैं। सच्चे प्रतीकों का काव्य ही पाठक की अन्तश्चेतना को अभिव्यक्ति का अवसर देकर विरेचन के द्वारा उसके व्यक्तित्व का उन्नयन (Sublimation) करता है। इस सिद्धान्त में यही काव्य का प्रयोजन माना गया है। कवि के व्यक्तित्व के सामाजिक संस्कार वाह्य आचरण मात्र हैं। इसलिए वे काव्य की दृष्टि से दूरवर्ती और अनुपादेय हैं।

फ्रायड, एडलर और युंग के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों पर ही यह पद्धति टिकी हुई है। फ्रायड मानता है कि सामाजिक बन्धनों के कारण मानव की अनेक वासनाएँ और सामूहिक सहजात वृत्तियाँ चेतन स्तर पर अतृप्त रह जाती हैं और अवचेतन में जाकर छिप जाती हैं। कामवासना को ही फ्रायड सबसे प्रधानवृत्ति मानता है। अवचेतन में दबी हुई वासनायें

१. विवेचना, पृष्ठ ५१

अभिव्यक्ति के लिये व्याकुल तो होती ही हैं पर अपने असली रूप में प्रगट न होकर कुछ उदात्ती-कृत रूप में, स्वरूप बदलकर, प्रतीकों में परिणित होकर अथवा उनका आवरण धारण करके ही अभिव्यक्त होती है। स्वप्न, भूल, हास्यविनोद, कला और साहित्य ही इनकी अभिव्यक्ति के क्षेत्र हैं। इन वासनाओं की अभिव्यक्ति से रेचन होता है और यही रेचन आनन्द का हेतु है। इस रेचन से वासनाओं का उन्नयन हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि मनोविश्लेषण शास्त्रकाव्य और कला के आनन्द को रेचन-रूप मानता है जो रस से भिन्न एवं निम्न कोटि का है। दमित वासनाएँ व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन को परिचलित करने वाली प्रमुख शक्तियाँ हैं। इनकी स्वस्थ अभिव्यक्ति और उन्नयन में ही संस्कृति का विकास है। साहित्य और कला इस विकास के सुन्दरतम एवं सबसे अधिक सम्पन्न साधन हैं। इस सिद्धान्त में साहित्य का प्रयोजन तथा उसकी उच्चता इन प्रवृत्तियों के स्वस्थ उन्नयन में ही माना है। एडलर ने प्रभुत्व की कामना को सबसे महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है। मानव अपने व्यक्तित्व के महत्त्व की स्वीकृति चाहता है। इस इच्छा की पूर्ति न होने पर उसमें हीनता का भाव उत्पन्न होता है और धीरे-धीरे हीनता-ग्रन्थि बन जाती है। वह एक क्षेत्र की हीनता के भाव की क्षतिपूर्ति दूसरे क्षेत्र में करने का प्रयत्न करता है। स्वप्न, कल्पना, कला आदि में भी इसकी पूर्ति होती है। एडलर की मान्यता है कि मानव इसके लिए नवीन क्षेत्रों की उद्भावना भी कर लेता है। कला, साहित्य आदि ऐसे ही उद्भावित क्षेत्र हैं। नव-नव उन्मेष करने वाली बुद्धि भी इसी का परिणाम है। यह पूर्ति भी स्वस्थ एवं अस्वस्थ दो माध्यमों से होती है। युग ने इन सबके मूल में जीवनेच्छा को माना है। मानव में जीवित एवं अमर रहने की प्रबल आकांक्षा है। यही जीवनेच्छा व्यक्ति को अमर कर देने वाले कार्यों में प्रवृत्त करती है। साहित्य और कला के मूल में युंग की दृष्टि में यही अमर होने की इच्छा कार्य कर रही है। लोक, वित्त और पुत्र की तृषणाओं के मूल में भी यही जीवनेच्छा है। काम, वासना और प्रभुत्व की कामना इसी जीवनेच्छा के दो प्रकार हैं। काम के प्राधान्य से व्यक्ति अन्तुर्मुखी तथा प्रभुत्व की कामना के कारण वर्हिमुखी हो जाता है। सर्जन मानव की जीवनेच्छा की ही अभिव्यक्ति है। मानव का व्यक्तित्व ही इस सर्जन के स्वरूप का नियन्त्रण करता है। यही कारण है कि प्रभुत्व की कामना करने वाले वर्हिमुखी तथा काम वासना के प्राधान्य वाले अन्तर्मुखी व्यक्तियों के साहित्यों में वर्ण्य विषय, चरित्र, शैली आदि का पर्याप्त अन्तर रहता है। अन्तर्दुखी कवि की रचनाएँ व्यक्तिप्रधान तथा वहिर्मुखी की विषयप्रधान होती हैं। ये सभी व्यक्तिवादी सिद्धान्त व्यक्ति-वादी हैं। मनोविश्लेषण के इन सिद्धान्तों ने हिन्दी की सर्जनशील भावना को काफी प्रभावित किया है।

हिन्दी के मनोविश्लेषणात्मक समीक्षकों ने आधुनिक काव्य की गतिविधि पर कला की वैयक्तिकता तथा जीवनशीलता प्रदान करने की क्षमता की दृष्टि से विचार किया है तथा मनो-वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर प्राणशक्ति के अभाव का भी विश्लेषण किया है। यह समीक्षक छायावादी काव्य के कलात्मक सौष्ठव के प्रशंसक हैं पर उन्होंने उनकी विलासिताजन्य पलायनवादी प्रवृत्ति की घोर निन्दा की है। प्रगतिवाद को भी उन्होंने कुंठाओं का परिणाम कहा है। प्रगति-वादियों के नग्न चित्रणों में उन्हें दमित वासनाओं के दर्शन होते हैं। जोशी जी ने छायावादी

काव्य में दाम्भिकता और विकृत मनोभावों की तृप्ति की आकांक्षा के दर्शन किए हैं। उनका कहना है कि प्रगतिवादी काव्य के मूल में सामूहिक कल्याण की कामना नहीं, कवि के अपने महत्त्व की स्थापना की भावना है। प्रगतिवाद के समाज विद्रोह के उद्‌गारों में रोमांटिक रस का आनन्द मानते हैं। इस प्रकार इन्होंने प्रगतिवाद का मनोविश्लेषणात्मक विवेचन किया है[1]।

हिन्दी में मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति के प्रधान समीक्षक अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी हैं। नगेन्द्र जी की गणना कुछ विद्वान इसी के अन्तर्गत करना चाहते हैं पर वास्तव में यह समीचीन नहीं है। नगेन्द्र जी ने मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग किया है। काव्य के हेतु तथा प्रयोजन पर विचार करते हुए उन्होंने फ्रायड, एडलर, और युंग के सिद्धान्तों का सहारा लिया है। उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में मनोवैज्ञानिक विवेचन के साथ ही मनोविश्लेषणात्मक पद्धित का भी कुछ उपयोग है, पर नगेन्द्र जी की साहित्य सम्बन्धी निष्ठा, मनोविश्लेषण शास्त्रीय नहीं, रसवादी है। हाँ, वे इसके व्यक्तिवादी विवेचक अवश्य कहे जा सकते हैं। उन्होंने समाज मंगल की दृष्टि से रस पर विचार नहीं किया है। वे साहित्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन करने में भी असमर्थ रहे। नगेन्द्र जी रस का मनोविश्लेषणात्मक विवेचन करने में प्रवृत्त अवश्य हुए हैं, पर इतने ही से वे इस सम्प्रदाय के आचार्य नहीं बन पाते। वे प्रयोगवादी काव्य की अतिशय व्यक्तिवादी एवं बौद्धिकताप्रधान प्रवृत्ति का अभिनन्दन नहीं कर पाए हैं। रसहीन बौद्धिकता की अभिव्यक्ति प्रयोगवादी को अकाव्य बना देने का हेतु है, यही नगेन्द्र जी की मान्यता है। साधारणीकरण के सिद्धान्तों को न मानने वाला यह व्यक्तिवादी साहित्य दर्शन नगेन्द्र जी को मान्य नहीं। इसलिए वे मूलतः मनोविश्लेषणात्मक समीक्षक नहीं हैं। नगेन्द्र जी सिद्धान्ततः रसवादी हैं और व्यवहार में सौष्ठववादी। काव्यानुभूति के सूक्ष्मतम संवेदनों से स्पन्दित होकर उनके सौष्ठव की संवेदनात्मक परख ही नगेन्द्र जी की समीक्षा है, इसीलिए उन्हें सौष्ठववादी कहना ही अधिक ठीक है।

अज्ञेय जी की साहित्य सम्बन्धी धारणा प्रधानतः एडलर से प्रभावित है। प्रभुत्व की कामना और क्षतिपूर्ति के सिद्धान्तों को वे कला के मूल में मानते हैं। उनकी दृष्टि से कला व्यक्ति की प्रभुत्व की कामना और समाज में अपनी उपयोगिता को सिद्ध करने की भावना से सृष्ट नवीन क्षेत्र है। सौन्दर्य बोध को भी अज्ञेय की ऐसी नवीन सृष्टि मानते हैं 'हमारे कल्पित प्राणी ने हमारे कल्पित समाज में भाग लेना कठिन पाकर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर अपने विद्रोह द्वारा इस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया। उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है। पहली कला चेष्टा में ऐसा ही विद्रोह रहा होगा।'[2] अज्ञेय जी से अनुसार व्यक्तित्व की एक प्राणवायु होती है। उसकी मौलिकता का एक घनीभूत रस होता है। यह परिस्थितियों के समक्ष समर्पण नहीं करता अपितु स्वीकृति चाहता है। यही विद्रोह का कारण भी है, यही अंश उन्नयन और क्षतिपूर्ति की प्रेरणा देता है। इसी अंश के विद्रोह को अज्ञेय जी कला मानते हैं—'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के

१. विवेचना, इलाचन्द्र जोशी, पृष्ठ १७०
२. त्रिशंकु, अज्ञेय, सौन्दर्यबोध, पृष्ठ २६

विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"[१] इससे स्पष्ट है कि अज्ञेय जी की विचारधारा का प्रधान उपजीव्य एडलर है। पर वे वासनाओं के दमन का फ्रायड का सिद्धान्त भी मानते हैं। व्यक्ति के विशिष्ट अंश की खोज, उसके प्रेरक रूप का निरूपण, उस अंश का विश्लेषण तथा मूल्यांकन ही अज्ञेय जी की दृष्टि से समीक्षा है। इस दृष्टि से उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों और कलाकारों का अध्ययन किया है। जब परिस्थितियों के विरोध के कारण कलाकार का व्यक्तित्व खण्डित हो जाता है, तो उसमें पलायन का भाव जागता है। प्रसाद जी के छायावाद और प्रेमचन्द जी के सुधारवाद में अज्ञेय जी के इसी पलायन के दर्शन होते हैं। प्रगतिवाद को वे सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थतियों की विवशता का परिणाम कहते हैं।[२] सर्वहारा वर्ग के साहित्य सृजन की उपयुक्तता के सिद्धान्त का अज्ञेय जी खण्डन करते हैं।

इलाचन्द्र जोशी का दृष्टिकोण कुछ समन्वयवादी है। उन्होंने अपनी व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक समीक्षाओं में एडलर और फ्रायड दोनों के सिद्धान्तों का खूब प्रयोग किया है। स्वप्न की तरह कला में भी दमित वासनाएँ ही अपना स्वरूप बदल कर आती हैं। यह बात जोशी जी को मान्य है। इसी से वे अस्पष्टता और रूपक को साहित्य का अनिवार्य अंग मानते हैं। शेषनाग की तरह फन उठाकर आने वाली दमित वासनाओं की अज्ञात शक्ति में ही कला की अभिव्यक्ति की प्रमुख प्रेरणा है।[3]

उपलब्धि और अभाव

हिन्दी में क्रमबद्ध व्यावहारिक समीक्षा का इतिहास कोई बहुत लम्बा नहीं हैं, पर उसकी उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें एक निश्चित तथा सुदृढ़ भूमि तैयार कर ली है। प्राचीन साहित्य सिद्धान्तों के गम्भीर अध्ययन, पाश्चात्य चिन्तन के आलोक तथा आज के जीवन के नवीन परिवेष्ठन में उन सिद्धान्तों के पुनर्मूल्यांकन के परिणाम स्वरूप हिन्दी के पास अपना एक मानदण्ड भी है। उसका सर्वसामान्य तथा मूल आधारभूत तत्त्व तो रस ही है। पर उसमें पाश्चात्य तत्त्वों का आकलन भी हो गया हैं। रस का स्वरूप आज उसकी मध्यकालीन धारणाओं की अपेक्षा कहीं अधिक उदार व्यापक एवं रूढ़िमुक्त है। उसमें सम्पूर्ण प्रकार के काव्यानन्दों तथा पश्चिम से गृहीत भावसंवेदन के सिद्धान्तों का भी अन्तर्भाव हो गया है। साहित्य के मूल्यांकन को विशुद्ध काव्यात्मक दृष्टि का आज आधारभूत सिद्धान्त भी रस ही है। रस वह कसौटी है जिस पर कसकर हिन्दी का समीक्षक साहित्य के सभी सिद्धान्तों की उपादेयता और अनुपादेयता को परखता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दी 'रस' के सार्वदेशिक मानदण्ड के उपयुक्त रूप की पूर्ण प्रतिष्ठा में सफल हो गई है। उसकी तो अभी आकांक्षा भर रचना हो पाई है। प्रयोगवादी और प्रगतिवादियों ने उसके समक्ष साहित्य के बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित कर रखे हैं। उनके समाधान से 'रस सिद्धान्त' में और भी व्यापकता आ जायेगी। रस के शील विकास और नैतिक प्रभाव की क्षमता के सिद्धान्त ने

---

१. **विवेचना, कला का स्वभाव पृष्ठ** २३
२. **वही स्वभाव, पृष्ठ** ६७
३. **वही, पृष्ठ** ३४

उसको काव्य के मूल्यवादी दृष्टिकोण का भी प्रधान आधार बना दिया है। इस विशुद्ध काव्य-दृष्टि के अतिरिक्त हिन्दी में कुछ ऐसे मानदण्डों का भी उपयोग हो रहा है, जिन्हें हम कुछ हद तक काव्येतर कह सकते हैं। मार्क्सवाद, मनोविश्लेषण शास्त्र, इतिहास तथा मानवतावाद से लिये हुये दृष्टिकोण ऐसे ही हैं। इनमें साहित्य की प्रधानतः बुद्धितत्त्व की दृष्टि से समीक्षा होती है। इनमें साहित्य के व्यावर्तक तत्त्व भाव और रूप की स्थिति बहुत कुछ गौण हो जाती है। साहित्य विज्ञान आदि वाङ्मय की सभी शाखाओं के इन पुष्टियों से मूल्यांकन के स्वरूप में बहुत मौलिक अन्तर नहीं रहता। इससे इन मूल्यों को साहित्येतर मानने में कुछ अत्युक्ति नहीं है। पर फिर भी, इन सम्प्रदायों की देन कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इन्हीं के कारण साहित्य की युगसापेक्षता, जीवन की विभिन्न प्रकार की उपादेयताओं की दृष्टि से साहित्य के मूल्यांकन व्यक्ति के स्वभाव चरित, तथा अन्तश्चेतना से साहित्य के घनिष्ठ सम्बन्ध के सिद्धान्त या मानदण्ड के अभिन्न अंश बन गये हैं। इन्होंने रस के सार्वदेशिक रूप की प्रतिष्ठा में परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप से सहयोग दिया है। हिन्दी के विभिन्न समीक्षा सम्प्रदायों में पारस्परिक अन्तर्विरोध है, पर इनमें समन्वय की आकांक्षा भी प्रबल रूप से जाग रही है। नन्ददुलारे वाजपेयी, शिवदानसिंह चौहान एक दूसरे के दृष्टिकोणों को सहानुभूतिपूर्वक समझने के इच्छुक हैं। अन्य सम्प्रदाय वाले भी समन्वय के लिये प्रयत्नशील हैं।

हिन्दी में समीक्षा की चेतना जाग गई है। कई दिशाओं में कार्य हो रहा है। विभिन्न क्षेत्रों में अनुसन्धान कार्य चल रहे हैं। साहित्य का अनेक दृष्टियों से अध्ययन हो रहा है। हिन्दी के पास समीक्षा शैलियाँ भी हैं। आज का समीक्षक कलाकृति के परिवेष्टन, कलाकार के व्यक्तित्व और चरित, कलाकृति के वस्तुविन्यास, रूपतत्त्व, भावसंवेदन का विश्लेषण तथा कलाकृति के प्रभाव का विभिन्न दृष्टियों से मूल्यांकन करता है। साम्प्रदायिक मान्यताओं में मतभेद होते हुये भी शैली में एक ही साथ ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, चरितमूल, शास्त्रीय आदि कई शैलियों के तत्त्वों का हिन्दी की समीक्षा शैली में मिश्रण है। यह मिश्रण समन्वय का रूप धारण नहीं कर पाया है। समन्वयवादी सम्प्रदाय का विकास भविष्य में शैली के भी नवीन समन्वित रूप की उद्भावना कर लेगा, ऐसी आशा है।

समीक्षा सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक आधार व्यापक एवं प्रौढ़ हैं, पर व्यावहारिक क्षेत्र में उनके रूढ़, संकुचित स्थूल एवं पूर्वाग्रहों से ग्रसित रूप के ही दर्शन होते हैं। अब हिन्दी में उच्चस्तरीय तथा तलस्पर्शी समीक्षाओं का वाहुल्य नहीं है। जीवन की उदात्तता एवं विराटता की दृष्टि से समीक्षकों ने साहित्य का मूल्यांकन नहीं किया है। अभी समीक्षक स्थायी मूल्यों की उदार दृष्टि से मूल्यांकन करने का अभ्यासी नहीं हो पाया है। भाव, संवेदनाओं, समीक्षाओं की मर्मस्पर्शिता का साक्षात्कार कराने वाली तथा उनके सूक्ष्मतम प्रकारों के स्वरूप एवं-पारस्परिक अन्तर के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने वालों का दुष्काल ही है। साहित्य और परिवेष्टन में सजीव सम्बन्ध दिखाने वाली समीक्षाएँ अभी विरल ही है। उपन्यास आदि विविध विधाओं पर आजकल काफी समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं। शिलीमुख, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, दशरथ ओझा आदि ने साहित्य की विभिन्न विधाओं के अध्ययन प्रस्तुत किये हैं, इनमें तत्त्वों के आधार पर थोड़ा बहुत विश्लेषण भी हुआ है। पर किसी भी विधा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार

कराने वाली समीक्षा का अभाव है। नाटकीयता अथवा औपन्यासिकता के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाला असंवेदनामय विश्लेषण और इस दृष्टि से उनकी सफलता का मूल्यांकन करने वाली समीक्षाएँ प्रायः कम हैं। कलाकार की शिल्पविधि की विशिष्टता दो कलाकारों की शिल्पविधियों के सूक्ष्म अन्तर तथा शिल्प विधि के क्रमिक विकास को स्पष्ट करने वाली प्रौढ़ समीक्षाओं का अभी अभाव ही है। विषय वस्तु और कलाकार के व्यक्तित्व के साथ विधाओं का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करके तदनुरूप उनके स्वरूप एवं कलात्मक सौष्ठव का मूल्यांकन करने वाली उत्कृष्ठ रूपात्मक समीक्षाओं के दर्शन अभी नहीं होते हैं।

ऊपर मैंने हिन्दी समीक्षाओं के अभावों का दर्शन कराया है पर इसमें निराशापूर्ण दृष्टिकोण जगाने में मेरा तात्पर्य नहीं। हिन्दी में समीक्षात्मक चेतना है, जिस साहित्य में आत्मालोचन की विशालता एवं क्षमता होती है उसकी समीक्षा का भविष्य उज्ज्वल ही होता है। हिन्दी समीक्षा के गर्भ में भी भविष्य की यह उज्ज्वल आशाएँ हैं।

———

हिन्दी साहित्य का इतिहास

साहित्य के इतिहास सम्बन्धी वर्तमान धारणा आधुनिक युग की देन है। ऐसी दशा में इसके पूर्व आधुनिक धारणा के इतिहास की अपेक्षा करना व्यर्थ है। फिर भी, हमें ऐसे कतिपय ग्रन्थ मिलते हैं, जो हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री प्रस्तुत करते हैं और आधुनिक इतिहास ग्रन्थों में उस सामग्री का आधार प्रायः ग्रहण किया गया है। यह सामग्री प्रायः कवियों और लेखकों के चरितों, चरितावलियों और काव्य संग्रहों के रूप में है। इसके अतिरिक्त अनेक कवियों और लेखकों ने कुछ संकेतात्मक बातें अपने सम्बन्ध तथा कृति के विषय में अपनी रचनाओं में व्यक्त की हैं। हमारे साहित्य के वर्तमान इतिहास-ग्रन्थ इसी के आधार पर प्रणीत हुए हैं। अतः इस प्रकार के पूर्ववर्ती काव्यवृत्त संग्रह को दो भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम, वृत्त या चरितात्मक रचनाएँ हैं, द्वितीय रचना-संग्रह सम्बन्धी। इस प्रकार के ग्रन्थों का नामोल्लेख मात्र ही यहाँ आवश्यक है।

वृत्त या चरित सम्बन्धी ग्रन्थ काल क्रमानुसार निम्नांकित हैं—

(क) वार्ता साहित्य

ग्रन्थ	लेखक	रचनाकाल
१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता	गोकुलनाथजी	सं० १६२५
२. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता	,,	,, १६२५ लगभग
३. अष्टसखान की वार्ता		
४. निजवार्ता, घरुवार्ता तथा चौरासी वैष्णवन के चरित		
५. श्री गोसाई जी के सेवकन की वार्ता (हरिराय कृत भावना)		

(ख) चरितमाल साहित्य

१. भक्तमाल	नाभादास	,, १६४२
२. भक्तमाल	राघवदास दादूपंथी	,, १७७०
	(नाभादास के बाद के भक्तों का वर्णन है)	

भक्तमाल की टीकाएँ

(क) भक्त विनोद	मियासिंह	
(ख) भक्तिरस बोधिनी	प्रियादास	,, १७६६
(ग) भक्त उरवशी	चन्द्रदास	,, १८००
(घ) भक्तमाल टिप्पणी	वैष्णवदास	,, १८००
(ङ) भक्तमाल-भक्तकाव्यद्रुम	प्रतापसिंह	

(च) फ़ारसी भक्तमाल	गुमानी लाल	सं० १८९८
(छ) रामरसिकावली	रघुराजसिंह	,, १९२७
(ज) हरिभक्ति प्रकाशिका	ज्वाला प्रसाद मिश्र	,, १९५५
(झ) भक्तमाल-भक्तिसुधास्वाद तिलक—	सीतारामशरण, भगवानदास रूपकला	,, १९६६
(ञ) भक्तमाल रसिक प्रकाश	महन्त जीवाराम	,, १८०७
(ट) मूल गोसाई चरित	बाबा वेणीमाधव दास	,, १६८७

(ग) परिचयी साहित्य

१. गोपीचन्द चरित परिचयी	वेमदास	,, १७००
२. भरथरी की परिचई	अनन्तदास	,, १६५०
३. त्रिलोचन परिचई	,,	,, १६५०
४. रंकाबंका की परिचई	,,	,, १६५०
५. नामदेव की परिचै	,,	,, १६४५
६. कबीर की परिचै	,,	,, १६४५
७. धना की परिचई	,,	,, १६४५
८. रैदास की परिचई	,,	,, १६४५
९. पीपा की परिचई	,,	,, १६४५
१०. दादू जन्मलीला परची	जनगोपाल	,, १७०९
११. मलूकदास की परिचई	सथुरादास की प्रतिलिपि, संवत् १७४० के लगभग	,, १७८३
१२. स्वामी सेवादास की परिचई	रूपदास	,, १८३२
१३. स्वामी हरिदास की परिचई	रघुनाथदास	,, १७०० के लगभग
१४. जगजीवन साहब की परिचई	बोधदास	,, १८४८
१५, चरनदास की परिचई	रामरूप	,, १८४० के लगभग

रचनात्मक संग्रह सम्बन्धी सामग्री

उपर्युक्त वृत्त संग्रह सम्बन्धी सामग्री के अतिरिक्त अनेक प्राचीन ग्रन्थों में प्रसिद्ध कवियों के उत्तम छन्दों के संग्रह प्राप्त होते हैं—

१. गुरु ग्रन्थ साहब	गुरु अर्जुनदेव	,, १६६२
२. सर्वंगी	रज्जबसाहेब	१७०० वि० (लगभग)
३. कविमाल	तुलसी (७५ कवियों की कविताओं का संग्रह)	,, १७१२
४. कालिदास हजारा	कालिदास त्रिवेदी	,, १७७५

(सं १४८० से १७७५ तक के कवियों के एक हजार छन्दों का संग्रह)

५. सत्कवि गिराविलास	बलदेव (१७ उत्तम कवियों का काव्य संग्रह) सं०	१८०३
६, गोविंदानन्द घन	गोविन्द कवि ,,	१८५८
७. विद्वन्मोद तरंगिणी	सुब्बासिह (४५ कवियों का काव्य संग्रह) ,,	१८०३
८. साहित्यसंग्रह, २ भाग	कहानजी धर्मासिह ,, (१४४ कवियों की रचनाओं का संग्रह)	१८९७
९. राग सागरोद्भव तथा राग कल्पद्रुम	कृष्णानन्दव्यास देव ,, (कृष्णोपासक २०० से अधिक कवियों का काव्य संग्रह)	१९००
१०. श्रृंगार संग्रह	सरदार कवि (१२५ कवियों के छंद) ,,	१९०५
११- दिग्विजय भूषण	गोकुलप्रसाद (१९२ कवियों का संग्रह) ,,	१२२५
१२. सुन्दरीतिलक	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (६९ कवियों के सवैयों का संग्रह) ,,	१९२७
१३. संगीत राग रत्नाकर	संगीतज्ञ कवियों की रचनाओं का संग्रह	
१४. संतवाणी संग्रह	वेलबेडियर प्रेस	
१५. कविता कौमुदी	रामनरेश त्रिपाठी ,,	१९७५

(आ) इतिहास ग्रन्थों का वर्गीकरण

हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों को हम मोटे तौर से पाँच खण्डों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) समग्र इतिहास, (२) प्रवृत्तिगत इतिहास, (६) विधागत इतिहास, (४) युगीन इतिहास, (५) साम्प्रदाय, प्रदेश और संस्थागत इतिहास। इनमें से हम प्रत्येक के अन्तर्गत आनेवाले इतिहास ग्रन्थों की पहले सूची देकर तदनन्तर इनमें से प्रमुख का संक्षिप्त विवेचनात्मक परिचय आगे दे रहे हैं—

१. समग्र इतिहास ग्रन्थ

१. इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी	गार्सा द तासी
२. भाषा काव्य संग्रह	महेशदत्त शुक्ल
३. शिव सिंह सरोज	शिवसिंह सेंगर
४. माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़ हिन्दोस्तान	जॉर्ज ए ग्रिअर्सन
५. हिन्दी कोविद रत्नमाला	श्यामसुन्दर दास
६. मिश्रबन्धु विनोद	मिश्र बन्धु
७. कविता कौमुदी	राम नरेश त्रिपाठी
८. ए स्केच ऑफ़ हिन्दी लिटरेचर [क्रिश्चियन लिटरेरी सोसायटी फार इंडिया, ई० १९७८]	एडविन ग्रीव्स
९. ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर [हेरिटेज़ ऑफ़ इंडिया सीरीज़ इंडिया, १९८०]	एफ. ई. के
१०. हिन्दी साहित्य विमर्श	पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
११. हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल

१२. हिन्दी भाषा और साहित्य — श्यामसुन्दर दास
१३. हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास — अयोध्यासिंह उपाध्याय
१४. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास — सूर्यकान्त शास्त्री
१५. हिन्दी साहित्य आलोचनात्मक इतिहास — रामकुमार वर्मा
१६. राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा — मोतीलाल मेनरिया
१७. हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
१८. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास — रामशंकर प्रसाद
१९. हिन्दी साहित्य के इतिहास का उपोद्घात — मुन्शीराम शर्मा
२०. हिन्दी साहित्य का इतिहास — ब्रजरत्न दास
२१. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास — गुलाबराय
२२. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास — गोपाल लाल खन्ना
२३. हिन्दी साहित्य का रेखाचित्र — उत्तमचन्द श्रीवास्तव
२४. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास — हजारीप्रसाद द्विवेदी
२५. हिन्दी साहित्य का इतिहास — चतुरसेन शास्त्री
२६. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास — भगीरथ मिश्र, रामबहोरी शुक्ल
२७. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास — रामरतन भटनागर
२८. हिन्दी भाषा तथा साहित्य — उदयनारायण तिवारी
२९. हिन्दी साहित्य का परिचयात्मक इतिहास — यज्ञदत्त शर्मा
३०. हिन्दी साहित्य अतीत, ८ भाग — विश्वनाथप्रसाद मिश्र
३१. हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति — विजयेन्द्र स्नातक, क्षेमचन्द्र सुमन
३२. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास — देवीशरण रस्तोगी
३३. हिन्दी साहित्य और साहित्यकार — सुधाकर पाण्डेय
३४. हिन्दी साहित्य, ३ भाग — धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा
३५. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास १७ भाग — प्रत्येक भाग के संपादक अलग-अलग
३६. हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा — रामअवध द्विवेदी
३७. हिन्दी भाषा और साहित्य — प्रेमनारायण टंडन
३८. हिन्दी साहित्य का इतिहास — लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
३९. हिन्दी साहित्य परिचय — भीमसेन विद्यालंकार
४०. हिन्दी — बदरीनाथ भट्ट
४१. साहित्य का इतिहास दर्शन — नलिन विलोचन शर्मा

प्रवृत्तिगत इतिहास

१. हिन्दी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना — श्यामनारायण पाण्डेय

२. ब्रजभाषा कृष्णकाव्य में माधुर्यभक्ति	रूपनारायण
३. भक्ति साहित्य में मधुरोपासना	परशुराम चतुर्वेदी
४. रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना	भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र माधव
५. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय	भगवतीप्रसाद सिंह
६. रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य	सत्यदेव चौधरी
७. हिन्दी रीति साहित्य	भगीरथ मिश्र
८. हिन्दी और मराठी के सन्त कवि	प्रभाकर माचवे
९. हिन्दी और मराठी के कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० रा. श. केलकर
१०. हिन्दी और मराठी का वैष्णव साहित्य और उसका तुलनात्मक अध्ययन	न. चि. जोगलेकर
११. हिन्दी और बंगाली के वैष्णव कवि	रत्नकुमारी
१२. हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य	भास्करन् नायर
१३. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का इतिहास	वेंकट शर्मा
१४. हिन्दी आलोचना का इतिहास	रामदश मिश्र
१५. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास	भगीरथ मिश्र
१६. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	नगेन्द्र
१७. हिन्दी अलंकार साहित्य	ओम प्रकाश
१८. हिन्दी काव्यधारा में प्रेमधारा का विकास	परशुराम चतुर्वेदी
१९. भारतीय प्रेमाख्यान	हरिकान्त श्रीवास्तव
२०. भारतीय प्रेमाख्यान परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी
२१. हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यान	परशुराम चतुर्वेदी
२२. हिन्दी के सूफ़ी कवि	पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ
२३. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ	जय किशन प्रसाद
२४. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ	जय किशन प्रसाद
२५. हिन्दी साहित्य की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ	शिवनन्दन प्रसाद
२६. हिन्दी साहित्य और विभिन्नवाद	रामजी लाल बदौछिया
२७. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	त्रिभुवन सिंह
२८. हिन्दी साहित्य में विविधवाद	प्रेमनारायण शुक्ल
२९. हिन्दी काव्य में छायावाद	दीनानाथ शरण
३०. प्रयोगवाद	नरेन्द्रदेव वर्मा
३१. साहित्य में हालवाद और बच्चन	दशरथ राज 'असनानी'
३२. भक्ति का विकास	मुन्शीराम शर्मा 'सोम'
३३. हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन	हिरण्मय
३४. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी
३५. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य	सरला शुक्ला

३६. रास और रासान्वयी काव्य	दशरथ ओझा, दशरथ शर्मा
३७. बावरी पन्थ के हिन्दी कवि	भगवती प्रसाद शुक्ल
३८. निरंजनी सम्प्रदाय और सन्त तुलसीदास	भगीरथ मिश्र
३९. हिन्दी पद परम्परा और तुलसीदास	रामचन्द्र मिश्र
४० हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
४१. दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास	श्रीराम
४२. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण	खण्डेवाल
४३. आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान	देवराज उपाध्याय
४४. रामकथा उद्भव और विकास	कामिल बुल्के
४५. राम भक्तिशाखा	रामनिरंजन पाण्डेय
४६. आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ	नगेन्द्र
४७. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ	जगदीश नारायण त्रिपाठी
४८. आधुनिक कविता की प्रवृत्तियाँ	मोहन वल्लभ पंत
४९. आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा	त्रिभुवन सिंह
५०. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ	इन्द्रनाथ मदान
५१. हमारे साहित्य में हास्यरस	कृष्णकुमार श्रीवास्तव
५२. हिन्दी काव्य में हास्यरस	बरसाने लाल चतुर्वेदी
५३. हिन्दी काव्य में भ्रमरगीत	सरला शुक्ल

(ग) विधागत इतिहास

१. हिन्दी गद्य साहित्य का इतिहास	जगन्नाथ प्रसाद
२. हिन्दी का गद्य साहित्य	रामचन्द्र तिवारी
३. हिन्दी गद्यशैली का विकास	जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
४. मध्यकालीन हिन्दी गद्य	हरिमोहन श्रीवास्तव
५. हिन्दी का निबन्ध साहित्य	प्रभाकर माचवे
६. हिन्दी निबन्ध का विकास	ओंकारनाथ शर्मा
७. हिन्दी साहित्य में निबन्ध	ब्रह्मदत्त तिवारी
८. हिन्दी महाकाव्य, स्वरूप और विकास	शम्भुनाथ सिंह
९. आधुनिक हिन्दी काव्य की रूपविधाएँ	निर्मला जैन
१०. हिन्दी की काव्य शैलियों का विकास	हरदेव बाहरी
११. हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास	जितेन्द्रनाथ पाठक
१२. गीतिकाव्य का विकास	लालधर त्रिपाठी
१३. नया हिन्दी काव्य	शिवकुमार मिश्र
१३ ब्रजभाषा नाटक	गोपीनाथ तिवारी
१५. हिन्दी नाटक	बच्चन सिंह

१६. आन्ध्र हिन्दी रूपक — पाण्डु रंगाराव
१७, हिन्दी नाटक उद्भव और विकास — दशरथ ओझा
१८. भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य — भानुदेव शुक्ल
१६. हिन्दी नाटककार — जयनाथ नलिन
२०. हिन्दी उपन्यास — शिवनारायण श्रीवास्तव
२१. हिन्दी उपन्यास — ब्रजरत्न दास
२२. हिन्दी उपन्यास में कथाशिल्प का विकास — प्रताप नारायण टंडन
२३. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन — गणेशन
२४. हिन्दी कथा साहित्य — पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
२५. कथा साहित्य में मनोवैज्ञानिक — देवराज उपाध्याय
२६. हिन्दी उपन्यास का समाजशास्त्रीय अध्ययन — चण्डिका प्रसाद जोशी
२७. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद — त्रिभुवन सिंह
२८. हिन्दी कहानी के शिल्पविधि का विकास — लक्ष्मी नारायण लाल
२६. आधुनिक हिन्दी कहानी — लक्ष्मी नारायण लाल
३०. हिन्दी कहानी और कहानीकार — मोहन लाल 'जिज्ञासु'
३१. हिन्दी एकांकी, उद्भव और विकास — रामचरण महेन्द्र
३२. समाचार पत्रों का इतिहास — रामरतन भटनागर
३३. खड़ीबोली और हिन्दी की अन्य बोलियाँ — श्रीराम शर्मा

(घ) युगीन साहित्य

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल — द्विवेदी
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका — द्विवेदी
३. हिन्दी काव्यधारा — राहुल सांकृत्यायन
४. दक्खिनी काव्य धारा — राहुल सांकृत्यायन
५. १५ वीं १६ वीं शती के हिन्दी काव्य में प्रतिबिम्बित भारतीय संस्कृति—मदन गोपाल
६. हिन्दी रीति साहित्य — भगीरथ मिश्र
७. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ — सावित्री सिन्हा
८. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग — उदयभानु सिंह
६. मध्यकालीन हिन्दी गद्य — हरि मोहन श्रीवास्तव
१०. रीतिकाव्य संग्रह — जगदीश गुप्त
११. उन्नीसवी शताब्दी — लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
१२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका — लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
१३. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास — लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
१४. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास — श्री कृष्णलाल
१५. आधुनिक हिन्दी साहित्य — भोला नाथ
१६. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास — कृष्ण शंकर शुक्ल

१७. हिन्दी का आधुनिक साहित्य	सत्काम वर्मा
१८. आधुनिक काव्यधारा	केसरी नारायण शुक्ल
१९. आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे वाजपेयी
२०. हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी	नन्ददुलारे वाजपेयी
२१. हिन्दी कविता में युगान्तर	सुधीन्द्र

(ङ) सम्प्रदाय, प्रदेश एवं संस्थागत इतिहास

१. बुन्देल वैभव	गौरीशंकर द्विवेदी
२. राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा	मोतीलाल मेनारिया
३. पंजाब प्रांतीय हिन्दी साहित्य का इतिहास	श्री चन्द्रकान्त बाली
४. हिन्दी साहित्य को मराठी संतों की देन	विनयमोहन शर्मा
५. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ	अम्बाशंकर नागर
६. हिन्दी साहित्य और बिहार	शिवपूजन सहाय
७. हिन्दी साहित्य का विकास और कानपुर	महेशचन्द्र चतुर्वेदी
८. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन	लक्ष्मीनारायण गुप्त
९. राजस्थानी का प्राचीन पिंगल (हिन्दी) साहित्य	मोतीलाल मेनारिया
१०. मैथिली साहित्य का संक्षिप्त इतिहास और उस पर मागधी का प्रभाव	जयकान्त मिश्र
११. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	दीनदयाल गुप्त
१२. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	बदरीनाथ श्रीवास्तव
१३. राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य	विजयेन्द्र स्नातक
१४. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय	भगवती प्रसाद सिंह
१५. रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना	भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'
१६. सन्तमत का सरभंग साहित्य	धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
१७. श्री हितहरिवंश गोस्वामी (सम्प्रदाय और साहित्य)	ललिताचरण गोस्वामी
१८. निरंजनी सम्प्रदाय और सन्त तुलसीदास निरंजनी	भगीरथ मिश्र
१९. सूफ़ी मत एवं सूफ़ी साहित्य का अध्ययन	रामपूजन तिवारी
२०. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य	सरला शुक्ल
२१. हिन्दी साहित्य पर सूफ़ी मत का प्रभाव	विमलकुमार जैन
२२. बावरी पंथ के हिन्दी कवि	भगवती प्रसाद शुक्ल
२३. अवध के प्रमुख कवि	ब्रजकिशोर मिश्र
२४. निमाड़ी और उसका साहित्य	अम्बाप्रसाद सुमन
२५. भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन	कृष्णदेव उपाध्याय
२६. हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास	शमशेर नरुला
२७. अवधी और उसका साहित्य	त्रिलोकी नारायण दीक्षित

विवेचनात्मक परिचय का समग्र इतिहास

सर्वप्रथम यहाँ हम सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास को प्रस्तुत करनेवाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का परिचय दे रहे हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रसंग में यह एक आश्चर्य की बात है कि इसका सर्व-प्रथम इतिहास एक विदेशी द्वारा लिखा गया। यह इतिहास फ्रेन्च विद्वान् गार्सां द तासी द्वारा लिखित **'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐंदुई एं हिंदुस्तानी'** है। यह सर्वप्रथम संवत् १८६६ में प्रकाशित हुआ। तासी ने हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित और भी कुछ लेख लिखे थे जिनसे स्पष्ट है कि उनकी रुचि हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी साहित्य के प्रति बड़ी गहरी थी। उन्होंने उस समय तक प्रकाशित हिन्दी साहित्य और उसकी पृष्ठभूमि से सम्बन्धित समस्त सामग्री का उपयोग किया था, जैसाकि कम लोगों ने किया है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत ३५८ कवियों का परिचय तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। यह परिचयात्मक उल्लेख कालक्रमानुसार न होकर अकारादि क्रम से है। इसके अन्तर्गत कतिपय ऐसे नाम हैं जो कि आगे के इतिहासों में भी अनुपलब्ध हैं, जहाँ तक ऐतिहासिक विवेचना का प्रश्न है यह ग्रन्थ विशेष महत्त्व नहीं रखता; परन्तु इसका स्थान इस दृष्टि से है कि यह हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास है और एक विदेशी द्वारा लिखा गया है। इस ग्रन्थ में कवियों और उनके ग्रन्थों के विवरण अत्यल्प हैं। अधिकांश में ग्रन्थों की सूची ही मिलती है, परन्तु इस ग्रन्थ की भूमिका विशेष महत्त्व की है। १०० पृष्ठों से अधिक विस्तृत भूमिका में लेखक ने साहित्य के कतिपय पारिभाषिक शब्दों का विवरण दिया है, साथ-ही-साथ उन स्रोतों का भी उल्लेख किया है, जिनके आधार पर इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। 'तासी' का हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में विचार बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उनका कथन है कि बोलचाल की भाषा के रूप में 'हिन्दुस्तानी' को समस्त एशिया में कोमलता और विशुद्धता की दृष्टि से जो ख्याति प्राप्त है वह किसी अन्य को नहीं। उनके अनुसार इसमें पूर्णता, कलात्मकता और व्यवहार यह तीनों ही गुण पाये जाते हैं। यह वास्तव में भारत में सबके अधिक सम्पन्न और शिष्ट भाषा है? (हिन्दुई साहित्य का इतिहास—भूमिका, पृ० ५)

श्री महेशदत्त शुक्ल द्वारा प्रणीत **भाषा काव्य-संग्रह** लखनऊ से संवत् १६३० में प्रकाशित हुआ था। इसमें प्राचीन कवियों की कविता के संग्रह के साथ-साथ उनका जीवन-चरित भी संक्षेप में दिया गया है। परन्तु इसमें अधिक कवियों का उल्लेख नहीं है। शिवसिंह सेंगर कृत **शिवसिंह सरोज** संवत् १६४० वि० की रचना है। इस ग्रन्थ में लगभग १००० कवियों का संक्षिप्त जीवन चरित्र तथा उनकी कविताओं के उदाहरण दिये गये हैं। इसमें भी क्रम कालानुसार न होकर अकारादि से हैं। काफी समय तक रचनाओं और जीवनी सम्बन्धी सूचनाओं के लिए शिवसिंह सरोज एक अधार ग्रन्थ रहा। परन्तु इसकी सूचनाएँ बहुत वैज्ञानिक और प्रामाणिक नहीं है।

दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास डॉक्टर ग्रियर्सन द्वारा ही रचा गया क्योंकि इसमें कालक्रमानुसार कवियों का परिचय मिलता है इसका आधार मुख्यतः शिवसिंह सरोज ही है। इस ग्रन्थ की रचना का सूत्रपात संवत् १६४३ वि०

में हुआ जब ग्रियर्सन ने विएना की अन्त:राष्ट्रीय प्राच्य विद्या सभा के अधिवेशन में '**हिन्दुस्तान का मध्यकालीन भाषा साहित्य और तुलसीदास**' लेख पढ़ा। इस लेख का बड़ा स्वागत हुआ जिसके परिणामस्वरूप इन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल (Royal Asiatic Society of Bengal) में संवत् १९४५ में इस इतिहास को प्रकाशित कराया। आगे चलकर संवत् १९४६ में यह स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हुआ। ग्रियर्सन के इतिहास के आधारसूत्र अठारह ग्रन्थों के भक्तमाल, राग कल्पद्रुम, दिग्विजय भूषण और शिवसिंह सरोज मुख्य हैं। इस ग्रन्थ में सबसे बड़ी विशेषता कालक्रमानुसार हिन्दी कवियों का परिचय प्रस्तुत करना है। ग्रन्थ के अन्त में लेखकों और ग्रन्थों की अनुक्रमणिका है जो विशेष उपयोगी है। यद्यपि इसमें दी गयी सूचनाएँ बहुत कुछ प्रारम्भिक और अपूर्ण हैं, फिर भी, इस ग्रन्थ के द्वारा व्यवस्थित इतिहास लेखन की नींव पड़ी। इस ग्रन्थ में ९५२ कवियों के उल्लेख हैं।

इसके उपरान्त बाबू श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी कोविद रत्नमाला को दो भागों में प्रकाशित किया। संवत् १९६६ और १९७१ में प्रकाशित इन ग्रन्थों में ८० आधुनिक लेखकों के जीवन चरित्र और कृतियों का विवरण है। यद्यपि इसमें इतिहास की सूत्रबद्धता और विवेचना नहीं है फिर भी इसके अन्तर्गत आधुनिक लेखकों की एक बड़ी संख्या का तथ्यात्मक परिचय दिया गया है जो इतिहास के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

संवत् १९७० में मिश्रबन्धुओं द्वारा रचित **मिश्रबन्धु विनोद** नामक ग्रन्थ तीन भागों के प्रकाशित हुआ और आगे चलकर इसका चौथा भाग भी सामने आया। इसके लेखक मिश्रबन्धुओं के नाम गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र हैं। इन्होंने मिश्रबन्धु विनोद के चार भागों में लगभग ५०० कवियों और साहित्यकारों का परिचय दिया है। इस ग्रन्ध के अन्तर्गत विभिन्न काल खण्डों के प्रारम्भिक वक्तव्यों में उन युगों की साहित्यिक तथा राजनैतिक गतिविधियों का परिचय दिया गया है। प्रारम्भिक भूमिका में हिन्दी साहित्य के विकास का संक्षिप्त विवरण है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण कवियों का विस्तृत विवरण दिया गया है, इसके साथ ही कवियों की रचनाओं के सुन्दर उदाहरण भी रक्खे गये हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ में इतिहास की आलोचनात्मक दृष्टि और व्यवस्था की कमी दिखाई पड़ती है, फिर भी अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों की काव्यालोचना इस इतिहास ग्रन्थ में प्रथम बार प्राप्त होती है। अपने प्रकाशन काल तक के समस्त स्रोतों और खोजों का पूरा उपयोग करने के कारण यह ग्रन्थ सामग्री की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है और इतिहास के विद्यार्थी के लिए उतना लाभप्रद न होते हुए भी शोधार्थियों के लिए विशेष उपादेय है। इसमें काल खण्डों का विभाजन भी है और कवियों की श्रेणियाँ भी की गयी है, अतः इस इतिहास ग्रन्थ का एक अपना महत्त्व है।

'विनोद' के साथ-ही-साथ मिश्रबन्धुओं ने संवत् १९६७ वि० में **हिन्दी नवरत्न** की रचना की जिसमें हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नौ कवियों की जीवनी एवं रचनाओं का विस्तार से परिचय और विवेचन मिलता है। यद्यपि इस विवेचन में निजी मान्यताओं और विचारों का प्रभाव अधिक है। फिर भी, हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में यह ग्रन्थ बड़ा रोचक है। जिन नौ कवियों

को इसमें सम्मिलित किया गया है वे इस प्रकार हैं—तुलसी, सूर, देव, (वृहत्रयी) बिहारी, भूषण, देव (मध्यत्रयी) मतिराम, चंद्र और हरिश्चन्द्र (लघुत्रयी)।

इतिहास ग्रन्थों के प्रसंग में रामनरेश त्रिपाठी द्वारा रचित **कविता कौमुदी** नामक ग्रन्थ अपना महत्त्व रखता है, जो संवत् १९७४ में प्रकाशित हुआ। इसके प्रथम दो भागों में हिन्दी साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन १३८ कवियों का विवरण उनकी रचनाओं की संग्रह के साथ दिया गया है। कविता-कौमुदी के अन्य भागों में संस्कृत, बंगला और उर्दू के कवियों का परिचय है। कविता कौमुदी के प्रारम्भ में हिन्दी साहित्य के विकास का रोचक विवरण सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है। संग्रह और सूचना से युक्त यह ग्रन्थ काफी समय तक बड़ा लोकप्रिय रहा। और आज भी भारतेन्दु और द्विवेदी युग के कवियों का जो विवरण कविता-कौमुदी में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

इसके उपरान्त दो इतिहास के ग्रन्थ अंग्रेज़ी में लिखे गये। एक एडविन ग्रीव्ज़ का **ए स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर** है जो संवत् १९७४ में लिखा गया। इसमें पूर्ववर्ती सभी सामग्री से सहायता ली गयी है। यह ११२ पृष्ठों की संक्षिप्त पुस्तिका हिन्दी साहित्य के इतिहास का विवरण पाँच भागों में प्रस्तुत करती है। मुख्यतः इसके अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के इतिहास का संक्षिप्त विवरण है। दूसरी पुस्तक एफ० इ० के द्वारा लिखित **ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर** है। यह सवत् १९७७ में प्रकाशित हुई। ११६ पृष्ठों की इस पुस्तक में भी हिन्दी साहित्य की गतिविधि का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। फिर भी अनेक स्थलों पर इसमें प्रकट विचार और विवेचन बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। यह संक्षिप्त किन्तु व्यवस्थित इतिहास की पुस्तक है।

इसके उपरान्त सं० १९८९ वि० में वियोगी हरि ने **ब्रजमाधुरी सार** नामक ब्रजभाषा काव्य संग्रह प्रकाशित किया। इसमें कालक्रमानुसार २८ ब्रजभाषा कवियों का परिचय तथा उनकी उत्तम रचनाओं का संग्रह प्रस्तुत किया गया है। अब तक इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण हो चुके हैं।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कृत **हिन्दी साहित्यविमर्श** भी सं० १९८० वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें साहित्य की विभिन्न धाराओं और युगीन प्रवृत्तियों सम्बन्धी निषेध संग्रहीत है। हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित निषेध भी है परन्तु इसे साहित्य का इतिहास नहीं कहा जा सकता। संवत् १९८२ वि० में बदरीनाथ भट्ट ने २६ पृष्ठ की एक छोटी सी पुस्तिका 'हिन्दी' नाम से प्रकाशित की। इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इसकी शैली बड़ी रोचक और मनोरंजक है, बीच-बीच में दिये गए उद्धरण बड़े सुन्दर और सटीक हैं।

हिन्दी साहित्य के विवेचनात्मक इतिहास की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इतिहास रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखा गया है। यह पहले सं० १९८१-८२ के बीच संक्षेप रूप में हिन्दी छात्रों को इतिहास पढ़ाने के उद्देश्य से लिखा गया। आगे चलकर संवत् १९८४ में नागरी प्रचारणी पत्रिका में यह तीन निबन्धों के रूप में प्रकाशित हुआ। जो इस प्रकार है—प्रथम-हिन्दी साहित्य का वीरगाथा काल, दूसरा—हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्यकाल, तीसरा—

हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल। संवत् १९८६ में हिन्दी शब्दसागर तैयार हुआ और यह तीनों ही निबन्ध विस्तृत और संशोधित रूप में 'हिन्दी साहित्य का विकास' शीर्षक से उसकी भूमिका बन गए और इसी वर्ष यह भूमिका **हिन्दी साहित्य का इतिहास** नाम से प्रकाशित हुई जो शुक्ल जी को इतिहास के रूप में प्रसिद्ध हुई। संवत् १९९७ में इसका संशोधित संस्करण निकाला जिसके अन्तर्गत विशेष रूप से आधुनिक हिन्दी साहित्य की सामग्री जोड़ी गयी। उसके बाद आ शुक्ल जी के देहावसान के अनन्तर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा इसका परिवर्द्धित संस्करण तैयार किया गया, जिसमें अद्यतन सामग्री का उपयोग किया गया। हिन्दी साहित्य के इतिहासों में शुक्ल जी का इतिहास कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। मिश्रबन्धु विनोद, 'सभा की खोज रिपोर्ट, हिन्दी कोविद रत्नमाला, कविता कौमुदी आदि ग्रन्थों से सामग्री लेते हुए इस ग्रन्थ को एक वास्तविक इतिहास के ग्रन्थ का रूप दिया गया है। युगों के नामकरण, युगीन साहित्यिक प्रवृत्तियों और धाराओं के आधार पर करके इसमें प्रारम्भिक वक्तव्यों में ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की विवेचना की गयी है, जो बड़ी महत्त्वपूर्ण है। अधिकांशतः शुक्ल जी ने इसमें समन्वयवादी दृष्टि से काम लिया है। इस इतिहास के अन्तर्गत केवल तथ्यात्मक सूचना नहीं वरन् कवियों की काव्य प्रवृत्ति और उनके दृष्टिकोण का मार्मिक उद्घाटन भी है। इस प्रकार इस इतिहास का अनुशीलनकर्त्ता न केवल हिन्दी साहित्य के इतिहास से परिचय प्राप्त करता है, वरन् वह हिन्दी कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रति अभिरुचि भी जाग्रत करता है। यद्यपि इसमें यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी की मुख्य चेतना और पक्षपात उन कवियों के प्रति अधिक है जिन्होंने सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाया है। फिर भी, व्यापक रूप से काव्यानुशीलन करने के लिए शुक्ल जी का दृष्टिकोण एक व्यापक दृष्टिकोण है।

शुक्ल जी के इतिहास के बाद ही बाबू श्यामसुन्दर दास के द्वारा **हिन्दी भाषा और साहित्य** ग्रन्थ लिखा गया। यह भी हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास को बड़े संतुलित ढंग से प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ है। इसकी विशेषता साहित्यिक पृष्ठभूमि के विश्लेषण में अधिक देखी जा सकती। उस समय तक किये गये अनुसन्धान के आधार पर इसमें नवीन सामग्री भी जोड़ी गयी है।

हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास के प्रसंग में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा दी गयी पटना विश्वविद्यालय में व्याख्यान माला का भी उल्लेख करना आवश्यक है। ये व्याख्यान **हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के विकास** नाम से ७१९ पृष्ठों में प्रकाशित हुए। इसके अन्तर्गत हिन्दी भाषा और उसके साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इसी समय के लगभग संवत् १९८७ में सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास लिखा गया। यह इतिहास डॉक्टर के के 'ए हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दी लिटरेचर' पर प्रमुखतया आधारित है। इसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास की पाण्डित्यपूर्ण विवेचना प्रस्तुत की गयी है यद्यपि इस इतिहास की शैली अलंकारिक अधिक है, फिर भी इसका अपना महत्त्व है क्योंकि संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इसे देखा गया है।

संवत् १९८८ में रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का एक बृहत्काय हिन्दी साहित्य का इति-

हास प्रकाशित हुआ। इस इतिहास में परिचयात्मक विवरण और पृष्ठभूमि का विस्तृत विश्लेषण है। कवियों की रचनाओं से उदाहरण नहीं दिये हैं परन्तु इसमें लेखक का कोई नवीन दृष्टि-कोण नहीं मिलता।

संवत् १९९५ में रामकुमार वर्मा द्वारा **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास** लिखा गया। इसके अन्तर्गत संवत् ७५० से लेकर संवत् १७५० तक के हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक एवं विस्तृत ऐतिहासिक विवरण दिया गया है। इसके पूर्व इतने विस्तार से लिखा गया ऐसा कोई हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं है, जिसमें आदिकाल और मध्यकाल की विभिन्न काव्यधाराओं का परिपूर्ण एवं आलोचनात्मक परिचय दिया गया हो। यह इतिहास सात प्रकरणों में विभाजित है जिनमें क्रमशः सन्धिकाल, चारणकाल, भक्ति काल, सन्तकाव्य, प्रेमकाव्य, रामकाव्य और कृष्णकाव्य का विस्तृत सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में न केवल हिन्दी साहित्य की विभिन्न धाराओं का काल क्रमानुसार तथ्यात्मक विवरण दिया गया है वरन् ऐतिहासिक और धार्मिक पृष्ठभूमि का भी विस्तृत परिचय दिया गया है। यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के दो काल खण्डों का यह अत्यन्त परिपूर्ण इतिहास है। इस ग्रन्थ का विषय प्रवेश जो कि ४९ पृष्ठों का है विशेष महत्त्वपूर्ण है, इसमें विद्वान् लेखकों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है जो इसके पहले किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। परिपूर्णता और विस्तृत सूचना के लोभ में लेखक ने कई कवियों का अत्यधिक विस्तार से विवेचन किया है जो इतिहास ग्रन्थ के लिए अपेक्षित नहीं। साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह उपादेय होते हुए भी इतिहास के अनुपात से वे मेल नहीं खाते।

इसके उपरान्त हिन्दी साहित्य के छोटे मोटे बहुत इतिहास लिखे गए जो पूर्ववर्षों समग्र इतिहास की सूची में दिये गये हैं। अतः कुछ विशेष उल्लेखनीय इतिहास-ग्रन्थों का परिचय देना ही उपयुक्त होगा। इनमें से हजारीप्रसाद द्विवेदी का **हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास** है। इस ग्रन्थ में द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ की पृष्ठभूमि का विशद् विश्लेषण किया है, साथ ही विभिन्न कालों में प्रवहमान हिन्दी की साहित्य धाराओं और कवियों का परिचय इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। विशिष्ट रोचक प्रसंग इस ग्रन्थ में वे हैं, जहाँ द्विवेदी जी ने युग की पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया है अथवा कवियों के काव्य सौष्ठव का मूल्यांकन किया है। इन प्रसंगों में द्विवेदी जी का पाण्डित्य एवं काव्य रसिकता दोनों ही स्पष्ट होते हैं। वास्तव में साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इनके विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का आदि-काल तथा हिन्दी साहित्य की भूमिका है, जिनका परिचय यथास्थान दूसरे प्रसंग में दिया जायेगा।

हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास संवत् २०१७ में रामबहोरी शुक्ल एवं भगीरथ मिश्र द्वारा लिखा गया इतिहास ग्रन्थ है। इसका प्रथम खण्ड अर्थात् आदिकाल और भक्तिकाल शुक्ल जी का लिखा हुआ और रीतिकाल तथा आधुनिक काल मिश्र जी द्वारा लिखित है। इस ग्रन्थ में उस समय तक किये गये अनुसन्धान की समस्त सूचनाओं का उपयोग किया गया है। प्राचीन काल तथा आधुनिक काल दोनों ही की काव्यधाराओं का परिपूर्ण परि-चय इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। इसके साथ-ही-साथ भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक

काल की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विशद विवेचन भी उपलब्ध होता है। आधुनिक युग के अन्तर्गत ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का अद्यतन विवरण इसमें दिया गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी कहानी और उपन्यास, नाटक, निबन्ध तथा समालोचना आदि का विकास देकर हिन्दी गद्य के विविध रूपों के विकास का परिचय भी प्रस्तुत किया है। जहाँ तक सूचना और ऐतिहासिक दृष्टि का सम्बन्ध है इसमें पक्षपातरहित तटस्थता देखने को मिलती है।

हिन्दी साहित्य का अतीत विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा लिखा गया हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग के पूर्व का इतिहास है तथा 'हिन्दी का समसामयिक साहित्य' आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास है। हिन्दी साहित्य का अतीत दो भागों में प्रकाशित है। प्रथम भाग आदिकाल और मध्यकाल के साहित्य पर लिखे गए ऐसे महत्त्वपूर्ण लेखों का संग्रह है जो कि साहित्य के इतिहास के अध्ययन में सहायता करते हैं। इसमें पृथ्वीराज रासो, विद्यापति मीराँ, कबीर, भक्तिमार्ग और उसके सम्प्रदाय, नन्ददास, तुलसीदास, रामभक्ति की अन्य शाखाएँ जैसे विषयों पर विचारोत्तेजक लेख हैं, इसके दूसरे भाग में श्रृंगारकाव्य का विवेचन है। यह विवेचन भी विशुद्ध ऐतिहासिक क्रम से न होकर विभिन्न लेखों के रूप में है। अतएव बहुत सी मध्य की कड़ियाँ छूट गयी हैं। फिर भी, रीतिकाव्य, रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्य, हास्यकाव्य, प्रशस्ति काव्य, नीतिकाव्य, नाट्य अनुवाद और गद्य काव्य विवेचन भी इस ग्रन्थ में किया गया है। इन विवेचनात्मक ऐतिहासिक लेखों में नवीन सूचना भी है और सूक्ष्म विवेचन भी। ऐसा कहा जा सकता है कि इसमें कोरे साहित्य इतिहास की इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर बड़े महत्त्वपूर्ण एवं सुन्दर लेख हैं, जिनमें हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण पहलुओं, समस्याओं, और कवियों पर एक विशिष्ट दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

हिन्दी का सामयिक साहित्य हिन्दी साहित्य के वर्तमान काल से सम्बन्धित इसमें भी ऐतिहासिक धारा या श्रृंखला का अभाव है और आधुनिक युग से सम्बन्धित कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों एवं कवियों पर लिखे लेखों का सँग्रह है। ये लेख इन अनुवंगों में विभाजित हैं—साहित्य, हिन्दी भाषा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, जगन्नाथदास रत्नाकर, लाला भगवानदीन, श्यामसुन्दर दास, आचार्य शुक्ल, पंडित रामावतार शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, राष्ट्रीय प्रवाह, वर्तमान साहित्य जिज्ञासा, निबन्ध, आलोचना, नाटक, कथा कहानी, प्रेमचन्द, वर्तमान साहित्यधारा, प्रगतिवाद, जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी, भक्त, दिनकर, वीरकाव्य-हल्दीघाटी। इस ग्रन्थ में भी कतिपय लेखों का संग्रह है, जिनमें कि लेखक की अपनी विचारधारा उनकी अपनी शैली में प्रकट हुई है। अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें बड़े उपयोगी सुझाव हैं।

इधर हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रसंग में दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योजनाबद्ध कार्य हुए हैं। उनमें से प्रथम हैं, तीन भागों में **'हिन्दी साहित्य'** जो भारतीय हिन्दी परिषद् का प्रकाशन है और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा ब्रजेश्वर वर्मा द्वारा संपादित है। दूसरा **'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास'** सत्रह भागों में प्रकाशनीय है। **हिन्दी साहित्य** का प्रथम खन्ड जो बारह

लेखकों-द्वारा लिखा गया है, हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। इसके अन्तर्गत भौगोलिक, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक पृष्ठभूमियों का विवरण देते हुए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है जिसमें हिन्दी के विकास की प्रारम्भिक स्थिति भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। द्वितीय खण्ड में सन् १८४० तक के हिन्दी साहित्य का इतिहास १७ लेखकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत नाथपंथी, रासो, वीर, सन्त, सूफ़ी, प्रेमाख्यान काव्यों तथा रामकाव्य, कृष्णकाव्य, रीतिकाव्य, नीति तथा जीवनी साहित्य के साथ-साथ जैन, राजस्थानी, मैथिली, हिंदवी, उर्दू और पंजाबी साहित्य का विवरण दिया गया है। इस प्रकार आधुनिक युग के पूर्ववर्ती प्रवहमान हिन्दी साहित्य की अनेक धाराओं का इस खण्ड में परिचय मिलता है। इसके तीसरे खण्ड में १८५० ई० से लेकर के आज तक का इतिहास है। इसके अन्तर्गत कविता, नाटक, आलोचना आदि के विकास का इतिहास दिया गया है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तिगत एवं विधागत धाराओं के विकास का यह सुन्दर एवं परिपूर्ण इतिहास है।

सत्रह भागों में आयोजित '**हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास**' हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रथम भाग में हिन्दी साहित्य की पीठिका, द्वितीय भाग में भाषा का विकास, तृतीय भाग में हिन्दी साहित्य का उदय और विकास, (१५०० वि० तक), चतुर्थ भाग में भक्तिकाल, निर्गुण भक्ति (१५०० से १७०० वि० तक), पंचम भाग में भक्तिकाल सगुणभक्ति (१५०० से १७०० वि० तक), छठें भाग में शृंगारकाल (रीतिबद्ध) १७०० से १८०० वि० तक, सप्तमभाग में शृंगारकाल (रीति युक्त) १७०० से १९०० वि० तक, अष्टम भाग में हिन्दी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेन्दु) १९०० से १९५० तक, नवम भाग, हिन्दी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदीकाल) १९५० से १९७५ तक, दशम भाग, हिन्दी साहित्य का उत्कर्षकाल १९७४ से ९४ वि० तक, एकादश भाग, हिन्दी साहित्य का उत्कर्षकाल' (नाटक) १९७४-९५ वि० तक, द्वादश भाग, हिन्दी साहित्य का उत्कर्षकाल (उपन्यास, कथा, आख्यायिक) १९७५ से १९९५ वि० तक, त्रयोदश भाग, हिन्दी साहित्य का उत्कर्षकाल १९७५ से १९९५ वि० तक, चतुर्दश भाग हिन्दी साहित्य का अद्यतन काल १९९५ से २०१० वि० तक, पंचदश भाग में हिन्दी में शास्त्र तथा विज्ञान, षोडश भाग में हिन्दी का लोक साहित्य तथा सप्तदश भाग हिन्दी का उन्नयन है। इन भागों में हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों की समस्याओं प्रवृत्तियों और धाराओं का विस्तृत, विवरणपूर्ण एवं विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है अभी तक इतना विस्तृत इतिहास और किसी भी भाषा के साहित्य का अभी तक नहीं निकला। इस इतिहास के अन्तर्गत हिन्दी भाषा और उसके साहित्य की समस्त उपयोगी सामग्री संग्रहीत होगी।

उल्लिखित हिन्दी साहित्य के इतिहासों के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय इतिहासों में रामअवध द्विवेदी कृत **हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा** है। यह ग्रन्थ कुल १९ प्रकरणों में विभाजित है, जो इस प्रकार है, आदिकाल, वीरगाथा काल, भक्तिकाव्य, निर्गुण सन्त कवि, प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों के रहस्यकाव्य, रामभक्ति शाखा का काव्य, रीतिशाखा काव्य, प्रारम्भिक रीतिकाव्य रीतिकाल के परवर्ती कवि, रीतिकाल के अन्य कवि, संक्रमण काल,

आधुनिककाल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और भारतेन्दु युग, महावीर प्रसाद द्विवेदी और द्विवेदी युग, छायावाद युग, १६३४ के बाद का साहित्य और उपसंहार। इस ग्रन्थ में प्रसंगों का विभाजन अपने ढंग से किया गया है। साथ ही, प्रवृत्तियों का विवेचन भी रोचक, उपादेय एवं नवीन ढंग से है। इसके द्वारा हिन्दी साहित्य का एक ऐसा संक्षिप्त परिचय मिलता है जो हिन्दी साहित्य के प्रति अभिरुचि जाग्रत कर सकता है।

संक्षिप्त इतिहास के प्रसंगों में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत **हिन्दी साहित्य का इतिहास** बड़ा उपयोगी है। यह ग्रन्थ साहित्य का इतिहास किस प्रकार से लिखा जाना चाहिए इसके लिए एक आदर्श है। इसमें ऐतिहासिक दृष्टि प्रारम्भ से अन्त तक अपनायी गयी है और लेखक का दृष्टिकोण अत्यन्त तटस्थ तथा प्रामाणिक रूप में उपस्थित किया गया है। विशेष रूप से आधुनिक साहित्य की पृष्ठभूमि का सुन्दर विवेचन इसमें किया गया है।

ऊपर लिखे ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे मोटे हिन्दी साहित्य के इतिहास के ऊपर लिखे गये ग्रन्थ हैं, जिनकी सूची पहले दी गयी है। परन्तु इन ग्रन्थों में अधिकांश सामग्री प्रसिद्ध ग्रन्थों के आधार पर ही प्राप्त होती है और कोई वैचारिक नवीनता भी उपलब्ध नहीं होती। साथ-ही-साथ किसी विशेष दृष्टिकोण का भी संकेत नहीं मिलता। एक विशिष्ट दृष्टिकोण का परिचय आचार्य चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखी हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्राप्त होता है, जो सांस्कृतिक कहा जा सकता है।

प्रवृत्तिगत इतिहास—

प्रवृत्तिगत इतिहास के प्रसंग में कतिपय ग्रन्थ तो ऐसे हैं, जो हिन्दी साहित्य की समस्त प्रवृत्तियों का या किसी युग की प्रवृत्तियों का विवेचन करते हैं। वहाँ पर इन ग्रन्थों में मुख्य दृष्टिकोण प्रवृत्ति के विकास का विवेचन है। प्रवृत्ति का इतिहास भी कहीं-कहीं प्राप्त होता है, परन्तु एक इतिहास की समस्त तथ्यात्मक सूचनाएँ देने का आग्रह और अपेक्षा इन ग्रन्थों में नहीं दिखलाई देती। इस प्रकार के ग्रन्थों में विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

(१) हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ	जयकिशन प्रसाद
(२) आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ	जयकिशन प्रसाद
(३) आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ	नगेन्द्र
(४) हिन्दी साहित्य में विविधवाद	प्रेमनारायण शुक्ल
(५) हिन्दी साहित्य और विभिन्नवाद	रामजी लाल बछौनिया
(६) आधुनिक हिन्दी साहित्य के विभिन्नवाद	नामवरसिंह
(७) हिन्दी साहित्य, प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ	शिवनन्दन प्रसाद

इन ग्रन्थों में सामान्य रूप से साहित्य और विशेष रूप से हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों पर विचार प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य की अलग-अलग प्रवृत्तियों को लेकर भी ग्रन्थ लिखे गए। अधिकांशतः ये ग्रन्थ शोध के परिणाम हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का विवेचनात्मक परिचय देना ही यहाँ अलम् होगा।

दशरथ ओझा तथा दशरथ शर्मा द्वारा सम्पादित **रास और रासान्वयी काव्य** इस

ग्रन्थ में प्रथम भाग में रास परम्परा का विवेचन और विकास प्रस्तुत करते हुए उनकी विभिन्न धाराओं का परिचय दिया गया है; अन्त में प्रमुख रास काव्यों का संग्रह हैं। ये काव्य अधिकांश जैन काव्य हैं। डॉ० हरिकांत श्रीवास्तव द्वारा लिखित **भारतीय प्रेमाख्यान** हिन्दी साहित्य की प्रेमाख्यान परम्परा की विवेचना प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ है और जायसी के परवर्ती सूफ़ी कवियों और उनके काव्य की विवेचना सरला शुक्ल द्वारा अपने ग्रन्थ **जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य** में की गयी है। इन दोनों ग्रन्थ में साहित्य के सूफ़ीतर प्रेमाख्यान का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इस प्रसंग में अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ परशुराम चतुर्वेदी कृत **भारतीय प्रेमाख्यान परंपरा** तथा हिन्दी सूफ़ी प्रेमाख्यान है। पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ कृत **हिन्दी के सूफी कवि** भी इसी प्रवृत्ति से संबंधित ग्रन्थ है।

हिन्दी साहित्य की माधुर्य भक्ति परम्परा को लेकर भी उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को सांस्कृतिक पृष्ठिभूमि में रखने का प्रयास किया। अत्यधिक लोकप्रिय इतिहासों में एक बाबू गुलाबराय का हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास है।

इस प्रसंग में नलिन विलोचन शर्मा साहित्य का इतिहास दर्शन नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में उन्होंने साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित विचार प्रकट किए हैं और उन सिद्धान्तों का संकेत किया है जो साहित्य के इतिहासकार द्वारा अनिवार्यतः अपनाएँ जाने चाहिए। उनका विचार है कि 'साहित्य का इतिहास लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर युग विशेष के लेखक समूह की कृति समष्टि का इतिहास हो सकता है। इस तथ्य येर बहुत कम इतिहास लेखकों का ध्यान रहता है। अतएव साहित्य का इतिहास एक सूत्र मे गुंथी आलोचनाओं का रूप ग्रहण करता रहा है। इस ग्रन्थ में लेखक की आधुनिक ऐतिहासिक चेतना स्पष्ट हुई। परन्तु अनेक स्थलों पर विचार उलझे हुए और अस्पष्ट जान पड़ते हैं। साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित कतिपय समस्याओं पर भी इस ग्रन्थ में विचार किया गया है जो साहित्य के इतिहास लेखकों के प्रति उपादेय है।

अनेक ग्रन्थ लिखे गए। इनमें से प्रमुख हैं :—

(१) भक्ति साहित्य में मधुरोपासना — परशुराम चतुर्वेदी
(२) ब्रजभाषा कृष्ण काव्य में माधुर्यभक्ति — रूपनारायण
(३) हिन्दी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना — श्यामनारायण पाण्डेय

इसमें कृष्ण काव्य के अन्तर्गत प्राप्त माधुर्यभक्ति का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। इसी प्रकार भगवती प्रसाद सिंह कृत **रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय**, भुवनेश्वर प्रसाद माधव कृत **रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना** आदि ग्रन्थों में हिन्दी साहित्य के रामकाव्य में माधुर्यभक्ति की प्रवृत्ति का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। प्रथम ग्रन्थ में दृष्टिकोण कुल साम्प्रदायिक है, जब कि द्वितीय ग्रन्थ में साहित्यिक है।

अन्त साहित्य से सम्बन्धित विभिन्न प्रवृत्तियों पर भी ऐतिहासिक कार्य हुआ है। इनमें से प्रमुख निम्नलिखत हैं :—पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल कृत **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**, परशुराम चतुर्वेदी कृत **उत्तरी भारत की संत परम्परा**, भगवतीप्रसाद शुक्ल कृत **बावरी**

पंथ के हिन्दी कवि तथा **निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुलसीदास** निरंजनी, भगीरथ मिश्र कृत। इन ग्रन्थों में सन्त काव्य की विभिन्न विशिष्ट सम्प्रदायगत प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है जो इतिहास और संस्कृत के निर्माण में सन्त साहित्य के योगदान को स्पष्ट करने वाला है। इसके साथ-ही-साथ कुछ अन्य ग्रन्थ हैं जो हिन्दी साहित्य की भक्तिगत प्रवृत्तियों का अध्ययन करने वाले हैं। इनमें से भक्ति का विकास—डॉ० मुन्शीराम शर्मा तथा रामचन्द्र मिश्र कृत 'हिन्दी पद परम्परा और तुलसीदास' महत्त्व के हैं। भक्ति आन्दोलन को लेकर कुछ तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किये गये हैं, इनमें से प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

डॉ० हिरण्मय कृत **हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन**, रतन कुमारी कृत **हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन**, भास्करन नायर कृत **हिन्दी और मलयालम में कृष्ण भक्ति काव्य**, ना० चिं० जोगलेकर कृत **हिन्दी और मराठी का वैष्णव साहित्य और उसका तुलनात्मक अध्ययन**, रा० शं० केलकर कृत **हिन्दी और मराठी के कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन**, डॉ० प्रभाकर माचवे कृत **हिन्दी और मराठी के सन्त कवि**। इन ग्रन्थों में हिन्दी की भक्तिगत प्रवृत्ति का दूसरी भाषा के साहित्य की उसी प्रवृत्ति के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इनमें भी मूल दृष्टि ऐतिहासिक है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत अन्य प्रवृत्तिगत अध्ययनों में से प्रमुख है। भागीरथ मिश्र कृत **हिन्दी रीति साहित्य**, सत्यदेव चौधरी कृत **रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य**, नगेन्द्र कृत **हिन्दी रीति काव्य की भूमिका**, वेंकट शर्मा कृत **आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का इतिहास**, रामदरश मिश्र कृत **हिन्दी समालोचना का इतिहास**, रामेश्वर खंडेलवाल कृत **आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण**, भगीरथ मिश्र कृत **हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास**, दीनानाथ शरण कृत **हिन्दी काव्य में छायावाद**, नरेन्द्र देव वर्मा कृत **प्रयोगवाद**, कृष्णकुमार श्रीवास्तव कृत **'हमारे साहित्य में हास्यरस**, बरसानेलाल चतुर्वेदी कृत **हिन्दी काव्य में हास्यरस**। इन ग्रन्थों में हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत प्रचारित विभिन्न प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

विधागत इतिहास

विधागत इतिहास ग्रन्थों के अन्तर्गत गद्य पद्य की अनेक विधाओं का ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन किया गया है। इनमें से प्रमुख का विवेचनात्मक परिचय यहाँ दिया जाता है। गद्य को लेकर कई ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें मुख्य हैं—डॉ० रामचन्द्र तिवारी कृत हिन्दी का गद्य इतिहास, डॉ० जगन्नाथ शर्मा कृत हिन्दो गद्य साहित्य का इतिहास तथा हिन्दी गद्य शैली का विकास, श्री हरिमोहनदास श्रीवास्तव कृत मध्यकालीन हिन्दी गद्य। इन ग्रन्थों में हिन्दी के समग्र अथवा युग विशेष के गद्य साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। डॉ० तिवारी का ग्रन्थ हिन्दी गद्य की विविध धाराओं का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है, जिसमें निबन्ध, आलोचना, उपन्यास, कहानी सभी का विवरण प्राप्त है। हिन्दी की गद्य शैली का विकास कालक्रमानुसार हिन्दी के विभिन्न गद्यकारों की शैली का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। इससे हिन्दी गद्य शैली के विविध रूपों का सुन्दर परिचय मिल जाता है।

हिन्दी के निबन्ध साहित्य का अध्ययन करने वाले तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—प्रभाकर माचवे कृत हिन्दी का निबन्ध साहित्य, ओंकारनाथ शर्मा कृत हिन्दी निबन्ध का विकास, ब्रह्मदत्त शर्मा कृत हिन्दी साहित्य में निबन्ध। इन ग्रन्थों में हिन्दी निबन्धों का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। फिर भी, हिन्दी के निबन्ध साहित्य का परिपूर्ण और सम्यक् ऐतिहासिक विवेचन भलीभाँति किसी ग्रन्थ में नहीं हो पाया है।

उपन्यास को लेकर कुछ ग्रन्थ लिखे गए हैं, जिनमें से उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं—शिवनारायण श्रीवास्तव कृत हिन्दी उपन्यास, ब्रजरत्नदास कृत हिन्दी उपन्यास, गणेशन कृत हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कृत हिन्दी कथा साहित्य, चंडिका प्रसाद जोशी कृत हिन्दी उपन्यास का समाज शास्त्रीय अध्ययन। इन ग्रन्थों में गणेशन द्वारा लिखित पुस्तक परिचयात्मक तथा आलोचनात्मक दोनों दृष्टियों से परिपूर्ण है। इस प्रसंग में देवराज उपाध्याय का 'हिन्दी कथा साहित्य में मनोविज्ञान' उल्लेखनीय है। इस अन्तर्गत हिन्दी के कथा साहित्य की मनोवैज्ञानिक धारा का विशेष से विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी नाटक साहित्य का भी ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन हुआ है, जिनमें से उल्लेखनीय ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—दशरथ ओझा कृत **हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास** बच्चन सिंह कृत **हिन्दी नाटक** भानुदेव शुक्ल कृत भारतेन्दु **युगीन नाट्य साहित्य**, जयनाथ 'नलिन' कृत **हिन्दी नाटककार**। इन ग्रन्थों में हिन्दी के नाट्य साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। फिर भी अभी हिन्दी नाटक का क्रमशः विवेचनात्मक एवं विवरणपूर्ण इतिहास नहीं लिखा गया।

हिन्दी कहानी को लेकर के अधिक ग्रन्थ नहीं लिखे गये। इस प्रसंग में उल्लेखनीय कार्य लक्ष्मीनारायण लाल ने किया है। उनके दो ग्रन्थ हैं—**हिन्दी कहानी की शिल्पविधि का विकास** और **आधुनिक हिन्दी कहानी**। कहानी के प्रसंग में मोहनलाल जिज्ञासु ने अपनी पुस्तक '**हिन्दी कहानी और कहानीकार**' में भी कुछ ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी कहानी-साहित्य का विवेचन करते हुए महत्त्वपूर्ण कहानीकारों का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त प्रकाश पण्डित की एक पुस्तक है **हिन्दी कहानी उद्भव और विकास**। इस ग्रन्थ में हिन्दी कहानी का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

एकांकी साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन अधिक ग्रन्थों में नहीं मिलता। इस प्रसंग में रामचन्द्र महेन्द्र कृत **हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास** एकमात्र ग्रन्थ कहा जा सकता है।

पद्य-साहित्य की विभिन्न विधाओं का भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। महाकाव्य के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करने वाला ग्रन्थ शम्भुनाथ सिंह का **हिन्दी महाकाव्य स्वरूप और विकास है**। इस ग्रन्थ में लेखक ने महाकाव्य के स्वरूप का सुन्दर विवेचन करते हुए उसके विकास का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। पद्य काव्य के विधागत अध्ययन की दृष्टि से निम्नलिखित ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं—हरदेव बाहरी कृत **हिन्दी काव्य शैलियों का विकास**, निर्मला जैन कृत **आधुनिक हिन्दी काव्य में रूपविधाएँ**, लालधर त्रिपाठी कृत **गीति काव्य का विकास**, रामखेलावन पाण्डेय कृत **हिन्दी गीति काव्य**, जितेन्द्रनाथ पाठक

कृत **हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास**, शिवकुमार मिश्र कृत **नया हिन्दी काव्य**, शिवबालक शुक्ल कृत **हिन्दी के प्रबन्ध काव्य**। उपर्युक्त ग्रन्थों में हिन्दी मुक्तक काव्य, हिन्दी प्रबन्ध काव्य आदि का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। साथ-ही-साथ, अन्य ग्रन्थों में हिन्दी की काव्यगत विधाओं का भी ऐतिहासिक विकास देखने को मिलता है। फिर भी विधागत ऐतिहासिक अध्ययन अभी परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

युगीन साहित्य

इस साहित्य के अन्तर्गत हिन्दी के वे इतिहास आते हैं, जिनमें किसी युग विशेष का साहित्यिक विवेचन अथवा उनकी ऐतिहासिक भूमिका देने का प्रयत्न किया गया है। भूमिका प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य की भूमिका है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य की पूर्ववर्ती परम्पराओं और समयर्ती सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण तथा विवेचन प्रस्तुत किया है, जो हिन्दी साहित्य और विशेष रूप से हिन्दी भक्ति साहित्य के अध्ययन के लिए एक दृष्टि प्रदान करता है। इस ग्रन्थ के अन्त में जो कवि समय एवं कवि रूढ़ियों पर टिप्पणियाँ हैं, वे भी हिन्दी काव्य का अध्ययन करने वालों के लिए अत्यन्त उपादेय हैं। द्विवेदी जी का दूसरा ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का आदिकाल भी युगीन साहित्यिक इतिहास के रूप में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत चार व्याख्यानों में उन्होंने आदिकाल के नाम और उनकी विविध साहित्यिक धाराओं का विवेचन प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के दो ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यधारा और (२) दक्खिनी काव्यधारा। प्रथम ग्रन्थ के अन्तर्गत उन्होंने (७वीं) शती से लेकर १३वीं शती तक के पुरानी हिन्दी के उस काव्य का अध्ययन किया है जो हिन्दी का प्राचीन रूप कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि हिन्दी का बोलचाल की भाषा के रूप में प्रयोग सातवीं-आठवीं शती से ही प्रारम्भ हो गया था। इस ग्रन्थ में उन्होंने कतिपय सिद्धों तथा अन्य अपभ्रंश के लेखकों की उन रचनाओं का संग्रह भी किया है, जो हिन्दी के बहुत निकट भी आती हैं। अतः इन दोनों ग्रन्थों का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग को लेकर बहुत अधिक ग्रन्थ नहीं लिखे गये। इस विषय के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं। डॉ० मदन गोपाल कृत **१५वीं-१६वीं शताब्दी के हिन्दी काव्य में प्रतिबिम्बित भारतीय संस्कृति का अध्ययन**, नगेन्द्र कृत **रीतिकाव्य की भूमिका**, सावित्री सिन्हा कृत **मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ**, भगीरथ मिश्र कृत **हिन्दी का रीति साहित्य**। इनमें से अध्ययन की दृष्टि से प्रथम ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्व का है। इसमें व्यापक रीति से १५वीं-१६वीं सदी के हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं का अध्ययन किया गया है।

आधुनिक काल को लेकर के हिन्दी में अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इनमें से भूमिका के रूप में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत **आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका** नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्व का है। इसमें लेखक ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के परिवर्तन और विकास की समग्र पृष्ठभूमि का बड़ा ही शोधपूर्ण विश्लेषण और विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में वास्तविक

ऐतिहासिक दृष्टि विद्यमान मिलती है। इसी प्रकार के उनके दो और ग्रन्थ **उन्नीसवीं शताब्दी** तथा **आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास** हैं। डॉ० श्रीकृष्ण लाल कृत **आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास** नामक ग्रन्थ भी सन् १९०० से लेकर १९२५ तक के हिन्दी साहित्य का विवेचन प्रस्तुत करता है। इसमें हिन्दी साहित्य की विविध धाराओं का बड़ा सुन्दर अध्ययन किया गया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का समग्र इतिहास प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है, श्रीकृष्णशंकर शुक्ल कृत **आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास**। इसमें भारतेन्दु से लेकर के १९५० तक के हिन्दी साहित्य के इतिहास का परिचय है। भोलानाथ कृत **आधुनिक हिन्दी साहित्य** १९२५ से १९५० तक के हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत अध्ययन प्रस्तुत करता है और सत्यकाम वर्मा का **हिन्दी का आधुनिक साहित्य** भी अच्छा ग्रन्थ है। इस प्रसंग में केसरी नारायण शुक्ल कृत **आधुनिक काव्यधारा** विशेष महत्त्व का ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने आधुनिक हिन्दी काव्य की विविध अवस्थाओं और काल खण्डों के विकास का विवेचन युगीन पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत किया है।

इस प्रसंग में नन्ददुलारे वाजपेयी कृत दो ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—(१) **हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी** (२) **आधुनिक साहित्य**। इन दोनों ग्रन्थों में यद्यपि क्रमबद्ध इतिहास नहीं प्रस्तुत किया गया, फिर भी आधुनिक हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक समस्याओं तथा आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियों और उनमें योगदान देनेवाले महत्त्वपूर्ण लेखकों की कृतियों का बड़ा ही सूक्ष्म और सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वाजपेयी जो के अनेक लेखों में हमें आधुनिक हिन्दी साहित्य के अध्ययन की एक दृष्टि प्राप्त होती है।

द्विवेदीयुगीन हिन्दी काव्य को लेकर सुधीन्द्र का ग्रन्थ **'हिन्दी कविता में युगान्तर'** महत्त्व का है। इसमें उन्होंने इस युग में उपस्थित नये साहित्यिक मोड़ों का कारण सहित विवेचन किया है और यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि इस समय का हिन्दी साहित्य पूर्ववर्ती साहित्य से भिन्न होकर नयी राष्ट्रीय चेतना से संयुक्त हो रहा है। अतः इस कविता का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन के प्रसंग में शिवदानसिंह चौहान द्वारा रचित **हिन्दी साहित्य के ८० वर्ष** एक विशिष्ट दृष्टि से लिखा गया ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि हिन्दीं साहित्य की रचना पिछले केवल ८० वर्षों में ही हुई है। इसका पूर्ववर्ती साहित्य ब्रजभाषा या अवधी का साहित्य है। लेखक के नवीन दृष्टिकोण की सराहना करते हुए भी उसकी मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि हिन्दी की अनेक बोलियों का साहित्य समग्र रूप से हिन्दी का ही साहित्य है। विशेष रूप से ब्रजभाषा और अवधी का साहित्य भी अपने-अपने युगों की उसी राष्ट्रीय चेतना से युक्त है, जिसका प्रतिबिम्ब हम खड़ीबोली के साहित्य में पाते हैं। वरन् यह कहा जा सकता है कि बिना किसी प्रचार और प्रसार के हिन्दी की महत्त्वपूर्ण ब्रजभाषा और अवधी की रचनाओं ने देश के कोने-कोने में ख्याति और महत्त्व प्राप्त किया है। और आज भी हिन्दी साहित्य उस महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति को खोकर खोखला हो जायेगा इसमें कोई संदेह नहीं। खड़ी बोली का रूप अपनाने में आवश्यकता का आग्रह रहा है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम अन्य युगों में बहु

प्रचलित, सम्मानित और परिष्कृत हिन्दी के ब्रजभाषा और अवधी के रूपों को नितान्त महत्त्वहीन कह सकेंगे। आज भी हमारे हृदय में सांस्कृतिक स्पन्दन उठाने की जितनी शक्ति उन रचनाओं में है और जितना जन सामान्य के हृदय का मर्मस्पर्श वे कर सकती हैं, वैसी सामर्थ्य आधुनिक हिन्दी की खड़ीबोली की रचनाओं में बहुत कम ही प्राप्त होती है। अतः हिन्दी का समग्र साहित्य राष्ट्रभाषा का साहित्य है।

सम्प्रदाय, प्रदेश और संस्थागत इतिहास—

हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक रूप वह भी है, जो किसी विशिष्ट सम्प्रदाय, प्रदेश एवं संस्था की देन के रूप में प्राप्त होता है। अतः उसका भी उल्लेख करना हिन्दी साहित्य के इतिहास के पूर्ण परिचय के लिए आवश्यक है।

सम्प्रदायों की देन के रूप में कुछ ग्रन्थों का उल्लेख प्रवृत्ति के प्रसंग में किया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में विशेष उल्लेखनीय निम्नांकित ग्रन्थ हैं। दीनदयाल गुप्त कृत अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, विजेन्द्र स्नातक कृत राधा वल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, पीताम्बर दत्त बर्थवाल कृत हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, बद्री नारायण श्रीवास्तव कृत रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, भगीरथ मिश्र कृत निरंजनी सम्प्रदाय तथा सन्त तुलसीदास निरंजनी, भगवती प्रसाद सिंह कृत राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय, भुवनेश्वर मिश्र माधव कृत रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना, धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी कृत सन्त मत का सरभंग साहित्य, विमल कुमार जैन कृत हिन्दी साहित्य पर सूफ़ी मत का प्रभाव, रामपूजन तिवारी कृत सूफ़ी मत एवं सूफ़ी साहित्य, भगवती प्रसाद शुक्ल कृत बावरी पन्थ के हिन्दी कवि, शान्ति प्रसाद चन्दोला कृत नाथ पन्थ के हिन्दी कवि। इनमें से अधिकांश शोध प्रबन्ध हैं, अतएव उसका महत्त्व स्वतः सिद्ध है। इनके द्वारा अधिकांशतया वह साहित्य प्रकाश में आया जो इसके पूर्व या तो अज्ञात् था या साहित्यिक दृष्टि से उपेक्षित था। इन अध्ययनों से इस बात का पता चलता है कि हिन्दी का विपुल साहित्य धार्मिक सम्प्रदायों के सन्त और भक्त कवियों द्वारा निर्मित किया गया। अतः इतिहास की दृष्टि से वह महत्त्व का है।

कृष्ण भक्ति सम्बन्धी अन्य साम्प्रदायिक हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा जा रहा है जिनमें से प्रमुख हैं, गौड़ीय सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय।

जिस प्रकार से सम्प्रदायगत साहित्य का एक अलग ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व है, उसी प्रकार से हिन्दी का प्रदेशगत साहित्य भी अपना राष्ट्रीय महत्त्व रखता है। यद्यपि इसमें कुछ ऐसे प्रदेश आते हैं जो हिन्दी भाषी हैं, जैसे राजस्थान और विहार लेकिन इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रदेश भी हैं, जो हिन्दी भाषी नहीं हैं। फिर भी उन प्रदेशों में अहिन्दी भाषी कवियों के द्वारा प्रचुर मात्रा में हिन्दी साहित्य की रचना प्राचीन काल से ही की गयी है। इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय ग्रंथ हैं; विनयमोहन शर्मा कृत—**हिन्दी साहित्य को मराठी संतों की देन** तथा **पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास**—चन्द्रकान्त बाली कृत, अम्बाशंकर नागर कृत **गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ**। इन तीनों ग्रंथों में मराठी, पंजाबी और गुजराती भाषी कवियों द्वारा रचित हिन्दी साहित्य का परिचय दिया

गया है, जो इस बात का द्योतक है, कि हिन्दी आज से नहीं वरन् १३वीं, १४वीं सदी से ही राष्ट्रीय भाषा का काम कर रही थी और हिन्दी में लिखना इस बात का द्योतक माना जाता था कि वह किसी क्षेत्र से लिये नहीं वरन् समूचे देश के लिये लिखा जा रहा है।

प्रदेशगत इतिहास के रूप में अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ निम्नलिखित हैं। मोतीलाल मेनारिया कृत—**राजस्थानी** साहित्य की रूपरेखा, शिवपूजन सहाय कृत—**हिन्दी साहित्य और बिहार**, अम्बाप्रसाद 'सुमन' कृत—**निमाड़ी और उसका साहित्य**, जयकान्त मिश्र कृत **मैथिली साहित्य का संक्षिप्त इतिहास**, गौरीशंकर द्विवेदी कृत—**बुन्देल वैभव**, नरेशचन्द्र चतुर्वेदी कृत—**हिन्दी साहित्य का विकास और कानपुर**, ब्रजकिशोर मिश्र कृत **अवध के प्रमुख कवि**।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा के अतिरिक्त अन्य विभिन्न क्षेत्रों की प्रतिभाओं के उत्स से निःसृत अनेक ऐसी छोटी मोटी किन्तु अज्ञात हिन्दी साहित्य की धाराएँ हैं, जो उसकी विपुल साहित्यिक सम्पत्ति को अत्यधिक समृद्ध करने वाली हैं।

इनका पता धीरे-धीरे हमें इस प्रकार के साहित्यिक अध्ययनों से चल रहा है। जिस प्रकार से सम्प्रदायगत साहित्य से हिन्दी काव्य का एक अज्ञात क्षेत्र खुला उसी प्रकार से प्रादेशिक अध्ययनों से भी उसकी अब तक अज्ञात सम्पत्ति उसके कोश में धीरे-धीरे समाविष्ट हो रही है। अतः इन समग्र स्रोतों की सम्पत्ति का संकलन, आकलन और मूल्यांकन हमें बड़ी सावधानी से करना चाहिए।

यह सूचनीय बात है कि नेपाल तथा पहाड़ी क्षेत्रों में निर्मित हिन्दी साहित्य का अध्ययन अभी तक पूरा नहीं हुआ। इसी प्रकार छत्तीसगढ़ी क्षेत्र के साहित्य का अध्ययन शेष है। इन अध्ययनों से भी नवीन साहित्य पर प्रकाश पड़ेगा।

संस्थागत इतिहास के प्रसंग में एक ग्रन्थ उल्लेखनीय है, लक्ष्मीनारायण गुप्त कृत हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन। इस ग्रन्थ में यह स्पष्ट किया गया है कि आर्यसमाज के प्रचार का मुख्य माध्यम हिन्दी भाषा ही रहा है और उसके उपदेशकों और प्रचारकों ने हिन्दी भाषा में काफी लिखा है। उनकी रचनाओं में पर्याप्त संख्या में ऐसी भी रचनाएँ हैं जो साहित्यिक दृष्टि से महत्त्व की हैं। इन संस्थागत साहित्यिक इतिहासों के प्रसंग में आर्यसमाज द्वारा रचित हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक विवरण अपना महत्त्व रखता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के इन विविध ग्रन्थों के अनुशीलन से इस बात का पता लगता है कि लेखकों, संस्थाओं, सम्प्रदायों आदि के द्वारा उनकी निजी, सामूहिक एवं सामाजिक प्रेरणाओं के परिज्ञान तथा साहित्य के निर्माण का जो कार्य हुआ है, वह साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से पर्याप्त स्वस्थ एवं प्रेरणादायक है। इन इतिहास ग्रन्थों के अध्ययन से हिन्दी के साहित्य की मध्यकालिक एवं युगीन ऐतिहासिकता का व्यापक परिवेश दृष्टिगत होता है। इसके व्यापक ऐतिहासिक बोध के पश्चात् हम यह अनुभव किए बिना नहीं रह सकते कि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी का साहित्य विश्व की महान् भाषाओं के साहित्य से सहज ही तुलनीय है। उसकी समृद्धि एवं उत्कृष्टता किसी से भी हीन नहीं कही जा सकती।

उपसंहार

भारत की अधिकांश प्रमुख भाषाओं के समान हिन्दी का साहित्य भी लगभग एक हज़ार वर्ष पुराना है। एक हज़ार वर्ष के इस साहित्य-प्रवाह में आधुनिक साहित्य के योदगान का आकलन करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पहले संक्षेप में यह विचार कर लिया जाए कि भारतीय इतिहास के मानचित्र में हमारे इस आधुनिक युग का अर्थात् सन् १८५७ से आरंभ होने वाले वर्तमान युग का क्या स्थान है। आधुनिक भारत के इतिहास की प्रथम महत्वपूर्ण घटना है सन् १८५७ का स्वतंत्रता-संघर्ष जो एक प्रकार से इस युग की पहली सीमारेखा है। राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक जागरण का यह आंदोलन वास्तव में मध्य युग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का पहला उद्घोष था। भारतीय चेतना में व्याप्त मध्ययुगीन संस्कार सहसा विक्षुब्ध हो उठे, भाग्यवाद पर आश्रित अकर्मण्यता की भावना जो हर प्रकार के परिवर्तन के प्रति सशंक थी नवीन परिस्थितियों के आघात से आंदोलित हो उठी और जन-मानस में अपने राजनीतिक-सामाजिक स्वत्व को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी। इसके बाद ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई—खण्डों में विभक्त भारत एक संगठित राज्य बन कर विदेशी साम्राज्य का प्रमुख अंग बन गया। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान तथा सभ्यता-संस्कृति से भारतीय मानस का सम्पर्क और संघर्ष हुआ जिसके फलस्वरूप आधुनिक चेतना का जन्म हुआ।

आधुनिकता के विभिन्न अर्थ और लक्षण :

आधुनिक शब्द का प्रयोग मुख्यतः दो अर्थों में होता है—एक अर्थ मात्र काल-वाचक है जिसके अनुसार 'आधुनिक' एक विशेष कालावधि का द्योतक है। भारतीय इतिहास में आधुनिक युग का प्रारम्भ सामान्य रूप से १८वीं शती के उत्तरार्ध से माना जाता है जबकि देश के दक्षिण-पश्चिमी और पूर्वी भागों में यूरोपीय देशों के उपनिवेश स्थापित होने लगे थे परन्तु इसका वास्तविक रूप सन् १८५७ के बाद ही प्रस्फुटित हुआ। इस कालवाचक अर्थ का एक अन्य रूप भी है। जहाँ आधुनिक 'अतीत से भिन्न' या 'नये' का द्योतन करता है। इसके अनुसार आधुनिकता की धारणा समय-सापेक्ष होने पर भी किसी काल-खण्ड तक सीमित न रह कर गत्यात्मक बनी रहती है। उदाहरण के लिए हमारा आलोच्य युग व्यापक अर्थ में आधुनिक होने पर भी विशेष अर्थ में आधुनिकता के कम-से-कम तीन-चार चरणों में होकर गुज़र चुका है।

दूसरा अर्थ विचारपरक है जिसके अनुसार 'आधुनिक' विशेषण एक विशिष्ट दृष्टिकोण—मध्ययुगीन विचारपद्धति से भिन्न एक नयी जीवन-दृष्टि का वाचक है, यद्यपि पहला अर्थात्

ऐतिहासिक अर्थ भी उसमें गर्भित है। वस्तुतः आधुनिकता की धारणा का मूल आधार ऐतिहासिक चेतना ही है : आधुनिक दृष्टि मध्ययुगीन और प्राचीन की अपेक्षा इसीलिए भिन्न है कि इसमें इतिहास-बोध की प्रधानता है; अर्थात् यह अपने पर्य्यावरण के प्रति निश्चय ही सजग है। मध्ययुग और पुराकाल में भी जीवन दृष्टि अनिवार्यतः ही अपने परिवेश से प्रभावित थी, परन्तु वह उसके प्रति कदाचित् इतनी प्रबुद्ध नहीं थी। इतिहास की चेतना का विकास उस समय नहीं हुआ था। विचारपरक या दृष्टिपरक अर्थ में आधुनिकता एक मिश्र धारणा है जिसका निर्माण अनेक तत्त्वों से हुआ है। इनमें प्रथम और आधारभूत तत्त्व है अपने देश-कालके साथ जीवन्त एवं सचेतन संबंध। पूर्ववर्ती युगों का जीवन प्रवृत्ति का जीवन था। जिसमें देश-काल जीवन के अन्तर्गत रमा हुआ था पर मनुष्य को उसकी पृथक् चेतना नहीं थी—प्रवृत्ति के प्राधान्य के कारण उसकी कदाचित् आवश्यकता नहीं होती थी, जैसे हमारे व्यक्तित्व में प्रकृति के तत्त्व रमे रहते हैं पर हम उनके अस्तित्त्व के प्रति सजग नहीं है। 'आधुनिक' मनुष्य का जन्म उस समय हुआ जब वह अपने देश-काल के प्रति, अपने युग और इतिहास के प्रति, प्रबुद्ध हुआ। इस प्रबुद्धता के परिणामस्वरूप आधुनिक जीवन-दृष्टि में सामाजिक चेतना और आरम्भिक चरण में राष्ट्रीय चेतना का भी स्वतः ही समावेश हो गया था। कल्पना और आदर्श का आकर्षण कम हो गया था—जीवन-दृष्टि व्यावहारिक एवं यथार्थपरक हो रही थी। भावुकता के स्थान पर विवेक का नियंत्रण बढ़ चला था और विज्ञान के वर्धमान प्रभाव के कारण सामान्य दृष्टिकोण क्रमशः बौद्धिक (वैज्ञानिक) होता जा रहा था। इस प्रकार विवेकयुक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिकता का दूसरा प्रमुख तत्त्व है। आधुनिक दृष्टि में नवीन के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है; वस्तुतः काफ़ी हद तक आधुनिक और नवीन पयार्य-सम्बन्ध भी है। जैसी स्थिति है वही ठीक है या वैसी ही बनी रहे : एतादृशत्व की इस भावना के विरोध में आधुनिक चेतना का विकास होता है। परम्परा का विरोध इसमें नहीं है, परन्तु परम्परा को स्थिर तथ्य मानकर यह नहीं चलती।—आधुनिक दृष्टि परम्परा को प्रवाह के रूप में स्वीकार करती है जो निरन्तर अग्रसर रहता है और जिसमें परिवर्तन अनिवार्य है : जीर्ण पुरातन का त्याग, संशोधन तथा पुनर्मूल्यांकन की पद्धति से नव-नव रूपों के विकास की आकांक्षा, वैचित्र्य और नवीनता के प्रति आकर्षण आधुनिकता के सहज अंग हैं। अतः रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह और नवजीवन के विकास के लिए प्रयोग के प्रति आग्रह यहाँ अनिवार्य है।

यह 'आधुनिक' का पारिभाषिक अर्थ है जो समय से परिबद्ध नहीं है। इस अर्थ में 'आधुनिक' एक विशिष्ट धारणा का—उपर्युक्त विशेषताओं की संहति का वाचक है। उस पर समय के क्रम का नियंत्रण नहीं है।

इस दूसरे—धारणामूलक—अर्थ में भी युग की बदलती हुई विचार-सरणियों के अनुसार संकोच-विस्तार होता रहा है और क्रमशः इसका एक अतिवादी विशेषीकृत रूप भी उभर कर सामने आया है जो परम्परा से असंलग्न तात्कालिक जीवन-अस्तित्त्व पर आश्रित है। आज के जीवन का सबसे अधिक प्रभावी सत्य है—दूसरे महायुद्ध की विभीषिकाओं के संदर्भ में विज्ञान का विकास, जो अभूतपूर्व वेग से हो रहा है। इसके कुछ परिणाम स्पष्ट हैं : प्रादेशिक

सीमाएँ प्रायः टूट गई हैं—देश और काल की बाधाओं का काठिन्य गलने लगा है। शक्ति का संघर्ष अत्यन्त भयंकर हो गया है—दो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के प्रतिनिधि राष्ट्र आज इतनी अधिक विनाशकारी सामग्री से सम्पन्न हैं कि सन्तुलन भंग हो जाने से किसी भी क्षण मानव-सृष्टि का पूर्ण संहार हो सकता है। उधर अन्तरिक्ष-विजय की बढ़ती हुई संभावनाओं के कारण जीवन की परिधि का अनन्त विस्तार हो रहा है और मानव प्राणी के स्वयं सिद्ध गौरव के प्रति सन्देह के कारण बढ़ते जा रहे हैं। जैविक धरातल पर जीव-विज्ञान की उद्भावनाओं के फलस्वरूप और चेतना या अन्तश्चेतना के क्षेत्र में मनोविश्लेषणशास्त्र के शोध-परिणामों के प्रभाव से अन्तर्जीवन अर्थात् अनुभूत्यात्मक जीवन का स्वरूप ही बदल गया है : चेतना-प्रवाह के नैरन्तर्य की सिद्धि के साथ-साथ भावनात्मक और वैचारिक प्रत्यय बिखरने लगे हैं। इसका एक परिणाम हुआ है तर्कशास्त्र का खण्डन और दूसरा परिणाम है रागात्मक अनुभवों की स्वतंत्र सत्ता का निषेध। आदर्श टूटने लगे हैं और मूल्यों के ह्रास की धारणा बल पकड़ने लगी है। विश्वास उभरने लगा है कि जीवन के अखण्ड प्रवाह में अतीत तो सर्वथा विलीन हो चुका है और अनागत अभी अदृष्ट है; सत्य यदि है तो वह वर्तमान क्षण का अनुभव। मनुष्य क्षण में ही जीता है क्योंकि उसका अनुभव क्षण में ही निबद्ध है। अनुभव ही जीवन का एकमात्र सत्य है : और अनुभव का न भूत होता है न भविष्यत्—उसका तो केवल वर्तमान ही होता है। इस प्रकार क्षणवाद के नये रूप की स्थापना हो रही है। आस्तिक और धार्मिक किर्क गार्द ने आस्था के माध्यम से और नास्तिक सार्त्र ने अनास्था के माध्यम से क्षण-केन्द्रित जीवन के आधार पर अपने-अपने ढंग से अस्तित्ववाद की स्थापना की है। मानव-अस्तित्व ही एकमात्र सत्य है लेकिन अपने सहज रूप में यह अस्तित्व एक 'शाश्वत संकट' है—अस्तित्व और उसके रहस्य का अनुभव 'चिरंतन भार' के रूप में ही मनुष्य को होता है। अतः आज का मनुष्य अनवरत चिन्ताग्रस्त है और अनवरत चिन्ता की यह मनःस्थिति आधुनिकता का एक अत्यन्त स्पष्ट लक्षण है। जीवन की चेतना आज स्पष्टतः ही अत्यन्त जटिल बन गई है—परम्परागत जीवन-दर्शन में स्वीकृत राग एवं विचार के पृथक्-पृथक् सूत्रों का अस्तित्व खण्डित और विवेक तथा इच्छा के अनुसार उनका ताना-बाना बुनने का वांछित सुयोग नष्ट हो जाने से कारण जीवन के रंग उड़ गए हैं और रस सूख गए हैं।—शेष रह गई है जटिल और शुष्क अनुभूति या अनुभूतियों का जाल। इसीलिए आज के जीवन की चेतना एकदम उलझी हुई, रूखी और कठिन है! जीवन का सौन्दर्य, यदि हम इस रूढ़ शब्द का प्रयोग करना ही चाहें, इसी रूखेपन, जटिलता और काठिन्य या उसके बोध में निहित है। सामाजिक धरातल पर इसका प्रभाव यह हुआ है कि सम्बन्ध टूटने लगे हैं, मनुष्य अपने को संदर्भ से कटा हुआ महसूस करने लगा है और समाज में उसकी अपनी सार्थकता का विश्वास प्रायः नष्ट हो चुका है। उसे लगता है जैसे वह एकांत निर्वासित प्राणी है—समाज के साथ उसके सम्पर्क-सूत्र छिन्न-भिन्न हो गए हैं, और सम्प्रेषण के साधन प्रायः रीत चुके हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों के विघटन के फलस्वरूप आधुनिक युग के प्रतिनिधि जिस जीवन-दर्शन का विकास हुआ है उसको अन्तर्मुख चिन्तकों ने 'अस्तित्ववाद' और बहिर्मुख विचारकों ने 'निराशावादी वैज्ञानिक मानववाद' कहा है।

उपलब्धियाँ

साहित्यिक चेतना का विकास :

आधुनिक युग की प्रमुख उपलब्धि है साहित्यिक चेतना का विकास। इस युग में हिन्दी-साहित्य में नवीन कला-दृष्टियों का उन्मेष हुआ। हिंदी-साहित्य की परम्परा में कला का सम्बंध अब तक दरबारी जीवन, राजाओं के युद्ध-धर्म, रहस्य-साधना, नीति, गार्हस्थिक शृंगार आदि से चला आ रहा था। आधुनिक युग से आकर नई राजनीतिक परिस्थितियो के संघात से साहित्य-कला ने जीवन के बृहत्तर क्षेत्र में प्रवेश किया। सामाजिक परिवेश और उसमें विकासमान जन-जीवन के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध हुआ और साहित्य की विषय-वस्तु तथा अभिव्यंजना-प्रणालियों में नवीन स्फूर्ति और शक्ति का समावेश हुआ। जीवनानुभव के नये क्षितिज उद्घाटित हुए, जिनके कारण साहित्य की विषय-वस्तु का अभूतपूर्व विस्तार हुआ और उसकी अभिव्यक्ति के लिए नये 'मार्गों' का अन्वेषण एवं उद्घाटन हुआ। विज्ञान का विकास इननी द्रुत गति से हुआ और उससे प्रभावित मानव-जीवन की गतिविधि—चिंतन और व्यवहार—में इतनी तेज़ी से परिवर्तन हुए कि इतिहास की धारा ही बदल गई। पूर्ववर्ती युगों में भी विप्लव हुए थे—देश के समस्त भूभागों के जीवन में उद्वेलन बराबर होता रहा, परन्तु परम्परागत जीवन-दर्शन में कोई बड़ा विप्लव प्रायः नहीं हुआ, अतः मानसिक जीवन में एक प्रकार का स्थैर्य बना रहा। वर्तमान युग में बाह्य-जीवन के साथ-साथ अंतरंग जीवन की गति भी बड़ी तेज़ी के साथ बदलती गई। आधुनिक युग के साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था—क्योंकि भारतीय साहित्य-कला अब किसी एकांत साधना-कक्ष या अंतःपुर में बंद नहीं रह गयी थी, वह सार्वजनिक जीवन की भीड़ में सम्मिलित हो गई थी और उसी प्रवाह में, उसके हर मोड़ के साथ मुड़ती हुई उतने ही वेग से आगे बढ़ रही थी। यही कारण है कि पूर्ववर्ती युगों का विस्तार जहाँ शताब्दियों तक व्याप्त है—प्रत्येक काव्य-धारा शताब्दियों तक निरंतर प्रवाहित रही है वहाँ आधुनिक युग के चरण बड़ी तेज़ी के साथ आगे बढ़े हैं। पुनरुत्थान-काल या भारतेन्दु-युग की अवधि मुश्किल से २५ वर्ष की है, जागरण-सुधार-काल में उद्भूत राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा का जीवन्त वेग भी स्वातंत्र्य-प्राप्ति के कुछ ही वर्षों के बाद मन्द पड़ गया, और छायावाद जैसी समृद्ध काव्य-प्रवृत्ति दो दशकों में क्षीण हो गयी, प्रगतिवाद की उम्र दस वर्ष से भी कम रही, और नई कविता में बीस-पच्चीस वर्ष के भीतर न जाने कितनी धाराएँ उन्मग्न-निमग्न होती रहीं। वास्तव में प्राचीन साहित्य की अपेक्षा आधुनिक साहित्य का यही वैशिष्ट्य है कि युग-जीवन के साथ अत्यंत निकट संबंध होने के कारण उसकी गति में त्वरा है, एकाग्रता और एकसरता के स्थान पर विस्तार एवं वैविध्य हैं।

इस युग की साहित्य-चेतना की दूसरी विशेषता यह है कि बढ़ते हुए बुद्धिवाद के प्रभाव-स्वरूप उसमें क्रमशः सूक्ष्मता और अन्वर्थता का विकास होता गया है। विज्ञान के द्वारा भौतिक जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों और मनोविश्लेषणशास्त्र द्वारा अवचेतन मन की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं का उद्घाटन हो जाने से मानव की चिंतन और अनुभव शक्ति पहले से अधिक सूक्ष्म-प्रखर हो गई है जिसके फलस्वरूप साहित्य चेतना में पहले की अपेक्षा अधिक धार

आ गई है। आधुनिक युग के कवि और लेखक अपने परिवेश के प्रति कहीं अधिक सजग रहे हैं जिनसे उनकी कला चेतना में जीवन का बोध अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हो गया है।

नवीन प्रवृत्तियों का जन्म :

काव्य के क्षेत्र में चार प्रमुख प्रवृत्तियों का जन्म हुआ : राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, छायावाद, प्रगतिवाद और नई कविता। गुण और परिमाण की दृष्टि से इनमें पहली दो प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण हिन्दी-काव्य-परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की मूल चेतना सामाजिक है। उसमें मध्ययुगीन काव्य की वीर-भावना तथा सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष एवं विस्तार मिलता है; शौर्य्य की भावना सामंतीय एवं प्रादेशिक परिधियों को तोड़ कर व्यापक राष्ट्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित हुई और सांस्कृतिक चेतना ने धर्म-जाति की रूढ़ियों से मुक्त होकर बृहत्तर मानवीय भूमिका प्राप्त की। गाँधी द्वारा प्रतिपादित सत्य और अहिंसा के दर्शन ने एक ओर उसमें वैष्णव-भावना की सात्त्विकता और मानव-करुणा का संचार किया तो दूसरी ओर उसे आत्मा के अपूर्व ओज से मंडित कर दिया। फलतः मध्य-काल की वीर-भावना की अपेक्षा आधुनिक-युगीन राष्ट्रीय कविता की वीर-भावना में गरिमा अधिक है; उद्देश्य की गरिमा और धरातल की व्यापकता के कारण उसमें उदात्त तत्त्व कहीं अधिक है। इसी प्रकार, मध्यकाल के कवियों की अपेक्षा इस युग के कवियों की सांस्कृतिक चेतना भी अधिक व्यापक और समृद्ध है। आधुनिक कवियों की सांस्कृतिक चेतना के निर्माण में वस्तुतः मध्ययुग की सामंतीय संस्कृति की अपेक्षा उसके पूर्ववर्ती युग—मौर्यकाल भारतीय इतिहास के सुवर्ण-युग-की संस्कृति का प्रभाव अधिक है। आधुनिक युग के स्वप्नद्रष्टाओं की कल्पना अपने निकट अतीत से, जो प्रायः अंधकारमय था, पराङ्मुख होकर सुदूर अतीत में अधिक रमी है, उधर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के ज्ञान-विज्ञान एवं उभरते हुए मानववादी मूल्यों तथा लौकिक वैभव ने भी उसे आकृष्ट किया है। इन दोनों के संयोग से—भारत के अतीत युग की आत्मिक समृद्धि और पाश्चात्य सभ्यता के भौतिक ऐश्वर्य के योग से भारतीय साहित्य में एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ जो अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध और परिष्कृत है।

दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति है छायावाद, जिसका हिन्दी-काव्य की परम्परा के विकास में विशेष योगदान है। छायावाद ने अत्यंत सूक्ष्म-परिष्कृत सौंदर्य-दृष्टि का उन्मेष कर हिन्दी-काव्य-चेतना को अभूतपूर्व समृद्धि प्रदान की। कथ्य के संशोधन और शिल्प के सौष्ठव—दोनों की ही दृष्टि से छायावाद का गौरव अक्षुण्ण है। रीति-युग में सौंदर्य प्रायः मधुर का पर्याय बनकर रह गया था और शृंगार की परिधि अत्यंत सीमित हो गई थी। भक्ति काल में इष्ट के जिस अलौकिक सौन्दर्य की मौलिक कल्पना प्रतिभावान् निर्गुण और सगुण कवियों ने की थी, वह सामान्य कवियों के काव्य में रूढ़िबद्ध हो गई थी। निर्गुण कवि रहस्यात्मक प्रतीकों का और सगुण कवि अलौकिक उपकरणों का सर्वथा रूढ़ प्रयोग करने लग गये थे जिसमें दिव्य सौन्दर्य के उन्मेष की अपेक्षा अलंकार का चमत्कार अधिक रहता था। रोमानी सौन्दर्य-चेतना के प्रभाव से नये काव्य में मधुर के साथ अद्भुत का संयोग हुआ जिसके फलस्वरूप शृंगार के आलम्बन एक रहस्यमय आलोक से मण्डित हो उठे और अनुराग में विस्मय के तत्त्व का

समावेश हो गया—चित्त की द्रुति में दीप्ति का मिश्रण हो जाने से शृंगार के परम्परामुक्त स्थायी भाव के स्वरूप में संशोधन हो गया। अब सौन्दर्य की कल्पना मानों शरीर के अंगों के चक्षु-गोचर 'रूप' से आगे बढ़कर मनःगोचर 'लावण्य' तक पहुँच गयी।

मानव-जगत् में, गोचर से सूक्ष्मतर-मन और चेतना के सौन्दर्य की विवृति छायावाद की विशेषता है। छायावादी कवि नारी में अंगों की मांसलता के प्रति आकृष्ट न होकर उसके मन और आत्मा के सौन्दर्य्य पर मुग्ध होता है; वह रूप के माध्यम से अभिव्यक्त उसके हृदय के माधुर्य्य को अनावृत्त करता है। सौन्दर्य की यह भाव-रञ्जित कल्पना जिसकी घनानन्द जैसे कवि में एक झलक पर मिलती है, इसी युग में आकर पूर्णतः विकसित हुई। उधर प्रकृति के क्षेत्र में भी छायावाद के कवि ने इसी अन्तःसौन्दर्य्य की प्रतिष्ठा की। प्रकृति उद्दीपन न रहकर आलम्बन के रूप में उपस्थित हुई और कवियों ने उसके भीतर चेतना की अन्तःसत्ता का अनुसंधान कर उसके साथ एक नवीन रागात्मक सम्बंध स्थापित किया। इस युग में प्रकृति का चित्रण बिम्ब और मिथक रूप में अधिक हुआ है और इसका मुख्य कारण यही है कि अब प्रकृति के चेतन-सौन्दर्य्य के प्रति आग्रह बढ़ता जा रहा था। रीतिकाल का कवि भी काव्य-सर्जना के क्षणों में कभी-कभी प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध का अनुभव करता था—सेनापति और पद्माकर जैसे कवियों की प्रकृति-चेतना सर्वथा रूढ़ और आलंकारिक नहीं थी; किन्तु वह सम्बन्ध स्थूल और ऐन्द्रिय था। छायावाद के कवि ने प्रकृति को अपनी अन्तर्मुख अनुभूतियों का माध्यम बनाकर उसके साथ जिस तादात्म्य का अनुभव किया वह ऐन्द्रिय-मानसिक न होकर कल्पनात्मक था। इस प्रकार आलोच्य युग में सौन्दर्य्य की परिधि का विस्तार हुआ : गोचर से अगोचर की ओर, प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर, चेतन से अंतश्चेतन की ओर।

इनके अतिरिक्त अन्य दो प्रवृत्तियों ने भी हिन्दी-कविता को नये आयाम प्रदान किये—प्रगतिवाद ने उस स्वस्थ सामाजिक चेतना और नई कविता ने तीखी यथार्थ अनुभूतियों की सहज क्षमता प्रदान की। इस प्रकार आधुनिक युग में काव्य की धारा नवीन क्षितिजों और चेतना के विविध स्तरों का स्पर्श करती हुई गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से विकास के पथ पर अग्रसर रही। अतीत की श्रेष्ठ कवि-प्रतिभाओं के समकक्ष अनेक कवि-प्रतिभाओं का उदय हुआ—भारतेन्दु, हरिऔध, रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पन्त, सियारामशरण गुप्त, महादेवी और दिनकर आदि इस युग के काव्य-गगन के उज्जवल नक्षत्र है। इनकी अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ हिन्दी-काव्य के इतिहास में अमर रहेंगी—प्रबन्ध-काव्यों में प्रियप्रवास, साकेत, यशोधरा, कामायनी, कुरुक्षेत्र, गोपिका, लघुकाव्यों में 'राम की शक्ति पूजा', और प्रगति के क्षेत्र में अपरा, पल्लविनी, चिदम्बरा, यामा, निशा-निमंत्रण आदि में संकलित मुक्तक और गीत केवल इसी युग की नहीं युग-युग की अमूल्य थाती हैं।

गद्य का विकास :

आधुनिक काल की एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि है गद्य। आज यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि गद्य के माध्यम के बिना आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति कितनी दुष्कर हो सकती थी। गद्य के रूप में हिन्दी साहित्य को जीवन-बोध का एक ऐसा व्यापक और प्रत्यक्ष माध्यम प्राप्त हो गया जो विगत युगों के लिए सर्वथा अलभ्य था। गद्य के क्षेत्र में जीवन के

नाना रूपों के अनुरूप अनेक महत्त्वपूर्ण विधाओं का जन्म हुआ। इसके साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास-कहानी के अनेक भेद और नाटक के विविध रूप उभर कर सामने आये। ज्ञान के साहित्य के अन्तर्गत शास्त्र और विज्ञान के अंग-उपांगों का विवेचन हुआ। इन दोनों के मध्यवर्ती क्षेत्र में निबन्ध, समालोचना, जीवनी, संस्मरण आदि अनेक नवीन विधाओं का जन्म हुआ। इन सभी विधाओं का विकास भी द्रुत गति से हुआ। उपन्यास के क्षेत्र में जासूसी और तिलस्मी कथाओं से लेकर अन्तर्मन तथा सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ नवीनतम प्रयोगों का सन्निवेश हुआ और प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय एवं रेणु जैसे प्रतिभावान् कलाकारों ने उसका सम्वर्धन किया। यही बात हिन्दी कहानी के विषय में भी सत्य है—आधी शताब्दी के भीतर ही हिन्दी कहानी का स्तर इतना ऊँचा हो गया है कि वह विश्व की किसी भी भाषा की कहानी के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकती है। हिन्दी-नाटक तथा रंगमंच का उदय और विकास भी आधुनिक युग की ही घटना है। यद्यपि इस क्षेत्र की उपलब्धियाँ सापेक्षिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं फिर भी अपनी सभी परिसीमाओं के बावजूद प्रसाद जैसा नाट्यकार दूसरी भाषाओं में दुर्लभ है। आलोचना, आलोचना शास्त्र तथा शोध हिन्दी साहित्य के अत्यन्त पुष्ट अंग हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा जो अन्य भाषाओं में प्रायः लुप्त हो गई थी, हिन्दी के रीतिकाव्य में निरन्तर जीवित रही है। आधुनिक युग में गद्य का माध्यम प्राप्त होने पर भारतीय और पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों के समन्वय से एक संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का निर्माण आरम्भ हुआ जिसका आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके परवर्ती आलोचकों ने सम्यक् विकास किया। आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी का आलोचना-साहित्य तथा आलोचनाशास्त्र निश्चय ही सर्वाधिक प्रौढ़ और समृद्ध है। स्वतन्त्र भारत में ज्ञान के साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई, समाजशास्त्र, भौतिकविज्ञान, पत्रकारिता आदि के क्षेत्र में पुष्कल वाङ्मय का निर्माण हुआ : हिन्दी शब्द सागर का सम्पादन तो वर्तमान शती के तीसरे दशक में ही हो चुका था, स्वतन्त्र भारत में अधिक सुविधा और साधन मिलने पर हिन्दी विश्वकोश के अतिरिक्त अनेक प्रामाणिक शब्द कोश और महत्वपूर्ण अंग्रेजी-हिन्दी कोश प्रकाशित हुए। इस प्रकार हिन्दी भाषा वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का समर्थ माध्यम बनी और हिन्दी साहित्य विश्व की जीवन्त आधुनिक भाषाओं की पंक्ति में आकर खड़ा हो गया।

मूल्यांकन

(१) हिन्दी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में :

सारांश यह है कि विस्तार-वैविध्य तथा गुण-परिमाण—सभी दृष्टियों से आधुनिक-काल हिन्दी साहित्य का विकास काल है। स्वर्ण युग उसे न कहिए—वास्तव में यह विशेषण अब भी भक्तिकाल के लिए ही सुरक्षित है क्योंकि मानव-चेतना का स्वर्ण-चिन्मय अनुभूतिकोष जितनी अधिक मात्रा में जायसी सूर तुलसी मीरा के युग में मिलता है उतना आधुनिक युग में नहीं। वास्तव में यह युग तो लोहे यानी मशीन का युग है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म सम्वेदनों का प्रत्यंकन करती है, पहाड़ों को तोड़ती है, सागर की अतल गहराई और अन्तरिक्ष के अनन्त विस्तार को मापती है—अर्थात् यह संघर्ष और विकास का युग है जिसमें हिन्दी साहित्य ने वर्तमान जीवन के संघर्ष के समस्त आयामों को अभिव्यक्ति प्रदान करने की क्षमता का अर्जन किया है।

इस दृष्टि से आधुनिक काल की तुलना आदिकाल के साथ की जा सकती है जब हिन्दी साहित्य को इसी प्रकार जीवन के नानाविध संघर्ष को वाणी देने के लिए नई ज़मीनें तोड़नी पड़ी थीं और नये-नये रूप ढालने पड़े थे। परन्तु तब जीवन की परिधि कितनी सीमित थी—उसके आयाम कितने छोटे थे : अतः प्रकृति का साम्य होने पर भी आदि काल और आधुनिक काल के साहित्य में विस्तार वैविध्य एवं गुण परिमाण की दृष्टि से कोई तुलना नहीं हो सकती। भक्तिकाल निश्चय ही हिन्दी-साहित्य के इतिहास का स्वर्ण युग था—परिमाण और गुण, माधुर्य्य और औदात्य दोनों की दृष्टियों से वह वैभव का युग था; उदात्त प्रतिभाओं का ऐसा समारोह, काव्य की अमर विभूतियो का ऐसा समृद्ध भाण्डार पूर्ववर्ती और परवर्ती युगों में प्रायः दुर्लभ ही रहा। परन्तु उसमें वैविध्य एवं वैचित्र्य नहीं है; अन्तर्वर्ती साम्प्रदायिक प्रभाव गहरा होने के कारण भक्ति काव्य में पुनरावृत्ति और एकरसता मिलती है। रीतिकाल में माधुर्य्य तो बराबर बना रहा, उसमें अलंकृति और कला-सौष्ठव का योग भी हुआ—परन्तु औदात्य का ह्रास हो गया। जीवन के साथ सम्पर्क टूट जाने के कारण उसमें वैविध्य विस्तार की हानि तथा एक-रसता की और भी वृद्धि हो गई। आधुनिक युग ने अतीत के इस सम्पूर्ण रिक्थ को लेकर जीवन के एक ऐसे नये क्षेत्र में प्रवेश किया जिसकी सीमाएँ निरन्तर फैलती जा रही थीं, आस्था के स्थान पर बुद्धि का नियन्त्रण हो जाने से जिसका रूप बड़ी ही तेज़ी से बदल रहा था,—स्थायी मूल्य अस्त-व्यस्त हो रहे थे और नयी आस्थाएँ चेतना के स्तरों को भेद कर जन्म ले रही थीं। इन सब को आत्मसात् कर शब्द-अर्थ के माध्यम से कला में परिणत करने की चुनौती आधुनिक युग के सामने थी, आज भी है—और वह निरन्तर उससे जूझ रहा है। हर प्रयत्न सिद्धि नहीं बनता—वास्तव में जब तक प्रयत्न की चेतना विद्यमान रहती है तब तक सिद्धि की अवस्था प्राप्त नहीं होती, फिर भी इस काल खण्ड की उपलब्धि कम नहीं है : रिक्थ से जो मिला है, उसको इसने विस्तार दिया है—वैविध्य दिया है, नयी ऊर्जा और नया यथार्थ-बोध दिया है और एक सीमा के भीतर नवीन परिष्कार और नया औदात्य भी दिया है।

(२) भारतीय-साहित्य के परिप्रेक्ष्य

आधुनिक युग की एक विशेषता यह है कि इसमें हिन्दी साहित्य को अखिल भारतीय परिदृश्य प्राप्त हुआ है—अर्थात् भारत की अन्य भाषाओं की सापेक्षता में अपनी गति विधि को परखने का अवसर मिला है। पहले चरण में और कुछ सीमा तक दूसरे चरण में—भारतेन्दु और द्विवेदी युग में विशेषता बंगला और सामान्यतः मराठी के साथ हिन्दी का सम्पर्क रहा। माइकेल, रवीन्द्र, बंकिम और शरत् के अनुवाद निरन्तर हुए, हिन्दी के कवि-कलाकारों ने सश्रद्ध भाव से उनके प्रभाव को ग्रहण किया और हिन्दी का पाठक भी उन्हें एक प्रकार से अपना ही लेखक मानने लगा। उधर गुजराती तथा मराठी के साथ भी निकट सम्बन्ध स्थापित हुआ और हिन्दी साहित्य का विकास एक बृहत्तर भारतीय परिवेश में होता रहा। तीसरे चरण में आकर हिन्दी का अपना व्यक्तित्व अधिक प्रखर हो गया और बढ़ते हुए आत्म-विश्वास के फल-स्वरूप आदान की प्रवृत्ति प्रायः समाप्त हो गई, परन्तु व्यापक परिवेश अब भी यथावत् बना रहा। राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हो जाने से, उसका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया और हिन्दी का साहित्यकार प्रादेशिक चेतना से ऊपर उठ, भारतीय चेतना से

प्रेरित होकर रचना करने लगा। भक्ति काल में भी इस प्रकार का सुयोग प्राप्त हुआ था : उस समय माध्यम था धर्म, इस युग में माध्यम रही राष्ट्रभावना। स्वतन्त्र भारत में यह चेतना और अधिक सक्रिय हो गयी, हिन्दी देश की सभी समृद्ध भाषाओं के साथ अखिल भारतीय मंच पर आसीन हुई और हिन्दी के लेखक तथा आलोचक को उन सबकी सापेक्षता में अपने साहित्य का मूल्यांकन करने का अवसर मिला। भारत की प्रमुख भाषाओं के उच्चतर साहित्य से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष परिचय प्राप्त कर लेने पर अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ अपने आप दूर हो गईं। आधुनिक युग के पूर्वार्ध में ऐतिहासिक कारणों से पूर्वांचल में बंगला और दक्षिण-पश्चिमी भारत में तमिल, मराठी आदि को जो नव-जीवन और नवसंस्कृति का वाहक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उससे देश-विदेश के विद्वानों के मन में यह धारणा बन गयी थी कि हिन्दी की अपेक्षा उन सभी भाषाओं का साहित्य अधिक समृद्ध है। अखिल भारतीय परि-दृश्य प्राप्त हो जाने पर इस भ्रम का सहज ही निवारण हो गया। भारतीय भाषाओं की विभूतियों से आज हम परिचित हैं—माइकेल, रवीन्द्र, बंकिम और शरत् को हम पहले से जानते थे—अब हम नजरुल इस्लाम, ताराशंकर, विमलमित्र, रमणलाल देसाई, क० मा० मुन्शी, भारती, केशवसुत, शंकर कुरूप, पुटप्पा, का० श्री श्री०, उमाशंकर जोशी आदि को भी जान गये है—और हम विश्वासपूर्वक यह अनुभव कर सकते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, पन्त, महादेवी, जैनेन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य रघुवीर तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी, और इधर दिनकर, अज्ञेय, यशपाल की अमर रचनाओं से समृद्ध हिन्दी का साहित्य अकेले गुण की दृष्टि से तो किसी से कम नहीं है, और गुण तथा परिमाण दोनों की दृष्टि से सबसे अधिक सम्पन्न है।

———

अनुक्रमणिका

२

ग्रन्थानुक्रमणिका

३

संस्थाएँ तथा पत्र-पत्रिकाएँ

शुद्धि-पत्र

५(प्र०)	१४	प्रेरकाशक्तियों	प्रेरकशक्तियों
५(प्र०)	२१	वश्लेषणात्मक	विश्लेषणात्मक
४	३५	V.Astrth	V. A. Smith
६	१२	शिच्चत	शिच्चित
१३	३०	पाराणिक	पौराणिक
१५	११	बराज	बरीज
२३	४	अन्तर्ाष्ट्रीय	अन्तर्राष्ट्रीय
२३	१०	अन्तरर्षट्रीय	अन्तर्राष्ट्रीय
२३	१०	अंग्रेजों में	अंग्रेजों ने
२४	१४	लोकमानस का	लोकमानस को
२४	२६	बल प्राप्त मिला	बल मिला
२७	२६	फरवरी १६२४ में	फरवरी १६२४ ई० में
३०	२	स्तर तो भारत पर	स्तर पर तो भारत
३२	१६	सामंतवाद वो	सामन्तवाद का
३२	३२	उसको मूल चेतना	उसकी मूल चेतना
३४	३२	अत्ययंत	अत्यन्त
३५	२३	नामों को	नामों से
३६	११	विविध च्त्र में	विविध च्त्रों में
३६	३४-३५	दृष्टिकोंण	दृष्टिकोण
४०	१७	स्वातंत्र्योत्तर	स्वातन्त्र्योत्तर
४०	२६	आत्मसात	आत्मसात
४२	३	पवित्रता ओर शुद्धता	पवित्रता और शुद्धता
४४	१६	नवोदिन	नवोदित
४४	२३	प्रत्युक्त	प्रत्युत्
४४	२७	वैशिष्टय	वैशिष्ट्य
४५	२२,२४-२५	नाथूराम शंकर शर्मा	नाथूराम शर्मा शंकर
५०	७	कूटिनीति	कूटनीति
५०	६	समाज में जो असन्तोष	समाज में असन्तोष
५०	२७	दृष्टिकोंण	दृष्टिकोण
५१	२८	प्रेमचंद की अध्यता में	प्रेमचन्द की अध्यचता में
५२	१४	युग राष्ट्रीयता	युग में राष्ट्रीयता

५५	१०	कार्ति प्रसाद खत्री	कार्त्तिक प्रसाद खत्री
५६	२४	स्पष्ट छापा	स्पष्ट छाप
५६	३	सांस्कृत्यायन	सांकृत्यायन
६३	१४	विषमौसधम्	विषमौषधम्
६४	२०	अभीष्ठ	अभीष्ट
६४	२७	करती	करता
६५	२१	अर्न्तजगत	अन्तर्जगत
६६	२२	के मध्यम से	के माध्यम से
६७	२	इब्सेन	इब्सन
६८	१३	शैशवास्था	शैशवावस्था
६८	२१	परिमार्जिन	परिमार्जित
६९	९	उनके व्यक्ति की	उनके व्यक्तित्व की
७०	१५	द्वन्दवृद्ध	द्वन्दबद्ध
७१	२३	रार्बट ग्रेब्ज़	राबर्ट ग्रेब्ज़
७३	१४	सलंग्न	संलग्न
७६	१५	जोगहूँ ते कहिन	जोगहूँ ते कठिन
८१	१६	अध्यात्मिक जीवन	आध्यात्मिक जीवन
८८	२६	अत्य	अन्य
८९	१५	रहस्यावाद	रहस्यवाद
१००	२४	सूत्त	सूक्ष्म
१००	३२	शियाराम शरण	सियाराम शरण
१०१	९	,,	,,
१२३	१२	स्वच्छन्दवादी	स्वच्छन्दतावाती
१२७	२४	नकछेदी तिवारी का	नकछेदी तिवारी
१२७	३१	आविर्भूति	आविर्भूत
१२७	३३	नक्करखाने	नक्कारखाने
१३०	२१	शामसाद सौसन	शमसाद सौसन
१५२	३४	गिरधार शर्मा	गिरधर शर्मा
१५३	२२	नथूराम शर्मा	नाथूराम शर्मा
१५५	३३	राम कृष्ण दास	राय कृष्ण दास
१५५	३४	प्रताप नारायण श्रीवास्त्व	प्रताप नारायण श्रीवास्तव
१५९	६	प्रौजल	प्राञ्जल
१६०	३०	दुख निवराण	दुःख निवारण
१६०	२५	अधिकता	अधिकतर
१७०	१५	परिमाण	परिणाम

१८१	२०	स्मशान	श्मशान
१८६	३१	सामन्य	सामान्य
१६२	३२	सार्वमौम तत्त्व	सार्वभौम तत्त्व
२५०	२६	युगलांगुरीय	युगलांगुलीय
२५७	१५	पुर्न्जन्म या सौतिया दाह	पुनर्जन्म या सौतिया दाह
२५७	३७	चन्द्रावती वा कुलटा कुतूहल	चन्द्रावली वा कुलटा कुतूहल
२५६	२०	माल्लिका देवी	मल्लिका देवी
२६१	७	मथुरा प्रसाद सिन्हा	मथुरा प्रसाद शर्मा
२६६	१४	गुप्त गोदना कोठरी	गुप्त गोदना
२७३	१०	सन् १६१८-१६३६	सन् १६१८-१६३६
२७६	३०	प्रेमाश्रय	प्रेमाश्रम
२८६	३	अर्न्तदृष्टि	अन्तर्दृष्टि
२८६	१४	आम्यान्तर	आभ्यन्तर
२६६	३३	जगरूकता	जागरुकता
३०२	२०	बंगाल के ककाल	बंगाल के अकाल
३०८	८	एक सड़क सत्तावन गंलियाँ	एक सड़क सत्तावन गलियाँ
३१२	१५	याशपाल	यशपाल
३५१	२८	कथावस्दु	कथावस्तु
३५३	४-५	चात्रियों	चत्रियों
३५३	२८	साधरण	साधारण
३६२	३	सूत्रापात	सूत्रपात
३६३	१६	गुमुरुख सिंह	गुरुमुख सिंह
३६८	५	प्राम्भम	प्रारम्भ
३७५	८	मोननीत	मनोनीत
३७७	१७	धीरोधत्त	धीरोद्धत
३८६	१०	कर्त्तव्यपराण	कर्त्तव्य परायण
३८७	३५	प्रसहन	प्रहसन
३६१	३	पाठ्क्रमोपयोगी	पाठ्यक्रमोपयोगी
३६६	२०	पप्पी	अप्पी
४०३	१	सरके	करके
४२०	४	अमरसिंह राठौड़	अमरसिंह राठौर
४२७	६	सत्	सन्
४२७	१३	रम्परागत	परम्परागत
४३२	१८	शारदा देवी के भी	शारदा देवी ने भी
४४२	२१	उद्याम	उद्दाम

५५	१०	कार्ति प्रसाद खत्री	कार्त्तिक प्रसाद खत्री
५६	२४	स्पष्ट छापा	स्पष्ट छाप
५९	३	सांस्कृत्यायन	सांकृत्यायन
६३	१४	विषमौसधम्	विषमौषधम्
६४	२०	अभीष्ठ	अभीष्ट
६४	२७	करती	करता
६५	२१	अर्न्तजगत	अन्तर्जगत
६६	२२	के मध्यम से	के माध्यम से
६७	२	इब्सेन	इब्सन
६८	१३	शैशवास्था	शैशवावस्था
६८	२१	परिमार्जिन	परिमार्जित
६९	९	उनके व्यक्ति की	उनके व्यक्तित्व की
७०	१५	द्वन्दवृद्ध	द्वन्दबद्ध
७१	२३	रार्बट ग्रेब्ज़	राबर्ट ग्रेब्ज़
७३	१४	सलंग्न	संलग्न
७६	१५	जोगहूँ ते कहिन	जोगहूँ ते कठिन
८१	१६	अध्यात्मिक जीवन	आध्यात्मिक जीवन
८८	२६	अत्य	अन्य
८९	१५	रहस्यावाद	रहस्यवाद
१००	२४	सूच्च	सूक्ष्म
१००	३२	शियाराम शरण	सियाराम शरण
१०१	९	,,	,,
१२३	१२	स्वच्छन्दवादी	स्वच्छन्दतावाती
१२७	२४	नकछेदी तिवारी का	नकछेदी तिवारी
१२७	३१	आविर्भूति	आविर्भूत
१२७	३३	नक्करखाने	नक्कारखाने
१३०	२१	शामसाद सौसन	शमसाद सौसन
१५२	३४	गिरधार शर्मा	गिरधर शर्मा
१५३	२२	नथूराम शर्मा	नाथूराम शर्मा
१५५	३३	राम कृष्ण दास	राय कृष्ण दास
१५५	३४	प्रताप नारायण श्रीवास्त्व	प्रताप नारायण श्रीवास्तव
१५९	६	प्रीजल	प्राञ्जल
१६०	३०	दुख निवराण	दु:ख निवारण
१६०	२५	अधिकता	अधिकतर
१७०	१५	परिमाण	परिणाम

१८१	२०	स्मशान	श्मशान
१८९	३१	सामन्य	सामान्य
१९२	३२	सार्वमौम तत्त्व	सार्वभौम तत्त्व
२५०	२९	युगलांगुरीय	युगलांगुलीय
२५७	१५	पुन्र्जन्म या सौतिया दाह	पुनर्जन्म या सौतिया दाह
२५७	३७	चन्द्रावती वा कुलटा कुतूहल	चन्द्रावली वा कुलटा कुतूहल
२५९	२०	माल्लिका देवी	मल्लिका देवी
२६१	७	मथुरा प्रसाद सिन्हा	मथुरा प्रसाद शर्मा
२६९	१४	गुप्त गोदना कोठरी	गुप्त गोदना
२७३	१०	सन् १९१८-१९३६	सन् १९१८-१९३६
२७९	३०	प्रेमाश्रय	प्रेमाश्रम
२८६	३	अर्न्तदृष्टि	अन्तर्दृष्टि
२८९	१४	आम्यान्तर	आम्यन्तर
२९९	३३	जगरूकता	जागरुकता
३०२	२०	बंगाल के ककाल	बंगाल के अकाल
३०८	८	एक सड़क सत्तावन गंलियाँ	एक सड़क सत्तावन गलियाँ
३१२	१५	याशपाल	यशपाल
३५१	२८	कथावस्दु	कथावस्तु
३५३	४-५	चात्रियों	चत्रियों
३५३	२८	साधरण	साधारण
३६२	३	सूत्रापात	सूत्रपात
३६३	१९	गुमुरुख सिंह	गुरुमुख सिंह
३६८	५	प्राम्भम	प्रारम्भ
३७५	८	मोननीत	मनोनीत
३७७	१७	धीरोधत्त	धीरोद्धत
३८६	१०	कर्त्तव्यपराण	कर्त्तव्य परायण
३८७	३५	प्रसहन	प्रहसन
३९१	३	पाठ्क्रमोपयोगी	पाठ्यक्रमोपयोगी
३९९	२०	पप्पी	अप्पी
४०३	१	सरके	करके
४२०	४	अमरसिंह राठौड़	अमरसिंह राठौर
४२७	९	सत्	सन्
४२७	१३	रम्परागत	परम्परागत
४३२	१८	शारदा देवी के भी	शारदा देवी ने भी
४४२	२१	उद्याम	उद्दाम

४४२	२६	चीरंजीव	चीरंजीत
४४२	२६	गिरिजा कुमार माथुर	गिरजा कुमार माथुर
४६७	१८	गौहरें	गौहर
४६७	२२	मोहम्मद अली जगबुदा	मोहम्मद अली नाखुदा
३७५	४	व्यावसामिक	व्यावसायिक
४७५	३१	अभिनीति	अभिनीत
४६४	२४	व्यांग्यात्मक	व्यंगात्मक
४६६	२८	कुछ आधर्म	कछुआ धर्म
५०२	२०	मित्रबन्धु	मिश्रबन्धु
५०४	२२	श्रीकृष्ण राय	राय कृष्ण दास
५२६	१७	शसक्त	सशक्त
५४१	६	जीन्तता	जीवन्तता
५५४	३	युक्त	मुक्त
५५६	२४	अस्थाग्रस्त	आस्थाग्रस्त
५५६	२४	आदशोपाशक	आदर्शोपासक
५५६	२५	पड़ने	पकड़ने
५५६	५	इस रत्नाकर	रस रत्नाकर
५५६	६	इस कलश	रस कलश
५६०	२२	धीरे धीर	धीरे धीरे
५६१	१	मल्यक्ता	मूल्यवत्ता
५६१	१६	सठसठ	सड़सठ
५६२	१६	कहती	रहती
५६३	३	पराम्परा	परम्परा
५६३	१६	रोला द्वन्द्व	रोला द्वन्द
५६४	११	एस० एस० ग्राडज	एस० एस० ग्राउज
५६६	३	पराम्परा	परम्परा
५७१	४	डॉ० रवीन्द्र भ्रमर	डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा
५७१	५	अध्यय	अध्ययन
५७१	७	कव्य और प्रवृति	काव्य और प्रकृति
५७१	१४	डॉ० दशरथ मिश्र	डॉ० राम दरश मिश्र
५७३	११	निकट ने	निकट से
५७३	२०	अर्न्तगुहावासी	अन्तर्गुहावासी
५८१	२०	पाश्चत्य समीचा	पाश्चात्य समीचा
५६०	३४	के दारा	के द्वारा
५६१	२८	यूरोपिय साहित्य	यूरोपीय साहित्य

६०२	२७	डाँ श्रीष्ण लाल	डाँ० श्रीकृष्ण लाल
६०२	३३	शुवल पद्धति	शुक्ल पद्धति
६०६	१५	भारतेंतु	भारतेन्दु
६१४	३२	मार्कसवादी	मार्क्सवादी
६१६	६	अस्वास्थ्य	अस्वस्थ्य
६२०	२२	अन्तुर्मुखी	अन्तर्मुखी
६२६	१६	सथुरादास	मथुरादास
६२८	४	हिन्दी साहित्य	हिन्दी साहित्य का
६२८	६	बज रत्न दास	ब्रजरत्न दास
६४०	६	लक्ष्मीसागर वर्ष्णेय	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
६४६	१३	वर्थवाल	बड़थ्वाल
६४६	२	योदगान	योगदान
६४६	५	हीने वाले	होने वाले
६४६	८	उद्घीष	उद्घोष
६५०	१६	पयार्य सम्बन्ध	पर्याय सम्बन्ध
६५२	१०	इननी	इतनी
६५७	२६	उज्जवल	उज्ज्वल
६५७	७	पूर्वाचंल	पूर्वाञ्चल